नमो जिणाणं

॥ श्री छगन-रत्न-गुलाब-हर्षद-कांती गुरुभ्यो नमः ॥

जिनशासन के सफल खेवैया आचार्य सम्राट्
बा. ब्र. पू. गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी म.सा.की जय हो, विजय हो ।

शासन शिरोमणि, प्रवचन की पारसमणि, आशीर्वाददात्री
बा. ब्र. पू. गुरुणीमैया श्री शारदाबाई महासतीजी अमर रहें ।

शारदा शिखर

भाग-२

प्रवचनकार

खंभात संप्रदाय के जैन ज्योतिर्धर
बा. ब्र. पू. गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी म.सा.की
सुशिष्यारत्ना प्रभावक प्रवचनकार
बा. ब्र. विदुषी पू. श्री शारदाबाई महासतीजी

: हिन्दी-अनुवादकर्ता :
पण्डितरत्न मुनि श्री नेमिचन्द्रजी म.सा.

: प्रेरणादायीनी :
सुशिष्या बा. ब्र. विदुषी पू. श्री वसुबाई महासतीजी

'शारदा-शिखर' - शारदा प्रवचन संग्रह हिन्दी आवृत्ति, प्रत : ३०००

प्राप्तिस्थान

शा. मांगीलाल उदेराम नंगावत

संकल्प : सेल्स डिपार्ट. : ४१२/२, वार्डलिया कम्पाउन्ड, वस्ता देवडी रोड़, सुरत-३९५ ००४

घर : १२, महावीर सोसायटी, सुमुल-डेरी रोड़, सुरत - ३९५००४

(ओ) २५३२६८७/२५३२६८८ (फेक्स) (९१ ०२६१) २५३२६८५ (घर) २४८६११०/२४८६३८९

शा. रोशनलाल चंपालाल कोठारी

विजय लक्ष्मी फेबरीक्स

३०१६, गोलवाला मार्केट, दूसरा मजला, सुरत - ३९५००१

दूरभाष (घर) २६८४३४७ (ओ) २३२०५७१

शा. धरमचंदजी देरासरीया

ठे. होस्पिटल रोड़, मारु दरवाजा बाहर, देवगढ़, मदारीया, जीला राजसमथ (राज.)

दूरभाष : S.T.D. (०२९०४) २५२०२७ (घर) (०२९०४) २५२०६१

१०, गोगरा वाडी

रोशनलाल पब्लिक स्कूल के पास, उदयपुर, दूरभाष : S.T.D. (०२९४) २४८५९५१

लागत मूल्य : रु. २००/- । ज्ञानप्रचार अर्थे दोनों भागों का मूल्य : रु. ४०/-

संपर्कस्थान

नरेन्द्रभाई साकरलाल साड़ीवाला

डुंमाल ट्रान्सपोर्टनगर गोडाउन नं. ५

पूणाजकातनाका के सामने, सुरत - बारडोली रोड़, सुरत

दूरभाष (घर) २६५४५२७ (ओ) २८५१७८२

शा. नानालाल मांगीलाल कोठारी

३, श्रीनाथ सोसायटी, पोदार एवन्यू के पास,

युनियन की गली, घोड़ दोड़ रोड़, सुरत दूरभाष (घर) २६६९९३९ (ओ) २६५११३९

शा. बाबुलाल रोशनलाल सिंघवी

विमल ज्योति फेबरीक्स

६, दर्शन मार्केट, रींग रोड़, सुरत - ३९५००२

दूरभाष (घर) २६८५५३० (ओ) २३२०७६८

मुद्रक : सस्तुं पुस्तक भंडार नडियाद - पिन : ३८७००१ फोन : (घर) २५५४२४३ (ओ) २५६६२५८

अनुवादक : प. पू. श्री नेमिचंद्रजी महाराज साहेब

इस ग्रन्थ के विमोचक दाता

भाग-२

२००३ में पू. रंजनाबाई महासतीजी आदि ठाणा पू. हमारे मैलापुर मद्रास पधारे । पाँचो महासतियों के दर्शन करके हमे सुख-शांति का अनुभव हुआ । उनका व्याख्यान बड़ा, सरल, रोचक, रसीला, प्रभावशाली व हृदयंगामी था। उनके दर्शन, वाणी से मन कभी भरता ही नहीं था । इस दौरान उनकी गुरुणीमैया प्रवचनकार पू. बा.ब्र. महान विदुषी शारदाबाई महासतीजी के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त हुई । तब हमें याद आया के २००२ में हमें परम श्रद्धेय, आगममर्मज्ञ आचार्य-प्रवर पूज्य हीराचन्दजी म.सा. के दर्शनार्थ गए थे । वहाँ मुनिरत्न श्री प्रमोदमुनिजी ने हमें 'सफल सुकानी' के तीनों भाग भेंट किये थे । उनको पढ़कर हम बहुत प्रभावित हुए थे । पू. रंजनाबाई म.स.जी ने 'शारदा ज्योत' के हिन्दी अनुवाद के प्रकाशनार्थ शुभ कार्य में प्रेरणा दी और हमने मान ली और यह पुस्तक का विमोचन उनके मद्रास ऐतिहासिक चातुर्मास के दौरान C. U. Shah भवन में हुआ ।

मद्रास से विहार करके कोईम्बतूर पधारे, वहाँ फिर उनका एक सफल सानंद चातुर्मास हुआ । चातुर्मास के आखिरी दिन हमे उनके दर्शनार्थ कोईम्बतूर गए । वहाँ फिर यह 'शारदा शिखर' भाग-२ के विमोचक दाता की प्रेरणा दी, वह स्वीकार की । हमारी हार्दिक इच्छा है कि पू. शारदाबाई महासतीजी का सरल व प्रभावशाली साहित्य जन-जन तक पहुँचे तथा जिन-शासन की शोभा निरन्तर बढ़ती रहें । यह ग्रन्थ जो भी चाहे हम से मंगवाकर पढ़कर लाभ उठा सकते है ।

शारदा शिखर भाग-२ विमोचक

पी एस सुराणा, लीला सुराणा, विनोद सुराणा, एडवोकेट्स

सुराणा एन्ड सुराणा इन्टरनेशनल एटोर्नीस

२२४, एन. एस. सी. बोस रोड, चेनै - ६०० ००१

फोन : २५३८०३८७, २५३८१६१६ फेक्स : ०४४-२५३८३३९

Email : intellect@lawindia.com

दिनांक : ०१-०१-२००५

हिंदी - अनुवाद के दो शब्द

भारतवर्ष विभिन्न भाषा-भाषियों का राष्ट्र है। एक भाषा के ग्रन्थ या पुस्तक का दूसरी भाषा में अनुवाद हो जाने पर दूसरी भाषावाले उसके ग्रन्थ या पुस्तक में उल्लिखित विचारों से लाभान्वित हो सकते हैं। जैनधर्म के वर्तमान में मुख्य दो सम्प्रदाय हैं - दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बरों में मुख्यतया तीन उपसम्प्रदाय हैं - श्वेताम्बर मूर्ति पूजक, श्वेत-स्थानकवासी और श्वेत-तेरापंथी। श्वेताम्बर स्थानकवासी उपसम्प्रदाय में प्रान्तीय दृष्टि से अथवा आद्य महान् एवं कठोर क्रिया पात्र की दृष्टि से कई शाखाएँ हो गई। पूर्व में भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ऐसी कई शाखाएँ - उपशाखाएँ थी, आज भी हैं। स्थानकवासी उपसम्प्रदाय की एक शाखा है - खम्भात (स्तम्भतीर्थ सम्प्रदाय/खम्भात-सम्प्रदाय में बालब्रह्मचारिणी प्रतिभाशाली विदुषी प्रखर वक्त्री हुई हैं - शारदाबाई महासतीजी। उनके व्याख्यान शास्त्रीय आधार को लेकर बहुत ही हृदयस्पर्शी, प्रेरणादायक, जीवन को बदल देनेवाले होते थे। गुजरात में उनके व्याख्यानों की धूम मची हुई थी। गुजरात के अलावा भी मुंबई, मद्रास, बेंगलोर, महाराष्ट्र आदि में भी उनके व्याख्यान लोकप्रिय हुए हैं। गुजराती-भाषी लोगों ने उनके व्याख्यानों की कई बड़ी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। यथा-'शारदा शिरोमणि', 'शारदा सिद्धि', 'शारदा ज्योत', 'शारदा सुकानी' इत्यादि। हिन्दीभाषी लोगों के पवित्र अनुरोध 'शारदा सिद्धि', 'शारदा शिरोमणि', 'शारदा ज्योत', 'शारदा सुकानी' आदि हिंदी भाषा में भी प्रकाशित हो चुकी है। गत वर्ष बा. ब्र. विदुषी रंजनाबाई महासतीजी का चातुर्मास बेंगलोर था। बेंगलोर के कतिपय हिंदीभाषी लोगोंने उनसे प्रार्थना की कि 'शारदा शिखर' का भी हिंदी भाषा में अनुवाद हो जाए तो हम सब हिंदीभाषी लाभ ले के पवित्र हो सकते हैं। बेंगलोर में विराजित पं. रत्न मधुरभाषी श्री विमलमुनिजी एवं प्रखरवक्ता श्री वीरेन्द्रमुनिजी से महासती रंजनाबाई ने हिन्दी अनुवाद के विषय में बातचीत की। श्री विमलमुनिजी ने मेरा नाम सुझाया। फलतः मुझे उन्होंने पत्र द्वारा सूचित किया और संग्रह अनुरोध किया कि आप 'शारदा शिखर' का हिंदी में अनुवाद कर दें। व्याख्यान के विषय के अनुरूप मुख्य शीर्षक भी लगा दें। यद्यपि मेरी उम्र का ८३वाँ वर्ष चल रहा है। शरीर में पहले जैसी शक्ति और स्फूर्ति नहीं रही। फिर भी शारदाबाई महासतीजी के शास्त्रीय आधार पर व्याख्यान से बहुत कुछ नये-नये विचार और भाव जानने को मिलेंगे, ज्ञानवृद्धि भी होगी, शब्द सम्बद्ध होने से शास्त्र-स्वाध्याय के एक अंग-धर्मकथा का भी लाभ मिलेगा और श्रुत-सेवा, एवं महासतीजी के विशिष्ट भावनापूर्ण अनुरोध के कारण मैंने अपनी स्वीकृति दे दी। साथ ही यह भी निवेदन कर दिया कि आप जल्दी न करें। मैं अपनी सुविधा के अनुसार जितना-जितना अनुवाद होता जाएगा, आप को ठाणे सूचित पते से भिजवाता रहूँगा। उन्होंने स्वीकार किया, मैंने अनुवाद-कार्य प्रारम्भ किया। कुछ व्याख्यानों का अनुवाद हुआ ही था कि मुंबई से श्री कृष्णकांत भाई पटेल आए, उन्होंने सौंप दिया, उन्होंने महासतीजी को अनुवाद किये हुए व्याख्यान दिखाये। महासतीजी द्वारा बा. ब्र. विदुषी महासती श्री वसुबाई महासतीजी तथा बा.ब्र. विदुषी श्री रंजनाबाई महासतीजी दोनों को मेरे द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद पसंद आया। किन्तु इतने में ही हमारे गुरुभ्रात का स्वास्थ्य अस्वस्थ हो गया है। उसके कारण बीच

में व्यवधान आ गया । तत्पश्चात् उनका स्वास्थ्य ठीक होने के बाद हमारे वयोवृद्ध गुरु-भ्राता (९८ वर्ष की वय होते हुए भी प्रबल मनोबली) श्री मगनमुनिश्री के अकस्मात गिर जाने से कूल्हें के पास की हड्डी में चोट आई, इस कारण श्री विनोदमुनिजी उनकी सेवा में होस्पिटल में रहे । मैं और प्रार्थना पर श्री जयवर्धनजी म. वयोवृद्ध श्री सुन्दरमुनिश्री की सेवा में रहे । इन दिनों में लेखन कार्य प्रायः स्थगित-सा हो गया था । साध्वीवर्य ने भी बहुत आश्वासन दिया और मेरी परिस्थिति और मनःस्थिति को देखते हुए कोई जल्दबाजी नहीं की । यद्यपि अनुवाद का कार्य सरल नहीं है । इसमें कहीं कहीं ठेठ गुजराती के शब्द आते हैं, जिन के लिए उस प्रसंग को बिलकुल अनुरूप शब्द हिंदी में ढूंढना पड़ता था, उसके लिए हिन्दी-गुजराती, गुजराती-हिन्दी शब्द को एका सहाए लेना पड़ता था, फिर भी हिन्दीभाषा तथा मारवाडीभाषी होने के कारण कहीं-कहीं किसी गुजराती शब्द के एप्रोपियेट हिन्दी शब्द को ढूंढने में पूरा-पूरा दिन लग जाता था, अथवा पर्युषण, दीपावली, होली, महावीर जयंती, आचार्यश्री की पुण्यतिथि आदि हुई विशिष्ट कार्यक्रम आ जाते, उस दिन लेखनकार्य स्थगित-सा रहता था किन्तु इतने व्यवधान आते रहते और मेरा स्वास्थ्य बीच-बीच में गड़ बड़ा जाने पर भी मैंने हिंमत नहीं हारी । भले ही लेखन-कार्य थोड़ा हुआ, कभी रात्रि के दो-दो तक बज जाते, दिन में दर्शनार्थ लोगों का आवागमन रहता, तो रात्रि में निश्चितता से लिखने में आनन्द आता । फिर महासतीजी एवं इन व्याख्यानों के हिंदी अनुवाद में विशेष दिलचस्पी लेनेवाले सेवाभावी भाई श्री कृष्णाकान्त भाई का एक सप्रेम अनुरोध आया कि अगर दीपावली से पहले अनुवाद-कार्य पूर्ण हो जाए तो 'शारदा शिखर' हिन्दी में दो भागों में छप सकता है । मेरा स्वास्थ्य इतना ठीक न होते हुए भी मैंने अन्य लेखन तथा पत्राचार वगैरह भी कम कर दिये और अपनी दैनिक-साधना तथा दैनिक-कार्य के जाप सिवाय अन्य कोई लेखन का कार्यक्रम में भाग नहीं लिया । इधर हमारे वयोवृद्ध गुरुभ्राता तपस्वी श्री मगनमुनिजी का कुछ ही दिनों की तीव्र व्याधि के बाद दि-२९ अप्रेल को समाधि-मरण-पूर्वक स्वर्गवास हो गए । उनके दिवंगत होने से हमारा एक सहारा टूट गया । कुछ दिन मनोव्यथा ही । पुनः साहस बटोरकर द्रुतगति से मैंने अनुवाद के लिए कलम चलाई, फलतः ७४ वे व्याख्यान फिर ९२ वें व्याख्यान तक और फिर ९३ से १०९ नंबर के व्याख्यान क्रमशः अनुवाद किया । *'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'* श्रेय कार्य में अनेक विघ्न आते हैं । इस कहावत के अनुसार विघ्नों को पार करते हुए दीपावली के कुछ दिन पहले तक ९३ से १०० व्याख्यान पूर्ण होने पर मैंने सूरत वसुबाई महासतीजी की सेवा में भेजने के लिए एक रजिस्टर में पैकिंग करके तैयार किया ही था कि इस व्याख्यानमाला में महासतीजी के सभी प्रकार के व्याख्यान हैं, आध्यात्मिक पुटता सभी व्याख्यानों में हैं ही । किन्तु साथ में सायानिक, राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक आदि विषयों की भी बहुत बारीकी से छानबीन की गई है । साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं तथा सामान्य जनता सब के लिए ये व्याख्यान उपयोगी हैं, ग्राह्य हैं और जीवन में आचरण करने के प्रेरणा इन व्याख्यानों में यत्र-तत्र फूट फूट कर भरी हैं । आशा है, सभी पाठक वर्ग इन व्याख्यानों से लाभान्वित होकर तदनुसार अपने जीवन का निर्माण करेगा तो महासतीजी का पुरुपार्थ सार्थक होगा । इसी शुभाशा के साथ -

- मुनि नेमिचन्द्र

स्वप्न साकार

शारदा-शिखर शास्त्र-प्रवचन हिन्दी आवृत्ति

खंभात संप्रदाय के शासन शिरोमणि व्याख्यान वाचस्पति गुजरात सिंहनी वा. ब्र. पू. श्रीगुरुणी मैया श्री शारदाबाई महासतीजी की सुशिष्यारत्ना प्रखर व्याख्याता वा. ब्र. पू. श्री वसुबाई महासतीजी आदि ठा. २४ का मुंबई आगमन हुआ। उस समय हिन्दीभाषी धर्म-प्रेमीयों से बातचीत होने पर उनकी इच्छा सन्मुख आई कि (पू. शारदाबाई महासतीजी के ग्रन्थो की हिन्दीभाषी क्षेत्रों में बड़ी माँग है, परन्तु अब तक मात्र 'शारदा शिरोमणि' और 'सफल सुकानी', 'शारदा सिद्धि', 'शारदा रत्न', 'शारदा ज्योत', 'दीवादांडी' हिन्दी में प्रकाशित हुई है। अतः यदि उनकी नई पुस्तक **'शारदा-शिखर'** हिन्दी में अनुवादित करवा कर प्रकाशित करने के योजना बनाई जाये तो असंख्य हिन्दीभाषी को उनकी अमूल्य वाणी का लाभ मिल सकता है। ज्ञानप्रचार कि इस योजना को पू. महासतीजी के समक्ष रखते ही यह काम श्री मांगीलालजी नंगावत और नरेन्द्रभाई साड़ीवाला ने यह कार्य करने कि तैयारी बताई क्योंकि इससे पहले मांगीलालभाई और नानाभाई ने 'सफल सुकानी' शारदा प्रवचन संग्रह का प्रकाशक बन कर अनुभव लिया हुआ था। उनके साथ रोशनलालजी कोठारी, नरेन्द्रभाई साड़ीवाला व बाबुलालजी सिंघवी ने भी अपना पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया। इन पाँचो भाईओं ने एक समिति का गठन किया और 'शारदा प्रवचन संग्रह समिति' नाम रखा और काम बराबर तेजी से होने लगा।

हम आपको यह विदित करना चाहते है कि हमारा 'सफल सुकानी', 'शारदा सिद्धि' का जो अनुभव था उस आधार पर उस वक्त कि जो भूले हुई उसको ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक के प्रकाशन में ऐसी कोई भूल न हो ऐसी कोशिश कि फिर भी मानव मात्र भूल के पात्र है। भूल होना स्वाभाविक है उसके लिए क्षमा चाहते है।

हमे आनंद तो इस बात का है कि अगला पुस्तक 'सफल सुकानी', 'शारदा सिद्धि' 'शारदा रत्न', 'शारदा ज्योत', दीवादांडी, 'शारदा शिखर' जन जन तक पहुँचाया, साधु-साध्वीओं व छोटे गाँवों के उपाश्रय, साधनाभवन, स्वाध्यायी भाईओं को बिना शुल्क वितरण किया। आज काश्मीर से कन्याकुमारी तक की माँग है। हररोज़ पत्र आया करते है मगर हम उन सबकी माँग पूरी नहीं कर पा रहे है क्योंकि 'सफल सुकानी', 'शारदा सिद्धि' ६००० (छ हजार) प्रत छपवाई थी, जो पूरी हो गई इसके बाद शारदा रत्न, शारदा ज्योत, दीवादांडी, शारदा शिखर ३००० प्रत भी छपवाई जो बहुत बीक रही है, उसका कारण

पुस्तक की कीमत हमने खरीद कीमत से सिर्फ २५ प्रतिशत ही रखी थी। यह काम आप उदार दान-दाताओं की सहायता से ही बना है, हमारा उसमें कोई योगदान नहीं है। उसी अनुभव के आधार पर हमने यह तिसरा काम हाथ पर लिया है। इस पुस्तक कि कीमत भी हमने २०% - बीस प्रतिशत ही रखी, इसमें दाताओं का अच्छा सहयोग मिला और दाताओं की लाईन लग गई। हम उन सभी दाताओं के खूब खूब ऋणी हैं। जिन्हों ने खुद तो दान दिया और दूसरों से भी दिलवाया। इसी पुस्तक में हमारे सहयोगी दाताओं कि अलग से नामावली है, उन्होंने किसी प्रकार कि अपेक्षा के बिना दान भी दिया और दूसरों से दान भी लाये। हम उन महानुभावों का किन शब्दों में आभार प्रदर्शित करें! उनकी प्रशंसा के लिए कोई शब्द नहीं है। इस काम मे हमें निःशुल्क-निःस्वार्थ भाव से 'सस्तुं पुस्तक भंडार' ने भी अपना खुद का काम समझकर ही समय समय हाजर रहकर इस पुस्तक प्रकाशन में बहुत ही अच्छा सहयोग दिया। विशेष हम आप से यह बात भी कह देना चाहते है कि महासतीजी ने शुद्ध शास्त्र वाणी में व्याख्यान गुजराती में दिया है, उसका अनुवाद हमने करवाया है। यदि अनुवादक कि शब्दरचना में परिवर्तन होता हो तो वह भाव भूल अनुवादक व प्रेस कि है, उसमें महासतीजी के उच्चारणों में कोई भूल नहीं है।

अंत में हमारी समिति के अथाग प्रयत्नों से इस हिन्दी पुस्तक **'शारदा-शिखर'** को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया, उसमें दान दाताओं का बहुत ही बड़ा सिंह-भाग है। हम उनके तो आभारी है ही, मगर समिति के सभ्यों ने भी एक-राग से काम किया, तभी यह भगीरथ कार्य पूर्ण हो सका और साथ साथ हम उन दान-दाताओं को भी कैसे भूल सकते, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशक तथा विमोचक बनने का भार उठाया। अब पुस्तक आप तक पहुँचने कि तैयारी में है, तो आप से हमारा अनुरोध है। आप इस पुस्तक से खूब ज्ञान-ध्यान प्राप्त करें और आपकी आत्मा का कल्याण करें और दानवीर बने, शीलवान बने।

हमने इस पुस्तक के चन्दे मे आप सब दाताओं से संपर्क किया। उसमें आपके साथ हमारी समिति का व्यवहार बराबर न हुआ हो व आपके हृदय को ठेस पहुँचाई हो तो हम सब आपसे क्षमा-याचना करते हैं, क्षमा करें।

शाह मांगीलाल उदेराम नंगावत *(प्रमुख)*
शाह रोशनलाल चम्पालाल कोठारी *(उपाध्यक्ष)*
शाह नानालाल कोठारी *(मंत्री)*
शाह बाबुलाल सिंघवी *(सहमंत्री)*
शाह नरेन्द्रभाई साड़ीवाला *(कोषाध्यक्ष)*

निवेदन

नम्र निवेदन है कि महान् विद्वान बा. ब्र. गुजरात सिंहनी श्री शारदाबाई महासतीजी के १६ पुस्तक गुजराती में प्रकाशित हुए हैं, उनमें ६ का हिन्दी में अनुवाद हुआ है । उसमें 'शारदा शिरोमणि' 'सफल सुकानी शारदा प्रवचन संग्रह', 'शारदा सिद्धि' 'शारदा रत्न' 'शारदा ज्योत' यह सब दो भागों में हमने प्रकाशित करवाया हैं । 'दीवादांडी' भी अभी प्रकाशित हो चुकी है । उसमें 'शारदा शिरोमणि', 'सफल सुकानी' आदि पुस्तक आप तक पहुँचा ही होगा और यही **'शारदा शिखर'** भी आप तक पहुँच रही है । अब आपसे निवेदन है की इसकी मूल किंमत से २०% में ही हम आप तक यह पुस्तक पहुँचाने का प्रयास कर रहे हैं, जिससे आप जान सकते हैं कि किसी दानी के सहयोग से ही यह भगीरथ कार्य पूर्ण हो सकता है, तो हमारा आपसे अनुरोध है कि इस पुस्तक के पढ़ने के बाद आपकी श्रद्धा हो तो आप भी इसमें सहयोगी बने और दूसरों को भी एतदर्थ प्रेरणा दें, जिससे हम ज्यादा से ज्यादा पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद करवा कर आप तक पहुँचाने की कोशिश कर सके । आपसे इसलिए निवेदन कर रहे हैं कि यह बहुत ही बड़ा अर्थ का मामला है, हम व्यक्तिगत संपर्क कर नहीं सकते, मगर इस पुस्तक द्वारा निवेदन कर रहे हैं । यदि आपकी आत्मा संपूर्ण जगे तो जरूर इस महान कार्य में यथा-योग्य सहयोग प्रदान करावे, तो हमारा अगला कार्य सरल बनेगा । हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास भी है, आपके आत्मा में छूपी दान-भावना तीव्र बने । इस आशा और विश्वास के साथ ।

पू. नेमिचंद्रजी म.सा. के बहुत एहसानमंद है । आपने इतनी बड़ी उम्र में भी बहुत मेहनत करके शासन-सेवा का और ज्ञानप्रचार-प्रसार का काम ठीक समय पर कर दिया । गुजराती का हिन्दी में अनुवाद करके इतना बड़ा काम बहुत अच्छी तरह से कर दिया, इसके लिए हमारी समिति आप का बहुत शुक्रिया अदा करते है । आपके हम बहुत शुक्रगुजार है ।

आपके

शारदा प्रवचन संग्रह समिति - सुरत

त्कृष्ट वैरागी बालकुमारी शारदाबेन (उम्र वर्ष:१६)

जिन्होंने मात्र सोलह वर्ष की नाजुक वय में संयम लेकर रत्नयत्र की रोशनी झलका दी, वीरवाणी का शेष देशोदेश में गुँजित कर दी, शासन की शान बढायी हैं । ऐसे पुस्तक प्रवचन कर्ता, प्रवचन प्रभाविका, शासनदीपिका महान विदुषी बा.ब्र. पूज्य श्री शारदाबाई महासतीजी के चरण कमल में हम सबका कोटि-कोटि वंदन

गुजरात सिंहनी बाल ब्र. विदुषी पू. श्री शारदाबाई महासतीजी का

संक्षिप्त जीवन परिचय

जन्म	: विक्रम सं. १९८१ मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी मंगलवार, वीर सं. २४५१, ई. सन् १९२४, दिनांक : १-१-१९२४ मध्यरात्री में अढ़ाई बजे ।
जन्म स्थान	: साणंद ।
माता-पिता	: धर्मस्नेही श्रीमती शकरीबहन और धर्मप्रेमी श्रीमान वाडीभाई ।
भाई-भाभी, बहन	: सर्वश्री नटवरभाई प्राणलाल भाई अ.सौ. नारंगीबहन, अ.सौ. इन्दिराबहन, अ.सौ. गंगाबहन, अ.सौ. विमलाबहन, अ.सौ. शान्ताबहन, अ.सौ. हसुमतिबहन।
वंश और गोत्र	: शाह ।
शिक्षा	: गुजराती ६ श्रेणी साणंद में ।
दीक्षा	: विक्रम सं. १९९६ वैशाख शुक्ल षष्ठी, सोमवार तदनुसार दिनांक : १३-५-१९४० प्रातः ८-३० बजे ।
दीक्षा स्थल	: साणंद, अहमदाबाद से २२ कि.मी., गुजरात ।
दीक्षादाता गुरु	: जैन ज्योतिर्धर, ज्ञानदिवाकर बा. ब्र. पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज साहब ।
दीक्षादात्री गुरुणी	: वात्सल्यमूर्ति, पारसमणि समान पूज्य गुरुणीदेव श्री पार्वतीबाई महासतीजी ।
संप्रदाय	: खंभात ।
भाषाज्ञान	: गुजराती, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत ।
शास्त्रीय ज्ञान	: जैन आगम बत्तीस शास्त्र तथा सिद्धांत, थोकड़ा ।
शिष्या समुदाय	: पूज्य सुभद्राबाई महासतीजी, बा.ब्र.वसुबाई महासतीजी आदि ठाणा ३९।
विशिष्ट चारीत्रिक गुण	: सरल, गम्भीर, निड़र, वक्ता, अद्‌भुत, जागृति, यशस्वी, समतामूर्ति, विशाल दृष्टि, परमपुण्यप्रभावक, संप्रदायक की खेवैया, संतो की दीक्षादात्री, मात्र दो वर्ष के संयमपर्याय से प्रारम्भ करके अंतिम दिवस तक प्रवचन प्रभावना की एकधार अमृतवर्षा की तथा अंतिम समय में स्वमुख से मांगलिक, नवकार मंत्र सुनाकर लगातार गुरुदेव का अजपाजाप किया।
प्रवचन प्रकाशन	: शारदा सुधा, शारदा संजीवनी, शारदा माधुरी, शारदा परिमल, शारदा सौरभ, शारदा सरिता, शारदा ज्योत, शारदा सागर, शारदा शिखर, शारदा दर्शन, शारदा सुवास, शारदा सिद्धि, शारदा रत्न, शारदा शिरोमणि आदि लगभग सवा लाख प्रतियाँ उनकी उपस्थिति में प्रकाशित हुई तथा उनकी चिर विदाय के पश्चात् 'शारदा शिरोमणि' की दूसरी आवृत्ति तथा हिन्दी आवृत्ति प्रकाश में आयी तथा 'सफल सुकानी-शारदा प्रवचन संग्रह' की दस हजार प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी है। और हिन्दी में ६ हजार 'सफल सुकानी' शारदा प्रवचन संग्रह। और अंग्रेजी में ३ हजार प्रकाशित हुई है।
विहार-यात्रा	: गुजरात, सौराष्ट्र, काठियावाड़, महाराष्ट्र आदि ।
अंतिम प्रयाण	: विक्रम सं. २०४२, वैशाख शुक्ल षष्ठी, बुधवार तदनुसार १४-५-१९८६ को संध्याकाल छः बजे मलाड़-बम्बई में । (अपनी दीक्षा जयंती के दिन) ।

व्याख्यान वाचस्पति बालब्रह्मचारी विदुषी

'पूज्य शारदाबाई महासतीजी की जीवन रेखा'

'प्रेरणादायी वैराग्यमय जीवन'

सृष्टि की सुन्दर फूलवारी में अनेक पुष्प खिलते हैं और मुर्झा जाते हैं, लेकिन पुष्प की विशेषता और महत्ता इसीमें होती है कि वह अपने सौरभ से दूर-दूर तक सुगन्ध फैलाता है तथा लोगों को ताजगी और प्रफुल्लता से भर देता है। संसार में अनेक जीव जन्म लेते हैं, लेकिन उसीका जीवन सार्थक होता है, जिसका आकर्षक व्यक्तित्व सदैव दूसरों के जीवन को नयी और सही राह दिखाता है। जो सत्य, अहिंसा, प्रेम, सदाचार जैसे उच्चतम संस्कारों का खजाना जगत के समक्ष रखते हुए मुमुक्षु जीवों को यह विरासत सौंपने के लिए प्रचण्ड पुरुषार्थ करते हैं, प्रमाद की गाढ़ी निद्रा से जागृत करके कर्तव्य की राह पर आगे बढ़ने का मार्गदर्शन देते हैं और जीवन जीने की कला का अपूर्व बोध प्रदान करते हैं। जो अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने के साथ दूसरों का जीवन भी उज्ज्वल करते हैं - ऐसे शासन रत्नों में जैनशासन की साध्वी के रूप में, जिनशासन का डंका देश-विदेश में जिन्होंने गूँजाया, वे गौरववंत गुजरात की भूमि में जन्मी, प्रखर व्याख्याता, अप्रतिम उदारता की मूर्ति, क्षमा, तप, त्याग और संयम मार्ग की दृढ़ उपासिका, आर्जवता तथा मार्दवता से मुमुक्षों का मन मोह लेने वाली बाल ब्रह्मचारी विदुषी पूज्य श्री शारदाबाई महासतीजी हैं।

"सुमनोहर भूमि साणंद की, गूँजती ध्वनि जहाँ सदा आनन्द की,
मस्ती मनाने निजानंद की, जन्मी विरल विभूति शारदा गुरुणी।"

पूज्य शारदाबाई महासतीजी का जन्म अहमदाबाद के नजदीक साणंद शहर में संवत १९८१ की मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी, तदनुसार मंगलवार दिनांक : १-१-१९२४ की मध्यरात्रि के पश्चात् अढ़ाई बजे हुआ था। धन्य है वह भूमि ! किसे ज्ञात था कि साणंद सहर में खिला यह पुष्प, अपने सद्गुणों की सौरभ जगत के कोने-कोने तक बिखरा कर, आत्मा का अपूर्व आनन्द प्राप्त करेगा। शासन प्रेमी, धर्मानुरागी पिता वाडीभाई और सद्गुणों से सुशोभित रत्नकुक्षि माता शकरीबहन भी धन्यवाद के पात्र है कि जिन्होंने जिनशासन को उज्ज्वल करने वाली, संप्रदाय की शान बढ़ानेवाली शारदाबहन के जीवन में सुंदर संस्कारों के ऐसा बीज बोए कि आज वह बीज विशाल वटवृक्ष के रूप में फल-फूल कर चारों दिशा में अपनी महक फैला रहा है। सचमुच ही, जब शारदाबहन का जन्म हुआ तब किसने सोचा था कि यह नन्ही बालिका भविष्य में जैनशासन में धर्म की धुरी ग्रहण करके माता-पिता का नाम दुनिया में रोशन करेगी ! गौरववंती माता शकरीबहन ने पाँच पुत्रियों और दो पुत्रों को जन्म दिया। जैनशासन की शान बढ़ाने वाली, प्रव्रज्या का परिमल प्रसारित करने वाली, रत्नत्रयी की रोशनी फैलाने वाली महान विदुषी बा. ब्र. पूज्य शारदाबाई महासतीजी के तेजस्वी जीवन की यहाँ संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत करने की कोशिश है।

जिनका जीवन शक्कर जैसा मधुर तथा गुणरूपी पुष्पों की सुवास से महकता हुआ था, ऐसे माता-पिता ने अपनी लाड़ली पुत्री शारदाबहन को बाल्यावस्था में पहुँचते ही शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से पाठशाला भेजा । साथ ही धार्मिक ज्ञान अर्जित करने के लिए जैन-शाला में भी भेजते रहे । संस्कारी माता-पिता के सुसंस्कारों के सिंचन तथा पूर्व के संस्कारो की किरणों का प्रकाश पुरुषार्थ द्वारा फैलता गया । यह प्रकाश उनके अंतर में ऐसा आलोक बन कर बिखरा कि बाल्यावस्था में स्कूल में पढ़ते हुए, सखियों के साथ क्रीड़ा करते हुए, गरबा गाते हुए भी उनका चित्त कहीं रमता नहीं था । उस समय भला किसे यह कल्पना तक न थी कि इस संसार से विरक्त बालिका के हृदय - समुद्र में आध्यात्मिक ज्ञान का खजाना भरा है । वे भविष्य में अपने जीवन के हर सुनहरे क्षण को आत्म-साधना की मस्ती में, प्रवचन-प्रभावना में, जैनशासन की बेजोड़ सेवा करने में सदुपयोग करने वाली हैं और अपनी उत्कृष्ट प्रज्ञा की तेजस्विता से जैन तथा जैनेतर समाज को दान, दया, शील, तप, अहिंसा, सत्य, नीति, सदाचार और सद्गुणों का पाठ पढ़ाकर, श्रेष्ठतम जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करने वाली है।

बाल्यावस्था में ही वैराग्यमूलक विचारधारा : शारदाबहन जैन-पाठशाला में सीखते हुए जब महान वीर पुरुषों की तथा चंदनबाला, राजेमती, मृगावती, दमयंती आदि महान सतियों की कथा सुनती तो उनका मन किसी अगम्य प्रदेश में खो जाता और विचार करने लगती कि 'क्या हम भी इन सतियों जैसा जीवन नहीं जी सकते ?' इसी विचार को अपनी सखियों के सम्मुख रखते हुए वे कहती, "सखियों ! यह संसार दुःख का दावानल है और संयम सुख का सागर है । चलो, हम दीक्षा ले लें ।" उनकी इस बात से हम कल्पना कर सकते हैं कि जिसके विचार इस नन्हीं उम्र में इतने उत्तम हो उसका भावी जीवन कितना उज्ज्वल बनेगा ? शारदाबहन की विचारधारा वैराग्य से भरपूर तो थी ही, उनकी वैराग्य ज्योति को और अधिक उज्ज्वल बनाने और गहराने वाला एक प्रसंग सामने आया । उनकी बड़ी बहन विमलाबहन का प्रसूति के पश्चात्, अत्यन्त छोटी उम्र में देहान्त हो गया। इस घटना ने बालकुमारी शारदाबहन पर जीवन की क्षणिकता और संसार की असारता की छाप गहरी कर दी । उनके अंतर में हलचल मच गई कि क्या जीवन इतना क्षणिक है ? ऐसे क्षणिक जीवन में नश्वर का मोह छोड़ अविनाशी की आराधना करने के लिए प्रव्रज्या के पंथ पर प्रयाण करना ही श्रेयष्कर है, हितकारी है । इस प्रसंग ने शारदाबहन के हृदय में संयमी जीवन का आनन्द लूटने की मस्ती पैदा की और वैराग्य दृढ़ होता गया।

शारदाबहन के वैराग्यपूर्ण विचार, वाणी और व्यवहार से माता-पिता को आभास होने लगा कि उनकी प्यारी, लाड़ली पुत्री संसार को सुलगता दावानल मान कर, आत्मिक आनन्द की अनुभूति करने महावीर मेडिकल कोलेज में दाखिल होकर पाँच महाव्रत रूपी दिव्य अलंकारों से विभूषित होने के सुनहरे सपनों में खो रही है ।

रत्न समान रत्न गुरुदेव का समागम : जो आत्मा आध्यात्मिक भाव में रमण करती रहती है और उच्च भावनाओं का सेवन करती रहती है, उसकी भावना को साकार करने के लिए कोई न कोई सहायक मिल ही जाता है । इसीके अनुसार शारदाबहन के दृढ़ वैराग्य को चुम्बक से आकर्षित होकर खंभात संप्रदाय के गच्छाधिपति कोहिनूर रत्न के समान तेजस्वी, अध्यात्मयोगी, महायशस्वी बाल ब्रह्मचारी पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज साहब का साणंद की पवित्र भूमि में पुनित पदार्पण हुआ । उनका वैराग्य और दृढ़ बना । गुरुदेव ने कुमारी शारदाबहन से कहा, "बहन ! तुम्हारी संयम की भावना अति उत्तम और श्रेष्ठ है; परन्तु क्या तुम्हें पता है कि आत्मकल्याण की राह बड़ी कठिन है । इस किशोर वय में माता-पिता की शीतल छाया और संसार का रंग-राग छोड़ कर कष्टों और कंटकों से भरपूर संयम मार्ग को स्वीकारना कोई सामान्य या आसान काम नहीं है । इस संयम मार्ग के संकटों का तुम सहर्ष सामना कर पाओगी ? क्या तुम्हारे माता-पिता तुम्हें आज्ञा प्रदान करेंगे ?" शारदाबहन ने उत्तर दिया, "गुरुदेव ! मैं पूर्ण रूप से तैयार हूँ । इस विषम संसार में, जहाँ छः काय के जीवों की हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा हो, जहाँ राग-द्वेष की होली सतत जलती हो, जहाँ पुण्य बेचकर पाप की कमायी होती हो, ऐसा संसार रहने योग्य है क्या ? इसलिए ऐसा संसार का त्याग कर आत्म-प्रकाश प्राप्त करने के लिए संयम अंगीकार करने की मेरी उत्कृष्ट भावना है ।" देखिए, उम्र छोटी होने पर भी उनका उत्तर वैराग्य की कैसी अद्‌भुत छटा फैला रहा है !

गुरुदेव की दृष्टि में शारदाबहन का उज्ज्वल भविष्य : बाल्यकाल के प्रांगण में क्रीड़ा करती बालिका को संयम पंथ पर प्रयाण करने की कितनी तीव्र उत्कंठा है ! उनका अंतर संयमी जीवन का आनन्द पाने के लिए लालायित हो रहा था । इसी कारण अब संसार में व्यतीत होते क्षण उन्हें युगों जैसे महसूस होने लगे । पूज्य गुरुदेव को उनकी दृढ़ भावना से यह निश्चय होने लगा कि 'यह कन्यारत्न दीक्षा लेकर जैनशासन को उज्ज्वल बनायेगी, संप्रदाय की शान बढ़ायेगी और भविष्य में खंभात संप्रदाय में जब कठिन समय आयेगा तब यही संप्रदाय की नैया पार लगायेगी तथा शासन को रोशन करेगी ।' उस चातुर्मास में वैरागी शारदाबहन ने पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में अल्पकाल में ही 'दशवैकालिक सूत्र', 'उत्तराध्ययन सूत्र' तथा 'थोकड़े' कंठस्थ कर लिए । उन्होंने तभी, मात्र तेरह वर्ष की उम्र में कभी ट्रेन में सफर न करने तथा बस से अहमदाबाद से आगे न जाने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली । ये बातें उनके उच्च कोटि के वैराग्य को सूचित करती हैं ।

वैराग्य की कसौटी में शारदाबहन की दृढ़ता : शारदाबहन के माता-पिता, भाई, मामा आदि सगे-सम्बन्धियों ने उन्हें समझाने की बहुत कोशिश की, बहुत डराया-धमकाया, परन्तु शारदाबहन अपने निश्चय से तिल-मात्र भी विचलित न हुई । माता-पिता बहुत दुःखी हुए और उन्होंने कहा कि "हम अन्न-जल का त्याग करेंगे ।" परन्तु जिसके रग-रग में वैराग्य का स्रोत बह रहा हो, जिसके चित्त को

चारित्र की चटक लगी हो और संसार रूपी ज्वालामुखी से सुरक्षित वचने के लिए जिसने मेरुपर्वत जैसी अड़िग और अड़ोल आस्था और श्रद्धा को धारण कर रखा हो, वह क्या वैराग्य भाव से जरा भी चलित होगी भला ? विविध प्रकार की कसौटियों के पश्चात् भी उनकी भावना में अड़िग निष्कंपन देख कर माता-पिता ने कहा कि "अभी इस सोलह वर्ष की अवस्था में तो नहीं पर इक्कीस वर्ष की उम्र में तुम्हें दीक्षा लेने की आज्ञा देंगे ।" परन्तु शारदाबहन तो उसी समय दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर चुकी थी । अतः उन्होंने पूछा कि "सत्रह वर्ष की विमलाबहन की मृत्यु को कोई रोक न सका तो मेरी इस जिंदगी का क्या भरोसा ?" अंत में शारदाबहन की विजय हुई और माता-पिता ने राजी-खुशी से दीक्षा के लिए सम्मति प्रदान की ।

भाग्यवान शारदाबहन भागवती दीक्षा के पंथ पर : संवत १९९६ वैशाख शुक्ल षष्ठी, तदनुसार दिनांक १३-५-१९४०, सोमवार को साणंद में अत्यन्त भव्यता से शारदाबहन का दीक्षा महोत्सव सम्पन्न हुआ । खंभात संप्रदाय में, साणंद ग्राम से, मन्दिर- मार्गी या स्थानकमार्गी या स्थानकवासी समाज से, बाल कुमारी के रूप में सर्वप्रथमदीक्षा शारदाबहन की हुई । अतएव समस्त ग्राम हर्ष की हिलोर में मग्न हो रहा था । दीक्षाविधि पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज साहब के मुखारविन्द द्वारा सम्पन्न हुई । गुरुणी पूज्य पार्वतीबाई महासतीजी की शिष्या बनी । इनके साथ ही साणंद की एक अन्य बहन जीवीबहन भी दीक्षित हुई थी । जीवीबहन का नाम पूज्य जसुबाई महासतीजी तथा शारदाबहन का नाम पूज्य शारदाबाई महासतीजी रखा गया । इस प्रकार वैरागी विजेता बनी ।

उनके पूज्य पिता श्री वाडीलालभाई और मातुश्री शकरीबहन, भाई श्री नटवरभाई तथा प्राणलालभाई, भाभी अ. सौ. नारंगीबहन, अ. सौ. इन्द्रिाबहन, बहनें अ. सौ. गंगाबहन, अ. सौ. शान्ताबहन, अ. सौ. हसुमतीबहन सभी धर्मप्रेमी तथा सुसंस्कारी हैं । साणंद में उनका कपड़े का व्यापार है । जिस परिवार से ऐसा अनमोल रत्नशासन को प्राप्त हुआ हो उस परिवार के सदस्यों का धर्म, दान, दया, अनुकंपा आदि से ओतप्रोत होना स्वाभाविक है ।

गुरु चरण व शरण में समर्पणता : इस विशाल संसारसागर में जीवननैया के कुशल खेवैया मात्र गुरुदेव ही है । पूज्य शारदाबाई महासतीजी ने इसी तथ्य के अनुरूप अपनी जीवन नैया को पूज्य पार्वतीबाई महासतीजी की शरण में सर्वदा के लिए तैरता रख दिया तथा अपना जीवन उनकी आज्ञा में अर्पित कर दिया । पूज्य गुरुदेव तथा पूज्य गुरुणीदेव से संयमी जीवन की सभी कलाएँ सीखीं । अल्पायु में दीक्षा लेकर भी पूज्य गुरुदेव तथा पूज्य गुरुणीदेव की आज्ञा में ऐसे समर्पित हो गयीं कि अपने जीवन में कभी भी गुरुआज्ञा का उल्लंघन तो क्या किसी तरह की कोई दलील या अपील तक नहीं की । पूज्य गुरु-गुरुणी की शीतल छत्रछाया में पूज्य महासतीजी का धार्मिक अभ्यास और पुरुषार्थ अत्यन्त प्रबल बना और सुन्दर आत्मज्ञान प्राप्त किया । शास्त्रों का पठन किया । संस्कृत, प्राकृत भाषा सीखी । अपने ज्ञान का लाभ दूसरों को प्रदान करने के प्रयत्न में, अति अल्प काल

में ही प्रतिभाशाली और प्रखर व्याख्याता तथा विदुषी के रूप में पूज्य महासतीजी की ख्याति चारों ओर फैल गयी ।

सम्मोहनकारी वीरवाणी की वीणा बजाने की अनोखी शक्ति : पूज्य महासतीजी के व्याख्यान में मात्र विद्वत्ता नहीं वरन आत्मा की चैतन्य विशुद्धि का स्वर उनके अंतर की गहराई से उभरता था । धर्म के तत्त्व का शब्दार्थ, भावार्थ तथा गूढार्थ ऐसी गम्भीर और प्रभावक शैली में विविध न्याय, दृष्टांत द्वारा समझाती कि श्रोतावृंद उसमें तन्मय होकर अपूर्व शांति से शारदा सुधा का रसपान करते । उनकी वाणी में आत्मा के स्वर गूँजते थे तथा उस ध्वनि ने अनेक जीवों को प्रतिबोध प्राप्त करवाया है । सुषुप्त आत्माओं को झिंझोड़ कर संयम मार्ग की ओर प्रेरित किया है । पूज्य महासतीजी के प्रवचनों की पुस्तक ने तो लोगों पर ऐसा जादू किया है कि पुस्तक पढ़ कर जैन-जैनेतर अनेक (हजार से अधिक) भाई-बहनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया है । अनेकों ने व्यसनों का त्याग किया । नास्तिक आस्तिक बने, पापी पुनित बने और भोगी योगी बने ऐसे तो अनेक उदाहरण हैं। ज्यादा क्या लिखूँ ? ये पुस्तकें मीसा के तहत, कारावास भोगते जैन भाई तक पहुँची तो इसे पढ़ कर वे आर्तध्यान छोड़, धर्मध्यान में जुड़ने लगे, और कर्म का दर्शन (फिलोसोफी) समजने लगे। पूज्य महासतीजी की अंतर वाणी का नाद उनके दिल तक पहुँचने पर जेल धर्मस्थानक जैसा बन गया और वहाँ रहने वाले कैदी भाईयों ने तप, त्याग तथा धर्माराधना की मंगल शुरूआत की । जेल से मुक्त होने पर पूज्य महासतीजी के पास आकर रो पड़े और अनेकों व्रत, नियम धारण किये। संक्षेप में इस उदाहरण से पूज्य महासतीजी के प्रवचनों की पुस्तकों का प्रभाव स्पष्ट होता है, जिसने मानवों के जीवन को परिवर्तित कर दिया ।

गुण रूपी गुलाब से महकता जीवन बाग : पूज्य महासतीजी परम विदुषी ही नहीं अन्य अनेक अमूल्य गुणों से सजी हुई थीं । उनके असीम गुणों का वर्णन करना हमारी शक्ति से बाहर की बात है । फिर भी गुरुभक्ति सरलता, निराभिमानता, नम्रता, लघुता, अपूर्व क्षमा, स्नेह गुणानुराग तथा करुणा आदि गुण तो उनके जीवन में रचे-बसे थे । अपने इन गुणों के प्रभाव से उन्होंने अनेक जीवों को धर्म-मार्ग की ओर मोड़ा । उनकी आत्मा में निरन्तर यही भाव रहता कि सर्व जीव शासन के स्नेही कैसे बने, वीर की संतना वीर के मार्ग पर कैसे चलें ? **"दुःख में अजब समाधि साधी, सुख में रहे समभावी, तेजस्वी, यशस्वी गुरुणीदेव भी आत्मभावी ।"** अस्वस्थ होने पर भी प्रवचन की प्रभावना करने में वे कभी न चूकती थीं । पूज्य महासतीजी ने सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, गुजरात आदि क्षेत्रों में विहार करके, अमूल्य लाभ प्रदान किया है, परन्तु उनकी पुस्तकें तो देश, विदेश तक पहुँची हैं ।

पूज्य महासतीजी के प्रतिबोध से ३६ (छत्तीस) बहनों ने वैराग्य प्राप्त करके, उनसे दीक्षा अंगीकार की और जैनशासन की शोभा में अभिवृद्धि कर रही है । पूज्य महासतीजी एक जैन साध्वी के रूप में रह कर पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी म.सा.

तथा पूज्य गुरुदेव श्री गुलाबचन्दजी महाराज साहब के काल-धर्म प्राप्त करने के पश्चात् खंभात संप्रदाय की नैया कुशल खेवैया बनी, जो जिनशासन में विरल है। इतना ही नहीं वरन खंभात संघ के संघपति श्री कांतिभाई की दीक्षा भी पूज्य महासतीजी के पुनित हस्तों द्वारा हुई तथा दीक्षा मंत्र भी उन्होंने ही दिया । आज जिनकी ख्याति महान वैरागी पूज्य कांति ऋषिजी म.सा. के रूप में है । पूज्य कांति ऋषिजी म.सा. ठाणा-१३ में से प्रथम चार संतों को दीक्षा की प्रेरणा प्रदान करने का श्रेय भी पूज्य महासतीजी की अद्‌भुत वाणी को है ।

पूज्य महासतीजी की वाणी ने बम्बई की जनता को इतना आकर्षित कर लिया था कि जब वे अन्य स्थानों पर होती तब भी बम्बई की जनता उनके चातुर्मास के लिए लालायित रहती । कांदावाड़ी आदि अनेक संघ लगातार अपनी विनती लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे । अतः कांदावाडी श्रीसंघ की आग्रह भरी विनती को मान देकर पूज्य महासतीजी तीसरी बार बम्बई में चातुर्मास करना स्वीकार किया । इसीसे ज्ञात हो जाता है कि बम्बई की जनता में उन्होंने कैसे स्नेह और आकर्षण की वर्षा की ।

केसरवाड़ी में केसर की क्यारी के समान महकता चरम चातुर्मास : सं. २०४१ में कांदावाड़ी श्रीसंघ की अत्यन्त आग्रहभरी विनती का मान रख कर पूज्य महासतीजी कांदावाड़ी पधारें । पूज्य महासतीजी के वैराग्य भरे, आत्मस्पर्शी, ओजस्वी और प्रभावशाली प्रवचनों ने जनता के हृदय में ऐसा अनोखा आकर्षण उत्पन्न किया कि चातुर्मास दरमियान व्याख्यान कक्ष हंमेशा जिज्ञासुओं से भरी रहती और उनकी दिव्य, तेजस्वी वाणी की प्रेरणा से तप, त्याग और व्रत-नियमों का एक धारा - प्रवाह बहता रहा । कांदावाड़ी श्रीसंघ में सोलह मासखमण और दो उपवास के सिद्धितप हुए । छ उपवास से लेकर इकतीस (३१) उपवास तक की तपश्चर्या करने वालों की संख्या २०० को पार कर गई । इसी प्रकार उनके हर चातुर्मास में दान, शील, तप और भावना का ज्वार उठता । इस सब का श्रेय पूज्य महासतीजी को ही है । उनका प्रत्येक चातुर्मास ऐसा रहा है जो श्रीसंघ के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित होने की योग्यता रखता है । परन्तु कांदावाड़ी का चातुर्मास हंमेशा के लिए एक यादगार और चरम चातुर्मास बन गया । इस चातुर्मास को कांदावाड़ी संघ कभी विस्मृत नहीं कर सकता ।

विशेष आनन्द का विषय तो यह है कि आज तक पूज्य महासतीजी के व्याख्यानों की पुस्तकें दस-दस हज़ार की संख्या में प्रकाशित हुई, परन्तु आज एक भी प्रत उपलब्ध नहीं है । मात्र यही बात इस बात को प्रमाणित कर देता है कि पूज्य महासतीजी के व्याख्यानों का आकर्षण कैसा है ? पूज्य महासतीजी के सं. २०४१ के कांदावाड़ी चातुर्मास के व्याख्यान 'शारदा शिरोमणि' नाम से १२००० (बारह हज़ार) प्रतियाँ प्रकाशित हुई । सौभाग्य हमारा कि बम्बई में 'शारदा शिरोमणि' का भव्य उद्‌घाटन पूज्य महासतीजी के सान्निध्य में ता. ६-४-८६ रविवार को कांदावाड़ी में हुआ । एक महीने में समस्त प्रतियाँ बिक गई - यह है पूज्य महासतीजी की वाणी का प्रभाव !

मलाड़ की ओर प्रयाण : 'शारदा शिरोमणि' के उद्घाटन के पश्चात् आयंबिल की ओली तथा वर्षीतप के पारणा के प्रसंग पर मलाड़ में पदार्पण किया । तब किसे मालूम था कि पूज्य महासतीजी का यही अंतिम प्रयाण है! पूज्य महासतीजी की रग-रग में शासन के प्रति खुमारी, शासन के प्रति अड़िग श्रद्धा तथा शासन के लिए कुछ कर गुजरने की अदम्य इच्छा और उत्साह था । **"शासन के लिए मरना मंजूर लेकिन शासन के लिए कुछ करके जाना ।"** यही उनका जीवनमंत्र था, इसीके लिए उनका रोम-रोम उत्साहित हो उठता था । ओली और वर्षीतप के निमित्त से उनकी जोरदार प्रवचन प्रभावना ने अपना विशिष्ट रूप दिखाया । अनेक आयंबिल तथा नये वर्षीतप प्रारम्भ किये गये। वर्षीतप का पारणा भी बड़ी धूमधाम से हुआ । अंत में वैशाख षष्ठी के दिन, उनकी दीक्षा जयंती का दिवस था, जब वे सुवर्ण संयम साधना के ४६ वर्ष पूर्ण कर ४७ वें वर्ष में प्रवेश करेंगी । मलाड़ संघ इस सुनहरे अवसर का लाभ प्राप्त कर बड़ा उत्साह और अनोखे आनन्द में झूम उठा था । ता. १५-५-८६ बुधवार को दीक्षा जयंती के दिन उन्होंने एक घंटा प्रवचन दिया। व्याख्यान के पश्चात् १३५ जीवों को अभयदान, ५१ अखण्ड अट्ठम (तेला) के प्रत्याख्यान आदि विभिन्न व्रत-प्रत्याख्यान करवाये । दोपहर में १०८ लोगस्स का कायोत्सर्ग, नवकार मंत्र का जाप आदि आराधना की तथा करवाई । पूर्ण दिवस आराधना के कार्यक्रम चले । अंत में संध्या समय ५-१० मिनट पर अत्यंत उत्साह से मांगलिक का पाठ सबको सुनाया । दीक्षा जयंती के उपलक्ष्य में अनेक श्रावक भक्तों का आना-जाना बना हुआ था । लगभग सभी को स्वयंही मांगलिक सुनाते थे । थोड़ी देर बाद ही छाती में दर्द उठा । उस समय सभी शिष्या-वृंद उनके पास थे, कितने ही भाई-बहनों ने पौषध किया था, वे तथा अनेक दर्शनार्थी भी वहाँ उपस्थित थे । सबकी उपस्थिति में उन्होंने स्वयं जावजीव का संथारा ग्रहण किया। प्रसन्न चित्त से आलोचना की, सबसे खमत-खामना किया तथा अरिहंत, सिद्ध, ऋषभदेव, भगवान महावीर का शरण स्वीकार किया । ४६ वर्ष के संयमपर्याय में जाने-अनजाने लगे दोषों की शुद्धि के लिए स्वयं छः महीने दीक्षा छेद का प्रायश्चित किया । तीन बार 'वोसरामि...' शब्द का उच्चारण किया । अंत में "जीव जा रहा है, नवकार बोलो" कहा । देखने वाले तो देखते रह गये कि अंतिम समय में भी कितनी चित्त प्रसन्नता, आह्लाद-भाव, सौम्यता और शांत मुख-मुद्रा! ऐसा देख कर विश्वास न होता था कि ये जो कह रही हैं वह सच है ! परन्तु उन्होंने तो अपना साध्य पा लिया था । आत्मा अन्तरात्मा बन कर नवकार मंत्र का स्मरण करते और कराते अपूर्व समाधिपूर्वक दुनिया को अलविदा कह कर अनन्त की यात्रा पर बढ़ गया । मृत्युंजयी बन गये । **"साणंद शहर में जन्म हुआ, मलाड़ में देह छोड़ा, दीक्षा-निर्वाण एक दिन, वैशाख सुदि छठ्ठ बुधवार"** सुबह किसे कल्पना थी कि आज का दीक्षा जयंती का शुभ-दिन, संध्या होने तक पुण्यतिथि बन जायेगा !

"कल्याणकारी है आपका च्यवन, मंगलकारी है आपका जन्म,
पावनकारी है आपकी प्रव्रज्या, प्रेरणादायी है आपका निर्वाण ।"

जिनशासन का अनमोल कोहिनूर रत्न कालराजा ने छीन लिया । सोलह कलाओं में खिला हुआ चाँद जगत को अंधेरा करके विलीन हो गया । यह समाचार वायुवेग से प्रसरित हुआ, पर लोग सुन कर अचंभित रह गये कि 'क्या यह सत्य है ?' पूर्ण बम्बई तथा समस्त देश के कोने-कोने में हाहाकार मच गया । इस दुःखद समाचार के मिलते ही श्रद्धालुओं की भीड़ दर्शनार्थ उमड़ पड़ी । उनका पार्थिव शरीर देख सबके मन में आता कि कैसा अद्‌भुत है इस तेजस्वी मूर्ति का अलौकिक तेज ! ता. १५-५-८६ की दोपहर को उनकी भव्य पालकी निकली तब तीस से पैंतीस हजार भक्तों की विशाल मेदिनी साथ थी। थोड़े से समय में पाँच लाख रुपयों का दान एकत्रित हो गया और आज भी यह प्रवाह जारी है । पूज्य महासतीजी को गये तीन वर्ष ही हुए थे कि तब-तक में मलाड़, खंभात, अहमदाबाद, जोरावरनगर, साणंद, पाटडी, पोपटपुरा आदि गाँवों में एकान्त कर्मनिर्जरा करने, संवर करणी तथा गुरु के ऋण से मुक्त होने के लिए उनके नाम से स्मारक, उपाश्रय आदि गुरुणीमैया का नाम रोशन कर रहे हैं । तीनों वार्षिक पुण्यतिथियों पर भी अनेक प्रकार के तप, जाप, कार्योत्सर्ग, संवर करणी, अभयदान आदि आराधनाओं का भव्य आयोजन हुआ । यह सब गुरुणीमैया का पुण्य प्रभाव है ।

पूज्य महासतीजी की पुण्य प्रभावकला : पूज्य म.सा. तो सबको छोड़ कर चली गई, परन्तु उनके पुण्य का प्रभाव ऐसा है कि उनके प्रवचन का ग्रंथ 'शारदा शिरोमणि' की बारह हजार प्रतियाँ अति अल्प समय में बिक गई, पर उनकी माँग फिर भी इतनी अधिक थी कि श्री कांदावाड़ी संघ ने द्वितीय संस्करण में ६ हजार प्रतियों का प्रकाशन करवाया । राजस्थान, मारवाड़, मेवाड़ आदि स्थानों पर भी इस पुस्तक की बहुत माँग थी, अतः दस हजार प्रतियाँ हिन्दी के संस्करण की निकाली । मलाड़ संघ ने पूज्य महासतीजी का स्मृति ग्रंथ **'दीवादांडी शारदा स्मृति ग्रंथ'** के नाम से दस हज़ार प्रतियाँ छपवाई जो आज अनुपलब्ध है, पूज्य महासतीजी की गैरहाजिरी में इसीको ध्यान में रख कर कांदावाड़ी श्रीसंघ ने **'सफल सुकानी - शारदा प्रवचन संग्रह'** के नाम से दस हज़ार प्रतियाँ प्रस्तुत की । पूज्य महासतीजी की वाणी का ऐसा अलौकिक जादू और ऐसा प्रचण्ड पुण्य प्रभाव कि व्यक्ति के न रहने पर भी उसकी पुस्तकों के लिए इतनी माँग ! ऐसा तो विरल ही होता है । **"दिव्य देशना का बजाया नाद, देश-देश में पहुँचा साद; करते हैं सभी आपको याद, नहीं भूलती आपकी आवाज ।"** ऐसी विरल विभूति, शासन की सेनानी, वीर प्रभु की आज्ञा में डूबी योद्धा और

"कृति जिनकी कल्याणकारी, आकृति जिनकी आह्लादकारी,
प्रकृति जिनकी प्रेम-क्यारी, जिनाज्ञा थी जिन्हें प्राण से प्यारी,
ऐसे अनन्त गुणों के धारी, स्वीकारो गुरुणी वन्दना हमारी ।"
"दीप बुझा प्रकाश अर्पित कर, फूल मुरझाया सुवास समर्पित कर,
टूटे तार पर सुर बहा कर, गुरुणी चले पर नूर फैला कर ।"

卐 शा र दा बा ई म हा स ती जी अ म र र हो 卐

शा □ शासन सितारा युग-युग चमके । शा

र □ रत्न गुरुदेव की तेजस्वी शिष्या ने ज्ञान तेज प्रसारा । र

दा □ दान दिया अंत तक दिव्य देशना और अभयदान का । दा

बा □ बाल ब्रह्मचारी के रूप में संप्रदाय में सर्वप्रथम प्रवज्या पंथ पर। बा

ई □ इन्द्रिय विजेता बनी, जिन शासन नेता । ई

म □ मनीषा थी जिनका मंगलकारी मोक्ष प्राप्त करने की । म

हा □ हार थी हृदय की सबको तारने वालों । हा

स □ समता, सरलता, सौम्यता सहिष्णुता की अजोड़ मूर्ति । स

ती □ तीतीक्षा थी उन्हें तरने और तारने की । ती

जी □ जीवन था जिनका जवाहर-सा जगमगाता । जी

अ □ अमरपंथ की पथिक बन जीवन अज्ज्वल कर गई । अ

म □ ममता मारी, समता साधी, अहिंसा आराधी । म

र □ रत्नत्रय की पुकार कर, जागृति की झंकार और चारित्र की चाँदनी चमका गई । र

र □ रक्षक बन कर छकाय के आत्मरमणता में रही । र

हो □ हो कोटि-कोटि वंदन तारक शारदा गुरुणीमैया के पवित्र चरण कमल में । हो

卐 शा र दा बा ई म हा स ती जी अ म र र हो 卐

शासन रत्ना महान विदुषी बा. ब्र. पू. शारदाबाई महासतीजी के पुनीत पदार्पण से

[illegible]

१.	१९९६	अहमदाबाद	१९४०	१६	[illegible]	[illegible]	[illegible]		
२.	१९९७	खंभात	१९४१	१७	२५.	२०२०	दादर-मुंबई	१९६४	४०
३.	१९९८	खेड़ा	१९४२	१८	२६.	२०२१	विलेपार्ला-मुंबई	१९६५	४१
४.	१९९९	साणंद	१९४३	१९	२७.	२०२२	घाटकोपर-मुंबई	१९६६	४२
५.	२०००	खंभात	१९४४	२०	२८.	२०२३	खंभात	१९६७	४३
६.	२००१	साणंद	१९४५	२१	२९.	२०२४	अहमदाबाद	१९६८	४४
७.	२००२	अहमदाबाद	१९४६	२२	३०.	२०२५	भावनगर	१९६९	४५
८.	२००३	साणंद	१९४७	२३	३१.	२०२६	राजकोट	१९७०	४६
९.	२००४	अहमदाबाद	१९४८	२४	३२.	२०२७	ध्रांगध्रा	१९७१	४७
१०.	२००५	साणंद	१९४९	२५	३३.	२०२८	अहमदाबाद	१९७२	४८
११.	२००६	खंभात	१९५०	२६	३४.	२०२९	कांदावाड़ी-मुंबई	१९७३	४९
१२.	२००७	सुरत	१९५१	२७	३५.	२०३०	माटुंगा	१९७४	५०
१३.	२००८	अहमदाबाद	१९५२	२८	३६.	२०३१	वालकेश्वर	१९७५	५१
१४.	२००९	जोरावरनगर	१९५३	२९	३७.	२०३२	घाटकोपर	१९७६	५२
१५.	२०१०	लखतर	१९५४	३०	३८.	२०३३	बोरीवली	१९७७	५३
१६.	२०११	खंभात	१९५५	३१	३९.	२०३४	मलाड़	१९७८	५४
१७.	२०१२	साणंद	१९५६	३२	४०.	२०३५	सुरत	१९७९	५५
१८.	२०१३	सुरत	१९५७	३३	४१.	२०३६	साणंद	१९८०	५६
१९.	२०१४	अहमदाबाद	१९५८	३४	४२.	२०३७	अहमदाबाद	१९८१	५७
२०.	२०१५	विरमगाम	१९५९	३५	४३.	२०३८	नारणपुरा-अ'बाद	१९८२	५८
२१.	२०१६	साबरमती	१९६०	३६	४४.	२०३९	खंभात	१९८३	५९
२२.	२०१७	खंभात	१९६१	३७	४५.	२०४०	नवरंगपुरा-अ'बाद	१९८४	६०
२३.	२०१८	कांदावाड़ी-मुं.	१९६२	३८	४६.	२०४१	कांदावाड़ी-मुंबई	१९८५	६१

क्रम	महासतीजी का नाम जन्मस्थल दीक्षास्थल	दीक्षा संवत	मास	तिथि	वार
२०.	बा. ब्र. पू. प्रफुल्लाबाई महासतीजी विरमगाम दीक्षा-मलाड	२०३३	मार्गशीर्ष शुक्ल	६	शुक्रवार
२१.	बा. ब्र. पू. सुजाताबाई महासतीजी दादर-मुंबई	२०३३	वैशाख शुक्ल	१३	रविवार
२२.	बा. ब्र. पू. पूर्वीषाबाई महासतीजी माटुंगा-मुंबई दीक्षा-साणंद	२०३७	फाल्गुन वदि	२	रविवार
२३.	बा. ब्र. पू. मनीषाबाई महासतीजी खंभात	२०३७	वैशाख शुक्ल	५	शुक्रवार
२४.	बा. ब्र. पू. उर्वीशाबाई महासतीजी खंभात	२०३७	वैशाख शुक्ल	५	शुक्रवार
२५.	बा. ब्र. पू. सुरेखाबाई महासतीजी मुंबई दीक्षा-अहमदाबाद	२०३८	वैशाख शुक्ल	६	गुरुवार
२६.	बा. ब्र. पू. श्वेताबाई महासतीजी विरमगाम	२०३९	वैशाख शुक्ल	११	रविवार
२७.	बा. ब्र. पू. नम्रताबाई महासतीजी विरमगाम	२०३९	वैशाख शुक्ल	११	रविवार
२८.	बा. ब्र. पू. विरतिबाई महासतीजी धानेरा	२०४१	मार्गशीर्ष वदि	३	मंगलवार
२९.	बा. ब्र. पू. रक्षिताबाई महासतीजी धानेरा	२०४१	मार्गशीर्ष वदि	३	मंगलवार
३०.	बा. ब्र. पू. हेतलबाई महासतीजी अहमदाबाद दीक्षा-धानेरा	२०४१	मार्गशीर्ष वदि	३	मंगलवार
३१.	बा. ब्र. पू. रोशनीबाई महासतीजी नार	२०४१	माघ शुक्ल	११	शुक्रवार
३२.	बा. ब्र. पू. चाँदनीबाई महासतीजी खंभात	२०४१	माघ वद	३	शुक्रवार
३३.	बा. ब्र. पू. अर्पिताबाई महासतीजी खेड़ा	२०४१	फाल्गुन शुक्ल	२	गुरुवार
३४.	बा. ब्र. पू. पूर्णिताबाई महासतीजी खेड़ा	२०४१	फाल्गुन शुक्ल	२	गुरुवार
३५.	बा. ब्र. पू. सुज्ञाबाई महासतीजी जोरावरनगर	२०४२	फाल्गुन शुक्ल	३	शुक्रवार
३६.	बा. ब्र. पू. प्रेक्षाबाई महासतीजी खंभात दीक्षा-नार	२०४३	वैशाख शुक्ल	११	शनिवार
३७.	बा. ब्र. पू. सेजलबाई महासतीजी अहमदाबाद दीक्षा-कांदीवली-मुंबई	२०४५	फाल्गुन शुक्ल	७	सोमवार
३८.	बा. ब्र. पू. चाँजलबाई महासतीजी अहमदाबाद दीक्षा-कांदीवली-मुंबई	२०४५	फाल्गुन शुक्ल	७	सोमवार
३९.	बा. ब्र. पू. हर्षज्ञाबाई महासतीजी धंधुका दीक्षा खंभात	२०४७	मागसर वदि	५	गुरुवार
४०.	बा. ब्र. पू. श्रेयाबाई महासतीजी-धानेरा	२०४९	महा शुक्ल	७	शनिवार
४१.	बा. ब्र. पू. श्रुतिबाई महासतीजी-धानेरा	२०४९	महा शुक्ल	७	शनिवार
४२.	बा. ब्र. पू. माधुरीबाई महासतीजी-सुरत बर्मा-दीक्षा-सुरत	२०४९	वैशाख शुक्ल	१०	शनिवार
४३.	बा. ब्र. पू. चेतनाबाई महासतीजी-रापर	२०५२	महा शुक्ल	१३	शुक्रवार
४४.	बा. ब्र. पू. समीक्षाबाई महासतीजी अहमदाबाद	२०५७	महा शुक्ल	११	रविवार
४५.	बा. ब्र. पू. शितलबाई महासतीजी खंभात दिक्षा - विलेपारला	२०५९	महा शुक्ल	५	शुक्रवार

प्रभावक प्रवचनकार महान विदुषी बा. ब्र. पू. श्री शारदाबाई महासतीजी का व्याख्यान संग्रह पुस्तक प्रकाशन (गुजराती)

क्रम	नाम अधिकार	स्थल	संवत	प्रत
१.	शारदा सुधा 'भगवती सूत्र' का उदायन राजा-चंपकचरित्र	माटुंगा-मुंबई	२०१९	८५००
२.	शारदा संजीवनी 'भगवती सूत्र' का तामलीतापस-धनचरित्र	दादर-मुंबई	२०२०	६०००
३.	शारदा माधुरी 'भगवती सूत्र' का गोशालक-गुणश्रीचरित्र	घाटकोपर	२०२२	६०००
४.	शारदा परिमल 'उत्तराध्ययन सूत्र' का १४वाँ अध्य.-छः जीव.	राजकोट	२०२६	२०००
५.	शारदा सौरभ 'ज्ञाताजी सूत्र' थावर्चापुत्र, महाबल-मलयाचरित्र	अहमदाबाद	२०२७	६०००
६.	शारदा सरिता 'भगवती सूत्र' जमालिककुमार अग्निशर्मा को गुणसेन (समरादित्य केवली) चरित्र	कांदावाडी-मुं.	२०२९	५५००
७.	शारदा ज्योत 'ज्ञाताजी सूत्र' द्रौपदी-ऋषिदत्ता चरित्र	माटुंगा	२०३०	३०००
८.	शारदा सागर 'उत्तराध्ययन सूत्र' २०वाँ अध्ययन अनाथी मुनि अंजना चरित्र	वालकेश्वर	२०३१	७७,०००
९.	शारदा शिखर 'ज्ञाताजी सूत्र' मल्लिनाथ भगवान-पाद्युम्नचरित्र	घाटकोपर	२०३२	१०,०००
१०.	शारदा दर्शन 'अंतगड सूत्र' गजसुकुमाल-पांडव चरित्र	बोरीवली	२०३३	८०००
११.	शारदा सुवास 'उत्तराध्ययन सूत्र' २२वाँ अध्य. नेम राजेमति, जिनसेन रामसेन चरित्र	मलाड	२०३४	८०००
१२.	शारदा सिद्धि 'उत्तराध्ययन सूत्र' १३वाँ अध्य. चित्तसंभूति, भीमसेन हरिसेन चरित्र	सुरत	२०३५	८,०००
१३.	शारदा रत्न 'उत्तराध्ययन सूत्र' ९वाँ अध्य. नमिप्रव्रज्या, सागरदत्त चरित्र	अहमदाबाद	२०३७	६०००
१४.	शारदा शिरोमणि 'उपासक दशांग सूत्र' आनंदश्रावक, पुण्यसागर चरित्र	कांदावाड़ी-मुं.	२०४१	१२,०००

ता. क. आश्चर्य की बात यह है कि बा. ब्र. महाउपकारी पू. गुरुणीमैयाश्री शारदाबाई महासतीजी के देह की उपस्थिति न होने के बाद भी वह हमारे सामने हाजिर हो इस तरह हर साल पुस्तक प्रकाशित होते रहे हैं, वह भी हजार पन्ने के ग्रंथ जैसा । यह है ज्ञान का प्रभाव ।

नाम	स्थल	संवत	प्रत
शारदा शिरोमणि प्रथम आवृत्ति का उद्घाटन ता. ६-४-८६	कांदावाड़ी-मुं.	२०४२	१२,०००
शारदा शिरोमणि दूसरी आवृत्ति का उद्घाटन ता. २४-५-८७	कांदावाड़ी-मुं.	२०४३	६०००
दीवाबांडी-शारदा स्मृति ग्रंथ का उद्घाटन ता. १९-६-८८	मलाड़-मुंबई	२०४५	१०,०००
शारदा शिरोमणि हिन्दी अनुवाद का उद्घाटन ता. २२-१-८९	कांदावाड़ी-मुं.	२०४५	३०००
सफल सुकानी-शारदा प्रवचन संग्रह का उद्घाटन ता. २५-३-९०	कांदावाड़ी-मुं.	२०४६	१०,०००
द्वितीय संवत्सर पुण्यतिथि का रत्नझरूखाट तूटया तार	चींचपोकली	२०४४	४०००
शारदा सितार का अथवा श्रद्धा सुमन श्रद्धांजलि गीत आदि	मुंबई		
तृतीय वार्षिक पुण्यतिथि पर रत्नप्रकाश अथवा शारदाजीवन पराग	अंधेरी वे.-मुं.	२०४५	४०००
चतुर्थ वार्षिक पुण्यतिथि पर शारदाप्रेरक प्रसंगो की गुणों की गीता	कांदावाड़ी-मुं.	२०४६	४०००

हिन्दी संस्करण

नाम	स्थल	संवत	प्रत
शारदा शिरोमणी - भाग-१	कांदावाड़ी-मुं.	२०४५	३०००
सफल सुकानी शारदा प्रवचन संग्रह हिन्दी भाग १-२	सुरत	२०४९	६०००
शारदा सिद्धि हिन्दी भाग १-२	सुरत	२०५८	५०००
शारदा रत्न हिन्दी भाग-१-२	सुरत	२०५८	३०००
शारदा ज्योत हिन्दी भाग १-२	सुरत	२०५९	३०००
शारदा शिखर हिन्दी भाग १-२	सुरत	२०६१	३०००
[illegible] हिन्दी	सुरत	२०६१	३०००

और अंग्रेजी में सामायिक प्रतिक्रमण पुस्तक सुरत

सफल सुकानी' शारदा प्रवचन संग्रह अंग्रेजी अनुवाद पुस्तक भाग-१,२,३ खंभात में उपलब्ध है।

गुरु गुण स्तुति

श्री रत्नगुरु... शरणं मम (२)
श्री शारदाबाई स्वामी शरणं मम (२)
नवकार नादे बोलीओ रत्नगुरु...
चौद पूर्वना सारे बोलीओ शारदाबाई
श्वासे श्वासे बोलीओ रत्नगुरु...
नाडीना धबकारे बोलीओ शारदाबाई
आत्मप्रदेशे बोलीओ रत्नगुरु...
रोमे रोमे बोलीओ शारदाबाई
नाभिनादे बोलीओ रत्नगुरु...
अेकी अवाजे बोलीओ शारदाबाई
हालतां चालतां बोलीओ रत्नगुरु...
खाता पीता बोलीओ शारदाबाई
रातदिवस बोलीओ रत्नगुरु...
सूतां जागतां बोलीओ शारदाबाई
व्याख्यान वांचणीमां बोलीओ रत्नगुरु...
स्वाध्याय करता बोलीओ शारदाबाई
जैनशासनना सितारा रत्नगुरु...
शासनना कोहीनूर हीरा शारदाबाई
शासनना शिरोमणि रत्नगुरु...
व्याख्यानना वाचस्पति शारदाबाई
संप्रदायना शिरताज रत्नगुरु...
शिष्याओना रखेवाल शारदाबाई
अवनिना अणगार रत्नगुरु...
शासनना शणगार शारदाबाई
संसारसागरना तरैया रत्नगुरु...
संयमनावना खवैया शारदाबाई
क्षमा ध्याननी मूर्ति हता रत्नगुरु...
गुरुभक्तिना अजोड नमूना शारदाबाई
वचनसिद्धि ने यशनामी रत्नगुरु...
बेरिस्टरनी बुद्धि जेनी शारदाबाई
आशीर्वाददाता रत्नगुरु...
कृपाकिरण वरसावतां शारदाबाई
श्री रत्नगुरु...शरणं मम (२)
श्री शारदाबाई स्वामी शरणं मम (२)

खंभात संप्रदाय की महान रत्ना, विदुषी, वाणीभूषण शासन प्रभाविका

बा. ब्र. पू. श्री शारदाबाई महासतीजी

शासन दीपक बुझ गया, फूल खिला और मुर्झा गया,
सूर्य उदय था, अस्त हुआ, तेजस्वी तारा खो गया,
यह तेजस्वी तारा, सूरज, फूल और दीपक कौन था ?
व्याख्यान वाचस्पति बा. ब्र. पूज्य श्री शारदाबाई महासतीजी

व्याख्यान - ४९

श्रावण वदी १३, रविवार — ता. २२-८-७६

पर्युषण का स्वागत : आत्म-शोधन का स्वागत (अट्ठाई धर)

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

आज का मंगलमय प्रभात एक अनोखा प्रकाश लेकर उदित हुआ है । भगवान् महावीरस्वामी के श्रमणोपासक और श्राविकाएँ इस वीतराग भवन में शुभ मंगलकारी पर्युषणपर्व की आराधना करने के लिए उपस्थित हुए हैं । यह पर्युषणपर्व अपने आत्म-प्रदेशों पर रहे हुए अज्ञान के गाढ़ तिमिर को हटाकर जीवन में अलौकिक ज्ञान का प्रकाश फैलाता है । ऐसे पर्वाधिराज का हम अपने अन्तर के आनन्दमय उमंग से स्वागत करें और धर्म-भावना के महंगे पुष्पों से उन (पर्व-दिवसों) को बधाएँ तो पर्युषणपर्व की महत्ता समझ में आएगी । पर्युषणपर्व का स्वागत करने के लिए क्या करना चाहिए ? अपनी आत्मा में अनन्तकाल से क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायों और विषय-वासनाओं का जो कचरा भरा है, उसे समता के निर्मल जल से धोकर साफ करना पड़ेगा । श्रद्धा का दीपक प्रज्वलित करके भावना की धूपबत्ती से उस गंदे वातावरण को शुद्ध और सुगन्धित बनाना पड़ेगा । विषय-कषायरूपी डाकुओं ने अपनी आत्मा का जो साम्राज्य छीन लिया है और मोह-ममता के गाढ़ बन्धनों से जीव जो बंध गया है, तथा राग-द्वेष के गाढ़ अन्धकार में भटक रहा है, इन सबसे आत्मा को मुक्त करने के लिए पर्युषणपर्व की पधरामणी हुई है । जैसे केसरीसिंह का आगमन होते ही भेड़ों का टोला भाग जाता है, वैसे ही पर्युषणपर्व का आगमन होने पर हमें प्रबल पुरुषार्थ करके विषय-कषायरूपी डाकुओं को भगाना है और राग-द्वेष के बन्धनों को तोड़कर आत्मा को मुक्त करना है ।

वसन्त ऋतु का आगमन होते ही वृक्ष नवपल्लवित हो जाते हैं, वैसे ही पर्युषणपर्व का आगमन होते ही धर्मिष्ठ मनुष्यों का आत्मबाग विकसित हो उठता है । पर्युषणपर्व वर्ष में एक बार आता है । वह प्रतिवर्ष धार्मिकजनों को नव-प्रेरणा और नई ताजगी दे जाता है । पर्युषणपर्व का पदार्पण होते ही तप का यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है, शील के सरोवर छलकने लगते हैं, दान की प्याउएँ स्थापित हो जाती हैं और अनेक भव्यजीव मासखमण, अट्ठाई, सात, छह आदि उग्रतप को अपनाते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं । इन दिनों में अनुकम्पादान, सुपात्रदान और ज्ञानदान का प्रवाह सतत बहने लगता है । कतिपय पुण्यात्मा हिंसा, असत्य, चोरी आदि का त्याग करते हैं, कई धर्मप्रेमी रात्रिभोजन न करने

की, अभक्ष्य नहीं खाने की प्रतिज्ञा लेते हैं। कई स्नान-श्रृंगार नहीं करने की प्रतिज्ञा लेते हैं। पर्युषणपर्व में कई जीव ये और ऐसी साधना करते हैं और वे पर्युषणपर्व के चले जाने के बाद भी ऐसी सुन्दर धर्मक्रियाओं में रत रहते हैं। पर्युषणपर्व के आने से बहुत-से जीव हिंसा का त्याग करके अहिंसक और दयालु बने हैं, क्षमाशील और तपस्वी बने हैं। उन्होंने परस्पर वैरभाव भूलकर वात्सल्य और प्रेम का सर्जन किया है। बन्धुओं ! ऐसा पुनीत पर्युषणपर्व अपने आंगन में रूमझुम करते हुए आ गए हैं। हम महीने के धर के दिवस से पर्युषणपर्व के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। तत्पश्चात् पन्द्रह का धर आया और आज अट्ठाई धर आ गया। अब आएगा कल्पधर और फिर आएगा तेलाधर। प्रत्येक धर आत्मा को जागृत करता है। आज तो आप बराबर जागृत हुए हैं न ? पर्युषणपर्व कर्मों को काटने का अमोघशस्त्र है। जैसे लोहे को काटने के लिए शस्त्र है, काच को काटने के लिए भी शस्त्र है, वैसे ही इस पर्व के आठ दिवस आठ कर्मों को काटने के लिए शस्त्रतुल्य हैं।

समस्त जीवों को शान्ति देनेवाला कोई भी पर्व हो तो वह है - पर्युषणपर्व। पर्व दो प्रकार के होते हैं। एक होते हैं - लौकिक पर्व, दूसरे होते हैं - लोकोत्तर पर्व। लौकिक पर्व किसी न किसी भय या प्रलोभन (लालच) से मनाये जाते हैं। नागपंचमी और शीतला सातम आदि पर्व भय से मनाए जाते हैं। नागमामा को दूध नहीं पिलायें, उनकी पूजा न करें तो वे डस लेंगे। शीतला माता की पूजा न करें तो वह कोपायमान हो जाएगी। इन और ऐसे ही भयों से कई पर्व मनाये जाते हैं। धनतेरस आती है, तब धनार्थी लोग धन की लालसा से धन की पूजा करते हैं। वह किसलिए ? धन की पूजा करें तो धन मिले। यही भावना है या और कोई ? किसी भी प्रकार के भय या लालसा से रहित यदि कोई पर्व मनाया जाता हो तो वह सिर्फ पर्युषणपर्व है।

ऐसे महान् अष्ट दिवसीय पर्युषणपर्व आत्मशुद्धि का दिव्य सन्देश लेकर आए हैं। ये कहते हैं कि केवल शब्दों के सुन्दर स्वस्तिक बनाने मात्र से जीवन का उत्थानयुक्त निर्माण सुन्दर नहीं बनेगा। केवल कल्पनाएँ करने मात्र से महल का सुनिर्माण नहीं हो जाता। उसके लिए योग्य साधन-सामग्री आवश्यक है। हम भी जीवन के प्रांगण में आए हुए आत्मशुद्धि के इस सुनहरे अवसर को उमंग और उत्साह से अपनाकर आत्मकल्याण करने के लिए कटिबद्ध हो जाएँ। दीपावली आती है, तब बहनें बर्तनों को मांजकर, तथा कूड़े-कर्कट को झाड़-बुहार कर घर को साफ-स्वच्छ बनाती हैं। मैले कपड़ों को धोकर साफ-स्वच्छ करती हैं। वैसे ही यह पर्व तन, मन और वचन को स्वच्छ और शुद्ध बनाने का सन्देश देता है। कोई भी वस्तु मैली, गंदी और अशुद्ध हो तो जीव को अच्छी नहीं लगती। उसे इस्तेमाल करने में भी आनन्द और उल्लास नहीं आता। वैसे ही अगर अपनी आत्मा भी शुद्ध और निर्मल न हो तो तुम चाहे जितनी धर्मक्रियाएँ करो, उनमें तुम्हें आनन्द, स्फूर्ति या उत्साह नहीं आएगा। ऐसा आत्मशुद्धि करने का पर्व बारबार नहीं आता। यह तो वर्ष में एक बार ही आता है और जो (जिस वर्ष का) पर्व चला जाता है, वह वापस

नहीं आता। नया आता है और अपना आयुष्य भी घटता जाता
यह पर्व आएगा, तब अपना अस्तित्व (मौजूदगी) रहेगा या न
नहीं है। अतः जिसे अपनी आत्मा को उज्ज्वल और पवित्र
तप, त्याग, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान करने की भावना होती
चाहिए। जिन आत्माओं को यह बात समझ में आ गई है, वे
बनाने के लिए तप-त्याग में जुट गए हैं। जिनमें ऐसी उच्च भाव
साधना में जुट जाना चाहिए।

तुम्हारे या हमारे जन्म के बाद जितने वर्ष हुए, उतने
चले गए। साथ ही वे सन्देशा भी देते गए, परन्तु तुम कितनी
में ? जीवन में कितनी कमाई की ? इन दिवसों में तो जितन
है। अतएव अबतक जो कमाई नहीं की, वह कमाई कर लो
में लाख रुपये खो दे, यह इतनी बड़ी क्षति नहीं है, किन्तु ऐस
आत्मा की (आत्मकल्याण की या आत्मशुद्धि की) कमाई नहीं
है। इस क्षति की पूर्ति दूसरे किसी भव में नहीं की जा सकती
में जिससे आत्मा की शुद्धि हो, आत्मा का श्रेय हो, विकास
लो। दीपावली के दिन आते हैं, तब आपलोग अपने बहीख
इस वर्ष में कितना नफा हुआ और कितना नुकसान हुआ, इसक
वैसे इस आध्यात्मिक पर्व में भी अपनी आत्मा के बहीखातों
मेरा यह आध्यात्मिक वर्ष कैसा गया (बीता) ? मैंने व्यवसाय
प्रमाणिकता का कितना अमल किया ? तथा अन्याय, अनीति,
कितने कर्म बांधे ? उन कर्मों को काटने के लिए जप, तप, धर्म,
क्षमा, दया, शील, सन्तोष, दान आदि द्वारा कितना पराक्रम
की ? कितनी संवर निर्जरा आदि का आचरण किया ? इसका
ये पवित्र दिवस हैं। यह पर्व पतित को पावन बनानेवाला है।
है या नहीं ? यह तो तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। जो मनुष्य स्व
आत्मा का श्रेय (कल्याण) करना नहीं चाहता, जिसे आत्मा क
बनाने की भावना नहीं है, उसके लिए तो पर्युषणपर्व और
सरीखे हैं। परन्तु जिसे आत्मश्रेय करने की लगन लगी है,
पर्युषणपर्व जैसे पवित्र हैं।

बन्धुओं ! आत्मशुद्धि, आत्मश्रेय और जन्म-मरणादि दुःख

शुद्ध (संवर-निर्जरादि धर्म) भावना से पर्युषणपर्व मनाने का निर्देश किया है, क्योंकि दान, शील, तप और शुद्ध भाव, ये चार मोक्ष में जाने के भव्य द्वार हैं।

इन चार द्वारों में सर्वप्रथम द्वार दान है। मनुष्य अनेक प्रकार से दान देता है। कोई यश-कीर्ति की इच्छा से, कोई नामना-कामना से, कोई समाज में स्वयं को दानेश्वरी कहलाने की इच्छा से तो कोई स्वयं को परलोक में सुख मिले, इस इच्छा से दान देता है, तो कोई पवित्रात्मा निःस्वार्थभाव से, परिग्रह के प्रति ममत्व कम करने की भावना से दान देता है। वह दान देते समय लेनेवाले का उपकार मानता है कि अहो ! प्रभु ! यह मेरे पास लेने आया, तो इसे देकर मैं हलका हुआ, मुझे महान् लाभ मिला, आज मेरा जीवन कृतार्थ हुआ, परन्तु वह (दान-दाता) ऐसा विचार नहीं करता कि मैं हूँ तो सबको दान देता हूँ। मैं इसे इतना दिया ? मैंने दान देकर इस पर उपकार किया ! परन्तु पूर्वोक्त शुद्ध भावना से दान देनेवाले का दान लेनेवाला भी ऐसी भावना भाता है कि अहो प्रभु ! इस समय मेरी अशुभ कर्म उदय में आया है कि मुझे दान लेने का वक्त आया है। परन्तु मैं ऐसा दानेश्वरी कब बनूँगा ? मैं इस प्रकार मुक्त हस्त से दान कब दूंगा ?

बन्धुओं ! दान देने से लक्ष्मी बढ़ती है। लक्ष्मी को तुम्हारी तिजोरी में बंद रहना अच्छा नहीं लगता। तुम्हें कोई कोठरी में चार दिन बंद करके रखे तो तुम कैसे आकुल-व्याकुल हो जाते हो ? वैसे ही लक्ष्मी भी तिजोरी में बंद रहने पर आकुल-व्याकुल हो जाती है। वह कहती है तुम्हें जैसे घर की कोठरी (छोटे-से-कमरे) में बंद होकर रहना पसंद नहीं है, तुम्हें जैसे घूमना-फिरना अच्छा लगता है, वैसे मुझे भी घूमता-फिरना अच्छा लगता है। इसके लिए तुम्हें क्या करना चाहिए ? इसके लिए ऋग्वेद में बताया है -

"शत हस्तं समाहर, सहस्र हस्तं संकिर।"

सौ हाथों से लक्ष्मी को इकट्ठी करो, कमाओ (अर्जित करो) और हजार हाथों से उसे बांट दो, अर्थात् - दान कर दो। क्योंकि अगर तुम लक्ष्मी का सद्व्यय नहीं करोगे, उसका केवल संग्रह करने - परिग्रह करने में ही रह जाओगे, तो मृत्यु के समय क्या लक्ष्मी साथ में आएगी ? साथ में तो तुम्हारे एक पाई भी आनेवाली नहीं है। कहावत है - 'जे हाथे ते साथे।' अर्थात् - तुम अपने हाथों से दान में सद्व्यय करोगे, वही तुम्हारे साथ में आएगा, बाकी सब तो यहीं रह जाएगा। एक कहावत है -

'खा गया सो खो गया, दे गया सो ले गया, जोड़ गया, सिर फोड़ गया।'

जिसने अपने और अपनों के लिए, अपने सुख के लिए, खानपान और मौज-शौक के लिए लक्ष्मी का व्यय किया है, इसमें उसकी कोई विशेषता नहीं है। वह सब यहीं खो जाता है। परन्तु जो धन तुमने पीड़ितों, पर दलितों, निर्धन एवं असहायों, अपंगों आदि दूसरों को दिया है, वह तुम्हारा सच्चा धन है। वह तुम्हारे साथ आनेवाला है। जो उदारमन से, अपने सुख की परवाह न करके दूसरों का दुःख दूर करने में लक्ष्मी का सद्व्यय करता है, वही साथ आनेवाला है। परन्तु जो लोभ-मोह वश येन-केन-प्रकारेण धन जोड़ने में

ही सारी जिंदगी बिता देता है, वह धन का गुलाम जिंदगी भर सिर फोड़ी करता रहता है। उसे धन के साथ अशुभकार्य बन्ध ही पल्ले पड़ता है। चाणक्य नीति के एक संस्कृत श्लोक में मधुमक्खियाँ मानव को क्या प्रेरणा देती हैं ? सुनिए -

देयं भो ! ह्यधने धनं, सुकृतिभिर्नो संचयस्तस्यवै ।
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता ।
अस्माकं मधु दान-भोग-रहितं, नष्टं चिरात् संचितम् ।
निर्वेदादिति निजपाद युगलं घर्षन्त्यहो मक्षिकाः ।।

हे पुण्यात्माओं ! तुम्हें अपने पुण्य से जो धन मिला है, उसका संग्रह मत करो, किन्तु निर्धनों (अभावपीड़ितों) को देते रहो। क्योंकि दान देनेवाले श्रीकर्णराजा, बलिराजा और विक्रमराजा आदि राजाओं की यश-कीर्ति आज तक इस पृथ्वी पर विद्यमान है। देखिए, हमने बहुत ही दुःख सहकर मधु (शहद) का संचय किया, परन्तु न तो हमने स्वयं मधु खाया और न ही दूसरों को खाने दिया, अतः एक दिन एक लुटेरा आया और दीर्घकाल से बहुत परिश्रम करके इकट्ठा किया हुआ मधु (शहद) लूट ले गया। इस दुःख से हम (मधुमक्खियाँ) हमारे दोनों पैर घिसती हैं। अतः तुम्हें भी हमारी तरह पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े, पैर घिसते रह जाना न हो तो लक्ष्मी का सद्व्यय करो।

कहा भी है - *"किं वा तद्धनं, नार्थिजनानां यत् स्यात् ।"* जो धन याचकों जो न मिले, वह धन किस काम का ? यों समझकर अगर तुम्हें धन चाहिए तो पहले दूसरों को देना सीखो, दान देने का अभ्यास करो। क्योंकि *'पृथिव्यां प्रवरं दानम् ।'* इस भूमण्डल पर दान ही श्रेष्ठ कार्य है। किन्तु धन के लोभी बनकर केवल उसका संचय करते जाना, यह कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है। आज अधिकांश मानव धन-संग्रह करने में मानवजीवन की महत्ता मानता है। वह यों समझता है कि पास में पैसा होगा तो समाज में हमें प्रतिष्ठा मिलेगी। सब हमें खम्मा-खम्मा करेंगे और तो और ऐसे पर्युषणपर्व के दिनों में उपाश्रय में जाऊँगा तो 'आइए सेठजी' कहकर संघ के श्रेष्ठीजन आगे बिठायेंगे। (हँसाहँस) घर में भी सभी मेरा आदर-सत्कार करेंगे। किन्तु पास में पैसा न हो तो मुझे कोई नहीं पूछेगा। ऐसी धनसंचयी मनोवृत्तिवाले लोगों से मैं पूछती हूँ - इस पैसे से प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा, पदवी, मान-सम्मान और आदर-सत्कार क्या पर- लोक में तुम्हारे साथ आएँगे ? और यहाँ पर भी वास्तविक दुःख और विपत्ति के समय क्या वह पैसा तुम्हारे काम आएगा ? सच पूछो तो पैसा, प्रतिष्ठा, पदवी और आदर-सत्कार आदि कोई भी आत्मा को साथ (सहायता) देनेवाले नहीं है। मुझे इस सम्बन्ध में एक दृष्टांत याद आ रहा है -

धनवान सेठ का दृष्टांत : एक धनवान् सेठ थे। उनके पास बहुत धन था। फिर भी उनकी तृष्णा शान्त नहीं होती थी। मानव का मन जब तृष्णा के साथ जुड़ जाता है, तब चाहे जितना धन मिले, फिर भी लोभी मनुष्य अतृप्त रहता है। इसी प्रकार यह

अधिक डर है ? मृत्यु तो महोत्सव है, नया जीवन देनेवाली है । संसाररूपी झोंपड़ी में से बाहर निकल मोक्षरूपी महल में जाने का एक साधन है । आप क्यों घबराते हैं ? आकाश से कोई बिजली पड़नेवाली नहीं है । किन्तु आप पर तो संसाररूपी बिजली पड़ चुकी है न ?" इन शब्दों को सुनते ही सेठ सजग हो गए । सेठ की आँखें खुल गईं । गुरुदेव के ज्ञानामृत भरे वचन के पवन से सेठ का मोह का बादल बिखर गया । वह संत के चरणों में पड़कर गदगद् कण्ठ से बोले - "महाराज ! मेरी आँख में मोह का मोतियाबिन्द था, वह आज उतर गया । मृत्यु में से मैंने अमरता प्राप्त कर ली है ।" सचमुच सेठ का अन्तरात्मा जाग गया । उन्हें समझ में आ गया कि आकाश की बिजली नहीं, मेरे पर संसार की बिजली गिर गई । वे प्रबुद्ध हो गए । अन्त में, वे ऋद्धिसिद्धि का त्याग करके संयमी बनने के लिए तैयार हो गए । सेठानी को पता लगा तो वह दौड़कर आ पहुँची । सेठ को दीक्षा लेने से रोकने का प्रयत्न किया । परन्तु जिसकी आत्मा जाग गई है, वह किसी के रोकने से रुकता नहीं । अपार सम्पत्ति का दान करके सेठ संसार छोड़कर साधु बन गए । यहाँ आपलोगों को भी समझने योग्य बात है ।

"साहबीना सूर्यने ढंकातां वार नहीं, विपत्तिनां वादलो घेरातां वार नहीं ।
प्रेमना प्रवाहने पलटातां वार नहीं, स्वार्थना सम्बन्धने भूंसातां वार नहीं ।
सन्ध्यातणा रंगोने विलातां वार नहीं, विलातां वार नहीं ॥"

जैसे सन्ध्या के रंगों के विलय होने में देर नहीं लगती, वैसे ही यह सुख-साहबी, सम्पत्ति, स्नेहीजनों के सम्बन्ध और प्रेम ये सब के सब कब पलट (बदल) जायेंगे, इसका पता नहीं है । ऐसा, समझकर संसार के मोह से पीछे मुड़कर आत्मा की ओर मुड़ो ।

दूसरा कुछ न कर सको तो ब्रह्मचर्य की ओर आओ । भगवान् ने कहा है - "*तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं*" - समस्त तपों में ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम तप है । ब्रह्मचर्य श्रेष्ठतीर्थ है । ब्रह्मचर्य का एक गुण अनेक गुणों को खींच लाता है । ऐसे महान् व्रत को विरले जीव ही धारण कर सकते हैं । अतः इन पवित्र दिवसों में मासखमण तप न कर सको तो ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लो । तप करने में शारीरिक शक्ति चाहिए । दान करने हेतु धन चाहिए । परन्तु शील का पालन करने में धन और तन-शक्ति की जरूरत नहीं पड़ती । ब्रह्मचर्य-पालन में मानसिक शक्ति की जरूरत है । 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में भगवान् ने ब्रह्मचर्य को कैसी-कैसी ३२ सुन्दर उपमाओं से उपमित किया है ? देखें, वह पाठ "*तंबंभं भगवंतं, १-गहगण-णक्खत्त-तारगाणं वा जहा उडुवइ, २-मणि-मुत्त-सिल-प्पवाल-रत्तरयणागराणं च जहा समुद्दो, ३-वेरुलिओ चेव जहा मणीणं, ४-जहा मउडो चेव भूसणाणं, ५-वत्थाणं चेव खोमजुयलं, ६-अरविंदं चेव पुप्फ जेट्ठं, ७-गोसीसं चेव चंदणाणं, ८-हिमवंतो चेव ओसहीणं, ९-सीतोदा चेव णिण्णगाणं, १०-उदहीसु जहा सयंभूरमणो, ११-रुयगवरे चेव मंडलिय-पव्वयाणं पवरे, १२-एरावण-*

इव कुंजराणं, १३-सीहोव्व जहा मियाणंपवरे, १४-पवगाणं चेव वेणुदेवे, १५-धरणो जहा पण्णगिंदराया, १६-कप्पाणं चेव बंभलोए, १७-सभासु य जहा भवे सुहम्म, १८-ठिइसु लवसत्तमव्व पवरा, १९-दाणाणं चेव अभयदाणं, २०-किमिराउ चेव कंबलाणं, २१-संघयणे चेव वज्जरिसहे, २२-संठाणे चेव समचउरंसे, २३-झाणेसु य परम-सुक्कज्झाणं, २४-णाणेसु य परम केवलं तु पसिद्धं, २५-लेसासु य परम-सुक्कलेस्सा, २६-तित्थयरे चेव जहा गुणीणं, २७-वासेसु जहा महाविदेहे, २८-गिरिराया चेव मंदरवरे, २९-वणेसुजहा णंदणवणं पवरं, ३०-दुमेसु जहा जंबू, सुदंसणा विस्सुय-जसा, जीए णायेण य अयंदीवो, ३१-तुरगवई, गयवई, रहवई, णरवई जहाव सुए चेव राया, ३२-रहिए चेव जहा महा रह गए।''

- प्र. व्या. श्रु.-२, अ.-४

१. जैसे ग्रहगणों नक्षत्रों एवं तारागणों में चन्द्रमा प्रधान है, २. मणि, मुक्ता, शिला, प्रवाल और लालरत्नों में रत्नाकर (समुद्र) प्रधान है, ३. मणियों में जैसे वैडूर्यमणि प्रसिद्ध है, ४. आभूषणों में मुकुट के समान है, ५. वस्त्रों में जैसे क्षोमयुगलवस्त्र के सदृश, ६. पुष्पों में श्रेष्ठ कमल पुष्प के समान है, ७. चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन के समान है, ८. जैसे औषधियों-चामत्कारिक वनस्पतियों का उत्पत्ति-स्थान हिमवान् पर्वत है, उसी प्रकार आमर्शोषधि आदि लब्धियों की उत्पत्तिस्थान ब्रह्मचर्य है, ९. जैसे नदियों में सीतोदा नदी प्रधान है, १०. समस्त समुद्रों में जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र महान् है, ११. माण्डलिक (गोलाकार) पर्वतों में जैसे रुचकवरपर्वत प्रधान है, १२. इन्द्र का ऐरावत गजराज श्रेष्ठ है, वैसे सर्व व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, १३. ब्रह्मचर्य वन्य प्राणियों में सिंह तुल्य प्रधान है, १४. ब्रह्मचर्य सुवर्णकुमारों में वेणुदेव के समान श्रेष्ठ है, १५. नागकुमार जातीय देवों में धरणेन्द्र के समान व्रतों में श्रेष्ठ है - ब्रह्मचर्य, १६. कल्पोपपन्न देवों में ब्रह्मलोक कल्प के समान ब्रह्मचर्य महान् और उदार है, १७. स्थिति में लवसप्रतमा (अनुत्तर विमानवासी देवों की स्थिति) प्रधान है, वैसे ही ब्रह्मचर्य प्रधान है। १८. देवों की विविध सभाओं में सुधर्मासभा श्रेष्ठ है, १९. दानों में यथा अभयदान श्रेष्ठ है, २०. सब प्रकार में कम्बलों में यथा कृमिरागरक्त कम्बल के समान उत्तम है, २१. सभी ध्यानों में यथा परम शुक्ल ध्यान श्रेष्ठ है, २२. संहननों में जैसे व्रज ऋषभ नाराच संहनन श्रेष्ठ है, २३. संस्थानों में जैसे समचतुरस्त्र-संस्थान उत्तम है, २४. ज्ञानों में परम केवलज्ञान उत्तम है, २५. लेश्याओं में यथा परम शुक्ललेश्या प्रधान है, २६. मुनियों में यथा मुनिनाथ तीर्थकर उत्तम होते हैं, २७. समस्त पर्वतों में गिरिराज सुमेरु की भांति ब्रह्मचर्य व्रत व्रतों में विख्यात है, २८. वनों में यथा नन्दनवन प्रधान है, २९. सब क्षेत्रों में महाविदेहक्षेत्र श्रेष्ठ है, तथैव व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है, ३०. समस्त वृक्षों में सुदर्शन जम्बूवत् ब्रह्मचर्य भी सर्वव्रतों में प्रख्यात है, ३१. अश्वाधिपति, गजाधिपति, रक्षाधिपति, एवं नराधिपति की तरह

ब्रह्मचर्याधिपति विख्यात है और ३२ रथिकों में महारथी राजा की तरह व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत सर्वश्रेष्ठ है।

शास्त्रकार कहते हैं - ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है। सभी धर्मों में ब्रह्मचर्य को अग्रस्थान दिया गया है, ब्रह्मचर्य में ऐसी दिव्यशक्ति है कि देव भी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं। अखण्ड ब्रह्मचारी में ब्रह्माण्ड को हिला देने की शक्ति है। ब्रह्मचारी में जैसी (सात्विक) शक्ति है, वैसी शक्ति दूसरे किसी में नहीं होती। जीवन को ओजस्वी और तेजस्वी बनाने के लिए ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ साधन है। वर्तमानकालीन मानवशक्ति के लिए भिन्न-भिन्न विटामिनों की गोलियाँ खाता है, परन्तु यदि तुम्हें सच्चा विटामिन चाहिए तो ब्रह्मचर्य जैसा श्रेष्ठ एक भी विटामिन नहीं है। तुमने बहुत-सी दफा सुना होगा कि श्रीपालराजा के दुर्गन्धित कुष्टरोग वाला शरीर को सती मैना सुन्दरी ने साक्षात् राजकुमार जैसा बना दिया था। वह ऐसी महान् सती थी कि अपने शील, तप और चारित्र के बल से नवकार मंत्र-मंत्रित जल छींटा तो ७०० कोढियों का कुष्ट रोग समाप्त हो गया।

दुर्योधन और युधिष्ठिर का दृष्टांत : महाभारत की एक घटना है। कौरवों और पाण्डवों में घनघोर युद्ध हुआ। युद्ध में दुर्योधन के ९९ भाई मरण-शरण हो गए। दुर्योधन निःसहाय हो गया था। उसका भुजबल, शस्त्रबल और सैन्यबल कम हो गया। अतः दुर्योधन अपने प्राण बचाने के लिए रणस्थल से भागकर एक सरोवर में छिप गया। वहाँ उसे तीन दिन हो गए। उसने सोचा - 'यहाँ रहूँगा तो समाप्त हो जाऊँगा।' विचार किया - 'पाण्डवों पर विजय पाने के लिए क्या करना चाहिए ? इस जगत् में तो इसके लिए सच्ची सलाह देनेवाले तो धर्मराज युधिष्ठिर के सिवाय कोई नहीं है।' सच है : शत्रुओं के मन में धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति इतना दृढ़ विश्वास था कि धर्मराज कदापि झूठ नहीं बोलेंगे, झूठी सलाह देंगे नहीं, सच्चे माने में तो सच्चे मानव भी वही समझा जाता है। मिथ्या परामर्श देनेवाला तो पशु-समान समझा जाता है। इसलिए दुर्योधन धर्मराजा के शिविर के पास जाकर अपना संदेशा भेजता है। धर्मराजा ने सोचा - 'दुर्योधन निःसहाय हो गया है। इसलिए शायद वह सन्धि करने के लिए आया होगा। ऐसा हो तो हमें सन्धि कर लेनी चाहिए। हमें तो वह सिर्फ पाँच गाँव दे दे तो भी लड़ना नहीं है।' इसलिए धर्मराजा दुर्योधन को छावनी में बुलाते हैं। दोनों भाई परस्पर भेंटते हैं। उनकी आँखों से प्रेम के आंसू बहते हैं।

धर्मराज दुर्योधन को पास बिठाकर उसे यहाँ आने का कारण पूछते हैं। तब दुर्योधन कहता है - "आपकी (पाण्डवों) की हार हो और हमारी (कौरवों की) जीत कैसे हो ? इसके लिए मैं आपसे सलाह लेने आया हूँ।" धर्मराज बोले - "दुर्योधन ! यह तू क्या कह रहा है ? मुझे (हमें) हराने की सलाह लेने आया है, तूने कहीं भांग तो नहीं पी ली है ?" दुर्योधन बोला - "ना, ना, मैंने भांग नहीं पी है। मैं होश-हवास में सच्चे अन्तःकरण से कहता

हूँ कि इस जगत् में आपके सिवाय दूसरा कोई मुझे सच्ची सलाह देनेवाला नहीं है।'' धर्मराज की आत्मा कितनी पवित्र होगी कि शत्रु को भी उनपर कितनी श्रद्धा है कि धर्मराजा कभी झूठ नहीं बोलेंगे।

धर्मराज विचार करते हैं कि 'भले मेरी जीत हो या हार, किन्तु सच्चा मार्ग बताना मेरा धर्म है।' इस कारण वह कहते हैं - ''भाई दुर्योधन ! जीतने का उपाय तो तेरे घर में ही है। तेरी माता अपने पति के सिवाय किसी का मुख नहीं देखती है। वह पतिव्रता नारी है। अपना पति अन्धा होने से वह सदैव अपनी आँखों पर पट्टा बांधे रखती है। वह पतिव्रत धर्म यथार्थ रूप से पालन करती है, इस कारण उसकी दृष्टि में इतनी शक्ति उत्पन्न हो गई है कि वह जिस मनुष्य पर दृष्टि करेगी, उसका शरीर वज्र जैसा सुदृढ़ बन जाता है। अतः तुम अपनी माता के सामने निर्वस्त्र होकर खड़े रहो, तेरी माता गान्धारी आँखों पर से पट्टा खोलकर तेरे सारे शरीर पर दृष्टि फेरेगी तो तेरा शरीर वज्र जैसा हो जाएगा। फिर पाँच तो क्या, पचास पाण्डव भी तुम्हें हराना चाहेंगे तो भी वे हरा नहीं सकेंगे। किसी भी शस्त्र का प्रहार तुम पर काम नहीं कर सकेगा।'' यह बात सुनकर दुर्योधन के हर्ष का पार नहीं रहा। वहाँ से रवाना होकर उसने अपने घर की ओर प्रस्थान किया।

श्रीकृष्ण पाण्डवों से मिलने जा रहे थे, वहीं रास्ते में दुर्योधन सामने आता हुआ मिल गया। उसका प्रफुल्ल चेहरा देखर श्रीकृष्ण ने पूछा - ''दुर्योधन ! आज तो तेरे मुख मण्डल पर अत्यन्त खुशी दिखाई दे रही है, इसका क्या कारण है ?'' दुर्योधन बोला - ''आपने युद्ध में पाण्डवों का पक्ष लिया है, हमारा पक्ष नहीं लिया, इसलिए आप जैसे मायावी - कपटी को इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं करूँगा। मेरी खुशी का कारण आज नहीं, कल युद्धभूमि में बताऊँगा।'' श्रीकृष्ण बोले - ''भाई ! मैं किसी का पक्ष नहीं लेता। किन्तु मुझे जहाँ न्याय दिखाई देता है, उसका पक्ष लेता हूँ।'' श्रीकृष्ण के द्वारा बहुत कहने से दुर्योधन ने अपने विजय के लिए धर्मराज द्वारा बताये हुए उपाय की बात कही।

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने सोचा - 'भीम ने प्रतिज्ञा की है कि दुर्योधन की जांघ तोड़ूं तभी मैं सच्चे माने में भीम कहलाऊँगा। अगर ऐसा हो जाएगा, दुर्योधन का शरीर वज्र का बन जाएगा तो भीम की प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी ? श्रीकृष्ण तो थे बहुत ही नीतिमान् और राजनीति विशारद ! अतः उन्होंने कहा - ''धर्मराज ने सलाह तो तुम्हें सच्ची दी है। किन्तु एक सलाह मानोगे ? गान्धारी तुम्हारी माता है, इससे क्या हुआ ? तुम अब बालक तो नहीं हो ? इतने बड़े होकर क्या तुम अपनी माता के सामने निर्वस्त्र होकर जाओगे ? शिशु-अवस्था में उनकी गोद में खेलना, आमोद-प्रमोद करना लज्जानक नहीं है, किन्तु आज तो तुम्हारा शरीर पहाड़ जैसा है। तब माँ के सामने निर्वस्त्र होकर खड़ा रहने से माता का गौरव कैसे सुरक्षित रहेगा ? क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती ? माता का गौरव सुरक्षित रखना पुत्र का धर्म है। अतः एक चड्डी (अधोवस्त्र) पहनकर माता के सामने खड़े रहने में तुम्हे क्या आपत्ति है ?''

श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर दुर्योधन शर्मिंदा हो गया । घर जाकर उसने माता के सामने सारी बात कही । माता के वात्सल्य का तो पूछना ही क्या ? प्रत्येक माता अपने पुत्र का हित चाहती है । गान्धारी भी यह चाहती थी कि अपने पुत्र की युद्ध में मृत्यु न हो, वह युद्ध में विजयी हो । इस कारण उसने दुर्योधन से कहा - "बेटा ! तू अपने शरीर पर से वस्त्र उतारकर मेरे सामने आ । मैं तेरे शरीर पर दृष्टिपात करके तेरा शरीर वज्र-सा बना दूंगी ।" दुर्योधन चड्डी पहनकर माता के सामने खड़ा रहा । पुत्र को सामने आये जानकर माता ने अपनी आँखों पर से पट्टी हटा ली और पुत्र दुर्योधन के सामने दृष्टि की । इससे दुर्योधन का सारा शरीर वज्र-सा बन गया । परन्तु चड्डी पहनी हुई होने से शरीर का वह अधोभाग कमजोर रह गया और युद्ध के दौरान भीम द्वारा उसी भाग पर गदा-प्रहार होने से दुर्योधन की मृत्यु हो गई ।

बन्धुओं ! इस दृष्टान्त पर से मैं आपको सती गान्धारी की शक्ति के बारे में यह बताना चाहती हूँ कि जिस शरीर पर एक कांटा चुभे तो खून निकलने लगता है, वैसा शरीर गांधारी की दृष्टि पड़ने से व्रज-सम बन गया था । गान्धारी की दृष्टि में यह शक्ति किस प्रकार से आई ? गान्धारी ने साधु जीवन अंगीकार नहीं किया था । वह पूर्ण ब्रह्मचारी भी नहीं थी । वह सांसारिक गृहस्थ थी और एक देश से (आंशिकरूप से) ब्रह्मचर्य का पालन करती थी । अर्थात् - वह अपने पति के सिवाय दूसरे किसी भी पुरुष का विचार भी मन में नहीं लाती थी अथवा किसी भी परपुरुष पर दृष्टि भी नहीं करती थी । इस कारण उसने शरीर को वज्र-सम मजबूत बनाने की शक्ति प्राप्त कर ली थी । ब्रह्मचर्य का महत्त्व बताते हुए कहा है -

समुद्र-तरणे यद्वत्, उपायो नौ प्रकीर्तिता ।
संसार-तरणे तद्वत्, ब्रह्मचर्य प्रकीर्तितम् ।।

जिस प्रकार समुद्र को पार करने के लिए कुशल नाविकों ने अच्छा से अच्छा उपाय नौका बताई है, वैसे ही संसारसमुद्र को पार करने का उपाय महर्षियों ने ब्रह्मचर्य बताया है ।

अतः ब्रह्मचर्य की महिमा जानकर ऐसा व्रत लेने की भावना करो । अब जो भी भाई-बहन ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार करना चाहें, उन्हें मैं ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा दिलाने हेतु अब्रह्मचर्य का प्रत्याख्यान कराती हूँ ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

नारदजी सीमन्धर भगवान् की स्तुति करके भगवान् के सिंहासन के नीचे बैठ गए । नारदजी विचार करने लगे, भगवान् की देशना पूरी हो जाय, तब मैं प्रद्युम्नकुमार के विषय में इनसे पूछूंगा । अतः प्रभु के सिंहासन के नीचे बैठकर वे एकाग्रचित से प्रभु की अमृतमयी वाणी सुनने लगे । उस समवसरण में बैठे हुए पद्म नामक चक्रवर्ती को तथा वहाँ के लोगों को नारदजी का दश धनुष्य का देहमान देखकर बहुत ही आश्चर्य हुआ ।

सिर्फ १० धनुष्य का था। इस कारण वहाँ के लोगों को आश्चर्य होना स्वाभाविक था। यहाँ (भारत में) अगर कोई ५०० धनुष्य के देहमानवाला मनुष्य आए तो हमें भी आश्चर्य होना संभव है। पद्म चक्रवर्ती भगवान् सीमन्धरस्वामी से पूछते हैं -

"यो है कुण जन्तु मनुष्याकारको रे, हाथों पर ले ले निरखे लोग रे ।
प्रभु कहे - यों भारत को नारदऋषि रे, पूरण ब्रह्मचारी निर्मल योग रे ॥"

"प्रभो ! आपके सिंहासन के नीचे, मनुष्याकार का यह कोई जीव आकर बैठ गया है।" यों कहकर उन्होंने नारदजी को हाथों में उठा लिया। उनके लिए तो एक चींटी को उठाना और नारदजी को उठाना एक समान था। बहुत ही कुतूहलपूर्वक नारदजी को उठाकर ताक-ताककर वे उन्हें देखने लगे। सोचने लगे - 'इसके हाथ-पैर तो मनुष्य जैसे हैं पर यह मनुष्य है या कोई अन्य जन्तु है या पक्षी है ? यह समझ में नहीं आता।' सभी लोग आश्चर्यवश नारदजी को हाथ में ले लेकर देखने लगे। फिर पद्म चक्रवर्ती ने भगवान् से पूछा - "प्रभो ! चार गतियों में से यह किस गति का जीव है ?"

सीमन्धरस्वामी द्वारा किया हुआ स्पष्टीकरण : भगवान् ने कहा - "यह कोई जीवजन्तु या पशु-पक्षी नहीं है। यह तो भरतक्षेत्र में मनुष्य योनि में जन्मे हुए नारद ऋषि हैं। यह शुद्ध ब्रह्मचारी हैं। लोगों में इनका नाम प्रख्यात है। यह तपस्वी हैं और संसार से विरक्त हैं। वह किसलिए यहाँ आए हैं ? यह बात आपलोग अब ध्यान से सुनें -

भारत में स्वर्ग-सरीखी द्वारिका रे, जिसमें है नारायण का वास रे,
रानी रुक्मिणी को नन्दन जनमियो रे, छठे दिन हरण हुआ अधरात रे ।...
हरिने शोधन किन्हा पाया नहीं रे, व्याकुल चिंता में जल रही माता रे ॥...

भरतक्षेत्र में देवलोक-सी शोभायमान द्वारिका नामक पवित्र नगरी है। वहाँ त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव रहते हैं। उनके रुक्मिणी नाम की एक पटरानी है। उसने एक पुत्र को जन्म दिया है। जब उस पुत्र का छठ्ठा दिन आया, द्वारिका नगरी में उसका जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। नगरी में सर्वत्र आनन्द की लहरें उछल रही थी। उस दिवस के पूरा होने पर मध्यरात्रि के समय उस पुत्र का पूर्वभव के वैर के कारण एक देव ने अपहरण किया। पुत्र का अपहरण होने से सारी द्वारिका नगरी शोकसागर में डूब गई। जैसे आप (पद्म चक्रवर्ती) यह खण्ड के अधिपति हैं, वैसे ही कृष्ण वासुदेव तीन खण्ड के अधिपति है। उन्होंने तीन खण्डों में पुत्र की खोज कराई, लेकिन उनके पुत्र का पता कहीं से भी नहीं मिला। पुत्र का तो पता नहीं मिला, किन्तु अभी यह कहाँ है ? वह जीवित है या मर गया है ? इससे सम्बन्धित समाचार भी नहीं मिले। अतः उस पुत्र का क्या हुआ ? उसे कौन ले गया है ? वह जिंदा है या नहीं ? इस विषय में मुझे पूछने के लिए यह नारदजी भरतक्षेत्र से यहाँ आए हैं।"

नारदजी किस शक्ति से महाविदेहक्षेत्र में आए ? : फिर चक्रवर्ती ने पूछा - "प्रभो ! भरतक्षेत्र से पैदल चलनेवाले मनुष्यों के लिए तो यहाँ आना बहुत विषम है। फिर यह नारदजी यहाँ किस उपाय से आए ?" इस पर भगवान् ने कहा - "उनका (नारदजी का) ब्रह्मचर्य विशुद्ध है। उसके प्रभाव से आकाशगामिनी विद्या उन्हें सिद्ध हो गई है। इस कारण वह उस विद्या के प्रभाव से, दुनियाभर में भ्रमण करते हैं। बड़े-बड़े महाराजा भी उनके चरणों में नमन करते हैं। उनका आदर-सत्कार करते हैं। वह राजाओं के अन्तःपुर में कभी भी जाएँ तो उनके लिए कोई मनाही नहीं है, तथा उनके प्रति किसी को अविश्वास नहीं है। राजाओं के अन्तःपुर में अप्सरा जैसी रानियों को देखने पर भी उनके रक्त के एक परमाणु में भी विकार नहीं जागता। ऐसे वह ब्रह्मचारी और पवित्र हैं।

जिस बालक की खोज करने के लिए वह आए हैं, वह भी कोई जैसा-तैसा बालक नहीं है। वह महान् पराक्रमी और भाग्यशाली है और मोक्षमार्गी जीव है। उसका अपहरण होने से उसकी माता रुक्मिणी बहुत कल्पान्त कर रही है। वह खाती-पीती नहीं है। कृष्ण वासुदेव भी चिन्ताग्रस्त हैं। किसी को कोई उपाय नहीं सूझता। इस कारण यह नारदजी इस विषय में मुझे पूछने के लिए भरतक्षेत्र से यहाँ आये हुए हैं।"

भगवान् की बात सुनकर चक्रवर्ती ने पुनः प्रश्न किया - "प्रभो ! वहाँ भरतक्षेत्र में जन्मा हुआ मनुष्य केवलज्ञानी हो सकता है ?" तब भगवान् ने कहा - "हाँ, वहाँ भी केवलज्ञानी तो हो सकता है। किन्तु इस समय वहाँ कोई केवलज्ञानी मौजूद नहीं है। जिसके पुत्र के विषय में नारदजी यहाँ आए हुए हैं, उसके पिता कृष्ण वासुदेव हैं। उन कृष्ण वासुदेव का चाचा के पुत्र हैं - नेमकुमार। वह अवसर्पिणीकाल में २२वें नेमिनाथ नाम के तीर्थंकर होंगे। वह दीक्षा लेंगे और केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थ की स्थापना करेंगे। इस समय वह तीन ज्ञान से युक्त हैं।" यह सब बातें पद्म नामक चक्रवर्ती ने सुनी। अब वह प्रद्युम्नकुमार के बारे में कैसे प्रश्न करेंगे ? उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

व्याख्यान - ५०

श्रावण वदी १४, सोमवार | ता. २३-८-७६

पर्युषण का सन्देश : आत्मशुद्धि का निर्देश

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

पर्युषणपर्व का एक दिवस तो व्यतीत हो गया। आज दूसरा दिन आ गया है। अच्छे दिनों को जाते देर नहीं लगती। इन सुन्दर दिवसों में आत्मकल्याण का मार्ग बताते हुए भगवान् कहते हैं - "हे मानवो ! अब तो जागो। मानवजीवन के मूल्य अतिशय उच्च

और गहरे हैं, क्योंकि इस मानवभव द्वारा आत्मा परमात्मपद की प्राप्ति कर सकता है। जीव स्वतंत्र सुख को चाहता है, वह स्वतंत्र सुख परमात्मदशा में प्राप्त किया जाता है। परमात्मदशा का सुख स्वतंत्र, भयरहित, नित्य और स्वाभाविक है, जबकि विषय-जनित सुख परतन्त्र और दुःख भयावह है। इस क्षणिक तुच्छ और जगत की जूठन के समान विषय-सुख को प्राप्त करने के पीछे मनुष्य अनादिकाल से उल्टी दौड़ लगा रहा है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह-संज्ञाओं को पोसना, इन्द्रियों के अनुकूल विषय-सुखों की प्राप्ति के पीछे अंधी दौड़ लगानी वास्तव में आत्मा के लिए हानिकारक है। आत्मा के विभावदशा में मनोज्ञविषयों के मिलने से रति और राग उत्पन्न होते हैं और मन को नापसंद प्रतिकूल संयोग मिलने से अरति और द्वेष उत्पन्न होते हैं। अन्तर की मलिन वृत्तियों को अत्यन्त पोसने से आत्मा की उल्टी चाल परिपुष्ट बनती है और वह आत्मा को स्वभावदशा में से विभावदशा में लगाती है। जबतक विभावदशा नहीं छूटती, तबतक आत्मा के अनन्तसुख को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आत्मा कैसा है ? : बन्धुओं ! अपनी आत्मा ज्ञानदर्शन, अव्याबाध आत्मिक सुख और शक्तिबल, वीर्य आदि अनन्तगुणों का खजाना है। उस खजाने में पुष्कल जवाहरात भरे हैं। परन्तु विषयों का लोलुप स्वगृह में भरे हुए अव्याबाध सुखों के अखूट खजाने की ओर नजर भी नहीं करता। सचमुच भोग का पिपासु आत्मा उस खजाने की कद्र नहीं कर सकता। कस्तूरी की सुवास की खोज के पीछे मूर्ख बना हुआ कस्तूरिया मृग अपने जीवन का अन्त कर देता है, किन्तु अपनी नाभि में रही हुई कस्तूरी की सुगन्ध को जान नहीं पाता। अज्ञान के कारण यह महादुःखी बन जाता है। इस प्रकार जबतक जीव का अज्ञान दूर नहीं होगा, तबतक आत्मा को सच्चा सुख नहीं मिलेगा।

देवानुप्रियों ! मानवजीवन की प्रत्येक क्षण अमूल्य है। मनुष्यजीवन की इतना अधिक मूल्य मोक्ष-प्राप्ति के कारण है। जो आत्माएँ मोक्ष प्राप्त कर चुकी हैं, उनका सुख अनुपम और अलौकिक है। मोक्षसुख के एक-एक क्षण की कीमत इतनी अधिक आंकी गई है कि तीनों लोकों के सुखों को इकट्ठे करो तो भी उस सुख की तुलना में वे सुख नहीं आ सकते। अतः जीवन का एक-एक क्षण मोक्ष की आराधना के बिना जाता हो तो सोचो कि आप कितनी अधिक नुकसानी में हो। आप ऐसा कदापि न मानें कि मानवजीवन भोगविलास के लिए है। सही माने में समझें तो जीवन की कीमत, जीवन की विशेषता त्याग में है। जिसके जीवन में शास्त्रों की बात हृदयंगम हो गई है, यानी शास्त्र-वचन भलीभांति समझ में आ गए हैं, ऐसी आत्मा की एक-एक क्षण धर्मविहीन जाए तो उसे अत्यन्त दुःख होता है। उसे तो प्रतिक्षण ऐसे ही भाव आते हैं कि मैं इन संसार की क्रियाओं को कब छोड़ूँ ? उसे कदाचित् लाचारीवश सांसारिक क्रियाएँ करनी पड़ती हों तो भी जब-जब समय मिलता है, तब-तब वह धर्म को याद करता है, वह धर्म को भूलता नहीं, उसे नजरअंदाज नहीं करता। वह संसार की प्रत्येक क्रिया करते समय यों मानता है कि यह करने योग्य नहीं है। करने योग्य हो तो एक मात्र (आत्म) धर्म ही है। तुम्हें कदाचित् कोई

यो पूछे कि इस मानवजन्म को पाकर करने योग्य क्या है ? तब तुम्हें उसे यों कहना चाहि कि (आत्म) धर्म के सिवाय दूसरा कोई करणीय नहीं है । तुम्हारा हृदय इस प्रकार अभ्यस्त (Trained) होगा तो तुम्हारे हृदय में हर्ष की तरंगें उछलती होंगी ।

इस पर्युषणपर्व में धर्माराधना करने का अपूर्व अवसर मिला है । धर्माराधना उत्साहपूर्वक करने से हृदय प्रफुल्लित होता है । (पर्युषणपर्व) का अर्थ क्या है ? कर्म के मर्मस्थानों को भेदन करने का अद्भुत सामर्थ्य धारण करनेवाला यह पर्व है । आत्मा धारे तो इन पर्व-दिवसों में अपने कठिन से कठिन कर्मो के मर्मस्थानों को भेदन करने का काम कर सकता है । मैं पूछती हूँ कि इस पर्व को आराधना भलीभांति करने की तैयारी तुमने कर ली होगी न ? और शक्ति-अनुसार तपश्चर्या, ज्ञान-ध्यान और धर्म-साधना की शुरूआत भी की होगी न ? क्या तुम सबलोग तैयारी करके आये होंगे न ? (हँसाहँस) मेरी बात को हंसी में उड़ाकर उपेक्षा कर देने की नहीं है, अपितु अपनी-अपनी अन्तरदशा की जांच-पड़ताल करनी जरूरी है । हमें ऐसा जीवन मिल गया है, जिसे ज्ञानीपुरुषों ने अमुक दृष्टि से सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट कहा है ।

बन्धुओं ! यों तो यह पंचमकाल अच्छा नहीं है, किन्तु एक अपेक्षा से यों तो कहना पड़ेगा कि कुछ अच्छा है, क्योंकि यद्यपि इस क्षेत्र में से इस काल में सर्वकर्म-मुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु अच्छी शुद्ध (आत्महितलक्षी) भावक्रिया की जाय तो मोक्ष को निकटवर्ती बनाया जा सकता है । इस दृष्टि से यह काल अच्छा है । हमने ऐसे क्षेत्र में, ऐसे काल में जन्म नहीं लिया कि मुक्तिमार्ग की आराधना अशक्य हो । अगर सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-रूप मोक्षमार्ग की आराधना में सम्यक् पुरुषार्थ किया जाय तो अवश्य ही मुक्ति के निकट पहुँच सकोगे । ज्ञानियों ने इस ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म की आचरण से जीवन की महत्ता बताई है । उनका कथन है कि एकक्षण भी धर्म-विहीन नहीं जाना चाहिए । जब जीवन का प्रत्येक क्षण आत्मा की ओर मुड़ेगा, तब स्वयं तुम्हें इतना आनन्द आएगा कि वैसा आनन्द चक्रवर्ती भी नहीं भोग सके हैं । उस आनन्द का अनुभव तुमने अभी तक क्यों नहीं किया ?

इसका प्रमुख कारण यह है कि अनन्तकाल बीत गया, परन्तु चैतन्य अभीतक परगृह में घूम रहा है । अभी तक उसे स्वगृह का पता नहीं है । तुम्हें अपना घर अच्छा लगता है या किराये का ? यह निश्चित है कि किराये का घर पराया है और अपना घर अपना है । इसी प्रकार चौरासी लक्ष जीवयोनि में आत्मा के लिए मोक्ष के सिवाय सभी पराये घर हैं । कारण यह है कि तैंतीस सागरोपम के देवलोक का सुख भोगनेवाला देव भी उस घर (विमान) को छोड़ता है, क्योंकि वह पराया घर है । जबकि मोक्ष आत्मा का अपना घर है । वहाँ जाने के बाद किसी की ताकत नहीं कि उस जीव (आत्मा) को वहाँ से निकाल सके ।

बन्धुओं ! चैतन्य देव को कहो कि तू अपने घर की ओर प्रयाण कर । तुझे अपने घर की ओर प्रयाण करने का विचार क्यों नहीं आता ? जबतक तुम अपने घर (मोक्ष) में नहीं

जाओगे, तबतक तुम्हें शाश्वत आनन्द नहीं मिलेगा। जीव जिस-जिस गति में गया, वहाँ शरीरादि के ममत्व-भाव सहित पुद्गलों को छोड़कर मरा है। किन्तु अब इन शरीरादि के प्रति ममत्व का त्याग करके जाना है या ममत्व का पोटला बांधकर जाना है ?

यह पर्युषणपर्व ममता की गठरी का त्याग कराने के लिए है। जितना भी हो सके, उतने व्रत, नियम, त्याग, तप, प्रत्याख्यान आदि अंगीकार करो। अविरतिपन हितकारक नहीं है। 'भगवती सूत्र' में भगवान् महावीर-प्रभु से गौतमस्वामी पूछते हैं - "प्रभो ! एक राजा है, उसे अपना राज्य संभालना पड़ता है, जबकि एक रास्ते चलता भिखारी है, उसे कुछ भी संभालना या करना नहीं है, तो क्या दोनों को एक सरीखी क्रिया लगती है ?" भगवान् ने कहा - "हाँ, गौतम ! ऐसा ही है।" गौतम ने पूछा - "भंते ! ऐसा क्यों ?" भगवान् बोले - "सर्वप्रथम आस्रव का द्वार बंध करके आस्रव - निरोध करना (आस्रव को रोकना) चाहिए। जबतक आस्रव को रोका नहीं, वृत्ति पर कंट्रोल नहीं किया, तबतक जैसे अध्यवसाय होंगे, वैसी क्रिया लगेगी। दो घड़ी तक पाप को वोसरा करके (व्युत्सर्ग-त्याग) करके सामायिक की साधना करनी चाहिए। सामायिक पौषध, उपवासादि तप, त्याग, प्रत्याख्यान किसलिए है ? आस्रवों का त्याग करके आत्मशुद्धि या आत्मविकास करने के लिए है। परन्तु यदि यह समझ (सम्यग्दृष्टि, तत्त्वज्ञान की सूझबूझ) नहीं होगी तो मूलमार्ग को चूक जाओगे। शाक-भाजी के व्यापारी के अपने माल से कई कमरे भरे होंगे, जबकि जौहरी के यहाँ सिर्फ हीरे की एक पुड़िया होगी। परन्तु दोनों में अधिक धनोपार्जन कार्य कौन करेगा ? जौहरी। हीरे से जितना धन उपार्जित होगा, उतना शाकभाजी से नहीं। वैसे ही समझपूर्वक (सम्यक्तत्त्व चिन्तन या सम्यग्दृष्टिपूर्वक) जो करणी होगी, वह भव-बन्धन को तोड़ डालेगी, किन्तु बेसमझी से बहुत-सी क्रिया होने पर भी भव-बन्धन के फेरे नहीं टलेंगे।

देवानुप्रियों ! इस पर्युषणपर्व में दान, शील, तप और भाव, इन चार बोलों की आराधना करनी है। कल हमने दान और शील के विषय में प्रकाश डाला था। आज तप के विषय में विचार करना है। तप किसे कहते हैं ? एक आचार्य ने तप की परिभाषा इस प्रकार की है - '**इन्द्रिय - मनसो नियमानुष्ठानं तपः**' पाँच इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करने (वश में करने) का अनुष्ठान तप है। अथवा बढ़ती हुई विविध वासनाओं - इच्छाओं का निरोध करना (रोकना) तप है। ऐसे भगवदुक्त बाह्य-आभ्यन्तर महान् तप की आराधना-साधना करके महापुरुषों ने कर्मों को चूरचूर किया है। हमें भी तपश्चरण करके कर्मों को चूर-चूर करना है। प्रत्येक आस्तिक धर्म और दर्शन में तप की महत्ता बताई है। महाभारत में भी तप का माहात्म्य बताते हुए कहा है -

"वेदस्योपनिषत् सत्यं, सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषद् दानं, दानस्योपनिषत् तपः॥"

"वेदों का सार सत्यवचन है। सत्य का सार इन्द्रियों का दमन है। इन्द्रिय-संयम का सार है - दान और दान का सार है - तप।" अतः प्रत्येक जीव को तपश्चर्या अवश्यमेव करनी चाहिए। तपश्चर्या के विना आत्मा का सर्वांगीण शुद्धि नहीं होती। इसीलिए भगवान् ने शास्त्र में कहा है - *"परक्कमिज्जा तव - संजमम्मि।"* तप और संयम में पराक्रम (पुरुषार्थ) करना चाहिए। क्या आप जानते हैं कि तप करने से इस जीव को क्या लाभ होता है ? भगवान् ने कहा -

"तवेण परिसुज्झइ"

"भवकोडी-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ।"

तपश्चर्या से आत्मा सब प्रकार से शुद्ध और कर्म मलरहित होती है। साथ ही इस जीव ने अनन्तकाल से भव-भ्रमण करते हुए बहुत-से कर्म बांधे हैं। उन करोड़ों भवों के संचित कर्मों को तपश्चर्या द्वारा निर्जीर्ण कर डालता है, यानी तपश्चर्या द्वारा आत्मा पर से कर्ममल झड़ जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। वनपालक जब एकदम घनी झाड़ियों वाले जंगल का सफाया करना चाहता है, तब दावानल के सिवाय दूसरे किसी शस्त्र से नहीं कर सकता। विस्तृत दावानल को बुझाने के लिए बरसात के सिवाय दूसरा कोई शस्त्र नहीं है। वर्षा से घिरे हुए बादलों को बिखेरने के लिए पवन के सिवाय दूसरा शस्त्र नहीं है। जैसे वन को जलाने के लिए अग्नि, अग्नि को शान्त करने के लिए बरसात और बादलों को बिखेरने के लिए हवा की जरूरत है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मसमूह को नष्ट करने के लिए तपश्चर्या के सिवाय दूसरा कोई उत्तम साधन नहीं है। किन्तु तपश्चरण वाहवाही, प्रशंसा, प्रसिद्धि और कीर्ति के लिए नहीं होना चाहिए। किन्तु आत्मा पर आवृत कर्म-समूहों का सम्यक् समझपूर्वक क्षय करने के लिए होना चाहिए।

ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "अकेली क्रिया से या अकेले ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता। किन्तु *"ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः"* ज्ञान और क्रिया दोनों हों तो मोक्ष मिलता है।"

हे चेतन! अनन्तभवों से संचित किये हुए कर्मों का क्षय करने की अगर तेरी उत्कृष्ट भावना हो तो तू ज्ञान के साथ तप रूपी क्रिया का आचरण कर। ज्ञानविहीन तप से कर्मों की जितनी और जैसी (सकाम) निर्जरा होनी चाहिए, उतना और वैसी निर्जरा नहीं होती। इसी प्रकार तप आदि की शुद्ध क्रिया के विना कोरे ज्ञान से भी सर्वथा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे धोबी मैले वस्त्रों को धोता है तो उसे अग्नि और पानी दोनों की जरूरत पड़ती है। अकेली अग्नि कपड़ों को जला देती है, जबकि अकेला पानी सूक्ष्म मैल को गला नहीं सकता। साबुन और सोडे के पानी में वस्त्रों को डुबोकर आग पर रखकर जैसे वह वस्त्रों को शुद्ध (साफ) करता है, वैसे आत्मरूपी वस्त्र को साफ (शुद्ध) करने के लिए ज्ञान और तप, इन दोनों की जरूरत पड़ती है। ज्ञान पानी के समान है और तप है अग्नि के समान। ऐसा ज्ञान सहित तप करने का तुम्हें सुअवसर मिला है। इस सुअवसर को व्यर्थ मत गंवाओ। किसी कारणवश तुमसे ऐसा न हो सके तो ऐसी

शुद्ध भावना भाना कि धन्य है, ऐसे पवित्र आत्माओं को ऐसे पर्युषणपर्व के दिवसों में कोई व्यक्ति महान् तप करता है, कोई अपनी सम्पदाओं के सद्व्यय के लिए ज्ञानदान, अभयदान तथा सुपात्रदान देते हैं । कोई उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा करते हैं । मैं ऐसा महान् पुरुषार्थ कब करूँगा ? मेरे लिए ऐसा सुअवसर कब आएगा ? शुद्ध अन्तःकरण से ऐसी भावना भाने से भव-राशि का नाश (भव-भ्रमण का अन्त) हो जाता है । परन्तु वह भावना केवल वाणी से ही नहीं, हृदय के कणकण से होनी चाहिए ।

बन्धुओं ! संसार का यह सुख स्वप्नवत् है । उसमें तुम अभिमान से फूल मत जाना, न ही उसे पाकर मुस्कराना, किन्तु तुम्हें जो समय मिला है, उसका सद्व्यय करो । स्वप्न दो प्रकार के होते हैं । एक स्वप्न ऐसा होता है कि आँख खुलने पर कुछ नहीं मालूम होता । दूसरा स्वप्न ऐसा होता है कि आँख बंद होते ही कुछ नहीं ! रात को किसी मनुष्य को नींद में स्वप्न आया कि मैं राजा बना, मैं प्रधानमंत्री बना, अथवा धनवान हो गया और महान् सुखोपभोग कर रहा हूँ । ऐसा उस व्यक्ति ने देखा ! परन्तु आँखें खुलते ही कुछ दिखाई देता है ? नहीं । इसी प्रकार जीते-जी चाहे जितना सुख हो, किन्तु अन्तिम समय आँख बंद होने पर वह सुख उसका रहता है या उसके साथ जाता है ? नहीं । अब समझ में आता है कि यह संसार सपने जैसा है । तुम चाहे जितना धन कमा कर इकट्ठा करो, लेकिन आँख बंद होने के बाद तुम्हारा कुछ नहीं है । इसीलिए ज्ञानी और अनुभवी पुरुष कहते हैं कि "संसार के मोह में पागल बने हुए हे मानव ! तू जरा समझ, ढंडे दिमाग से जरा सोच !"

जिंदगीना दीपने बुझातां वार नहि, लक्ष्मीना भंडारने लुंटाता वार नहि,
साथीओना स्नेहने सुकातां वार नहि, रूपना गुलाबने करमातां वार नहि ।
सन्ध्या तणा रंगोने विलातां वार नहि,... विलातां वार नहि ।

आयुष्य का दीपक कब बुझ जाएगा, इसका पता किसी को नहीं है । फिर भी जहाँ-तहाँ कितनी अधिक ममता है ? जब तुम एक बिल्डिंग बंधाते हो, तब बिल्डिंग बांधने वाले को कहते हो कि भले ही रकम अधिक खर्च हो, परन्तु तुम मेरी इस बिल्डिंग को ऐसी मजबूत बनाना कि १०० वर्ष हो जाय, तो भी उसमें से जरा-सी कंकरी भी गिरे नहीं । मकान की कंकरी १०० वर्ष होने तक भी नहीं गिरे, इस बात की तू हिदायत करता है, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि तेरी जिंदगी की कंकरी १०० वर्ष तक नहीं गिरेगी, इसका कोई भरोसा (गारंटी) है ? (श्रोताओं में से आवाज - नहीं । फिर भी जीव मोह, माया और ममता में कितना भान भूल गया है ? जिसके पास सम्पत्ति की विपुलता है, वह मनुष्य सुख (भौतिक-सुख) के लिए लाखों रुपये खर्चता है, किन्तु धर्म-कार्य में धन का सद्व्यय करने में उसका मन दुःखित होता है । किन्तु याद रखना, तू जिसे अपना मानता है, वे कोई भी तेरे नहीं हैं । अन्त में तो वे सब तुझे दगा देनेवाले हैं । तेरे अपने माने

"वेदों का सार सत्यवचन है। सत्य का सार इन्द्रियों का दमन है। इन्द्रिय-संयम का सार है - दान और दान का सार है - तप।" अतः प्रत्येक जीव को तपश्चर्या अवश्यमेव करनी चाहिए। तपश्चर्या के बिना आत्मा का सर्वांगीण शुद्धि नहीं होती। इसीलिए भगवान् ने शास्त्र में कहा है - *"परक्कमिज्जा तव्व - संजमम्मि।"* तप और संयम में पराक्रम (पुरुषार्थ) करना चाहिए। क्या आप जानते हैं कि तप करने से इस जीव को क्या लाभ होता है? भगवान् ने कहा -

"तवेण परिसुज्झइ"

"भवकोडी-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ।"

तपश्चर्या से आत्मा सब प्रकार से शुद्ध और कर्म मलरहित होती है। साथ ही इस जीव ने अनन्तकाल से भव-भ्रमण करते हुए बहुत-से कर्म बांधे हैं। उन करोड़ों भवों के संचित कर्मों को तपश्चर्या द्वारा निर्जीर्ण कर डालता है, यानी तपश्चर्या द्वारा आत्मा पर से कर्ममल झड़ जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। वनपालक जब एकदम घनी झाड़ियों वाले जंगल का सफाया करना चाहता है, तब दावानल के सिवाय दूसरे किसी शस्त्र से नहीं कर सकता। विस्तृत दावानल को बुझाने के लिए बरसात के सिवाय दूसरा कोई शस्त्र नहीं है। वर्षा से घिरे हुए बादलों को बिखेरने के लिए पवन के सिवाय दूसरा शस्त्र नहीं है। जैसे वन को जलाने के लिए अग्नि, अग्नि को शान्त करने के लिए बरसात और बादलों को बिखेरने के लिए हवा की जरूरत है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मसमूह को नष्ट करने के लिए तपश्चर्या के सिवाय दूसरा कोई उत्तम साधन नहीं है। किन्तु तपश्चरण वाहवाही, प्रशंसा, प्रसिद्धि और कीर्ति के लिए नहीं होना चाहिए। किन्तु आत्मा पर आवृत कर्म-समूहों का सम्यक् समझपूर्वक क्षय करने के लिए होना चाहिए।

ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "अकेली क्रिया से या अकेले ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता। किन्तु *"ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः"* ज्ञान और क्रिया दोनों हों तो मोक्ष मिलता है।"

हे चेतन! अनन्तभवों से संचित किये हुए कर्मों का क्षय करने की अगर तेरी उत्कृष्ट भावना हो तो तू ज्ञान के साथ तप रूपी क्रिया का आचरण कर। ज्ञानविहीन तप से कर्मों की जितनी और जैसी (सकाम) निर्जरा होनी चाहिए, उतना और वैसी निर्जरा नहीं होती। इसी प्रकार तप आदि की शुद्ध क्रिया के बिना कोरे ज्ञान से भी सर्वथा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे धोबी मैले वस्त्रों को धोता है तो उसे अग्नि और पानी दोनों की जरूरत पड़ती है। अकेली अग्नि कपड़ों को जला देती है, जबकि अकेला पानी सूक्ष्म मैल को गला नहीं सकता। साबुन और सोडे के पानी में वस्त्रों को डुबोकर आग पर रखकर जैसे वह वस्त्रों को शुद्ध (साफ) करता है, वैसे आत्मरूपी वस्त्र को साफ (शुद्ध) करने के लिए ज्ञान और तप, इन दोनों की जरूरत पड़ती है। ज्ञान पानी के समान है और तप है अग्नि के समान। ऐसा ज्ञान सहित तप करने का तुम्हें सुअवसर मिला है। इस सुअवसर को व्यर्थ मत गंवाओ। किसी कारणवश तुमसे ऐसा न हो सके तो ऐसी

शुद्ध भावना भाना कि धन्य है, ऐसे पवित्र आत्माओं को ऐसे पर्युषणपर्व के दिवसों में कोई व्यक्ति महान् तप करता है, कोई अपनी सम्पदाओं के सद्व्यय के लिए ज्ञानदान, अभयदान तथा सुपात्रदान देते हैं। कोई उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा करते हैं। मैं ऐसा महान् पुरुषार्थ कब करूँगा ? मेरे लिए ऐसा सुअवसर कब आएगा ? शुद्ध अन्तःकरण से ऐसी भावना भाने से भव-राशि का नाश (भव-भ्रमण का अन्त) हो जाता है। परन्तु वह भावना केवल वाणी से ही नहीं, हृदय के कणकण से होनी चाहिए।

बन्धुओं ! संसार का यह सुख स्वप्नवत् है। उसमें तुम अभिमान से फूल मत जाना, न ही उसे पाकर मुस्कराना, किन्तु तुम्हें जो समय मिला है, उसका सद्व्यय करो। स्वप्न दो प्रकार के होते हैं। एक स्वप्न ऐसा होता है कि आँख खुलने पर कुछ नहीं मालूम होता। दूसरा स्वप्न ऐसा होता है कि आँख बंद होते ही कुछ नहीं ! रात को किसी मनुष्य को नींद में स्वप्न आया कि मैं राजा बना, मैं प्रधानमंत्री बना, अथवा धनवान हो गया और महान् सुखोपभोग कर रहा हूँ। ऐसा उस व्यक्ति ने देखा ! परन्तु आँखें खुलते ही कुछ दिखाई देता है ? नहीं। इसी प्रकार जीते-जी चाहे जितना सुख हो, किन्तु अन्तिम समय आँख बंद होने पर वह सुख उसका रहता है या उसके साथ जाता है ? नहीं। अब समझ में आता है कि यह संसार सपने जैसा है। तुम चाहे जितना धन कमा कर इकट्ठा करो, लेकिन आँख बंद होने के बाद तुम्हारा कुछ नहीं है। इसीलिए ज्ञानी और अनुभवी पुरुष कहते हैं कि "संसार के मोह में पागल बने हुए हे मानव ! तू जरा समझ, ठंडे दिमाग से जरा सोच !"

जिंदगीना दीपने बुझातां वार नहि, लक्ष्मीना भंडारने लुंटाता वार नहि,
साथीओना स्नेहने सुकातां वार नहि, रूपना गुलाबने करमातां वार नहि।
सन्ध्या तणा रंगोने विलातां वार नहि,... विलातां वार नहि।

आयुष्य का दीपक कब बुझ जाएगा, इसका पता किसी को नहीं है। फिर भी जहाँ-तहाँ कितनी अधिक ममता है ? जब तुम एक बिल्डिंग बंधाते हो, तब बिल्डिंग बांधने वाले को कहते हो कि भले ही रकम अधिक खर्च हो, परन्तु तुम मेरी इस बिल्डिंग को ऐसी मजबूत बनाना कि १०० वर्ष हो जाय, तो भी उसमें से जरा-सी कंकरी भी गिरे नहीं। मकान की कंकरी १०० वर्ष होने तक भी नहीं गिरे, इस बात की तू हिदायत करता है, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि तेरी जिंदगी की कंकरी १०० वर्ष तक नहीं गिरेगी, इसका कोई भरोसा (गारंटी) है ? (श्रोताओं में से आवाज - नहीं। फिर भी जीव मोह, माया और ममता में कितना भान भूल गया है ? जिसके पास सम्पत्ति की विपुलता है, वह मनुष्य सुख (भौतिक-सुख) के लिए लाखों रुपये खर्चता है, किन्तु धर्म-कार्य में धन का सद्व्यय करने में उसका मन दुःखित होता है। किन्तु याद रखना, तू जिसे अपना मानता है, वे कोई भी तेरे नहीं हैं। अन्त में तो वे सब तुझे दगा देनेवाले हैं। तेरे अपने माने

हुए साथियों का स्नेह कब सूख जाएगा इसका तुझे पता है ? जबतक तेरे पास पैसा है, तबतक स्नेह का झरना बहेगा। जब तुम्हारा लक्ष्मी का भंडार खाली हो जाएगा, तब उनके स्नेह का झरना सूख जाएगा। क्योंकि इस संसार में जहाँ देखो वहाँ पैसे की प्रधानता है। अर्थात् - धनसम्पन्न पूजा जाता है, निर्धन के सम्मुख कोई नहीं देखता, कोई उसे पूछता नहीं। गरीब मनुष्य गुणवान् हो, तो भी दुनिया उसका तिरस्कार करती है। लेकिन बहुत-सी दफा गरीब आदमी (जीवन के) इतने अमीर होते हैं, कि वे गरीबी में भी अपनी मानवता को नहीं छोड़ते। इस विषय में मुझे एक दृष्टान्त याद आ रहा है।

संस्कारी विधवा माता का दृष्टांत : एक विधवा माता है। उसके एक पुत्र और एक पुत्री है। कर्मयोग से इस बाई पर वैधव्य का दुःख आ पड़ा, इसके साथ-साथ लक्ष्मीदेवी ने भी इस घर से विदा ले ली। आज आप जानते हैं कि मानव के पास धन हो तो सैंकड़ों सगे सम्बन्धी बन जाते हैं, इसके विपरीत जिसके पास धन नहीं है, उसका इस दुनिया में कोई सगा-सम्बन्धी नहीं बनता। मामा मामा नहीं रहते, न ही काका काका रहते हैं। इस बहन की भी ऐसी हालत हो गई। बेचारी, आटाचक्की (घट्टी) पर आटा पीसकर बड़ी मुश्किल से तीन व्यक्तियों का गुजारा चलाती है। *'खावाना खोटा, ने काम करवाना साचा'* इस कहावत के अनुसार बाई का शरीर दिनोदिन सूखता गया। बुढ़ापे के बिना भी इस उम्र में बुढ़ापे की रेखाएँ उभर आई। कई बार ऐसा भी अवसर आता, कि बालकों के सहित माँ भी शाम को भूखे पेट सो जाती। अहह ! जहाँ पहले से लक्ष्मी है, वहाँ लक्ष्मीदेवी भरपूर है और जहाँ वह नहीं है, वहाँ कुछ भी नहीं है।

खानारूं ज्यां कोई नथी, त्यां अन्नातणां भंडार,
पाचन जेने थाय नहीं, त्यां मालपूआ तैयार।
रोटीना एक टुकड़ा माटे, कोई करे तकरार,
भूख्यापेटे सुई जाय छे, बालक बेसुमार।
मळे बधुं मानवथी अहीं श्रीमंतोना श्वानने, शुं कहेवुं भगवान् ने ?

पुण्य की लीला कैसी है ? जिसके घर में खानेवाला नहीं है, वहाँ कोठे में ढेर सारा अन्न भरा है। जहाँ भूखभरा है, वहाँ एक चिपटीभर चने के भी लाले पड़े हैं। जिसके पेट में पचता नहीं, उसके लिए मालपूआ और खीर तैयार है। जिसके पेट में भूख की ज्वाला भड़की है, वह कहता है – ओ माई-बाप ! मुझे कोई रोटी का एक टुकड़ा दो, उसे टुकड़े के बदले मार पड़ती है, लेकिन रोटी का एक टुकड़ा मिलता नहीं। इसके फलस्वरूप अन्त में बहुत-से दुःखी बालक भूखे पेट रोते-रोते सो जाते हैं। अरे ! पुण्य-पाप की बात तुम्हें क्या कहूँ ? अनेक धनवानों के घर में कुत्ते मौज उड़ाते हैं, उस मौज का आंशिक हिस्सा भी दुःखी मानव को अनुभव करने को नहीं मिलता ! अहह ! कर्म के आगे किसी की विवेकबुद्धि नहीं चलती। यह गरीब विधवा माता भी पुत्र-पुत्री को पाल-पोसकर बड़ा कर रही है और इतनी गरीबी में भी अमीरी जीवन जी रही है।

तुम्हें यह लगेगा कि इसे अमीरीजीवन कैसे कहा ? मैं तुम्हें इस बारे में समझाती हूँ। आज तुम देखते हो न कि बहुत-से लोग मांगने में कोई शर्म महसूस नहीं करते। जबकि यह विधवा माता अपनी लाडली दोनों संतानों के सहित बहुत-सी दफा भूखी सो जाती है। उसकी आँख में (बच्चों को भूखे देखकर) आंसुओं की धारा बहती थी, परन्तु उसने कदापि किसी के सामने हाथ लम्बा नहीं किया या लाचारी नहीं बताई। वह तो एक ही बात सोचती थी कि 'हे जीव ! तूने कर्म बांधे हैं, उन्हें तुझे ही भोगने हैं।' ऐसी वह विधवा माता कर्म-सिद्धान्त को मानकर शान्ति से जिंदगी बिताती थी। जब उसका लाल १२ वर्ष का हुआ, तब एक दिन उसने उससे कहा - "बेटा ! तू स्कूल से १२ बजे आता है, फिर अगर तू थोड़ा-सा काम करे तो तेरी कमाई के दो-चार आने मेरे दुःख को कम करने में हिस्सेदार बन सकते हैं।" माता के दिये हुए संस्कारों से सुसंस्कारित धर्मसंस्कारों से जीवन-निर्माण-प्राप्त, सुन्दर तालीम से अभ्यस्त पुत्र कहता है - "माँ ! तू जो कहेगी, वह मैं करूँगा।" यह सुनकर माता ने खाने के कुछ खिलौने बनाकर दिये और स्कूल के मैदान में बेचने के लिए भेजा। लड़का उत्साहपूर्वक उन्हें बेचने के लिए गया और चार आना कमाकर घर आया। इससे माता को बहुत खुशी हुई। यों माता उसे बार-बार खाने की नई-नई आइटमों बना-बनाकर बेचने के लिए लड़के को भेज देती। एक दिन माँ ने कचौडियां बनाकर बेचने के लिए भेजा। कुदरत की लीला, उस दिन जब वह स्कूल पहुँचा तब मालूम हुआ कि किसी बड़े आदमी की मौत हो जाने से आज स्कूल में और गाँव में हड़ताल है। इस कारण उसकी कचौड़ियों को लेनेवाला कोई भी नहीं मिला। दूसरे दिन तो कचौडियाँ खराब हो जाएगी। अब क्या करना ? पस्त हिम्मत हुआ फूल-सा बालक अश्रुपात करता हुआ एक वटवृक्ष के नीचे बैठा। ऐसे समय में बहुत-से लोग उस रास्ते से आ-जा रहे थे। इस बालक को रोते देखकर उससे रोने का कारण पूछते हैं। परन्तु उसका दुःख-निवारण करने के लिए खड़ा नहीं रहता। वास्तव में, धनवानों को धन के नशे में पता नहीं लगता की भूखा मानव कितने दुःखों का अनुभव करता है। इस बच्चे के आंसू देखकर कोई भी दयालु मानव ऐसा नहीं निकला, जो दस रुपये देकर बालक के आंसू पोंछ दे। अन्त में, निराशा में से आशा की एक किरण फूटी। कोई एक करुणावान् गर्भश्रीमान् मानव वहाँ से गुजरता है। वहाँ मनुष्यों का हजुम इकट्ठा देखकर खड़ा रहा। उसने लोगों से पूछा - "यहाँ क्या हो रहा है ?" पूछने पर मालूम हुआ कि एक बालक इस कारण रो रहा है। यह बात सुनकर सेठ का हृदय पसीज उठा। उसके हृदय से ये उद्गार फूट पड़े - 'अहा ! जहाँ धनवानों का हास्य है वहाँ निर्धनों की हाय है।' तुरन्त सेठ ने उस बालक को सौ रुपये का नोट दिया और कहा - "ले बेटा ! जा घर जा। मैं तुझे १०० रु. देता हूँ। इन्हें ले ले।" जिसमें माता के द्वारा सुन्दर सुसंस्कारों के सिंचन से अमीरी के अंकुर फूट चुके हैं; जिसने दुःखों के पर्वत के खिलाफ धैर्य का कवच पहना हुआ है, ऐसा पुत्र बोला - "पिताजी ! मुझे

कचौड़ियाँ बेचनी हैं, किसी से दान नहीं लेना है । मैं आपके सौ रुपये नहीं ले सकता, क्योंकि यह दान है । मुझे आप सिर्फ दस रुपये दीजिए और ये कचौड़ियाँ ले लीजिए ।" इस बात को सुनकर सेठ को बहुत आश्चर्य हुआ । जिसके पास खाने के अन्न नहीं हैं, पहनने को वस्त्र नहीं है, रहने के लिए अच्छा घर नहीं है, फिर भी इस बालक के कितने उच्च विचार हैं ? धन्य है, इसकी माता को, धन्य है इसकी उच्च भावना को । सेठ को उस बालक पर खूब दया आई । उसे सौ का नोट लेने के लिए सेठ ने बहुत समझाया, इस पर भी जब वह नहीं माना तो आखिरकार सेठ ने कहा - "अच्छा, जा इस नोट का छुट्टा करवा ला । दस रुपये तू ले लेना और ९० रु. मुझे वापस दे देना और ये कचौड़ियाँ गरीबों को बांट देना ।" यह सुनकर वह बालक उत्साहपूर्वक दौड़ा । सेठ वहाँ खड़े हैं । कुदरत की कला अजब है । एक रास्ता पार करके जहाँ वह दूसरा रास्ता पार करने जाता है, वहीं धन के नशे में अन्धाधुंध गाड़ी चलाता हुआ एक सेठ आ रहा था । उसकी गाड़ी की चपेट में बालक आ गया । उसके मस्तक में बहुत जोर की चोट लगी । उसमें से रक्त दड़दड़ बहने लगा । धरती पर गिरते ही वह बालक बेहोश हो गया । फिर भी धनान्ध धनिक ने वापस मुड़कर भी नहीं देखा । घटनास्थल पर सैंकड़ों मनुष्य इकट्ठे हो गए । बोलनेवाले तो अनेकों निकले, किन्तु सेवा करनेवाला कोई नहीं निकला ।

एक दयालु मानव वहाँ से गुजरा । वह तुरंत उस बालक को हॉस्पिटल में ले गया । उसने डॉक्टर को तुरंत ट्रीटमेन्ट देने की प्रार्थना की । दयालु मानव के दिल की भावना देखकर डोक्टर का दिल पिघला । उसने बालक को जिलाने के सभी प्रयत्न शुरू किये । इसके फलस्वरूप बेहोशी हालत में से जरा-सा होश में आते ही उसने अपनी माता का नाम तथा पता-ठिकाना बता दिया । यह सुनकर वह दयालु उसकी माँ को खबर देने जाता है । टाइम हो जाने पर भी पुत्र के घर पर नहीं आने के कारण उसकी माँ और बहन खोज-खोजकर थक गई थीं । हृदयविदारक रुदन करती हुई माता पुकार रही थी - 'अरे ! कोई मुझे मेरा लाला बताओ ।' पागल की तरह गली में घूमती माता बोलती है - "अरे ! दयालु माँ-बाप ! किसी ने मेरे बेटे को देखा है ? कचौड़ी बेचने गया हुआ मेरा लाल अभी तक वापस नहीं आया ।" यों रुदन करती और झूरती माता को देखकर आगन्तुक दयालु मनुष्य समझ गया कि यही उस बालक की माँ है । वह बोला - "माँ ! रो मत । चल मेरे साथ, मैं तुझे तेरा लाल बताता हूँ ।" यह सुनते ही माँ-बेटी दोनों उस दयालु के पैरों में पड़कर कहती हैं - "भाई ! तू मेरे लाल को बताता है ? कहाँ है मेरा लाल ?" यह करुण दृश्य देखकर दयालु का हृदय भी द्रवित हो उठा । अरर ! इन माँ-बेटी का क्या होगा ? यह अपने लाल के बिना कैसे जिंदा रहेगी ? फिर भी साहस करके वह होस्पिटल में ले गया, जहाँ वह बेहोश पड़ा था । पुत्र को देखते ही माता-पुत्री दोनों पछाड़ खाकर धड़ाम से गिर पड़ीं । "अरे भाई ! तुझे यह क्या हो गया ? डोक्टर साहब ! मेरे पुत्र को क्या हो गया ? वह बोलता क्यों नहीं ? मेरे सामने

भी क्यों नहीं देखता ? इसके माथे पर क्यों इतनी बड़ी पघड़ी बांधी है ?" यों कहती और विलाप करती हुई माँ अपने बेटे के गले से लिपट गई ।

दूसरी ओर वह दयालु सेठ लड़के के आने की इंतजार कर रहे हैं । सोचते हैं - 'अभी तक वह क्यों नहीं आया ? उसका क्या हुआ होगा ? वह लड़का सच्चा है या झूठा ? अरे ! कहीं वह ठग तो नहीं है ?' यों सोचते हुए सेठ ने आधा घंटे तक उसके आने की प्रतीक्षा की । जब वह नहीं आया तो सेठ उसकी खोज में निकले । लोगों को पूछने से पता लगा कि उस लड़के का इस तरह एक्सीडेंट हुआ है । सेठ दौड़कर होस्पिटल पहुँचे । देवानुप्रियों ! इस सेठ में कितनी करुणा है ? कितनी मानवता है ? अपने सभी कार्यक्रम छोड़कर इस दुःखी को संकट के समय सहायता देने के लिए दुःखी के भगवान् पहुँच जाते हैं । इतने में ही वह बालक होश में आकर अस्पष्ट भाषा में बोला - "ओ मेरी प्यारी बहन ! भगवान् के तुल्य दयालु सेठ स्कूल के कम्पाउंड में बड़ के पेड़ के नीचे खड़े हैं । वहाँ जाकर उन्हें यह सौ रुपये का नोट उन्हें पहुँचा दे ! ओ मेरी वात्सल्यमयी माँ ! मुझसे अधिक बोला नहीं जाता ।"

"आ देहपर ओढाडवा कफन नहि रहे तेनी परवा नथी,
आ देहने जलाववा, काष्ठ नहि मळे, तेनी परवा नथी ।
आ देहने दफनावजो, पण शेठने नोट पहोंचाडजो ॥"

भाई के ये उद्‌गार सुनकर बहन रो रही है । इतने में ही दयालु सेठ आ पहुँचे । लड़के ने उन्हें पहचान लिया । बोला - "बहन ! ये बापूजी आए !" वह सेठ के हाथ में नोट दे देता है । उसकी यह दुर्दशा देख सेठ का हृदय एकदम पसीज उठता है । वह बालक से लिपट पड़ते हैं । सेठ फफक-फफक कर रोते हुए कहते हैं - "ओ मेरे प्रिय बेटे ! तुझे यह क्या हुआ ? तेरा एक्सीडेंट कैसे हुआ ? अरर ! फूल के समान बालक क्या अकाल में ही मुर्झा जाएगा ?" जहाँ सेठ यों हृदय में विचारते हैं, वहाँ अकस्मात् बालक के प्राण-पंखेरू उड़ जाते हैं । बालक का निष्प्राण देह देखकर माँ-बेटी तो मानो बिजली धरती पर टूट पड़ती है, त्यों धरती पर ढल पड़ी । अरेरे भगवान आपने यह क्या किया ? आपने अकाल में ही मेरा लाल ले लिया ! संक्षेप में माँ-बेटी का करुण क्रन्दन देखकर होस्पिटल के प्रत्येक मनुष्य का हृदय पिघल गया । अहो ! ये दुःखी माता-पुत्री हिम्मत हारकर इस धरती पर गिर पड़ी है । सभी लोग उन्हें सहयोग देने के लिए तत्पर हुए । परन्तु उन्होंने किसी का भी सहकार न लेकर प्रबल कल्पान्त करते हुए बालक का अग्नि संस्कार किया । फूल चला गया, परन्तु सौरभ रह गई । बालक को याद करती हुई माता-पुत्री जीवन-यापन कर रही हैं । वह दयालु सेठ माता के चरणों में पड़कर कहता है : "माँ ! मैं तेरा पुत्र हूँ । मेरे जीवन को कृतार्थ करने हेतु तू मुझे सेवा का लाभ दे ।"

बन्धुओं ! तुम भी ऐसे दयालु बनो और दुःखी भाई-बहनों के आँसु पोंछना सीखो ! जब मानव के मन में हिंसा की भावना नहीं होती, तब संसार के सभी जीवों

के प्रति उसके हृदय में वात्सल्य, मैत्री और दया की भावना होती है। इस सम्बन्ध में मुझे एक छोटा ऐतिहासिक दृष्टान्त याद आ रहा है। समय काफी हो गया है, इसलिए संक्षेप में कहती हूँ -

दामाजी का दृष्टांत : महाराष्ट्र के एक गाँव में दामाजी नामक एक अत्यन्त दयालु मानव थे। वह किसी का भी कुछ दुःख देखते तो तुरंत उनका दिल द्रवित हो उठता और उसे दुःख से मुक्त कराने हेतु प्रयत्न करते थे। उसका एक नियम था कि अपने आंगन में आए हुए किसी भी अतिथि को वापस भूखा नहीं लौटाते थे। एक दिन एक मनुष्य संयोगवश वहाँ आ पहुँचा। दामाजी ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक उसे भोजन करने के लिए आसन पर बिठाया। वहाँ क्या हुआ ? दामाजी ने जब अतिथि के भोजन करने के लिए थाली रखी तब उसकी आँखों से गंगा-जमुना बहने लगी। दामाजी यह सब देख-आश्चर्यपूर्वक बोले - "भाई ! तुझे क्या दुःख है ? तू किसलिए रोता है ?" अतिथि ने कहा - "मुझे अपना कुछ भी दुःख नहीं है। परन्तु मेरे गाँव में दुष्काल पड़ा है। इस कारण मुझे यह विचार आया कि मैं यहाँ पेट भरकर भोजन करूँ और मेरे बालक वहाँ भूखे होंगे।"

अतिथि की बात सुनकर दामाजी की आँखें भी आंसुओं से छलछला उठीं। उन्होंने मेहमान को समझा-बुझाकर भोजन कराया और जाते समय जावड़ी में अनाज बांध दिया कि वहाँ जाकर अपने बालकों को खिला-पिला सके। इस मनुष्य ने अपने गाँव में पहुँच कर दामाजी की खूब प्रशंसा की। इस कारण उस गाँव के अनेक मनुष्य दामाजी के वहाँ आने लगे। परन्तु दामाजी इन सब को कैसे भोजन करा सकते थे ? क्योंकि उनके पास इतना अनाज नहीं था। यद्यपि उनके यहाँ अनाज के कोठार भरे हुए थे, परन्तु वे सब राज्य के थे। इससे दामाजी खूब सोच में पड़ गए। आखिर उन्होंने मन में निश्चय किया कि 'अन्न के अधिकारी तो ये सब भूखे मानव हैं। अतएव इन्हें अन्न देना चाहिए। इसके लिए राजाजी मुझे जो भी दण्ड देंगे, मैं उसे हँसते-हँसते भोग लूंगा।'

यों विचार करके दामाजी ने राज्य के अन्न के कोठार खोल दिये और सबको अनाज देने लगे। लोगों की लम्बी कतार लगने लगी। सभी लोग अनाज लेकर दामाजी को अन्तर से आशीर्वाद देने लगे। भूख से पीड़ित कई मनुष्य मृत्यु के मुख में जाने से बच गये। राजा को इस बात का पता लगते ही उन्होंने दामाजी को गिरफ्तार करने के लिए पुलिस जनों को भेजे। दामाजी तो राजीखुशी से सिपाहियों के साथ राजा के सामने हाजिर हुए। इस बात की जानकारी सारे गाँव में हो गई। एक धनिक मनुष्य को जब यह मालूम हुआ तो उसने राजा के पास जाकर कहा - "हे महाराजा ! दामाजी ने राज्य का जितना अनाज दुष्काल पीड़ित लोगों को बांटा है, उतने अनाज के दाम आप मेरे से लेकर आप के खजाने में जमा करिए और दामाजी को छोड़ दीजिए।" राजाजी ने उक्त धनाढ्य सेठ से अनाज का मूल्य लेकर दामाजी को छोड़ दिया। यों दामाजी आगे चलकर भक्त दामाजी पंत के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस दृष्टान्त पर से हमें यह समझना है कि दामाजी और अनाज के बदले में धन देने-वाले उक्त सेठ की उदारता समान जब मनुष्य में दया और उदारता की भावना प्रकट होती है, तब वह सच्चा भक्त और दानवीर कहलाता है । अहिंसा, संयम, दया, क्षमा आदि गुण आत्मा को शुद्ध बनाकर उन्नति के शिखर पर पहुँचाते हैं । इन पर्वाधिराज के पवित्र दिवसों में आस्रव से पीछे हटकर संवर से जुड़ो, आत्म-साधना की भावना करो । इस सम्बन्ध में अधिक भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

नारदजी किस कारण से और किस शक्ति से यहाँ आए हैं, ये सारी बातें भगवान् के मुख से सुनकर पद्म चक्रवर्ती को जिज्ञासा हुई कि वह पुत्र कितना भाग्यशाली होगा कि स्वयं भगवान् सीमन्धरस्वामी के मुख से भी उनका गुणगान हुआ । इस कारण पुनः प्रश्न किया कि "प्रभो ! उस बालक को कौन उठाकर ले गया है ? उसका उसके साथ पूर्व का क्या वैर था कि जन्म होने के साथ ही अपनी माता से वियोग हुआ ? वह पुत्र वर्तमान में कहाँ है ? वह अपनी माँ से कब, कितने वर्ष के बाद, किस समय में, कहाँ मिलेगा ? कृपा करके आप फरमाइए ।" यह सुनकर सीमंधरस्वामी क्या कहते हैं ? यह ध्यान से सुनो ।

सीमन्धरस्वामी द्वारा किया गया उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान : माता रुक्मिणी सोई हुई थी । उस समय धूमकेतु नामक देव विभंगज्ञान से पूर्व भव के वैर का स्मरण करके आगबबूला होकर वहाँ आया और बालक को हाथ पर उठाकर ले लिया । उस बालक को मार डालने की इच्छा से वह उसे लेकर वैताढ्यपर्वत के भूतरमण वन में आया । पहले तो उसकी इच्छा उस बालक को शिलापर पटक-पटककर मार डालने की थी । फिर उसे विचार हुआ कि शास्त्रों में बालहत्या को बहुत बड़ा पाप बताया है । अतः मेरे हाथ से बालहत्या नहीं होनी चाहिए । फिर यह सोचकर कि यह बालक भूख प्यास से तड़फ-तड़फकर मर जाए, इसके लिए बालक को टंकशिला पर छोड़कर स्वयं चला गया । उसके पश्चात् कालसंवर नामक विद्याधरेन्द्र अपनी पत्नी कनकमाला के साथ विमान में जा रहे थे । वहाँ बीच में अकस्मात् विमान रुक गया । उसके रुकने के कारण को खोजते हुए उन्होंने एक शिला पर उस बालक को देखा । उसके तेजस्वी रूप को देखकर अपुत्रिणी कनकमाला को उसे पुत्र रूप में दे दिया । कनकमाला के अनुरोध से कालसंवर विद्याधरेन्द्र ने उसका युवराज के रूप में अभिषेक कर दिया । घर जाने के बाद विद्याधरेन्द्र ने ऐसी घोषणा कराई कि गुप्तगर्भा कनकमाला ने पुत्ररत्न को जन्म दिया है । साथ ही उसका नाम प्रद्युम्नकुमार रखा है । ऐसी जाहिरात कराई ।

वह लड़का बड़ा हो जाएगा, तब वह दो विद्याएँ और सोलह उपलब्धियाँ प्राप्त करके आएगा और सोलह वर्ष के पश्चात् वह अपने माता-पिता से मिलेगा, उससे पहले वे चाहे

जितनी खोज करें तो भी वह नहीं मिलेगा।" फिर पूछा - "भगवन् ! वह आएगा, तब किस प्रकार से आएगा ? क्या कृष्ण उसकी अगवानी करने जाएँगे ? उसके आने का पता कैसे चलेगा ? उसके आने की निशानी क्या है ?"

इस पर भगवान् ने कहा - "वह (श्रीकृष्ण) पुत्र को खोजने नहीं जाएँगे। जिस दिन वह आनेवाला होगा, उस दिन क्या-क्या निशानी होगी ? यह सुनो। जिस दिन पुत्र का जन्म होता है, उस दिन उसकी माँ को जितना आनन्द आता है, वैसा ही मानो अपूर्व आनन्द उसकी माता (रुक्मिणी) को होगा। उसके हृदय में आनन्द समायेगा नहीं और सबके दिल में अलौकिक आनन्द होगा। आज इतना अधिक आनन्द और हर्ष क्यों हो रहा है ? यह किसी के समझ में न आए, ऐसा आनन्द होगा। इसे (उसके आगमन की) पहली निशानी समझना। फिर सूखे वृक्ष हरे-भरे बन जाएँगे, जिन कुंओं में पानी नहीं है, वे कुंए पानी से भर जाएँगे। बिना ही वर्षा के बगीचा हरियाला हो जाएगा और उसमें बिना ही ऋतु के फल-फूल आ जाएँगे। कोयल मधुर टहुकार करेगी। इनके अतिरिक्त और भी क्या-क्या निशानियाँ होंगी, वह सुनो -

सखी नृत्य हो विविध वधावा, मूका हो वाचाळ।
वांका सरल, अंध लहे चक्षु, कुरूपा रूप-रसाळ हो... श्रोता...

सभी सखियाँ एकत्र होकर गीत गाएँगी, नृत्य करेंगी, जगह-जगह बधाइयाँ बंटेगी। जो मूक होंगे, वे वाचाल हो जाएँगे, अन्धे देखने लगेंगे, बांके सरल हो जाएँगे और जो कुरूप होंगे, वे रूपवान् बन जाएँगे। जहाँ प्रद्युम्नकुमार के कदम पड़ेंगे, वहाँ ये सब नजारे दिखाई देंगे। देखिए, प्रद्युम्नकुमार कितना पुण्यवान् है, कि इसके चरण पड़ते ही ये सब होंगे।

प्रद्युम्नकुमार आनेवाला होगा, तब कैदियों को कारागृह से मुक्त कर दिया जाएगा। शत्रुओं में परस्पर शत्रुता विस्मृत हो जाएगी। ये सब निशानियाँ प्रद्युम्नकुमार के आगमन की हैं। १६ वर्ष बाद उसका लाड़ला पुत्र (प्रद्युम्नकुमार) अपनी माता से मिलेगा। नारदजी ! आप जाकर रुक्मिणी से कहना कि वह धैर्य रखे, धर्मध्यान करे और आत्मा की साधना करे।"नारदजी के दिल में भगवान् के श्रीमुख से ये सब बातें सुनकर आनन्द उत्पन्न हुआ। उन्हें घड़ी भर तो मन में यह विचार हुआ कि '१६ वर्ष कैसे व्यतीत होंगे।' परन्तु नारदजी तो कर्म सिद्धान्त को माननेवाले थे, अतः सोचा - 'तीर्थंकर जैसों को भी अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना पड़ा, इसमें कौन-सी नई बात है ?' अब पद्म चक्रवर्ती भगवान् से अभी फिर पूछेंगे कि "अहो प्रभो ! ऐसे पुण्यात्मा जीव को भी माता से बिछुड़ जाना पड़ा और उसे माता का वात्सल्य और प्रेम न मिला और उसका अपहरण हुआ, यह सब किन कर्मों के कारण हुआ ?" इस प्रकार पद्म चक्रवर्ती भगवान् से प्रश्न पूछेंगे और भगवान् उनका क्या उत्तर देंगे ? उसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

व्याख्यान - ५१

श्रावण वदी अमावस, मंगलवार — ता. २४-८-७६

स्व-भावों में जागो : पर-भावों को त्यागो

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी महापुरुष ललकारते हुए कहते हैं कि "हे भव्यजीवों ! आत्मस्वरूप की पहचान करने के लिए पर्युषणपर्व के मंगलमय दिवस चल रहे हैं । यह पर्युषणपर्व प्रमाद में पड़े हुए मनुष्यों को चुनौती देते हुए कहते हैं कि हे मानव ! हे चेतन ! तूने इस पृथ्वी पर जन्म लेकर जड़-देह की उपासना तो बहुत की । अब तू तेरी (आत्मा की) उपासना कर । सच्ची समझ के अभाव में जड़ का भिखारी बनकर जीव अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है । अनन्तशक्ति का स्वामी आत्मा जब अपनी शक्ति को परभवों में व्यर्थ खर्च (नष्ट) कर डालता है, तब 'पर' में जितनी जागृति और सावधानी रहती है, उतनी आत्मा के लिए नहीं रहती ।"

तुम्हें जब किसी दूसरे गाँव जाना हो तो कितने जल्दी जाग जाते हो ? साढ़े पाँच बजे की ट्रेन हो तो सिरहाने अलार्म घड़ी में घंटी की चाबी लगाकर सो जाते हो । उससे अधिक तुम अपनी श्रीमती से भी कह रखते हो कि कदाचित् मैं न जाग पाऊँ तो तुम मुझे जग देना । फलतः चार बजे से पहले जागकर तैयार होकर पाँच बजे तो स्टेशन पर पहुँच ज हो । ट्रेन पकड़ने के लिए तो कितनी तैयारी की ? अलार्म लगाई, घरवाली को कह रखा, परन्तु किसी दिन तुम अपनी पत्नी से ऐसा कहते हो कि 'मैं धर्म को भूल ज तब तुम मुझे धर्म करने के लिए जगा देना ।' अथवा 'घाटकोपर में संत-सतीजी और मैं उपाश्रय में न जाऊँ तो मुझे चेतावनी देकर जबरन वहाँ ले जाना ।' अगर दृष्टि आत्मलक्षी होगी तो ऐसा कहने का तुम्हारा मन होगा । जीव की दौड़, जितनी की ओर है, उतनी आत्मा की ओर नहीं है । बहुत-सी बार गौचरी जाते हुए मैंने दे मेरे श्रावकभाई स्टेशन जाते होंगे तो उनकी दृष्टि प्रायः स्टेशन की ओर होती है एकाग्रदृष्टि (स्टेशन आदि की ओर) होती है कि साधु-साध्वीजी उसे सामने मि तो भी उस भाई को पता भी नहीं लगता । कदाचित् हमारी ओर दृष्टि पड़ जा प्रायः खड़े नहीं रहते । किस कारण ? क्योंकि जल्दी स्टेशन पहुँचकर गा है । जरा-सी देर वन्दना करने या सुख-साता पूछने के लिए खड़ा रहूँगा मैं तुमसे पूछती हूँ कि मान लो तुम दौड़धूप करके स्टेशन जा और उनकी दृष्टि एक हो गई तो क्या व

पकड़ोगे या दामाद को लेकर घर जाओगे ? (श्रोताओं में आवाज - ऐसे मौके में, तो दामाद मिले तो उनको साथ लेकर घर जाना ही पड़ता है, उस समय ट्रेन चूक जाय तो परवाह नहीं) किन्तु याद रखना, तुम्हारे दामाद से अधिक पर्वाधिराज पर्युषण आत्मस्वरूप की पहचान करने का सन्देश लेकर अपने आंगन में आए हैं । वे ललकार कर कह रहे हैं - हे चेतन ! अब तू कहाँ तक सोया रहेगा ? वे आत्मा को जगाते हुए कहते हैं -

आतम जागोने हवे शान्ति नहि रे मळे,
आ तो मायाना मिनारा, ए तो तूटी रे जवाना ।
विभावना वायरे आ जीवड़ो अटवायो,
राग अने द्वेष थकी बहु मुंझायो ।
कर्मो लाग्या छे अपार, दुःखनो आवे नहि पार ॥...

इस चेतनदेव के सुमति और कुमति नाम की दो पत्नियाँ हैं । उनमें से स्वरूप में रमण करनेवाली सुमति नाम की पत्नी कहती है - "हे चेतनराजा ! कबतक 'पर' के संगी-साथी बनकर फिरोगे ? अब स्व-घर में आओ !" तुम्हारी पत्नी क्या तुम्हें इस तरह कभी जगाती है ? जो स्वयं परभाव में रमण करती हो, वह तुम्हें कहाँ से जगाएगी ? (हँसाहँस) महापुरुष कहते हैं कि "यह संसार मायाजाल है । इस मायाजाल में जीव आशा के मिनारे बांधकर बैठ गया है । परन्तु इसे पता नहीं है कि आशा के यह मिनारे, कच्ची मिट्टी के मिनारे जैसे हैं । उन्हें टूटते देर नहीं लगेगी ।" जहाँ देखो वहाँ, संसार की मोह-माया में फंसे हुए जीव माया के मिनारे बांध रहे हैं ।

सेठ का दृष्टांत : एक दफा एक सेठ ने बिल्डिंग-इंजीनियर को बुलाकर एक सुन्दर बंगले का निर्माण कर देने को कहा । इंजीनियर ने कहा - "सेठ ! पाँच लाख रुपये लगेंगे ।" सेठ ने कहा - "ठीक है, मैं तुम्हें तीन लाख रुपये एडवांस दे देता हूँ । दो लाख रुपये बाद में दे दूंगा ।" सेठ ने बंगला बांधने का काम इंजीनियर को सौंप दिया । इंजीनियर सुन्दर बंगला तैयार करके सेठ को बंगला देखने के लिए आने को कहा । सेठ ने देख लिया कि बंगला तैयार हो गया है । अतः अच्छा दिन देखकर कलश-स्थापन करने का निश्चय किया । बंगले में कुम्भ-स्थापन करने के दिन सेठ ने इंजीनियर को बुलाकर कहा - "आपने बंगला सुन्दर बनाया है । आपका काम देखकर मुझे बहुत खुशी हुई है । मेरे हृदय में उमंग उठी है, इसलिए मैं यह बंगला आपको भेंट देता हूँ । मैंने तीन लाख रुपये तो आपको दे दिये हुए हैं । और अब यह बंगला बाकी रकम के पेटे दे देता हूँ ।" यह सुनकर इंजीनियर रोने लगा । ऐसा बंगला इनाम में मिलता हो तो रोने का क्या प्रयोजन ? इसका रहस्य आपलोगों को कुछ समझ में आया ? असल में इंजीनियर ने बंगला बांधने में कपट किया था । तीन लाख रुपये पहले से हाथ में आ गए, इसलिए बंगले के निर्माण में सीमेंट कम मात्रा में और रेत ज्यादा मात्रा में इस्तेमाल की । अगर इसे पता होता कि यह बंगला मुझे ही इनाम में मिलनेवाला है, तो ऐसा न करता । आपलोग समझ गए न कि मकान मिलने पर भी क्यों दुःख हुआ ? आपको भी पुण्यरूपी

सेठ ने मनुष्य जन्म दिया, और प्रेरित किया कि मनुष्य जीवनरूपी बंगले का तुम्हें सुन्दर निर्माण करना है, परन्तु तुमने इस जीवन में धर्माचरण करने और पुण्यवृद्धि करने के बदले अहिंसा, तप, संयम, दया, क्षमा, मानवता आदि गुणों का सीमेंट बहुत कम मात्रा में डाला, ज्यादा मात्रा ऐश-आराम, असंयम, दानवता, पशुता आदि की रेत डालकर मनुष्य-जीवनरूपी बंगला कच्चा बना डाला, पक्का नहीं बनाया। यानी आराधना कम और विराधना ज्यादा की। अतएव जिंदगी के अन्तिम क्षणों में उक्त इंजीनियर की तरह रोने का अवसर आता है। इसलिए मैं कहती हूँ कि तुम्हें कभी ऐसा दुःख, प्रश्चात्ताप हुआ है, कि मुझे उत्तम मनुष्यजीवन मिला है, पुण्यरूपी श्रेष्ठी ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की सम्यग् आराधना-साधना करके मोक्ष पद-परमात्मपद प्राप्त करने का सुअवसर दिया, परन्तु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में पड़कर उस परम उपलब्धि को व्यर्थ खो दिया। जैसे किसी मनुष्य को पुण्ययोग से दस बोल मिले, किन्तु वह जुआ, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, कामवासना, स्वार्थन्धता आदि में पड़कर धन को खो दे, सत्ता की कुर्शी भी चली जाए तो उसे कितना दुःख होता है? और तो और तुम्हारा पड़ोसी धनाढ्य हो गया हो, और तुम उससे भी अधिक काबिल होते हुए भी गरीब हो गए तो भी तुम्हें दुःख का वेदन होता है। इसी तरह अन्तकृद्दशासूत्र द्वारा तथा जैन शास्त्रों द्वारा तुम जान गए हो कि जैसे असंख्य साधक अनन्तज्ञानी हो गए, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। इस वास्तविकता को जानकर भी तुम संसार की मोहमायारूपी अटवी में भटकते रहे।

बन्धुओं! अधिक क्या कहूँ? ज्ञानीपुरुषों की दृष्टि में दुर्जय संग्राम में दस लाख सुभटों पर विजय प्राप्त करने अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करनेवाला ही सच्चा विजेता है। आत्मा अनन्तगुणों का खजाना है। अनन्त वैभव-स्वरूप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनेक गुण आत्मा में निहित है, पर आज वे सुषुप्त हैं, कुण्ठित हैं, आवृत हैं। उन गुणों को प्रगट करने, अनावृत करने, जगाने का कार्य करना है। अगर निज स्वरूप का माहात्म्य समझ में आ जाए तो जड़ का, भौतिक साधनों का महत्त्व घट जाय। जिसे आत्मस्वरूप का भान नहीं है, उसे जड़ में, पंचभूतों में रमण करने में आनन्द-आनन्द आता है। जब यह तथ्य हृदयंगम हो जाएगा कि आत्मा में ही सम्यक्ज्ञान-दर्शन, सच्चा सुख और आत्मशक्ति पड़ी है, उसी में तन्मयता, मग्नता एवं तल्लीनता आएगी और जब आत्मलक्षी तप, संयम, ध्यान आदि में मस्त और मग्न बनते जाओगे, तब इस संसार और सांसारिकता को भूलते जाओगे। इस मनुष्यजीवन में जो भी आत्महितलक्षी, आत्मशुद्धि की साधना कर लोगे, वही साथ में आनेवाली है। भौतिक-सुख तो तुम्हारे जीते जी, तुम्हारे देखते-देखते कभी भी चले जाएँगे। पुण्यवानी घटते या समाप्त होते क्या होगा? इसका पता नहीं है। तुम आज प्रत्यक्ष देख रहे हो कि एक वक्त जो अच्छे धनसम्पन्न थे, वे अपने काले कर्मों के कारण आज जेल में सड़ रहे हैं। ये मोटरगाड़ी, बाग-बगीचे महल आदि सब यहीं के यहीं रह जाएँगे, अथवा तुम रह जाओगे और ये सब चले जाएँगे, नष्ट हो

जाएँगे । तब तुमको इनके बिछोह का अत्यन्त दुःख होगा । अतः समय रहते सावधान होकर त्याग, तप, संयम आदि सत्कर्मो का आचरण कर लोगे तो दुःखी नहीं होना पड़ेगा । तुम्हारा जीवन सफलता और सुधार की चरम सीमा पर पहुँच जाएगा ।

सच पूछो तो तुम्हारा सुख तुम्हारे अन्तर में है । अन्तर में डुबकी लगाओगे तो आत्मा का प्रकाश मिलेगा । अनादिकाल से जीव ऐसा सच्चा सुख प्राप्त न कर सका, इसका एक ही कारण है कि जिस दिशा में सुख मिलनेवाला था, जीव ने उसकी अपेक्षा विपरीत दिशा में प्रयाण किया है । धर्म करते समय भी आचरण शुद्ध नहीं रखा । एक कहावत है – 'हाथी के दांत दिखाने के और तथा खाने के और ।' आज के मानव की ऐसी दशा है । आज ऊपर से व्यक्ति धर्मात्मा, दानवीर और दयालु दिखाई देता है, परन्तु उस के आन्तरिक जीवन में झांककर देखेंगे तो वह रागद्वेष की, काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया की कलियुगी रामायण चलती होती है । कषायों और नोकषायों ने अन्तर में दृढ़ता से अपना आसन जमा रखा है कि इन सब दुःस्थितिओं में आत्मा फंस जाता है । उस समय आत्मा भान भूल जाता है कि सब मिलकर मेरे पर हावी हो जाएँगे, मुझे दगा देंगे । वास्तव में कर्म आत्मा को रमाते हैं । वे (कर्म) कभी तो आत्मा को भौतिक-सुख के शिखर पर चढ़ा देते हैं, तो कभी दुःख की गहरी खाई में धकेल देते हैं । चूंकि आत्मा को अपनी शक्ति का भान नहीं होता । यही कारण है कि अनन्त आत्मिक ऐश्वर्य का स्वामी आत्मा जड़ (भौतिक एवं परभावनिष्ठ पौद्‌गलिक) सुखों की भीख मांग रहा है । वस्तुतः आत्मा तो शाहंशाह का शाहंशाह है । किन्तु परद्रव्यों में स्वत्व (आत्मीयत्व) मानकर भौतिक-सुखों के पीछे दीवाना और भिखारी हो गया है ।

बन्धुओं ! आत्मा का शाश्वत और स्थायी घर है – मोक्ष । मोक्ष को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम तो जीव को वीतराग-सर्वज्ञ वचनों पर श्रद्धा, निष्ठा और भक्ति-बहुमानता रखनी पड़ेगी । भगवान् महावीर ने 'उत्तराध्ययन सूत्र' के मोक्षमार्ग नामक २८वें अध्ययन में स्पष्ट कहा है –

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥३०॥

इसका भावार्थ यह है कि जबतक जीव में सम्यग्दर्शन नहीं आता, तबतक वह चाहे जितना ज्ञान कर ले, वह सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के विना चारित्रगुण भी सम्यक् नहीं होता । सम्यक्चारित्रगुणहीन को मोक्ष नहीं होता, मोक्ष प्राप्त हुए विना परम आत्मिक सुख-शान्ति (निर्वाण) प्राप्त नहीं होगी ।

संक्षेप में आशय यह है – मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि प्राप्त होनी चाहिए । जबतक जीव सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक मोक्ष प्राप्ति की योग्यता उसमें नहीं आती । सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान सम्यक् नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के विना चारित्र भी सम्यक्, शुद्ध एवं निरतिचार नहीं होता । शुद्ध सुचारित्र के विना

मोक्ष और अन्त में निर्वाण प्राप्त नहीं होता । यानी मोक्षप्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों का साथ-साथ होना अनिवार्य है ।

जब जीव को मोक्ष की रुचि जगेगी, तब स्वाभाविक है, उसकी परपदार्थों के प्रति प्रीति या ममता छूट जाएगी । मोक्ष की रुचिवाला जीव संसार में रहता है, उसे संसार के प्रत्येक कर्तव्य में वर्तमान की अपनी भूमिका के अनुसार जुड़ना पड़ता है, फिर भी वह चाहे तो अन्तर में उन-उन पर-द्रव्यों के प्रति उदासीन, निर्लिप्त, ममता-मूर्छा से रहित या प्रीतिविहीन रह सकता है । परन्तु जिसे आत्मा की, आत्मस्वरूप की, आत्मा-अनात्मा की पहचान या परख नहीं है, वह राग-द्वेष द्वारा बारबार मसला जाता है । वह क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायों और नोकषायों में जुटकर अपनी आत्मा को मलिन बना लेता है । जैसे बाहर से धूल-मिट्टी में खेलकर आए हुए बालक को उसकी माता नहला-धुला कर स्वच्छ बनाती है । वैसे पर्युषणपर्वरूपी माता अनादिकाल से क्रोध-मानादि कषायों, नोकषायों, राग-द्वेष, ईर्षा आदि में और इन्द्रिय-विषयों में से लिपटे हुए मलिन आत्मा को शुद्ध बनाती है । परन्तु मोह-माया में ग्रस्त आत्मा को शुद्ध बनने की लगन या तड़पन नहीं होती, तब कितने ही पर्युषणपर्व आ जाएँ, वह मलिन का मलिन रहता है । वह अपने घर का ज्ञाता-द्रष्टा अभी तक हुआ नहीं है । जैसे कि कहा जाता है - अगर पुत्रवधू बिगड़ती है तो घर को उजाड़ बना देती है और यदि पुत्र बिगड़ता है तो खराब मित्रों के कुसंग में चढ़कर तथा मद्यपान, परस्त्रीगमन, मांसाहार, धूतक्रीड़ा आदि कुव्यसन के कारण बिगड़ता है तो करोड़ों की सम्पत्ति का सफाया कर देता है । पुत्र-पुत्रवधू कुसंग में चढ़ जाएँगे तो बिगड़ कर वे इस भव का ही नुकसान करेंगे, किन्तु यदि अपना चेतनदेव यह पुद्गलों के कुसंग में चढ़कर मोहमदिरा का पान करके विषय-कषायों के कीचड़ में पड़ जाएगा तो अनेक भवों को बिगाड़ लेगा ।

ज्ञानीपुरुष कहते हैं - **"जिसने आत्मतत्त्व को पहचाना, उसने कुछ पहचाना, जिसने आत्मतत्त्व को आराधा, उसने कुछ आराधा, और जिसने आत्मतत्त्व को साधा (आत्मलक्षी साधना की), उसने कुछ साधा ।"** तू बड़ा वकील बन जाय, लेखक या प्रोफेसर बन जाय, डोक्टर या सर्जन बन जाय, इंजीनियर या सोलीसिटर बन जाय, यानी चाहे जैसा डिग्रीधारी बन जाय, महान् विद्वान या वक्ता बन जाय, किन्तु जबतक तत्त्व की पहचान नहीं हुई, तबतक सभी डिग्रियाँ निकम्मी हैं, केवल पेट भरने के लिए हैं, आत्मा के चिन्तन, मनन, शोधन, विकास या उन्नति के लिए निरर्थक हैं । अतः विचार करो -

मानवजीवन पाकर जीव इतना भी न जाने तो उसका जन्म निष्फल है । आज जीव को अधिकाधिक जानने की इच्छा (जिज्ञासा) होती है, परन्तु आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) नहीं होती । कपितय लोग वैज्ञानिक शोध-खोज के पीछे पागल बने हैं, परन्तु विचार करने से पता लगता है कि यह सब शोध-खोज संहारक है । एक बम हजारों जीवों का संहार कर देता है । आज विज्ञान ने कितने विनाश का सर्जन किया है । यह

रुचिवाले थे । अतः दोनों मित्र रोज एकत्र मिलकर आध्यत्मिक चर्चा-विचारणा करते थे । ज्ञानी आत्मा से ज्ञानी मिले या धर्मिष्ठ को धर्मिष्ठ मिले तो बहुत आनन्द आता है ।

कई घंटों तक सेठ आध्यात्मिक चर्चा-विचारणा करने लगे कि सद्धर्म का स्वरूप कैसा है ? आत्मा का स्वरूप कैसा है ? इस बात की शोहरत सारे गाँव में हो गई । इस कारण जिनके यहाँ धर्मिष्ठ सेठ ठहरे थे, उनके घर में जिज्ञासु जीवों की भीड़ उमड़ने लगी । सेठ के तत्त्वज्ञान को देखकर सभी उनके चरणों में झुक जाते थे । कहते - "तत्त्वज्ञान की बातों को यह कैसे रोचक दृष्टांतों और युक्तिओं से हमें समझाते हैं !" सेठ उस गाँव में बहुत दिनों तक रहे । लोगों की जिज्ञासा बहुत बढ़ने लगी । एक तो सेठ का ज्ञान प्रचुर था । दूसरे, सेठ स्वयं पवित्र और चरित्रसपन्न थे । इस कारण उनका बहुत् अच्छा प्रभाव पड़ता था । लोग उनकी वाणी सुनकर मुग्ध बन जाते थे ।

सभी लोग सेठ की खूब प्रशंसा करने लगे । तब सेठ नम्रता से कहते -"भाई ! मेरे में क्या है ? मैं तो एक संसारी जीवड़ा हूँ । मैं त्यागी साधुवर्ग की तुलना में रत्तीभर भी नहीं आ सकता । आप किसी त्यागी सन्तपुरुष के पास जाकर इसी बात को सुनोगे तो आनन्द आएगा । क्योंकि त्यागी पुरुषों के जीवन में जो आध्यात्मिक शक्ति और सम्पदा है, वह मेरे जीवन में नहीं है ।"

बन्धुओं ! सांसारिक गृहस्थ चाहे जितना विद्वान हो, तथा दूसरी ओर त्यागी महाव्रती नवदीक्षित संत हो, जो अभी कुछ खास शास्त्र आदि पढ़ा नहीं है, किन्तु वह अष्ट-प्रवचनमाता का यथार्थ रूप से पालन करता हो, वैसा संत अपनी सादी-सीधी मातृभाषा में दो शब्द भी बोलेगा, और उसका जो प्रभाव पड़ेगा, वह सांसारिक गृहस्थ के वचन का नहीं पड़ेगा, क्योंकि त्याग में प्रबल शक्ति है । त्यागी संत जो कुछ भी बात कहता है, वह जीवन में उसका (व्रतनियमादि का) पहले आचरण करके फिर कहता है । इसलिए आचार-सहित उच्चारण का सामनेवाले पर अच्छा असर पड़ता है । (इस सम्बन्ध में महासतीजी ने एक सन्त और भोलेभाले गोपालक का दृष्टान्त दिया था)

संत और ईर्ष्यालु का दृष्टांत : संत के उपदेश का जो प्रभाव पड़ता है, वैसा प्रभाव सांसारिक गृहस्थ का नहीं पड़ता । उत्तम पुण्यवान् धर्मिष्ठ सेठ की लोग बहुत प्रशंसा करने लगे । तब सेठ ने सरलता से नम्रतापूर्वक कहा - "भाईओं ! यह सब मेरे गुरुदेव का प्रताप है । उनके पास से सुनने से तुम्हारे हृदय का जो परिवर्तन होगा, वह मेरे से नहीं हो सकता ।" इस सेठ को तो प्रशंसक आलोचक या निन्दक दोनों के प्रति समभाव था । किन्तु जब इस सेठ की घर-घर में प्रशंसा होने लगी, वह एक ईर्ष्यालु मनुष्य से सहन नहीं हुई । उसके मन में ऐसे विचार उमड़ने लगे - 'यह दुनिया कैसी है ? जिसके गुण गाने लगती है, बस, फिर उसके ही गुण गाती जाती है । बस ! इसी में ही विद्वत्ता है, और तो सब निरक्षर भट्टाचार्य हैं; इसीमें ही सब गुण हैं, इसीके ही सब बखान करते हैं, दूसरों के क्यों नहीं ? क्या दूसरे किसी में ऐसे गुण नहीं हैं ?"

पर्युषणपर्व के इन पवित्र दिवसों में क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों-पापस्थानों को दूर करके सद्गुणों को अपनाओ। दान, शील और तप की भावना से आत्मा को भावित करो। आत्मस्वरूप की पहचान करो। वर्तमान में आप अपने आपको भूल गये हैं। आपके जीवन की राह बदल गई है। आध्यात्मिक अनुभव-रस का अभ्यास आप भूल गए हैं। वर्तमान युग में सबसे बड़ी आवश्यकता है – अपने आपकी – आत्म-स्वरूप की पहचान करके आत्मा में रमण करने की। परन्तु आज अरूपी आत्मा रूपी पुद्गलों-भौतिक साधनों के पीछे पड़कर अपने अरूपी स्वभाव को भूल गया है और रूपी पुद्गलों की ममता-मूर्च्छा में पड़ा है। जिसके जीवन का ध्येय उच्च है, वह उसके प्रति सतत लक्ष्य रखकर विचारपूर्वक व्यवस्थित कार्य करता है। नाविक जब नौका को रवाना करता है, तब उसका अपना गन्तव्य-स्थान (पहुँचने की बंदरगाह) निश्चित किया हुआ होता है। इस प्रकार आप जन्मे, जीवनयात्रा शुरू की, संसारसागर में जीवन नौका द्वारा यात्रा निश्चित की, पर प्रश्न यह है कि आप किसलिए जन्मे ? जीवनयात्रा किसलिए शुरू की ? क्या कभी इसका विचार किया है ? जीवन में जिसके यह विचार नहीं है, लक्ष्य निश्चित नहीं है, उस जीवरूपी नाविक की दशा बन्दरगाह (गन्तव्य-स्थान) के निर्णयविहीन नाविक जैसी है। ऐसे मानव को कोई किनारा या कोई बन्दरगाह हस्तगत नहीं होता। वह इधर-उधर जन्म-मरणरूपी जंगल में भटकता रहता है। परन्तु जिसे अरूपी आत्मस्वरूप को पाने की तमन्ना जागी है, वह अपना ध्येय और गन्तव्य-स्थान को लक्ष्य में रखकर कार्य करता है।

रूपी का रंग है – मिथ्यात्व और अरूपी का रंग है – सम्यक्त्व। मिथ्यात्व आत्मा सत्य-स्वरूप की पहचान नहीं होने देता। इस कारण रूपी काया का संग करके जीव अरूपी आत्मा का रंग भूल गया है। काया का श्रृंगार करने और सुसज्जित करने लिए कितने साधन रखते हो ? अन्त में तो यह काया यह सब छोड़कर चली जानेवाली है अरूपी आत्मा ही। शाश्वत रहनेवाली है। शाश्वत आत्मा को श्रृंगारित करने के लिए कुछ साधन रखे हैं क्या ?

ज्ञानीपुरुष कहते हैं – "यह अवसर चूकने जैसा नहीं है, क्योंकि पुनः ऐसा अपूर्व अवसर हाथ में आना अतिदुर्लभ है।" अतः बराबर ठीक निशाना साधकर मोहराजा पर ऐसा प्रहार कर, ताकि मोहनीय कर्म का समूल निकन्दन निकल जाय। तुझे इस समय वास्तविक मौका मिला है। मोहराजा तेरा कट्टर दुश्मन है। इस दुश्मन ने तुझे अनन्तबार पछाड़ा है। इस समय तू उससे जरा भी पीछे न रहना। मोहराजा ने तेरे बिगाड़ने में जरा भी कमी नहीं रखी है। अतः तू अपना प्रबल पराक्रम (आत्मबल-वीर्य) का स्फोट करके इस वक्त तू इस दुश्मन को ऐसा पछाड़ कि वह पुनः उठ न सके। अतः तू मिले हुए इस कीमती अवसर को जरा भी मत चूकना। आश्चर्य की बात तो यह है कि कर्म जड़

होते हुए भी चेतन को अनेक प्रकार से नाच नचाता है। बाघ बकरी को खा जाता है, किन्तु इसके विपरीत यदि बकरी बाघ को खा जाए तो मनुष्य के लिए आश्चर्यजनक बात है। बाघ के आगे बकरी की क्या ताकत है? वैसे ही अनन्तशक्ति की धनी आत्मा जब स्वरूप में स्थित न हो, और जड़-पुद्‌गलों में आसक्त हो गया हो, तब जड़ पुद्‌गल उसे थका देते हैं। उदाहरणार्थ - जैसे वन में सिंह गर्जना करता है तब सभी वनचर प्राणी भयभीत होकर भागने लगते हैं। वैसे ही सोया हुआ चैतन्यसिंह एक बार भी स्व-स्वरूप में जागकर सिंहगर्जना करे तो उसे घेरे हुए अष्टविध कर्मरूपी भेड़-बकरों को भागे बिना छुटकारा नहीं है। चेतनसिंह की हुंकार सुनकर कर्मशत्रु के छक्के छूट जाएँगे। आत्मारूपी सिंह स्व में सावधान रहे तो फिर क्या बाकी रहेगा? यह तो स्व को भूलकर पर में पड़ा है। इसी कारण गोता खाते हैं। संक्षेप में, आत्मा अनन्तशक्ति का धनी है। उस शक्ति को स्व की तरफ मोड़ोगे, तो कर्मबन्ध को अवश्य तोड़ सकोगे। इस सम्बन्ध में अधिक भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार कब अपने माता-पिता से मिलेगा और वह द्वारिका नगरी में आएगा, तब उसकी क्या-क्या निशानियाँ होंगी? यह सब नारद ऋषिजी भगवान् सीमंधरस्वामी से पूछते हैं और भगवान् उसका जवाब देते हैं। तथा प्रद्युम्नकुमार को कौन उठाकर ले गया? वह अभी कहाँ है? कब अपनी माता से मिलेगा और वह आएगा, तब क्या-क्या बातें बनेगी? इन सब तथ्यों के विषय में भगवान् ने नारदजी तथा पद्म चक्रवर्ती आदि के समक्ष समाधान प्रस्तुत कर दिया। अब नारदजी और पद्म चक्रवर्ती को यह जानने की अत्यन्त चटपटी लगी है कि प्रद्युम्नकुमार को उठाकर ले जानेवाले देव के साथ प्रद्युम्नकुमार का क्या-क्या वैरभाव था? इसलिए ये दोनों पूछते हैं - "प्रभो! प्रद्युम्नकुमार और उस देव का पूर्वभव में क्या वैर था? इसे कृपा करके आप फरमाइए।" इस पर भगवान् सीमंधरस्वामी प्रद्युम्नकुमार के पूर्व-भव का वृत्तान्त कहते हैं। सुनो -

जम्बूद्वीप के पवित्र भरतक्षेत्र में धन-धान्य से समृद्ध देश है, उसमें शालिग्राम नामक एक नगर है। वहाँ...

> **सोमदत्त ब्राह्मण वहाँ रहता, अग्निमिता है नार।**
> **अग्निभूति और वायुभूति हैं, दोनों पुत्र उदार हो ॥**

शालिग्राम नामक नगर में सोमदत्त नाम का वेद-वेदान्त का ज्ञाता एक ब्राह्मण रहता था। उसकी अग्निमिता नाम की पत्नी थी। वह ब्राह्मण बहुत सुखी था। नगर में उसका बहुत सम्मान था। ये दोनों पति-पत्नी संसार-सम्बन्धी सुखभोग कर रहे थे। एक बार अग्निमिता ब्राह्मणी गर्भवती हुई। समय पाकर उसने पुत्रयुगल (दोनों जोड़ले पुत्रों) को जन्म दिया। उनमें से एक का नाम-अग्निभूति और दूसरे का नाम वायुभूति रखा गया।

बन्धुओं ! जीव जैसा कर्म करता है, उसका फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। पुण्य (शुभकर्म) का उदय हो तो उसे सुख मिलता है। किन्तु अबाधाकाल पूरा होते ही कर्म उदय में आकर फल भुगवाने के लिए तत्पर रहता है। देखिए, रुक्मिणी कृष्ण को कितनी प्रिय थी ? उसके मुख से निकले हुए बोल को श्रीकृष्णजी झेलते थे। प्रद्युम्नकुमार उनका लाडला पुत्र था। उसका जन्म-महोत्सव कितने ठाठबाठ से मनाया गया था ? क्या ऐसे पुण्यवान् जीव को कर्मों ने छोड़ा है ? व्याख्यान के आरम्भ में भगवान् की स्तुति बोली जाती है। उसमें हम क्या बोलते हैं ? - मा हणो... मा हणो... हे भव्यजीवों ! किसी भी जीव का हनन (हिंसा) मत करो। हनन (घात या हिंसा) करोगे तो तुम्हें भी हनन का शिकार बनना पड़ेगा। किसी जीव के साथ वैर करोगे तो वैर (का फल) भोगना पड़ेगा। बिनाभोग जीव को छुटकारा नहीं है। यदि इतने शब्द तुम्हारे हृदय को छू जाएँ तो पाप करने में कटौती हो जाएगी। खंधकमुनि के जीव ने एक भव में मजाक ही मजाक में आसक्तिपूर्वक काचर छीला (काचर की छाल उतारी) - उसके फलस्वरूप साधुजीवन में उनके शरीर की चमड़ी उधेड़ी गई। अतः कर्मबन्धन करते समय ख्याल रखो। इस प्रद्युम्नकुमार ने पूर्वभव में कैसा कर्म बांधा था, जिसके कारण उसे जन्म के ६ दिन बाद ही माता से वियोग हो गया। किन्तु उसका पुण्यबल प्रबल था, जिससे वह विद्याधर उसे (अपना पुत्र बनाकर) ले गया। उसके यहाँ बहुत सुख पाया। किन्तु उसको माता से विछोह हुआ, तथा उसकी माता रुक्मिणी ने कौन-सा पाप किया था, जिसके कारण (प्रसव के ६ दिन बाद ही पुत्र का वियोग हुआ यह बात) खासतौर से ध्यानपूर्वक सुनने योग्य है।

सोमदत्त ब्राह्मण के यहाँ दो पुत्रों का जन्म हुआ। अत्यन्त लाड-प्यार से उनके माता-पिता अपने दोनों पुत्रों का पालन-पोषण और रक्षण करते हैं। समय पाकर दोनों भाई बड़े हुए।

विद्या में पारंगत हुए दोनों भाई : अग्निभूति और वायुभूति दोनों बड़े हुए, तब उनके पिता ने व्याकरण, छन्द, ज्योतिषशास्त्र, निरुक्ति, कल्प तथा शिक्षा में और चार अंगों सहित चारों वेदों में, एवं मीमांसा, न्यायशास्त्र, धर्मशास्त्र और पुराण का अभ्यास कराकर उन्हें इन विद्याओं में पारंगत बनाये। दोनों लड़कों के जवान होने पर दो रूपवती कन्याओं के साथ दोनों का विवाह किया। रूप, धन, यौवन, विद्याध्ययन, ब्राह्मणजाति, लोकप्रतिष्ठा तथैव दोनों भाइयों की सुन्दर जोड़ी इन सात गुणों से युक्त होने के कारण दोनों भाइयों के मन में तीव्रतर अभिमान ने डेरा डाल दिया। वे दोनों यों मानने लगे कि नगर में हमारे जैसा कोई भी ज्ञानी नहीं है।

ज्ञान प्राप्त करना आसान है, किन्तु उसे पचाना बहुत ही कठिन है। कोई व्यक्ति उनसे कुछ पूछने आता, उसे वे दोनों भाई दुत्कार देते और उसका मजाक उड़ाते थे।

शालीग्राम नगर में नन्दीवर्धन मुनि का आगमन : ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अनेक शिष्यों के परिवार सहित उस नगर में नन्दीवर्धन नाम के महान् ज्ञानी संत पधारे। वे शालीग्राम नगर के बाहर एक सुन्दर उद्यान में वनपालक की आज्ञा लेकर

ठहरे। नगर में नन्दीवर्धन मुनि के पदार्पण के समाचार पहुँच गए। इसलिए नगरजनों के झुंड के झुंड आनन्दपूर्वक मुनिवरों के दर्शन करने और उनकी वाणी सुनने के लिए जा रहे थे। उन्हें देखकर ब्राह्मणपुत्रों ने पूछा - "तुम सब कहाँ जा रहे हो ?" तब नगरजनों ने कहा - "तुम लोग अभी आकाश में से नीचे उतरे हो या पृथ्वी को फाड़कर बाहर आए हो ? क्या तुम्हें पता नहीं है कि सुर, असुर और मानवों के पूजनीय, तीन ज्ञान से विभूषित और दशविध श्रमण धर्म के पालक नन्दीवर्धन गुरु नगर के बाहर उद्यान में पधारे हैं। उनके दर्शन और उपदेश का लाभ लेने के लिए हम जा रहे हैं।" यह सुनकर दोनों भाई क्रोध से आगबबूले हो गए। अब वे दोनों अपने ज्ञान से गर्वित होकर मुनि को कैसे-कैसे अपशब्द कहेंगे और वहाँ क्या होगा ? इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

व्याख्यान - ५२

भादवा सुदी १, बुधवार | ता. २५-८-७६

पर्युषणपर्व में क्या करें, क्या न करें ?

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

पापों को प्रज्वलित करके आत्मा को पुनीत बनाने का अगर कोई पर्व हो तो वह है - पर्वाधिराज पर्युषणपर्व। पर्युषणपर्व के आने पर भव्य आत्माओं के हृदय हर्ष से नाच उठते हैं। सूर्य का उदय तो प्रतिदिन होता है। वह सूर्योदय सर्व मनुष्यों ही नहीं, पशु-पक्षियों का भी आनन्दप्रद होता है। किन्तु सूर्योदय प्राप्त करने का कार्य आठ, दस या पन्द्रह दिन के लिए बंद हो जाय तो जगत् में हाहाकार मच जाता है। जैसे सूर्योदय प्रतिदिन जगत् के प्राणियों के लिए आनन्ददायक बनता है, वैसे ही प्रतिवर्ष आनेवाला पर्युषणपर्व भव्यात्माओं के लिए आनन्ददायक बनता है। प्रतिवर्ष पर्युषणपर्व का पदार्पण मानव के मन-मस्तिष्क में नई ताजगी प्रदान करता है। साथ ही संसाराभिनन्दी जीवों को आत्मानन्दी बनाता है।

प्रत्येक धर्मवाले अपने धर्म और अपने धर्म की परम्परा को टिकाये रखने के लिए अथवा प्रचार-प्रसार करने के लिए अनेक प्रकार के पर्वो को व्यवस्थित रूप से मनाते हैं। जैसे मुस्लिम रमजान महीने में रोज़ा करते हैं। ईसाई नाताल के, हिन्दूलोग नवरात्रि, दीपावली, होली इत्यादि पर्वो को मनाते हैं। परन्तु अनेक पर्वो में दान धर्म की आराधना करके परिग्रह के प्रति ममता-मूर्च्छा त्यागो, अब्रह्मचर्य के कीचड़ में से निकलकर ब्रह्मचर्य का पालन करो, विविध तपश्चर्या करके आहारादि की संज्ञा के बन्धन को काटो, ऐसा वे कोई नहीं समझाते। तथा क्षमा, मृदुता, सरलता, पवित्रता, सत्यता, संयम, त्याग आदि

धर्मों को आत्मसात् करो, तथा मैत्री, प्रमोद (मुदिता), करुणा और माध्यस्थ्य, इन चारों पवित्र भावनाओं के बहते झरने में अनादिकाल से मलिन बनी हुई आत्मा को पवित्र बनाने का उपदेश या कोई कार्यक्रम अन्य धर्मों में प्राप्त नहीं है। जबकि अपने पर्युषणपर्व का पदार्पण होता है, तब दान, शील, तप और भव्य (शुद्ध या शुभ भाव) की आराधना करने की और आहारादि चारों संज्ञाओं को तोड़ना या मन्द करने की बातें होती हैं। संतों का उपदेश भी इसी प्रकार का होता है। यहाँ आरम्भ-समारम्भ करके पापकर्म का बन्ध करने की बात नहीं है। ऐसा पर्व ही आत्मा को मोक्ष की मंजिल तक पहुँचने में सहायक बनता है।

पर्युषणपर्व का अर्थ है - वात्सल्य और प्रेम-स्नेह की सरिता। यह मानव-मन में से वैर-विरोध, कलह-क्लेश के कांटों-कंकरों को निकाल कर प्रेम, वात्सल्य की सरिता बहाता है। यह पर्वाधिराज पर्युषणपर्व अपनी आत्मा पर चिपटे हुए कर्मरूपी कीचड़ को धोने के लिए वाशिंग कम्पनी है। वाशिंग में धोये हुए कपड़े सबको पहनने अच्छे लगते हैं। वैसे यहाँ भी आत्मा (पर लगे हुए मैल) को धोना है। वीतराग शासनरूपी वाशिंग कंपनी में वीतरागी (वीतराग पथ के मुख्य अनुयायी) संत धोबी बनकर कर्म के मैल को धो डालने के लिए आह्वान करते हैं कि हे मुमुक्षु आत्माओं! जागो, वीतरागवाणीरूपी पानी, सम्यक्त्वरूपी सनलाइट साबुन लेकर समता की शिला पर धर्मरूपी बड़ी लाठी से आत्मारूपी वस्त्र धोकर स्वच्छ-साफ कर लो। पर्युषणपर्व अज्ञानता में भटकते हुए जीवों को रत्नत्रय का नोलेज प्राप्त करने का कोलेज है और भवभ्रमणरोग को निर्मूल करने की डिस्पेन्सरी है। देह की व्याधियों को मिटाने के लिए आज नुक्कड़-नुक्कड़ पर दवाखाने हैं। परम उपकारी भगवान् महावीर ने भवरोग नष्ट करने के लिए होस्पिटल खोली है और साधु-साध्वीरूपी डोक्टर भेजे हैं। तुम्हारे डोक्टर तो फीस भी लेते हैं, जबकि संत (साधु वर्ग) तो फ्री ओफ चार्ज में दवा देते हैं। यह होस्पिटल प्राइवेट नहीं है, अपितु जनरल है। इसमें जिसे प्रवेश पाना हो, वे प्रविष्ट हो जाएँ और दान-शील-तप-भावना की औषधि लेकर भवरोग नष्ट करो।

इस पर्युषणपर्व के दिवसों में मोह कम हो, विषयों का वमन हो, कषायों का शमन हो और इन्द्रियों का दमन हो, यह विचार करना है। अपने पर्युषण तो आज तक बहुत-से हो गए। उनमें यह जीव समझा नहीं। अब जो पर्युषण आए हैं, या आएँगे, उनमें जितनी हो सके, उतनी आराधना कर लोगे तो भी पर्युषणपर्व सफल हो जाएगा। इन दिनों में जैसे भी हो सके, वैसे आस्रव का घर छोड़कर संवर के घर में आओ। सारे दिनभर में किये हुए पापों का प्रक्षालन करने (धोने) के लिए दो टाइम (दैवसिक और रात्रिक) प्रतिक्रमण करो। अगर शुद्ध भावपूर्वक प्रतिक्रमण करोगे तो वह कर्मों की निर्जरा (एकदेश से क्षय) करने में कारणभूत बनेगा। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के २९वें अध्ययन में शिष्य ने भगवान् से प्रश्न पूछा है -

(प्र.) "पड़िक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?"

(उ.) "पड़िक्कमणेणं वय छिद्दाणि पिहेइ । पिहिय वय छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबल चरित्ते अट्ठसु पवयण - मायासु उवउत्ते, अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ।"

पूछा गया - "प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?" भगवान् ने समाधान दिया - "प्रतिक्रमण करने से व्रतों में पड़े हुए छिद्र ढ़क जाते हैं । व्रतों के छिद्र ढ़क जाने पर शुद्ध व्रतधारी होकर जीव आस्त्रवों को रोक पाता है । फिर उसकी आठ प्रवचनमाताओं (पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप अष्ट प्र.मा) में सावधानी (उपयोग) रहती है और जीव शुद्ध चारित्र का पालन करता हुआ उसमें अपृथक् (तादात्म या तन्मय) एवं एकाग्र होकर समाधिपूर्वक संयम भाव में विचरण करता है ।" प्रतिक्रमण करने से इतना बड़ा लाभ है । परन्तु यह प्रतिक्रमण कैसा होना चाहिए ? ऐसा लाभ कब मिलता है प्रतिक्रमण से ? प्रतिक्रमण करते हुए जब साधक जहाँ-तहाँ मन को डोलने नहीं दे, तभी ऐसा लाभ मिल सकता है । 'अनुयोगद्वार सूत्र' में भगवान् ने फरमाया है - "प्रतिक्रमण करता हुआ कोई व्यक्ति शुद्ध उच्चारणपूर्वक प्रतिक्रमण करता या कराता हो, परन्तु अगर उसमें उसका उपयोग और भाव (अध्यवसाय) न जुड़ें, वह सावधान और एकाग्र चित्त न हो तो यह उसका द्रव्य-प्रतिक्रमण है, इसके विपरीत यदि वह साधक शुद्ध उच्चारण के साथ उपयोग और अध्यवसाय की एकाग्रतापूर्वक प्रतिक्रमण के साथ जुड़ जाए, तन्मय हो जाए तो वह भाव-प्रतिक्रमण कर्मों की कालिमा को धोने का साधन बन जाता है ।

अधिक क्या कहूँ ? पर्युषणपर्व प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का पर्व है । प्रतिक्रमण का भावार्थ है - पापाचरण से पीछे हटना और प्रत्याख्यान का अर्थ है - पाप नहीं करने का आत्म-संकल्प । इन मंगल दिवसों में जाने-अनजाने प्रमाद या अज्ञान से कोई भी पाप, दुष्कृत्य, बुरे काम किये हों, उसकी आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप) तथा गर्हणा करनी है । निन्दा का अर्थ है - स्वकृत दुष्कृत्यों की निन्दा (आलोचना-गर्हणापूर्वक) करना, क्योंकि परनिन्दा से तो आत्मा कर्मों से काली होती है, जबकि स्वनिन्दा से आत्मा विशुद्ध और निर्मल बनती है । अत: स्वनिन्दा और आत्मघृणा (गर्हा) करके आत्मा की मलिनता दूर करो, साथ ही आत्मा को अशुद्ध बनानेवाले विचार, वाणी और वर्तन (प्रवृत्ति) से दूर होते जाओ और पुन: उन-उन पापों को नहीं करने का दृढ़ संकल्प करो ।

पर्युषणपर्व दान, शील, तप और भाव को उन्नत बनाने का पर्व है । जो भी दान करो, वह मोह और तृष्णा की भावना को घटाने (कम करने) की भावना से, निर्मोही और अपरिग्रही बनने के स्पष्ट ध्येय से दान करो । शीलधर्म का पालन मैथुनसंज्ञा को नष्ट करने के लिए करो । तपश्चर्या के तेज से मन को तपाकर शुद्ध बनाओ । उपवास आदि तप करके स्वाद के लिए लपलपाती जिह्वादि की प्रवृत्ति का विरत हो जाओ । स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि आभ्यन्तर तप से भटकते हुए मन को आत्मा में स्थिर करो । हृदय को, अन्त:करण को सदैव सतत शुद्ध भावों - अध्यवसायों में उछलता और

धड़कता हुआ रखो । प्राणीमात्र में मेरे जैसी ही आत्मा है, फिर वह प्राणी परिचित हो य अपरिचित, दृश्य हो या अदृश्य, मगर सभी जीव (आत्मा) मेरे मित्र हैं । इस प्रकार जीव में प्रतिक्षण, प्रतिपल आत्मभाव में रहो ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में मल्लिनाथ भगवान् का वर्णन आपके समक्ष प्रस्तुत किय जा रहा है । मल्लिनाथ भगवान् के जीव ने महाबल अनगार के भव में छोटी-सी भूल के रूप में माया का सेवन किया, फिर क्या हुआ ? उत्कृष्ट साधना के कारण महाबल अनगार जयंत नामक अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए । वहाँ ३२ सागरोपम तक देवलोक के सुख भोगे । तत्पश्चात् वहाँ से च्यवकर जब शुभ नक्षत्र और शुभ योग था, समग्र विश्व में शान्ति व्याप्त थी । ऐसे समय में मिथिलानगरी में कुम्भकराजा की पुण्यवती पटरानी प्रभादेवी के उदर में गर्भरूप में उत्पन्न हुआ । उसके पश्चात् क्या हुआ ? जिस रात्रि के शुभ समय में भगवान् का जीव आकर प्रभावती देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ, उस रात्रि में प्रभावती देवी सुखशय्या में सोई हुई थी, वह कुछ जागृत और कुछ सुप्त अवस्था में थी । उस समय में चौदह उत्तम महास्वप्न देखे । शास्त्रकार कहते हैं -

"तं रयणिं च णं चोद्दस महासुमिणा....वण्णओ ।"

चौदह महास्वप्न तीर्थंकर या चक्रवर्ती की माताएँ देखती हैं । तदनुसार (भावी तीर्थंकर मल्लिनाथ की माता) प्रभावती देवी ने १४ महास्वप्न देखे । जो माताएँ ऐसे १४ महास्वप्न देखती हैं, वे महाभाग्यशालिनी बनती हैं । इतना अन्तर अवश्य है कि तीर्थंकर की माता जो १४ महास्वप्न देखती है, वे उज्ज्वल होते हैं, जबकि चक्रवर्ती की माता जो महास्वप्न देखती है, वे धुंधले (अस्पष्ट) होते हैं । वे चौदह महास्वप्न कौन-कौन-से हैं ? **पहले स्वप्न में** प्रभावती देवी **गयवर - हाथी, दूसरे स्वप्न में वृषभ - बैल । तीसरे स्वप्न में केसरी सिंह** देखा । केसरीसिंह वन का राजा कहलाता है । सियारों या मृगों आदि वनचरों की शक्ति नहीं है कि वे उसके सामने टिक सकें । ऐसा पराक्रमी सिंह स्वप्न में देखा । **चौथे स्वप्न में श्रीदेवी (लक्ष्मी), पाँचवें स्वप्न में उत्तम जाति के पुष्पों की सुगन्धित माला, छठे स्वप्न में चन्द्रमा, सातवें स्वप्न में तेजस्वी सूर्य, आठवें स्वप्न में ध्वजा, नौवें स्वप्न में अमृतपूर्ण कलश, दसवें स्वप्न में पद्म सरोवर, ग्यारहवें स्वप्न में क्षीर समुद्र, बारहवें स्वप्न में देव-विमान, तेरहवें स्वप्न में रत्नों की राशि और चौदहवें स्वप्न में निर्धूम अग्निशिखा** देखी ।

इन चौदह स्वप्नों को देखकर प्रभावती देवी जागृत हुई । ये चौदह स्वप्न शुभ के सूचक हैं । यह तो तीर्थंकर-प्रभु की माता है, इसलिए उन्होंने १४ स्वप्न देखा । किन्तु इन चौदह स्वप्नों में से एक भी स्वप्न जो माता देखती है, वह भी पवित्र और पराक्रमी पुत्र की माता बनती है । कोई मनुष्य स्वप्न में समुद्र देखे अथवा विशाल ठाठें मारते हुए समुद्र में से स्वयं को बाहर निकलता देखे अथवा स्वयं को किसी ने हाथ पकड़कर समुद्र

में से बाहर निकालता देखे तो वह स्वप्न श्रेष्ठ है। ऐसा स्वप्न देखनेवाला आत्मा (जीव) थोड़े से भवों में संसारसमुद्र को तरकर मोक्ष में जाता है। अतः ऐसा शुभ स्वप्न आने के बाद धर्मजागरिका करनी, किन्तु सोना नहीं। फिर जब तीर्थंकर भगवान् माता के गर्भ में आते हैं, तब आनन्द-आनन्द छा जाता है। उससे भी अधिक आनन्द भगवान् के जन्म होने पर प्राप्त होता है और उससे भी अधिक आनन्द होता है, भगवान् जब दीक्षा लेते हैं, तब फिर केवलज्ञान-प्राप्ति के समय और तीर्थ की स्थापना करते हैं तब और अधिक आनन्द होता है और सर्वाधिक आनन्द आता है, भगवान् जब निर्वाण को प्राप्त करते हैं तब। इस भरतक्षेत्र में अभी अपने सामने तीर्थंकर-प्रभु विराजमान नहीं हैं, परन्तु जहाँ भगवान् विराजते हैं, वहाँ उनकी अमृत रसभरी वाणी की वर्षा बरसती है, वहाँ जीव परस्पर वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष वगैरह सब भूल जाते हैं। हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसी अमृतमयी वाणी हम प्रत्यक्ष नहीं सुन सकते। फिर भी एकदम निराश होने की जरूरत नहीं है। जैसे कोई सूखी वीरान नदी हो, वहाँ कोई प्यासा मुसाफिर आकुल-व्याकुल होकर पानी-पानी करता हुआ जाता है, किन्तु नदी के निकट जाने पर उसे पानी मिलता नहीं। वह चारों ओर नजर दौड़ाता है, किन्तु सर्वत्र सूखा वीरान दिखाई देता है। इस कारण प्यास और थकान से व्याकुल बना हुआ मुसाफिर निराश होकर वापस लौट जाता है। उस समय उक्त सूखी नदी में अचानक एक पानी का गड्ढा दिखाई दिया। उस समय उसे अपार आनन्द हुआ। उस पानी के गड्ढे में से निकलता हुआ शीतल जल पीकर अपनी पिपासा शान्त की।

बन्धुओं! इस पंचमकाल में सूखे रेगिस्तान या सूखी नदी में मीठे पानी के गड्ढे के समान अगर कोई हो तो वह है - प्रभु की वाणी। इस वाणी के आधार से संत तुम्हें कहते हैं कि 'तुम दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर तप, त्याग करो, कंदमूल या रात्रिभोजन का त्याग करो; ब्रह्मचर्य का पालन करो, कषायों को शान्त, मंद या कृश (पतले) करो या छोड़ो, प्रमाद का त्याग करो।" अगर तुम उत्तम मनुष्य भव पाकर शुद्ध धर्म की आराधना नहीं करोगे तो कर्म की जंजीरों से तुम्हारी आत्मा कब मुक्त होगी? कर्मों के वश हुए जीवों ने नरक में जाकर रो-रोकर वेदनाएँ भोगी हैं। तिर्यंच में पराधीनता में असह्य दुःख सहे। यह सब वीतरागवाणी द्वारा सुनने के बाद भी अगर तुम्हें कर्मों के बन्धन खटकते न हों तो कब खटकेंगे? अरे! तुम्हारी आत्मा कब जागेगी? कबतक मोहनिद्रा में सोते रहोगे? महान् पुरुष कहते हैं -

"हे चेतनदेव! कहाँ तक मोह की मधुरनिद्रा में सोये रहोगे? जागो! नरक और निगोद में गए, वहाँ बहुत ही लम्बी रात बिताई। क्योंकि नरक का जघन्य (कम से कम) आयुष्य दस हजार वर्ष का है और उत्कृष्ट स्थिति है - तैंतीस सागरोपम काल की। तो वहाँ कम से कम दस हजार वर्ष से लेकर अधिक से अधिक तैंतीस सागरोपम का काल बिताया और निगोद में गया, वहाँ अनन्तकाल व्यतीत किया। अर्थात् - नरक और निगोद की अन्धकारभरी लम्बी रात्रि पूरी हो गई और फिर मानवभव का सुनहरा सुप्रभात प्रकट हुआ

हो । लाया हुआ खाद्यपदार्थ सभी खायेंगे, मौज उड़ायेंगे । परन्तु कर्म की सजा तो करनेवाले को भोगनी पड़ेगी । हंसते-हंसते कष्टपूर्वक चिकने बांधे हुए कर्म जब उदय में आएँगे, तब रो-रोकर भोगते हुए भी उसका अन्त नहीं आएगा । अतः कुछ समझो और कर्म की कैद में से छूटने के लिए पुरुषार्थ करो ।

वनराज केसरीसिंह ने कुंभार को देखकर मान लिया कि 'यह शाम नाम का प्राणी है । वह मेरे से अधिक बलवान है । वह अभी यहाँ आ धमकेगा और मैं उसके चंगुल में फंस जाऊँगा ।' वनराज जैसा पराक्रमी वनराज शाम से डर गया और एक कोने में जा कर छिप गया । सन्ध्या का समय था । थोड़ा-थोड़ा अंधेरा छा गया था । कुंभार को आँख से धुंधला दिखता था । गधे को ढूंढता-ढूंढता उसने कोने में छिपे हुए सिंह को देखकर मान लिया कि यह मेरा गधा है । उसका क्रोध भड़क उठा । उसने सिंह की पीठ पर तीन-चार डंडे लगा दिये । बन्धुओं ! सिंह की शक्ति कितनी होती है ? वह मनुष्य का शिकार कर सकता है । उसके बजाय सिंह मानव से भयभीत हो गया । क्योंकि उसने मान लिया कि यह शाम नाम का प्राणी मेरे से अधिक बलवान् है । परन्तु अगर वह ठीक से आँख खोलकर देखता तो उसे मालूम हो जाता कि यह कौन है ? शक्ति होते हुए भी सिंह द्वारा अपना भान भूलने से उसे मानव की लकड़ी के प्रहार खाने पड़े !

अपनी आत्मा सिंह से भी अधिक शक्तिशाली है । किन्तु विषय-कषाय, मोह, राग-द्वेष आदि में पड़कर अपनी शक्ति का भान भूलकर आत्मा की शक्ति कितनी है ? यह जानते हो न ? जहाँ प्लेन और रोकेट नहीं पहुँच पाता, वहाँ लोक के अग्रभाग (मस्तक) पर आत्मा एक या दो समय में पहुँच जाता है । ऐसी अनन्तशक्ति का स्वामी आत्मा जहाँ उपवास करने की या ब्रह्मचर्यपालन करने की बात आती है, तब मस्तक खुजलाता है । परन्तु मस्तक खुजलाने से मोक्ष नहीं मिलेगा । शूरवीर और धीर होकर (कर्म के साथ युद्ध करने हेतु) रण-संग्राम के लिए निकल जाना पड़ेगा । तीर्थंकर जैसे तीर्थंकर और चक्रवर्ती भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए ६-६ खण्ड के राज्य का त्याग करके सिंह के समान बनकर छलांग मारकर निकल पड़े, तभी उन्हें मोक्ष के सुख मिले हैं । पुरुषार्थ किये बिना मोक्ष नहीं मिला । कतिपय मनुष्यों को सिर्फ एक उपवास करने का कहें तो वे कहते हैं - "महासतीजी ! मुझे चाय का व्यसन है । मुझसे यह नहीं होगा । मेरा मस्तक दुखता है ।" यह अनन्तशक्ति का अधिपति जीव (आत्मा) व्यसनों का गुलाम बन गया है, डरपोक बन गया है । जरा विचार करो तो पता लगे कि मैं कौन हूँ ? क्या मुझमें ऐसी कायरता सम्भव है ? आत्मारूपी सिंह की ऐसी दशा देखकर ज्ञानीपुरुषों का हृदय चिन्तित हो उठता है कि अनन्तशक्तिशाली आत्मा की यह कैसी दशा ?

सोनेरी पिंजरामां पूरायो, सिंह बनी केशरीओ, (२)
गाडरना टोळामां भळीओ, विवेक कां वीसरीओ, (२)
दोड़ी दोड़ीने दोड्यो तोय, आव्यो न भवनो आरो रे... एक...

आत्मा को ललकारते हुए महान् पुरुष क्या कहते हैं ? - "हे चेतन ! तू इस भेड़ों के टोले में क्यों मिल गया है ? तेरा स्व-भाव कैसा है ? तेरा स्व-भाव है - ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में रमणता एवं पुरुषार्थ करने का । इसका विवेक भूलकर संसार के सुनहरे पिंजरे में क्यों बंद हो गया ? तेरे में मोक्ष को सर करने की शक्ति है । क्या तेरी ऐसी दशा सम्भव है ? ऐसा श्रेष्ठ मानवभव पाकर भव-बन्धन तोड़ने हों तो मोह-निद्रा में से जागकर, आँखें खोल और तेरे अपने स्वरूप को निहार ले ।"

उपर्युक्त दृष्टान्त में कुंभार ने सिंह को गधा माना और गधे ने कुंभाकार को शाम माना । इस प्रकार दोनों वास्तविकता भूलकर भ्रम में पड़ गए । सिंह भय के मारे कुंभार के आगे-आगे चलने लगा । यों आगे सिंह और पीछे लकड़ी से उसे पीटता हुआ कुंभार । दोनों एक नदी के किनारे पहुँचे । उस समय एक बब्बर शेर पानी पीने के लिए वहाँ आया था । उसने देखा कि मेरा जातिभाई इस तरह कुंभार द्वारा सताया जा रहा है । यह देख उसके मन में बहुत खेद हुआ । उसके दिल में चोट लगी । उसने तब उस सिंह से पूछा - "भाई ! यह कौन है और तुझे किसलिए मार रहा है ?" तब इस घबराये हुए सिंह ने कहा - "भाई ! तू चुप रह, बोल मत । कदाचित् यह सुन लेगा तो तुझे भी लकड़ी से पीटेगा । यह तो शाम है ।" बब्बर सिंह ने कहा - "शाम है तो उससे डरना क्यों ? तू एक बार गर्जना कर और देख उसका क्या परिणाम आता है ?" इतना आश्वासन और प्रोत्साहन मिलने पर भी इस सिंह में शूरवीरता नहीं जागी । क्योंकि उसे डर था कि ऐसा करने से मुझे अधिक मार पड़ेगी । परन्तु बलवान् सिंह के बहुत कहने से आखिर उस सिंह ने गर्जना की । सिंह भले ही अपने स्वरूप को भूल गया था, परन्तु उसका स्वभाव मिट नहीं गया था । आखिर तो वह सिंह सिंह ही था । उसकी गर्जना सुनकर कुंभार पैर से मस्तक तक कांपने लगा और भयभीत होकर वहाँ से भाग गया ।

इस आत्मा को भी संसार के सगे-सम्बन्धी और विषय-भोगों के सुनहरे पींजरे में बंद देखकर सद्गुरु जन वीतरागवाणी द्वारा सिंहनाद करके जगाते हैं कि हे आत्माओं ! अब कबतक तुम इस लुभावने संसार की गुलामी करते रहोगे ? इस मनुष्यभव का अमूल्य अवसर तुम्हें मिला है । उसमें आन्तर दृष्टि से अवलोकन करके तुम अपने स्वरूप को पहचान लो । इस भव में नहीं जागोगे तो ऐसा अवसर पुनः मिलना मुश्किल है । इन पर्युषण के दिनों में तू अपनी अपनी आत्मा को जगा लो । शूरवीर और धीर आत्माओं ने तो साधना करने के लिए तत्पर बनकर मासखमण के प्रत्याख्यान लेकर अपना आसन सुदृढ़ रूप से जमा लिया है । पहले के महापुरुष कैसी-कैसी साधना करके अपनी आत्मा को उज्ज्वल-समुज्ज्वल बना चुके थे ? इस सम्बन्ध में 'अन्तकृद्दशा सूत्र' आपके समक्ष सुनाया जा रहा है, जिसमें ९० महापुरुषों के वर्णन हैं ।

तीर्थंकर अरिष्ट नेमिनाथ प्रभु के पास त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव के पुत्र ढंढणकुमार ने भागवती दीक्षा अंगीकार की और अभिग्रह किया कि मुझे अपनी लब्धि

गुणस्थान पर पहुँचे, फिर चार घातिकर्मों को चूरचूर करके केवलज्ञान की ज्योति प्रकटाई और सर्वकर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष में आ गए। हमें भी अब इस पर्युषण के दिनों में सोई हुई आत्मा को जगाना है। जिसकी आत्मा जागृत होकर सिंह जैसी शूरवीर बनेगी, वही कर्मों को सर्वथा नष्ट कर सकेगा। समय काफी हो गया है। अधिकभाव यथावसर कहे जाएँगे।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

जनता के मुख से ज्ञानी गुरु के पधारने की बात सुनकर अग्निभूति और वायुभूति दोनों भाई अति क्रोध से तमतमा उठे और लोगों से कहने लगे - "यह फिर बड़ा विशिष्ट ज्ञानी कौन है ? इनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। ये लोग मंत्र-तंत्र के प्रयोग से लोगों को ठगते हैं और ये जैन साधु बाहर से जैसे गंदे हैं, वैसे अंदर से भी गंदे हैं। ये लोहे के गोले की तरह स्वयं तिरते नहीं, दूसरों को भी तारते नहीं।" बन्धुओं ! ज्ञान का अभिमान ऐसा ही होता है। ऐसे पवित्र मुनि को भी उन्होंने कैसे शब्द कहे ? जिसे ज्ञान पचा नहीं होता, वह गंदे डबरे के कम पानी में रहे हुए मेंढक की तरह ड्राऊं ड्राऊं करते हैं। वैसे ही ये दोनों ब्राह्मणपुत्र भी नंदीवर्धन गुरु की प्रशंसा सुनकर ईर्ष्या की आग में जल उठे और मेंदक की तरह ड्राऊं ड्राऊं करने लगे। श्रावकों ने उनसे कहा - "भाई ! तुम ऐसा न कहो। एक बार तुम दोनों उनके पास आओगे तो उनके ज्ञान का तुम्हें पता लगेगा।" यों कहकर लोग तो चले गए। उन्होंने संत के दर्शन किये और प्रवचन सुना। प्रवचन पूरा होने के पश्चात् नन्दीवर्धनमुनि के एक शिष्य सत्यभूतिमुनि गाँव में गोचरी लेने के लिए जा रहे थे। ऐसे समय में उक्त दोनों ब्राह्मणपुत्र नन्दीवर्धन-मुनि के पास वाद-विवाद करके विजय प्राप्त करने के लिए जा रहे थे। रास्ते में उन्हें सत्यभूतिमुनि का मिलन हुआ।

सत्यभूति मुनि पूछे मार्ग में, कहाँ जाओ तुम भ्राता ?
विवाद काजे जावें मुनि पासे, कैसे वे हैं ज्ञाता हो...

सत्यभूतिमुनि ने उक्त दोनों ब्राह्मणपुत्रों को जाते देखकर पूछा - "तुम कहाँ जा रहे हो ?" तब उन्होंने कहा - "नगर के बाहर उद्यान में नन्दीवर्धन नाम का एक जैन साधु आया है, उसके साथ वाद-विवाद करके उसे जीतने के लिए हम जा रहे हैं।" इस पर सत्यभूतिमुनि ने कहा - "मैं उनका शिष्य हूँ। तुम्हें मेरे गुरुजी के पास जाने की भी जरूरत नहीं है। तुम्हें जो वादविवाद करना हो, वह मेरे साथ कर लो।"

बन्धुओं ! यह सत्यभूतिमुनि छोटे थे। बड़े जितने गम्भीर होते हैं, उतने छोटे नहीं होते। अगर उनमें गम्भीरता होती तो यों नहीं कहते कि मेरे साथ वादविवाद करो। वे पहले गुरु के पास भेजते। बड़े जिस गम्भीरता से समाधान कर सकते हैं, उसे छोटे नहीं कर सकते। सत्यभूतिमुनि ने कहा, इस पर ब्राह्मण पुत्रों ने कहा - "अच्छा, ऐसा ही

हो। तेरे में कितना पानी है, यह देख लेते हैं, फिर तेरे गुरु के पास जाएँगे ।" सत्यभूतिमुनि ने पूछा - "तुम हार जाओगे तो क्या करोगे ?" दोनों भाइयों के मन में ज्ञान का अभिमान था, इसलिए उन्होंने कहा - "हारे वे दूसरे । फिर भी अगर हम हार गये तो तुम जैसे साधु बन जाएँगे ।" यों कहकर वे मार्ग में विवाद करने लगे । सत्यभूतिमुनि ने कहा - "तुम्हें जिस विषय में संशय हो, वह पूछो ।" इस पर दोनों भाइयों ने कहा - "हमारा कोई संशय है ही नहीं । हम तो पूर्ण ज्ञानी हैं । अतः आपको कोई भी संशय हो तो पूछो ।" अतएव मुनि ने उनसे पूछा - "ब्राह्मणपुत्रों ! आप कहाँ से आए हैं ? यह मुझे कहिए ।" इस पर अहंकार से भरे फुटबोल की तरह कूदफांद करते हुए ब्राह्मणपुत्रों ने हँसकर कहा - "अरे साधो ! ऐसा क्या तुम पूछ रहे हो कि कहाँ से आए ? - कहाँ से आए ? हम अपने घर से आए हैं इतना भी तुम्हें पता नहीं है, कि पूछता है ?" (हँसाहँस), तब सत्यभूतिमुनि ने कहा - "मैं तुम्हें यह बात नहीं पूछता । मैं तो तुम्हें यों पूछता हूँ कि तुम पूर्वभव में कौन थे और यहाँ कहाँ से आए हो ?" इस पर ब्राह्मणपुत्रों ने कहा - "हम पूर्वभव में कौन थे और कहाँ थे, यह हमें पता नहीं है । इस लोक में पूर्वभव-परभव की बात जाननेवाला कौन है ? हम तो यह नहीं जानते, किन्तु यदि तुम जानते हो तो हम से कहो ।"

अब आगे, वे क्या कहेंगे, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - ५३

भादवा सुदी २, गुरुवार | ता. २६-८-७६

मिथ्यात्व का करो वमन : सम्यक्त्व का करो आचमन

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

मंगलकारी पर्युषणपर्व वीतराग-प्रभु का दिव्य संदेश लेकर आए हैं । इस पर्व के चार दिवस तो व्यतीत हो गए । आज पुनीतपर्व के पंचम दिवस का स्वर्णिम सुप्रभात हुआ है । आज भगवान महावीर-प्रभु के जन्म-वाचन का मंगलमय दिवस है । जगदुद्धारक भगवान् महावीरस्वामी ने जगत् के जीवों पर अनुकम्पा का प्रपात बहाकर उद्घोषणा करते हुए जीवों से कहा - "हे भव्यजीवों ! अनन्तकाल से आत्मा चार गति, २४ दण्डक और ८४ लाख जीवयोनि में परिभ्रमण कर रही है । जिस मार्ग से जीव चल रहा है, उस मार्ग से चलते हुए जीव को युग के युग बीत गए, फिर भी अभी तक पथ पूरा कटा नहीं । इस कारण भव-भ्रमण अन्त कहाँ से आए ? यह पथ नहीं कटता, इसका मूल कारण खोजो । जीवन छाया हुआ है, इस

कारण जीव को सही रास्ता नहीं मिलता। जबतक सच्चा रास्ता नहीं मिलता, सही राह नहीं मिलती, तबतक उसका अन्त भी कैसे आ सकता है ? यह जीव अनन्तकाल से जन्म-मरण के चक्र पर चढ़ा हुआ है। अबतक अपनी आत्मा अनन्त वार जन्म-मरण कर चुका है। एक-एक जीवयोनि में जीव अनेक बार जा आया है और वहाँ जाकर भी अनन्त दुःख भोगे हैं। फिर भी जीव ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता, जिससे कि भवचक्र का अन्त आए।

बन्धुओं ! अज्ञानदशा में भटकती हुई आत्मा वस्तु के स्वरूप को समझी नहीं है। इसी कारण इस संसार में जीव अनन्त वार जन्म-मरण कर चुका है और अनन्त दुःख भोग रहा है। ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "यह संसार दुःखों से भरा है।" कहा भी है-

दुहरवं दुहफलं, दुहाणुबंधी विडंवणारवं।
संसारं जाणिऊण, नाणी न रइं तहिं कुणइ॥

"यह संसार दुःखरूप है, यानी जन्म-जरा-मरण, रोग-शोक आदि नाना दुःखों के साथ भरा हुआ है और मानव उसमें रचा-पचा रहे तो जीव को बार-बार दुःखों के साथ सम्बन्ध करानेवाला है। यानी नरक आदि के दुःखरूप फलों का देनेवाला है, दुःखों की परम्परा बढ़ानेवाला है तथा विडम्बना रूप है। अतः ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि - "संसार के ऐसे स्वरूप को समझकर इस संसार पर राग न करो।" संसार में अनन्त प्रकार के दुःख रहे हुए हैं। फिर भी भगवान कहते हैं कि-"जन्म-मरण जैसा एक भी दुःख नहीं है। बड़े से बड़ा चक्रवर्ती सम्राट हो, या सामान्य राजा हो, फिर भी वह निर्भय नहीं है।" क्योंकि जबतक जीव के मस्तक पर भव का फेरा है, वहाँ तक भय है। और भव का अन्त तभी आ सकता है, जब जीव मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व को प्राप्त करे।

जो जीव मिथ्यात्व के घातक विष का वमन कर देता है, उसका संसार कट हो जाता है। जन्म-मरण का प्रमुख (मूल) कारण है - मिथ्यात्व।

सच्ची मान्यता सम्यक्त्व है और विपरीत मान्यता मिथ्यात्व है। जो जीव मिथ्यात्व का परित्याग करके सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उसका संसार परिमित (सीमित) हो जाता है। और वह जीव देर-सवेर अवश्य ही मोक्ष में पहुँच जाता है। जबतक जीव ने सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) प्राप्त नहीं किया, तबतक वह भवाटवी में भूला-भटका संसार-यात्री है। इस भव-भ्रमण को रोकने के लिए संत-सतीजी कहते हैं - "जहाँ तक हो सके तुम संसार का राग छोड़कर धर्माराधना करो। अगर तुम कुछ भी नहीं कर सकते हो तो इतना तो करो कि अपने गाँव में साधु-साध्वीजी विराजमान हों तो उनके दर्शन अवश्य करो।" जानते हो, उससे क्या और कितना लाभ होता है ? एक दृष्टान्त द्वारा इसे समझाती हूँ -

एक दफा कोई ज्ञानी संत गाँव के बाहर उद्यान में पधारे। एक श्रद्धाशील श्रावक संत को वन्दन करने जा रहा था। मार्ग में उसे एक मिश्र दृष्टिवाला मित्र मिला। उसने

पूछा - "मित्र ! तुम कहाँ जा रहे हो ?" तब श्रावक ने कहा - "मेरे ज्ञानी गुरु पधारे हैं, उनके दर्शन करने जा रहा हूँ।" इस पर उक्त मित्र ने पूछा - " गुरु के दर्शन करने से क्या लाभ होता है ?" श्रावक ने कहा - " महालाभ होता है।" मिश्र दृष्टिवाले मित्र ने कहा - " तो क्या मैं आपके साथ दर्शन करने के लिए आ सकता हूँ ?" श्रावक ने कहा - "हाँ, खुशी से चल सकते हैं। हमारे धर्म में संतदर्शन के लिए कोई प्रतिबन्ध या भेदभाव नहीं है।" इससे उक्त मित्र ने संतदर्शन करने के लिए उत्कृष्ट भाव से पैर उठाए। इसी बीच एक अन्य महामिथ्यात्वी मित्र मिला। उसने पूछा - "आप दोनों कहाँ जा रहे हो ?" तब मिश्र दृष्टिवाला मित्र बोला - "हम दोनों संत के दर्शन करने जा रहे हैं।" तब उस मिथ्यात्वी ने कहा - "इस जैन के साधुड़े को क्या वन्दन करना है ? ये तो स्नान, मंजन आदि नहीं करते। इनके शरीर और कपड़े दुर्गन्ध मारते हैं। ये गंदे होते हैं। इन्हें वन्दन करने से क्या लाभ ?" यह सुनते ही उक्त मिश्र दृष्टिवाला वापस लौट गया - वन्दन करने नहीं गया। श्रावक ने गुरुदेव को वन्दन करके विनयपूर्वक बोला - "गुरुदेव ! मिश्र दृष्टिवाले ने वन्दन करने के लिए कदम उठाए, उसे क्या लाभ हुआ ?" ज्ञानी गुरु ने कहा - "वह काले उड़द जैसा था, किन्तु वन्दनार्थ पैर उठाए, इससे छड़ी हुई दाल जैसा सफेद बन गया। किन्तु वह ऊग नहीं सकता। किन्तु जो जीव मिथ्यात्व का छिलका उखाड़कर छड़ी हुई दाल जैसा श्वेत सम्यक्त्वी बन जाता है, उसे भव-भव भटकना नहीं पड़ता। उसका अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र संसार बाकी रहा है।"

देवानुप्रियों ! जिसने संत के दर्शन नहीं किये, केवल वन्दन करने के लिए एक पैर उठाया, उसे उससे कितना लाभ हुआ ? तुम संसार के काम करने हेतु बहुत-सी बार पैर उठाते हो, उसमें कई बार उत्कृष्ट भाव आता होगा, पर उससे कोई लाभ होता है क्या ? संसार के कार्य में कर्मबन्धन के सिवाय दूसरा कुछ नहीं होता। सम्यक्त्व की ताकत तो देखो ! शास्त्र में बतलाया है -

"अंतोमुहुत्तमित्तं पि, फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढ पुग्गलं, परियट्टो चेव संसारो ॥"

जिस जीव के अन्तर्मुहूर्त्त भी सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाता है, उसका ज्यादा से ज्यादा अर्धपुद्गल परावर्तनमात्र संसार बाकी रहता है। इससे अधिक काल तक उसे संसार में परिभ्रमण करना नहीं रहता। जिसके शरीर में जहर होता है, उसे मृत्यु का भय होता है। किन्तु जहर के निकल जाने के पश्चात् मृत्यु का भय नहीं रहता। वैसे ही जिसने मिथ्यात्वरूपी विष का वमन करके सम्यक्त्व सुधा का पान कर लिया, उसके जन्म-मरण के फेरों का अन्त आ गया। इसमें शंका को कोई अवकाश नहीं है।

बन्धुओं ! सम्यक्त्व कोई बाहर की वस्तु नहीं है। यह तो आत्मा का गुण है। सम्यक्त्व प्रकट हो जाए तो उसका स्वाद आए बिना नहीं रहता। मैं आपसे पूछती

हूँ कि मुँह में शक्कर का टुकड़ा रखेंगे तो उसका स्वाद आएगा या नहीं ? आम खाएँगे तो उसके स्वाद का पता लगेगा या नहीं ? वहाँ तो तुरंत कह दोगे कि 'क्या मिठास है इस शक्कर में ! अहा ! क्या लाजवाब है आम का स्वाद ?' इसी प्रकार आत्मा में सम्यग्दर्शनादि गुण प्रकट होने पर उसका स्वानुभव नहीं होता है क्या ? जरूर होता है । क्योंकि आत्मा तो संवेदनशील है । सुख-दुःख आदि प्रत्येक वस्तु का आत्मा में संवेदना होता है । वैसे ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि कोई भी गुण आत्मा में प्रकट हुआ हो तो उसका स्वानुभव आत्मा में अवश्य होना चाहिए । जैसे किसी व्यक्ति के बीमारी से अशक्त हो जाने पर फीके हुए मानव-तन में नया रक्त आने पर उसके शरीर की सब रौनक बदल जाती है, वैसे ही आत्मा में सम्यक्त्व का गुण प्रकट होने पर उसकी दशा बदल जाती है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में आत्मा रमण करने लगे तो समझ लेना कि अब जीवननैया (मोक्ष)-तट पर पहुँचने के कगार पर है ।

सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम राग और द्वेष पतले करने पड़ेंगे । कहा भी है - *"रागोय दोसो वि य कम्मबीयं"* - राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं, कर्मबन्ध के हेतु हैं । इनका नाश होगा, तब कर्मबन्ध होता रूक जाएगा । फिर उसके सिर पर काल का भय नहीं रहेगा । अतः जहाँ कर्मबन्ध होना, रूक जाता है, वहाँ जन्म-मरण रूक जाता है । फिर आत्मा मृत्युंजय बन जाता है । यों तो काल सर्वभक्षी कहलाता है, परन्तु जो आत्माएँ राग-द्वेष का क्षय कर देती हैं, वे स्वयं काल को कवलित कर लेती हैं । भगवान कहते हैं -

"रागस्य दोसस्स य संखएणं, एगंत-सोक्खं समुवेइ मोक्खं ।"

राग और द्वेष का भलीभांति क्षय कर देने से आत्मा एकान्त-सुख के स्थान मोक्षपद को प्राप्त कर लेती है । अब आप ही कहिए, जो आत्मा अजर, अमर, अक्षय एवं अव्याबाध सुखरूप मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेती है, उसका काल क्या करेगा ? वहाँ तो काल को भी किंकर होकर रहना पड़ता है । ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीरस्वामी तक जो महापुरुष मोक्षपद को प्राप्त कर चुके हैं, वे काल नहीं कर सके, अर्थात् - काल उन्हें कवलित नहीं कर पाया, अपितु काल को उन्होंने कवलित कर लिया है । हम तो औपचारिक रीति से कहते हैं कि वे काल कर गए अथवा मरण-शरण हो गए, अथवा उनकी मृत्यु हो गई, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उनकी मृत्यु नहीं हुई, उन्होंने मृत्यु को मार दिया । अब ये महापुरुष कदापि जन्म लेने और मरनेवाले नहीं हैं । जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त होकर उन्होंने अजर-अमर-अक्षय पद पा लिया है । राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर लिया जाए तो अपनी आत्मा भी एक दिन इस स्थान को प्राप्त कर सकती है । जबतक राग-द्वेष दोनों समूल नहीं उखड़ेंगे, तबतक संसार का अस्तित्व है; यानी जन्म-मरणरूप संसार चालू रहेगा । एक वस्तु के प्रति राग और दूसरी वस्तु के प्रति द्वेष ही आत्मा को खराब करता है । कोई भी वस्तु या व्यक्ति अपने आप में खराब या अच्छा नहीं होता, उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति ममत्व, राग

या द्वेष खराबी करते हैं। यह खराबी दूर न हो जाय, तबतक आत्मा की आबादी (समृद्धि) नहीं होती, किन्तु बर्बादी ही होती है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि सब आन्तरिक आसुरी तत्त्व हैं। जिन्हें पाप विकार कहा जाता है। जैसे शरीर में आरोग्य की प्राप्ति होने पर व्याधि-विकार नहीं रहते, वैसे ही धर्मरूप भाव-आरोग्य की प्राप्ति होने पर पाप-विकार भी नहीं रहते। पूर्णरूप से पाप नष्ट होने पर आत्मा परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन जीव का शुद्ध स्वरूप है। मोह-रागादि आत्मा के शुद्ध स्वरूप नहीं, अपितु विरूप है, विभाव है, स्वभाव है। जैसे किसी मनुष्य के शरीर में कोढ़ फूट निकलता है, तो उसका शरीर बेडौल, विरूप हो जाता है। यह शरीर का स्वरूप नहीं है, विरूप है। वैसे ही आत्मा में कषायों का प्रवेश होता है, तब वह उग्ररूप धारण कर लेता है। क्या उसे आत्मा का स्वरूप कहा जा सकता है ? क्रोध आता है, तब मनुष्य की मुखाकृति बेडौल बन जाती है न ? क्रोध आए, तब दर्पण में अपना मुख देख लेना, तब समझ में आ जाएगा कि अपना मुख कैसा लगता है ? कषाय और रागद्वेष, ये आत्मा के स्वरूप को राक्षस जैसा भयावना बनानेवाले हैं। यह आत्मा का स्वरूप नहीं, विरूप है। जीव अपने स्वरूप को समझा नहीं, इसी कारण अनन्तकाल में अनन्तबार जन्मा और मरा है। अतः अब इस मानवभव को पाकर आत्म-स्वरूप को पहचानो, आत्मा के स्वरूप की पहचान ही सच्ची समझ है।

देवानुप्रियों ! अपनी बात सम्यक्त्व के विषय में चल रही थी। सम्यक्त्व को प्राप्त जीव सच्चे मार्ग पर चढ़ा हुआ है। सम्यक्त्व-प्राप्ति-रहित जीव भव की भूलभुलैया में मार्ग भूले हुए हैं। अनन्तकाल से जीव की दृष्टि 'पर' की ओर है, इस कारण वह अपने सगे-सम्बन्धी, पैसा, फर्म (व्यवसायिक प्रतिष्ठान) आदि किसी को भूला नहीं है, किन्तु अपने आप (आत्मा) को भूल गया है। जो व्यक्ति सबको तो याद करता है, किन्तु अपने आपको भूल जाए, वह कैसी भूल कहलाती है ? तुम्हारे घर में विवाह-प्रसंग हो, तब तुम अपने सगे-सम्बन्धियों, परिचितों, पड़ोसियों, मित्रों आदि सबको याद कर-करके आमंत्रण-पत्रिका लिखते हो न ? उस समय क्या तुम किसी को भूल जाते हो ? नहीं भूलते। सबको याद करनेवाला, एक अपने आपको भूल जाए, यह कैसी अजब-गजब की बात है ? बस, इसीका नाम है - संसार की भूलभुलैया। संसार की इस मायाजालरूपी भूलभुलैया में आत्मारूपी पथिक मार्ग भूल गया है। इसी कारण वह अनन्तकाल से चतुर्गतिरूप संसार में भटका करता है।

जीव ने 'स्व' को भूलकर 'पर' को अपने माने। यह जीव की सबसे बड़ी भूल है। और इस एक भूल में से दूसरी अनेक भूलें खड़ी हुई हैं। जीव जिसे अपना मानता है, उसके प्रति ममत्व बंध जाता है। उसके कारण पापाचरण करके कर्म बांधता है। अनेक भाई यों कहते हैं - "महासतीजी ! आज सरकारी महकमों में अन्धेर खाता

चलता है। सिफारिश और रिश्वत के बिना कोई बात नहीं करता। कितना अन्धेर ?" परन्तु भाई! मैं तुम्हें पूछती हूँ – "तुम्हें जैसा सरकारी महकमों का अन्धेर खटकता है, वैसा आत्मा का अन्धेर खाता खटकता है क्या ? याद रखो, आत्मा का अन्धेर खाता भव-भव में हैरान करेगा।"

इस जीव को मार्ग भूलने के अनेक स्थान रहे हैं। परन्तु पहले मैं तुम्हारी बात करूँ, बाद में दूसरी बात। मान लो, तुम किसी अपरिचित शहर में गए। वहाँ के रास्ते तुम्हें मालूम नहीं हैं, ऐसी स्थिति में तुम रास्ता भूल जाते हो कि नहीं ? कोई बड़ा-सा बाग-बगीचा हो, वहाँ तुम घूमने जाते हो। एक-सरीखे रास्ते हों, वहाँ भी रास्ता भूल जाते हो या नहीं ? किसी जंगल में जा रहे हो, वहाँ अनेक रास्ते फंटते हों, वहाँ भी उलटे रास्ते चढ़ जाने पर रास्ता भूल जाते हो न ? कई भव्य मकान ऐसे होते हैं, उनमें कहाँ से, कैसे जाना ? यह पता नहीं लगता। कई जगह कमरे में कमरे होते हैं, वहाँ मनुष्य घबरा (चिन्तित हो) जाता है। वहाँ मनुष्य रास्ता भूल जाता है, इसी प्रकार जीव के विषय में भी समझ लो।

अपनी आत्मा भी भवनगर में मार्ग भूली हुई है। इस भवनगर में चार गतिरूप चार बड़े-बड़े रास्ते हैं और ८४ लाख जीवयोनिरूप बड़ी-बड़ी चौरासी पोलें हैं। इस भवनगर में अनादिकाल से मार्ग भूला हुआ जीव कभी मनुष्य में से तिर्यंच में जाता है, कभी नरकगति में, तो कभी देवगति में जाता है। कभी मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य बनता है। मनुष्य में भी कभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल आदि कुलों में जन्म लेता है। तिर्यंच में कभी हाथी, घोड़ा, सिंह, सर्प, चिड़िया, तोता, कीड़ी-मकोड़े के रूप में जन्म लेता है। इस प्रकार जीव चारगतियों में, विभिन्न योनियों और कुलों में भटका करता है। वह भवरूप नगर में रास्ता ऐसे भूल गया है कि उसे सच्चामार्ग नहीं मिलता। सच्चामार्ग न मिलने की ये भूलें किस कारण से होती है ? क्या यह तुम्हें समझ में आता है ? जो 'पर' पदार्थ तुम्हारे नहीं हैं, उन्हें तुमने अपने मान लिये हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ 'पर' है। अरे! स्वयं अपना शरीर भी 'पर' है। इस संसार में जहाँ तक स्वार्थ सधता है, वहाँ तक सभी खम्मा-खम्मा करते हैं। और स्वार्थपूर्ति होते ही अपने माने हुए पराये बन जाते हैं। यह तो तुम सबके अनुभव की बात है न ? अतः समझो! इस संसार में कौन अपना और कौन पराया है ? किस पर ममत्व रखना है ? स्व और पर का भेद-विज्ञान हो जाए तो भवनगर में रास्ता भूला हुआ यात्री सच्चेमार्ग पर चढ़ सकता है। परन्तु संसार के सुख में रचा-पचा रहे तो उसका उद्धार कहाँ से हो ?

महानुभावों! भगवान महावीर का शासन निर्माल्य लोगों का शासन नहीं है, यह वीरों का शासन है। इस शासन के श्रावक और श्राविकाएँ कसौटी के समय में कैसे और कितने दृढ़ रहे हैं ? अम्यड़ परिव्राजक ने सुलसा श्राविका की श्रद्धा को मापने

के लिए कितने-कितने रूप बनाए ? फिर भी सुलसा विचलित नहीं हुई । तब अम्बड़ परिव्राजक ने सुलसा का बहुमान किया । सुलसा की दृढ़ श्रद्धा देखकर अम्बड़ के अन्तर में बहुत प्रसन्नता हुई । इसी प्रकार सुदर्शन सेठ के जीवन का एक प्रसंग आ रहा है-

सुदर्शन सेठ का दृष्टांत : एक बार भगवान् महावीरस्वामी ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए राजगृही पधारे । नगरी के बाहर उद्यान में विराजे । ये समाचार नगरी में पहुँचे । इस समय नगरी के बाहर अर्जुनमाली का भयंकर आतंक था । इस कारण नगरी के दरवाजे बंद रखे गये थे । नगरी के बाहर कोई भी जाने को तैयार नहीं होता था । और कोई जाने को तैयार होता तो द्वारपाल उसे जाने से रोक देता था । भगवान का राजगृही के बाहर पदार्पण हुआ है, यह जानकर सुदर्शन सेठ का मन-मयूर नाच उठा । वह भगवान के अनन्त उपकार को याद करके प्रभु को वन्दन करने हेतु जाने को तैयार हुए । बन्धुओं ! तुम्हें रोज सुबह उठते ही चाय-नास्ता याद आता है, परन्तु वीतराग-प्रभु याद आते हैं क्या ? इस मानवभव की प्राप्ति कराने में, वीतराग-प्रभु के शासन का महान उपकार है । यह मानवभव हमें कैसे और क्यों मिला ? वस्तुतः इस मानवभव की प्राप्ति कराने में माता-पिता या तुम्हारे भोगविलास के साधन सहायक नहीं हैं, न ही पत्नी या पुत्र परिवार आदि सहायक हैं । किन्तु पूर्वभव में जीव प्रकृति का अतिभद्रिक, विनीत, अनुकम्पावान्, निरभिमानी, सरल बना होगा, तथैव वीरवाणी का आलम्बन लेकर सद्धर्म की बहुत आराधना की होगी, इससे पुण्य की एक चिट्ठी फटी, और इस मनुष्यभव में इस जीव का ट्रांसफर हुआ । इस मानवजन्म में भी आर्यदेश, उत्तमकुल, पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता, दीर्घायुष्य, आरोग्य और सुख की सभी सामग्रियाँ आदि सब मिलीं । अतः सुबह उठते ही चाय-पानी का स्मरण न करके वीतराग-प्रभु की वाणी का स्मरण होना चाहिए कि-'भगवन् ! धर्म और पुण्य-पाप का विवेक करानेवाली आपकी वाणी है । आपकी वाणी सुनकर पर्युषणपर्व के पवित्र दिवसों में दया, दान, तप, संयम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि करने की प्रेरणा मिली है । यह जन्म पूरा होने पर विराट् विश्व में ८४ लाख जीवयोनियों की भूलभुलैया जैसी भवनगर की विशाल पोलों में गुम न हो जाऊँ और मोक्ष की तरफ प्रयाण करने में पुरुषार्थ की प्रेरणा में हे प्रभो ! आपका और आपकी वाणी का अनन्त उपकार है ।'

अर्जुन का भयंकर उपद्रव होने से माता-पिता द्वारा रुकावट : सुदर्शन सेठ प्रभु के ऐसे अनन्त उपकार को याद करके प्रभु को वन्दन करने के लिए जाने को तत्पर हुए । उस समय सुदर्शन सेठ की उम्र कम थी । उनके माता-पिता ने उनसे कहा -"बेटा ! नगर के बाहर अर्जुनमाली का भयंकर उपद्रव है । वह प्रतिदिन ६ पुरुष और एक स्त्री की हत्या करता है । भगवान के परम भक्त कहलानेवाले श्रेणिक महाराजा भी ऐसे समय में बाहर नहीं निकले । तो तू इस खतरे के समय कहाँ व क्यों जाने को तैयार हुआ है ? अतः इस समय तुझे नहीं जाना है ।" उन्होंने सुदर्शन को

बहुत समझाया, मगर सुदर्शन सेठ टस से मस नहीं हुए। उनके मन में तो एक ही भावना जगी है कि-"मेरे अनन्त उपकारी त्रिलोकीनाथ भगवान पधारे हों, और मैं घर में बैठा रहूँ? प्रभु के दर्शन किये बिना कैसे रह सकता हूँ मैं? मैं भोजन किये बिना रह सकूँगा, परन्तु प्रभु के दर्शन किये बिना नहीं रह सकूँगा। प्रभु के दर्शन करने जाते हुए कदाचित् अर्जुनमाली उपद्रव करेगा, और उसीमें मेरी मृत्यु हो जाए तो उसमें क्या आपत्ति है? भगवान तो मृत्यु का भी अन्त (विनाश-मृत्यु) लानेवाले हैं। उनके दर्शन के भाव में मरूँगा तो मेरा कल्याण ही होगा।" यों कहकर माता-पिता की अनिच्छा से सम्मति लेकर वे प्रभु-दर्शन करने निकल पड़े।

दृढ़धर्मी सुदर्शन का उत्साहपूर्वक भगवद्-दर्शन के लिए प्रस्थान : नगर के मुख्य द्वार के पास आए, वहाँ तैनात द्वारपाल ने उन्हें रोका। परन्तु वे अपनी रिस्कर पर किसी के रोकने से रूके नहीं, चल पड़े। नगरी से बाहर निकलते ही सामने से जिस के शरीर में मुद्गरपाणी यक्ष प्रविष्ट है, वह अर्जुनमाली हाथ में मुद्गर उछालता हुआ, आ रहा है। सुदर्शन सेठ ने उसे निकट आते देखा, किन्तु वे जरा भी भयभीत, त्रस्त, आतंकित, दुःखित या विचलित नहीं हुए; न ही अर्जुन के सामने रक्षा के लिए गिड़गिड़ाए। न ही उन्हें ऐसी चिन्ता हुई कि अब मेरे पर आफत आ पड़ी, मैं मर जाऊँगा। मेरी पत्नी और बच्चों का क्या होगा? वह तो प्रभु की वाणी का स्मरण करते हुए बेधड़क आगे बढ़ रहे थे कि "प्रभो! एक वक्त वह था जब यह जीव निगोद (अनन्तकाय) में एक टके के तीन सेर के भाव तुलता था। वहाँ से अनेक कष्ट सहता हुआ इतने उच्च मनुष्यभव में आया। यहाँ भी प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा, मैत्री, जड़विषयों के प्रति वैराग्य, तप, त्याग, धर्मसाधना आदि के पाने में हे प्रभो! आपका कितना उपकार है? ऐसे अनन्त उपकारी प्रभो! आपके दर्शन करने हेतु आने में मुझे कुछ नहीं होगा। जिसका आयुष्य बलवान् है, उसे कोई मार नहीं सकेगा, अगर इसी निमित्त से आयुष्य पूर्ण होना होगा, तो मुझे कोई बचा नहीं सकता। मुझे ऐसी अटल श्रद्धा है, भगवद्वाणी पर। आपके दर्शन करने के लिए जाने में कदाचित् मेरी मृत्यु भी हो जाए तो मेरा मरण सुधर जाएगा, यह निःशंक बात है। मेरे तो दोनों हाथों में लड्डू है। यहाँ रहा तो धर्मपालन करूँगा, मृत्यु हो गई तो अगले भव में बोधिलाभ होगा, मैं आराधक बनकर जाऊँगा जो मेरा भवभ्रमण कम होगा।"

सागारी संथारे का ग्रहण : बन्धुओं, देखिए, श्रद्धा कितना काम करती है? दृढ़ श्रद्धा के कारण सुदर्शन सेठ मृत्यु से घबराए नहीं। उन्होंने भूमि का प्रतिलेखन-प्रमार्जन किया और इस प्रकार सागारी संथारा ग्रहण किया -

आहार, शरीर, उपधि, पचक्खूं पाठअढार, मरण पाऊं तो वोसिरे, जीऊं तो आगार ।।

अर्थात् "मैं अब भगवान की साक्षी से चतुर्विध आहार, शरीर और समस्त उपाधि पर से ममत्व का त्याग करता हूँ। यदि ऐसी स्थिति में मेरी मृत्यु हो जाए तो मेरे

अठारह ही पापों का सर्वथा त्याग है। अगर जीवित रह गया तो पूर्ववत् मेरे व्रत-नियमादि हैं।" फिर पंचपरमेष्ठी के ध्यान में तल्लीन हो गए।

सेठ की दैवीशक्ति के आगे यक्षाविष्ट अर्जुन की आसुरीशक्ति पलायित : उस समय मार-मार करता हुआ अर्जुन वहाँ पहुँच गया। सुदर्शन को मारने के लिए ज्यों ही मुद्गर ऊँचा उठाया, उसका हाथ वहीं स्तंभित हो गया, न तो वह ऊँचा उठता है, न ही नीचा होता है। सुदर्शन सेठ की दैवीशक्ति के आगे यक्षाविष्ट अर्जुन की आसुरी-शक्ति परास्त और पलायित हो गई। अर्जुनमाली धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। यक्ष शरीर से निकलकर भाग गया, सुदर्शन का तेज झेल नहीं सका। सुदर्शन सेठ ने देखा कि अब उपसर्ग दूर हो गया है। उसने सागारी संथारा पाकर अनुकम्पा भाव से अर्जुन को सहलाया, उसे होश में लाए। होश में आने पर उसने सुदर्शन से पूछा - "भाई ! आप कौन हैं ? कहाँ जा रहे हैं ?" सुदर्शन ने कहा - "मैं भगवान महावीर का अनुयायी सुदर्शन श्रमणोपासक हूँ। मैं अपने धर्मगुरु भगवान महावीर के दर्शन करने जा रहा हूँ।" बन्धुओं, यह उपद्रव करनेवाला मुद्गरपाणी यक्ष था, अर्जुन के निमित्त से ऐसा हुआ। अर्जुन सीधा उपद्रवी नहीं था। उसके शरीर में यक्ष क्यों प्रविष्ट हुआ ? क्या आप जानते हैं ? बात यह है कि अर्जुनमाली और उसकी पत्नी वर्षों से इस मुद्गरपाणी यक्ष की भक्ति करते थे। एक दिन नगर के ६ गुंडे (लंपट) अर्जुन की पत्नी का रूप देखकर मोहित हो गए। वे यक्ष के स्थान पर पहले से छिप गए। ज्यों ही अर्जुन और उसकी पत्नी यक्षायतन में प्रविष्ट होकर यक्ष को नमन करने लगे, त्यों ही उन छह गुंडों ने अर्जुन को पकड़कर बांध दिया। फिर उसकी पत्नी बन्धुमती की इज्जत लूटी। इस पर से अर्जुनमाली क्रोधाविष्ट होकर मन ही मन बड़बड़ाया - 'वर्षों से हम तेरी भक्ति कर रहे हैं, परन्तु कोई काम न आई। मेरे देखते-देखते मेरी पत्नी की लज्जा लूटी, और तूने रक्षा न की। अतः मालूम होता है, यह यक्ष नहीं ठूँठ है।' अतः उस यक्षायतन का अधिष्ठायक यक्ष अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट हुआ। उसमें बहुत ही प्रबल शक्ति आ गई। जिससे बन्धन को तड़ातड़ तोडकर बड़ा भारी मुद्गर उठाया और उन ६ गुंडों पर दे मारा। साथ ही अपनी पत्नी को भी मार डाला। फिर तो उसे नगर के राजा और जनता पर भी क्रोध आया और प्रतिदिन ६ पुरुष और एक स्त्री को मारने लगा। यों करते-करते उसने ११४१ व्यक्तियों की हत्या कर दी। सुदर्शन सेठ से अर्जुन ने पूछा तो उसने सारी बात उसे बताई। यह सुनकर तो अर्जुनमाली को घोर पश्चात्ताप हुआ। 'अरर, मैं कैसा पापी हूँ ! मैंने इतने जीवों की हत्या की, अब मेरा क्या होगा ?' सुदर्शन उसे पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए भ. महावीर के पास आलोचना-निंदना-गर्हणा, भावना शुद्धि एवं प्रायश्चित्त से शुद्धिकरण उपाय बताया। इस पर अर्जुन ने पूछा - "क्या मैं भी आपके साथ आ सकता हूँ, उनके दर्शन-वन्दन-श्रवण करने के लिए ?" सुदर्शन सेठ ने कहा - "उनके दरबार में पापी से पापी व्यक्ति भी प्रवेश कर सकता है। वे तो वीतराग हैं, उनके

यहाँ किसी प्रकार का भेदभाव या पक्षपात नहीं है। चलो मेरे साथ।" यों आश्वासन देकर सेठ अर्जुन को भगवान के पास लाए। उसने प्रभु के दर्शन किये, उनकी अमृतोपम वाणी सुनी। उसका आश्चर्यजनक हृदय-परिवर्तन हो गया।

प्रतिदिन सात-सात व्यक्तियों की हत्या करनेवाला पापी प्रभु की वाणी सुनकर संसार से विरक्त हो गया, प्रभु की स्वीकृति पाकर वैराग्यभाव से भागवती दीक्षा लेकर पतित से पावन बन गया। प्रभु की वाणी में अद्‌भुत सामर्थ्य है कि ऐसा पापात्मा सिर्फ एक बार भगवान की वाणी सुनकर वैराग्यवासित हो गया। आप इनके जैसे तो नहीं हैं न ? नहीं। तुमने अपनी जिंदगी में एक भी मनुष्य की हत्या की है क्या? नहीं। अर्जुनमुनि जैसे तुम नहीं हो। फिर भी वर्षों से तुम जिनवाणी-वीरवाणी सुनते हो, परन्तु अभी तक संसार छोड़ने का मन होता है क्या ? नहीं। मैं तुम्हें कैसे कहूँ ? (हँसाहँस) अर्जुनमाली ने दीक्षा लेकर निर्णय किया कि मैंने जितने जोश से पाप किये, उससे अधिक जोश से धर्म करूँ, तप करूँ, संयम पालन करूँ। पहले जैसा मैं घोर पापात्मा था, उससे अधिक धर्मात्मा बनूं। सचमुच उन्होंने ऐसा पुरुषार्थ किया कि छह महीने में कर्मों को चूरचूर कर डाला।

इन अर्जुनमुनि को प्रभु महावीर के पास लाकर कल्याण कराने में सहायक कौन था ? वह तुम्हारे जैसा ही एक श्रावक था न ? अगर सुदर्शन श्रमणोपासक हिम्मत करके उपद्रव और आतंक की परवाह न करके प्रभुदर्शनार्थ निकले न होते, तो यह उपद्रव शान्त होनेवाला नहीं था। प्रभु के प्रति अडोल श्रद्धा के बल से यक्ष जैसा प्रचण्ड आसुरीशक्ति का प्रतिनिधि भी भाग गया। देखो, श्रद्धा का बल कैसा है ? *श्रद्धा वास्तव में अमूल्य संजीवनी है।*

संक्षेप में, मुझे आपलोगों को यही समझाना है कि मनुष्य की श्रद्धा कैसा और कितना कार्य करती है ? श्रद्धा हो तो मारणान्तिक उपसर्ग में से भी बचा जा सकता है। अतएव धर्म के प्रति श्रद्धा रखो। वीतराग वचन के प्रति यथार्थ श्रद्धा रखने का नाम सम्यग्दर्शन है। जीव जब सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब उसे अपनी वास्तविक स्थिति का भान हो जाता है।

महावीर-जन्म-वाचन

अपने परमपिता शासनपति भगवान महावीरस्वामी के जन्म-वाचन का आज पवित्र दिवस है। आज उनका स्मरण और गुणगान करके उनके गुणों को अपने जीवन में अपनाकर अपना जीवन उनके जैसा बनाना है। भगवान महावीर पहले से ही भगवान नहीं थे। एक बार उनकी आत्मा भी अपनी आत्मा की तरह चतुर्गतिक संसाररूप भवनगर में मार्ग भूलकर भटक रही थी। परन्तु सम्यक्त्व पाने के पश्चात् भगवान महावीर के २७ बड़े-बड़े भवों की क्रमशः गणना की गई है। सत्तावीस भवों की उस सूची में पहला भव है - नयसार का।

नयसार की आत्मा में निहित पवित्र ज्योति : नयसार (जन्म से) जैन नहीं थे। वह एक सुथार थे। नयसार सभी सुथारों के ऊपरी अधिकारी थे। उन्हें इससे पहले किसी जैनमुनि का साक्षात्कार नहीं हुआ था। सम्यक्त्व प्राप्ति से पहले का उनका जीवन भी कितना शुद्ध और सरल था ? वह किसी के दोषों की ओर दृष्टि नहीं करते थे। वह गुणग्रहण करने में तत्पर रहते थे। ऐसी महती योग्यतावाली उनकी आत्मा थी। वहाँ के राजा को एक भव्य महल का निर्माण करना था। इसलिए उन्होंने नयसार को जंगल में से उत्तम जाति की लकड़ी काटकर लाने का आदेश दिया। इसके लिए नयसार अनेक मनुष्यों का काफला लेकर एक दिन जंगल में गया। नयसार ऊँचे से ऊँचे क्वालिटी के सूखे वृक्षों को कटवाकर काष्ठ इकट्ठे करवाता है। इसके लिए बहुत-से आदमी काम करते थे। वे काम करके थक जाएँ, तब उनके स्नान करने हेतु गर्म पानी तैयार कराया जा रहा था। दोपहर में उनके भोजन के लिए अच्छी भोज्य सामग्री तैयार कराई जा रही थी। सभी को कड़ाके की भूख लगी हुई थी। भोजन तैयार हो गया।

वन में भी कैसी उत्तम भावना ! : परन्तु नयसार ऐसी शुभ भावना भाता है कि किसी अतिथि का सुयोग मिल जाए तो उसे भोजन कराकर मैं और सभी कर्मचारी भोजन करें।

क्षुधितस्तृपितश्चापि यदिस्यादतिथिर्मम ।
तं भोजयामीति नयसारोऽपश्यदितस्ततः ॥

स्वयं क्षुधातुर और तृपातुर होते हुए भी नयसार कैसी उत्तम भावना भाता है ? 'मैं किसी अतिथि को भोजन कराकर फिर भोजन करूँ।' आप भोजन करते समय ऐसी भावना भाते हैं क्या ? कि सीधे ही झटपट भोजन करने बैठ जाते हैं ? आप तो जैन-धर्म के सुसंस्कार पाये हुए हैं। पर यह नयसार तो संस्कार पाया हुआ नहीं था। फिर भी किसी को खिलाकर खाने की उसकी पवित्र भावना है। नयसार स्वयं एक ऊँची टेकरी पर चढ़कर अतिथि की तलाश करता है। देखिए, जिसकी भावना होती है, उसे अप्रत्याशित रूप से कहीं से भी वैसा योग मिल जाता है। एक पंचमहाव्रतधारी साधु शारीरिक कारण से पीछे रह गये थे। उनके ग्रुप के संत आगे निकल गए। जंगल में अटपटी पगडंडियाँ होती हैं। यह मुनि लक्ष्य चूक गए, इस कारण उल्टी पगडंडी पर चढ़ गए। वह चारों तरफ जंगल में घूम रहे हैं, किन्तु सही मार्ग नहीं मिल रहा था। ग्रीष्मऋतु का सख्त ताप है। ठीक दोपहर का समय है। गर्मी के कारण मुनि का कंठ सूखने लगा। पानी बिना उन्हें चक्कर आने लगा। मुनि विचार करने लगे - 'अब मुझे मार्ग नहीं मिलता। इतने एरिये में कोई मनुष्य भी नहीं दिखाई देता। क्या करना ?' वहाँ नयसार सुथार ने दूर से मुनि को देखा। अतः टेकरी से नीचे [illegible] वह मुनि के पास पहुँच गया। संत को वन्दन कर वह बोला - "महाराज ! मेरे [illegible] पुण्योदय से इस घोर अटवी में मुझे आपके दर्शन हुए। आप बहुत [illegible]

डेरे पर निर्दोष आहार तैयार है। उसका स्वीकार करके मुझे कृतार्थ करिए।" संत ने कहा - "भाई ! मुझे अचित्त जल की जरूरत है। भोजन के बिना तो काफी दिनों तक जीया जा सकता है, किन्तु पानी के बिना तो अधिक दिनों तक नहीं जीया जा सकता है।" तब नयसार ने कहा - "मेरे मनुष्यों के लिए किया हुआ गर्म पानी भी तैयार है। आप पधारिये।" मुनि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर आहार-पानी की गवेषणा करने हेतु जहाँ नयसार का डेरा था, वहाँ पधार गए।

उत्कृष्ट भाव से संतभक्ति करते हुए पा गए सम्यक्त्व - अत्यन्त हर्षपूर्वक संत को वह अपने डेरे पर ले जाकर निर्दोष आहार-पानी उत्कृष्ट भाव से वहराता है। वहराते हुए उसके हृदय में अलौकिक आनन्द हुआ। उसकी साढ़े तीन करोड़ रोमराजी पुलकित हो गई। तत्पश्चात् मुनि कुछ दूर जाकर आहार-पानी करते हैं। नयसार ने भी भोजन किया। उसके पश्चात् नयसार ने संत के पास जाकर पूछा - "आप अकेले कैसे हैं ?" तब संत ने बताया कि "वह कैसे रास्ता भूल गया और अकेला पीछे रह गया।" अतः नयसार ने कहा - "आप मार्ग भूल गये हैं तो मैं आपको जिस नगर में जाना है, उस नगर का छोटा (शोर्टकट) और सरलमार्ग बता देता हूँ।" नयसार संत को मार्ग बताने गया। सही मार्ग पर चढ़ जाने के बाद नयसार का मुख देखकर संत के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि 'यह कोई हलुकर्मी आत्मा है। इसने मुझे यह द्रव्य-अटवी पार कराई है, तो मैं इसे भवाटवी पार करने का मार्ग बताऊँ।' यों सोचकर एक वृक्ष के नीचे बैठकर संत ने नयसार को धर्म का स्वरूप समझाया। देव, गुरु और धर्म की पहचान कराई। नयसार सुथार ने संत के समागम से यहीं से सम्यक्त्वरत्न पाया। उनके लिए तो जंगल मंगलमय बन गया। भवनगर में राह भूला यात्री सच्चेमार्ग पर चढ़ गया।

नयसार का भव पूर्णकर इनके जीव ने बीच में देवलोक के, नरक के, त्रिदण्डी आदि के भवों में होकर चौबीस बड़े-बड़े भव किये। उनके सिवाय छोटे भव तो अनेक किये हैं, किन्तु उनकी यहाँ गणना नहीं की।

नंदराजा के भव में किया तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन : नयसार के भव से लेकर पच्चीसवें भव में भ. महावीर का जीव नंद नामक राजकुमार हुआ। इस नंदराजा के भव में उन्होंने दीक्षा लेकर ११८१००० मासखमण किये, फलतः उसी भव में तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया। वहाँ से काल करके वह दसवें प्राणत नामक देवलोक में गए। वहाँ की भवस्थिति पूर्ण की, वहाँ शुभनक्षत्र और शुभयोग था। उस समय च्यवकर माहणकुण्ड नगर में ऋषभदत्त ब्राह्मण के यहाँ देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में प्रभु पधारे। उस समय देवानन्दाजी ने चौदह स्वप्न अपने मुख में उतरते हुए देखे। उसने ऋषभदत्त ब्राह्मण को स्वप्न की बात कही। उसने शास्त्रानुसार स्वप्नों का फल देखकर कहा - "भद्रे ! तुम्हारी कुक्षि में तीर्थंकर भगवान का जन्म होगा।" यह सुनकर देवानन्दा का हृदय हर्षित हो गया। ८२-१/२ रात्रि

व्यतीत होने पर देवलोक में इन्द्र का आसन चलायमान हुआ । प्रभु को भिक्षुक कुल में उत्पन्न हुए देख, इन्द्र ने हरिणगमैपीदेव को आज्ञा दी - "देवानन्दा की कुक्षि में जो गर्भ है, उसका साहरण करके जो क्षत्रियकुण्ड नगर के राजा सिद्धार्थ की पुण्यवती रानी त्रिशला क्षत्रियाणी है, उसके गर्भ में रखो । और त्रिशलामाता की कुक्षि में पुत्री रूप में जो गर्भ है, उसे देवानन्दा की कुक्षि में रखो । क्योंकि तीर्थंकर का जन्म तो क्षत्रियकुल में शोभा देता है, ब्राह्मण के यहाँ नहीं शोभता ।" हरिणगमैषीदेव ने तदनुसार सब कार्य कर दिया । तब देवानन्दा के मुख में से चौदह स्वप्न निकलकर त्रिशलामाता के यहाँ जाने लगे । अतः ८२ १/२ रात्रि तक भगवान देवानन्दा की कुक्षि में रहे ।

देवानन्दा का विलाप : अपने मुख में से स्वप्नों को बाहर निकलते देखकर देवानन्दा माता को बहुत दुःख हुआ । वह रोने लगी । इस बारे में भी कर्म का संकेत है । पूर्वभव में देवानन्दा और त्रिशलामाता देवरानी-जिठानी थीं । देवानन्दा जिठानी थी, जबकि त्रिशला देवरानी थी । देवानन्दा के पूर्वभव के जीव (जिठानी) ने देवरानी के रत्नों का डिब्बा चुरा लिया था । इस कारण इस भव में रत्न से भी अधिक मूल्यवान तीर्थंकर-प्रभु जैसा पुत्ररत्न चुराया गया था । देवानन्दा विलाप करने लगी, और त्रिशलामाता हर्षित हुई । उन्होंने सिद्धार्थ राजा से स्वप्न सम्बन्धी जिक्र किया । सुबह होते ही राजा सिद्धार्थ ने स्वप्न-पाठकों को बुलाकर स्वप्नों के फल पूछे । स्वप्नपाठकों ने कहा - "जगदुद्धारक तीर्थंकर-प्रभु त्रिशलामाता की कुक्षि में जन्म ग्रहण करेंगे ।"

पुत्र की समवेदना माता की समझ में न आने से दुःखित हुई त्रिशलामाता : क्षत्रियकुण्डनगर में आनन्द-आनन्द छा गया । भगवान गर्भ में आए, तब से सिद्धार्थ-राजा के भंडार में समृद्धि बढ़ने लगी, धन-धान्य की वृद्धि होने लगी । मंगलवाद्य बजने लगे । प्रभु के मन में यह विचार स्फुरित हुआ कि 'मैं माँ के उदर में हलन-चलन करता हूँ, इससे मेरी माता को दुःख होता है ।' यों विचार करके उन्होंने हलन-चलन बंद कर दिया । इस पर माता ने सोचा - 'मेरा गर्भ चुराया गया ।' त्रिशलामाता रोने और विलाप करने लगी । मंगलवाद्य और शहनाइयाँ बजती बंद हो गई । प्रभु तो तीन ज्ञान के धनी थे । उन्होंने ज्ञान द्वारा जाना कि माता के साता उत्पन्न करने जाते असाता हो गई । वह रो रही हैं, गमगीन हो गई हैं । इस कारण भगवान ने हिलना-डुलना शुरू कर दिया । अतः पुनः सर्वत्र आनन्द-आनन्द छा गया । अब माता बहुत ही देखभाल पूर्वक गर्भ का पालन करने लगी । यों करते हुए सवा नौ मास पूरा होने पर चैत्र शुक्ला १३ की रात्रि को मध्यरात्रि के समय त्रिशला महारानी ने महावीर-प्रभु को जन्म दिया । पुण्यवान आत्माओं का जन्म दिन में (प्रायः) नहीं होता, क्योंकि ऐसे महान पुरुष माता की ऐब किसी को देखने नहीं देते तथा ऐसे पुण्यवान् सुपुत्र का जन्म होता है, तब माता को कष्ट भी नहीं होता । चैत्र सुदी तेरस की रात्रि में जब शुभ नक्षत्र और ग्रह का योग हुआ, उस समय प्रभु का जन्म होने से क्षत्रियकुण्ड में सर्वत्र

एक दिन भगवान ने जिस पद को पाया है, उस निर्वाण पद को अवश्यमेव पाता है। फिर इस संसार में उसका पुनः आगमन नहीं होता। वह सदा-सदा के लिए मोक्ष में अनन्त अव्याबाध आत्मिक-सुख के महान आनन्द का अनुभव करता है।

बन्धुओं ! भगवान महावीर के द्वारा प्रतिपादित अहिंसा की रोशनी भारत के कोने-कोने में चमके, हिंसा का ताण्डव घटता जाए, और अहिंसा का साम्राज्य स्थापित हो, तथा प्रभु के द्वारा बताये हुए आदर्श-जीवन में साकार हों, तभी हम भगवान महावीर के सच्चे अनुयायी कहला सकते हैं। इसीमें जिनशासन को प्राप्त करने की सार्थकता है, तथैव महावीर-जयन्ती मनाने की भी सार्थकता है।

समय काफी हो गया है। संघ के कार्यकर्ताओं को भी बोलना है। अतः आज तो इतना ही। विशेष भाव यथावसर कहे जाएँगे।

व्याख्यान - ५४

भादवा सुदी ३, शुक्रवार ता. २७-८-७६

राग और द्वेष के बन्धनों से बचो

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी, त्रैलोक्य-प्रकाशक परमात्मा महावीर फरमाते हैं कि - "हे भव्यजीवों ! अनन्तकाल से तुम्हारी आत्मा बन्धन में आबद्ध है। तुम इस बन्धन को जानो और उसे तोड़ो। जैसा कि 'सूत्रकृतांग सूत्र' (श्रु.-१, अ.-१, उ.-१, गा.-१) में कहा है-

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टज्जा, बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं वीरो, किं वा जाणं तिउट्टइ ॥

भगवान फरमाते हैं कि - "हे जीवात्माओ ! अगर तुम्हें बन्धन से मुक्त होना हो तो सर्वप्रथम बन्धन को जानो, भलीभांति समझो और तत्पश्चात् उसे तोड़ो। इस पर शिष्य पूछता है - "भगवन ! बन्धन कौन-सा है और उसे किस प्रकार तोड़ना है ?" भगवान ने इसके उत्तर में कहा -

"दोहिं बंधणेहिं, राग-बंधणेणं, दोस-बंधणेणं।"

दो प्रकार के बन्धनों से छूटो - राग के बन्धन से और द्वेष के बन्धन से। "बोलो, तुम्हें बन्धनों से छूटना है ?" "हाँ, महासतीजी !" "ये शब्द हृदय से बोले जा रहे हैं या जबान से ही ? अगर आपने अपने अन्तःकरण से ये उद्गार निकाले हैं, तो आप राग और द्वेष पतले (मन्द) कर डालने में समर्थ होंगे।"

महानुभावों ! जीव को अनन्तकाल से संसार में भटकानेवाले अगर कोई बन्धन हैं तो वे हैं - राग और द्वेष । ये वे ही बन्धन हैं, जो जीव को सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष में जाने से रोकते हैं । जिस मुमुक्षु को ये बन्धन बन्धनरूप लगते हैं, वह इन बन्धनों को तोड़ने का अथवा इन बन्धनों से छूटने का उपाय खोजता है । परन्तु जिसे ये बन्धन बन्धनरूप नहीं प्रतीत होते, उसके द्वारा इन्हें तोड़ने या इनसे छूटने का उपाय कहाँ से हो सकता है ? पैर में कांटा लगा हो, पीड़ा खूब हो रही हो, तो उसे निकालने का प्रयत्न करते हो । पैर में पीड़ा होते हुए भी कांटा निकालनेवाला उसे निकालने के लिए सूई से बारबार धक्के मारता है, कुरेदता है, उसे सहन करके भी कांटा निकलवाते हो न ? वह कांटा चुभने पर खटका तो उसे निकलवाया न ? इसी प्रकार जब जीव को यह खटकेगा कि राग और द्वेष ये बन्धनरूप हैं, तब वह उन बन्धनों को तोड़ने का उपाय करेगा ।

इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझिए । खूंटे के बन्धन से बंधा हुआ ढोर भी चाहता है कि कब मैं इस बन्धन से छूटूं ? तोते को सोने के पींजरे में बंद करके प्रतिदिन ताजे अनार के दाने खिलाये जाएँ, तो भी वह पींजरा उसे बंधनरूप लगता है । वह सोचता है - 'कब यह पींजरा खुला रह जाए और मैं इसमें से निकलकर उड़ जाऊँ ।' परन्तु क्या आपलोगों को बन्धन से मुक्त होने का मन होता है ? आपको यह बन्धन खटकता है ? जो अज्ञानी, मिथ्यात्वी जीव हैं, उन्हें यह बन्धन नहीं खटकता । इसके विपरीत ज्ञानी आत्माओं को संसार की चाहे जितनी सुख-सुविधाएँ मिलें, भोग-साधन प्राप्त हों, सुख की सामग्री मिले, तो भी उनकी दृष्टि में ये सब बन्धनरूप मालूम होते हैं । वह तो यही विचार करता है कि मेरे पुण्य (शुभकर्म) के उदय से यह सब सामग्री मिली है, परन्तु इसमें मुझे आसक्त या लुब्ध नहीं होना है । इस मनुष्यभव में ऐसा पुरुषार्थ कर लूं कि मेरी आत्मा सदा के लिए बन्धन से मुक्त हो जाए । पशु को खूंटे से मुक्त किया जाय अथवा तोते को पींजरे से मुक्त किया जाय, यह द्रव्य - मुक्ति है, किन्तु घाती और अघाती, इन अष्टविध समस्त कर्मों से जीव की मुक्ति हो जाय, यह भाव-मुक्ति है । अज्ञानी जीव के ऐसी सम्यक्‌दृष्टि नहीं होती । वह तो जैसे मकड़ी अपने बनाये हुए जाल में आखिरकार स्वयं ही फंसती है, वैसे ही मोह से ग्रस्त अज्ञानी जीव भी संसार की मायारूपी जाल स्वयं बनाता है, फिर उसे तोड़ने के बदले उसमें अधिकाधिक फंसता जाता है, क्योंकि उसे ऐसा भान ही नहीं होता कि मैं बन्धन से बंधा हुआ हूँ । संसार के सुख तुम्हें भले ही अच्छे लगें, किन्तु ज्ञानीपुरुष की दृष्टि में ये सब कर्म के बन्धन में जकड़नेवाले हैं । ऐसा समझकर बन्धनों को तोड़ने का पुरुषार्थ करो । कारण यह है कि जिंदगी बहुत ही क्षणभंगुर है, अल्प है, नाशवान है । जैसे आंसू से लिखे हुए अक्षर तुरंत सूख जाते हैं, वैसे ही ज्ञानी कहते हैं कि - "तेरी जिंदगी भी आंसू से लिखे हुए अक्षर जैसी क्षणिक है । कब इस जिंदगी का विलय

हो जाएगा, इसका पता नहीं है। कब इस कुटुम्ब-परिवार को रोते हुए छोड़कर चले जाना पड़ेगा, यह भी मालूम नहीं है।" सूर्य तो सुबह उदय होता है और शाम को अस्त होता है, किन्तु यह जीवन का सूर्य कब अस्त हो जाएगा, इसकी खबर नहीं है। इस बात को भलीभांति समझकर राग-द्वेष के मायाजाल को तोड़ डालो। तोते जैसे प्राणी को पींजरा बंधनरूप लगता है तो वह उससे मुक्त होने का रास्ता ढूंढने लगता है, आप भी बन्धन से मुक्त होने का मार्ग जिनवाणी के द्वारा ढूंढो तो मुक्त हो सकते हैं।

एक तोता जंगल में स्वतंत्रता से विचरण करता था। वनफल खाकर आनन्द से कल्लोल करता था। उसकी बोली बहुत मीठी थी। वह वृक्ष की डाली पर बैठकर ऐसी मधुरवाणी से बोलता था कि उसे सुनकर शिकारी खुश हो गया। उसने सोचा कि 'यह तोता तो बहुत ही सुन्दर है और विविध प्रकार की बोली बोलता है। उसके बोलने में भी कितनी मिठास है? ऐसा तोता अगर मैं राजा को भेंट दूँ तो राजा मेरे पर खुश होकर बहुत इनाम दे देंगे।' यों सोचकर शिकारी ने अपनी चतुराई से वृक्ष की डाली पर स्वतंत्र रूप से बैठे हुए तोते को पकड़ा। कर्मवश तोता पकड़ा गया। शिकारी उसे पींजरे में बंद करके राजा के पास लाया और राजा को उसने वह तोता भेंट दे दिया। उसके बदले में राजा ने शिकारी को बहुत धन दिया। राजा ने वह तोता अपनी प्यारी पुत्री सुलोचना को सौंप दिया। तोते की मीठी बोली सुनकर सुलोचना खुश हो जाती थी। उसे तोता बहुत पसंद आ गया। सुलोचना ने तोते के लिए सोने का रत्नजटित पींजरा बनवाया। सुलोचना उसे सोने के रत्नजटित पींजरे में रखती और प्रतिदिन अनार के दाने और मेवे खिलाती थी। तोता उसे सबसे ज्यादा प्रिय था। धीरे-धीरे तोते के प्रति उसे इतना अधिक रागभाव हो गया कि तोते के बिना उसे कहीं चैन नहीं पड़ता था। खाते-पीते, चलते-फिरते या सोते-उठते तोता उसके पास ही चाहिए। कहीं बाहर घूमने जाती तो भी वह उसे साथ में ले जाती।

अपने नगर में जब कभी साधु-साध्वीगण पधारते, तब सुलोचना उनके दर्शन का लाभ लेती थी। उसे यह तोता इतना अधिक प्रिय था, कि साधु-साध्वियों के दर्शन करने जाती तो तोते को अपने साथ ले जाती थी। एक बार उस नगर में एक महान ज्ञानी-संत पधारे। सुलोचना अपने प्यारे तोते को साथ लेकर उनके दर्शन करने गई। संत के दर्शन किये। व्याख्यान-वाणी सुनी। संत की वाणी सुनकर जैसे मनुष्य को आनन्द आता है, वैसे ही इस तोते को भी बहुत आनन्द आया। वह झुक-झुक कर संत को वन्दन करने लगा। मनुष्य को तो जैसे संत की वाणी सुनकर आनन्द आता है और वह उत्कृष्ट भाव से संत को वन्दन भी करता है। परन्तु यहाँ तो संस्कार-वश तोते को उत्कृष्ट भाव से संत की वाणी सुनकर जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह सोचने लगा कि 'अहो! मैंने पूर्वभव में कैसी सुन्दर आराधना की थी, किन्तु परिग्रह के प्रति ममता-मूर्छा और लोगों में अच्छा कहलाने की दृष्टि से माया-कपट करके

व्रत की विराधना की, इस कारण मैं तोता बना ।' इसे जानने के बाद तोते को वह विराधना शल्य की तरह चुभने लगी । किन्तु तिर्यच के भव में वह क्या कर सकता था ? फिर भी उसने मन ही मन ऐसा निश्चय (संकल्प) किया कि 'प्रतिदिन सुबह जब तक संत के दर्शन न कर लूं, तबतक में कुछ भी खाऊँगा-पीऊँगा नहीं ।'

सुलोचना प्रतिदिन तोते को दर्शन कराने ले जाती थी, परन्तु एक दिन वह स्वयं संत के दर्शन करने नहीं जा सकी । तोते के तो प्रतिदिन संतदर्शन करने का नियम था । उसको तो चटपटी लगी कि कब पींजरा खुले और मैं दर्शन करने जाऊँ । एक ओर तो इस तोते की संतदर्शन की प्रबल भावना थी और दूसरी दृष्टि से देखें तो स्वेच्छा से वन में विचरण करनेवाले तोते को इस रत्नजटित पींजरे में मिलनेवाला सभी सुख व राजकुमारी द्वारा मिलनेवाला लाड-प्यार होने पर भी उसे पींजरा बन्धनरूप लगता था । वह उसमें से छूटने का रास्ता खोजता रहता था । किन्तु सुलोचना को तोता बहुत प्यारा था, इस कारण वह उसे जरा-सा भी खुला नहीं छोड़ती थी । वह उसे पींजरे में अनार की कलियाँ खिलाती थी । एक दिन वह दाड़िम लेने जा रही थी, उस दौरान पींजरा खुला रह गया । तोता अवसर देखकर पींजरे में से उड़ गया । तोते को पींजरे में नहीं देखकर सुलोचना बहुत रोने लगी ।

राग बन्धन जीव की कैसी दशा करता है ? : राग का बन्धन कितना भयंकर है ? राग मनुष्य को कितना रुदन कराता है ? सुलोचना इस तोते के पीछे विलाप करने लगी । उसने खाना-पीना तक छोड़ दिया । राजा को इस बात का पता लगते ही पुत्री के पास आकर बोले - "बेटी ! तू किसलिए रोती है ? मैं आदमियों को भेजकर जंगल में उसकी तलाश करवाता हूँ ।" राजा ने तोते की तलाश करने के लिए जंगल में आदमी भेजे । तोता एक वृक्ष पर निर्भयता से बैठा था । राजा के आदमियों ने तोते को तुरंत पकड़ लिया और उसे सुलोचना के पास ले आए । सुलोचना को यह जानकर बहुत आनन्द हुआ कि उसे अपना तोता वापस मिल गया है । तोते के प्रति उसे अत्यन्त रागभाव था, इस कारण उसके मन में ऐसे भाव आए कि मैं तुझे इतनी अच्छी तरह से रखती हूँ, फिर भी तू क्यों उड़ गया ? अतः रोष के आवेश में आकर उसने तोते के दोनों पंख काट कर उसे पींजरे में बंद कर दिया । देखे रागभाव ने क्या कर दिया ? राग का आवेश कितना अनर्थ कराता है ? तोते के पंख कट जाने से उसका जीवन निकम्मा हो जाता है । कहा भी है - *'पंख-विहूणो व्व जहेव पक्खी'* इस तोते के पंख कट जाने से उसे बहुत दुःख हुआ । दूसरे ही क्षण तोते ने मन में विचार किया कि 'यों दुःख करने से क्या लाभ ? अब मैं चाहे जो करूँगा, तो भी मुझे संत के दर्शन करने का लाभ नहीं मिलेगा । मेरे पापकर्म का उदय हुआ है, फिर भी जितनी हो सके, साधना कर लूं ।' यों सोचकर तोते ने पींजरे में चारों आहार का त्याग करके यावज्जीव अनशन (संथारा) कर लिया और नवकार महामंत्र के ध्यान में लीन हो गया ।

सुलोचना भी तोते के पंख काट देने पर खूब रोती है। तोते ने खाने-पीने का त्याग कर दिया तो उसने भी खाना-पीना छोड़ दिया। अन्त में, तोता पाँचवें दिन मर जाता है और देव बन जाता है। तोते के मर जाने पर सुलोचना ने भी संथारा किया और समाधिपूर्वक मरकर देवलोक में देवी बनी। अहह ! राग मनुष्य की कैसी दुर्दशा कराता है ? देवलोक में दिव्य-सुख भोगकर आयुष्य पूर्ण होने पर तोते का जीव, तो देव हुआ था, वह (मनुष्य लोक में) शंखराजा के रूप में उत्पन्न हुआ और सुलोचना जो देवी के रूप में उत्पन्न हुई थी, वह कलावंती नाम की राजकुमारी के रूप में उत्पन्न हुई। समय बीतने पर दोनों का विवाह हो गया। चाहे जितने निकट के सम्बन्ध में जीव उत्पन्न हो जाय, कृत-कर्म के फल तो सबको भोगने पड़ते हैं। देखिए कलावंती रानी ने सुलोचना के भव में अतिराग के कारण तोते पर रोष करके उसके पंख काट डाले थे, उसका विपाक (कर्मफल) उसे किस प्रकार भोगना पड़ता है ?

शंखराजा के ५०० रानियाँ थीं। उनमें सती-शिरोमणि कलावंती और दूसरी लीलावंती नाम की दो रानियाँ मुख्य पटरानी थीं। उन दोनों में भी कलावंती के प्रति राजा का अत्यन्त प्रेम था। इन दोनों (शंखराजा और कलावंती) का प्रेम पूर्वभवों से चला आ रहा है। समय बीतने पर कलावंती रानी गर्भवती हुई। दूसरी रानियों को उसके प्रति द्वेषभाव बढ़ा, क्योंकि उन सब रानियों के सन्तान नहीं थी और 'कलावंती के पुत्र होगा तो उसका सम्मान अधिक बढ़ जाएगा।' इस विचार को लेकर सभी रानियों के मन में कलावंती रानी के प्रति बहुत द्वेषभाव उभरता था। किन्तु जिस पर राजा के चारों हाथ हों, उसे कोई कुछ भी कह या कर नहीं सकता था। कलावंती के गर्भ का सातवाँ मास चल रहा था। उस समय शंखराजा द्वारा कलावंती रानी का भव्य सीमंत - महोत्सव मनाया गया। इस अवसर पर कलावंती के पीहर से जयसेन और विजयसेन नाम के दो भाइयों ने बहुमूल्य हीरे और माणिक्य से जटित दो कीमती कंकण घड़ाकर मखमल की एक डिब्बी में रखकर अपनी बहन को उपहार रूप में भेजे। पीहर से बहुमूल्य डिब्बी आई देखकर कलावन्ती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने एकान्त में ले जाकर वह डिब्बी खोली तो अन्दर से अंधेरे में भी जगमगाते हुए दो कंकण देखे। भाई के घर से आये हुए कंकण पहनकर कलावंती अत्यन्त हर्षित होने लगी। बहनों का ऐसा स्वभाव होता है कि ससुराल की अपेक्षा पीहर की वस्तु उन्हें अधिक प्रिय होती है। इस दृष्टि से कलावंती रानी कंकण पहनकर बहुत आनन्दपूर्वक खाट के हिंडोले पर बैठी।

कलावंती के कंकणों ने क्या किया ? : इस वक्त लीलावंती रानी की दासी कलावंती के महल में आई और कलावंती के हाथ में पहने हुए कंकण देख गई। उसने जाकर अपनी रानी (लीलावंती) से यह बात कही। यह सुनकर लीलावंती रानी को बहुत दुःख हुआ कि मैं भी राजा की पटरानी हूँ, फिर भी राजा मेरे प्रति इतना

भेदभाव रखते हैं । राजा ने इसे (कलावंती को) ऐसे बहुमूल्य कंकण करवा दिये, किन्तु मुझे नहीं कराये । उसके मन में तो यह था कि राजा ने ही ये कंकण करवा दिये होंगे । अत: लीलावंती रानी कलावंती रानी के पास आकर पूछने लगी - "बहन कलावंती ! ये कंकण तुम्हें किस की तरफ से मिले हैं ?" कलावंती रानी बहुत सरल थी । इसलिए उसने सरलता से कहा - "बहन ! मैं जिसे प्रिय हूँ और जो मुझे प्रिय हैं, उन्होंने ये कंकण मुझे भेजे हैं ।" कलावंती ने जो यह कहा - "जिसे मैं प्रिय हूँ, इसका अर्थ लीलावंती ने दूसरा ही किया । सती स्त्री को अपने पति से अधिक कौन प्रिय हो सकता है ? निश्चय ही कलावंती बुरे मार्ग पर चढ़ गई है अथवा शंखराजा ने गुप्तरूप से वे कंकण करवा दिये हैं । लीलावंती रानी शंखराजा से पूछती है - "आपने कलावंती को कंकण करवा दिये हैं, मुझे क्यों नहीं ?" राजा ने कहा - "मैंने तो इसे कंकण नहीं करवाए हैं ।" आखिरकार राजा अपने महल में आए और कलावंती से कंकण के विषय में पूछा तो कलावंती रानी ने कहा - "जो मुझे प्रिय हैं और मैं जिसे प्रिय हूँ । जो मुझे रात-दिन संभालता है, उसने मुझे ये कंकण भेजे हैं और मैंने पहने हैं ।" अतएव राजा को कलावंती रानी के चरित्र के प्रति शंका होनी स्वाभाविक थी । सचमुच कर्म ने ही उससे ऐसा जवाब दिलवाया । किये (बांधे) हुए कर्म जीव को भोगने पड़ते हैं ।

राजा का आदेश - रानी के दोनों हाथ काट डालो : कलावंती रानी के कर्म का उदय होनेवाला था । उसके पूर्वकृत कर्म ने ही उससे ऐसा जवाब देने की प्रेरणा की थी कि 'जो मुझे प्रिय है और मैं जिसे प्रिय हूँ उन्होंने (ये कंगन) भेजे हैं ।' ये शब्द सुनकर राजा को बहुत गुस्सा आया । 'ओह ! मैं इसे सबसे सवाई रखता हूँ, फिर भी इसके दिल में कोई दूसरा ही बस रहा है । अब मुझे यह (रानी) नहीं चाहिए ।' अत: राजा ने फौरन चांडाल को बुलाकर आदेश दिया - "इस रानी को रथ में बिठाकर घोर जंगल में ले जाओ और वहाँ कंगन-सहित इसके दोनों हाथ काट डालो । फिर इसे वहीं जंगल में छोड़कर आ जाओ ।" राजा की आँखें क्रोध से लाल-लाल हो गई । राजा ने रानी से पूछा भी नहीं कि तुझे कौन प्रिय है ? अगर पूछा होता तो कोई हर्ज नहीं था । किन्तु कर्म की गति विचित्र है । कर्मोदय के समय चतुर मनुष्य भी विवेक को भूल जाते हैं ।

कलावंती रानी गर्भवती है । उसके गर्भ का नौवाँ महीना चल रहा है । किन्तु राजा ने कुछ भी विचार किये बिना चाण्डाल को आदेश दे दिया कि - "तू इसे जंगल में ले जाकर कंगन सहित इसके दोनों हाथों की कलाइयाँ काटकर ले आ ।" यह सुनकर चण्डाल कांप उठा ।' 'अहो ! ऐसी पवित्र सतीतुल्य रानी के दोनों हाथों की कलाइयाँ काटनी पड़ेगी ?' वह जाति का चाण्डाल था, किन्तु कर्म से चाण्डाल नहीं था । उसके दिल में दया थी । उसने घर जाकर अपनी पत्नी को यह बात कही कि

"राजा ने ऐसा आदेश दिया है, परन्तु मुझे यह काम नहीं करना है। अगर हम यहाँ रहते हुए राजा की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे तो राजा कोपायमान हो जाएगा। उसकी अपेक्षा गाँव छोड़कर चले जाएँ।" इस पर उसकी पत्नी कहती है - "तुमसे यह काम नहीं होता है तो मैं जाती हूँ, यह काम करके आती हूँ, तुम घर में सो जाओ। अपना तो यह रात-दिन का काम है। इसमें डर काहे का ? ऐसे पाप का हम विचार करें तो रहना भी नहीं हो सकेगा।" देखिए, पति और पत्नी के विचार और संस्कार में कितना अन्तर है ? पति जाति से चाण्डाल है, परन्तु कर्म से नहीं, जाति से चाण्डाल अच्छा है, पर कर्म से चाण्डाल बुरा है। उसकी पत्नी तो जाति और कर्म, दोनों तरह से चाण्डाल थी।

चाण्डालनी ने कलावंती की कलाइयाँ काट लाने का काम सिर पर लिया। वह राजा के आदेश के अनुसार रानी को रथ में बिठाकर ले जा रही है। रानी ने उससे पूछा - "मुझे रथ में बिठाकर कहाँ ले जा रही हो ?" तब चाण्डालनी ने कहा - "राजाजी ने आपको पीहर पहुँचाने का कहा है, इसलिए पीहर ले जा रही हूँ।" इस पर रानी ने पूछा - "बहन ! मेरा पीहर तो बहुत दूर है, फिर इस घोर जंगल में तुमने रथ क्यों रूकवाया ?" चाण्डालनी बोली - "देखिए, रानीजी ! अब आपको मैं सच्ची बात कह देती हूँ। आपको पीहर पहुँचाने का राजाजी का आदेश नहीं है, किन्तु आप से कोई अपराध हो गया होगा, इस पर से खफा होकर कंकण-सहित आपके दोनों हाथों की कलाइयाँ काट लाने का कहा है। इस कारण आपको मैं इस जंगल में लाई हूँ। अब आप रथ से नीचे उतर जाएँ।" कलावंती बहुत सरल थी, सोचने लगी - 'ऐसा मेरा कौन-सा अपराध है ? किस कारण से राजाजी ने मुझे यह सजा फरमाई है ?' वह समझ नहीं सकी। इस कारण दिल को जरा आघात लगा। परन्तु सज्जन मनुष्य सिंह-जैसी दृष्टि (वृत्ति) रखते हैं, श्वान जैसी दृष्टि नहीं। इस दृष्टि से रानी ने विचार किया कि मेरी ही कोई पूर्वकृत कर्म उदय में आया है। राजाजी का क्या दोष है ? *कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि* - 'किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।' आप भी कर्मों का उदय हो, तब ऐसा विचार करें कि हे जीव ! तेरे द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना, तेरा छुटकारा [illegible] है। कलावंती रानी के अन्तःकरण में यही सूत्र रम रहा था। इस [illegible] में हाथों की कलाइयाँ कटवाने का वक्त आया, तब [illegible] उसने चाण्डालनी से कहा - "मेरे इस दाहिने हाथ [illegible] दे दूंगी। दाहिना हाथ तो मैंने अपने पति को [illegible] के हाथ में नहीं सौंपा जा सकता।" इतना [illegible] छुरी से अपने दाहिने हाथ की कलाई काटकर [illegible] चाण्डालनी ने बांये हाथ की कलाई काट डाली [illegible]

"बहन ! मेरे स्वामी को कंगन-सहित ये दोनों कलाइयाँ दे देना तथा मेरे अन्तिम वन्दन राजाजी से कहना ।" चाण्डालनी तो कंकण-सहित दोनों कलाइयाँ लेकर राजा के पास पहुँच गई ।

इस ओर, हाथों की कलाइयाँ काटे जाने से कलावंती रानी को असह्य वेदना होने लगी । उस वेदना की दहशत से रानी का प्रसव हो गया । रानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । परन्तु इस घोर जंगल में इसका (प्रसवकार्य करानेवाला) कौन ? एक तो हाथ की कलाइयाँ कट गई हैं, उसकी वेदना और दूसरी - प्रसव की असह्य पीड़ा भोगकर उसने पुत्र को जन्म दिया । किन्तु यहाँ अशुचि साफ करके शुचिकर्म करने के लिए पानी नहीं है । रानी और पुत्र दोनों निराधार पड़े हैं । ऐसे समय में रानी प्रार्थना करती है - "प्रभो ! मैंने मन-वचन-काया से अपने पति के सिवाय अन्य किसी भी पुरुष के समक्ष कुदृष्टि से न देखा हो तो मुझे सहायता कीजिए ।" रानी के शील के प्रभाव से देवों के आसन चलायमान हुए । सती को कष्ट में पड़ी देखकर देवों ने (वैक्रियशक्ति से) वहाँ जल से परिपूर्ण सरोवर बना दिया । फलतः रानी पुत्र की अशुचि शुद्ध करने जाती है, किन्तु कलाई न होने से पुत्र हाथ से छटक जाता है । सोचा - 'अब इसे पकड़ना और लेना कैसे ?' फिर भी वह अपने (कटे हुए) दोनों हाथ पानी में डालती है । तब (आश्चर्यसहित) वहाँ कलावंती रानी के दोनों हाथ कंकण-सहित पहले जैसे थे, वैसे (पूर्ववत्) हो जाते हैं । यह था सती के शील का प्रभाव !

बारह वर्ष के पश्चात् जब राजा को मालूम हो जाता है कि कलावंती रानी को दोनों कंकण उसके भाई ने भेजे थे, तब राजा को अपनी भूल के लिए अत्यन्त पश्चात्ताप होता है । 'भाई तो बहन को प्रिय होता ही है ! रानी की बात सच्ची ही थी न ? अरर... मैंने यह क्या किया ? पवित्र सती के सिर पर कुसती होने का कलंक चढ़ाया । धिक्कार है मुझे ! अब उस (रानी) का क्या हुआ होगा ?' इस प्रकार राजा को घोर प्रश्चात्ताप हुआ । तत्पश्चात् राजा ने वन में कलावंती रानी की तलाश करवाई । खबर मिलने पर राजा स्वयं माता-पुत्र दोनों को राज्य में ले आता है । किन्तु कलावंती अब संसार से विरक्त होकर साध्वी दीक्षा अंगीकार कर लेती है ।

बन्धुओं ! देखो, राग और द्वेष के बन्धन कैसे-कैसे कर्म कराते हैं ? सुलोचना ने राग के वश होकर क्रोधावेश में आकर तोते के पंख काट डाले थे, तो इस भव में राजा ने उसके दोनों हाथों की कलाइयाँ कटा डाली थीं । वैर पूरा होने पर सच्ची समझ आई तो राजा को अपार पश्चात्ताप हुआ । इसीलिए कहा है कि 'जैसे भी हो सके वैसे राग और द्वेष को मन्द करना सीखो ।' ऐसी महान नर-नारियों (सज्जन और सतियों) के उदाहरण सुनकर एवं स्मरण करके अपने जीवन को पवित्र बनाओ ! अधिक भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

"राजा ने ऐसा आदेश दिया है, परन्तु मुझे यह काम नहीं करना है । अगर हम यहाँ रहते हुए राजा की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे तो राजा कोपायमान हो जाएगा । उसकी अपेक्षा गाँव छोड़कर चले जाएँ ।" इस पर उसकी पत्नी कहती है - "तुमसे यह काम नहीं होता है तो मैं जाती हूँ, यह काम करके आती हूँ, तुम घर में सो जाओ । अपना तो यह रात-दिन का काम है । इसमें डर काहे का ? ऐसे पाप का हम विचार करें तो रहना भी नहीं हो सकेगा ।" देखिए, पति और पत्नी के विचार और संस्कार में कितना अन्तर है ? पति जाति से चाण्डाल है, परन्तु कर्म से नहीं, जाति से चाण्डाल अच्छा है, पर कर्म से चाण्डाल बुरा है । उसकी पत्नी तो जाति और कर्म, दोनों तरह से चाण्डाल थी ।

चाण्डालनी ने कलावंती की कलाइयाँ काट लाने का काम सिर पर लिया । वह राजा के आदेश के अनुसार रानी को रथ में बिठाकर ले जा रही है । रानी ने उससे पूछा - "मुझे रथ में बिठाकर कहाँ ले जा रही हो ?" तब चाण्डालनी ने कहा - "राजाजी ने आपको पीहर पहुँचाने का कहा है, इसलिए पीहर ले जा रही हूँ ।" इस पर रानी ने पूछा - "बहन ! मेरा पीहर तो बहुत दूर है, फिर इस घोर जंगल में तुमने रथ क्यों रूकवाया ?" चाण्डालनी बोली - "देखिए, रानीजी ! अब आपको मैं सच्ची बात कह देती हूँ । आपको पीहर पहुँचाने का राजाजी का आदेश नहीं है, किन्तु आप से कोई अपराध हो गया होगा, इस पर से खफा होकर कंकण-सहित आपके दोनों हाथों की कलाइयाँ काट लाने का कहा है । इस कारण आपको मैं इस जंगल में लाई हूँ । अब आप रथ से नीचे उतर जाएँ ।" कलावंती बहुत सरल थी, सोचने लगी - 'ऐसा मेरा कौन-सा अपराध है ? किस कारण से राजाजी ने मुझे यह सजा फरमाई है ?' वह समझ नहीं सकी । इस कारण दिल को जरा आघात लगा । परन्तु सज्जन मनुष्य सिंह-जैसी दृष्टि (वृत्ति) रखते हैं, श्वान जैसी दृष्टि नहीं । इस दृष्टि से रानी ने विचार किया कि मेरी ही कोई पूर्वकृत कर्म उदय में आया है । राजाजी का क्या दोष है ? *कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि* - 'किये हुए कर्मो को भोगे बिना छुटकारा नहीं है ।' आप भी कर्मो का उदय हो, तब ऐसा विचार करें कि हे जीव ! तेरे द्वारा किये हुए कर्मो का फल भोगे बिना, तेरा छुटकारा होनेवाला नहीं है । कलावंती रानी के अन्तःकरण में यही सूत्र रम रहा था । इस कारण गर्भवती अवस्था में हाथों की कलाइयाँ कटवाने का वक्त आया, तब जरा भी विलाप नहीं किया । उसने चाण्डालनी से कहा - "मेरे इस दाहिने हाथ की कलाई तो मैं स्वयं काट कर तुम्हें दे दूंगी । दाहिना हाथ तो मैंने अपने पति को सौंप दिया है, अतः वह हाथ तो दूसरे के हाथ में नहीं सौंपा जा सकता ।" इतना कहकर एक झटके में कलावंती ने छुरी से अपने दाहिने हाथ की कलाई काटकर चाण्डालनी को सौंप दी । फिर चाण्डालनी ने बांये हाथ की कलाई काट डाली । रानी ने चाण्डालनी से कहा -

"वहन ! मेरे स्वामी को कंगन-सहित ये दोनों कलाइयाँ दे देना तथा मेरे अन्तिम वन्दन राजाजी से कहना ।" चाण्डालनी तो कंकण-सहित दोनों कलाइयाँ लेकर राजा के पास पहुँच गई ।

इस ओर, हाथों की कलाइयाँ काटे जाने से कलावंती रानी को असह्य वेदना होने लगी । उस वेदना की दहशत से रानी का प्रसव हो गया । रानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । परन्तु इस घोर जंगल में इसका (प्रसवकार्य करानेवाला) कौन ? एक तो हाथ की कलाइयाँ कट गई हैं, उसकी वेदना और दूसरी - प्रसव की असह्य पीड़ा भोगकर उसने पुत्र को जन्म दिया । किन्तु यहाँ अशुचि साफ करके शुचिकर्म करने के लिए पानी नहीं है । रानी और पुत्र दोनों निराधार पड़े हैं । ऐसे समय में रानी प्रार्थना करती है - "प्रभो ! मैंने मन-वचन-काया से अपने पति के सिवाय अन्य किसी भी पुरुष के समक्ष कुदृष्टि से न देखा हो तो मुझे सहायता कीजिए ।" रानी के शील के प्रभाव से देवों के आसन चलायमान हुए । सती को कष्ट में पड़ी देखकर देवों ने (वैक्रियशक्ति से) वहाँ जल से परिपूर्ण सरोवर वना दिया । फलतः रानी पुत्र की अशुचि शुद्ध करने जाती है, किन्तु कलाई न होने से पुत्र हाथ से छटक जाता है । सोचा - 'अब इसे पकड़ना और लेना कैसे ?' फिर भी वह अपने (कटे हुए) दोनों हाथ पानी में डालती है । तव (आश्चर्यसहित) वहाँ कलावंती रानी के दोनों हाथ कंकण-सहित पहले जैसे थे, वैसे (पूर्ववत्) हो जाते हैं । यह था सती के शील का प्रभाव !

वारह वर्ष के पश्चात् जब राजा को मालूम हो जाता है कि कलावंती रानी को दोनों कंकण उसके भाई ने भेजे थे, तब राजा को अपनी भूल के लिए अत्यन्त पश्चात्ताप होता है । 'भाई तो वहन को प्रिय होता ही है ! रानी की वात सच्ची ही थी न ? अरर... मैंने यह क्या किया ? पवित्र सती के सिर पर कुसती होने का कलंक चढ़ाया । धिक्कार है मुझे ! अव उस (रानी) का क्या हुआ होगा ?' इस प्रकार राजा को घोर पश्चात्ताप हुआ । तत्पश्चात् राजा ने वन में कलावंती रानी की तलाश करवाई । खवर मिलने पर राजा स्वयं माता-पुत्र दोनों को राज्य में ले आता है । किन्तु कलावंती अव संसार से विरक्त होकर साध्वी दीक्षा अंगीकार कर लेती है ।

वन्धुओं ! देखो, राग और द्वेष के वन्धन कैसे-कैसे कर्म कराते हैं ? सुलोचना ने राग के वश होकर क्रोधावेश में आकर तोते के पंख काट डाले थे, तो इस भव में राजा ने उसके दोनों हाथों की कलाइयाँ कटा डाली थी । वैर पूरा होने पर सच्ची समझ आई तो राजा को अपार पश्चात्ताप हुआ । इसीलिए कहा है कि 'जैसे भी हो सके वैसे राग और द्वेष को मन्द करना सीखो ।' ऐसी महान नर-नारियों (सज्जन और सतियों) के उदाहरण सुनकर एवं स्मरण करके अपने जीवन को पवित्र वनाओ ! अधिक भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

शालिग्राम नगर में नन्दीवर्धनमुनि पधारे हैं । उनके शिष्य सत्यभूतिमुनि भिक्षाचारी के लिए जा रहे थे । वहाँ दो ब्राह्मणपुत्र मुनि के साथ मार्ग में वाद-विवाद करने लगे । वाद-विवाद में मुनि ने दोनों ब्राह्मणपुत्रों से पूछा - "पूर्वभव में तुम कौन थे ? यह मुझे कहो ।" तब उन्होंने कहा - "पूर्वभव में हम कौन थे ?, यह हम नहीं जानते । अगर आप जानते हों तो हमें कहिए ।" अतः अब सत्यभूतिमुनि उन दोनों अभिमानी ब्राह्मणपुत्रों के पूर्वभव की बात कहते हैं ।

विप्रों ! इस गाँव में प्रवर नाम का एक ब्राह्मण रहता था । वह खेती करके अपना गुजारा चलाता था । वह एक दिन हल लेकर खेत जोतने के लिए गया था, तब आकाश में घनघोर मेघ छा गए थे । मेघगर्जनाएँ जोरशोर से हो रही थीं । इस कारण प्रवर ब्राह्मण अपनी बैलगाड़ी, हल आदि सब खेत में छोड़कर घर आ गया। सात दिन और सात रात तक मूसलधार वर्षा हुई । ऐसी बरसात में मनुष्य तो घर में जो कुछ होता है, खाकर पेट भर लेता है । परन्तु बेचारे अबोल पशुओं की क्या दशा होती है ? बेचारे पशु भूख से पीड़ित होने लगे । आठवें दिन बरसात बंद होने के बाद दो सियार प्रवर ब्राह्मण के खेत में घुसे । वे बहुत भूखे थे । वहाँ ब्राह्मण के गाड़े के चमड़े की नाड़ी बंधी हुई थी । ७ दिन के भूखे सियार उस चमड़े की नाड़ी को दांत से काटकर खा गए । ७ दिन के भूखे सियारों द्वारा एकदम चमड़े की नाड़ी खा जाने से उनके पेट में आफरा चढ़ गया । पेट फूलकर ढोल-सा हो गया । फलतः दोनों सियार वहीं के वहीं मर गए । वे दोनों सियार मरकर प्रवर ब्राह्मण के तुम दोनों पुत्र हुए ।

इस तरफ वर्षा बन्द होने के बाद प्रवर ब्राह्मण खेत में आया । अपने गाड़े की नाड़ी कोई खा गया है, यह जानकर वह बहुत क्रुद्ध हुआ । उसने वहाँ मरे हुए दो सियारों को देखा । उसे ऐसा लगा कि ये दोनों सियार ही मेरे गाड़े की नाड़ी खा गए होंगे । इस कारण क्रोधाविष्ट होकर उसने दोनों सियारों की चमड़ी उधेड़वाकर खेत में रहने के लिए बांधे हुए छपरे पर लटका दी । यह बात तुम न मानते हो तो खेत में जाकर तलाश कर लो ।" इस तथ्य की प्रतीति करने के लिए बहुत-से लोग खेत में देखने गए । किसान से पूछने पर सच्ची बात की प्रतीति हो गई । लोग कहने लगे - "पूर्वभव के सियार ब्राह्मण के यहाँ पुत्र के रूप में आकर जन्मे हैं ।" यह सुनकर उनको बहुत दुःख हुआ । एक तो यह कि सत्यभूतिमुनि से वे विवाद में पराजित हो गए । दिल में उसका बहुत दुःख था । दूसरा दुःख था कि लोग इस प्रकार बोलने लगे ।

पिता द्वारा निकाले गए उद्‌गार - शास्त्र से हार गए तो शस्त्र था न ? : ये दोनों ब्राह्मणपुत्र अपने ज्ञान का अहंकार लेकर फिरते थे । किन्तु जैनमुनि के साथ विवाद में हार जाने से उदास होकर घर आए । उनके पिता ने उदासी का कारण पूछा, तो उन्होंने अपने हार जाने की बात पिता के आगे कही । सुनकर उनके पिता दोनों पुत्रों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और बोले - ''दुष्टों ! मैंने तुम्हें पढ़ाने के लिए कितना धन खर्च किया है, मैंने कितना बलिदान देकर तुम्हें पढ़ाया है । तुम पराजित होकर अपना काला मुँह किसलिए मुझे दिखाने आए हो ? मुझे तुम्हारा मुख देखकर शर्म आती है । जब तुम शास्त्रविद्या में हार गए तो शस्त्रविद्या से तो उसे जीतना था ?'' इन दोनों पुत्रों को पिता की बात यथार्थ लगी । सचमुच, उस साधु ने हमें हराकर हमारा घोर अपमान किया है । अतः उसे (साधु को) 'किसी भी तरह से मार डालना चाहिए ।' ऐसा निर्णय करके निरपराधी साधुओं की हत्या करने की योजना बनाने लगे ।

गुरु के द्वारा दिया गया आदेश : सत्यभूतिमुनि ब्राह्मणपुत्रों को हराकर हर्षित होकर गुरु के पास जय का वृत्तान्त कहने आए । परन्तु गुरु ज्ञानी थे । सत्यभूतिमुनि ब्राह्मणों के साथ वादविवाद करके किस प्रकार जीते थे ? यह बात गुरुजी जानते थे । इस कारण गुरुजी ने अपने ज्ञान द्वारा जानकर कह दिया - ''हे शिष्य ! तुमने उन घमंडी ब्राह्मणों के साथ विवाद करके अच्छा नहीं किया, क्योंकि वे दोनों व्यक्ति महापापी हैं । वे तुम्हारे साथ विवाद में हारकर घर गए । अतः उनके पिता ने उन्हें बहुत उपालम्भ दिया और उनका तिरस्कार किया । इस कारण उन्होंने आज रात को यहाँ आकर साधुओं को शस्त्र द्वारा मार डालने की योजना बनाई है ।'' यह सुनकर सत्यभूतिमुनि कांप उठे । उनकी आँखों में आंसू आ गए । गुरुदेव के चरणों में पड़कर पूछने लगे - ''गुरुदेव ! आप मुझे ऐसा कोई उपाय बताइए, ताकि हम इस उपसर्ग से बच जाएँ ।'' इस पर गुरुदेव ने कहा - ''हे शिष्य ! तुमने जिस स्थल पर ब्राह्मणों के साथ वादविवाद किया था, उसी स्थल पर आज शाम को जाओ और शक्रेन्द्रजी महाराज की आज्ञा लेकर तुम वहाँ ध्यान में लीन होकर खड़े रहना । ऐसा करने से वहाँ तुम्हारा और चतुर्विध संघ का कल्याण होगा ।''

गुरु की आज्ञा प्राप्तकर सत्यभूतिमुनि ने ब्राह्मणों के साथ जिस स्थल पर विवाद किया था, उस स्थलपर सन्ध्या-समय जाकर वह कायोत्सर्ग ध्यान में लीन हो गए । दोनों ब्राह्मणपुत्र आधी रात को तलवार, छुरे आदि हिंसक शस्त्र लेकर मुनियों को मारने के लिए जा रहे थे । तभी मार्ग में सत्यभूतिमुनि को ध्यानस्थ खड़े देखे । अतः उत्तेजित होकर बोले - ''इस दुष्ट साधुड़े ने हमें इस स्थल पर हराया और हमें लोगों के बीच में बदनाम करके हमारा [illegible] किया है । बस, इस

हैं । अतः कीर्ति का मनुष्य के जीवन में सच्चा साथ है । कोई यह भी मानता है कि अगर अच्छा मित्र हो तो दुःख में भी साथ देता है, घूमने-फिरने में अच्छी कंपनी रहे, संसार में आकुल-व्याकुल हो गए हो, या चिन्तित-व्यथित हों तो हृदय को आश्वासन देकर शीतल बना सकता है । अतः मित्र का साथ अच्छा है । इस प्रकार मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धि और सूझ-बूझ से पृथक्-पृथक् व्यक्ति और वस्तु को अपने जीवन का सच्चा साथ (या साथी) मानता है । क्यों यह बात सही है न ? परन्तु इनको साथ के रूप में सच्चे माननेवाले को यह पता नहीं है कि पैसे, पुत्र, पत्नी, कीर्ति, शरीर और भोजन इन सबका साथ कबतक है ? क्या इन सबका साथ कायम टिकनेवाला है ? बोलो, पैसे, पुत्र, पत्नी, परिवार, कीर्ति, शरीर और भोजन, क्या ये सब परलोक में तुम्हारे साथ आएँगे ? पैसा, पुत्र, पत्नी, परिवार आदि सब पौद्गलिक सुख आत्मा से पर है । ये सब तुझे इस भव में भी स्थायी सुख या शान्ति देनेवाले नहीं हैं, तो परभव की तो बात ही कहाँ करनी है ? अगर ये सब जीवन के सच्चे साथी होते तो बहुत-से लोगों को ऐसे सुख मिल गये होते ? सुनिए -

श्रेणिकराजा के पास कितनी समृद्धि थी ? मगधदेश का विशाल राज्य था । चेलना जैसी पवित्र पतिव्रता पत्नी थी । जिसका राज्य विशाल हो, उसके पास वैभव की क्या कमी हो सकती है ? उनकी कीर्ति भी चारों दिशाओं में फैली हुई थी । शरीर स्वस्थ था । बड़े राजा उनके मित्र न हों, ऐसा कैसे हो सकता है ? उनके यहाँ जिसे तुम सच्चा साथ मानते हो, वह सब था । फिर भी ऐसे समृद्धमान राजा को भी उसके पुत्र कोणिक ने जेल में बंद कर दिया । अगर उपर्युक्त सभी साथ सच्चे होते तो श्रेणिकराजा को क्या जेल में से नहीं छुड़ा सकते थे ? कोणिक ने श्रेणिकराजा को जेल में बंद करके कितनी भयंकर यातनाएँ दी थीं ? उस स्थिति में कोई भी आड़ा हाथ नहीं दे सका । महान पुरुष तो ऐसे नश्वर साथ के संयोग में सुख या दुःख नहीं मानते । वे तो अपने किये हुए कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) को मानते हैं । अपने किये हुए कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं । श्रेणिकराजा को कोणिक ने जेल में क्यों बंद किया ? पूर्वभव में कोणिक तापस था और श्रेणिकराजा ने उसे पारणा करने का आमंत्रण दिया । किन्तु संयोगवश तापस को पारणा करा न सके । इस कारण तापस को उनके प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ । फलतः उसने नियाणा (निदान) किया कि मैं भविष्य में इसे मारनेवाला बनूं । यह तापस था, इस कारण से ऐसा हुआ । किन्तु जैन साधु-साध्वी को कोई भी न्योता दे तो वे उसके यहाँ गौचरी नहीं जाते । गौचरी में आहार मिले या नहीं भी मिले; सदा समभाव में रहते हैं । 'आचारांग ...' (श्रु.-१, अ.-२, उ.-५/११७) में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है -

लाभुत्ति न मज्जेज्जा, अलाभुत्ति न सोएज्जा ।

अर्थात् लाभ मिले तो हर्षित न हो, और न मिले तो शोक न करे । स
इस प्रकार से गौचरी करते हैं कि स्वयं को आहार-पानी का लाभ मिले

देनेवाले को सुपात्रदान देने का लाभ मिले । 'ठाणांग सूत्र' में दस प्रकार के दान का निरूपण है । उनमें तीन प्रकार के दान मुख्य हैं - सुपात्रदान, ज्ञानदान और अभयदान । इन तीन प्रकार के दानों में भी अभयदान सर्वश्रेष्ठ है । किन्तु इस समय हम ज्ञानदान पर विचार करेंगे । क्योंकि ज्ञान द्वारा यह सब समझ में आ जाता है कि सुपात्रदान किसे कहते हैं ? वह कैसे दिया जाता है ? सुपात्रदान देने से क्या लाभ होता है ? तथैव अभयदान किसे कहा जाता है ? अभयदान किसे दिया जाता है ? ज्ञान सुख-दुःख में शान्ति दिलाता है । ज्ञान द्वारा खरे-खोटे या सच्चे-झूठे का पता लग जाता है । अतएव ज्ञानदान की भी विशेषता है । देखिए -

जं तेहिं दायव्वं, तं दिन्नं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
दंसण-नाण-चरित्तस्स, एस तिविहस्स उवएसो ॥

तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेने से पहले एक वर्ष तक प्रचुरमात्रा में दान देते हैं । और दीक्षा लेने के बाद भी भव्यजीवों को ज्ञान-दर्शन-चारित्र का उपदेश देते हैं, अनेक जीवों के अज्ञान को दूर करके ज्ञानामृत का पान कराते हैं और स्व-पर का उद्धार करते हैं । इसलिए ज्ञानदान जीव के लिए अत्यन्त उपकारक है । सम्यग्ज्ञान आत्मा को उज्ज्वल बनाता है । ज्ञान द्वारा बन्ध और मोक्ष को जाना जा सकता है । ज्ञान द्वारा मनुष्य यह जान सकता है कि बड़े से बड़ा दुःख कौन-सा है ? इस लोक में सबसे मुख्य दुःखों में एक तो अज्ञान है, और दूसरा है - जन्म, जरा, रोग और मृत्यु का दुःख । इन सब दुःखों का मूल कारण है - कर्म । संसार जन्म-मरणादि रूप है । संसार का बीज है - कर्म और कर्म का बीज है - राग-द्वेष । यह सब ज्ञान द्वारा समझा जा सकता है । निष्कर्ष यह है कि ज्ञान परमसुख है और अज्ञान महादुःख है ।

चक्रवर्ती के यहाँ कितनी सुख-समृद्धि होती है ? चक्रवर्ती की सेवा में कितने देव हाजिर रहते हैं ? चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न होते हैं । वह बड़ी गुफा में जाता है तो उसके दण्डरत्न के प्रभाव से गुफा के द्वार खुल जाते हैं । उन्हें समुद्र पार करना हो तो अपना चर्मरत्न वहाँ जाकर रख देते हैं, वह रत्न नौका की तरह सामनेवाले किनारे पर पहुँचा देता है । ऐसा होता है - चक्रवर्ती का पुण्य ! फिर भी उन्हें ऐसा लगा कि संसार के सुख भोगने का फल अन्त में दुःख है । किसी वृक्ष के फल खाने में स्वादिष्ट, दिखने में अत्यन्त मनोहर और बहुत मीठे हैं, मगर कोई तुम्हें कहे कि यह फल स्वाद में तो मधुर है, किन्तु इसके खाने से आदमी मर जाता है, तो क्या तुम उसे खाओगे ? अरे ! खाओगे तो हर्गिज नहीं, मगर उसका प्रयोग भी नहीं करोगे कि अमुक मनुष्य कहता है कि यह फल जहरीला है, तो किसी ने इसे खाया है क्या ? और इसके खाने से कोई मर गया है क्या ? अगर किसी ने नहीं खाया है तो मैं जरा खाकर तो देखूं कि क्या होता है ? किन्तु इस विषय में कोई प्रयोग करने नहीं जाता । अतः एक व्यक्ति के द्वारा कही हुई बात को तो मान लेते हो, परन्तु तीर्थंकर-प्रभु द्वारा कही हुई

वाणी (बात) पर तुम्हें विश्वास नहीं है। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि - "हे जीव ! ये संसार के सुख भोगने में तो मीठे लगते हैं, दिखने में तो सुहावने लगते हैं, किन्तु उनका परिणाम (अन्त में) दुर्गति है। और दुर्गति में जीव को भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं।" सांसारिक सुख के फल कटु और विषम हैं। इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि "संसार में जिसे तुम सच्चा साथ (साथी) मानते हो, वह सच्चा साथ (साथी) नहीं है।"

मोह में उन्मत्त बने हुए मानव को यह पता नहीं है कि संसार का साथ साथ में आनेवाला या सदा रहनेवाला नहीं है। संसार के सुख के लिए धन और शरीर को साथ माननेवाले को यह भान नहीं है कि इस शरीर में कब रोग आ धमकेगा ? धन कब भाप की तरह बिखर जाएगा ? तब माथे पर हाथ देकर बैठ जाना पड़ेगा। रूपवती और आज्ञाकारिणी पत्नी भी आयुष्य पूरा हो जाने पर छोड़कर चली जाएगी। कठोर मेहनत से प्राप्त उज्ज्वल कीर्ति भी एक गलती (भूल) हो जाने पर कलंकित हो जाएगी। *अब समझ में आती है कि सत्ता, बल, सम्पत्ति वगैरह अत्यन्त* आकर्षक प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ चिरस्थायी रहनेवाली नहीं हैं। या तो मनुष्य को उनको त्याग (छोड़) कर जाना पड़ता है, अथवा पुण्य समाप्त होते ही अधबीच में ही वे दगा देकर चली जाती हैं। अतएव ज्ञानी पूछते हैं कि सच्चा साथ कौन-सा है ? ज्ञान-दर्शनरूपी साथ (संग) भव-भ्रमण का अन्त कराकर चिरस्थायी शाश्वत सुख दिलाता है। वह सुख कभी जाता नहीं। अतः तुम सम्यग्ज्ञान-दर्शन का साथ करो।

इस जीव ने जगत् में जन्म लेकर सबके लिए किया, परन्तु अपने (कल्याण के) लिए कुछ नहीं किया। अनादिकाल से वह मोहनिद्रा में सोया रहता है। उसे जगाओ। वह नहीं जागेगा तो सारी बाजी बिगड़ जाएगी।

नवाब का दृष्टांत : एक नवाब था। उसके जनानखाने में बहुत-सी बेगमें थीं। वह नवाब रात-दिन अपनी बेगमों के सौन्दर्य में लुब्ध होकर भोग-विलास में आसक्त रहता था। इस कारण वह कभी राजसभा में नहीं आता था। पुण्योदय से उसका प्रधान बहुत अच्छा था। इस कारण वह राज्य-व्यवस्था बहुत अच्छी तरह से चलाता था। *किन्तु नवाब तो इतने अधिक रागरंग और सुखविलास की मोहमाया में मस्त रहते थे* कि किसी को कोई शिकायत करनी हो या मुलाकात लेनी हो तो भी नवाब के कदापि दर्शन नहीं होते थे। *बन्धुओं ! कामभोग का कीचड़ आत्मा की खराबी करनेवाला* है। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य का पवित्र जल आत्मा को विशुद्ध बनानेवाला है। भगवान ने कहा है - *"खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ।"* कामभोग तो अनेक अनर्थो की खान है। कामभोग की तीव्र अभिलाषा से जीव को दुर्गति में जाना पड़ता है, और वहाँ भयंकर कष्ट सहने पड़ते हैं। अगर तुम्हें आत्मा का श्रेय (कल्याण) करना हो तो अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचर्य में आओ। भगवान ने ब्रह्मचर्यव्रत को समुद्र की उपमा दी है। जबकि दूसरे व्रतों को नदी के समान कहा है।

सेठ-सेठानी का दृष्टांत : कच्छ की पवित्र भूमि में विजयसेठ और विजया सेठानी
हो गए हैं । इन दोनों आत्माओं का जब विवाह नहीं हुआ था, तब उनको साधु-
साध्वियों का समागम हुआ था । दोनों पवित्र और धर्मिष्ठ जीव थे । दोनों अभी कुंवारे
थे, तब भागवती साधुदीक्षा लेने की उनकी भावना थी । किन्तु उनके माता-पिता ने
आज्ञा नहीं दी । अतः अन्त में, विजया ने कृष्णपक्ष में और विजय ने शुक्लपक्ष में
ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ले ली । योगानुयोग ऐसा हुआ कि इन दोनों जीवों का
विवाह हो गया । विजयकुमार के माता-पिता ने इन दोनों के लिए एक सुन्दर महल
सुसज्जित कर रखा था । पति-पत्नी दोनों का मधुर मिलन हुआ । विवाह हुआ उस
समय कृष्णपक्ष चल रहा था । सुहाग रात को बड़ी उमंग से विजयकुमार अपनी
पत्नी के पास आया । उस अवसर पर विजया उनके चरणों में नत होकर बोली -
''नाथ ! मैं आपसे एक भिक्षा मांगती हूँ । आप मेरे जीवन के सच्चे साथी हैं । मुझे
आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि आप मेरी मांग अवश्य पूरी करेंगे । आप इस भव
में मेरी देह के साथी बने हैं, अतः मोक्ष में जाने की साधना करने में भी मेरे सच्चे
साथी बनकर रहना, ऐसी मेरी प्रार्थना है ।'' विजयकुमार ने कहा - ''विजया ! तेरी
जो इच्छा हो, वह बता दो । मैं तेरी मांग अवश्य पूरी करूँगा ।'' इस पर विजया ने
कहा - ''स्वामीनाथ ! मुझे साध्वी दीक्षा लेनी थी, किन्तु माता-पिता ने इसकी आज्ञा
नहीं दी । अन्ततः मैंने अपनी अन्तरात्मा से विचार किया कि मनुष्यजीवन मिला है,
तो इस जीवन का कुछ पाथेय (भाता) तो जरूर बांध लूं । इस दृष्टि से मैंने कृष्णपक्ष
में ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा ली है ।''

विजया सेठानी की कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा थी । देखिए ! ये दोनों
आत्माएँ कितनी जागृत थीं ! विजया सेठानी की प्रतिज्ञा पूरी हो गई । शुक्लपक्ष के
दिन आए । शुक्लपक्ष के प्रथम दिन समस्त श्रृंगार से सजधज कर विजया सेठानी तैयार
हुई । विजयसेठ ने उससे कहा - ''विजया ! मैंने तेरी प्रतिज्ञा के पालन करने में पूर्ण
सहयोग दिया है, अब तुझे मेरी प्रतिज्ञा के पालन करने में पूर्ण सहयोग देना पड़ेगा ।''
विजया सेठानी प्रसन्नमन से बोली - ''नाथ ! पति की प्रतिज्ञा पालन करने में सहयोग
देना, सती स्त्री का धर्म है । कहिए, आपकी क्या प्रतिज्ञा है ?'' तब विजय सेठ ने कहा
- ''जैसे तुम्हारी ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा कृष्णपक्ष की है, वैसे ही मेरी प्रतिज्ञा
शुक्लपक्ष की है ।'' यह सुनकर विजया सेठानी अत्यन्त हर्षित हुई । अहो ! मैं कैसी
भाग्यशालिनी हूँ कि ऐसे पति के साथ विवाह करने से मुझे जिंदगीभर ब्रह्मचर्य-पालन
करने का अवसर मिला । अतः उसने कहा - ''स्वामीनाथ ! आपकी प्रतिज्ञा के पालन
में मेरा पूरा सहयोग है । मैं तो स्त्रीजाति की हूँ । मुझे तो अनायास ही महान लाभ
मिला है । किन्तु आपके कृष्णपक्ष की छूट है तो मेरी अनुमति है कि आप गजांखुशी
से शादी कर सकते हैं ।'' इस पर विजयसेठ ने कहा - ''विजये ! तुम यह क्या क
रही हो ? हम दोनों आज महाभाग्यशाली बने हैं कि दोनों के आध्यात्मिक विकास

मनोरथ पूर्ण हुए हैं । अब तो जब मेरे माता-पिता हमारी प्रतिज्ञा जान जाएँगे, तब हम दोनों भागवती दीक्षा अंगीकार कर लेंगे ।" अहा ! वे कितने पवित्र आत्मा थे ?

देवानुप्रियों ! विजयसेठ और विजया सेठानी के आजीवन पूर्णब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा के स्वयं तीर्थंकर भगवान ने बखान किये हैं । ब्रह्मचारी को भगवत्तुल्य कहा गया है । ब्रह्मचर्य के तेज के समक्ष सहस्त्ररश्मि सूर्य का तेज भी फीका पड़ जाता है ।

बन्धुओं ! यह कुटुम्ब कैसा पवित्र जीवन जीवीत था ? पास में करोड़ों की सम्पत्ति होते हुए भी उनमें किसी प्रकार का कुव्यसन, फैशन या दुराचरण नहीं था । आज तो आप और हम देखते हैं कि जिसके पास जितना अधिक धन बढ़ा है, उसमें उतनी ही अधिक उद्धतता प्रायः बढ़ी है । आज के संतानों को धर्म का नाम लेना अच्छा नहीं लगता । उन्हें तो प्रायः नाटक-सिनेमा और क्लबों में आनन्द आता है । फलस्वरूप विषय-वासनाएँ बढ़ती जा रही हैं । पवित्रात्माओं को भी पुण्योदय से करोड़ों की सम्पत्ति मिली हो, किन्तु जीवन में संत-समागम या देवाधिदेव, निर्ग्रन्थ धर्मगुरु एवं सद्धर्म की उपासना-आराधना का योग न मिले तो वह सम्पत्ति या सुख-सामग्री उसके लिए अंगारों की-सी लगने (होने) लगती है । वीतराग-परमात्मा के अनुगामी साधु-साध्वीवर्ग तुम्हारे प्रति एकमात्र सहानुभूतिवश पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेषादि विकारों का वमन करने का कहते हैं । उनका मन करुणा-प्रेरित होकर सोचता है - वीतराग-परमात्मा का अनुगामी श्रावकवर्ग नरक या तिर्यंच जैसी दुर्गति में नहीं जाना चाहिए । इसीलिए साधु-साध्वीगण भगवान का सुन्दर संदेश लेकर तुम्हारे पास आए हैं । इसे सुनकर या ग्रहण करके जीव को कितना आनन्द होना चाहिए ? आप सब इस पर चिन्तन-मनन और आचरण करें ।

ऐसे निःस्वार्थ सन्देश से आपकी आत्मा जग जानी चाहिए : एक बार एक बाई का पति बिदा होकर परदेश जा रहा था । जाते समय उसने अपनी पत्नी से कहा - "मैं वहाँ पहुँचकर तुरंत पत्र लिखूंगा । तू शान्ति से रहना ।" पति को परदेश गए १५ दिन हो गए, परन्तु उसका कोई पत्र या समाचार नहीं आया । वह प्रतिदिन अपने पति के पत्र की प्रतीक्षा करती थी । पोस्टमेन जब उसकी गली में आता तो वह बाई पति के पत्र की इंतजार में दौड़कर उसके पास पहुँचकर पति के पत्र की पूछताछ करती थी । पति का कोई पत्र या समाचार जब नहीं मिलता तो वह उदास हो जाती थी । यों एक महीना, दो महीने करते-करते एक वर्ष पूर्ण होने को आया, किन्तु पति का कोई भी पत्र नहीं आया । इससे पत्नी की चिन्ता बढ़ने लगी कि मुझे वे तुरंत पत्र लिखने का कह गए थे, किन्तु ऐसा कैसे हुआ ? उनको क्या हुआ होगा कि वह मुझे पत्र नहीं लिखते ? पति के वियोग में उसकी पत्नी रोती और विलाप करती थी । इसी सन्दर्भ में योगी आनन्दघनजी आध्यात्मिक दृष्टि से कहते हैं - "सच्चा पति तो भगवान है । इस पति से प्रीति करनेवाले को कदापि रोना नहीं पड़ता ।" कहा भी है -

'ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ रे कन्त'... ऋषभ...

दुनिया में सच्चा पति तो वही (भगवान) है कि जिसका हाथ पकड़े तो वह अपना साथ कदापि न छोड़े, कभी वैधव्य का दुःख नहीं आ पड़ता। ऐसा पति तो वीतराग भगवान हैं, भगवान जैसा दूसरा कोई कान्त (पति) नहीं है।

उक्त बाई के पति को गये १२ वर्ष होने आए, परन्तु बारह वर्ष बीत जाने के बावजूद भी पति का कोई सन्देश नहीं आया, इस कारण वह बहुत रोती है, विलाप करती है। आध्यात्मिक दृष्टि से सोचें तो हमारा आत्मा भी निगोद में गया। वहाँ अनन्तकाल तक रहा। वहाँ उसे भगवान रूपी पति का कोई सन्देश नहीं मिला था। नरक में भी दीर्घकाल तक दुःख सहे। द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय में भी संख्यात काल व्यतीत किया। वहाँ भी प्रभु की वाणी का सन्देश नहीं मिला। वीतराग-प्रभु का सन्देश सुनने के लिए उत्तम स्थान मनुष्यभव है। यहाँ तुममें वीतराग-प्रभु का सन्देश सुनने के लिए कितनी आतुरता होनी चाहिए? बारह वर्ष से पति के वियोग से दुःखित पत्नी जैसे पति के पत्र की प्रतीक्षा करती है। वह घर में रहती है, खाती-पीती भी है, कामकाज भी करती है, परन्तु उसका चित्त अन्यत्र कहीं चिपटता नहीं। उसका मन हमेशा उसके पति में लगा रहता है; वैसे ही तुम (गृहस्थ) लोग संसार में हो, परन्तु तुम्हारा मन वीतराग-प्रभुरूपी पति में एकमात्र लीन होना चाहिए। वह (मन) अगर प्रभुमय बन जाएगा तो एक दिन अवश्य ही तुम्हें पति का पवित्र सन्देश मिलेगा। और उस सन्देश को सुनने से तुम्हें अवर्णनीय आनन्द का अनुभव होगा।

बारह वर्ष पूरा होने पर उस बाई के पति का पत्र लेकर पोस्टमेन आया। वह बोला - "बहन ! आज तुम्हारा पत्र है।" बस, इतना सुनते ही उसका हृदयरूपी मयूर नाच उठा। उसने पच्चीस रुपये देकर पोस्टमेन का सत्कार किया। तो ये वीतराग-प्रभु के सन्त-सतीवर्ग पोस्टमेन की तरह रोजाना प्रभु का वीतरागवाणीरूपी दिव्य सन्देश तुम्हें देते (सुनाते) हैं, उनका तुमलोग किस प्रकार सत्कार-सम्मान करोगे ? घबराओ मत। संत तुमसे तुम्हें जो प्रिय है, उसे मांगनेवाले नहीं हैं। उन्हें तो त्याग, तप, संयम की भेंट या सत्कार चाहिए। भला, जिन्होंने कंचन-कामिनी का त्याग किया है, और जो दूसरों को भी त्याग करने का सन्देश देते हैं; उन्हें तुमलोगों से कोई स्वार्थ नहीं है। वे तो निःस्वार्थभाव से तुम्हें वीतरागवाणी सुनाते हैं, वीतराग-प्रभु का सन्देश देते हैं। वे तो निःस्वार्थ सन्देशवाहक हैं।

उक्त बाई को उसके पति का पत्र मिला। उसमें लिखा था कि - "मुझे तुमको छोड़कर आये बारह वर्ष होने आए हैं। कार्यव्यस्ततावश मैं पत्र नहीं लिख सका। तुम्हें बहुत दुःख हुआ होगा। परन्तु तुम घबराना मत। अब मैं अपना कार्य समेट कर कायम के लिए वहाँ आ रहा हूँ।" ऐसा हर्षोत्पादक सन्देश पढ़कर पत्नी के उल्लास का पार नहीं रहा। इसी प्रकार वीतराग-प्रभु के अनुगामी संत भी प्रभु का (जिन-वचन-रूप) पत्र पढ़कर तुम्हें सन्देश देते हैं कि हे भव्यजीवों ! अनन्तकाल से मोहनिद्रा में सोये हो तो अब जागो; विषयों और वासनाओं का वमन करो, राग-द्वेष को जलाकर खाक

दुनिया में सच्चा पति तो वही (भगवान) है कि जिसका हाथ पकड़े तो वह अपना साथ कदापि न छोड़े, कभी वैधव्य का दुःख नहीं आ पड़ता । ऐसा पति तो वीतराग भगवान हैं, भगवान जैसा दूसरा कोई कान्त (पति) नहीं है ।

उक्त बाई के पति को गये १२ वर्ष होने आए, परन्तु बारह वर्ष बीत जाने के बावजूद भी पति का कोई सन्देश नहीं आया, इस कारण वह बहुत रोती है, विलाप करती है । आध्यात्मिक दृष्टि से सोचें तो हमारा आत्मा भी निगोद में गया । वहाँ अनन्तकाल तक रहा । वहाँ उसे भगवान रूपी पति का कोई सन्देश नहीं मिला था । नरक में भी दीर्घकाल तक दुःख सहे । द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय में भी संख्यात काल व्यतीत किया । वहाँ भी प्रभु की वाणी का सन्देश नहीं मिला । वीतराग-प्रभु का सन्देश सुनने के लिए उत्तम स्थान मनुष्यभव है । यहाँ तुममें वीतराग-प्रभु का सन्देश सुनने के लिए कितनी आतुरता होनी चाहिए ? बारह वर्ष से पति के वियोग से दुःखित पत्नी जैसे पति के पत्र की प्रतीक्षा करती है । वह घर में रहती है, खाती-पीती भी है, कामकाज भी करती है, परन्तु उसका चित्त अन्यत्र कहीं चिपटता नहीं । उसका मन हमेशा उसके पति में लगा रहता है; वैसे ही तुम (गृहस्थ) लोग संसार में हो, परन्तु तुम्हारा मन वीतराग-प्रभुरूपी पति में एकमात्र लीन होना चाहिए । वह (मन) अगर प्रभुमय बन जाएगा तो एक दिन अवश्य ही तुम्हें पति का पवित्र सन्देश मिलेगा । और उस सन्देश को सुनने से तुम्हें अवर्णनीय आनन्द का अनुभव होगा ।

बारह वर्ष पूरा होने पर उस बाई के पति का पत्र लेकर पोस्टमेन आया । वह बोला - "बहन ! आज तुम्हारा पत्र है ।" बस, इतना सुनते ही उसका हृदयरूपी मयूर नाच उठा । उसने पच्चीस रुपये देकर पोस्टमेन का सत्कार किया । तो ये वीतराग-प्रभु के सन्त-सतीवर्ग पोस्टमेन की तरह रोजाना प्रभु का वीतरागवाणीरूपी दिव्य सन्देश तुम्हें देते (सुनाते) हैं, उनका तुमलोग किस प्रकार सत्कार-सम्मान करोगे ? घबराओ मत । संत तुमसे तुम्हें जो प्रिय है, उसे मांगनेवाले नहीं हैं । उन्हें तो त्याग, तप, संयम की भेंट या सत्कार चाहिए । भला, जिन्होंने कंचन-कामिनी का त्याग किया है, और जो दूसरों को भी त्याग करने का सन्देश देते हैं; उन्हें तुमलोगों से कोई स्वार्थ नहीं है । वे तो निःस्वार्थभाव से तुम्हें वीतरागवाणी सुनाते हैं, वीतराग-प्रभु का सन्देश देते हैं । वे तो निःस्वार्थ सन्देशवाहक हैं ।

उक्त बाई को उसके पति का पत्र मिला । उसमें लिखा था कि - "मुझे तुमको छोड़कर आये बारह वर्ष होने आए हैं । कार्यव्यस्ततावश मैं पत्र नहीं लिख सका । तुम्हें बहुत दुःख हुआ होगा । परन्तु तुम घबराना मत । अब मैं अपना कार्य समेट कर कायम के लिए वहाँ आ रहा हूँ ।" ऐसा हर्षोत्पादक सन्देश पढ़कर पत्नी के उल्लास का पार नहीं रहा । इसी प्रकार वीतराग-प्रभु के अनुगामी संत भी प्रभु का (जिन-वचन-रूप) पत्र पढ़कर तुम्हें सन्देश देते हैं कि हे भव्यजीवों ! अनन्तकाल से मोहनिद्रा में सोये हो तो अब जागो; विषयों और वासनाओं का वमन करो, राग-द्वेष को जलाकर खाक

कर दो, अहं को गला दो (पिघाल दो), ममता को मारो, तृष्णा के तन्तु का छेदन कर डालो, और 'सोऽहम' को जगाओ तो तुम्हारा कल्याण होगा, तुम शिवरमणी के स्वामी बनोगे। कैसा सुन्दर सन्देश है ? यह सन्देश सुनते ही तुम्हारी साढ़े तीन करोड़ रोमराजी खिल उठनी चाहिए, तुम्हारा चेतनदेव जाग उठना चाहिए।

सोये हुए आत्मा रूपी नवाब को जगाओ : पूर्वोक्त नवाब बेगमों के मोह में पड़कर राज्यकार्य में भाग नहीं लेता था। प्रजा की फरियाद नहीं सुनता था। इस कारण प्रजा में बहुत उत्तेजना फैली। परन्तु बड़े आदमी को कौन कह सकता था ? नवाब को प्रजा की इस शिकायत को कहने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी। फिर भी मुख्य प्रधान नवाब से किसी समय अवसर देखकर कहता था - "साहब ! आप कभी-कभी राजसभा में पधारें तो अच्छा है।" तब मोह में उन्मत्त नवाब कहता - "प्रधानजी ! आप राज्य की व्यवस्था भलीभांति संभालते हैं, इससे मुझे सन्तोष है।" मोह में पड़े हुऐ नवाब को जगाने हेतु एक गरीब मनुष्य ने साहस किया। उसने महल के पास जाकर चपरासी से कहा - "भाई ! तुम नवाब साहब को यह समाचार दो कि आपसे मिलने के लिए आपके साढुभाई आए हैं।" एक बार तो चपरासी ने भी सोचा कि क्या ऐसा गरीब मनुष्य नवाब साहब का साढु हो सकता है ? अतः वह उसे पूछता है - "भाई ! तू नवाब साहब का साढुभाई कैसे है ?" "क्या मैं नवाब साहब का साढुभाई नहीं बन सकता ? उनके पुण्य का उदय है और मेरे पाप का उदय है। इस संसार में तो एक माँ के उदर में लोटे हुए दो भाइयों में भी कितना अन्तर होता है ? एक के यहाँ गाड़ी है, दूसरा गाड़ी का ड्राइवर है; एक भाई मिलमालिक है, जबकि दूसरा भाई कर्म के उदय से मिल-मजदूर है। इसी प्रकार से मैं उनका साढुभाई हूँ।" चपरासी ने नवाब साहब को सूचित किया कि "आपका साढुभाई आप से मिलना चाहता है।" यह सुनकर नवाब एकदम चौंका। मेरा साढूभाई, फिर कौन है ? उसने चपरासी से कहा - "उसे यहाँ ले आओ।" चपरासी तुरंत उसे नवाब साहब के पास लाया। नवाब साहब ने पूछा - "यह कहो कि तुम साढुभाई किस अपेक्षा से हो ?" इस पर आगन्तुक मनुष्य ने कहा - "साहब ! यह बात मैं आपको बाद में समझाऊँगा। पहले मेरी बात सुनिए।

काफी समय से मुझे आपके दर्शन करने की उत्सुकता थी। किन्तु पहचान कराये बिना आपके दर्शन कैसे होते ? इसके लिए मुझे पहले अपनी पहचान करानी पड़ी। केवल मैं ही नहीं, किन्तु आपकी सारी प्रजा - धनाढ्य, मध्यमवर्गीय और गरीब जनता, आपके दर्शन के लिए तरस रही है। यद्यपि आपके पुण्यप्रताप से आपकी प्रजा बहुत सुखी है, और सुरक्षित है, फिर भी किसी को आपके पास कोई अर्ज करनी हो तो कैसे करे ? आपकी प्रजा सुखी और सुरक्षायुक्त है, उसमें आपका महान् उपकार है। समस्त प्रजा आपके उपकार के नीचे दबी हुई है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह विचार होता है कि नवाब के प्रताप से हम इतने सुखी हैं, किसी प्रकार का भय या

दुःख हमें नहीं है। ऐसे भाग्यशाली होते हुए भी हमारा कैसा दुर्भाग्य है कि राजसभा में या नगरचर्या में अपने उपकारी नवाब साहब के हमें कभी दर्शन नहीं होते। आपके दर्शन के लिए जहाँ सारे नगर की प्रजा झूरती हो, वहाँ मेरे जैसा गरीब मनुष्य झूरता हो, इसमें क्या आश्चर्य है ?" यों बोलते-बोलते गरीब मनुष्य की आँख में आंसू छलक उठे। वह आंसू पोंछते हुए बोला - "खुदा कब ऐसा धन्य दिवस उगायेंगे, जिस दिन प्रजा को आपके दर्शन होंगे ?" यह सुनकर नवाब की आँखें भी आंसूओं से छलछला उठीं। उन्हें अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप हुआ कि "अहो ! मैं कामभोग में मुग्ध होकर अपना भान भूल गया। तभी तो मेरी प्रजा मेरे दर्शन के लिए तलप रही है न ? धिक्कार है, मेरी विषयवासनाओं को।" नवाब की आँखें खुल गई। उन्होंने आगन्तुक (गरीब) मनुष्य से कहा कि - "तूने मुझे मोहनिद्रा से जगाया, इसलिए तेरा जितना उपकार मानूं, उतना थोड़ा है। तूने मेरी भूल सुधारी है।

भाई ! मैं अभी सवारी से बाहर निकलकर राजसभा में आता हूँ। और आज से प्रतिदिन राजसभा में बैठकर प्रजा की अर्जी सुनूंगा। परन्तु तुम मेरे साढुभाई कैसे लगते हो ? यह तो मुझे कहते जाओ ?" तब उसने कहा - "सुनिए साहब ! खुदा की दो बेटियाँ हैं - एक है अमीरी और दूसरी है गरीबी। अमीरी (उन्होंने) आपके साथ ब्याही है, और गरीबी मेरे साथ। इस दृष्टि से मैं आपका साढुभाई नहीं हूँ क्या ?" गरीब का जवाब सुनकर नवाब खुश हो गए और स्वयं को जगाने के बदले उन्होंने उसे बहुत इनाम दिया।

बन्धुओं ! सोया हुआ नवाब तो जग गया, परन्तु अपना आत्मा कब जागेगा ! जैसे नवाब खान-पान, ऐश-आराम और बेगमों के मोह में आसक्त हो गया था, इस कारण प्रजा की अर्जी सुनता नहीं था, वैसे ही विषयों में, धन में और काया की माया में आत्मा पड़ा हुआ है। संतपुरुष उसे चाहे जितना समझाते हैं, फिर भी वह समझता नहीं है ? जो काया जीव को छोड़कर जानेवाली है, उसके पीछे वह कितना पागल बना हुआ है ? जैसे उक्त गरीब के कहने से नवाब को यों लगा कि मेरे रंगराग और सुखविलास सब विषैले हैं। इन्होंने मेरा स्थान भूला दिया, अब उन्हें छोड़कर मैं प्रजा को याद करूँ। यों विचार करके नवाब तो जाग गए। इसी प्रकार चेतनदेव जब जागेगा, तब उसे लगेगा कि यह सांसारिक मोहमाया, रंगराग और भोगविलास जहरीले हैं। इन्होंने मेरे भगवान (देवाधिदेव), गुरु तथा तप, त्याग आदि धर्म भुलाए। अतः अब मुझे इनके मोहजाल में फंसना नहीं है। मोहमाया, रागरंग और विषय-वासना के कचरे को दूर (साफ) करके अन्तरात्मा को शुद्ध बनाने हेतु गुरु के पास जाऊँ, उनके आगे (शुद्ध अतःकरण से) अपनी भूलों, दोषों और त्रुटियों को प्रकट करके प्रायश्चित्त ग्रहण करूँ, आत्मा के उद्धार का मार्ग उनके पास से समझूं और स्वीकारूँ, तप, त्याग और दयाधर्म के जीवन को अपनाऊँ। ऐसे उत्कृष्ट भाव आएँ, तब समझ लेना कि अब मेरा आत्मारूपी नवाब जाग गया है।

•.•.•.•.•.•. •.•.•.•.•.

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार के पूर्वभव की बात चल रही थी । उसमें यह कहा गया था कि उक्त ब्राह्मण के दोनों पुत्रों ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया । अतः वे श्रावक के १२ व्रतों का शुद्ध रूप से पालन करते हैं । एक समय ऐसा था कि उन्हें अपने ज्ञान का गर्व था, किन्तु अब सच्चे धर्म के प्रति श्रद्धा होने से, उनका गर्व गल गया । जबतक उन्हें धर्म की पहचान नहीं थी, तबतक उन्होंने जैनधर्म की अवहेलना की । जैनसंत को मारने के लिए भी आए । परन्तु सच्ची समझ आ जाने के बाद अपनी भूलों के प्रति उन्हें अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ और दृढ़ प्रतीति हो गई कि देवों में अरिहन्त देव, सर्वगुरुओं में निर्ग्रन्थ गुरु और सर्वधर्मों में केवली-प्ररूपित धर्म श्रेष्ठ है । इस कारण वे जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे, जैनधर्म का गुणगान करने लगे । पुत्रों की ऐसी प्रवृत्ति देखकर उनके पिता तो (मन ही मन ईर्ष्या, द्वेष से) जलने लगे, और जगह-जगह जैनधर्म की निन्दा करने लगे । कहा है -

माता-पिता पुनः के मिथ्यात्वी, दोनों सुत व्रत पाला ।
पहले स्वर्ग में पाँच पल्योपम, पाई आयु रसाला हो ॥ श्रोता...

(उक्त ब्राह्मण ने) जैनधर्म की हीनता (निन्दा) की, तथा (अपने पुत्रों को) साधु को मार डालने की बात सिखाई । इन सब महान पापों का आचरण करके, मिथ्यात्वी बनकर वे नरक में गए । उनके दोनों पुत्रों ने श्रावक के १२ व्रतों का सुचारुरूप से पालन किया, इसलिए वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके वे (दोनों) सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में पाँच पल्योपमवाले देव बने । वहाँ से वे देवलोक के अनुपम सुखों का उपभोग करने लगे । दोनों देव वहाँ के ५ पल्योपम का आयुष्य पूर्ण होने पर वहाँ से च्यवकर मनुष्यलोक में अयोध्या नगरी में उत्पन्न हुए ।

उस समय पवित्र अयोध्या नगरी में शत्रुंजय नाम के पराक्रमी और नीतिमान्‌राजा राज्य करते थे । उनके दोनों हाथ याचकों की दीनता दूर करने हेतु दानपुण से अलंकृत (रहते) थे । उनके प्रताप को शत्रु सहन नहीं कर सकते थे । उनके सेवक, प्रधान और नौकर-चाकर आदि सब उनकी प्रत्येक आज्ञा को सहर्ष शिरोधार्य कर लेते थे । उनकी दृष्टि परस्त्री की ओर कभी नहीं गई थी । देव भी उनके शीलगुण की प्रशंसा करते थे । मतलब यह कि उनका शीलव्रत शुद्ध था । उनका सौन्दर्य और रूप अनुपम था । उनकी प्रियंवदा नाम की रानी, पति में अनुरक्त, पति के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी रहती थी, वह अत्यन्त मधुरभाषिणी थी । इस प्रकार राजा-रानी दोनों आनन्दपूर्वक अपना जीवन-याथन कर रहे थे । अयोध्या नगरी की प्रजा भी व्यसनों से रहित, जिनवचनों की अनुरागिणी और सद्‌गुणी थी । उस नगरी की सभी नारियाँ शील, सदाचार आदि गुणों से सुशोभित थीं । वहाँ की जनता को दान देने का व्यसन था । इस नगरी में दुराचारी, क्रूर या पापी मानव आता तो नगरी की भूमि के प्रभाव से

तथा जनता के सद्गुणों की सौरभ से वह पवित्र व पुण्यशाली बन जाता था। यह नगरी तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि अनेक महान पुरुषों की पवित्र जन्मभूमि थी।

इस अयोध्या नगरी में सागरदत्त नामक एक अति धनाढ्य सेठ रहते थे। उनके धारिणी नाम की पवित्र पत्नी थी। सागरदत्त सेठ जैनधर्म के अनुरागी थे। उनकी पत्नी भी धर्म के रंग में रंगी हुई थी। पति-पत्नी दोनों साथ में बैठकर सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धर्मक्रियाएँ करते थे। संसार के कार्यकलाप से निवृत्त होते, तब दोनों धर्म से सम्बन्धित बातें करते थे। वे प्रतिदिन साधु-साध्विओं के दर्शन तथा व्याख्यान-वाणी का लाभ लेते थे। आज बहुत-से लोगों को धन तो प्रचुर मात्रा में मिल जाता है, परन्तु उन्हें धर्माचरण नहीं सुहाता। बहुत-से लोगों के जीवन में धर्म या धर्माचरण तो होता है, किन्तु पूर्वकृत अशुभकर्म के उदय से उन्हें धन प्राप्त नहीं होता। किन्तु यह सागरदत्त सेठ इतने प्रबल पुण्यशाली थे कि इनके यहाँ धर्म और धन दोनों का सुयोग था। पति-पत्नी दोनों साथ-साथ धर्माचरण करते थे। ऐसे पुण्यवान् आत्मा होने पर भी इनके यहाँ अभी तक सन्तान का अभाव था। उनके यहाँ कैसे और कब पुण्यवान् जीव आयेंगे ? इस बात पर यथावसर प्रकाश डाला जाएगा।

व्याख्यान - ५६

भादवा सुदी ५, रविवार | ता. २९-८-७६

क्षमापर्व (संवत्सरी) का सन्देश : कषायविजय

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

हम प्रेम की पवित्र सरिता में स्नान करके पापों का प्रक्षालन करके पवित्र बनने हेतु जिस दिवस की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे, वह पवित्र दिवस आज आ गया है। आज के दिवस को हम संवत्सरीपर्व का पवित्र दिवस कहते हैं। यह पवित्र दिवस वर्ष में एक बार आता है। यों तो पर्युषणपर्व के आठ ही दिन पवित्र हैं, परन्तु आज के दिवस की विशेष महत्त्व है। संवत्सरी का दिवस आने से पहले तुम्हें जागृत करने के लिए पाँच सिग्नल दिये गए हैं। आज से २९ दिवस पहले **'महीने का घर'** नामक पहला सिग्नल, दूसरा सिग्नल **'पन्द्रह का घर'**, तीसरा सिग्नल **अट्ठाई-घर**, चौथा सिग्नल **कल्पघर** और पाँचवाँ सिग्नल दिया गया था - **तेलाघर**। अब तुम सोचो कि जिस दिवस के मंगल पदार्पण होने से पहले पाँच-पाँच सिग्नल दिये जाएँ, वह दिवस कितना पवित्र और मंगलमय होगा ?

क्षमा का सन्देशवाहक पर्व

आज का दिन सर्वजीवों से क्षमा के आदान-प्रदान का मंगल संदेश देता है। क्षमा आत्मा को अमर बनानेवाला अमृत है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के २९वें अध्ययन में भगवान से प्रश्न पूछा गया है - *"कोह-विजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?"* - "भंते ! क्रोध पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?" उत्तर में भगवान ने फरमाया : *"कोह-विजएणं खंतिं जणयइ ।"* - क्रोध पर विजय प्राप्त करने से जीव क्षमागुण को प्राप्त करता है। जैनदर्शन में क्षमा का बहुत बड़ा महत्त्व है। क्षमा के द्वारा मनुष्य कठिन से कठिन कार्य को आसानी से हल कर सकता है। महाभारत में भी क्षमा की महिमा बताते हुए कहा गया है -

"क्षमा ब्रह्म, क्षमा सत्यं, क्षमा भूतं च, भावि च ।
क्षमा तपः, क्षमा शौचं क्षमया हि धृतं जगत् ।।"

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत और भविष्य है। क्षमा तप है, क्षमा शौच (शुद्धि - पवित्रता) है, क्षमा ने इस जगत को धारण करके रखा है। अर्थात् - क्षमावान् पुरुषों से यह विश्व टिक सका है। जो आत्मा कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के प्रसंग में क्षमा रखता है, सहन करता है, कष्ट सहिष्णुता और धैर्य रखता है, वह जगत को महान देन, महती प्रेरणा दे सकता है। जो सहन नहीं करता, वह जगत को कुछ भी नहीं दे सकता। वृक्ष सूर्य का ताप सहन करके शीतल छाया देता है, आम्रवृक्ष पत्थर का घाव सहन करके मीठे फल देता है, शीशम आदि के वृक्ष कुल्हाड़ी के घाव सहकर लकड़ी देते हैं। समस्त फलवान वृक्ष भूख से पीड़ित व्यक्ति को आहार एवं जीविका देते हैं और अपना कर्तव्य अदा करके सन्तोष मानते हैं। भगवान महावीर-स्वामी ने दीक्षा लेकर साढ़े बारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक उग्र साधना की। उस दौरान उन पर कितने उपसर्ग और परिषह आए, जिन्हें उन्होंने समभाव से, क्षमाभाव से सहन किये। उन्होंने अद्‌भुत क्षमा धारण करके *'क्षमा वीरस्य भूषणम्'* इस सूत्र को सार्थक करके बताया। तथैव जगत के समस्त जीवों के समक्ष प्रमाणित कर दिया कि **'वैर से वैर का शमन नहीं होता।'** अग्नि से अग्नि शान्त नहीं होती, किन्तु क्षमा के नीर से वैराग्नि बुझ जाती है। चण्डकौशिक जैसे दृष्टिविष सर्प की क्रोधाग्नि को भगवान महावीर ने क्षमा के जल से बुझाकर उसे शीतल बनाया। एक समय के मारक चण्डकौशिक को समता और क्षमा की साधना की प्रेरणा से भगवान ने पूजनीय बना दिया। यह है क्षमा की आश्चर्यजनक शक्ति !

सात-सात दिन तक साधना करने के पश्चात् आज हमें क्षमा के नीर में स्नान करके आत्मा को पवित्र बनाना है। आज हमें और तुम्हें लेना और देना, ये दो कार्य करने हैं। समग्र विश्व का तमाम व्यवहार लेन-देन से चलता है। होलसेल (थोक) व्यापारी के पास से छोटे व्यापारी माल खरीदते हैं। छोटे व्यापारियों से ग्राहक माल खरीदते

हैं । इस प्रकार प्रत्येक व्यवहार लेने-देने से चलता है । अतः आज शूरवीर और धीर बनकर जिन-जिन के साथ बैर-विरोध हुआ है, उन-उन से तुम क्षमा मांग लेना, इसी प्रकार किसी ने तुम्हारा अपराध किया हो, वह व्यक्ति यदि तुम्हारे पास क्षमा मांगने आए तो उसे तुम अन्तःकरण से क्षमा प्रदान करना । क्षमा लेना (मांगना) और क्षमा देना, यही क्षमापना का आदर्श है । दीपावली आती है, तब तुम आय-व्यय का वार्षिक आंकड़ा (तलपट) तैयार करते हो, वैसे ही आज के दिन ऐसा विचार करना कि गत-संवत्सरी से इस वर्ष की संवत्सरी तक में मेरे जीवन में कितनी बुराइयाँ कम हुईं और सद्गुणों की कितनी वृद्धि हुई ? बुराइयों की बाकी, सद्गुणों की जोड़ और गुणों का गुणाकार करके जीवन को धन्य बनाओ ।

अहंता और ममता को दूर करके पर्व की आराधना करना । यह पर्व आत्मा में रहे हुए क्रोध, मान-माया, लोभ, राग-द्वेष, बैर-जहर आदि दुर्गुणों के कचरे को निकालकर क्षमा, दया, मृदुता, सरलता, निर्लोभता, पवित्रता आदि सद्गुणों को अपना कर आत्मा को उज्ज्वल बनाने के लिए है । माया-शल्य, निदान-शल्य और मिथ्यादर्शन-शल्यरूप मैल से मलिन बने हुए आत्मारूपी वस्त्र को वीतरागवाणी रूपी वा (जल) से क्षमा के साबुन और धर्मरूपी बड़ी लाठी से तुम्हें इस पर्युषणपर्व की आराध करनी है । तीन दिन में मैले हुए कपड़े को तुम कहते हो, बहुत मैला है और उसे तु धो डालते हो । किन्तु आत्मारूपी वस्त्र पर अनन्तकाल से कर्म का मैल चिपट ग है, उसे साफ करने के लिए तुमलोग कुछ कोशिश करते हो क्या ? कपड़े पर छोटा-सा श्याही का दाग लग जाए तो तुम तुरंत साफ करते हो, परन्तु आत्म क्रोधादि कषायों के कितने बड़े दाग पड़ गये हैं, उन्हें रख छोड़ना तुम्हें कैसे लगता है ? यह पर्युषणपर्वरूपी गंगा का घाट है । इस घाट पर आकर समत पानी से आत्मा पर लगे हुए कषायरूपी मैल को धोकर आत्मा को स्वच्छ, पवि प्रशान्त बनाकर यह अनन्त-सुख का भोक्ता बने, ऐसी आराधना कर लो ।

आप सब लोगों ने पर्युषणपर्व के सात दिन दान, शील, तप तथा पवित्र भ से व्यतीत किये । आज उनके फलस्वरूप ऐसा निश्चय करना कि मुझे संयोगों में भी कषाय नहीं करना है । स्वयं को या अपने निमित्त से दूसरे भड़के, ऐसे संयोग उपस्थित न होने देने हैं । आत्मा में सदैव सतत समता रहे, ऐसी जागृति रखने के लिए रेड सिग्नल बताते रहा करो । घर में, प संघ में कदाचित् कहीं तुम्हारे द्वारा सोचा (धारा) हुआ कार्य न हो तो ऐस करना कि मैं संघ का प्रमुख हूँ, मंत्री हूँ या अमुक पदाधिकारी हूँ, मेरे कार्य क्यों नहीं हुआ, या हो रहा है ? घर या परिवार में मैं बड़ा हूँ, मैं लोग क्यों नहीं करते ? ऐसा अभिमान या गर्व मन में मत लाना । यहाँ में) कदाचित् तुम्हारे द्वारा निर्धारित कार्य न हो तो उसकी चिन्ता नहीं, कि महावीर-प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न हो, इस बात की सावध

परमात्मा वीतराग-प्रभु की आज्ञा का पालन करता है, उसकी आज्ञा का पालन (प्राय:) सभी करेंगे । इससे आत्मा मंगलकारी और पावनकारी बनेगा । पर्युषणपर्व की आराधना अहं का पोषण करने अथवा संसार के सुख प्राप्त करने या दुनिया के राग-रंग के लिए नहीं है, किन्तु आत्मा में निहित ज्योति प्रकट करने के लिए है । इसके लिए संसार में रहे हुए सूक्ष्म-बादर, त्रस और स्थावर समस्त प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भाव, आत्मौपम्यभाव रखो । अपनी तरफ से किसी भी जीव को दुःख हो, ऐसा विचार, वचन या व्यवहार न करें । हाँ, हो सके तो किसी का भला करो, किन्तु किसी का बुरा तो करना ही नहीं । प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव को क्रियान्वित करने के लिए हृदय में ऐसी शुभ-भावना (भावदया) लाओ -

'सवि जीव करूँ, जिन-शासन-रसी ।'

सभी जीव महावीर-प्रभु के शासन (जिनशासन-धर्मतीर्थ) के रसिक कैसे बनें, साथ ही शीघ्र आत्मा का कल्याण करके मोक्ष में कैसे जाएँ ? ऐसी उत्तम भावना लाओ और पुराने बैर-जहर भूल जाओ । अपराधी के अपराध को भी भूल जाओ, अपकारियों के अपकार को कभी याद न करो । वैर-विद्वेष के विष इस जीव को अनन्तकाल तक संसार में भटकानेवाले हैं । ऐसा समझकर सच्चे आराधक बनकर संसारटवी में भटकते हुए अपराधी या निरपराधी आदि सर्वजीवों के साथ खमत-खामणा (क्षमापना) करके सर्वजीवों का हित-चिन्तन करके अपनी साधना को सुन्दर बनाएँ । अपना आत्मकल्याण करें, अपने सम्पर्क में आनेवाले क्रोधी से क्रोधी वैरी से वैरी मनुष्य को भी कल्याण के मार्ग की ओर मोड़ें तो इस पर्युषणपर्व को मनाना सार्थक माना जाएगा ।

बन्धुओं ! वैर आत्मा का बैरी है । इस भव में किसी के साथ वैर बांधकर उस बैर को लेकर परलोक में जाता है, तब भव-भव में बोधिरहित होने से उसे कर्म की करवत से विदीर्ण होना पड़ता है । भव-भव में उसे भयभीत रहना पड़ता है । 'दशवैकालिक सूत्र' में कहा गया है - *"वेराणुवंधीणि महब्भयाणि ।"*

'वैर की परम्परा महान भय का कारण है ।' अत: अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिए कि सामने से 'मारो मारो' कहता हुआ क्रोधी से क्रोधी मनुष्य आ गया हो तो भी वह शान्त हो जाए । इस सम्बन्ध में मुझे एक ऐतिहासिक घटना याद आ रही है-

चित्तौड़ में एक महान कवि हो गए हैं । असल में तो यह चित्तौड़ के नहीं थे, परन्तु विशेष कारण से वह चितौड़ आ बसे थे । मूल में वह सौराष्ट्र के निवासी थे । वे दो भाई थे । उन दोनों में बड़ा भाई शान्त थे, छोटा भाई जरा उग्र स्वभाव का था । एकबार दोनों भाइयों में मामूली बात को लेकर झगड़ा हुआ । बड़े भाई ने छोटे भाई को बहुत समझाया, मगर वह किसी भी तरह से नहीं समझा, उलटे वह अधिक क्रोधावेश में आकर बड़े भाई को मारने के लिए हाथ में लाठी लेकर आया । बड़े

भाई ने मन में सोचा - 'मैं इसे इतना अधिक समझाता हूँ फिर भी यह क्यों नहीं समझता ? उलटा, मुझे मारने के लिए आया है ।' इसलिए बड़े भाई को भी उस पर बहुत गुस्सा आया । क्रोधावेश में आकर बड़े भाई ने छोटे भाई के हाथ से लाठी छीनकर छोटे भाई को मारी । छोटा भाई धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और उसके प्राणपखेरू उड़ गए । यद्यपि बड़े भाई ने जोर से उसे लाठी नहीं मारी थी, किन्तु 'कौए का बैठना और डाल का गिरना,' इस कहावत के अनुसार छोटे भाई का आयुष्यपूर्ण होने का होगा, इस कारण लाठी के लगते ही वह गिर पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई । छोटे भाई की इस प्रकार से मृत्यु होने से बड़े भाई को बहुत दुःख हुआ ।

अपनी भूल के कारण देश छोड़ा : 'अरर ! मैंने बड़े होकर छोटे भाई को मार डाला !' छोटे भाई को गुजरे हुए छह महीने हो गए, फिर भी बड़े भाई के मन में से छोटे भाई की मृत्यु का अफसोस नहीं गया । लोग भी यों कहने लगे कि 'बड़े भाई ने लाठी मारकर छोटे भाई के प्राण ले लिये ।' यह सुनकर बड़े भाई के मन में विचार आया कि 'इस गांव में रहूँगा तो जीवनभर लोग मुझे टोकते रहेंगे, शान्ति से नहीं रहने देंगे तथा छोटे भाई की विधवा पत्नी और उसके छोटे-छोटे बालक हैं, इन सबके समक्ष मुझसे देखा नहीं जाता । इसकी अपेक्षा तो मैं इस गाँव को छोड़कर अन्यत्र चला जाऊँ ! अब मुझे इस गाँव में नहीं रहना है ।' ऐसा विचार करके वह अपनी पत्नी और बालकों को लेकर सौराष्ट्र छोड़कर चित्तौड़ में आकर बस गया ।

चित्तौड़ में राजा का प्रिय कवि हो गया : चित्तौड़ में आकर अपनी सूझबूझ और कवित्वशक्ति के कारण वहाँ की राजसभा में अपना स्थान जमा लिया । अल्प समय में कविरत्न के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की । उसका पुत्र भी अत्यन्त होशियार कवि हो गया । कालक्रम से उक्त कवि की मृत्यु हो गई । किन्तु उसका पुत्र कविरत्न हुआ । अपने पिता की अपेक्षा भी वह अधिक होशियार निकला । इस कारण राजा का वह अत्यन्त प्रियपात्र हो गया । राजा के पास उसका इतना अधिक मान-मर्तबा बढ़ गया कि राजसभा में आने के लिए राज्य में से राजसेवक पालकी लेकर उसे बुलाने जाते और वापस पालकी में बिठाकर घर पहुँचाते । उसके घर के चारों तरफ चौकी-पहरा रहता था । राज्य की ओर से उसके घर में नौकर-चाकर तथा रसोइया वगैरह रखे गए थे । इतनी सुख-सुविधाओं और ठाठबाठ से यह कविरत्न रहते थे । वस्तुतः उनमें कविता बनाने की और सुन्दर आकर्षक साहित्य लिखने की गजब की शक्ति थी । राजा आदि सारा राजदरबार उनके मुख से निकले हुए बोल को तुरंत झेल लेते थे । इतना दबदबा होने पर भी उसमें अभिमान लेशमात्र भी नहीं था । क्रोध तो उनके तन-मन में कभी आता नहीं था । ऐसा पवित्र यह कवि था । चारों ओर उसकी बहुत प्रशंसा होती थी ।

इस कवि के पिताजी चितौड़ आकर सुखी हुए, इसकी अपेक्षा पुत्र सवाया सुखी हुआ । दूसरी ओर इसके पिता के द्वारा लाठी के प्रहार से उनका जो छोटा भाई गुजर

गया था, उसके दो पुत्र थे। वे भी बड़े हुए और कवि बने। एक दफा छोटे भाई के दोनों पुत्रों ने अपनी माँ से पूछा - "माँ ! हम बड़े हुए, तब हमने पिताजी को नहीं देखा। तो हमारे पिताजी बहुत छोटी उम्र में कैसे गुजर गए ? क्या उनके शरीर में कोई भयंकर रोग उत्पन्न हुआ था या और कुछ हुआ था ?" इस पर उनकी माँ ने कहा - "तेरे पिताजी अपनी मौत से नहीं मरे। उनके बड़े भाई ने उनपर लाठी से प्रहार किया। लाठी लगने के साथ ही वह धड़ाम से नीचे गिर गए और उनके प्राण निकल गए।" यह सुनते ही जवान लड़कों का खून उबल पड़ा। उन्होंने ठान ली - अब तो चाहे जो हो, हम अपने पिताजी को मारनेवाले के बैर का बदला लेकर ही रहेंगे। "पर यह बता माँ ! वे कहाँ रहते हैं ?" तब उनकी माँ ने कहा : "बेटे ! उनको यहाँ से गये बहुत साल हो गए। फिर वापस लौटकर यहाँ नहीं आए। परन्तु मैंने सुना है कि वे चित्तौड़ में जाकर बस गए हैं और वहाँ वे राजमान्य बड़े कवि हो गए हैं।" यह सुनकर छोटे भाई के दोनों पुत्र वहाँ से चित्तौड़ आए।

बैर की वसूली के लिए कवियों का चित्तौड़ में आगमन : देखिए, बैर क्या काम करता है ? बैर वसूल करने के लिए सौराष्ट्र छोड़कर दोनों भाई चित्तौड़ आए और किराये से एक मकान लेकर रहने लगे। कुछ दिनों में राज्य के कर्मचारियों के साथ सम्पर्क करके चित्तौड़ की राजसभा में वे दोनों संगीतकार के रूप में नियुक्त हो गए। यहाँ चाहे जितने कवि आएँ, किन्तु राजमान्य कविरत्न की तुलना में कोई नहीं आ सकता था, क्योंकि किसी में बुद्धि हो, शक्ति भी हो, मगर साथ ही उसमें अहंकार, क्रोध, लोभ वगैरह दुर्गुण होते थे। जबकि कविरत्न तो अतीव गंभीर, निरभिमानी और निर्लोभी थे। उसकी दृष्टि में किसी के प्रति ईर्ष्या नहीं थी। राज्य में कोई नया कवि आता तो वह उसका प्रेम से स्वागत करता था। ये दोनों नये संगीतकार आए, इन्हें भी वह प्रेम से बुलाता था। कविरत्न को पता नहीं था कि ये मेरे चाचा के लड़के हैं, ये अपने पिता के बैर का बदला लेने के लिए आये हैं। परन्तु उक्त दोनों भाई तो जिस कार्य के लिए आए थे, उसके उपाय की टोह में थे। एक दिन उन्होंने वहाँ के मुख्य मनुष्यों से पूछा - "यह बड़े कवि कौन हैं ? इनके पिताजी कौन थे ?" पूछने पर पता चला कि हमारे पिताजी को मारनेवाला तो मर गया है, यह तो उसका पुत्र है, जो बड़ा कविरत्न है। बस, इन दोनों ने ठान लिया कि अब चाहे जो करके हम इसे मार डालेंगे। वे उसे मारने का उपाय ढूंढने लगे। परन्तु यह तो कभी अकेला नहीं होता। प्रतिदिन अपने घर भी यह वाहन में बैठकर जाता आता है। इसके चारों ओर सिपाहियों का पहरा रहता है, अतः इसे कैसे मारा जाय ? इसके घर के चारों ओर भी चौकी-पहरा रहता है। कैसे क्या किया जाए ? उक्त दोनों भाई चिन्तित-व्यथित होने लगे।

बन्धुओं ! जिसके हृदय में पाप होता है, वह डाह से जलता रहता है। जिसके दिल में पाप नहीं होता, उसको किस बात की चिन्ता ? कविरत्न को इस बात की

कुछ भी जानकारी नहीं थी। पक्खी का पवित्र दिन था, इसलिए कविरत्न ने पालकी उठानेवालों से कहा - "आज मुझे पालकी में नहीं बैठना है, मैं पैदल चलकर घर जाऊँगा।" इस पर इसके सिपाहियों ने कहा - "बापू! हम आपको घर तक छोड़ने आएँ।" तब कवि ने कहा - "भाई! छोड़ने आने की कोई जरूरत नहीं है, मैं अकेला ही चला जाऊँगा।" कविरत्न ने जब बहुत इन्कार किया, इसलिए पुलिसकर्मी साथ में नहीं गए। पवित्र हृदयी कविरत्न अकेले ही निर्भयतापूर्वक घर जा रहे थे। उन दोनों भाइयों ने देखा कि आज तो यह अकेला ही घर जा रहा है। अतः ये दोनों उसके पीछे-पीछे चलने लगे। मार्ग में एक गली का संकड़ा रास्ता आया। उन्होंने देखा - कवि अकेला है। इस गली में मनुष्यों का आवागमन भी नहीं है। इस मौके का लाभ उठाकर वे दोनों व्यक्ति इनके ठीक सामने आकर ठिठक गए और ललकारने लगे - "अरे पापी! खड़ा रह। हमारे पिताजी को तेरे बाप ने मार डाला था। हम उस वैर का बदला लेने आएँ हैं। अब तुझे जीवित नहीं जाने देंगे।" फिर दोनों जने तलवार निकालकर बोले - "मरने के लिए तैयार हो जा।"

दोनों को कविरत्न की हितशिक्षा : कविरत्न ने कहा - "मेरे और तुम्हारे पिताजी को उन संयोगों में क्या बना होगा, इस बात की तुम्हें और मुझे दोनों को खबर नहीं है। वीरा! हम सब भाई हैं। हमें इस पूर्व के बैर की परम्परा नहीं रखनी है। अगर तुम मुझे मारोगे तो मेरे लड़के तुम्हारे प्रति बैर रखकर तुम्हें मारेंगे। तुम्हारे लड़के मेरे लड़कों को मारेंगे। इस प्रकार बैर की परम्परा आगे से आगे चलती रहेगी। ऐसी बैर की परम्परा चलाने की क्या जरूरत है? हम सब भाई-भाई बनकर प्रेम से रहें। तुम दोनों चलो मेरे घर पर!"

बैर लेने हेतु आनेवालों का रोष शान्त न हुआ : वैर लेने लिए आये हुए चाचा के लड़के उत्तेजित होकर बोले - "तेरी तत्त्वज्ञान हमें नहीं सुनना है। तेरा ज्ञान तेरे पास ही रहने दे। तेरा बाप मेरे बाप को मारकर शाह होने के लिए यहाँ आकर बस गया था, तू अब बड़ा ज्ञानी बनकर हमें उपदेश देने बैठा है? हमसे बचने के लिए तू अब सब उपाय खोज रहा है, परन्तु हम तुझे कहीं जीवित जाने नहीं देंगे।" देखो, कविरत्न की बात कितनी सुन्दर और समझने-सोचने लायक थी कि बाप ने जो किया सो किया, परन्तु हम अगर इस तरह से बैर रखेंगे तो कुटुम्ब में वैर की परम्परा चल पड़ेगी, जिससे घोर कर्मबन्धन होगा। वह बैर की परम्परा इस भव और परभव में आत्मा के लिए अत्यन्त दुःखदायी सिद्ध होगी। यह एक और एक दो जैसी सीधी-सी बात है न? परन्तु जिसके दिल में बैर की आग प्रज्वलित हो रही है, उसके गले ऐसी अच्छी और सच्ची हित्त-शिक्षा भी कैसे उतरे? बैर न्याय की बात भी समझने नहीं देता। ऊपर से वह नये अशुभ-कर्मों का बन्ध कराता है। जबकि मैत्रीभाव सामनेवाले (विरोधी) की अन्याययुक्त बातें भी न्याय से समझने को तैयार रहता है और दूसरे अनेक गुणों को प्रकट करता है।

कवि का मैत्रीभाव : कविरत्न ने कहा - "मेरे भाइयों ! अभी भी मैं तुम्हें कहता हूँ कि तुम कुछ समझो और इस बैर की बात छोड़ दो ।" तब उन दोनों भाइयों ने कहा - "हमें तेरी मूर्खताभरी बकवास सुनकर इस मौके को नहीं चूकना है । हम तो तुझे मारकर ही दम लेंगे ।" तब कवि ने कहा - "क्या तुम्हारे हृदय में प्रकट हुई वैर की अग्नि किसी भी तरह से बुझनेवाली नहीं है ?" तब वे बोले - "ना, ना, हम तो तुम्हें मारेंगे ही । इसमें मीन-मेख भी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है ।" इस पर कवि ने कहा - "तुम्हें मुझे किसी भी मूल्य पर मारना ही है, तो मैं तुम्हें रास्ता बताता हूँ । इस समय तुम मुझे मारोगे तो तुम्हें कोई न कोई देख लेगा और तुम पकड़े जाओगे । फिर मैं तो अकेला कभी घर से राजसभा में और राजसभा से घर जाता-आता नहीं, वाहन में आता हूँ और मेरे घर के बाहर भी पुलिस पहरा देती है । इस कारण तुम्हें मुझे मार डालने में सफलता नहीं मिलेगी । तो तुम ऐसा करना, आज रात को दस बजने के पश्चात् इस गाँव के बाहर जो शंकरजी का मंदिर है, वहाँ तुम तलवार लेकर आ जाना । मैं भी वहाँ आकर खड़ा रहूँगा, तुम खुशी से मुझे मार डालना ।" यह सुनकर दोनों भाई बोले - "अब तू हमसे डर गया । अब तू किसी भी तरह से छटक (भाग) नहीं सकता, इसलिए तू हमें धोखा देकर छटकने का रास्ता खोज रहा है । परन्तु हम तुझे कैसे छटकने दे सकते हैं ?" तब कवि ने कहा - "भाइयों ! मैं तुम्हें ठगने के लिए नहीं कहता । मुझे मारकर भी तुम्हारी आत्मा को शान्ति मिलती हो और मेरे मरने से वैर का विसर्जन होता हो तो मैं इस समय मरने के लिए तैयार हूँ । मुझे मरने का डर नहीं है । किन्तु इस समय मुझे मारने में तुम्हारे सिर पर खतरा है । मेरी मृत्यु के बाद तुम दोनों खतरे में न पड़ जाओ, इसके लिए मैं तुम्हें रास्ता बताता हूँ । तुम विश्वास रखो । मैं अवश्य ही आज रात को शंकर के देवालय में पहुँच जाऊँगा, फिर तुम निर्भयतापूर्वक सुख से मुझे मार सकोगे ।"

बन्धुओं ! कवि की समझ कितनी सुन्दर है ? अपने मरण से भी यदि वैर की परम्परा रूकती हो तो वह मरने के लिए तैयार है । क्या आज कोई मनुष्य ऐसा मैत्री-भाव रख सकता है ? उलटे वह तो सामने से (विरोधी को) मारने दौड़ता है । उक्त दोनों भाई कहते हैं - "तू शंकर के मन्दिर में रात को सामने से (चलकर) मरने आए, इस बात में हमें तेरे पर जरा भी विश्वास नहीं है । फिर भी तू पवित्रता की बहुत बातें करता है, तो आज आजमाइश कर देखते हैं । अगर नहीं आया तो फिर देख लेना, हम तुझे छोड़ेंगे नहीं ।" यों कहकर दोनों भाई चले गए । कविरत्न भी घर आए । भोजनादि से निपट कर अपनी पत्नी को एकान्त में बुलाकर कविरत्न ने कहा - "मैं आज एक दिव्य सन्देश लेकर आया हूँ ।" पत्नी बोली - "नाथ, ऐसा क्या सन्देश लाए हैं कि आज आपके मुखपर अलौकिक आनन्द दिखाई दे रहा है ?" इस पर कविजी ने कहा - "मेरे चाचाजी के दोनों बेटे उनके बाप के वैर का बदला लेने आए हैं और इस-इस प्रकार से बात बनी है । बोलो, अब तुम्हारी क्या इच्छा है ? अपनी परस्परा

में वैर चालू रखना है, या वैर की परम्परा यहीं रोक देनी है ?'' यह सुनकर पत्नी ने कहा - ''स्वामीनाथ ! वैर तो जहर जैसा है । हमें किसी के साथ वैर नहीं रखना है ।'' कवि ने कहा - ''यदि तुम्हें वैर नहीं रखना हो तो मेरे प्रति मोह छोड़ना पड़ेगा । मैंने आज ही रात को उन्हें वचन दिया है, तदनुसार मृत्यु का वरण करने के लिए शंकर के मन्दिर में जानेवाला हूँ । तुम्हारी इसमें अनुमति है न ?'' तब पत्नी बोली - ''यों तो पति पतिव्रता स्त्री के लिए सौभाग्यरूप है । पति को चलाकर मरने के लिए भेजने में किस पत्नी को दुःख नहीं होता ? फिर भी आप अगर वैर के बीज को जला डालने के लिए अपने आपका बलिदान देने हेतु तत्पर हैं, तो मैं इसके लिए खुशी से अनुमति देती हूँ ।'' यों कहकर ऊपर से कठोर होकर दुःखित हृदय से पत्नी ने पति को अनुमति दी । कविरत्न तो दस बजने से पूर्व ही निश्चित् किये हुए स्थान पर पहुँच गए । उक्त दोनों भाई तो यों मानते थे कि वह अब क्या आएगा ? वह तो कहीं भाग गया होगा। फिर भी देखें तो सही, यों सोचकर दोनों भाई तलवार लेकर वहाँ आ पहुँचे ।

कविरत्न की शूरवीरता : कविरत्न उन दोनों भाइयों को आए देख कहते हैं - ''हे मेरे प्रिय भाइयों ! मैं आ गया हूँ । अब तुम कहो, उस प्रकार से खड़ा रहूँ । तुम अपनी तलवार हाथ में लेकर अपना कार्य शीघ्र ही निपटाओ और अपनी आत्मा को शान्ति दो ।'' विचारिए, कवि की यह कितनी शूरवीरता है ? मरने का नाम लेते ही हमें तो कंपकंपी छूटती है । मगर यहाँ तो वैर की आग शान्त करने के लिए कितनी तत्परता है कविरत्न में ? क्या इन्हें बचना होता तो बच नहीं सकते थे ? क्या इनमें शौर्य (पराक्रम) नहीं था ? वह राजा के अत्यन्त प्रियपात्र थे । उन्हें रास्ते में उक्त दोनों भाइयों ने रोका, तभी से जान गए थे कि ये वैर का बदला लेने आए हैं । ये चाहते तो राजा से यह बात कहकर इन्हें कारागर में बंद करा सकते थे ।

वैर का बदला लेने हेतु आनेवालों की निर्दयता : कविरत्न मरने के लिए प्रसन्न वदन से आकर खड़े हैं । स्वयं मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होने को तैयार हैं, मुख पर गजब की प्रसन्नता झलक रही है । वह वीतराग-परमात्मा से प्रार्थना करते हैं - ''प्रभो ! मेरे शरीर के बलिदान के बाद मेरी परम्परा में वैर न रहे, शान्ति हो जाए । वे शान्त और पवित्र बनें, उन्हें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करना ।'' यों कहकर कविरत्न नवकार महामंत्र के स्मरण में तल्लीन हो गए । क्षमा का कितना आश्चर्यजनक फल मिलता है ? यह सुनिए, अब ज्यों ही वे दोनों भाई कविरत्न को मारने के लिए तलवार ऊँची उठाते हैं, त्यों ही दूर-दूर से घोड़े के टाप खड़खड़ाते सुनाई दिये । उन्हें लगा कि तीव्र वेग से घोड़े दौड़ते हुए नजदीक आ रहे हैं । दोनों भाई घबराये कि 'कतिपय मनुष्य घोड़ों पर बैठकर यहाँ आ रहे हैं । अतः अब यदि हम इसे मार डालेंगे तो अपने पास घोड़ा नहीं है कि यहाँ से झटपट भाग निकलें । आनेवाला तो हमें पकड़ कर मार डालेगा ।' इस घबराहट में इनके तलवार थामे हुए हाथ नीचे हो गए । फिर गुस्से होकर कविरत्न से कहने लगे - ''अरे पापी ! तूने तो हमसे कहा था कि मैं

अकेला आऊँगा । यों कहकर हमारे साथ तूने धोखेबाजी की । इन तेरे चचाओं को खानगी में (गुप्तरूप से) आने का कह आए हो न ? तू हमारे साथ जितनी धोखेबाजी करना हो, उतनी कर ले, पर एक बात निश्चित् समझ लेना कि हम तुझे मारे बिना नहीं छोड़ेंगे ।'' कविरत्न ने जवाब में कहा - ''भाइयों ! मैंने किसी को भी खानगी में नहीं बुलाए । किसी से इस सम्बन्ध में कुछ भी बात नहीं कही । कौन आ रहे हैं, इस सम्बन्ध में मैं कुछ भी नहीं जानता ।'' इस पर उक्त दोनों ने कहा - ''इस समय ठीक टाइम पर अंधेरे में ये कौन आ रहे हैं ? चोर होकर पुनः साहूकार बन रहा है ?'' इस प्रकार बातचीत हो रही थी, इतने में तो दो घोड़े वहाँ आकर खड़े हो गए । एक घोड़ा खाली था और दूसरे घोड़े पर से कविरत्न की पत्नी उतरी । यह देखकर कविरत्न ने उससे पूछा - ''अंधेरी रात में यहाँ अकेली तुम किसलिए आई ?''

कविरत्न की पत्नी की सूझबूझ और उदारता : कविपत्नी बहुत ही शान्तिपूर्वक मधुर स्वर में बोली - ''स्वामीनाथ ! आपने तो मुझे सारी हकीकत बता दी थी और अपनी कुटुम्ब-परम्परा में वैर का विषम दावानल चालू न रहे, अतः उसे ठंडा करनेर के लिए आप यहाँ चले आए । उस समय मुझे आपके वियोग का दुःख जरूर हुआ । परन्तु मैंने अपने मन को दृढ़ बनाकर दूसरे ही क्षण विचार किया कि 'अहो ! मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ कि वैर के विषम दावानल को शान्त करने के लिए अपने आपका बलिदान देनेवाले उदार और पवित्र पति की पत्नी बनने का मुझे परम सौभाग्य प्राप्त हुआ । ऐसे परमेश्वर तुल्य पति तो किसी पुण्यशालिनी स्त्री को ही मिलते हैं ।' देखिए कवि की यह पत्नी भी कितनी उदार है ? अब वह आधीरात को अकेली किसलिए आई है ? इसका रहस्य बताते हुए कहती है - ''स्वामीनाथ ! आपको मैंने अपनी ओर से अनुमित दे दी और आप यहाँ आ गए । किन्तु पीछे से मुझे विचार आया कि मेरे पतिदेव तो वैर का दावानल शान्त करने हेतु उत्साहपूर्वक बलिदान दे देंगे, इसमें तो कोई शंका नहीं है । परन्तु ये मेरे दो लाडले देवर आए हैं, उनके पास तो घोड़ा या दूसरा कोई वाहन नहीं है । वे आपको मारकर अंधेरी रात में कहाँ जाएँगे ? पैदल चलकर तो मनुष्य आखिर (सुबह होने तक में) कितनी दूर पहुँच सकता है ? अभी तीन -चार घंटों में तो प्रभात हो जाएगा । तभी मंदिर का पूजारी पूजा करने आए या दूसरे लोग दर्शन करने आएँ, उस समय आपका शव यहाँ पड़ा हुआ देखकर वे राजा को खबर देंगे । आप तो राजा के अत्यन्त प्रिय हैं । अतः राजा आपका वध करनेवाले की तलाश करने के लिए चारों तरफ घुड़सवारों को दौड़ायेंगे और ये मेरे देवर बीच रास्ते में ही पकड़े जाएँगे । फिर राजा उन्हें फांसी की सजा देंगे । इस कारण वापस उनके और अपने सन्तानों में परस्पर वैर चालू हो जाएगा । आप द्वारा बलिदान दिये जाने पर भी पुनः वैर-परम्परा चालू हो जाए तो उसका अर्थ क्या ? ऐसा विचार उतावल में उस समय नहीं आया । परन्तु आपके जाने के बाद ऐसा विचार आते ही मैं घबरा

गई कि मेरे देवरों का क्या हाल होगा ? इन्हें मृत्यु के मुख में से बचा लेने के इरादे से ही मैं ये दो घोड़े लेकर आई हूँ। ताकि आपको मारने का कार्य निपटा कर तुरंत ही इन दो घोड़ों पर सवार होकर कहीं दूर-सुदूर भाग जांय, जिससे अपने लड़कों को भी पता न लगे कि हमारे पिताजी को इन्होंने मारा है और मारनेवाले कहाँ गए हैं ? साथ ही आपके शव का अग्नि संस्कार करके, उसी चिता में मैं भी भस्म हो जाऊँ, क्योंकि स्वामीनाथ ! सती स्त्री के पति के चले जाने के बाद संसार में उसका कोई नहीं होता। सौभाग्य तिलक के पोंछे जाने के बाद कदाचित् मेरे चेहरे पर उदासी आए और मुझे इस विषय में अपने पुत्र या दूसरे कोई कुछ पूछताछ करें तब व्याकुल होकर या किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर किसी के सामने दो शब्द बोल जाऊँ तो महान अनर्थ खड़ा हो जाए। मैं जीवित होऊँ तो यह प्रश्न खड़ा होने की संभावना है। इसकी अपेक्षा आपके पीछे आपके मार्ग पर चली आऊँ तो बैर की बात यहीं समाप्त हो जाय। कोई जाने नहीं और कोई पूछे नहीं तथा लड़कों को भी इस बात की गन्ध तक नहीं आए, न ही उनके दिल-दिमाग में बैर के अंकुर फूटें।"

पत्नी का जवाब सुनकर कविरत्न उसकी पीठ ठोककर कहते हैं - "वाह ! कितनी उमदा तेरी बुद्धि है ? बैर का बदला चुकाने की कितनी तेरी उदारता है ? अपना निश्चय किया हुआ कार्य सफल हो जाय, बैर का सदा के लिए अन्त आ जाए और ये दोनों अपने भाई क्षेमकुशलपूर्वक अपने घर पहुँच कर आनन्द से रहें। वास्तव में, तू सती है, तू नारी नहीं, किन्तु नारायणी है। क्या गजब की तेरी शक्ति और बुद्धि है ? दूसरों की सुरक्षा करने के लिए तूने कितना बलिदान दिया ?" यों कहकर कविरत्न ने पत्नी को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। तत्पश्चात् उक्त दोनों भाइयों के समक्ष दृष्टि करके उन्होंने कहा - "भाइयों ! अब यह तलवार हाथ में लेकर तुम अपना कार्य शीघ्र निपटाओ।"

पति-पत्नी की परस्पर हुई बातचीत सुनकर दोनों भाई तो स्तब्ध हो गए। 'अहा ! हम जिसे मारने के लिए आये हैं, वह हमें बचाने के लिए कितनी अनूठी उदारता बता रहे हैं ? बैर की परम्परा को समाप्त करके मैत्रीभाव की रक्षा करने के लिए कितना बलिदान दे रहे हैं ? अगर इन्हें बचना होता तो यह चाहते वैसा कर सकते थे। जिस पर राजा के चार हाथ हों, उसके लिए क्या बाकी रह सकता है ? हमें ये पकड़ा देने में समर्थ थे। फिर भी ऐसा कुछ न करते हुए बैर की आग बुझाने के लिए अपने जीवन का अन्त लाने के लिए तैयार हो गए। ये कैसे उदार और सज्जन हैं ? जबकि हम कैसे शठ, लुटेरे, पापी और हत्यारे हैं ? धिक्कार है हमारे जीवन को !' पति-पत्नी की उदारता देखकर दोनों भाइयों के अन्तर में जगी हुई बैर की आग शान्त हो गई, ज्वाला जल बन गई, बैर का आवेश उतर गया ! उन्होंने हाथ में पकड़ी हुई तलवार फेंक दी ! उनके नेत्रों से चौधार आंसू बहने लगे। पवित्रात्मा की पवित्रता पामर को भी पिघाल डालती है।

दोनों भाइयों का पश्चात्ताप और विलाप : मारने के लिए आये हुए दोनों भाई भाई-भाभी के चरणों में पड़कर घोर कल्पान्त (विलाप) करने लगे। "अहो ! बड़े भाई-भाभी पिता-माता समान हैं। हम अधम और पापी हैं। वाल-बुद्धि से प्रेरित होकर, आवेश में आकर आपको हत्या करने के लिए हम इतनी दूर से आए। अरे ! हमने आपको पहचाना नहीं। कहाँ आपकी उदारता और क्षमा और कहाँ हमारी अधमता ! हम दोनों गुंडे वनकर आपको मार डालने के लिए आए हैं, इस वात का पता तो आपको मार्ग में ही चल गया था। आपने उस वक्त सोचा होता तो हमें मार डालने में समर्थ थे। फिर हम तो जब से आए तब से देख-जान रहे हैं कि आप राजा के कितने माननीय हैं। आपने अगर उस समय राजा साहब को इस वात की जानकारी दी होती तो हमें जिंदगीभर जेल में बंद करा सकते थे, फांसी की सजा करा सकते थे, फिर भी आपने ऐसा न करके अपनी कुटुम्व-परम्परा में से वैर का अन्त लाने के लिए अपना जीवन कुर्वान करने की उदारता करके हम जैसे नीच और पापियों पर आप दोनों ने अनहद (असीम) मैत्रीभाव रखकर वात्सल्य का प्रवाह वहाया। उस पर भी हमारी भाभी-साहिवा की उदारता और उनकी दीर्घदर्शिता को तो कोटिकोटि धन्यवाद देने चाहिए, क्योंकि राजा के पास जाकर हमारी चुगली तो खाई ही नहीं, बल्कि ऊपर से हमें वचा लेने की दीर्घदृष्टि का उपयोग किया तथा वैर की परम्परा सर्वथा रोकने के लिए स्वयं जल मरने का निश्चय किया। अतः आप दोनों देवतुल्य हैं और हम मनुष्य के रूप में राक्षस हैं।" इतना कहते-कहते उनकी आँखों से दड़दड़ आंसू वहने लगे। वे दोनों भाई-भाभी के चरणों में गिरकर बोले - "हम क्रूर और पापी इस संसार में जीने लायक नहीं हैं। हम जैसे पापियों की वदौलत पृथ्वी पर भार बढ़ गया है। अतः भूमि का भार हलका करने के लिए हम मर जाएँ, यही वेहतर है।" यों कहकर मरने के लिए तलवार हाथ में लेकर ज्यों ही अपने गले पर फेरने जाते हैं, त्यों ही तुरंत कविरत्न ने उनके हाथ से तलवार छीन ली और हार्दिक प्रेमभरे शव्दों से दोनों भाइयों को समझा-बूझाकर शान्त किया।

कविरत्न द्वारा दिया गया हितोपदेश : कविरत्न ने दोनों भाइयों से कहा - "भाइयों ! हमें आत्महत्या नहीं करनी है। आत्महत्या सवसे वड़ा पाप है। **'आत्महत्या से जीवन का अन्त आ जाएगा, किन्तु पापों का अन्त नहीं आएगा।'** यदि पापों का अन्त किये विना मर जाओगे तो दूसरे जन्मों में अनेक दुःख भोगने पड़ेंगे और जन्म-मरण करते हुए भव-भव में भ्रमण करना पड़ेगा। पापकर्मों को नष्ट करने के लिए मनुष्यजन्म जैसा दूसरा कोई भी जन्म नहीं है। मनुष्यजन्म में दान, शील, तप और भाव तथा तप, त्याग, संयम एवं परोपकार आदि सुकृत्य करके पापों का अन्त किया जा सकता है। कर्मों को क्षय करने का ऐसा उत्तम अवसर आत्महत्या करके क्यों व्यर्थ खोया जाए ? ओ मेरे भाइयों ! अव तुम रोओ मत। अव तुम देव-सदृश वन गए हो, क्योंकि अव तुम्हारे हृदय में से वैरभावना चली गई है, तथा तुम्हारे अन्तर

में मैत्रीभाव प्रकट हो गया है। तुम्हें धन्यवाद देता हूँ कि तुमने हमारे मैत्रीभाव के प्रयत्न को सफल बनाया है। अपने बीच में जो कुछ बनाव बना है, उसे यहीं गाड़ देना है। हम चारों के सिवाय इस घटना को कोई नहीं जानता। अब हम सब साथ में रहेंगे। मैं राजाजी से कहकर तुम दोनों को किसी अच्छे पद पर बिठा दूंगा। हम सब साथ में रहकर मैत्रीभाव रखकर सुकृत्यों की साधना करके अपना मानवजीवन सफल बनायेंगे।"

कवि की पत्नी बोली - "मेरे लाडले देवरों ! तुम्हारे भाई जो कुछ कह रहे हैं, वह सत्य है। यह स्वयं देव के अवतार हैं। इनका हृदय उदार और विशाल है, इसलिए तुम दोनों जरा भी हिम्मत मत हारना। हमसे जुदाई भी मत रखना। साथ ही तुम्हारे भाई के साथ में रहकर उनके जितने गुण ले सको, ले लो। तुम्हारे भाई के सहवास में रहने से मेरा जीवन भी कितना बदल गया ? क्या कहूँ। मैं जब शादी करके आई थी, तब बैर की आग शान्त करके मैत्रीभाव प्रकटाने के लिए मैं अपने प्राणों का उत्सर्ग करने हेतु तैयार हो जाऊँ, ऐसा आत्मबल मेरे में नहीं था। मैं तो पत्थर जैसी कठोर थी। तुम्हारे इन भाई का शुभ प्रताप और प्रभाव है कि उन्होंने मुझ पत्थर जैसी नारी को घड़कर मनोरम्य मूर्ति जैसी बना दी, तथा मेरे जीवन का भी सुंदर निर्माण किया है। अतः तुम दोनों भाई भी इनके संसर्ग में रहोगे तो तुम्हारे जीवन का भी सुन्दर निर्माण होगा। चलो, अब हम सब घर चलें।" यों कहकर कवि की पत्नी ने रोते हुए दोनों भाइयों को वात्सल्यभाव से शान्त और स्वस्थ किये। दोनों भाई कहने लगे - "भाई-भाभी ! आपको अपना मुख बताते हुए हमें बहुत शर्म आती है, तो दुनिया को हम आपना मुख कैसे बता सकेंगे ? अब तो देश में चले जाएँगे।" भाभी ने कहा - "भाई ! यों नहीं जाना है। जो कुछ हुआ सो हुआ। उसे अब भूल जाओ और कुछ भी नहीं हुआ, यों समझ लो।"

"बैर के विष को जलाकर, कषाय और द्वेष को मिटाकर, हृदय फूल-सा कोमल बनाकर हम एक-दूसरे को अन्तःकरण से खमा लें और जीवन का नया बही खाता शुरू करें। तुम तो हमारे सगे भाई हो, अतः मन में जरा भी हीनता मत लाओ और जरा भी मत घबराओ।" इस पर एक भाई ने भी कहा - "मैं तो आज मेरे जीवन का धन्य-दिवस मानता हूँ कि इस परदेश में भी देववंशी दूत जैसे बड़े भाई का मिलाप हुआ है।

कविरत्न की उदारता : दूसरे दिन कविरत्न अपने इन दोनों भाइयों को राजा के पास ले गया और उनसे निवेदन किया - "साहब ! ये संगीतकार मेरे चाचा के पुत्र भाई लगते हैं। हम बहुत वर्षों से अपने देश को छोड़कर यहाँ आकर बस गये हैं, इस कारण मैंने इन्हें पहचाने नहीं। कल ही इनकी पहचान हुई है। अतः मैं आपसे एक नम्र विनती करता हूँ कि मेरे इन दोनों भाइयों को आप अच्छे पद पर नियुक्त

दें ।" कविरत्न के लिए राजा के दिल में बहुत ही बहुमान था । इसलिए ये इनके भाई हैं, इस कारण इन्हें अच्छे खानदान के मानकर उच्च संगीतकार के पद पर नियुक्त किये । देखिए, कविरत्न की कितनी बड़ी उदारता है ?

बन्धुओं ! विचार करो, मैत्रीभावना का कैसा सुखद परिणाम आया ? कविरत्न के हृदय में मैत्रीभावना ने कैसा स्थान जमाया होगा ? उनको रग-रग में और रोम-रोम में मैत्रीभावना का कैसा झंकार हुआ होगा, जिससे अपने में बचने की शक्ति होते हुए भी बचने का कोई भी उपाय न करते हुए कुल-परम्परा में वैर का अन्त लाने (समाप्त करने) हेतु अपना जीवन को होड़ में रखकर भाई के हाथ से तलवार के एक झटके से मरने के लिए तैयार हो गए और उन भाइयों की वैराग्नि शान्त करने की सुविधा कर दी । उनकी पत्नी भी कैसी दिल की दिलावर निकली कि पति के प्रति सच्ची प्रीति के प्रतीक के रूप में पति का प्रिय मैत्रीभाव स्वयं ने अपना लिया और अपने देवरों को अपना मनचाहा काम निपटाने के बाद किसी प्रकार की असुविधा न हो, उनके सिर पर किसी प्रकार की आफत न आए उसके लिए दो घोड़े लेकर आ पहुँची और भविष्य में चुगली खाने की बुद्धि न जगे उसके लिए पति की चिता में जल मरने के लिए तैयार हो गई । इन पति-पत्नी दोनों की कैसी भव्य उदारता ? धन्य है, ऐसे आत्माओं को !

हमें भी चेतनदेव को जागृत करने की जरूरत है कि हे चेतनदेव ! क्षमा, अमर बनानेवाली सुधा है, जबकि वैर तुझे भव-भव में मारनेवाला विष है । कहा भी है -

"नरस्य भूषणं रूपं, रूपस्या भूषणं गुणः ।
गुणस्य भूषणं ज्ञानं, ज्ञानस्या भूषणं क्षमा ॥"

मनुष्य का आभूषण रूप है, रूप का आभूषण गुण है । गुण का भूषण है ज्ञान और ज्ञान का आभूषण क्षमा है । मनुष्य का डिलडौल, स्वस्थता, आकर्षण शरीर सौष्ठव आदि सौन्दर्य या सुरूपता उसके आभूषण हैं और रूप का भूषण उसके गुण हैं, क्योंकि अगर जीवन में गुण न हो तो, गुण से रहित सौन्दर्य फीका लगता है । इसी कारण इस श्लोक में कहा गया है - रूप का भूषण गुण है और गुण का भूषण ज्ञान है और ज्ञान का आभूषण क्षमा है । क्योंकि ज्ञान के बिना गुण प्रकट नहीं होता और जीव में ज्ञान नहीं होता, वहाँ तक क्षमा नहीं आती । उसे ज्ञान के बिना ज्ञात नहीं होता कि क्षमा करने (देने-लेने) से क्या लाभ होता है । कहा है - '*क्षमया क्षीयते कर्म*' अर्थात् - ज्ञान द्वारा जीव को भान हो जाता है कि क्षमा (देने-लेने) (या क्षमा रखने) से जीव के कर्मों का क्षय होता है । ज्ञान द्वारा आत्मा यह बात भी समझ सकता है -

नहि वेरेण वेराणि, सम्मंतीध कदाचनं ।
अवेरेन च सम्मंति, एस धम्मो सनन्तनो ॥

इस संसार में बैर से वैर कदापि शान्त नहीं होता । अग्नि में इन्धन (काष्ठ आदि) डालने से आग बुझती नहीं, प्रत्युत अधिक भड़कती है । वैसे ही बैरी के साथ बैर की परस्परा चालू रखने से बैर बढ़ता जाता है । किन्तु वैर के विरुद्ध (खिलाफ) अबैर यानी मैत्रीभाव रखने से वैर शान्त हो जाता है । अतः आज संवत्सरीपर्व (क्षमापर्व) के दिन *'वेरं मज्झं न केणइ'* इस छोटे से सूत्र को अपने हृदय में अंकित कर लो । आज से मुझे किसी के साथ नया बैर नहीं बांधना है और जिसके साथ पुराना बैर है, उसका विसर्जन कर देना है और उसके साथ (धर्म) स्नेह का सर्जन करना है । ऐसा भाव प्रत्येक आत्मा के हृदय में जगे, तो आज का संवत्सरीपर्व मनाना सार्थक (सफल) हो जाय और इस (कषायादि या रागद्वेषादि) दावानल से सलगता हुआ संसार स्वर्गतुल्य बन जाय । यह संवत्सरीपर्व क्षमा का सन्देश लेकर प्रतिवर्ष एक बार आता है । अतः इस पर्वाधिराज का सन्देश हृदय में धारण करके कषायों की कालिमा को क्षमा के पवित्र जल से धोकर आत्मा को निर्मल एवं पवित्र बना लो ।

संवत्सरी - प्रतिक्रमण करने से पूर्व जिस-जिसके साथ तुम्हारा बैर-विरोध हुआ हो, उससे क्षमा मांग लेना और उसका अपराध हुआ तो भी वह क्षमा मांगता हो तो क्षमा दे देना । सामनेवाला व्यक्ति क्षमा मांगे या न मांगे (खमावे या न खमावे), मगर तुम तो अवश्य ही उससे क्षमा मांग लेना । . .

आज अपने यहाँ इन साध्वियों के दीर्घ तप के निमित्त से अपनी आत्मा को जागृत करके स्व-कल्याण के लिए कतिपय भाई-बहन सजोड़े ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेने हेतु तैयार हुए हैं । उन्हें अब्रह्मचर्य का प्रत्याख्यान (त्याग) कराती हूँ । आज क्षमा के सम्बन्ध में काफी कहा गया है । अधिक भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ५७

भादवा सुदी ७, मंगलवार — ता. ३१-८-७८

जिनवाणी से जन्म-मरण की जेल से मुक्ति

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तकरुणा के सागर सर्वज्ञ भगवान् की वाणी का नाम है - सिद्धान्त (या सूत्र) । वीतराग की वाणी मोक्ष में जाने की निसैनी है । इस निसैनी का लेकर अनेक जीवों ने सिद्धि का शिखर सर किया है और अव्याबाध सुख व किया है । इस मानवजीवन की सफलता भी सिद्धि के सोपान पर चढ़ने में भोगविलास में मस्त बनने में नहीं है । अपितु भोग के त्याग और त्याग के प्रति करने में है ।

८. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' के आठवें अध्ययन पर व्याख्यान चल रहा है। उसमें प्रसंगवश यह बात कही गई थी, कि प्रभादेवी सुखशय्या में अर्धनिद्रित और अर्धजागृत अवस्था में सोई हुई थी। उस समय उन्होंने १४ महास्वप्न देखे। उन १४ स्वप्नों को देखकर प्रभावती रानी जागृत हुई। जागकर उन्होंने धर्मजागरण की। फिर सवेरा होते ही रानी कहाँ आई ?

तए णं सा पभावई देवी जेणेव कुंभराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाव भत्तार-कहणं, सुमिण-पाठग-पुच्छा जाव विहरंति।

उस समय प्रभावती रानी वहाँ आई, जहाँ उनके पति कुम्भराजा सोये हुए थे। आकर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोलीं - "स्वामीनाथ ! आज रात्रि में मैंने ऐसे चौदह महास्वप्न देखे हैं।" प्रभावतीदेवी राजा की रानी थी, फिर भी उनमें कितना विनयभाव था ? अपने बुजुर्ग से जब कोई प्रश्न पूछना हो, अथवा किसी विषय में वार्तालाप करना हो, तब उनके पास जाकर नम्रतापूर्वक बात करनी चाहिए।

प्रभावतीदेवी ने अपने पतिदेव कुम्भराजा के पास आकर विनयभाव से नम्रतापूर्वक मधुर स्वर में १४ स्वप्न देखने की बात कही। यह सुनकर राजा को अलौकिक आनन्द हुआ। वह प्रसन्नतापूर्वक बोले - "अहो रानीजी ! आपने जो १४ स्वप्न देखे हैं, वे अति-उत्तम हैं, उनका फल भी अलौकिक है। तुम्हारी कुक्षि से तीर्थंकर-प्रभु का जन्म होगा। पहले के राजा पवित्र होते थे। उसमें भी जो तीर्थंकर के पिता हों, वह तो अत्यन्त पवित्रात्मा होते हैं। इसलिए उनकी बुद्धि भी निर्मल होती हैं। तदनुसार अपने अनुमान से ऐसे कहा कि इन स्वप्नों का ऐसा-ऐसा फल होगा। पति के मुख से यह बात सुनकर रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ। साथ ही राजा को भी आनन्द हुआ। तीर्थंकर-प्रभु का माता-पिता बनना अहो भाग्य है। इस कारण कुम्भराजा और प्रभावती रानी को अतीव आनन्द होना स्वाभाविक है। तत्पश्चात् स्वप्नों का विशेष फल जानने के लिए कुम्भराजा ने स्वप्नपाठकों को बुलाया। सभी स्वप्नपाठक एकत्रित हुए और उन्होंने निश्चय किया कि हमें अब राजसभा में जाना है। राजा के पास जाकर हम अपनी-अपनी इच्छानुसार अलग-अलग उत्तर देंगे तो उसमें अपनी कीमत घटेगी। इसकी अपेक्षा सबकी तरफ से एक मुख्य ज्योतिषी हो, वही जवाब दे दे, यह ठीक रहेगा। एकता और एकरूपता में जो मजा है, वह पृथक्ता और अनेकरूपता में नहीं है। अकेला एक व्यक्ति कोई महान् कार्य नहीं कर सकता, किन्तु सब एकत्र (सम्मिलित) होकर करें तो सुन्दर कार्य कर सकते हैं। जैसे ईंट, मिट्टी, सीमेंट और चूना, ये सब इकट्ठे हों तो इनसे बड़ी मजबूत इमारत खड़ी की जा सकती है। किन्तु ईंट, चूना, सीमेंट और लकड़ी, ये सब कहें कि हमें तो पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रहना है,

हमें परस्पर एक - दूसरे के साथ मिलना नहीं है तो उनकी कोई कीमत होती है क्या? ये सब पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रहें तो मकान बन सकता है क्या ? नहीं । इस पर से तुमको भलीभांति समझ में आ जाता है कि जो सुख या जो मूल्य एकता में है, वह सुख या मूल्य पृथकृता में नहीं है । इस सम्बन्ध में एक सेठ और गोरखे की एकता का दृष्टांत मननीय और ज्ञातव्य है -

सेठ और गोरखा का दृष्टांत : एक बड़ा करोड़पति सेठ था । आप जानते हैं कि धनाढ्य व्यक्तियों के बंगले की चौकीदारी करने के लिए गोरखा पहरेदार रखा जाता है । इस सेठ के यहाँ भी पहरेदार के रूप में एक गोरखा रहता था । सेठ जैसे धनिक थे, वैसे धार्मिक भी थे । वे केवल पैसे को ही परमेश्वर मानकर बैठ जाएँ, वैसे नहीं थे । और सेठ के परिचय में जो भी आता था, उसमें वह धर्म का रंग भी लगाते थे । सेठ के यहाँ रहकर गोरखे ने भी धर्म-प्राप्ति की थी । सामायिक, प्रतिक्रमण करना, तिथि-पर्व के दिन उपवास करना, रोज नवकारसी करना, रात्रिभोजन और कन्दमूल का त्याग करना इत्यादि अनेक नियमों का वह पालन करता था । उसमें खानदानी का भी प्रभाव था । यह गोरखा अपने गुण के प्रभाव से सेठ को अत्यन्त प्रिय हो गया था, उसमें एक विशिष्ट गुण था - आज्ञापालन का । जिस प्रकार पुत्र पिता की आज्ञा के प्रति वफादार रहे तो वह पिता का मन जीत लेता है, उसी प्रकार इस गोरखे ने भी आज्ञाकारिता के अपने विशिष्ट गुण से सेठ का मन जीत लिया था । इस कारण यह गोरखा अपने औरस पुत्र की तरह सेठ को अत्यन्त प्रिय था । यही कारण है कि सेठ के घर में कितनी मिल्कियत है ? वह कहाँ रखी हुई है ? यह सब वह गोरखा जानता था । यद्यपि मुनीम वफादार था, किन्तु गोरखे के जितना सुसंस्कारी नहीं था । इस सेठ के यहाँ बड़ी उम्र में एक पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम प्रवीण रखा गया । यह लड़का जब ढाई वर्ष का हुआ, उसी दौरान एक दिन सेठ को ऐसा प्रतीत हुआ कि 'सात दिनों में तेरा जीवन-दीपक बुझ जाएगा । अतएव जितनी हो सके धर्माराधना कर ले ।' सेठ के मन में यह दृढ़ भास हो गया कि अब मेरा अन्तकाल निकट आया है । मैं सात दिवस से अधिक जिंदा नहीं रह सकूँगा । इसलिए सेठ ने गोरखे को एकान्त में बिठाकर कहा - "बेटा ! तू मुझे अपने औरस पुत्र से भी अधिक प्रिय है । तू मेरे घर की तमाम मिल्कियत जानता है । मैंने तुमसे कुछ भी छिपाकर नहीं रखा । यह मेरा पुत्र प्रवीण अभी ढाई वर्ष का है और अब सात दिनों में मेरा आयुष्य पूर्ण होनेवाला है । अतः तू अबतक इन सबकी सारसंभाल करता आया है, वैसे सारसंभाल करते रहना । सेठानी को माता के समान मानकर रहना और मेरा प्रवीण बीस वर्ष का हो जाय, तब तू इसे सारी मिल्कियत की बात समझाना ।" यह सुनकर गोरखे ने कहा - "पिताजी ! मैं आपको वचन देता हूँ कि मैं अपनी माता के समान सेठानी और मेरे छोटे भाई प्रवीण की बराबर सार-संभाल (देखभाल) रखूंगा और प्रवीणभाई जब बीस वर्ष का हो जाएगा, तब मैं सारी बात

बराबर (ठीक-ठीक) समझा दूंगा। आप बिलकुल चिन्ता न करें। किन्तु आपके चले जाने से मुझे अत्यन्त दुःख होगा। मुझे आपके बिना अच्छा नहीं लगेगा।" इतना बोलते-बोलते उसकी आँखों से अश्रुधारा बह चली। तब सेठ ने उसे हिंमत बंधाते हुए कहा - "तू किसलिए रोता है? जो जन्म लेता है, उसे एक दिन तो सबकुछ छोड़कर अवश्य जाना पड़ता है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महान् पुरुषों को भी आयुष्य पूरा होने पर जाना पड़ता है। इसमें आश्चर्य की बात क्या है?" सेठ ने गोरखे को सारी बातें समझा दीं, परन्तु यह कहने से सेठानी को दुःख होता, इसलिए उसे नहीं कही। सेठ बहुत ही धर्मिष्ठ और पवित्र पुरुष थे। मृत्यु की प्रतीति होने से अब अपनी फर्म पर जाना-बैठना बंद कर दिया। एक मात्र धर्मध्यान में तल्लीन होकर आत्मचिन्तन, आत्मशुद्धि, आलोचना, निन्दना-गर्हणा, प्रतिक्रमण, क्षमापना, भावना, अनुप्रेक्षा आत्मध्यान, सामायिक, पौषध, धर्मचर्चा इत्यादि करने लगे। वह अब शास्त्रवाचन, आध्यात्मिक ग्रन्थों का वाचन-श्रवण-मनन आदि करते हैं। इनके सिवाय वे दूसरी बात नहीं करते, न ही सांसारिक एवं व्यवसायिक कार्यों में भाग लेते हैं या परामर्श देते हैं। सेठ की ऐसी चर्या देखकर सेठानी ने पूछा - "स्वामीनाथ! आजकल आप अपनी फर्म पर जाते नहीं, एक मात्र धर्मध्यान में लीन रहते हैं, इसका क्या कारण है?" सेठ ने कहा - "कोई कारण नहीं है, किन्तु मेरा मन कहता है कि सब कुछ (सांसारिक प्रपंच) छोड़कर धर्मक्रिया में लग जा। अब तो मुझे अट्ठम (तेला) करना है।" यों कहकर सेठ ने अन्तिम तीन दिवस का उपवास (अट्ठम तप) करके संथारा किया। ठीक सात दिन पूर्ण होते ही सेठ का जीवनदीपक बुझ गया। वह समाधिमरणपूर्वक काल करके देवलोक में गए। सेठ के गुजर जाने से गाँव में सर्वत्र शोक छा गया।

गोरखे की वफादारी : गोरखा अत्यन्त वफादारीपूर्वक काम कर रहा है। सेठानी को जरा भी चिन्तातुर होने नहीं देता। सेठानी भी उसे पुत्र की तरह रखती है। घर का कामकाज गोरखा संभालता है और फर्म का काम मुनीमजी संभालते हैं। दोनों व्यवस्थित ढंग से काम कर रहे हैं। यों करते-करते सेठ का पुत्र प्रवीण चौदह वर्ष का हो गया। मनुष्य का मन चाहे जितना अच्छा हो, किन्तु धन के प्रति जब ममता जागती है, तब उसकी बुद्धि कब और किस प्रकार बिगड़ जाती है, इसका पता नहीं लगता। गोरखा तो अत्यन्त धर्मसंस्कार पाया हुआ था, इसलिए उसे धन के प्रति किसी भी मूल्य पर ममत्व-बुद्धि नहीं जागती थी। यदि वह चाहता तो सेठ का धन प्रचुरप्रमाण में लूट सकता था, क्योंकि सेठ की तिजोरी की तमाम चाबियाँ उसके हाथ में थीं। वह चाहे जितना धन हस्तगत कर लेता तो भी किसी को इसकी जरा भी मालूम नहीं पड़ता। परन्तु उसकी नैतिकता, नियत और नीति बहुत अच्छी थी। मगर मुनीम की नियत बिगड़ी। उसने एक दिन गोरखे को अपने पास बुलाकर कहा - "अरे भाई गोरखा! मैं तुझे एक बात करना चाहता हूँ, किन्तु तभी कहूँगा कि तू इस बात को कभी किसी को नहीं कहे!" सरलमना गोरखे ने सोचा - 'मुनीमजी दूसरी क्या

बात कहेंगे ?' यों सोचकर उसने कहा - "आप अपनी बात कहिए । मैं किसी से नहीं कहूँगा ।" तब मुनीम ने कहा - "देख ! तू सेठ के घर की सारी मिल्कियत जानता है । मुझे सेठ के फर्म (व्यवसायिक प्रतिष्ठान) की सारी मिल्कियत मालूम है । अगर तू माने तो हमलोग प्रवीण को खत्म कर डालें और सेठ की तमाम मिल्कियत के हम दोनों मालिक बन जाएँ । उसमें आठ आना तेरा हिस्सा और आठ आना मेरा हिस्सा रहेगा ।" समझ गए आप ? धन की मूर्च्छा कैसे-कैसे क्रूर पापकर्म कराती है ? और ऐसे पाप करनेवाले की क्या मनोदशा और नीयत हो जाती है, यह इस दृष्टान्त पर से आपलोग समझ सकते हैं ? कहा है - शरीर वृद्ध हो जाता है, किन्तु तृष्णा वृद्ध नहीं होती । नीतिकार कहते हैं -

"जीर्यन्ते जीर्यता केशाः, दन्ताः जीर्यन्ति जीर्यतः ।
जीर्यतश्चक्षुषी श्रोत्रे, तृष्णैका तरुणायते ।।"

मनुष्य जब बुढ़ापे के कारण जीर्णशीर्ण वृद्ध हो जाता है, तब उसके दांत, केश, आँख, कान आदि समस्त अंगोपांगों को जीर्णता (वृद्धत्व) आ जाती है, किन्तु एक तृष्णा ऐसी है, जिसे जीर्णता (बुढ़ापा) नहीं आती, यह तो जब देखो तब, तरुण रहती है, यह सदा जवानी में रहती है ।

धन देखकर मुनीम की बुद्धि बिगड़ी : इस प्रकार उक्त मुनीम की तृष्णा तरुण बनी । इस कारण उसने प्रवीण को मारकर सेठ की मिल्कियत हजम कर जाने की बात गोरखे से कही । किन्तु गोरखा मुनीम जैसा नहीं था । मुनीम की बात सुनकर उसे क्रोध आया । उसने कहा - "मुनीमजी ! यह आप क्या कह रहे हैं ? जिस सेठ ने अपने पर विश्वास रखकर हमारी जीवन-नौका तिराई । जिनका अपने पर महान् उपकार है । सेठ ने हमें बहुत दिया है । वह अपने महान् उपकारी हैं, उनकी जड़ उखाड़ने के लिए आप तैयार हुए हैं । क्या यह कुकृत्य आपको शोभा देता है ? तुम क्यों नश्वर धन के लिए सेठ के लाड़ले पुत्र की हत्या करने को तैयार हुए हो ? जरा विचार करो । ऐसे काले कुकृत्य करके तुम (मरकर) कहाँ जाओगे ? और साथ में क्या ले जाओगे ? सेठ के पास करोड़ों की सम्पत्ति थी, परन्तु साथ में क्या ले गए ? वह सबकुछ यहीं छोड़कर चले गए । तुम्हें और मुझे भी सबकुछ यहीं छोड़कर चले जाना है । तब किसलिए ऐसा पाप करने को तैयार हुए हो ?" गोरखे की बात सुनकर मुनीम क्षणभर स्तब्ध हो गया । परन्तु दिल-दिमाग में लक्ष्मी के प्रति मोह का नशा उतरा नहीं था । इसलिए उसने गोरखे पर प्रलोभन का पासा फेंका - "देख भाई, ऐसा कर । अगर तू मेरी बात में सम्मत हो जाए तो तेरा और मेरा दोनों का आधा-आधा भाग । इससे भी अधिक ले यह दस हजार की थैली, यह तुझे मैं पहले दे देता हूँ ।" परन्तु गोरखा बिलकुल ललचाया नहीं । उसने स्पष्ट शब्दों में मुनीम से कह दिया - "मुनीमजी खबरदार ! प्रवीण को मार डालने के लिए एक भी शब्द कहा तो मैं तुम्हारी जीभ खींच लूंगा । मैं मर सकता हूँ, परन्तु प्रवीण को किसी भी तरह से मरने

नहीं दूँगा।'' गोरखा के रौब भरे शब्दों को सुनकर मुनीम तो कांप उठा। डर के म
शून्यमनस्क होकर चला गया।

बन्धुओं ! मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर पाप करने के लिए तैयार तो हो जा
है, परन्तु जब उसकी धारणा फलीभूत नहीं होती, तब एक पाप को छिपाने के लि
दूसरा पाप करने को उतारू हो जाता है। मुनीम के मन में यह हो गया कि मैं तो मान
था कि गोरखा मेरे फेवर में हो जाएगा, किन्तु यह तो मेरे विरोध में तनकर ख
है। मेरी बात में यह सहमत नहीं होता। अगर इस बात को यह किसी से कह दे
तो मेरे पर शामत (आफत) आ जाएगी। अतः इसको मार डालूं तो फिर इस बात
फूटने की चिन्ता नहीं रहेगी।

गोरखे को मारने जाते, मुनीम स्वयं मारा गया : यों विचार कर मुनीम
हाथ में छुरा लिया और ज्यों ही वह गोरखे की छाती में घोंपने जाता है, त्यों ही उस
मुनीम के हाथ से छुरा छीनकर उसीकी छाती में घुसेड़ दिया। मुनीम का खेल ख
हो गया। मुनीम के मुख से चीस निकल गई। मुनीम की चीस सुनकर वहाँ मनु
इकट्ठे हो गए। पुलिस को पता लगते ही वहाँ पुलिस दौड़कर आई। गोरखे के हा
में छुरा है। पास में दस हजार की थैली पड़ी हुई है और मुनीम की लाश भी प
है। यह देखकर सभी समझ गए कि पैसे के लिए इस गोरखे ने मुनीम की हत्या क
है। इस कारण पुलिस ने गोरखे को गिरफ्तार कर लिया। सेठानी को इस बात क
पता लगते ही वह दौड़कर वहाँ आई। पुलिस गोरखे को पूछती है - "तुमने मुनी
की किसलिए हत्या की है ?'' किन्तु गोरखा जवाब नहीं देता, वह चुपचाप बैठा रह

सेठानी भी विचार में पड़ गई कि मेरा गोरखा एक चींटी को भी पीड़ा दे, ऐस
नहीं है। अगर भूलचूक से भी उससे चींटी मर जाए मेरे पास उसका प्रायश्चित ले
आता है, तो ऐसा व्यक्ति क्या पंचेन्द्रिय जीव की हत्या कर सकता है ? सेठानी उस
पास आकर पूछती है - "बेटा ! क्या हुआ ? तू इतना सुसंस्कारी है कि मुनीम क
हत्या करे, यह मेरे मानने में नहीं आता ! क्योंकि दो दिन पहले मक्खी तेरे निमि
से मर गई थी तो तूने उस दिन कुछ खाया नहीं था। अतः ऐसा दयालु तू क्या कभ
हत्यारा बन सकता है ? नहीं। तो इस बारे में क्या हुआ है यह तू मुझे सच-सच बत
दो।'' परन्तु गोरखा कुछ भी न बोला, क्योंकि उसने मुनीम को वचन दिया था कि
चाहे जो हो जाय, मैं किसी के आगे यह (तुम्हारी) बात नहीं कहूँगा और यदि वह क
देता है तो विश्वासघात किया कहालाएगा न ? एक गोरखे में भी कितनी खानदान
और वफादारी है ? गोरखे को चाहे जितना बदल-बदल कर पूछा, किन्तु उसने किस
के सामने बात नहीं की। आखिरकार उसे आजन्म कारावास की सजा हुई। जेल
में ले जाने से पूर्व पुलिस द्वारा उसे हथकड़ी पहनाई जाने लगी, तब उसने कहा
"साहब ! आप जरा ठहरिए, मुझे अपने पुत्र से थोड़ी देर के लिए मिल लेने दें।"

पुत्र को हिदायत दी : तुरंत गोरखे ने अपने पुत्र को बुलाकर हिदायत्त दी - "देख बेटा ! प्रवीण जबतक बीस वर्ष का न हो जाय, तबतक सेठ के घर का कामकाज संभालने का मैंने सेठ को वचन दिया था । लेकिन मैं तो अब जेल जा रहा हूँ । तू मेरा यह सब काम करना । सेठानी को माता के समान मानकर वफादारी से सेवा करना । प्रवीण तैयार हो जाए, फिर तुझे छुट्टी है ।" यों कहकर गोरखे ने पुत्र को सब बात समझा दी । गोरखे का पुत्र भी गोरखे की तरह अत्यन्त वफादारी से काम करता है । फर्म और घर का सब काम वह संभालने लगा । यों करते-करते प्रवीण जब १८ वर्ष का हुआ, तब सेठानी ने प्रवीण को फर्म उपर बिठाना शुरू किया । वह बहुत ही होशियार और अत्यन्त चतुर लड़का था । उसने सारा काम संभाल लिया और अल्प समय में घर की और फर्म की सारी व्यवस्था संभालने योग्य हो गया । अतः गोरखे के पुत्र ने कहा - "माँ ! अब तो प्रवीणभाई तैयार हो गए हैं । इसलिए अब मेरी जवाबदारी पूरी हो गई है । अब मुझे छुट्टी दे दें ।" इस पर सेठानी ने कहा - "बेटा! तूने यह क्या कहा ? तुझे छुट्टी तो अब कभी नहीं दूंगी ।" सेठानी के आग्रह से गोरखे का पुत्र वफादारीपूर्वक काम करता है । प्रवीण को वह अत्यन्त प्रिय पात्र हो गया है । एक दिन बात निकली - "मेरे पिताजी आपके यहाँ नौकरी करते थे । उनका ऐसा-ऐसा हुआ । किन्तु आपकी सेवा के लिए उनकी हिदायत होने से मैं गत ६ वर्षों से अपके यहाँ काम करता हूँ ।"

प्रवीण गोरखे को ढूंढकर घर लाया : प्रवीण गोरखे की सारी बात सुनकर चौंका है ! 'ऐसा अच्छा गोरखा, जेल में ? बस, अब तो मुझे जेल में जाकर सबसे पहले उससे मिलना है ।' यों सोचकर प्रवीण जेल में पहुँचा । जेल में तो बहुत-से कैदी थे । अपने गोरखे को वह भलीभांति पहचानता भी नहीं था । परन्तु गोरखे ने प्रवीण को पहचान लिया । - ओहो ! यह तो मेरे सेठ का पुत्र है । माता से अलग पड़ा हुआ (वियुक्त) बालक जैसे अपनी माता को ढूंढने के लिए चारों ओर ताकझांक करता है, वैसे ही प्रवीण अपने गोरखे से मिलने के लिए तरस रहा है । तभी गोरखे ने आकर उसे छाती से लगा लिया । बोला - "बेटा प्रवीण ! तू यहाँ क्यों आया ?" यह सुनकर प्रवीण ने कहा - "प्राणप्रण से मेरी रक्षा के लिए सतत चिन्तित आजन्म कारावास की सजा भोगनेवाले आपसे मैं मिलने हेतु आया हूँ ।" जैसे छोटे बच्चे को माता प्रेम से बाथ में ले लेती है, वैसे ही गोरखा ने प्रवीण को बाथ में ले लिया, फिर दोनों एक-दूसरे के सामने देखकर खूब रोये । जेलर ने यह सब देखा । जेलर ने भी मन ही मन सोचा कि 'यह बड़ा सेठ है और यह गोरखा है । फिर एक दूसरे के प्रति कैसी अनन्य संवेदनशीलता रखते हैं ? यह कौन होगा ? देखूं, इनसे पूछूं कि ये कौन हैं ?' यों सोचकर जेलर ने पूछा - "तुम दोनों कौन हो ?" तब प्रवीण ने जेलर को आद्योपान्त सारा वृत्तान्त कह सुनाया । तब जेलर ने गोरखे से पूछा - "भाई ! तूने मुनीम की हत्या किसलिए की ?" किन्तु बहुत पूछने पर भी गोरखे ने कुछ भी जवाब नहीं

इच्छा पूर्ण हो गई, इस कारण दोनों ने विषयवासना (कामवासना) का पूर्णत्याग कर आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया। दोनों बालक धीरे-धीरे बड़े हुए। पूर्वजन्म संस्कार लेकर आये हैं, इसलिए माता-पिता **'नमो अरिहंताणं'** शब्द बोलते, तब उ सुनने के लिए कान खड़े हो जाते हों, ऐसा लगा। इस पर से माता-पिता समझते कि ये दोनों पुत्र धर्मभावनावाले होंगे। माता समझती थी कि मैं भाग्यशालिनी कि ऐसे संस्कारी पुत्रों की माँ बनी हूँ। माता इन बालकों को पालने में झुलाती, त भी वह लोरी गाती थी, वह भी धर्मभावना से ओतप्रोत गाती थी। इस कारण बालव के श्वासोच्छ्वास में नवकार मंत्र गूंज उठता था।

मणिभद्र और पूर्णभद्र धीरे-धीरे बड़े होते हुए तीन वर्ष के हो गए। वे अपने माता पिता को सामायिक-प्रतिक्रमण करते देखते तो वे दोनों बच्चे भी उनके पास बैठ जा थे। वस्तुतः जिनका संसार-परिभ्रमण कम होता है, उन जीवों को धर्मरुचि जगत है, उन्हें धर्म अच्छा लगता है। जिनका संसार-परिभ्रमण अधिक होता है, उन्हें धर्म रुचि नहीं होती। ये दोनों बालक जब पाँच वर्ष के हुए, तब इन्हें स्कूल में भर्त कराया। समय बीतते-बीतते ये दोनों लड़के पढ़-लिखकर बहुत ही होशिया हो गए। यौवन के सिंहद्वार पर पहुँचने पर ये दोनों रूप और लावण्य में चन्द्रकल की भांति सुशोभित होने लगे। इस कारण माता-पिता ने दोनों पुत्रों को अनुप रूपवती एवं सद्गुणी कन्याओं के साथ विवाह कराया। पुण्योदय से दोनों पुत्रब भी धर्मिष्ठ एवं सुसंस्कारी मिली। इस कारण सेठ-सेठानी ने उन दोनों को गृहभा सौंपकर अपना समय धर्माराधना में व्यतीत करने लगे।

एक दिन उत्कृष्ट क्रिया-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न एवं चारित्र-सम्पन्न मुनीश्वर महेन्त महाराज अपने शिष्य परिवार-सहित अयोध्या नगरी में पधारे। नगरी के बाहर वन में स्थित उद्यान में विराजे। वनपालक उस समय वहाँ हाजिर नहीं था, इसलिए उद्यान के एक कर्मचारी की आज्ञा लेकर वहाँ ठहरे। वसंत ऋतु के आगमन से जैसे फल-फूल आदि से समृद्ध होने से वन की शोभा बढ़ जाती है, वैसे ही मुनिराज के प्रभाव से वन में एकदम नीरव शान्ति छा गई थी। संयमी साधकों के परमाणु से वन की शोभा भी अलौकिक प्रतीत होने लगी। वातावरण बिलकुल शान्त हो गया। वनपालक बाहर गया हुआ था, वह आया तो देखा कि वन अलौकिक शोभा से सम्पन्न हो रहा है, तब उसने अपने साथियों से पूछा - "आज क्या है? यह वन आज इतना रमणीय क्यों लग रहा है?" तब उन्होंने कहा - "अपनी वनभूमि पर पवित्र संत के पुनीत चरण पड़े हैं।" यह सुनकर वनपालक सोचने लगा कि 'जिनके चरणकमलों से वातावरण शान्त हो गया, ऐसे सन्त के चरणों में नमन करें और उनके जैसे बनें तो कितना लाभ हो?'

वनपालक ने राजा के पास जाकर उद्यान में मुनिवर के पधारने की बधाई दी। राजा ने वनपालक को खूब इनाम देकर विदा किया। तत्पश्चात् राजा अपनी सेना-

सहित गायन-वादन के साथ मुनियों के दर्शनार्थ निकले । इसकी आवाज सुनकर लोगों ने पूछा - ''आज क्या है ?'' पता लगा कि महान् सन्त पधारे हैं । यह जानकर नगरजन भी राजा के साथ मुनि दर्शनार्थ चल पड़े । राजा जब उद्यान के पास पहुँचे, तब छत्र-चामर आदि सब राजसी उपकरण बाहर ही छोड़कर उन्होंने उद्यान में प्रवेश किया ।

वहाँ महेन्द्रमुनिजी परिषद् को उपदेश दे रहे थे । उपदेश पूर्ण होने के बाद पर्षदा जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा में चली गई । मगर राजा-रानी वहीं बैठे रहे । मुनिवर का उपदेश सुनने के बाद राजा ने अपने मन में उठे हुए प्रश्न मुनि से पूछे - ''भगवन् ! यह जीव अनन्तकाल से (संसार में) क्यों भटक रहा है ? यह जीव परित्त (परिमित) संसारी बनकर शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष में कैसे जा सकता है ? कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं और किस प्रकार वृद्धि पाते हैं ? तथा कर्म का क्षय किस प्रकार से हो सकता है ?'' ये और ऐसे कतिपय प्रश्न पूछे । अब मुनिराज, राजा के पूर्वोक्त प्रश्नों के क्या उत्तर देंगे ? इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ५८

भादवा सुदी ८, बुधवार | ता. १-९-७६

धर्मसंस्कारों की आद्य आधारशिला : माता

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तकरुणा के सागर, वीतराग-प्रभु ने कर्मों के जाल में लिपटे हुए जीवों पर करुणा करके अमृतवाणी का अस्खलित प्रवाह बहाते हुए फरमाया - "हे भव्य-जीवों ! महान् पुण्योदय से तुम्हें देवदुर्लभ मानवभव मिला है । उसमें प्रत्येक आत्माओं को जागृत रहना आवश्यक है ।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

कई दिनों आपके समक्ष मल्लिनाथ भगवान का वर्णन चल रहा है । उनमें बताया गया है - स्वप्नपाठकों ने महारानी प्रभावतीदेवी को आए हुए १४ स्वप्नों के फलादेश कुम्भराजा के समक्ष प्रस्तुत किये । स्वप्नों के फल सुनकर राजा-रानी दोनों बहुत आनन्दित हुए । तथैव मिथिला नगरी में सर्वत्र अलौकिक आनन्द और शान्ति छा गई । राज्य के भंडार में धन की वृद्धि हुई । उदासीन बने हुए मनुष्यों के हृदय आनन्द

से पुलकित हो उठे। जब तीर्थंकर-प्रभु का आत्मा देवलोक से च्यवकर माता के गर्भ में आती है, तब वह मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों को साथ लेकर आती है। उनके यहाँ आगमन के समय पृथ्वी पर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है। महान् पुरुष माता के गर्भ में होते हैं, किन्तु उनके पुण्य का प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। जैसे सूर्योदय होने से पहले पृथ्वी पर से अन्धकार नष्ट हो जाता है, फिर सूर्य का उदय होता है, वैसे ही तीर्थंकर-प्रभु का जन्म होने से पहले पृथ्वी पर सुख, शान्ति और प्रकाश फैल जाता है। तीर्थंकर-भगवन्तों की अपार पुण्यराशि होती है।

पुण्यशालिनी प्रभावती माता की कुक्षि में पुण्यवान् जीव आया है। माता गर्भ का पालन बहुत ही सावधानीपूर्वक करती है। गर्भावस्था में प्रत्येक कार्य में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। माता जैसा विचार करती है, उसका प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। नीतिकार कहते हैं - "माता सन्तान का जैसा सुन्दर निर्माण कर सकती है, वैसा निर्माण सौ शिक्षक भी नहीं कर सकते।

भीष्म पितामह का दृष्टांत : भारतवर्ष में ऐसी पवित्र माताएँ हुई हैं, जिन्होंने पुत्र का निर्माण कितने सुन्दर, कितने अच्छे ढंग से किया है ? इसके लिए गंगादेवी का उदाहरण देखिए - जिन्हें आप भीष्म पितामह के नाम से पहचानते हैं, वह गांगेयकुमार माता गंगादेवी के पुत्र थे। वह माता कितनी पवित्र थी ? गंगादेवी माता कौन थी ? रत्नपुर नगर में जन्हु नाम का विद्याधरों का राजा था। उसके गंगा नाम की अत्यन्त रूपवती पुत्री थी। उसके रूप की प्रशंसा सुनकर अनेक राजा-महाराजा उसके साथ विवाह करने के लिए आने लगे। गंगादेवी उनके समक्ष यही शर्त रखती थी कि जो मेरी आज्ञा में रहे, मेरी बात जिसे मंजूर हो, उसीके साथ मैं विवाह कर सकती हूँ, अन्यथा नहीं। ऐसी कठोर शर्त सुनकर शादी के लिए आनेवाले पुरुष वापस लौटते हुए कहते - 'दुनिया में स्त्री को पुरुष की आज्ञा में रहना होता है, किन्तु पुरुष को स्त्री की आज्ञा में रहना नहीं होता।' विवाह करके जिंदगीभर स्त्री की गुलामी कौन करे ?' ऐसे विचार से प्रेरित होकर कोई भी पुरुष गंगादेवी के साथ विवाह करने को तैयार नहीं हुआ।

एक बार हस्तिनापुर का राजा शान्तनु गंगादेवी के रूप की प्रशंसा सुनकर उसके साथ शादी करने के लिए आया। "अगर आपको मेरे साथ विवाह करना हो तो मेरी एक शर्त सुन लीजिए।" राजा ने पूछा - "तुम्हारी क्या शर्त है ?" गंगादेवी ने कहा - "आपको [illegible] कभी [illegible] करना है।" शान्तनु राजा शिकार का बहुत शौकीन [illegible] उक्त शर्त को स्वीकार कर लिया। [illegible] रहे हैं, किन्तु जिस दिन [illegible] मैं दोनों स्वतंत्र होंगे। [illegible] मुग्ध बने

हुए शान्तनु राजा ने वह शर्त मंजूर कर ली और गंगादेवी के साथ विवाह करके वे हस्तिनापुर आए । दिनानुदिन एक - दूसरे के प्रति परस्पर प्रेम बढ़ने लगा । दोनों प्रेमपूर्वक सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगे ।

समय पाकर गंगादेवी गर्भवती हुई । पवित्र धर्मशीला गंगादेवी प्रेमपूर्वक गर्भ का परिपालन करने लगी । गर्भ में आया हुआ जीव भी अलौकिक तेजस्वी था । उसका प्रभाव उसकी माता पर पड़ने से गंगादेवी का रूप भी तेजस्वी प्रतीत होने लगा । देखनेवाले को ऐसा लगता था कि यह कोई इन्द्राणी है या मानवी महिला ? सवा नौ मास पूर्ण होने पर गंगादेवी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया । वह पुत्र भी ऐसा तेजस्वी था कि अच्छे-अच्छे स्त्री-पुरुषों का तेज उसके तेज के आगे फीका लगता था । शान्तनु राजा ने बहुत धूमधाम से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया । राजा को गंगादेवी के प्रति अपार स्नेह था । इस कारण उसके पुत्र का नाम गांगेयकुमार रखा । शान्तनु राजा गंगादेवी के साथ स्वर्गोपम सुखोपभोग करते हैं और गंगादेवी को दिये हुए वचन का बराबर पालन कर रहे हैं । परन्तु मनुष्य को जिस बात का शौक या व्यसन होता है, वह यदा-कदा याद आ जाता है । एक दिन राजा का एक प्रिय सेवक ने शिकार खेलकर आनन्द-प्रमोद करने के लिए राजा को उकसाया । उसकी बात सुनकर राजा का मन शिकार खेलने का हो जाता है । रानी को जब यह बात मालूम हुई तो उसने राजा को बहुत समझाया और कहा - "आप मेरे साथ विवाह करते समय शिकार न खेलने के लिए वचनबद्ध हुए थे । इसलिए आप शिकार खेलने के लिए जा ही नहीं सकते ।" इस प्रकार गंगादेवी ने शिकार से महाहानि के विषय में विविध प्रकार से राजा को बहुत समझाया, परन्तु राजा नहीं समझे और शिकार खेलने के लिए जंगल में चले गए ।

गंगादेवी ने पति से विदा ली : इससे गंगादेवी को बहुत दुःख हुआ । 'अहो ! मैं कैसी अभागी हूँ । अभी तक मेरे पुण्य में कमी है कि मैंने जिसके साथ विवाह किया, वह दूसरे जीवों को मारने में जरा भी नहीं हिचकता । मुझे दिये गये वचन का भी उसने भंग कर दिया ।' उस समय गांगेयकुमार ढाई वर्ष का था । राजा शिकार खेलने गये और गंगादेवी अपने ढाई वर्ष के नन्हे मुन्ने को लेकर अपने पीहर रत्नपुर नगर आकर रहने लगी । वहाँ रहकर अपने पुत्र का पालन करने लगी ।

मेरी बहनों ! तुम इस बात को ठीक-ठीक सुनकर गौर करना । वह महिला कैसी शूरवीर थी ? उसने यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इतना समझाने के बावजूद भी राजा शिकार खेलने चले गये । मेरी प्रतिज्ञा का उन्होंने भंग किया, तो अब मैं कहाँ जाऊँ ? मेरे पति मुझे वापस नहीं बुलाएगा तो मेरा क्या होगा ? इसकी जरा भी परवाह नहीं की रानी ने । क्योंकि वह विषय-सुखों की लोलुप नहीं थी । वह सच्ची क्षत्रियाणी थी । पाप के पथ पर जाते हुए पति को रोककर सच्चे मार्ग पर मोड़ने वाली थी ।

से पुलकित हो उठे। जब तीर्थंकर-प्रभु का आत्मा देवलोक से च्यवकर माता के गर्भ में आती है, तब वह मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों को साथ लेकर आती है। उनके यहाँ आगमन के समय पृथ्वी पर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है। महान् पुरुष माता के गर्भ में होते हैं, किन्तु उनके पुण्य का प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। जैसे सूर्योदय होने से पहले पृथ्वी पर से अन्धकार नष्ट हो जाता है, फिर सूर्य का उदय होता है, वैसे ही तीर्थंकर-प्रभु का जन्म होने से पहले पृथ्वी पर सुख, शान्ति और प्रकाश फैल जाता है। तीर्थंकर-भगवन्तों की अपार पुण्यराशि होती है।

पुण्यशालिनी प्रभावती माता की कुक्षि में पुण्यवान् जीव आया है। माता गर्भ का पालन बहुत ही सावधानीपूर्वक करती है। गर्भावस्था में प्रत्येक कार्य में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। माता जैसा विचार करती है, उसका प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। नीतिकार कहते हैं - "माता सन्तान का जैसा सुन्दर निर्माण कर सकती है, वैसा निर्माण सौ शिक्षक भी नहीं कर सकते।

भीष्म पितामह का दृष्टांत : भारतवर्ष में ऐसी पवित्र माताएँ हुई हैं, जिन्होंने पुत्र का निर्माण कितने सुन्दर, कितने अच्छे ढंग से किया है? इसके लिए गंगादेवी का उदाहरण देखिए - जिन्हें आप भीष्म पितामह के नाम से पहचानते हैं, वह गांगेयकुमार माता गंगादेवी के पुत्र थे। वह माता कितनी पवित्र थी? गंगादेवी माता कौन थी? रत्नपुर नगर में जन्हु नाम का विद्याधरों का राजा था। उसके गंगा नाम की अत्यन्त रूपवती पुत्री थी। उसके रूप की प्रशंसा सुनकर अनेक राजा-महाराजा उसके साथ विवाह करने के लिए आने लगे। गंगादेवी उनके समक्ष यही शर्त रखती थी कि जो मेरी आज्ञा में रहे, मेरी बात जिसे मंजूर हो, उसीके साथ मैं विवाह कर सकती हूँ, अन्यथा नहीं। ऐसी कठोर शर्त सुनकर शादी के लिए आनेवाले पुरुष वापस लौटते हुए कहते - 'दुनिया में स्त्री को पुरुष की आज्ञा में रहना होता है, किन्तु पुरुष को स्त्री की आज्ञा में रहना नहीं होता।' विवाह करके जिंदगीभर स्त्री की गुलामी कौन करे?' ऐसे विचार से प्रेरित होकर कोई भी पुरुष गंगादेवी के साथ विवाह करने को तैयार नहीं हुआ।

एक बार हस्तिनापुर का राजा शान्तनु गंगादेवी के रूप की प्रशंसा सुनकर उसके साथ शादी करने के लिए आया। "अगर आपको मेरे साथ विवाह करना हो तो मेरी एक शर्त सुन लीजिए।" राजा ने पूछा - "तुम्हारी क्या शर्त है?" गंगादेवी ने कहा - "आपको आयंदा कभी शिकार नहीं करना है।" शान्तनु राजा शिकार का बहुत शौकीन था, किन्तु गंगादेवी के रूप में मुग्ध होने से उसने उक्त शर्त को स्वीकार कर लिया। गंगादेवी ने कहा - "आप इस समय मेरी शर्त कबूल कर रहे हैं, किन्तु जिस दिन एक छोटे-से पशु का भी आप शिकार करेंगे, उस दिन से आप और मैं दोनों स्वतंत्र होंगे। आपके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।" गंगादेवी के रूप में मुग्ध बने

हुए शान्तनु राजा ने वह शर्त मंजूर कर ली और गंगादेवी के साथ विवाह करके वे हस्तिनापुर आए । दिनानुदिन एक - दूसरे के प्रति परस्पर प्रेम बढ़ने लगा । दोनों प्रेमपूर्वक सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगे ।

समय पाकर गंगादेवी गर्भवती हुई । पवित्र धर्मशीला गंगादेवी प्रेमपूर्वक गर्भ का परिपालन करने लगी । गर्भ में आया हुआ जीव भी अलौकिक तेजस्वी था । उसका प्रभाव उसकी माता पर पड़ने से गंगादेवी का रूप भी तेजस्वी प्रतीत होने लगा । देखनेवाले को ऐसा लगता था कि यह कोई इन्द्राणी है या मानवी महिला ? सवा नौ मास पूर्ण होने पर गंगादेवी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया । वह पुत्र भी ऐसा तेजस्वी था कि अच्छे-अच्छे स्त्री-पुरुषों का तेज उसके तेज के आगे फीका लगता था । शान्तनु राजा ने वहुत धूमधाम से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया । राजा को गंगादेवी के प्रति अपार स्नेह था । इस कारण उसके पुत्र का नाम गांगेयकुमार रखा । शान्तनु राजा गंगादेवी के साथ स्वर्गोपम सुखोपभोग करते हैं और गंगादेवी को दिये हुए वचन का बराबर पालन कर रहे हैं । परन्तु मनुष्य को जिस बात का शौक या व्यसन होता है, वह यदा-कदा याद आ जाता है । एक दिन राजा का एक प्रिय सेवक ने शिकार खेलकर आनन्द-प्रमोद करने के लिए राजा को उकसाया । उसकी बात सुनकर राजा का मन शिकार खेलने का हो जाता है । रानी को जब यह बात मालूम हुई तो उसने राजा को बहुत समझाया और कहा - "आप मेरे साथ विवाह करते समय शिकार न खेलने के लिए वचनबद्ध हुए थे । इसलिए आप शिकार खेलने के लिए जा ही नहीं सकते ।" इस प्रकार गंगादेवी ने शिकार से महाहानि के विषय में विविध प्रकार से राजा को बहुत समझाया, परन्तु राजा नहीं समझे और शिकार खेलने के लिए जंगल में चले गए ।

गंगादेवी ने पति से विदा ली : इससे गंगादेवी को वहुत दुःख हुआ । 'अहो ! मैं कैसी अभागी हूँ । अभी तक मेरे पुण्य में कमी है कि मैंने जिसके साथ विवाह किया, वह दूसरे जीवों को मारने में जरा भी नहीं हिचकता । मुझे दिये गये वचन का भी उसने भंग कर दिया ।' उस समय गांगेयकुमार ढाई वर्ष का था । राजा शिकार खेलने गये और गंगादेवी अपने ढाई वर्ष के नन्हे मुन्ने को लेकर अपने पीहर रत्नपुर नगर आकर रहने लगी । वहाँ रहकर अपने पुत्र का पालन करने लगी ।

मेरी बहनों ! तुम इस बात को ठीक-ठीक सुनकर गौर करना । वह महिला कैसी शूरवीर थी ? उसने यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इतना समझाने के बावजूद भी राजा शिकार खेलने चले गये । मेरी प्रतिज्ञा का उन्होंने भंग किया, तो अब मैं कहाँ जाऊँ ? मेरे पति मुझे वापस नहीं बुलाएगा तो मेरा क्या होगा ? इसकी जरा भी परवाह नहीं की रानी ने । क्योंकि वह विषय-सुखों की लोलुप नहीं थी । वह सच्ची क्षत्रियाणी थी । पाप के पथ पर जाते हुए पति को रोककर सच्चे मार्ग पर मोड़ने **वाली थी** ।

तुम्हारा पति भी अगर पाप के पथ पर जाता हो तो तुम गंगादेवी की तरह शूरवीर बनो तो उसे ठिकाने आना पड़े न ? गंगादेवी को दिये गए वचन का राजा ने भंग किया, अतः जरा भी परवाह किये बिना, किसी को भी साथ में लिये बिना गंगादेवी अपने ढाई वर्ष के शिशु को लेकर पीहर चली गई । इस तरफ शान्तनुराजा शिकार खेलकर अपने महल में आए, तब अपनी प्रियतमा रानी गंगादेवी दिखाई नहीं दी तो उसने अपने दास-दासीगण से पूछा - "महारानी और गांगेयकुमार दिखाई नहीं दे रहे हैं, वे कहाँ गए ?" दासियों ने कहा - "इधर आप शिकार खेलने जंगल में गए, उधर महारानीजी कुमार को लेकर किसी को अपने साथ लिए बिना अपने पीहर चली गई हैं ।" यह सुनकर राजा लुंजपुंज होकर शय्या पर गिर पड़े । रानी के चले जाने से उसे बहुत दुःख हुआ । राजा की भूख-प्यास मिट गई । कोमल शय्या भी कांटे की तरह उसे चुभने लगी । उसकी नींद उड़ गई । कहा भी है - *"चिन्तातुराणां न सुखं, न निद्रा ।"* जब मनुष्य को अत्यन्त चिन्ता होती है, तब उसे कहीं भी किसी प्रकार का सुख महसूस नहीं होता, और न ही नींद आती है ।

राजा को प्रतिक्षण गंगादेवी की याद सताने लगी । रानी के बिना महल भी सूना-सूना मालूम होने लगा । साथ ही गांगेयकुमार की वह तुतलाती बोली, उसका हंसता मुखड़ा आदि सब राजा को याद आने लगा । सोचा - 'मैंने कुव्यसन के वशीभूत होकर पवित्र सती-शिरोमणि गंगादेवी को दिये गये वचन का पालन नहीं किया, तभी वह मुझे छोड़कर चली गई है न ? अब मैं उसके बिना अपने दिन कैसे गुजारूँगा ? उसे बुलाने के लिए भी किस मुँह से जाऊँ ?' यों राजा अपनी रानी और पुत्र के विरह ही विरह में दिन बिता रहे हैं । उसका मन किसी भी तरह से शान्त नहीं हो रहा है ।

एक दिन पारधी राजा के पास आकर कहने लगा - "महाराजा ! नदी तट के पास एक सुन्दर वन है । वहाँ शिकार करने योग्य अनेक हिरण रहते हैं । वहाँ जो जाता है, उसका मन प्रसन्न हो जाता है । अतः आप वहाँ शिकार खेलने जाएँगे तो अपने तमाम दुःखों को भूल जाएँगे और आपको वहाँ आनन्द आएगा ।" यह सुनकर राजा का मन पुनः शिकार खेलने के लिए उत्सुक हुआ और अनेक मनुष्यों के साथ राजा शिकार खेलने के लिए उस वन में आए । फिर उन्होंने चारों ओर से पाश डालकर वन को घेर लिया, और धनुष्य का टंकार करने लगा । इसे सुनकर वन में विचरण करनेवाले निर्दोष मृग भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे । खरगोश अपने प्राणों की रक्षा के लिए छिपने की जगह ढूंढने लगे । हाथी भी भय से चिंघाड़ने लगे । इस प्रकार शान्त वन का वातावरण भयभीत हो गया । सारे वन में खलबली मच गई । इस समय एक दिशा से बुलंद आवाज आई - "हे राजन् ! इन निर्दोष पशुओं की हत्या करने में तुझे क्या आनन्द आता है ? यह कार्य करना तुझे शोभा नहीं देता । अतः इस कार्य को छोड़ दे ।" यह आवाज जिस दिशा से आ रही थी, उस ओर राजा ने दृष्टि की, तो

धनुष्यबाण धारण किये हुए साक्षात् कामदेव के समान सुशोभित एक तेजस्वी त
पुरुष को देखा ।

शिकार के खिलाफ किया ललकार : उस युवक को देखकर राजा ने कह
"वन में विचरण करनेवाले पशु शिकार करने योग्य है । अतः मैं उनका शिकार क
हूँ । इसमें तुझे क्या आपत्ति है ? तू मुझे ऐसा करने से क्यों रोक रहा है ?" तब
युवक ने कहा - "हे महाराजा ! यह वन निर्भय है । ऐसे निर्दोष प्राणियों की क्ष
होने के नाते आपको रक्षा करनी चाहिए । समस्त प्राणियों को अपनी जिंदगी प
है । सभी को जीना अच्छा लगता है, मरना कोई नहीं चाहता ।" यह सुनकर राज
कहा - "हे बालक ! शिकार न करने का तेरा यह झूठा बकवास है । शिकार तो सम
क्षत्रियों को प्रिय होता है । उसमें कितना आनन्द आता है, उसका तुझे क्या पत
अतः तू अपना बकवास छोड़कर शिकार खेलने की मेरे में कितनी चतुराई है
इसे देख ।" राजा के पशुओं के प्रति ये क्रूर उद्गार सुनकर उक्त युवक को गु
आया । वह बोल उठा - "हे राजा ! अगर तुझे अपनी धनुर्विद्या का अत्यन्त गर्व
और अगर तुझे शिकार करना ही हो तो अन्य किसी स्थल पर चले जाओ ।
निर्दय ! धिक्कार है तुझे ! धनुर्धारी होकर बेचारे इन निर्दोष निरपराधी प्राणियों
मारना तो व्याधों का काम हैं । इस निकृष्ट काम को करते हुए तुझे शर्म नहीं आत
तू इस वन के जीवों को मारने के लिए आया है, इसका फल अभी तुझे चख
हूँ ।" यों कहकर बाण मारा, जिससे राजा के रथ की ध्वजा छिन्न-भिन्न करके न
गिरा दी । फिर स्वप्नमोह मंत्र का प्रयोग करके दूसरा बाण राजा के सारथी को म
जिससे वह मूर्छित होकर गिर पड़ा । कितने ही मनुष्य घायल हो गए । यह देख
राजा को बहुत क्रोध आया । उसने क्रोध से आँखें लाल करके उस युवक पर अगणि
बाणों की वर्षा की । परन्तु जैसे पवन वृक्षों को जड़मूल से उखाड़ डालती है, उ
प्रकार उन सब बाणों का यह महापराक्रमी तरुण छेदन-भेदन करने लगा । ऐसा अद्
पराक्रम देखकर, जैसे अनेक हिरण मिलकर सिंह को घेर लेते हैं, वैसे राजा
आदमियों ने उस तरुण को घेर लिया, और प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति अनुसार
पर बाणवर्षा करने हेतु जुट पड़ा । इस पर युवक ने क्रुद्ध होकर राजा के मदोन्म
योद्धाओं को पछाड़कर धराशायी कर डाले ।

इस लड़के का ऐसा अतुल बल देखकर राजा अत्यन्त कोपायमान हुआ और द
कचकचा कर बाण को चढ़ाने जाता है, तभी इस तरुण पुरुष ने अत्यन्त चाला
से बाण चलाकर राजा के धनुष्य की डोरी तोड़ डाली । इस युवक का ऐसा पराक्र
देखकर जैसे सिंह के पराक्रम से हाथी व्याकुल हो जाता है, वैसे ही शान्तनु रा
अत्यन्त व्याकुल हो गया और अपनी हार होने से फीका पड़ गया । यह सब खे
गंगादेवी अपने महल में खड़ी-खड़ी देख रही थी । उसने मन में सोचा - 'अगर अ

इस लड़के को नहीं रोकूंगी तो मामला खत्म हो जाएगा ।' ऐसा समझकर वह दौड़ती-दौड़ती वहाँ आकर गांगेय से कहने लगी -

माता ने पिता की पहचान कराई : "बेटा ! अब यह खेल बंद कर । तू अपने पिता के साथ लड़ रहा है ।" यह सुनकर गांगेय को आश्चर्य हुआ, उसने पूछा - "माँ ! यह अगर मेरे पिता हैं, तो तू जंगल में किसलिए रह रही है ?" तब गंगादेवी ने गांगेयकुमार को सारी बात कह सुनाई कि वह राजमहल छोड़कर क्यों यहाँ आई है । यह सुनकर उसने कहा - "माता ! जो व्यक्ति उचित कर्मों को छोड़कर अनुचित कर्म करता है, वह कुकर्मी कहलाता है । ऐसे कुकर्मी पुरुष को मैं पिता मानने को तैयार नहीं हूँ । यह तो मेरा कट्टर शत्रु है, क्योंकि मैंने रातदिन रक्षा करके जिन प्राणियों का पालन-पोषण किया, उन्हें यह मारने के लिए तैयार हुए हैं । वह मेरे पिता काहे के ? ऐसा क्रूर कर्म करनेवाला मेरा पिता हो, चाहे जो हो, उसे मैं सजा दिये बिना नहीं रहूँगा ।" अपने पुत्र को क्रोधाविष्ट देखकर गंगादेवी अपने पति के पास आई और हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहने लगी - "राजन् ! अपने पुत्र पर निर्दय होना आपके लिए उचित नहीं है । कदाचित् इस बालक से कोई अपराध हो गया हो तो आप उसे क्षमा करें ।"

अपनी पत्नी के ये मधुर वचन सुनकर पूर्व की सारी स्मृति ताजी हो गई । राजा रथ से नीचे उतरे और अपने पुत्र तथा पत्नी को देखकर उसका हृदय भर आया । राजा ज्योंही रथ से नीचे उतरे, त्योंही गांगेयकुमार धनुष्यबाण नीचे रखकर पिता के चरणों में पड़ गया । तब राजा ने उसे उठाकर छाती से लगा लिया । उसकी आँख में हर्षाश्रु उमड़ पड़े । जैसे अमृत की वृष्टि से देव प्रसन्न होते हैं, वैसे ही इस समय अपने पुत्र के मिलने पर राजा के मन में शान्ति हुई । पिता-पुत्र का परस्पर प्रेम देखकर गंगादेवी को बहुत प्रसन्नता हुई ।

राजा ने गंगादेवी से पूछा - "प्रिये ! इस अलौकिक सुन्दर रूपवान् अपने पुत्र के अभी तक मूछ का डोरा भी फूटा नहीं है, और न यह अभी तक पूरा जवान ही हुआ है, इससे पहले इसमें ऐसा पराक्रम कहाँ से आया ? यह देखकर मुझे तो आश्चर्य और आनन्द होता है । फिर यह इस वन में कहाँ से और कैसे आया ? यह ऐसा पराक्रमी किस तरह से हुआ ? और तूने इसका पालन किस प्रकार किया ? तू मुझे यह बता !" तब गंगादेवी ने कहा - "राजन् ! सुनिए । जब आप मेरे (मुझे दिये हुए) वचन का भंग करके शिकार खेलने गए, तभी मैं इसे लेकर अपने पिता के घर आ गई । तब से लगातार पाँच वर्ष तक तो यह विद्याधरों की गोद में खेला है । तत्पश्चात् समग्र विद्याओं में प्रवीण इसके मामा पवनवेग इसे विद्याएँ पढ़ाने लगे । इसकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण होने से अल्प समय में ही इसने समस्त शास्त्र पढ़ लिए । इसमें भी धनुर्विद्या

तो ऐसी पढ़ा कि इसके गुरु पवनवेग भी आश्चर्य करने लगे । इसने विद्याओं का ऐसा अभ्यास किया कि समस्त विद्यार्थी इसके पास तृण जैसे प्रतीत होने लगे । यह मेरे पिता के घर आनन्द-विनोद करता हुआ रहने लगा । समय बीतते-बीतते यह बल तथा विद्या के मद से उद्धत्त होकर यह अपने मामा और कुटुम्बीजनों के साथ झगड़ा करने लगा । उसकी ऐसी शरारत के कारण कदाचित् कोई ताना मारे कि यह किस का लड़का है जो सबको हैरान करता है ? ऐसे डर के कारण मैंने पीहर में रहना पसंद नहीं किया । अतः मैं इस कलहकारी लड़के को लेकर यहाँ आकर रहने लगी, जहाँ आपके साथ मेरा विवाह हुआ था, यहाँ मैं जिनेश्वर-प्रभु का स्मरण करती हूँ । इस वन में पुत्र को चारण-मुनियों के दर्शन होने से उनसे धर्मश्रवण कर यह दयाधर्म का पालन करने लगा । तब से इसने प्रतिज्ञा की है कि किन्हीं भी निरपराधी प्राणियों का वध न करना और २८ गाउ के इस वन को बनाकर इसमें निरपराधी प्राणियों का रक्षण एवं पालन-पोषण करने लगा । गांगेय के भय से कोई भी शिकारी इस वन में आने का साहस नहीं कर सकता । इस वन में सिंह, वाघ आदि हिंसक पशु तथा गाय-भैंस आदि अहिंसक पशु भी रहते हैं । परन्तु यहाँ ऐसा अहिंसामय वातावरण वन गया है कि ये हिंसक और अहिंसक प्राणी जन्मजात वैरभाव को भूलकर मित्र की तरह रहते हैं । कोई भी किसी को मारता या सताता नहीं ।''

माता-पुत्र को राज्य में आने की राजा की ओर से बिनती : गंगादेवी के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर राजा को अत्यन्त आनन्द हुआ और राजा ने गंगादेवी से क्षमा मांगकर कहा - ''देवी ! अव मैं कदापि शिकार नहीं करूँगा । तू इस जवान पुत्र को लेकर मेरे साथ चल ।'' इस पर गंगादेवी ने कहा - ''स्वामीनाथ ! अव मेरा मन धर्म के रंग में रंजित हो गया है । मुझमें अब सांसारिक सुख की तृष्णा नहीं है । मुझे तो अब धर्ममय जीवन विताना है । अतः मैं तो आपके साथ आपके वहाँ नहीं आऊँगी । किन्तु तुम्हारे इस पुत्र को ले जाओ और सुखपूर्वक राज्य करो ।'' यों कहकर अपने पुत्र के सम्मुख देखकर गंगादेवी बोली - ''बेटा ! अव तू अपने पिता के साथ जाकर राज्य-सुख का उपभोग कर । शान्तनु राजा जैसे पिता तेरे बिना दूसरे को मिलने दुर्लभ हैं, तथैव तेरे जैसे पुत्र भी शान्तनुराजा के सिवाय दूसरे को मिलना दुर्लभ है ।''

माता का वियोग मैं नहीं सह सकता : गांगेयकुमार कहने लगा - ''हे माँ ! मैंने तो बचपन से तुझे ही देखी है । मेरी माता या पिता जो भी कहूँ, तू ही है । मुझे तेरे बिना अच्छा नहीं लगेगा । इसलिए मुझे अपने चरणकमल से दूर मत कर । मुझ से तेरा वियोग सहन नहीं होगा । वहाँ मैं 'हे माता !' यों कहकर किसे बुलाऊँगा ? तेरे दर्शन बिना मुझे शान्ति नहीं मिलेगी । तू इतनी कोमल होती हुई भी मुझे (अपने

से दूर) भेजने में इतनी कठोर कैसे हो गई ?" इतना कहते-कहते गांगेय के आँखों से गंगा-यमुना बहने लगी। पुत्र-स्नेहवश हुई गंगादेवी का हृदय भर आया, किन्तु हृदय को कठोर करके पुत्र के आंसू पोंछती हुई बोली - "पुत्र ! तेरे सरीखे पराक्रमी और धैर्यवान् पुत्र को यों रोना शोभा देता है ? मेरे उदर में आलोटकर तू ऐसा कायर क्यों बनता है ? मुझे तो यहाँ रहकर सिर्फ धर्माराधना करनी है, किन्तु तुझे तो अपने पिता के साथ जाकर उनकी सेवा करनी है। तेरे जैसा पुत्र वृद्ध पिता की सेवा नहीं करे तो दूसरा कौन करेगा ? फिर तू अपने पिता के साथ जाएगा और वहाँ रहेगा। तेरे पिता का तेरे प्रति इतना प्रेम बढ़ेगा कि तू मुझे भी भूल जाएगा।" इस प्रकार गांगेयकुमार को बहुत समझा-बुझाकर उसे अपने पिता के साथ भेजा।

पुत्र ने पिता का भार हलका किया : आपलोगों की समझ में आया ? ऐसी थी गंगादेवी ! वह स्वयं पवित्र थी तो उसका पुत्र भी कैसा पवित्र बना ? यह आप पहले सुन चुके हैं। शान्तनुराजा को ऐसा पुत्र मिलने से वह स्वयं कृतकृत्य हो गए। उन्होंने राज्य का सारा भार गांगेयकुमार को सौंप दिया। गांगेयकुमार ने सारी शासन-व्यवस्था संभाल कर पिता का भार हलका किया। एक बार एक मछुआरे की पुत्री को देखकर उसके साथ शादी करने की शान्तनुराजा की इच्छा हुई। शान्तनुराजा ने मछुआरे से उसकी कन्या सत्यवती की मांग की। इस पर मछुआरे ने कहा - "मैं अपनी पुत्री का आपके साथ खुशी से विवाह कर सकता हूँ, किन्तु आपका पुत्र गांगेयकुमार महापराक्रमी है। उसको राज्य मिले और परम्परा से उसकी सन्तान को राज्य मिले। तब मेरी पुत्री के जो सन्तान हो, उसकी तो कोई कीमत नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में मैं अपनी पुत्री की शादी आपके साथ नहीं कर सकूँगा।" गांगेयकुमार को इस बात का पता लगा तो उन्होंने मछुआरे से कहा - "मेरे पिताजी को सुख हो, इसके लिए मैं आज से आजीवन ब्रह्मचर्य की भीषण प्रतिज्ञा करता हूँ। मुझे राज्य का भी मोह नहीं है। अतः आपकी पुत्री से जो पुत्र होगा, उसे राज्य मिलेगा। अतः आप खुशी से मेरे पिताजी के साथ सत्यवती की शादी कीजिए। मैं उन्हें अपनी गंगामाता जैसी ही मानूंगा।" और उसी समय दिव्य आत्माओं (देवों) की साक्षी से गांगेयकुमार ने आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की। उस समय आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि हुई। तदनन्तर शान्तनुराजा ने सत्यवती के साथ विवाह किया।

संक्षेप में, पिता के सुख के लिए गांगेयकुमार ने ऐसी भीषण प्रतिज्ञा की, इस कारण वह **'भीष्म पितामह'** कहलाए। यह सुसंस्कार पुत्र में कहाँ से आए ? कहावत है - 'कुँए में हो तो हौज में आए', वैसे ही इन संस्कारों का स्रोत उनकी माता गंगादेवी थी। सुसंस्कृत माता का ही प्रताप था कि गांगेयकुमार में ऐसे अनूठे संस्कार आए।

प्रभावती रानी गर्भवती होने के बाद अपनी कुक्षि में गर्भ को धारण करती हुई धर्माराधना में समय व्यतीत करती थी। गर्भ को तीन महीने पूर्ण हुए तभी ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ कि वे माताएँ धन्य हैं, जो जल और स्थल में उत्पन्न, विकसित और प्रचुर प्रमाण में एकत्रित पंचरंगी फूलों के ढेर से ढकी हुई शैय्या पर बैठतीं और सुखपूर्वक शयन करती हैं। गुलाब, चम्पा, मल्लिका, अशोक, पुन्नाग, नाग, मरुआ, दमनक सुन्दर कुब्जक के पुष्प प्रचुर प्रमाण में हैं, जिसका स्पर्श अत्यन्त सुखदायी है, और जो दृष्टि को आनन्द देनेवाले, तृप्त करनेवाले हैं और सुगन्धित गुणवाले पुद्गलों को फैला रहे हैं। ऐसे अद्वितीय, सर्वोत्तम श्रीदामकाण्ड (सुन्दर मालाओं के समूह) का अनुभव करती हुई अपने गर्भ मनोरथ (दोहद) की पूर्ति करती हैं। वे माताएँ वास्तव में धन्य हैं। इस विषय में आगे शास्त्रकार क्या कहते हैं? देखिए -

"तए णं तीसे पभावईए देवीए इमेयारुवं डोहलं पाउब्भूयं पासित्ता अहासन्निहिया वाणमंतरा देवा खिप्पामेव जल-थलय-भासुरप्पभूयं दसद्धवन्न-मल्लं कुंभग्गसो य भारग्गसो य कुंभगस्स रण्णो भवणं सि साहरंति।"

तदनन्तर प्रभावतीदेवी को इस प्रकार दोहद उत्पन्न हुआ है, ऐसा जान-देखकर उनके पास रहनेवाले वाणव्यन्तर देवों ने तुरंत जल और स्थल में उत्पन्न हुए पाँच वर्ण के पुष्पों को कुम्भों और भारों के प्रमाण में कुम्भराजा के भवन पर लाकर रख दिये, अर्थात् - पहुँचा दिये।

कैसा अद्भुत पुण्य-प्रभाव है तीर्थंकर देवों का। तीर्थंकर की सेवा में देव हाजिर रहते हैं। अब प्रभावती देवी अपने उत्पन्न हुए दोहद को कैसे पूरा करेगी? इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

अयोध्या नगरी के बाहर स्थित उद्यान में महेन्द्रमुनि नामक बड़े ज्ञानी मुनिराज पधारे हैं। राजा-रानी, सेठ-सेठानी सभी उनकी वाणी सुनने के लिए आए हैं। राजा ने प्रश्न पूछे थे कि "कर्म किस कारण से बांधे जाते हैं, किस प्रकार से वृद्धि पाते हैं, तथा कर्म का क्षय किस प्रकार से होता है?" इनके उत्तर में मुनिराज ने कहा - "राजन्! इस जगत् में जीव को कर्मबन्धन होने के ५ कारण हैं - मिथ्यात्व, अव्रत (अविरति), प्रमाद, कषाय और योग (मन-वचन-काय की शुभाशुभ प्रवृत्ति)। इन पाँच कारणों से जीव कर्म बांधता है। तीव्र परिणाम से निविड़ कर्म बंधते हैं मिथ्यात्व से कर्म लम्बे समय तक टिका रहता है, जबकि सम्यक्त्व से कर्म का क्षय होता है।" इस प्रकार मुनिवर ने विस्तारपूर्वक वर्णन करके कर्म का स्वरूप

समझाया । उसके पश्चात् दशविधश्रवण (यति) धर्म का, तथा श्रावक के १२ व्रतों का स्वरूप समझाकर उपदेश दिया कि जिस पुण्यवान् जीव को शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष में जाने की धून (लगनी) लगती है, वह शीघ्र कर्मनाशक साधुधर्म का अंगीकार करता है । संयम ग्रहण करके उसका निरतिचार पालन करने से जीव शीघ्र ही अष्टविध कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जाता है ।

राजा-रानी एवं सेठ-सेठानी ने विरक्त होकर दीक्षा ली : मुनिवर के मुख से कर्म और धर्म का स्वरूप सुनकर राजा को संसार असार लगा । उन्होंने मुनि से कहा - "गुरुदेव ! आपने कर्म और धर्म का स्वरूप अच्छे ढंग से समझाया । इससे मेरा जीवन धन्य हो गया । मुझे संसार की असारता समझ में आ गई । वास्तव में यह संसार स्वार्थ से भरा हुआ है । जिस प्रकार इन्द्रधनुष्य पाँच वर्ण का होता है, उसी प्रकार स्वजनों और सम्बन्धियों की बातें और विचारधारा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है । जैसे, बिजली की चमक क्षणभर में विलीन हो जाती है, वैसे यह सम्पत्ति (लक्ष्मी) भी चंचल है । शरीर नाशवान है और पाँच इन्द्रियों के विषयों का भोग रोगोत्पादक है । अतः मुझे अब संसार पर वैराग्य उत्पन्न हो गया है । अतः मैं घर जाकर अपने पुत्र को राज्य का भार सौंपकर आपके पास दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ ।" यह सुनकर मुनिराज ने कहा - "महाराजा ! आपकी भावना उत्तम है । अच्छे कार्य में विलम्ब मत करो । जो व्यक्ति दीक्षा लेकर एक दिवस भी संयम (साधुधर्म) का पालन करते हैं, उनमें से एक दिवस की दीक्षा लेनेवाले कई साधु-साध्वी या तो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, या फिर वे वैमानिक देव बनते हैं । सकलचारित्र..."

मुनिचरणों में वन्दना नमस्कार करके और संवेग रस के आनन्द में मग्न राजा अपने घर पहुँचे । पुत्र को राज्य का भार सौंपकर राजा ने अतीव धूमधाम से अपने स्वजनों सहित दीक्षा अंगीकार की । यह देखकर सागरदत्त सेठ और सेठानी ने मन में सोचा - 'अहो ! अपने राजा ने इतना बड़ा राज्य छोड़कर दीक्षा ले ली है, तो हमें अब किसलिए संसार में पड़े रहना है ? अपने दोनों पुत्र बड़े हो गए हैं । उनकी शादी कर दी है । दोनों पुत्र व्यापार और व्यवहार में भी कुशल हैं । अतः अपना उत्तरदायित्व पूरा हो गया है । तो अब किसके लिए संसार में बैठे रहना है ?' अतः संत की वाणी सुनकर उनके हृदय में वैराग्य का रंग लगा । इस कारण वे दीक्षा लेने हेतु तैयार हो गए । जैसा कि कहा है -

वाणी सुनके सेठ तुरंत ही, त्याग दिया संसार ।
दोनों सुतने द्वादश व्रत को, श्रावक के लिए धार हो ॥ श्रोता...

सेठ-सेठानी ने भी महेन्द्रमुनि के पास दीक्षा अंगीकार की । जब जीव जाग जाता है, तब उसे वैराग्य का रंग लग जाता है और तब संसार के बन्धन टूटते देर नहीं

लगती । जबतक जीव को धर्म का रंग नहीं लगता, तबतक हमें कहना पड़ता है - देवानुप्रियों ! उपाश्रय (स्थानक) में आओ, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, त्याग आदि करो । देखिए, राजा-रानी तथा सेठ-सेठानी ने सिर्फ एक बार उपदेश सुनकर दीक्षा ले ली । वे कितने हलुकर्मी (अल्पकर्मा) जीव थे ? किन्तु अपने इन भाइयों को हम एक दिवस के लिए घर छोड़कर दशवाँ व्रत (दयाव्रत) लेने का कहते हैं, फिर भी इनका मन इसके लिए तैयार नहीं होता । इन्हें गौचरी जाने में शर्म आती है । जहाँ कर्मों को तोड़ने का कार्य है, वहाँ जीवों को शर्म आती है, किन्तु कर्मबन्धन के कार्य करने में जीव को बिलकुल शर्म नहीं आती ।

पुत्रों द्वारा श्रावकव्रत-ग्रहण : सागर सेठ और धारिणी सेठानी ने जब दीक्षा ग्रहण कर ली, तब उनके पुत्रों (मणिभद्र और पूर्णभद्र) ने विचार किया - 'हमारे माता-पिता ने (गृह-) संसार का त्याग कर दिया तो हम बारहव्रतधारी श्रावक तो बनें ।' अतः वे दोनों भाई मणिभद्रमुनि बारहव्रत धारण करने हेतु आए । इस पर मुनिवर ने दोनों को गृहस्थ धर्म का उपदेश देते हुए कहा - "देवानुप्रियों ! सर्वप्रथम मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व का अंगीकार करना चाहिए । सम्यक्त्व (-ग्रहण करनेवाले) के पाँच लक्षण इस प्रकार हैं - (१) शम-उपशम यानी कषायों-नोकषायों की मन्दता, (२) संवेग-सांसारिक सुख को तुच्छ मानकर मोक्ष की अभिलाषा करना, (३) निर्वेद - संसार कारागार जैसा लगना, (४) अनुकम्पा - दुःखी, पीड़ित, दरिद्र, अपंग या असाध्य-रोगी आदि को देखकर अनुकम्पा, दया, सहानुभूति, करुणा आदि करना, अथवा धर्म-विहीन या धर्म से विचलित होते हुए जीवों पर अनुकंपित होकर धर्म में स्थिर करना और (५) आस्था - देव, गुरु, धर्म तथा वीतराग-तीर्थंकर देव द्वारा प्ररूपित तत्त्व, सिद्धान्त एवं वचन धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखना । ऐसे निर्मल सम्यक्त्व को पाकर यथाशक्ति व्रत स्वीकार करके उनका निरतिचाररूप से पालन करना चाहिए । तथैव श्रावक के २१ गुणों से युक्त आत्मा ही श्रावक के १२ व्रतों का पालन कर सकते हैं । ऐसे व्यक्ति गृहस्थवास में रहकर भी सद्गति प्राप्त कर लेते हैं ।

बारहव्रतरूपी श्रावक धर्म अंगीकार करके आनन्दित होते हुए दोनों भाई घर आए । अब वे श्रावक धर्म का यथार्थरूप से पालन करते हुए संसार के सुखोपभोग करते हैं । जब-जब गाँव में कोई भी साधु-साध्वी पधारते हैं, तब ये दोनों भाई अचूक रूप से उनके दर्शन तथा व्याख्यान-श्रवण का लाभ लेते रहते थे । इनके माता-पिता को दीक्षा लिये काफी अरसा हो गया । तत्पश्चात् एक दिन नगर के बाहर किसी ज्ञानी गुरु को पधारने का समाचार सुनकर दोनों भाइयों का मन-मयूर हर्ष से नाच उठा । अतः अब ये दोनों भाई उन ज्ञानीगुरु के दर्शन-वन्दन करने जायेंगे और मार्ग में क्या घटना घटित होगी, उसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ५९

भादवा सुदी ९, गुरुवार | ता. २-९-७६

सम्यग्दृष्टि में होती है : सम्यक् अनुकम्पा

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्त उपकारी राग-द्वेष-विघातक, स्याद्वाद के सर्जक, भव-भव के भेत्ता श्रीवीतराग-प्रभु ने सर्वजीवों के कल्याणार्थ सर्वपथिकों के लिए मोक्षमार्ग बताया परन्तु सामान्य (अधिकांश) जीवों की इस मार्ग पर चलने की रुचि नहीं हुई, उन्होंने इस मार्ग पर कदम रखे ही नहीं तो कल्याण कहाँ से होता ? अनादिकाल से जीव संसार के सुख-साधनों और वैभव में रचा-पचा रहा है । दस रुपये की एक मामूली नोट खो जाए तो वह उसे ढूंढने के लिए निकलता है । परन्तु अनादिकाल से आत्मा विभाव के प्रवाह में खो गया है, उसे स्वभाव में लाने हेतु पुरुषार्थ किया है क्या ? नहीं-

अनन्तकाल से जीव के मस्तक पर भवजल से भरा हुआ हंडा (बोझ) पड़ा है । कोई बहन पानी से भरा घड़ा लेकर जा रही हो, वह सोचती है कि 'कब घर आए और कब मैं इस भार को उतारूँ ?' तुम्हें स्टेशन जाना है, मान लो कोई सवारी नहीं मिली, इस कारण पैदल चलकर जाना पड़ा । चलते-चलते थक जाओ तो मन में विचार उठता है, कब स्टेशन आए और कब मैं इस बोझ को उतारूँ ? परन्तु क्या कभी ऐसा विचार आता है कि अब मैं भव-भ्रमण करते हुए थक गया हूँ, हे भगवन् कब मुझे मोक्ष का स्टेशन मिलेगा ?

अज्ञानी जीव को संसार के सुखों का राग और विषयों का राग छूटना बहुत मुश्किल है । उसे मनोज्ञ सुख और विषय मिले, तब उसमें ओतप्रोत हो जाता है । फिर उसे यह कड़वा जहर कहाँ से लगेगा ? विषय-भोग कड़वे लगने के बदले प्रिय लगने का कारण मिथ्यादर्शन है, वह असत् वस्तु को सत् मानने की प्रेरणा देता है । मिथ्यादर्शन आत्मा का अवगुण है और सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है । सम्यग्दर्शन को रोकनेवाला मिथ्यात्व मोहनीय है । मिथ्यात्व मोहनीय जीव को सच्चे को सच्चा मानने नहीं देता । मिथ्यात्व - मोहनीय के उदय से जीव सत्य को मिथ्या मानता है और मिथ्या को सत्य मानता है । दूसरे शब्दों में कहूँ तो उसे हेय (त्याज्य), उपादेय (ग्राह्य) लगता है और उपादेय लगता है हेय । जिसे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् का शासन (संघ) नहीं मिला, उसे सर्वज्ञ द्वारा कथित (उपदिष्ट) मार्ग पर श्रद्धा नहीं होती । इसके

विपरीत असर्वज्ञ द्वारा कथित कल्पित तत्त्व, जो वस्तुतः अतत्त्वरूप है, उसका बोध मिलने से उस पर उसकी श्रद्धा होती है। उसे वह तत्त्व सच्चा प्रतीत होता है। यह सब मिथ्यात्व - मोहनीय कर्म के कारण होता है। अन्य दर्शनों में पतंजलि, भर्तृहरि की बात आती है। जैनदर्शन में तामली तापस की बात आती है। ये सब वैराग्य रंग से रंजित होकर घरबार, वैभव-विलास तथा संसार के सुखों को छोड़कर वनवासी बने थे। वे अपने-अपने धर्म के नियमानुसार क्रियाएँ करते थे। किन्तु उन्हें सर्वज्ञ भगवान् का अनुपम दर्शन नहीं मिला। इस कारण उन्हें सम्यक्त्व न मिलने से वे सम्यग्दृष्टि नहीं बने थे, उन्हें सम्यक्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ था। परन्तु उन सबका (पंचेन्द्रिय - नोइन्द्रिय) विषय का राग इतना दमित था कि उन्हें देवलोक के सुखों की भी कोई अभिलाषा नहीं थी। तामली तापस को भवनपति देव-देवियों ने इन्द्र होने के लिए नियाणा (निदान) करने का बहुत अनुरोध किया था, बहुत ही चिरौरी की थी, गिड़गिड़ाए भी थे, फिर भी तामली तापस ने नियाणा नहीं किया। फलतः यहाँ से कालधर्म पाकर वह ईशान देवलोक का इन्द्र बना और वहाँ तुरंत सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। विषयराग का दमन करने से उनका वैराग्य तीव्र (सतेज) हो गया था। इस कारण दूसरे भव में उन्हें मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व पाने में देर नहीं हुई।

बन्धुओं! आज आपको वीतराग भगवान् का धर्म-शासन मिला है, फिर भी जीव ने वास्तव में सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है क्या? क्या उसके लिए आप दावा कर सकते हैं क्या? अगर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, तो वह बराबर टिक रहा है क्या? अनन्तानुबन्धी चतुष्क (चौकड़ी), सम्यक्त्व-मोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय और मिश्र-मोहनीय इन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो जाय, तब सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अतः यह विचार करना कि आत्मा में प्रवर्तित क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि विभाव छोड़ने योग्य (हेय-त्याज्य) लगे हैं क्या? विषयराग, कामराग (सांसारिक वैषयिक सुखों का राग) तथा स्नेहीजनों के प्रति राग जीव को सताता (रुदन कराता) है, ऐसा लगा है क्या? (श्रोताओं में से आवाज आई - अभी तक नहीं लगा), तुम्हारे संस्कार की तो क्या बात कहूँ? वर्तमान सरकार तुम पर इन्कम टैक्स, सेलटैक्स आदि लादती है, इसलिए उसे व्यवसाय, आय-व्यय, मुनाफा बहीखाते वगैरह सब बता देते हो न? कहीं अधिक टैक्स में फंस न जाओ, इसके लिए कितनी व्यवस्थित युक्तियाँ प्रयुक्त करते हो? फिर भी यह गलत है ऐसा लगता है क्या? हाँ, यदि ऐसा लगता है तो इस धन की माया, धन का राग त्याज्य (हेय) लगता है क्या?

तुम्हारे पुण्योदय से तुम्हें पुष्कल सम्पत्ति प्राप्त हुई, मनोज्ञ सुख सुविधा के साधन मिले, पत्नी भी प्रेमल, आज्ञाकारिणी, विनयी और विवेकी मिली तो इन सब पर रागभाव अधिक होता है न? इन सब पर मनोभाव (संवेदन) अधिक होता है न? परन्तु इन पर होनेवाले राग, मनोभाव, आसक्ति, मोह आदि छोड़ने योग्य

(त्याज्य) लगते हैं क्या ? ऐसा नहीं लगता, बल्कि ऊपर से तुमलोग प्रायः क्या कहते हो ? ऐसी सद्गुणी पत्नी, सुख-सामग्री, सम्पत्ति आदि पर तो ममत्व या स्नेहादि तो रखना चाहिए न ? ज्ञानीपुरुष इस विषय में समझाते हैं कि विषयराग तथा इसके पीछे (इससे सम्बद्ध) अन्य धनराग या आरम्भ परिग्रह के प्रति राग के वश पाप किये जाएँ, इसी कारण कर्मसत्ता देर-सबेर बड़ा दण्ड तो देनेवाली है ही ।

देवानुप्रियों ! धन, सत्ता या सम्मान-प्रतिष्ठा आदि की उपेक्षा करके या खोकर या इनका त्याग करके अगर सज्जनता, हृदय की उदारता, सहिष्णुता, क्षमा, दया, सेवा इत्यादि सद्गुणों की कमाई होती हो तो इसके जैसी महान् धन्य-घड़ी, धन्य-पल या धन्य-वेला अन्य कौन-सी होगी ? आप अपने हृदय-पटल पर इतने सूत्रों को अंकित करके रखना - **(१) अशाश्वत क्षणिक सम्पत्ति खोकर शाश्वत सम्पत्ति मिलती हो तो मुझे लेनी है । (२) मिट्टी की माया को जाने देकर भी आत्मा की अक्षय समृद्धि आती हो तो मुझे लेनी है । (३) 'पर' का माल बिक जाने पर 'स्व' (आत्मा) का कीमती माल मिलता हो तो मुझे लेना है ।** ये सुनहरे वाक्य विशेष रूप से याद रखना ।

मेघरथराजा का दृष्टांत : शान्तिनाथ-प्रभु के पूर्वभव के जीव मेघरथराजा की कथा तो आपने सुनी हुई है न ? मेघरथराजा ने अपनी शरण में आए हुए कबूतर की *बाजपक्षी से रक्षा की । यह तो देव द्वारा की गई उनकी परीक्षा थी ।* बाजपक्षी उनसे कहता है - "मुझे तो जीवित कबूतर को काटकर उसका ताजा मांस चाहिए ।" तब राजा ने क्या किया ? क्या उन्होंने कबूतर का बलिदान दिया था ? नहीं, नहीं ! वे तो तराजू मंगाकर कबूतर के वजन जितना मांस अपने शरीर से काट-काटकर देने लगे । कबूतर का वजन कितना था ? थोड़ा ही था; किन्तु यहाँ तो देव-माया थी । इसलिए राजा अपने शरीर में से मांस के टुकड़े-टुकड़े निकालकर कबूतर वाले पलड़े के सामनेवाले पलड़े में रखते जा रहे हैं । फिर भी कबूतरवाला पलड़ा नीचा का नीचा ही रहता है । अन्त में, राजा अपना सारा शरीर सामनेवाले पलड़े में रख देते हैं और बाज से क्या कहते हैं ? *"ले, इस समग्र (अखण्ड) शरीर से तेरा पेट भर, किन्तु कबूतर को मत मारना ।"*

बन्धुओं ! यहाँ हमें यह समझना है कि अपने शरीर में से मांस के टुकड़े काट-काटकर तराजू के पलड़े में रखते गए होंगे, उस समय उनकी भावना और विचारधारा कितनी उदार और सुन्दर होगी कि भयंकर पीड़ा उत्साहपूर्वक उपजाकर हंसते चेहरे से (प्रसन्न मुख से) सहन करते गए ! उनके सामने तो केवल एक बाजपक्षी है । बाजपक्षी तो सामान्य पक्षी था और यह तो बड़े सत्ताधीश राजा थे । क्या वह एक सामान्य पक्षी को दुत्कारकर नहीं कह सकते थे कि 'निर्दोष, निरपराधी अन्य जीव की हिंसा करनेवाले बाज ! तू चला जा यहाँ से । क्या मैं अपने शरण में आये हुए कबूतर को

हिंसा तुझे करने दूं ? यह कदापि नहीं हो सकता । अतः तू यहाँ से दूर भाग जा ।' इस प्रकार उन्होंने एक सामान्य पक्षी (बाज) को दुत्कारा क्यों नहीं ? कदाचित् आप यह कहेंगे कि बाजपक्षी होते हुए भी मनुष्य की भाषा बोलता है, इस पर से राजा ने अनुमान किया होगा कि यह पक्षी नहीं, किन्तु देवमाया होगी, यह समझकर उसे दुत्कारा नहीं होगा । तो मैं यह कहती हूँ कि राजा ने भले ही उसे दुत्कारा नहीं, परन्तु स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार इन्कार तो कर सकते थे कि 'मेरी शरण में आया हुआ कबूतर तुझे (कदापि) हर्गिज नहीं मिल सकता । यह माल तेरा थोड़े ही है ? यह मेरी शरण में आया है, उसका किसी भी तरह से रक्षण करना मेरा धर्म है ।' राजा ने इस प्रकार इन्कार तो नहीं किया, प्रत्युत ऊपर से अपने शरीर का बलिदान देकर बाजपक्षी को सन्तुष्ट करने के लिए राजा तैयार हुए । अहा ! कितनी थी उनके हृदय की उदारता ? कैसा उनका दयाभाव था, कितनी उनकी न्यायप्रियता थी ? क्या आज के मनुष्यों में है इतनी उदारहृदयता, दया और न्यायनिष्ठा ? वर्तमान जीवों की प्रायः मनोवृत्ति ऐसी है कि अपने शरीर का रक्षण करते हुए दूसरों का भला होता हो तो करना है, किन्तु अपने शरीरादि को खोकर दूसरों का रक्षण करने के लिए प्रायः कोई तैयार नहीं होता ।

कबूतर की दया के लिए, उसकी रक्षा के लिए और अपना बलिदान देने में उन्होंने (राजा मेघरथ ने) क्या विचार किया होगा ? **असार, विनश्वर शरीर को खोकर दया, परोपकारकता, क्षमा, सहिष्णुता इत्यादि सारभूत गुणों की कमाई मिल रही है, अनित्य और असार देह से नित्य और धर्म की सारभूत दयास्वरूपा आत्म-सम्पत्ति प्राप्त होती हो तो इसके जैसी अमूल्य धन्य घड़ी दूसरी कौन-सी होगी ? अतः इस सम्पत्ति को कमा लेने दो ।''** इसके लिए शरीर का नाश हो तो, भले हो, किन्तु शरीर के जाने से दया की आत्म-सम्पत्ति तो मिलती है न ? शरीर के नष्ट होने पर दयारूपी नित्य सम्पत्ति मिलती हो तो यह कोयला खोकर हीरा कमाने जैसा है । शरीर तो नाशवान है, एक दिन वह आग में जलकर खाक होनेवाला है, जबकि आत्मा द्वारा कमाई हुई दयारूपी सम्पत्ति तो आत्मा के साथ आनेवाली है । अहा ! कितनी सुन्दर विचारधारा है ? देह तो पर वस्तु है, यह आत्मा की वस्तु नहीं है । क्योंकि शरीर जड़ पुद्गल है, जबकि आत्मा अरूपी, चेतन वस्तु है । जड़ कदापि चेतन का माल नहीं बन सकता । जड़ और चेतन दोनों का माल और मालिकी भाव सम्बन्ध कब और कहाँ से हो सकता है ? इसी कारण तो चेतन आत्मा ने शरीर के लिए पाप किये, मगर अन्त में तो इस शरीर को छोड़ना पड़ता है, फिर (कर्म बाकी हों तो) दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है, वह धारण किया, फिर उसके लिए (आत्मा को) पाप करने पड़ते हैं । अगर शरीर अपनी मालिकी का माल हो तो इसे किसलिए खोना (छोड़ना या नष्ट करना) पड़े । इस पर से यह स्पष्ट समझ में आता है कि देह आत्मा की वस्तु नहीं है, अपितु पर-वस्तु है । इसलिए 'पर'को खोकर

या छोड़कर आत्मा का माल दया आदि मिलता हो तो उसे क्यों नहीं लिया जाए ? दया तो ऐसा महान् गुण है, जो आत्मा के साथ भलीभांति घुलमिलकर अपने में योग्यता-क्षमता और पुरुषार्थ हो तो अनन्त दया तक विकसित हो सकता है ।

मेघरथराजा अभी आगे क्या विचार करते हैं ? 'यह शरीर तो असार है, क्योंकि इसमें तो मलिन पदार्थ भरे हुए हैं और अन्त में (निर्जीव होने पर) जलकर राख होनेवाला है । जानवर मर जाता है तो उसकी चमड़ी काम आती है, किन्तु मनुष्य की काया का एक अंग भी उपयोगी नहीं होता । ऐसी असार काया का मोह किसलिए रखना चाहिए ? अनादिकाल से आत्मा इस शरीर के मोह में भूला है, इस (शरीर) ने आत्मा का निकन्दन (नाश) ही निकाला है । अतः असार काया से दया की कमाई कर लेना महासारभूत है । कारण यह है कि दया जीव को दुर्गति के पाप से बचाती है और अपनी आत्मा को सारभूत सम्पत्ति (ठोस धन - Net Profit) कमा कर देती है ।' मेघरथराजा ने ऐसी सुन्दर आत्म-विचारणा की, अर्थात् - क्षणभंगुर, असार और अनित्य शरीर का मोह छोड़कर अविनाशी, सारभूत एवं शाश्वत दया आदि आत्मिक गुणों को उत्साहपूर्वक अर्जित करना (कमा लेना) स्वीकार किया । मेघरथराजा के उदाहरण पर से हमें भी यह समझ लेना है कि अशाश्वत शरीर, चंचल लक्ष्मी अथवा नश्वर सुख-साधन खोकर भी अविनाशी सुकृत या सद्गुण कमाने का अवसर मिलता हो तो ऐसे सुनहरे अवसर को खोना नहीं चाहिए ।

प्रभावती रानी का दोहद पूर्ण हुआ : प्रभावती रानी का दोहद पूर्ण करने के लिए पास में रहनेवाले व्यन्तर देवों ने तुरंत जल और स्थल में उत्पन्न हुए पंचरंगी पुष्प कुम्भ-प्रमाण में और भार-प्रमाण में लाकर कुम्भराजा के महल पर रख दिये । पाटल (गुलाब) वगैरह के पुष्प जिसमें गूंथे हुए हैं, जिसमें से चारों ओर सुगन्ध महक रही है, तथा जो आँखों के लिए सुखद है, एवं जिसका कोमल स्पर्श भी आनन्ददायक है, ऐसा एक बड़ा भारी श्रीदामकाण्ड भी वहाँ वाणव्यन्तर देव लाए । तत्पश्चात् प्रभावती-देवी ने जल और स्थल में विकसित पंचरंग के विविध पुष्पों से समाच्छादित शय्या पर बैठकर, शयन करके तथा पाटल आदि पुष्पों से गूंथे हुए सुगन्धित श्रीदामकाण्ड को सूंघकर अपने दोहद (डोहले) को पूर्ण किया । इस प्रकार जिसका दोहद सम्पूर्ण रूप से पूर्ण हुआ है, तथा राजा आदि ने भी जिसके दोहद का सम्मान किया है, ऐसे प्रशस्त दोहदवाली प्रभावती रानी आनन्दपूर्वक अपने दिवस व्यतीत करने लगी ।

प्रभावतीदेवी को गर्भ का पालन करते हुए जब नौ महीने और साढ़े सात दिवस-रात्रि का समय हुआ, तब हेमंतऋतु (शर्दियों) के प्रथम मास के द्वितीय पक्ष में, अर्थात् - मार्गशीर्ष (मागसर) मास की सुदी ११ के दिन पहली रात्रि व्यतीत होने के बाद, अश्विनी नक्षत्र में, जब उस नक्षत्र का योग चन्द्रमा के साथ बराबर हो रहा था, सूर्य आदि ग्रह उच्च स्थान में थे । नगरी की समग्र जनता में आनन्द की, हर्ष की ऊर्मियाँ

उछल रही थीं, उस समय में प्रभावती रानी ने क्लेश और दुःख से रहित होकर उन्नीसवें तीर्थंकर-प्रभु को जन्म दिया ।

उत्तम आत्मा माता के गर्भ में आती है, तब से उनके गुणों का प्रभाव पड़ता है ! जब उत्तम आत्मा का जन्म होनेवाला होता है, तब ग्रह, नक्षत्र आदि सबका योग उच्च हो जाता है, दिशाएँ, पवन, ऋतु वगैरह सभी अनुकूल हो जाते हैं । कदाचित् महामारी आदि रोगों का प्रकोप हो तो वह भी शान्त हो जाता है । बाढ़, सूखा आदि के कारण सम्भावित एक भी दुष्काल नहीं पड़ता । ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में उजाला हो जाता है । दो घड़ी के लिए नारकीय जीवों के प्रति भी मार-पीट, छेदन-भेदन आदि बंद हो जाते हैं । उस समय कोई-कोई जीव सम्यक्त्व भी प्राप्त कर लेते हैं । ऐसे पुण्यवान् जीव माता के गर्भ में आते हैं, तबसे गर्भ में रहें, वहाँ तक उनकी माता को किसी प्रकार की पीड़ा, ग्लानि या क्लेश (थकान) नहीं होती । वह माता के गर्भ में तीन ज्ञान लेकर आते हैं । ऐसे महान् पुण्यशाली तीर्थंकर-प्रभु का मागसर सुदी ११ के शुभ दिन जन्म हुआ । प्रभु का जन्म-महोत्स मनाने के लिए देवगण भी आनन्दपूर्वक प्रभु के पास आते हैं ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं अहोलोग वत्थव्वाओ अ दिसाकुमारीओ महयरीयाओ ।

उस काल और उस समय में उन्नीसवें तीर्थंकर-प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाने लिए अधोलोक में गजदन्ता पर्वत के नीचे रहनेवाली आठ देवियाँ, चारों दिशाओं विदिशाओं से आई । तथैव ५६ दिक्कुमारियाँ और ६४ इन्द्र आए । यों तो दे मर्त्यलोक के मानव की दुर्गन्ध ५०० योजन दूर तक आती है । परन्तु इन दे तीर्थंकर-प्रभु के (जन्म) कल्याणक मनाने में इतना रस और आनन्द होता है उस समय सब भूल जाते हैं । आपको किसी काम में दिलचस्पी (रस) और होता है, तब उस काम को करने में न तो थकान महसूस होती है और न ही उ है । इसके विपरीत जिस काम में आपको रस नहीं होता, उस सामान्य काम में भी आप थक जाते हैं और ऊब भी जाते हैं । इस दृष्टि से प्रभु का जन्म मनाना हो, तब देवों का हृदय आनन्द से थिरक उठता है । वे उस कार्य में अ को महान् धन्य मानते हैं । जो आठ देवियाँ आई हैं । उनके नाम इस **भोगंकरा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा और नालहका** । ये आठ देवियाँ, ५६ दिक्कुमारियाँ, अन्य देव तथा सब जन्म-महोत्सव मनाने के लिए भगवान् को मेरु पर्वत पर स्थित न ले जाते हैं । वहाँ एक इन्द्र भगवान् को अपनी गोद में रखता है । भगवान् के मस्तक पर पानी की धार डालकर उन्हें नहलाते हैं । उस स आह्लाद होता है कि वे अपने देवलोक के सुखों को भी

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र में तीर्थंकर के जन्म के विषय में सुन्दर वर्णन किया गया है। वैसा वर्णन यहाँ भी जान लेना। 'ज्ञातासूत्र' में तदनन्तर - *मिहिलाए कुंभयस्स पभावईए अभिलाओ* अर्थात् - मिथिला नगरी, कुम्भराजा और प्रभावतीदेवी के सम्बन्ध में विशेष वर्णन किया गया है। यावत् नन्दीश्वरद्वीप में जाकर अट्ठाई-महोत्सव किया, यहाँ तक सारी बातें समझना।

"तयाणं कुंभएराया बहूहिं भवणवई ४ तित्थयर - जायकम्मं जाव नामकरणं" - उस समय भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक सभी देव भलीभांति प्रभु का जन्म-महोत्सव मना लेने के बाद प्रभु को कुम्भराजा और प्रभावती रानी के पास रख देते हैं। फिर कुम्भराजा प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाते हैं। राजा-रानी को तथा नगरी की सारी प्रजा को अपार हर्ष होता है। घर-घर तोरण बांधे जाते हैं। शहनाइयों के नाद से सारी मिथिला नगरी गूंज उठी। राजा ने कारागृह से सभी कैदियों को मुक्त करवा दिया। प्रभु का जन्म होते ही रोगियों के रोग शान्त हो गए। समग्र वातावरण आनन्दमय, उल्लासमय और शान्त हो गया। अब प्रभु के माता-पिता विचार कर रहे हैं कि प्रभु का क्या नाम रखना ? तीर्थंकर भगवान् होनेवाले आत्मा का नाम माता-पिता किस आधार पर, क्या नाम रखेंगे ? यह बात आगे यथावसर कही जाएगी।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

अयोध्या नगरी के बाहर उद्यान में किसी ज्ञानी गुरु के पदार्पण के समाचार सुनते ही मणिभद्र और पूर्णभद्र दोनों के हृदय हर्ष से छलछला उठे। ये दोनों भाई अत्यन्त प्रसन्नता से ज्ञानी धर्मगुरु को वन्दना-नमस्कार करने के लिए जा रहे हैं, तभी मार्ग में उन्होंने एक चाण्डाल को एक कुतिया को ले जाते हुए देखा। इस कुतिया तथा चाण्डाल को देखकर दोनों भाइयों को उनके प्रति अतीव प्यार जगा। दोनों भाइयों की आँखें कुतिया और चाण्डाल को देखकर (उनपर) स्थिर हो गई। वस्तुतः राग हो या द्वेष सर्वप्रथम आँखों से प्रकट होते हैं।

फलतः इन दोनों भाइयों के मन में ऐसी स्फुरणा हुई कि इस कुतिया को हाथों में उठा लें और चाण्डाल को भी छाती से लगा लें। इस तरफ चाण्डाल और कुतिया को भी इन दोनों श्रेष्ठीपुत्रों के प्रति ऐसा ही प्रेम जगा कि हम इन दोनों को हृदय से लगा लें। फिर ये दोनों भाई सोचने लगे कि 'हम कुतिया को रमायेंगे एवं चाण्डाल को छाती से लगायेंगे तो कोई हमें ऐसा करते देखकर यों कहेगा कि ये दोनों बड़े धनाढ्य सेठ के पुत्र इस कुतिया और चाण्डाल के पीछे क्यों पागल बने हैं ?' यों विचार करके दोनों भाई आगे चल पड़े। तब कुतिया और चाण्डाल भी पूर्वस्नेह के कारण उन दोनों भाइयों के पीछे-पीछे चल पड़े। वे दोनों भाई गुरुदेव को वन्दन करके उनके

पास बैठ गए, तब उक्त चाण्डाल और कुतिया भी वहाँ जाकर बैठ गए। मुनि ने उनको धर्म का उपदेश दिया।

गुरुदेव का उपदेश सुनकर दोनों भाइयों को अत्यन्त आनन्द हुआ। उपदेश सुनने के पश्चात् पुनः गुरु का वन्दन करके सविनय पूछा - "गुरुदेव ! हम आपके दर्शन करने के लिए आ रहे थे, तब मार्ग में हमें, ये सामने बैठे हुए चाण्डाल और कुतिया मिले। इन्हें देखकर हम दोनों के हृदय में इन दोनों के प्रति अत्यन्त प्रेम उमड़ा। इसका क्या कारण है ? इस सम्बन्ध में कृपा करके हमें बताइए।"

कुतिया, चाण्डाल तथा मणिभद्र और पूर्णभद्र के पूर्वभव का मुनि द्वारा कथन : ये मुनिवर तीन ज्ञान से सम्पन्न थे। उन्होंने कहा - "तुम्हें इन दोनों को देखकर आनन्द होता है, उनके प्रति प्रेम उमड़ता है, उसका कारण है - इनके प्रति पूर्वजन्म का स्नेह। ये दोनों पूर्वभव में शालिग्राम में जन्मे थे। यह चाण्डाल पूर्वभव में सोमदत्त नामक ब्राह्मण था और यह कुतिया इसकी पत्नी अग्निला नाम की ब्राह्मणी थी। ये दोनों पति-पत्नी थे। तुम दोनों भाई इनके पुत्र थे। बड़े भाई का नाम था अग्निभूति और छोटे भाई का नाम था वायुभूति। ये तुम्हारे (पूर्वभव के) माता-पिता महामिथ्यात्वी और जैनधर्म के द्वेषी थे। ये वेदों के अभ्यास में लीन थे। तुम दोनों को भी इन्होंने वेदों का खूब अध्ययन कराया था। एक बार तुम दोनों जैनसाधु के साथ वाद-विवाद में हार गये। इस कारण तुम्हारे पिता तुम पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और तुम्हें कहा - "भले ही तुम शास्त्रार्थ में हार गए, परन्तु शस्त्रविद्या का उपयोग करके उस साधु को मार डालना था न ? उसने तुम्हारा कितना अपमान किया है ?" इस प्रकार पिता के वचन सुनकर तुम रात को मुनि को शस्त्र से मार डालने के लिए गए। किन्तु मुनि के चारित्र के प्रभाव से क्षेत्रपाल देव ने उनका रक्षण करने के लिए तुम्हारे पैर चिपका कर वहीं स्थिर कर दिये। तुम दोनों पर ऐसा संकट आया, तब उस कष्ट से छूटने के लिए तुम्हारे पिता ने और तुम दोनों ने जैनधर्म का स्वीकार किया। किन्तु तुम्हारे पिता ने बाद में जैनधर्म छोड़ दिया और जैनधर्म की खूब हीलना-निन्दा करने लगे। जबकि तुम दोनों भाइयों ने सम्यक्त्व सहित श्रावक के १२ व्रत अंगीकार करके उनका भलीभांति पालन किया। किन्तु तुम्हारे माता-पिता घोर पापकर्म का बन्ध करके वहाँ से मरकर पाँच पल्योपम के आयुष्यवाले प्रथम नरक के नारक रूप में उत्पन्न हुए। जबकि तुम दोनों भाइयों ने श्रद्धापूर्वक जैनधर्म और उसमें उक्त १२ व्रतवाले श्रावक धर्म का पालन किया। अतः तुम दोनों वहाँ से मरकर पाँ[illegible]ल्योपम के [illegible]ष्यवाले प्रथम देवलोक में देव हुए। जबकि [illegible] जीव [illegible] मा[illegible] नरक में पाँच पल्योपम का आयुष्य पूर्ण [illegible] या के रूप में उत्पन्न होते हैं। जबकि [illegible] देवलोक के सुखों का उपभोग [illegible] सलिए [illegible]

यह चाण्डाल और कुतिया इस भव से तीन भवपूर्व तुम्हारे पिता-माता थे । अतः पूर्वजन्म के सम्बन्ध के कारण तुम्हें उन दोनों को देखकर स्नेह उत्पन्न हुआ ।"

पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर दोनों भाइयों को बहुत दुःख हुआ । सोचा - 'अहो! कर्मो की गति कैसी विचित्र है ? हम दोनों को तो जैनधर्म मिला है, इस कारण हमारा तो अवश्य ही उद्धार होगा, किन्तु अपने तीसरे भव पूर्व के माता-पिता का किसी तरह उद्धार करावें । यों विचार करके उन दोनों (कुतिया और चाण्डाल) को मुनिवर से विनती करके जैनधर्म का उपदेश दिलाया । चाण्डाल और कुतिया दोनों ने धर्मोपदेश सुना । अब वे दोनों अपने घर जाएँगे । आगे क्या घटना घटित होगी, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ६०

भादवा सुदी १०, शुक्रवार — ता. ३-९-७६

वित्त नहीं, वीतरागवाणी ही भवरोग की औषधि

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

शासनपति त्रिलोकीनाथ तीर्थकर-प्रभु की वाणी इस जीव को भवचक्र में से उबारकर मोक्ष के शाश्वत सुख को दिलानेवाली है । आधि, व्याधि और उपाधि, इस त्रिविध ताप की भट्ठी से रक्षा करके अलौकिक शीतलता प्रदान करनेवाली है । ऐसी अलौकिक शक्ति वीतराग-प्रभु की वाणी में रही हुई है । करोड़पति मनुष्य करोड़ों की संपत्ति साथ में लेकर घूमे, उससे उसे नरकगति या तिर्यचगति में नहीं जाना पड़े तथा उसे कोई रोग या किसी प्रकार का दुःख या विपत्ति नहीं आए, ऐसी बात नहीं है और तो और वह करोड़ों की सम्पत्ति उसे मोक्ष नहीं दिला सकती, किन्तु जो मनुष्य वीतरागवाणी का एक शब्द भी हृदय में धारण करके साथ लेकर फिरता है, उसके आधि-व्याधि-उपाधि का ताप-संताप शान्त हो जाता है । जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख टल जाते हैं और मोक्ष के शाश्वत सुख उसे प्राप्त होते हैं । ऐसी वीतरागवाणी सुनाने के लिए वीतराग-प्रभु द्वारा निर्दिष्ट पंचमहाव्रत को अंगीकार करके किसी भी प्रकार का मूल्य लिये बिना निःस्वार्थ भाव से सन्तरूपी वैद्य वीतरागवाणी रूपी अमूल्य औषधि लेकर आए हैं । घाटकोपर में द्रव्य रोग मिटानेवाले डोक्टर तो प्रत्येक गली-मोहल्ले में दवाखाना खोलकर बैठे हैं । उनके पास शारीरिक रोग से ग्रस्त रोगी फीस तथा दवा की कीमत देकर चिकित्सा कराने जाते हैं, फिर भी वे वैद्य या डोक्टर रोगी

का शारीरिक रोग मिटा देंगे ही यह निश्चित नहीं है । क्योंकि रोगी के असातावेदनीय कर्म का उदय शान्त होने का होगा तो उस दवा का असर होगा, किन्तु असातावेदनीय कर्म का प्रबल उदय होगा तो कोई भी दवा काम नहीं आएगी । कदाचित् उक्त डोक्टर या वैद्य के इलाज से (द्रव्य) रोग मिट भी जाए, परन्तु वह केवल इस भव का द्रव्यरोग नष्ट कर सकता है । जबकि वीतरागवाणीरूपी औषधि तो जीव के भव-भव के रोगों को मिटाने में समर्थ है । वे (द्रव्य) वैद्य या डोक्टर तो प्रत्येक गली के नुक्कड़ पर मिल सकते हैं, जबकि वीतरागवाणी की औषधि देनेवाले वैद्य प्रत्येक गली के नुक्कड़ पर नहीं मिलते । फिर वीतराग-प्रभु की आज्ञा के प्रति वफादार रहनेवाले संतों की वाणी भी पुण्योदय हो, तभी श्रवण करने को मिलती है ।

बन्धुओं ! आत्मा के भवरोग को मिटाने के लिए वीतराग-प्रभु की वाणी अमूल्य संजीवनी है । इस पर जिसे श्रद्धा हो, उसका बेड़ापार हो जाता है, किन्तु जिसकी श्रद्धा में कमी हो, वह स्वयं तिर सकने में समर्थ नहीं है । क्यों समर्थ नहीं है ? इसके लिए भगवान् कहते हैं -

"जहा आसाविणिं णावं, जाइअंधो दुरुहिया ।
इच्छइ पारमागंतुं, अंतराय विसीयन्ति ।।"

- सूय. सूत्र, कृ.श्रु.-१, अ-१, उ.-२, आ.-३१

जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष, जिसमें जल-प्रवेश करता है, ऐसी छिद्रवाली नौका में बैठकर नदी को पार करना चाहता है, किन्तु नौका में छिद्र होने से उसके अंदर पानी भर जाने से वह अधबीच में ही डूब जाती है, साथ ही उस सछिद्र नाव में बैठा हुआ भी डूब कर मर जाता है । तात्पर्य यह है कि जो अन्य तीर्थिक बौद्ध, वैशेषिक, वेदान्ती आदि दार्शनिक सत्यधर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाननेवाले तथा आरम्भ, परिग्रह में धर्म माननेवाले हैं आस्रवयुक्त नौका में बैठे हुए हैं, वे सछिद्र नौका के कारण संसार-समुद्र को पार नहीं कर पाते । अपितु संसार-समुद्र के जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं, अतः वे संसार-समुद्र में डूब जाते हैं और अपनी शरण में आनेवालों को भी संसार-समुद्र में डुबा देते हैं । जो स्वयं तिरता है, वही दूसरों को तार सकता है । वीतराग-प्रभु की आज्ञा में प्रवृत्त होनेवाले साधु-साध्वी वर्ग संसार-समुद्र को तरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं । उनकी एक ही भावना होती है कि जैनधर्म की अधिकाधिक प्रभावना कैसे करें ?

बड़े व्यापारी अपना व्यवसाय बढ़ाने और फैलाने के लिए अपने माल का सेंपल (नमूना) छोटे-छोटे व्यापारियों के यहाँ भेजते हैं । समाचारपत्रों में विज्ञापन देते हैं । अपने व्यवसाय का प्रचार करने के लिए तथा अधिकाधिक कमाई करने के लिए तुम जगह-जगह एजेंट नियुक्त करते हो और इसके लिए अत्यधिक धन खर्च कर डालते हो, परन्तु आत्मा को भवसागर से तारनेवाली वीतरागवाणी का प्रचार-प्रसार करने के

लिए इतनी जाहिरात करते हो क्या ? इसके लिए कितना योगदान देते हो ? वीतरागवाणी का प्रचार-प्रसार करने के लिए संत-सती वर्ग तुम्हें वीतरागवचनों के सेम्पल (नमूने) देते हैं। वे कहते हैं - "हे भव्यजीवों ! मनुष्यों ! यह मनुष्यशरीर तुम्हें केवल खाने-पीने, मौज-मजा करने या विषय-सुखोपभोग करने के लिए नहीं मिला है, किन्तु शरीर से अहिंसा, संयम, तप, त्याग-प्रत्याख्यान करके मोक्षमार्ग पर गति करने हेतु मिला है।" कहा भी है - *"देहस्य सारो व्रत-धारणं च"* अर्थात् - मानवशरीर का सार, तप, त्याग, व्रत-प्रत्याख्यान आदि का आचरण करने में है अथवा ब्रह्मचर्यव्रत धारण करो, या अन्य पृथक्-पृथक् व्रतों और नियमों का पालन करो। तुम्हारे जीवन में जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है, उनका प्रत्याख्यान (त्याग) कर लो। मान लो, तुम किसी वस्तु का उपयोग नहीं करते हो, किन्तु जब उस वस्तु का स्वेच्छा से प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं कर लेते, तबतक उसकी क्रिया लगती है। कई लोग यों मिथ्या तर्क करते हैं कि हम ब्रह्मचर्य का बराबर पालन करते हैं, फिर उसके लिए अब्रह्मचर्य का त्याग (प्रत्याख्यान) (गुरुदेव से) लेने की क्या जरूरत है ? इसके उत्तर में यह कहना है - "भाई ! प्रत्याख्यान ताला है। प्रत्याख्यान करने से महान् लाभ है, उतना आस्रव व अशुभकर्म का बन्ध रुक (टल) जाता है। मैं तुम्हें इस सम्बन्ध में दृष्टान्त द्वारा समझाती हूँ -

दो व्यापारी व्यापार में साझेदारी (पार्टनरशिप) रखकर व्यापार कर रहे हैं। उनका व्यापार धड़ल्ले से चलता है। आठ-दस वर्ष तो उनकी साझेदारी ठीक-ठीक चली। दोनों ने बराबर काम किया, परन्तु एक अरसे के बाद उनमें से एक साझेदार उड़ाऊ हो गया। वह फर्म में बराबर कार्य नहीं करता था। अतः दूसरे हिस्सेदार ने सोचा - 'अब इसके साथ धंधा करने में कोई सार नहीं है। क्योंकि इसे मेरे द्वारा कुछ कहा नहीं जाता और इस प्रकार चलता रहेगा तो भविष्य में मेरी फर्म को बड़ा भारी नुकसान उठाना पड़ेगा। इसकी अपेक्षा अभी से ही इससे पृथक् हो जाना बेहतर है।' ऐसा विचार करके इस साझेदार ने दूसरे साझेदार को समझा-बुझा कर पाँच-पचीस हजार की हानि बर्दाश्त करके आपस में मामला निपटाकर उसे साझेदारी से पृथक् किया। फर्म से पृथक् हुआ साझेदार जहाँ-तहाँ से फर्म के नाम से रकम उठाने लगा, किन्तु वापस भरपाई नहीं करता। किन्तु जब रकम देनेवाले फर्म पर रकम लेने आते हैं, तब फर्म का मालिक उनसे कहता है - "मैंने तुम्हारे यहाँ से कोई रकम उधार नहीं ली, फिर मैं कहाँ से दूँ ?" इस पर वह कहे कि "तुम्हारा साझेदार हमारे फर्म से इतनी रकम ले गया है।" तब उसने कहा - "इसे तो मैंने हिस्सेदारी में से अलग कर दिया है। मैं यह रकम दे नहीं सकता।" तब लेनदार कोर्ट के द्वार खटखटाता है। तब लेनदार न्यायाधीश के पास बही-खाता बताता है, जिसमें इस फर्म से रकम उधार देने का उल्लेख है। तब वह फर्म का मालिक कहता है - "मेरे इसके साथ कोई लेना-देना नहीं है। मैंने इसको फर्म से अलग कर दिया है।" साझेदार ने कोर्ट में हाजिर होकर

(न्यायाधीश के सामने यह बात कही तो उस हिस्सेदार ने कहा - "मैं इनकी
अलग जरूर हूँ ।" इस पर न्यायाधीश ने कहा - "तुम इस फर्म से अलग हुए
सरकारी दस्तावेज कराया होगा न ? यानी तुम इनसे पृथक् हुए उसका तुमने
कागज पर लिखा-पढ़ी तो कराई होगी न ?" तब उसने कहा - "नहीं, मैंने
लिखा-पढ़ी नहीं कराई, किन्तु बहुत ही नुकसान सहकर मैंने इसे पृथक् किय
इस पर न्यायाधीश ने कहा - "यह नहीं चल सकता । हमें तो इसके साथ जो
पढ़ी हुई हो, वह चाहिए । अगर लिखा-पढ़ी नहीं हो तो तुम्हें इसने जहाँ-जहाँ
के नाम से रकम ली है, उस-उस व्यक्ति को वह रकम भरपाई करनी पड़ेगी ।
का ऐसा फैसला हुआ और हिस्सेदार को रकम चुकानी पड़ी । इसी प्रकार
कहते हैं - "तुम अमुक वस्तु का त्याग करो, अनेक नियमों का पालन करो
जबतक तुमने बाकायदा नियमानुसार उस-उस वस्तु या व्रत, नियम आदि का पच्च
(प्रत्याख्यान) नहीं किया (लिया); वहाँ तक जैसे उक्त साझेदार फर्म से अलग है
उसने गवर्नमेंट का दस्तावेज नहीं कराया तो हिस्सेदार ने जो-जो रकम उठाई,
कर्ज उसे भरना पड़ा, वैसे ही तुम किसी व्रत-नियमादि त्याग आदि की प्रत्य
रूप लिखापढ़ी नहीं कराते, उपयोग नहीं करते, फिर भी क्रियारूपी दस्तावेज (प्रत्या
नहीं कराओगे तो क्रियारूप में आया हुआ पाप तुम्हें भोगना पड़ेगा । व्रत-प्रत्य
वीतराग-भगवान् का दस्तावेज है । अतः यदि ऐसा नुकसान नहीं उठाना हो तो
रूपी सरकार से व्रत-प्रत्याख्यानरूपी दस्तावेज करा लो । अगर प्रत्याख्यान नहीं
हो तो कभी भी दण्डित होने का वक्त आएगा ।

मान लो, तुम दो मित्र हो । एक मित्र तुम्हें कहता है - "चल होटल में
खायेंगे ।" अगर तुम इन्कार करोगे तो तुम्हारे मित्र को बुरा लगेगा । किन्तु तुम्हारे
में जाने व खाना खाने के प्रत्याख्यान लिये हुए होंगे तो तुम प्रत्याख्यान के
से उसे इन्कार करोगे तो उस मित्र को बुरा नहीं लगेगा । साथ ही तुम उक्त
भी बच सकोगे ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार चल रहा है । मिथिला नगरी में कुम्भरा
प्रभावती रानी की कुक्षि से मल्लीकुमारी का जन्म हुआ । मल्लीकुमारी तो
नामकर्म बांधकर आई हैं । तीर्थंकर-प्रभु का पुण्य-प्रभाव अलौलिक होता है ।
जन्म-महोत्सव मनाने के लिए देव और इन्द्र आए । तथैव उनके पिता कुम्भर
भी उनका जन्म-महोत्सव मनाया । उनका नाम मल्लीकुमारी क्यों रखा ? यह

"जम्हा णं अम्हे इमीए दारियाए माउए मल्ल-सयणिज्जंसि
विणीए तं होउणं णामेण मल्ली ।"

राजा ने उनका मल्लिनाथ किस कारण से रखा ? जब वह गर्भ में थीं, तब उनकी माता को मालती के पुष्पों की माला की शय्या पर बैठने का और पुष्पों की माला को सूंघने का दोहद (डोहला) उत्पन्न हुआ था । उनके इस दोहद की पूर्ति देवों ने की थी । इस कारण राजा ने अपनी (इस) पुत्री का नाम मल्ली रखा था । यद्यपि मल्लिनाथ स्त्रीरूप में थीं, फिर भी **'जिन तीर्थंकर अर्हत्'** आदि पुल्लिंग शब्दों की बहुलता से उन्हें (मल्लिनाथ) को पुल्लिंग से सम्बोधित किया जाता है । इसलिए यहाँ जो उनका नाम का पुल्लिंग शब्द से व्यवहृत होता है, वह तीर्थंकर की अपेक्षा से ।

ऐसे पवित्र परम कल्याणकारी मल्लीकुमारी का जन्म-महोत्सव उनके पिताजी कुम्भराजा ने बहुत ही धूमधाम से मनाया । तीर्थंकर-प्रभु देवलोक से च्यवकर माता के गर्भ में आते हैं, उसे जैन संस्कृति में **'च्यवन-कल्याणक'** कहते हैं । उनका जन्म होता है, उसे **जन्म-कल्याणक** दिन कहा जाता है । उनका जन्म होते ही कतिपय रोगियों के रोग शान्त हो गए । कारागृह के कैदी कारागृह से मुक्त हुए और दरिद्रों की दारिद्र्य मिट गया । सबके हृदय में आनन्द का सागर उछलने लगा । सभी लोग विचार करने लगे, कि 'अहो ! इस पवित्र आत्मा का जन्म होते ही देह के रोग शान्त हो गए तो यह बड़े होंगे, तब अनेक जीवों के भवरोगों को नेस्तनाबूद करेंगे, कर्मों के बन्धन अवश्य तुड़ायेंगे । अभी उनके पिता ने याचकों को धन का दान देकर उनका द्रव्य-दारिद्र्य दूर किया, परन्तु वह भावदारिद्र्य टालेंगे ।'

देवानुप्रियों ! इस मनुष्यभव में आपको भी भाव-दारिद्र्य अवश्य टालना है । किसी मनुष्य के पास पैसा न हो तो वह पैसा पाने के लिए कितनी मेहनत करता है ? परन्तु उसे पता नहीं है कि मैं इस पेट के लिए चाहे जितनी मेहनत करूँगा तो भी यह सब यहीं छोड़कर जाना है । मैं यहाँ जीऊँगा, तबतक पैसा टिकेगा या नहीं, इसका भी पता नहीं है । क्योंकि धन आने के बाद कब चला जाता है और कब मनुष्य को दरिद्र बना देता है, यह मालूम नहीं है । फिर भी मनुष्य उसके लिए पाप करते हुए हिचकता नहीं है, वह लोही का पानी करता है, भूख-प्यास सहन *करता है, मगर यह सब किसलिए ? गरीबी दूर करने के लिए ही न ? वस्तुतः एक बार* जीव को वीतरागवाणी-श्रवण का अन्तःकरण से चस्का लग जाय तो उसका भाव-दारिद्र्य टल सकता है । कितने ही जीव द्रव्य-दारिद्र्य टालने जाते हैं, किन्तु वह उनका भाव-दारिद्र्य मिटा देता है ।

एक गरीब वणिक था । उसे मालूम पड़ा कि किसी जंगल में एक संन्यासी संत हैं, उनके पास पारसमणि है । इस कारण वह गरीब वणिक उन संत के पास पहुँचा और उनकी सेवा करने लगा । अन्त में, एक वर्ष पूरा हो गया, फिर भी उनके पास उसने कुछ भी नहीं देखा । तब उसने पूछा - ''महात्मन् ! मैंने ऐसा सुना है कि आपके पास पारसमणि है ।'' संत ने कहा - ''हाँ, है ! जा, वह मेरी झोली ला । उसमें लोहे

की एक डिब्बी है।" उक्त भक्त सोचने लगा कि 'लोहे की डिब्बी में पारसमणि रहे तो वह लोहा सोना बने बिना नहीं रहता।' अन्त में, संत ने समझाया कि "लोहा सोना क्यों नहीं बना ? क्योंकि पारस और लोहे के बीच में एक कागज का अन्तर है। जब कागज का अन्तर निकल गया तो वह लोहा सोना बन गया। वैसे ही तू मेरे पास रहा, पर लोहे का लोहा रहा, सोना नहीं बना, क्योंकि तेरे में से संसार-वासना नहीं गई। ले तू यह पारस और तेरी इच्छा पूर्ण कर।" ये शब्द सुनते ही भक्त का हृदय रो पड़ा। उसकी अन्तरात्मा जाग गई। उसकी वासना दूर होते ही, जैसे लोहे का सोना बना, वैसे ही उसका आत्म-वासना शान्त होते ही 'संत' बन गया। धन्य है उसे, वह आया तो था धन लेने के लिए, परन्तु पा गया आत्म-धन ! तुमलोग भी धन की आशा कर रहे हो। बोलो, अब इस आशा को छोड़कर अब आत्म-धन प्राप्त करना है न ? उसका आत्मा जाग गया, वैसे तुम भी जाग जाओ। मल्लिनाथ भगवान् का जन्म होने से मिथिला नगरी में आनन्दमय वातावरण छा गया। जैसे नदी और समुद्र को स्पर्श करके आती हुई हवा सबको सुखदायी लगती है, वैसे ही महापुरुषों का जन्म होने से समस्त जीवों को सुख-शान्ति का अनुभव होता है। जिसके जन्म लेने मात्र से जीव सुखानुभव करते हैं, तो यह महान् आत्मा जब बड़ा होगा तब तो इस विश्व पर अलौकिक शान्ति का सृजन होगा, सबके दिल में ऐसा भाव होता है।

प्रभावती माता को जो दोहद हुआ था, तदनुसार उनकी पुत्री का नाम मल्लीकुमारी रखा गया। 'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में उक्त महाबल के वर्णन के अनुसार मल्लीकुमारी के जन्म आदि का वर्णन जान लेना चाहिए। मल्लि नाम की राजकन्या दिनानुदिन बड़ी हो रही थी। वह ऐश्वर्य आदि गुणों से परिपूर्ण थी। वह अनुत्तर विमान में से च्यवकर यहाँ आई थीं, तथा अनुपम श्री-सम्पन्न थीं। वह अनेक दास-दासियों से परिवारित तथा अनेक सहचरियों से युक्त रहती थीं। उनके केश भ्रमर-सम अत्यन्त काले-कजरारे थे। दोनों होठ बिम्बफल सदृश लाल थे। उनकी दंतपंक्ति कुन्द एवं मोती जैसी स्वच्छ, श्वेत एवं सम थी। उनके अंगोपांग ताजे कमल पुष्पों जैसे सुकोमल थे। उनका निःश्वास प्रफुल्लित नीलकमल के समान सुवासित था। उनका रूप सूर्य के समान तेजस्वी और जगमगाता था। रूप के साथ उनमें अद्‌भुत अनुपम गुण थे, जिससे उनका आकर्षण सोने में सुगंध होने के समान था।

"तएणं विदेहराय वरकन्ना सामल्ली उमुक्क-वालभावा जाव रूवेण जोव्वणेण य लावण्णेण य अतीव-अतीव उविकट्ठसरीरी जाया यावि होत्था।"

तत्पश्चात् राजकन्या मल्लीकुमारी बाल्यावस्था को पार कर यावत् रूप, यौवन और लावण्य से अतीव उत्कृष्ट शरीरवाली हुई। मल्लीकुमारी के पिता प्रभावतीदेवी को आये हुए स्वप्नों के अनुसार यह जानते थे कि वह तीर्थंकर बननेवाले हैं और अब तो उनके गुणों को देखकर साक्षात् जान लिया कि मेरी यह पुत्री कितनी गुण-

सम्पन्न है । मल्लीकुमारी माता-पिता को अत्यन्त प्यारी हैं । बचपन के दिन सुखपूर्वक व्यतीत होने पर वह क्रमशः जवान हुई । तीन ज्ञान तो वह देवलोक से साथ लेकर आई थीं । अपने ज्ञान से वह क्या देखेंगी और क्या करेंगी ? उसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार के पूर्वभव की बात श्री सीमन्धरस्वामी नारद ऋषि से कह रहे हैं, वह वर्णन आपके समक्ष चल रहा था ।

देखिए सत्संग का कितनी बड़ी महिमा है ? दोनों भाई संत के दर्शन करने गए, तभी यह बात जानने को मिली । पूर्व के स्नेह के कारण वह चाण्डाल और कुतिया का प्रेम से पालन-पोषण करता था और वे दोनों भाइयों को अपने पूर्वभव के माता-पिता की यह दशा देखकर अत्यन्त दुःख हुआ । इस कारण वे दोनों भाई उनका भविष्य सुधारने के लिए प्रयत्न करते हैं ।

मणिभद्र और पूर्णभद्र चल, सुनी स्वपाल पै आये ।
गुरुदत्तोपदेश दोनों को, भिन्न-भिन्न कर समझाये हो ॥ श्रोता...

गुरु के पास (बैठकर) उनके द्वारा दिया गया उपदेश सुना था, फिर भी उसकी विस्मृति न हो जाए, इसके लिए दोनों भाई बार-बार उनके (कुतिया और चाण्डाल के) पास जाकर गुरु के उपदेश को बार-बार याद दिलाने लगे । इस कारण चाण्डाल और कुतिया दोनों को जैनधर्म के प्रति दृढ़ आस्था हुई और उन्होंने भावपूर्वक धर्माराधना की ।

चाण्डाल देव बना और कुतिया बनी राजकुमारी : जब इन दोनों को धर्म प्राप्ति हुई, तब चाण्डाल की आयु एक महीने की बाकी थी और कुतिया की आयु सात दिन की बाकी थी । कुतिया ७ दिन तक श्रद्धापूर्वक दुर्गति-विनाशक धर्म की आराधना करके मरकर नगर के राजा की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई और दुष्कर्म का आचरण करनेवाले चाण्डाल ने एक महीने तक भावपूर्वक बारह व्रतों की आराधना की, जिसके प्रभाव से अन्तिम समय में अनशन करके मरकर वह प्रथम देवलोक में पाँच पल्योपम की स्थितिवाला महर्द्धिक देव बना । वहाँ देवलोक के बत्तीस प्रकार के नाटक की धमाधम चलती है और देवियाँ उसे खम्मा-खम्मा करती हैं, ऐसे उत्तम प्रकार के सुखों का वह उपभोग करता है । यहाँ कुतिया भी राजा के यहाँ राजकुमारी के रूप में जन्मी, फलतः उसका पालन-पोषण सुखपूर्वक हो रहा है ।

देवानुप्रियों ! देखिए, धर्म का प्रभाव ! अल्प समय तक धर्म की भावपूर्वक आराधना की, उसके प्रभाव से पापी से पापी चाण्डाल, जिसे यहाँ कोई पूछता नहीं था, खाने के भी लाले पड़े थे, मरकर देवलोक के महान् सुखों का उपभोग करने

लगा और घर-घर रोटी के टुकड़े के लिए भटककर पराधीन जीवन बितानेवाली कुतिया धर्म के प्रभाव से राजा की पुत्री बनी । जिस राजा के एक भी सन्तति नहीं थी, वहाँ यह कुतिया पहली ही पुत्रीरूप में जन्मी । अतः राजा-रानी के हर्ष का पार नहीं था । चन्द्रकला की तरह राजकुमारी दिनानुदिन बड़ी होने लगी । राजा-रानी दोनों को यह कुमारी हृदय के हार की तरह प्रिय थी । इसको पढ़ाने के लिए अध्यापक रखे गए । पढ़-लिखकर वह सर्वकला में प्रवीण हुई । अवस्थां के अनुसार उसका सौन्दर्य खिलने लगा । अच्छे-अच्छे पुरुष उसके रूप में मुग्ध हो जाएँ ऐसा उसका अद्‌भुत रूप था । राजा ने सोचा - 'अब मेरी पुत्री जवान हो गई है, अतः उसके विवाह के लिए मुझे स्वयंवर रचना है । स्वयंवर में अनेक देश के राजा आएँगे और मेरी पुत्री अपने मनोज्ञ वर को पसंद करके उसके गले में वरमाला डाल देगी ।'

राजकुमारी के विवाह हेतु स्वयंवर-मण्डप रचा गया : राजकुमारी के पिता ने उसका विवाह करने के लिए विशाल स्वयंवर-मण्डप बंधवाया । उसके लिए अनेक देशों के राजाओं को आमंत्रित किया । विवाह के लिए निश्चित किया हुआ दिन निकट आ पहुँचा । बड़े-बड़े समृद्ध और प्रतापी राजा स्वयंवर में आए । प्रत्येक देश के राजाओं को उनकी पद-प्रतिष्ठा के अनुरूप बैठने की सीटें रखी गईं । सभी राजा राजकुमारी के साथ विवाह करने के उत्कट मनोभाव से आए हैं । राजकुमारी को भी विवाह का उल्लास है । वह अपनी सखियों और दासियों के साथ आमोद-प्रमोद कर रही है । यों करते-करते विवाह का निश्चित दिवस आ गया । राजकुमारी के पिता (राजा) अत्यन्त धर्मिष्ठ थे, अतः उन्होंने कुमारी से कहा - "बेटी ! आज तेरे विवाह का शुभ दिवस है और तेरे परम पुण्योदय से नगर में संत-मुनिराज विराजित हैं । अतः तू उनके दर्शन करके मंगलपाठ सुन आ ।' अतः राजकुमारी अपनी सखियों के साथ संत-दर्शन करने जा रही है ।

इस ओर चाण्डाल, जो प्रथम देवलोक में देव हुआ था, उसे यह विचार हुआ कि 'मैं पूर्वभव में कौन था ?' मैंने कौन-से कौन-से ऐसे सत्कर्म किये, जिससे मैं देव बना ?' उसने अवधि ज्ञान के प्रकाश में उपयोग लगाकर देखा तो मालूम हुआ कि पूर्वभव में मैं चाण्डाल था, मेरे साथ एक कुतिया थी, जो नजर आई । वह कुतिया तो राजकुमारी बन गई । आज उसका विवाह है । उस देव ने अवधि ज्ञान के प्रभाव से ये सब बातें जान लीं । उसे यह भी ज्ञात हुआ जो इस भव में राजकुमारी है, वह पूर्वभव में कुतिया थी और उससे पूर्वभव में मेरी पत्नी थी । गतजन्म में यह कुतिया बनी और मैंने उसका प्रेम से पालन किया था । मोह के कारण जीव संसार में अनन्तकाल से भटक रहा है । परन्तु धर्म का कैसा महान् प्रभाव है कि उसके प्रभाव से मैं नीच से नीच चाण्डाल देव बना और वह कुतिया ऐसी राजकुमारी बनी है । इसने मनुष्यभव पाया है, किन्तु मनुष्यभव में यह धर्म की आराधना करे, सकल चारित्र अंगीकार करे तो कितना बड़ा लाभ हो । मैं तो देव हूँ, इस कारण कुछ भी त्याग,

संयम, प्रत्याख्यान नहीं कर सकता । परन्तु इसे मैं बोध दूं । राजकुमारी साधुजी
दर्शन और मांगलिक श्रवण के लिए जा रही है । देव के मन में विचार हुआ
राजकुमारी को प्रतिबोध देने का । इस तरफ लग्न के स्वयंवर-मण्डप में अनेक
आ गए हैं । विवाह की बहुत धूमधाम चल रही है, गाजे-बाजे हो रहे हैं । कि
राजकुमारी, जो संत के दर्शन-श्रवण के लिए जा रही हैं । बाद में वह विवाह क
या भागवती दीक्षा लेंगी ? यह भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ६१

भादवा सुदी ११, शनिवार — ता. ४-९-७

तप और संयम से भावित आत्माएँ

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

आज घाटकोपर के आंगन में एक पवित्र और मांगलिक दिवस है । अपने
पर्युषणपर्व का पदार्पण होने से पहले से आराधना के उद्यान में मुक्ति का मंगल
मण्डप बांधा गया है । साथ ही कर्मक्षय करने के लिए उस पर तप के तेजस्वी तो
बांधे हैं, उस पर धर्म की ध्वजा फरक रही है । इस मण्डप में अपने यहाँ तीन-
बालब्रह्मचारी महासतियों का अभी उग्र तप चल रहा है । आज दो शुभ अवसरों
मनाने हैं । उनमें एक तो हमारे तरण-तारण परम उपकारी पूज्य गुरुदेव
पुण्यतिथि का पवित्र दिवस है । दूसरा अवसर यह है कि तीन महासतियों के उग्र
की साधना चल रही है । उस तपःसाधनात्रय की अनुमोदना करनी है । बा
चन्दनबाई महासतीजी के आज मौन-सहित ३३ उपवास की साधना तथा बा
हर्षिदाबाई महासतीजी के भी ३३ उपवास की साधना है । आज इन दोनों की
तपःसाधना निर्विघ्नता से परिपूर्ण हो रही है । और बा.ब्र. भावनाबाई महासतीजी
आज १८वाँ उपवास है । उनकी आगे बढ़ने की भावना है ।

बन्धुओं ! ऐसी उग्र तपःसाधना वही जीव कर सकता है, जिसने महान् अन्त
कर्म तोड़ा हो । मनुष्य किसी के साथ वाद-विवाद करे, अथवा होड़ लगाए तो
पैसे से या दूसरे किसी प्रकार से कर सकता है, किन्तु तपश्चर्या में किसी से वाद-विव
करना, शर्त या होड़ लगाना शक्य नहीं है, क्योंकि आहारसंज्ञा पर विजय पाना आस
नहीं है । साधु-साध्वी के लिए २२ प्रकार के परिषह-विजय में भगवान् ने सबसे पह

क्षुधा-परिषह बताया है । जीव माता के गर्भ में आता है, तब सर्वप्रथम आहार लेता है । अतः सर्वजीवों पर आहार-संज्ञा का जोरदार प्रभाव होता है । उसे नष्ट करने के लिए तप करना होता है । जो आहारसंज्ञा पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, उन तपस्वियों को धन्य है । तप से क्या लाभ होता है ? इसका समाधान 'उत्तराध्ययन सूत्र' के ३०वें अध्ययन में बताया गया है -

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ॥५॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडि-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥६॥

जैसे कोई बड़ा तालाब हो, उसमें नये पानी का आना रोक दिया जाए, तथा उसमें भरा हुआ पानी उलीच दिया जाए, तब उसमें पीछे बाकी रहा हुआ कीचड़ सूर्य के ताप से सूख जाता है । इसी प्रकार संयमी साधक नये आते हुए पाप-कर्मो को रोक देता है, और करोड़ों भवों के संचित किये हुए कर्मो का तपश्चर्या द्वारा क्षय (निर्जरा) कर डालता है ।"

'प्रज्ञापनासूत्र' में बताया गया है कि नरक का जीव एक हजार वर्ष तक कष्ट सहकर जितने कर्मों को खपाता (क्षय करता) है, उतने कर्म समझपूर्वक एक उपवास करने से यहाँ (मनुष्यलोक में) क्षय हो जाते हैं । नारकीय जीव लाख वर्ष तक दुःख भोगकर जितने कर्म खपाते हैं, उतने कर्म यहाँ छट्ठतप (बेला) करने से क्षय हो जाते हैं । नरक का जीव एक करोड़ वर्षों में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म सम्यक् ज्ञानपूर्वक एक अट्ठमतप (बेला) करने से क्षय हो जाते हैं । इसी प्रकार नारकीय जीव कोटाकोटी वर्षों में जितने कर्मो का क्षय करता है, उतने कर्म यहाँ सम्यग्ज्ञानपूर्वक एक चोला (चार उपवास) करने से क्षय हो जाते हैं । ऐसा महान् लाभ तपश्चर्या में रहा हुआ है । अग्नि की एक चिनगारी लकड़ी (या घास) की एक मोटी गंजी को जलाकर साफ कर डालती है, वैसे ही सम्यक्ज्ञानपूर्वक तप और संयम की एक चिनगारी करोड़ों भवों के संचित कर्मों की गंजी को जलाकर साफ कर डालती है । ऐसी घोर तपःसाधना जो आत्माएँ कर रही हैं, उन्हें हमारे कोटि-कोटि धन्यवाद हैं ।

एक वार श्रेणिक महाराजा भगवान् महावीर को वन्दन करने के लिए गए । तब प्रभु को वन्दन करके पूछा गया -

"इमेसिणं भंते ! इंदभूइ-पामोक्खाणं चउदसण्हं समण-साहस्सीणं कयरे अणगारे महादुक्करकारए चेव महाणिज्जरयराए चेव ।"

"भगवन् ! इन्द्रभूति-प्रमुख आपके चौदह हजार श्रवणों में कौन-से श्रमण महादुष्कर करणी करनेवाले और कर्मों की महानिर्जरा करनेवाले हैं ?" इस पर भगवान्

ने कहा - "यों तो सभी संत लघुकर्मी हैं, मोतियों की माला जैसे हैं; किन्तु तुम
रहे हो कि दुष्कर करणी करके कर्मो का महानिर्जरा करनेवाला कौन-सा संत है ?
के उत्तर में कहता हूँ कि इन्द्रभूति-प्रमुख १४ हजार सन्तों में धन्ना अनगार महान् दु
करणी करनेवाले हैं। वह दीक्षा लेकर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) पारणा करते हैं और पार
के दिन आयंबिल तप करते हैं।" यह सुनकर श्रेणिकराजा को अत्यन्त हर्ष हुआ। फि
वह सभी संतों को क्रमशः वन्दन करके सुख-साता पूछते-पूछते जहाँ धन्ना अन
विराजमान थे, वहाँ आए और उन्हें झुक-झुककर वन्दन करके बोले - "गुरुदेव ! ध
है आपको। आप पुण्यवान् हैं, आपने ऐसा उत्तम मनुष्यभव पाकर उग्र तपश्चर्या क
दुष्कर करणी करके अपना जीवन सफल किया।" इस प्रकार श्रेणिकराजा ने अत्य
प्रसन्नतापूर्वक धन्ना अनगार को तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दन-नमस्कार करके सु
साता पूछी। ऐसी उग्र तपश्चर्या करने से धन्ना अनगार का शरीर अत्यन्त रूखा-सू
हो गया था। इनका विशेष वर्णन 'अनुत्तरोववाइ सूत्र' में अत्यन्त विस्तारपूर्वक कि
गया है, किन्तु आज हमें इस विषय पर अधिक कुछ कहना नहीं है। मुझे
आपलोगों को तप का महत्त्व समझाना है। ऐसे तपस्वियों के चरण में बड़े-बड़े न
और देव, देवेन्द्र तथा बड़े-बड़े महाराजा भी झुक जाते हैं।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

इस युग में अपने धर्म में तपस्वियों की महती साधना चल रही है। हमारी त
महासतियों ने अतीव सम्यक्ज्ञान (समझ) पूर्वक, आत्मलक्षी तथा कर्मनिर्जरा के उद्दे
से स्वाध्याय, ध्यान आदि करके ऐसी दीर्घ महासाधना की हैं। कई दिनों से मल्लिन
भगवान् का वर्णन चल रहा है। उन मल्लिनाथ भगवान् के जीव ने महाबल (अनग
राजा के भव में कितना उग्र तपश्चरण किया था, यह बात आप सुन चुके हैं। उन्ह
महाबलराजा के भव में तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया और मिथिला नगरी
कुम्भराजा की पुत्री के रूप में जन्म लिया। पूर्वकृत पुण्यवानी के कारण उन
रूप अद्‌भुत है। उनका शरीर रत्न की तरह चमकता हुआ तेजस्वी था। उनका रू
देखकर अच्छे-अच्छे मनुष्य स्तब्ध हो जाते थे - 'अहो ! मर्त्यलोक में यह कोई इ
की अप्सरा है अथवा दूसरी कोई देवी है ?' ऐसा उनका अनुपम रूप था।
मल्लीकुमारी सबकी अत्यन्त प्रिय थी। वह माता-पिता तथा दास-दासियों
लाडप्यार से खम्मा-खम्मा कही जाती हुई बड़ी हुई। वह अनेक सखियों के वृन्द
घिरी रहती थीं। यों क्रमशः वह यौवन के सिंहद्वार पर पहुँचीं। उस समय क्या हुअ
इसे शास्त्रकार कहते हैं -

"तए णं सा मल्ली देसूण वास-सयजाया; ते छप्पिरायाणो विउले
ओहिना आभोएमाणी २ तंजहा।"

उस समय मल्लीकुमारी की उम्र सौ वर्ष से कुछ कम थी । उस समय उन्होंने अपने अवधि-ज्ञान से अपने पूर्व के साथी छह मित्र राजाओं को देखे (जाने) अर्थात् - उन्होंने अवधि-ज्ञान द्वारा देखा कि मेरे पूर्व के प्रतिबुद्धि आदि छह राजा, जिनके साथ आज से तीसरे भव (पूर्व) में दीक्षा ली थी, तथा देवलोक में भी एक ही विमान में साथ-साथ उत्पन्न हुए थे । वहाँ उनका आयुष्य बत्तीस सागरोपम से कुछ कम था और मेरा आयुष्य पूरे बत्तीस सागरोपम का था । अतः वे मेरे से पहले वहाँ से च्यवकर मर्त्यलोक में कहाँ जन्मे हैं ? इसे अवधि-ज्ञान द्वारा उपयोग लगाकर देखा तो मालूम हुआ कि - *पडिबुद्धिजाव जियसत्तुं पंचालाहिवइं* - अर्थात्- जो ६ मित्र थे, उनमें से अचल का जीव कौशल का अधिपति हुआ है । वह इक्ष्वाकु-वंशीय है और उसका नाम है, प्रतिबुद्धि । धरण का जीव अंगदेश का राजा हुआ है, उसका नाम चन्द्रच्छाय है । अभिचन्द्र का जीव काशीदेश का अधिपति हुआ है, उसका नाम इस समय शंखराजा है । पूरण का जीव कुणालदेश का राजा हुआ है, उसका नाम रुक्मि है । वसु का जीव कुरुदेश का राजा है - उसका नाम है - अदीनशत्रु । इसी प्रकार वैश्रवण का जीव पंचालदेश का राजा है, उसका नाम है - जितशत्रु ।

बन्धुओं ! मल्लीकुमारी ने अपने ज्ञान के बल से जान लिया कि मेरे मित्र इस प्रकार भिन्न-भिन्न देश के राजा के रूप में जन्मे हैं । उन्हें मेरे प्रति पूर्व का अनुराग है । इस कारण समय आने पर तब वे मेरे लिए क्या करेंगे ? वे मेरे मोह में पागल होकर मेरे साथ विवाह करने के लिए तैयार होंगे । उस समय मुझे उन्हें किस प्रकार समझाना तथा किस प्रकार उनका मोह उतारकर प्रतिबुद्ध करना ? एवं वे किस प्रकार से समझेंगे ? यह सब उन्होंने अपने ज्ञान से जान लिया । तत्पश्चात् उन्होंने अपने पूर्वभव के छह मित्रों की परिस्थिति जानकर मल्ली भगवती ने अपने कौटुम्बिक पुरुष बुलाए । उन्हें बुलाकर इस प्रकार कहा - "देवानुप्रियों ! तुम अशोकवाटिका में सैकड़ों स्तम्भोंवाला एक विशाल सम्मोहन घर बनाओ ।" मल्ली भगवती ने सम्मोहन घर इसलिए बनवाया था कि उन्होंने अपने अवधि-ज्ञान से यह बात जान ली थी कि वे छहों राजा पूर्वभव के स्नेह के कारण उनके साथ विवाह करने के लिए यहाँ आएँगे । इसलिए उन्हें प्रतिबोध प्राप्त कराने हेतु सम्मोहन घर बनाने के लिए कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया था । अब वे कौटुम्बिक पुरुष सम्मोहन घर कैसा बनायेंगे, उसमें कैसी रचना करेंगे, यह बात यथावसर कही जाएगी ।

बा.ब्र. पू. रत्नचन्द्रजी महाराज की पुण्यतिथि

आज हमारे जीवन-रथ के सारथी, जीवननैया के सच्चे कर्णधार परम तारक गच्छाधिपति पूज्य गुरुदेव स्व-आचार्य **बा.ब्र. पू. रत्नचन्द्रजी महाराज साहब की २८वीं पुण्यतिथि का पावन दिवस है** । किसी मनुष्य ने अपने पर मामूली उपकार किया हो, तो भी उसका उपकार मानने में मानवता होती है, तो फिर जिन्होंने हमें

जाज्वल्यमान दावानल-तुल्य संसार में से बाहर निकाले हों, उन गुरुदेव के उपकार को कैसे भूला जा सकता है ? मैं सर्वप्रथम आपको यह समझाती हूँ कि गुरु किसे कहा जाए ? गुरु शब्द का क्या अर्थ है ?

गुं शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्, 'रु' शब्दः प्रतिरोधकः ।
अन्धकार-निरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥

'गु' शब्द अन्धकारवाचक है, और 'रु' शब्द निरोधकार्थक है । अज्ञानरूपी अन्धकार का निरोधक होने के कारण 'गुरु' को गुरु कहा जाता है ।

"गृणाति धर्म शिष्यं प्रतीति गुरुः" जो शिष्यों को धर्म समझाकर तत्त्वों का मर्म समझाता है, वह सच्चा गुरु है । गुरु शब्द का एक अर्थ यह भी है - *"सत्वेभ्यः सर्वशास्त्रार्थ-देशको गुरुच्यते"*- जो एकान्त हितबुद्धि से (जिज्ञासु) जीवों को सर्वशास्त्रों का सच्चा ज्ञान देता है, सच्चा अर्थ समझाता है, वह गुरु कहलाता है । गुरु कैसा होना चाहिए ? शक्रस्तव पाठ में कहा गया है - *'तिन्नाणं तारयाणं'* जैसे नौका पानी पर स्वयं तैरती है और दूसरों को तिराती है, वैसे ही जो स्वयं भवसागर से तिरता है और दूसरों को तिराता है, वह सद्गुरु है ।

सद्गुरु के समागम से पापी से पापी जीवों का उद्धार हुआ है । एक समय का हिंसकपापी अंगुलिमाल, जो लोगों की अंगुलियाँ काटकर उनका हार (माला) बनाकर गले में पहनता था, उसे तथागत महात्मा बुद्ध का समागम होने से वह सुधर गया । प्रतिदिन सात-सात व्यक्तियों की हत्या करनेवाला अर्जुनमाली सुदर्शन श्रमणोपासक के साथ भगवान् महावीर के पास गया और एक ही बार प्रभु की अमृतवाणी सुनकर साधु बन गया । वालिया लुटेरे को नारदजी का समागम मिला और वह वाल्मिकी ऋषि हो गया । जिसके हाथ रातदिन रक्तरंजित रहते थे, ऐसे परदेशी (प्रदेशी) राजा केशीस्वामी जैसे गुरु का सत्संग मिलते ही स्व (आत्म) देशी (आत्मलक्षी) बन गए । यह है सद्गुरु के सत्संग का प्रभाव । गुरु को खोजो तो ऐसे खोजो जो पाप-पंक में धंसी आत्मा को बाहर निकाले और उसे पवित्र बनाए । तुमलोग मैले कपड़ों को वॉशिंग मशीन में धोने के लिए डालते हो, वॉशिंग मशीन में वस्त्र धुलकर स्वच्छ बनकर आते हैं, वैसे ही कर्मरज से मलिन बने हुए आत्मारूपी वस्त्र को धोकर साफ करनेवाले वॉशिंग (मेन) सद्गुरुदेव हैं । सचमुच, सद्गुरु जीवन में परिवर्तन या प्रकाश लाते हैं, विषाद के बादल बिखेर देते हैं, गाढ़ अज्ञानान्धकार को उलीचकर ज्ञान की तेज किरणें फेंकते हैं, सूर्य के समान जीवन में प्रकाश का प्रसार-संचार करते हैं । सच्चे गुरु उत्पथ पर जाते हुए जीवों को सत्पथ की ओर मोड़ देते हैं, पद-पद पर प्रेरणा का पान कराकर, क्षण-क्षण में भूल को सुधारकर सुशिक्षण देते हैं । जैसे नाविक से रहित नौका और गार्ड बिना की गाड़ी निकम्मी होती है, वैसे ही गुरु तथा गुरुकृपा से विहीन जीवन भी निकम्मा है । प्रभु का साक्षात्कार करानेवाले सद्गुरु होते हैं ।

अगर जीवन में शान्ति चाहिए, जीवन को सफल बनाना हो और प्रभु का साक्षात्कार करना हो तो गुरु के चरणों में जीवन समर्पित करके उनकी आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करके उनकी कृपा प्राप्त करनी जरूरी है । जिसे भवाटवी पार करानेवाले सच्चे, पवित्र, निःस्वार्थी गुरु मिल जाते हैं, उसका जीवन सफल बन जाता है । हमें ऐसे समर्थ तारक शिरछत्र समान गुरुदेव मिले थे । अब हमें यह विचारना है कि उन गुरुदेव की जन्मभूमि कहाँ थी ? उन्हें जीवन में किस प्रकार वैराग्य भाव की ज्योति जगी ?

खंभात के अधीनस्थ तथा साबरमती नदी के तट पर गलियाणा नामक एक छोटा-सा गाँव है । उस गाँव में अधिकांश बस्ती गरासिया राजपूतों की है । ऐसी पवित्र शूरवीरों की भूमि में जेताभाई नाम के एक गरासिया राजपूत किसान रहते थे । खेती उनका मुख्य धंधा था । जेताभाई और उनकी धर्मपत्नी जयाकुंवरबहन दोनों सरल और पवित्रात्मा थे । इन जेताभाई के यहाँ विक्रम संवत १९४२ के कार्तिक सुदी ११ के पवित्र दिन माता जयाकुंवरबहन की कुक्षि से एक तेजस्वी पुत्ररत्न का जन्म हुआ । उसका नाम रखा गया - रवाभाई । जैसे हीरे की छोटी-सी कणी में तेज होता है, वैसे ही रवाभाई के मुख पर क्षात्रतेज झलक रहा था ।

बन्धुओं ! तीर्थंकर भगवन्त भी क्षत्रियकुल में जन्म ग्रहण करते हैं, क्योंकि कर्मो का निकन्दन निकालने (कर्मक्षय करने) का शौर्य क्षत्रियों में होता है । क्षत्रिय कर्म करने में शूरवीर होते हैं, वैसे कर्मो को तोड़ने में भी शूरवीर होते हैं । इसी कारण यह कहावत प्रसिद्ध हुई - *'कम्मे सूराते ते धम्मे सूरा ।'* 'स्थानांग सूत्र' के चौथे स्थानक में चार प्रकार के शूरवीर बताये हैं -

चत्तारि सूरा पण्णत्ता, तंजहा - खंतिसूरे, तवसूरे, दाणसूरे, जुद्धसूरे ।
खंतिसूरा अरिहंता, तव-सूरा अणगारा, दाणसूरे वेसमणे, जुद्धसूरे वासुदेवे ।।

चार प्रकार के शूरवीर कहे गए हैं, जैसे कि क्षमाशूर, तपःशूर, दानशूर और युद्धशूर । उनमें से क्षमाशूर अरिहन्त भगवन्त होते हैं, अनगार-साधु-साध्वीगण तपश्चर्या में शूरवीर होते हैं, वैश्रमण (कुबेर) दान में और युद्ध में वासुदेव शूरवीर होते हैं । अर्थात् - वासुदेव क्षत्रिय होते हैं, तीर्थंकर भगवन्त भी क्षत्रिय होते हैं । वैसे ही हमारे गुरुदेव रवाभाई भी क्षत्रिय थे, राजपूत थे । रवाभाई में अपने नाम के अनुरूप एक विशिष्ट गुण था । गुजराती भाषा में मथानी (दही मथने के डंडे) को रवैया कहते हैं । जैसे रवैये को दही में रखकर मन्थन किया जाता है तो मक्खन मिलता है, वैसे ही रवाभाई ने अपने जीवन का मंथन करके (कैसे-कैसे) मक्खन प्राप्त किया था ? यह बात आगे कही जाएगी ।

रवाभाई को बचपन में माता-पिता का वियोग : रवाभाई को एक बहन और दो भाई थे । इनमें रवाभाई सबसे बड़े थे । जब यह ढाई वर्ष के थे, तभी इनके

माता-पिता दोनों परलोक सिधार गए थे । इसलिए ये तीनों (दो भाई और एक बहन) चाचा-चाची के यहाँ बड़े हुए । रवाभाई में बचपन से विनय, नम्रता, गम्भीरता आदि गुण विकसित हो गए थे । जब ये तेरह वर्ष के हुए, तब चाचा-चाची के साथ खेत पर जाने तथा खेती के काम में हाथ बटाने लगे । उनकी अपनी जमीन भी काफी थी, इसलिए नौकरों के द्वारा सब काम कराते थे । एक दफा रवाभाई अपने सम्बन्धी के यहाँ किसी कार्यवश गलीयाणा गाँव के निकटवर्ती बटामण गाँव में गए । उक्त सम्बन्धी का घर उपाश्रय के नजदीक था । रात को वह मकान में बरामदे में खाट डालकर सोये थे । उस अवसर पर बटामण में खंभात सम्प्रदाय की महासतीजी विराजमान थीं । रात्रि को प्रतिक्रमण होने के बाद महासतीजी ने मधुर स्वर में भावभीना एक सुन्दर स्तवन गाया । खाट पर सोये हुए रवाभाई के कानों में स्तवन के शब्द सुनाई पड़े । उन्होंने अपने सम्बन्धी से पूछा -- "काका ! यह कौन गा रहा है ?" सम्बन्धी ने कहा - "इस निकटवर्ती उपाश्रय में जैन साध्वीजी विराजती हैं, वह गा रही हैं ।" तब उन्होंने पूछा - "क्या हम वहाँ नहीं जा सकते ?" "नहीं, रात्रि में सूर्यास्त के बाद साध्वीजी के उपाश्रय में पुरुषों का जाना वर्जित है । सुबह सूर्योदय होने के बाद वहाँ पुरुष जा सकते हैं ।"

रवाभाई के हृदय पर पड़ी जैनधर्म की छाप : बन्धुओं ! भगवान् द्वारा प्ररूपित कैसा सुन्दर नियम है कि साधुजी के उपाश्रय में साध्वी व्याख्यान अथवा वाचना के टाइम के सिवाय नहीं जा सकती; और वहाँ भी साधु विराजमान हों तो पुरुष और साध्वीजी विराजमान हों तो स्त्री को साथ में रखनी चाहिए । इसके सिवाय उत्सर्ग मार्ग में साधु के स्थानक में साध्वीजी नहीं जा सकतीं । 'वृहत्कल्प सूत्र' में एक दृष्टान्त द्वारा इस नियम के विषय में समझाया गया है -

एक दफा छोटे भाई की पत्नी पर बड़े भाई की विकारी दृष्टि पड़ी, फलतः बड़े भाई (जेठ) की नियत बिगड़ी । अनुजवधू को अपनी बनाने के लिए बड़े भाई ने छोटे भाई के पेट में छुरा भोंककर उसकी हत्या कर दी । पति के आयुष्य का अन्त निकट जानकर उसकी पत्नी ने उसे धर्म सुनाया, फिर कहा - "स्वामीनाथ ! आपके बड़े भाई ने आपकी हत्या की है । आप उस पर जरा भी द्वेष मत रखना । पूर्वभव में आपने उसे मारा होगा, इस कारण इस भव में उसकी बुद्धि आपको मारने की हुई । आप नवकार महामंत्र में अपने चित्त को तल्लिन कर दें । मेरे प्रति आप मोह या आसक्ति मत रखना ।" इस प्रकार धर्म प्राप्त कराने तथा चार शरण (चत्तारिमंगलं) का पाठ सुनाने से उसका पति शुभभावों में मरकर देवलोक में गया । दिवंगत पति ने वहाँ जाकर अवधि-ज्ञान का उपयोग लगाकर देखा कि मैं किसके प्रभाव से देव बना ? उसे देवभव प्राप्त कराने में अपनी पत्नी का उपकार प्रतीत हुआ । अतः उक्त देव के मन में विचार हुआ कि 'उसने (पत्नी ने) मुझे धर्म प्राप्त कराया है, तो मेरा भी कर्तव्य

है कि मैं उसे ऐसे साधु या साध्वीजी से मिलवा दूं, ताकि वह दीक्षा ग्रहण करके आत्मकल्याण कर सके । किन्तु इससे पूर्व मैं यह जांच-पड़ताल कर लूं कि शीघ्र आत्मकल्याण करा दें, ऐसे पवित्र संत कौन हैं ?' यह देव परीक्षा करने के लिए वैक्रियशक्ति से एक वृद्ध साध्वीजी का वेष धारण करके जैनसाधु के उपाश्रय में प्रवेश करने लगा । तब वहाँ विराजित साधुओं ने कहा - "साध्वीजी ! इस समय बेटाइम में साधु के उपाश्रय में आना आपके लिए कल्पनीय नहीं है । इस समय कोई गृहस्थ भाई भी उपाश्रय में नहीं है । इसलिए आप उपाश्रय से बाहर पधार जाएँ ।" इस पर वह साध्वीजी कहने लगी - "मैं तो वृद्ध हूँ, तथा मुझे गुरुदेव से शास्त्र की वाचना लेनी है । अतः मेरे द्वारा उपाश्रय में आने में क्या आपत्ति है ?" यह सुनकर साधुओं ने कहा - "साध्वीजी ! इस समय वाचना का टाइम नहीं है ।" बहुत समझाने पर साध्वीजी उपाश्रय से बाहर नहीं गई, तब साधुओं ने कहा - "ऐसी स्थिति में हम उपाश्रय से बाहर चले जाते हैं ।" यों कहकर सभी साधु उपाश्रय से बाहर निकलने लगे, तब देव अपने असली रूप में प्रकट होकर संतों के चरणों में नमन करके अपने स्थान में चला गया और इन संतों के परिवार (ग्रुप) की पवित्र साध्वीजी जहाँ विराजमान थीं, वहाँ अपनी भू. पू. पत्नी को ले जाकर पहुँचाई । उन साध्वीजी के पास दीक्षा लेकर उसने सुख-शान्तिपूर्वक अपना आत्मकल्याण किया । निष्कर्ष यह है कि भगवान् द्वारा प्ररूपित नियमानुसार सूर्यास्त के बाद साध्वीजी के स्थानक में पुरुष नहीं जा सकता । बटामण के वैष्णवों को भी इस तथ्य की प्रतीति एवं जानकारी थी ।

रवाभाई को महासतीजी से स्तवन सुनने की लगन : रवाभाई तो साध्वीजी के उपाश्रय में जाने लिए बहुत ही आतुर हो रहे थे । जिसे किसी कार्य की लगन लगती है, उसे उस कार्य को पूरा करने पर ही शान्ति मिलती है । रात्रि पूरी हो गई। सूर्य की सुनहरी किरणें पृथ्वी पर फैलीं । रवाभाई के जीवन में भी मानो सूर्यकिरणों का तेज प्रसारित होनेवाला होगा, अतः सूर्योदय होते ही वह जैन-साध्वीजी के पास पहुँच गए । उन्होंने सतीजी से प्रार्थना की - "सतीजी ! आपने रात को जो भजन गाया था, वह मुझे सुनाएँ ।" आगन्तुक की प्रबल जिज्ञासा देखकर महासतीजी ने वह भजन गाया । भजन का प्रत्येक पद अत्यन्त भावों से भरा था । यह भजन सुनते ही, जैसे मेघगर्जना होते ही मयूर नाच उठते हैं, वीणा बजती है तो मृग मुग्ध हो जाते हैं, मुरली का नाद सुनते ही सर्प डोलने लगते हैं, वैसे ही रवाभाई का हृदय भजन सुनते ही नाचने लगा । भजन पूरा होते ही रवाभाई ने कहा - "मुझे इसका विशेष अर्थ समझाइए ।"

बालक का उज्ज्वल भविष्य प्रतीत होने से महासतीजी के हृदय में उत्सुकता जगी : महासतीजी इस बारह वर्ष के बालक की भावना देखकर विचार करती हैं - 'अहो ! यह छोटा-सा बच्चा है, और जन्म से जैन नहीं है, फिर भी इसे

धर्म-सिद्धान्त को जानने की कितनी उत्कट जिज्ञासा है ?' उन्होंने रवाभाई को भजन के भाव और विशेषार्थ समझाए । साथ ही मनुष्यभव की दुर्लभता और संसार की असारता समझाते हुए कहा - "इस जगत् में सभी जीवों को अपना जीवन प्रिय है, इसलिए किसी जीव को मारना नहीं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीव हैं । हरे वृक्ष के पत्ते, फल, फूल वगैरह तोड़ने में बहुत पाप है ।" यह उपदेश सुनते ही रवाभाई के रोम-रोम में उसका अच्छा प्रभाव पड़ा । उन्हें लगा कि वास्तव में अगर आत्मा का कल्याण करना हो तो जैनधर्म की दीक्षा लेनी चाहिए । यहीं से उनके हृदय में वैराग्य का बीजारोपण हुआ । फिर वह अपने घर आए । बहुत-सी दफा उन्हें अपने काका के साथ खेत में जाना पड़ता था । इतने में कपास की फूल सीजन आई । उनके खेत में कपास की भरपूर पैदाइश हुई थी । कपास बिनने के लिए वह बहुत-से लोगों के साथ खेत में आए । वह स्वयं कपास बिनते और दूसरे आदमियों से कपास बिनवाते हैं । विकसित कपासियों (बिनौलों) में से रूई खींचते हुए तेरह वर्ष के रवाभाई को महासतीजी का दिया हुआ उपदेश याद आया । 'अहो ! वह महासतीजी तो यों कहती थीं, कि एक पत्ता तोड़ने में भी इतना पाप है तो मैं तो कितने कपासिये तोड़ रहा हूँ, मुझे ऐसा करने में कितना पाप लगेगा ?' पाप के डर से रवाभाई का हृदय कांप उठा । वह घर आकर अपने काका-काकी से कहने लगे - "अब मुझे इस संसार (गृहस्थवास) में नहीं रहना है । अगर मैं संसार में रहूँगा तो पाप करना पड़ेगा न ? मैं तो बटामण जा रहा हूँ । वहाँ जाकर जैनधर्म की साधुदीक्षा लूंगा ।"

एक बार का उपदेश सुनकर रवाभाई की आत्मा जाग गई : तेरह साल के बालक की यह बात सुनकर काका-काकी ने कहा - "अगर तुझे साधु बनना हो तो खुशी से बन, इस विषय में हमारी ओर से इन्कार नहीं है, किन्तु हमलोग जैन नहीं हैं । हमारा धर्म स्वामिनारायण का है, इसलिए हम तुझे जैनसाधु तो नहीं बनने देंगे । मर जाना कबूल है, मगर अब जैन-उपाश्रय में कदापि नहीं जाना । अतः तुझे साधु बनना हो तो गढडा जाकर स्वामीजी का परिचय कर और उनका चेला बन ।" जिनके रग-रग में वैराग्य का तीव्र रंग लगा है, वह रवाभाई स्वामिनारायण के गढडा में आए और वहाँ के बड़े महन्तजी से मिले । उनके समक्ष अपने साधु बनने के भाव प्रकट किये । इस पर महन्तजी ने पूछा - "भाई ! तुम कहाँ से आ रहे हो ? तुम्हारा व्यवसाय क्या है ?" तब रवाभाई ने कहा - "मैं गलीयाणा का निवासी हूँ । हमारे कुटुम्ब में काका-काकी हैं । हम एक बहन और दो भाई हैं । हमारे पास खेती की जमीन-जागीरी अच्छी है । हमारा व्यवसाय खेती है ।" यह सुनकर महन्तजी ने कहा - "तेरे हिस्से की जितनी जमीन-जायदाद हो, वह सब हमारी (स्वामिनारायण की) गद्दी को अर्पण कर दो, तो हम तुझे साधु बना देंगे ।"

रवाभाई द्वारा की गई धर्म की परीक्षा : महन्त की वात सुनकर तेरह वर्ष के रवाभाई के मन में यह विचार स्फुरित हुआ कि 'कहाँ तो जैन-साधु जीवन में परिग्रह के त्याग की वात है, और यहाँ तो साधुजीवन में परिग्रह का संग्रह करने की वात है। उक्त महासतीजी तो ऐसा कहती थी कि साधु तो कंचन और कामिनी के त्यागी होते हैं। वे पैर में बूट, चप्पल आदि नहीं पहनते। गाड़ी-मोटर आदि वाहन में नहीं बैठते। जबकि यहाँ (स्वामिनारायण सम्प्रदाय में) तो यह सब खुल्ला है। जहाँ आरम्भ और परिग्रह हो, वहाँ कल्याण कहाँ से हो सकता है?' देखिए, तेरह साल के वालक को भी धर्म की परख करनी आ गई। यह आत्मा पूर्वजन्मों के कैसे उच्च सुसंस्कार लेकर आया होगा। इतनी छोटी उम्र में भी उनका कितना अद्‌भुत आत्ममंथन और कल्याण के मंगलभाव थे? अतएव उनका मन अव तो दीक्षा लेने के पीछे आतुर हो गया। इस उद्देश्य से वह वटामण आये और महासतीजी को वन्दन-नमस्कार करके बोले - "महासतीजी ! मुझे आपका शिष्य वनाइए। मुझे शीघ्र आत्मकल्याण करना है।"

उसकी दीक्षा लेने की आन्तरिक इच्छा जानकर महासतीजी समझ गई कि यह कोई हलुकर्मी, सरल, विनयवान् और आत्मार्थी जीव मालूम होता है। इसलिए उन्होंने कहा - "भाई ! अगर तुम्हें जल्दी आत्मकल्याण करना हो तो त्याग के विना तीनकाल में आत्मकल्याण होनेवाला नहीं है। पर मैं तो साध्वी हूँ, तुम्हें दीक्षा लेनी हो तो हमारे गुरुदेव पूज्य छगनलालजी महाराज साहव खंभात में विराजमान हैं। उनके चरणों में तुम्हारी जीवननैया समर्पित करके आत्मकल्याण करो।" रवाभाई को अव गुरुमिलन की पिपासा जागी। अव शीघ्रातिशीघ्र गुरुदेव के पास जाने की लगन लगी कि कव मैं गुरुजी के पास जाऊँ और कव दीक्षा लूँ। कहा भी है -

"लगनी लागी छे के अगनी जागी छे; तुम मिलन की गुरु।
पलेपल झंख्या करूँ तने के लगनी लागी छे ॥"

रवाभाई की दीक्षा लेने की उत्कट भावना देखकर वटामण के एक श्रावकवन्धु उन्हें पू. छगनलालजी महाराज साहव के पास खंभात लेकर आए। पू. छगनलालजी महाराज साहव क्षत्रिय कुल के थे, और रवाभाई भी क्षत्रिय थे। गुरुदेव के दर्शन करते ही रवाभाई का मन स्थिर हो (जम) गया, और पूज्य गुरुदेव का मन भी उनके प्रति आकर्पित हो गया। रवाभाई तो पूज्य गुरुदेव की गोद में मस्तक रखकर उनके चरण पकड़कर कहने लगे - "गुरुदेव ! मुझे यह संसार दावानल जैसा लगता है। मुझे इसमें से जल्दी बाहर निकालिए। मुझे भागवती दीक्षा का दान देकर मेरा भव का दारिद्रय दूर कीजिए।" गुरुदेव ने कहा - "भाई ! ऐसे दीक्षा नहीं दी जाती। तुझे सामायिक आदि कुछ आता है?" रवाभाई वोले - "गुरुदेव ! मुझे कुछ नहीं आता।" गुरुदेव ने कहा - "पहले तो तुम यहाँ रहो। साधु-जीवनचर्या को समझो, अभ्यास करो, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि सीखो। फिर तुम्हारे माता-पिता की आज्ञा

लेकर आओ, तदनन्तर दीक्षा की बात ।" अतः वह गुरुदेव के पास रहकर अध्ययन, मनन करने लगे । रवाभाई की बुद्धि इतनी तीव्र थी कि वह गुरुकृपा से एक महीने में सामायिक, प्रतिक्रमण, छकाय के बोल, नवतत्त्व, पच्चीस बोल आदि याद कर लिये । फिर गुरुजी से सविनय निवेदन किया - "गुरुदेव ! मेरे एक-एक क्षण लाख-लाख के व्यतीत हो रहे हैं । मुझे अब शीघ्र ही दीक्षा प्रदान करने की कृपा करें ।" गुरुदेव ने कहा - "तेरी बात ठीक है, किन्तु तेरे काका-काकी की आज्ञा बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती ।" अतः रवाभाई काका-काकी की आज्ञा लेने के लिए गलीयाणा गये ।

अब मैं घड़ी भर भी संसार में रहनेवाला नहीं : काका-काकी तथा दूसरे कुटुम्बीजनों ने रवाभाई को बहुत समझाया, किन्तु सच्चे और दृढ़ वैरागी को दीक्षा लेने से कौन रोक सकता है ? कुटुम्बीजनों ने रवाभाई की बहुत अग्निपरीक्षा की । जैसे सोना अग्नि में तपता है तो उसका तेज बढ़ जाता है, वैसे ही रवाभाई की अग्निपरीक्षा होने पर उनका वैराग्य और दृढ़ हो गया । अन्त में, कुटुम्बीजनों को रवाभाई को दीक्षा की आज्ञा देनी पड़ी ।

रवाभाई में से सच्चे रत्नसमान मुनि रत्नचन्द्रजी हो गए : दीक्षा की आज्ञा मिलते ही रवाभाई का हृदय हर्ष से नाच उठा । विक्रम संवत १९५६ की माघ-सुदी पंचमी (वसंतपंचमी) के शुभ दिन खंभात शहर में बहुत ही धूमधाम से आपका दीक्षा-महोत्सव मनाया गया । दीक्षित होने पर रवाभाई का संयमी नाम **बा.ब्र. पू. रत्नचन्द्रजी महाराज** रखा गया । वास्तव में, गुरुदेव पू. रत्नचन्द्रजी महाराज साहब ने जैनसमाज में रत्नतुल्य चमचमाता प्रकाश जगमगा कर रत्नचन्द्रजी नाम को रोशन किया । दीक्षा लेने के बाद रत्नचन्द्रजी म. सा. अपने गुरुदेव पू. श्री छगनलालजी महाराज साहब की सेवा में हरदम उपस्थित रहते थे । स्वयं गुरु की आज्ञा लेकर अध्ययन करने बैठते तो भी जहाँ गुरुदेव की दृष्टि पड़े ऐसी जगह बैठते । वह कदापि गुरुदेव की दृष्टि से दूर नहीं जाते थे । विनीत तो ऐसे थे कि गुरुदेव को कुछ भी कार्य होता तो वह आँख के इशारे से समझाते, ऐसे *'इंगियागारसम्पन्न'* शिष्य थे । जैसे मेघकुमारमुनि दीक्षा लेकर भगवान् महावीर के चरणों में मन-वचन-काया से समर्पित हो गए थे, वैसे पू. रत्नचन्द्रजी म. सा. भी अपने गुरुदेव के चरणों में समर्पित हो गए थे । उनके दिल में एक ही गुंजन चलता रहता था -

"ध्यान-मूलं गुरोः मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पादम् ।
मंत्र-मूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्ष-मूलं गुरोः कृपा ॥"

गुरु की जीवित मूर्ति (काया) ध्यान का मूल कारण है । गुरु का चरण-पूजा का मूल कारण है, अर्थात् - गुरु के चरण अर्चना के योग्य हैं । गुरु की वाणी जगत्

के समस्त मंत्रों की मूल कारण है और गुरुदेव की कृपा मोक्ष-प्राप्ति का मूल कारण है। इस प्रकार गुरुदेव के प्रति उन्हें अनन्य श्रद्धा-निष्ठा और भक्ति थी।

पू. गुरुदेव के सांनिध्य में ज्ञान-प्राप्ति : पूज्य गुरुदेव के सांनिध्य में उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, न्यायशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा ३२ आगमों (शास्त्रों) का गहन अध्ययन किया। एक दफा पू. छगनलालजी म. सा. का स्वास्थ्य ठीक नहीं था, अतः उन्होंने रत्नचन्द्रजी म.सा. से कहा - "रत्नचन्द्रजी ! तुम व्याख्यान देने जाओ।" अतः गुरुआज्ञा शिरोधार्य करके ऊपर के होल में व्याख्यान देने गए तब वह बाजोट पर आसन बिछाकर बैठे। श्रावकों ने विनती की - "महाराजश्री ! आप पट्टे पर बिराजिए।" तब उन्होंने कहा - "भाई ! मेरे महान् गुरुदेव बिराजते हों, वहाँ मैं पट्टे पर बैठने योग्य नहीं हूँ।" बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने बाजोट पर बैठकर व्याख्यान दिया, किन्तु पट्टे पर नहीं बैठे। इसके अतिरिक्त जबतक गुरुदेव सोते नहीं थे, तबतक वह भी कदापि सोते नहीं थे। उनका चारित्र अतीव विशुद्ध था। साथ ही विद्वत्ता के साथ उनमें विनय, सरलता, क्षमा, नम्रता आदि गुणों का सुमेल था। पू. गुरुदेव के मुख पर ब्रह्मचर्य का अद्भुत ओज झलकता था। जैसे काच की अलमारी में रखे हुए हीरे का प्रकाश काच को भेदकर बाहर आता है, वैसे ही पू. गुरुदेव रत्नचन्द्रजी म. सा. की देहरूपी अलमारी को भेदकर उनके चारित्र का प्रकाश चमकता था। पू. गुरुदेव (र. म.सा.) रात में मुश्किल से दो-तीन घंटे नींद लेते थे। रात का अधिकांश समय वह ध्यान में रहते थे। इस कारण उनका ज्ञान बहुत ही निर्मल था। पू. छगनलालजी म.सा. और पू. रत्नचन्द्रजी म.सा. को देखकर अधिकांश लोग यही कहते थे कि यह महावीर और गौतम का जोड़ा है। गुरु-शिष्य में ऐसा अथाह प्रेम था।

बन्धुओं ! किसी का प्रेम स्थायी रूप से नहीं टिकता। काल की गति विचित्र है। वि. संवत १९९५ में उनके शिरछत्र पू. गुरुदेव श्री छगनलालजी महाराज साहब के कालधर्म प्राप्त होने पर सम्प्रदाय की बागडोर उनके हाथ में आई। वि. संवत् १९९५ वैशाख वदी ११ के दिन उन्हें आचार्यपद दिया गया। आचार्यपद प्राप्त होने पर सम्प्रदाय के वह कर्णधार बनें। तत्पश्चात् सम्प्रदाय का संचालन बहुत अच्छी तरह से किया। वि. सं. १९९५ का चातुर्मास करने हेतु गुरुदेव 'साणंद' पधारे। गुरुदेव पधारे तभी से वहाँ की जैनशाला में बालक कैसे अधिकाधिक धार्मिक अभ्यास करें, इसके लिए आप सदैव पुरुषार्थ करते रहते थे। वह प्रायः प्रतिदिन सुबह जैनशाला में जाकर, वहाँ के बालक-बालिकाओं में धर्म के पाठानुरूप कथा-कहानियों के माध्यम से सुन्दर सुसंस्कारों का सिंचन बहुत ही मनोयोगपूर्वक करते थे। दोपहर को बहनों को धार्मिक अभ्यास कराते थे। पू. गुरुदेव के सदुपदेश से पूज्य जसुबाई महासतीजी को और मुझे संसार की असारता समझ में आ गई। उनके सदुपदेश से हमारी अन्तरात्मा उद्‌बुद्ध हुई। ऐसे महान उपकारी पू. गुरुदेव का उपकार कदापि

व्याख्यान - ६२

भादवा सुदी १३, सोमवार | ता. ६-९-७६

मोह-व्याधि मिटाती है वीतरागवाणी

सुज्ञ वन्धुओं, सुशील माताओं और वहनों !

अनन्तकाल से अपना जीवात्मा संसार में परिभ्रमण कर रहा है, उसका मूल कारण भौतिक-सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति द्वेष है। राग और द्वेष से मोह उत्पन्न होता है। मोह के साथ मित्रता करके जीव कर्म के कर्ज में डूब गया है और परभाव में झूल रहा है। इस मोह का विष-उतारने हेतु वीतराग-प्रभु की वाणी अमूल्य जड़ी-बूटी है। इस वीतरागवाणी पर अगर जीव को श्रद्धा-प्रतीति-रुचि-निष्ठा हो तो उसके जन्म-मरण चक्कर मिट सकते हैं। इन चक्करों को मिटाने के लिए कर्म के साथ संग्राम करना पड़ेगा। राज्य-वैभव के सुख में पले हुए और छत्रपलंग में पोढ़नेवाले अपने जिनशासन-नामक प्रभु ने कर्म की जंजीरें (श्रृंखलाएँ) तोड़ने के लिए कोमलता (सुकुमारता) का त्याग करके अनार्यदेश में विचरण किया। जहाँ अनाड़ी मनुष्य साधु किसे कहा जाए ? उन्हें भिक्षा के रूप में आहार-पानी में किस प्रकार का और कैसे वहराया (दिया) जाय ? इस विषय में कुछ भी समझते नहीं थे। बल्कि वे आहार-पानी लेने (भिक्षा लेने) जाते तो उन्हें मारते एवं उनपर कुत्ते छोड़ देते थे। ऐसे (अनार्य) देश में प्रभु सामने चलकर गए। ऐसे महान् पुरुषों का हृदय कर्मों के साथ युद्ध करते समय वज्र जैसा कठोर बन जाता है। इसके विपरीत दूसरों की रक्षा-दया करने में फूल से भी कोमल वन जाता है। भगवान् महावीर का जीवन पढ़ते तो हैं, तो आँखों में आंसू छलछला उठते हैं कि हे प्रभो ! एक समय था, जब आप कितने सुकुमार राजकुमार थे ? किन्तु कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यत हुए, तब आप पर कैसे-कैसे घोर उपसर्ग आए ? कितने-कितने कठोर परिषह आए ? फिर भी आपने समभावपूर्वक उन्हें सहे, उन पर विजय प्राप्त की। अहो ! आपकी कितनी क्षमता और कैसी कठोर साधना ? अहा ! कोमल शरीरवाले भगवान् ने कर्म का ऋण चुकाने के लिए उन पर उपसर्गों के पहाड़ टूट पड़े, परिषहों की झड़ी वरसी, तो भी, 'हाय ! कैसा दुःख है ?' ऐसा जरा भी हुंकार नहीं किया, उन्हें समभाव से धैर्यपूर्वक सहन किया। कषायों को जीतकर आत्मा को उज्ज्वल और शीतलीभूत बनाया।

है । जिसके जीवन में मोह का प्रबल वेग है, उसे मनोज्ञ सुख मिलने पर वह हंसता है, उन सुखों के चले जाने पर वह रोता है । वह परकीय पदार्थ मनुष्य को हैरान-परेशान करता है । किन्तु शुद्ध सम्यक्त्व धारक आत्माओं के तेज से भाग जाता है। अर्जुनमाली में यक्ष परकीय पदार्थरूप में प्रविष्ट हो गया था, किन्तु शुद्ध सम्यक्त्व धारक सुदर्शन श्रमणोपासक के तेज को वह झेल नहीं सका । फलतः अर्जुनमाली के शरीर से उसे भाग जाना पड़ा । जैसे सांसारिक सम्यग्दर्शनी सद्गृहस्थ की आत्मा के तेज से यक्षरूप परकीय पदार्थ भाग गया, वैसे ही जिसका चेतनदेव जग जाता है और अपनी अनन्तशक्ति की हुंकार करता है, तो क्या ताकत है, मोहरूपी परकीय तत्त्व की कि वह टिक सके ? नहीं । अपना आत्मा अनन्तशक्ति का धनी है । यह धारे तो तीसरे भव में मोक्ष जा सकता है, ऐसी शक्ति है इसमें । किन्तु अभी तक यह चेतनदेव जगा नहीं है, तब मोह कैसे भागे ?

धन्नाजी की माता ने उससे पूछा - "बेटा ! पहले तो जरा-सा मेरा मस्तक दुखता, तब तुझे कुछ (संवेदन) हो जाता था । तू रोने लग जाता था, किन्तु अब तू कठोर कैसे हो गया ?" उत्तर में धन्नाजी बोले - "माताजी ! ऐसा कुछ भी नहीं है । पहले मुझे मोह ने जीत लिया था, इस कारण मैं रोता था । किन्तु अब मैंने मोह को जीत लिया है । अतः माताजी ! मुझे दीक्षा लेने की आज्ञा दें । मुझे इस उत्तम मानवभव को विषयभोगों में फंसकर खोना नहीं है ।"

जो व्यक्ति आलस्य और प्रमाद में पड़कर इस महंगे मानवभव को व्यर्थ ही खो देता है, वह उस मूढ़ के समान समझा जाता है, जैसे कोई मानो सोने के थाल में मिट्टी भरता है, अमृत से अपने पैर धोता है, उत्तम हाथी पर लकड़ियों के भार को लादता है और अमूल्य चिन्तामणि रत्न का उपयोग कौए उड़ाने में करता है । किसी गरीब पर राजा मुग्ध (प्रसन्न) होकर उसे सोने का रत्नजटित थाल उपहार में दे दे, किन्तु वह गरीब उस बहुमूल्य थाल में कचरा भरे तो उसे तुम क्या कहोगे ? उसे मूर्ख ही कहोगे न ? किसी रुग्न मनुष्य को उसके रोग को मिटाने के लिए किसी सिद्ध पुरुष ने अमृत की बोतल भर कर दी, किन्तु अज्ञानतावश उक्त रोगी मनुष्य अपने रोग को मिटाने हेतु उसे पीता नहीं, किन्तु उसका उपयोग अपने पैर धोने में करता है और (भेंट में मिले) हाथी पर बैठने के बदले वह मूर्ख उस पर लकड़ियों का भार लादकर गाँव में बेचने के लिए निकलता है, तो तुम्हें उसकी मूर्खता पर हंसी आएगी न ? हाँ, तो अब मैं तुम लोगों से पूछती हूँ कि तुम्हें रत्नजटित स्वर्ण थाल जैसा, अमृततुल्य तथा उत्तम हाथी के समान एवं चिन्तामणि रत्न के सदृश मनुष्यभव मिला है, जिसकी एक-एक सेकंड भी कीमती है । तुमलोग उसका (मनुष्यजीवन का) उपयोग किसमें कर रहे हो ? अधिकांश व्यक्ति तो इस महामूल्य मनुष्यजीवन का समय भोग-विलास में ही व्यर्थ गंवा रहे हैं । मुझे उन लोगों को क्या कहना ? (हँसाहँस) तुमलोग तो ऐसे नहीं हो कि चिन्तामणिरत्न से कौए उड़ाओ ! तुमलोग तो चतुर हो । अतः अब समय को पहचान कर इस मानवभव को आत्म-साधना में लगाओ, ताकि शीघ्र मोक्ष मिले।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लीभगवती की पूर्वभव के मित्रों को प्रबोध देने की तैयारी : अपनी बात चल रही थी कि मल्लीभगवती ने पूर्वभव के मित्रों को बोध देने के लिए पहले से प्रबन्ध किया था । उन्होंने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर निर्देश दिया - "तुमलोग अशोक वाटिका में अनेक स्तम्भों से युक्त एक सम्मोहन-गृह बनाओ ।" वह सम्मोहन-घर कैसा बनाना है, इस सम्बन्ध में कौटुम्बिक पुरुषों को निर्देश देते हुए वह कहती हैं -

"तस्सणं मोहणघरस्स बहुमज्झदेस भाए छगब्भघराए करेह ।
तीसेणं गब्भघरगाणं बहुमज्झ देसभाए जालघरयं करेह ।।"

देवानुप्रियों ! तीर्थंकर भगवन्त की वाणी में भी कैसी मृदुता है ? काम करनेवाले मनुष्यों को भी वे कैसे प्रिय और मधुर शब्दों से सम्बोधित करते हैं ? भगवान् के इन उद्‌गारों से प्रेरणा मिलती है कि तुम्हें ऐसी सुन्दर जीभ मिली है, अतएव उससे कटुवाणी के कांटे मत चुभोना । किसी को हंसी मजाक या मश्करी मत करना, किसी पर कटाक्ष न करना, अपितु जिन वचनों के बोलने से सुननेवाले को आनन्द आए, उसे भाररूप न लगे, उसके क्लेश शान्त हो जाएँ, ऐसी प्रियकारिणी और मधुरवाणी बोलना । हाँ, तो मल्लीकुमारी कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश-निर्देश देती है - "देवानुप्रियों ! तुम अशोक वाटिका में एक विशाल लम्बा चौड़ा सुरम्य सम्मोहन घर बनाओ और उस सम्मोहन-घर के अधबीच में छह गर्भ-गृह बनाओ । वे ६ गर्भ-गृह भी कैसे बनाने हैं ? उन ६ गर्भ-गृहों के बीचोबीच एक जाल-गृह बनाओ ।" जाल-गृह उसे कहते हैं, जिससे घर के अंदर की वस्तुओं को बाहर के मनुष्य घर की जालियों में से देख सकें । तुम्हारे घर में पवन और प्रकाश आ सके इसके लिए तुमलोग दीवार में जालियाँ और खिड़कियाँ रखाते हो न ? उन जालियों द्वारा बाहर खड़े हुए मनुष्य घर के अंदर रखी हुई चीजों को देख सकते हैं । उसी प्रकार यहाँ भी मल्लीकुमारी ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश-निर्देश दिया कि तुम अनेक खंभोवाला एक सम्मोहन-घर बनाओ । सम्मोहन घर का मतलब है कि जो व्यक्ति उस घर को देखे, वह देखते ही आकर्षित-सम्मोहित हो जाए, उसे उस घर में बैठने-रहने का मन हो जाए । वह घर देखनेवाले के मन को हरण कर ले, दर्शक को वह घर आकर्षक लगे, देखनेवाले की आँखें उस पर थम जाएँ और थके हुए व्यक्ति की थकान उसमें बैठने से उतर जाए, ऐसा सम्मोहन-गृह बनाओ । "उन सम्मोहन-घर के बीच में ६ गर्भ-गृह बनाओ और उन ६ गर्भ-गृहों के बीच में एक जाल-गृह बनाओ, उसमें चारों ओर जालियाँ रखो, ताकि उस जालघर में रही हुई वस्तुएँ ६ गर्भ-गृह में रहे हुए मनुष्य अच्छी तरह देख सकें ।" उस जाल-घर की और भी कैसी रचना करनी और क्या बनाना ? इस विषय में मल्लीकुमारी कौटुम्बिक पुरुषों को अभी और भी क्या हिदायत करेंगी, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

पहले कहा गया था, वह कुतिया मरकर राजकुमारी वनी । यौवन वय में आने पर उस राजकुमारी के विवाह के लिए उसके पिता ने एक विशाल स्वयंवर-मण्डप की रचना करवा दी । विवाह की शहनाइयाँ वज रही हैं, मंगलगीत गाये जा रहे हैं । उस समय राजा उससे कहते हैं - "वेटी ! तू संत के दर्शन कर आ ।" अतः राजकुमारी अनेक सखियों को साथ लेकर गाँव में विराजमान साधु-साध्वियों के दर्शन करने के लिए जा रही है । उस समय पूर्वभव में जो चाण्डाल था, जो मरकर देवलोक में गया था, उसने अपने (अवधि या विभंग) ज्ञान का उपयोग लगाकर देखा कि वह पूर्वभव में कौन था ? यहाँ किस कारण से आया ? यों उसने अपने उपयोग से पूर्वभव के सम्वन्धियों को देखा । यह भी जाना कि जो राजकुमारी बनी है, उसका विवाह होनेवाला है । यह वात जानकर उसके मन में यह विचार स्फुरित हुआ कि मैं इस अवसर पर राजकुमारी को प्रतिवोध दूं । उसे जागृत करूँ ।"

भूप स्वयंवर रचा सुता का, देव वहीं पुनः आय ।
कन्या को समझावे, पर वह, वनी साध्वी जाय हो ।। श्रोता...

यह राजकुमारी मांगलिक श्रवण करने हेतु जा रही थी, जव वह धर्मस्थानक के निकट पहुँची, वहाँ देव मनुष्य के रूप में प्रकट होकर वोले - "हे राजकुमारी ! तू पूर्वभव में कौन थी ? पूर्वभव में तुझे और मुझे जैनमुनि ने धर्म प्राप्त कराया था, इसे तू भूल गई और संसाररूपी वृक्ष के दुर्गतिरूप फल को देनेवाले लग्न (विवाह) के समारोह में तू कहाँ जा रही है ? मैं तुझे प्रतिवोध प्राप्त कराने के लिए आया हूँ । अतः अव भी तू जाग जा और विवाह करना छोड़कर अनन्त सुखकारक आत्मकल्याण करानेवाली भागवती दीक्षा अंगीकार कर ले । पूर्वभव में सात दिन धर्माराधना से तू कुतिया का शरीर छोड़कर इस जन्म में राजकुमारी वनी है । अव इस मनुष्यभव का यह सुअवसर जाने देने जैसा (उपेक्षा करने योग्य) नहीं है । मैं तो (देव होने के कारण) अविरति के वंध से वंधा हुआ हूँ । इस कारण दीक्षा नहीं ले सकता । परन्तु तुम इस अनायास मिले लाभ को चूकना मत ।" इस प्रकार राजकुमारी को प्रतिवोध देकर देव चला गया । राजकुमारी भी साधु-साध्वियों के दर्शन करके मांगलिक (मंगलपाठ) सुनकर अपने घर पहुँची । अपने पूर्वभव की वात सुनकर उसे संसार से विरक्ति हो गई । अतः उसने अपने माता-पिता से कहा - "अव मुझे विवाह नहीं करना है । मुझे संसार की चूंदडी नहीं ओढनी है ।" यह वात सुनकर उसके माता-ता। वोले - "वेटी ! तू यह क्या वात कह रही है ? ये सव राजा तुम्हारे साथ शादी करने के लिए आये हैं, स्वयंवर-मण्डप में वैठे हैं । मैं उनको क्या जवाव दूँ ? तू पुनः

विचार कर।" तब राजकुमारी बोली - "जो होना हो सो हो, मुझे तो भागवती दीक्षा लेनी है।"

राजकुमारी का तीव्र वैराग्य देखर माता-पिता को अनिच्छा से उसे दीक्षा की आज्ञा देनी पड़ी। राजकुमारी ने संसार की पंचरंगी पोशाक और चूड़ा उतारकर महावीर-प्रभु की (दीक्षा की) इकरंगी चादर ओढ़ ली। लग्न (शादी) के मोह के मायरे को उसने मोक्ष का मायरा बना दिया। इस ओर स्वयंवर-मण्डप में राजकुमारी साध्वी दीक्षा ग्रहण करने की बात जानकर स्वयंवर-मण्डप में आये हुए राजाओं में भारी ऊहापोह मच गया। वे कहने लगे - "यह स्वयंवर रचकर हमारी मजाक उड़ाने के लिए हमें आमंत्रित किया है?" इस समय राजकुमारी ने उन सबको प्रतिबोध देकर शान्त किये। आगन्तुक सभी राजा अपने-अपने स्थान पर वापस लौट गए। राजकुमारी साध्वी बनकर अपनी गुरुणीजी की आज्ञा में रहकर निरतिचार रूप से संयम (चारित्र) का पालन करने लगी। वह अपनी संयम-साधना का अधिकांश समय ज्ञान, ध्यान और स्वाध्याय में व्यतीत कर रही है। मैं निरतिचार रूप से विशुद्ध चारित्र पालन करके कैसे शीघ्र भव-भ्रमण से मुक्त बनूं, इस प्रकार की भावना से चारित्र का सुचारु रूप से पालन कर आयुष्य पूर्ण होने पर वह साध्वीजी कालधर्म पाकर प्रथम देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुई। क्योंकि उनने संसार के मण्डप में से निकलकर शुद्ध आत्म-मण्डप (परमात्म-मण्डप) में प्रवेश किया था। परन्तु कुछ कर्म अभी बाकी थे। फलतः वह पहले देवलोक में गई। कुतिया मरकर जो राजा की पुत्री बनी थी, वह दीक्षा लेकर सुन्दर साधु धर्म-साधना करके पहले देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुई। चाण्डाल भी प्रथम देवलोक में देव हुआ है और सागरदत्त सेठ के दो पुत्र - मणिभद्र और पूर्णभद्र भी श्रावक के १२ व्रतों का शुद्ध रूप में पालन करके अन्तिम समय में संथारा करके प्रथम देवलोक में पाँच पल्योपम की स्थितिवाले देव हुए। वे दोनों देव देवलोक के महान् सुखों को आनन्दपूर्वक भोगने लगे। उन सुखों का उपभोग करते हुए पाँच पल्योपम की स्थिति पूर्ण हुई। सुख के दिवस व्यतीत होते देर नहीं लगती। इस प्रकार इन दोनों देवों को ५ पल्योपम काल जल्दी पूरा हो गया।

भारतवर्ष में उत्तम ऋद्धि-सिद्धि से युक्त और विपदाओं से विमुक्त अयोध्या नाम की नगरी में विष्णु के समान पराक्रमी और न्यायनीति-सम्पन्न पद्मनाभ नामक राजा राज्य करते थे। उनके धारिणी नाम की रूपवती और धर्मशीला रानी थी। राजा-रानी दोनों में परस्पर अत्यन्त प्रेम था। दोनों बहुत ही धर्मिष्ठ, नीतिमान् और पवित्र थे। राजा-रानी दोनों सांसारिक सुखों का उपभोग करते थे। वे दोंनो देव प्रथम देवलोक से च्यवकर मथुरा नगरी के पद्मनाभराजा की रानी धारिणी की कुक्षि (गर्भ) में आए।

मधु और कैटभ दोनों का जोड़े से जन्म : धारिणी रानी वात्सल्यपूर्वक गर्भ का पालन करती है। सवा नौ महीने पूर्ण होने पर धारिणी रानी ने सूर्य और चन्द्र के समान दो तेजस्वी पुत्रों को जोड़े से जन्म दिया। राजा के यहाँ बहुत ही धूमधाम से दोनों कुमारों का जन्म-महोत्सव मनाया गया। माता-पिता ने दोनों राजपुत्रों का नाम क्रमशः मधु और कैटभकुमार रखा। दोनों पुत्रों का लालन-पालन बहुत लाडप्यार से होने लगा। उन्हें रमाने-खिलाने के लिए १८ देशों की दासियाँ रखी गई। दोनों क्रमशः बड़े हो रहे हैं। अब आगे क्या होगा, यह बात यथावसर कही जाएगी।

व्याख्यान - ६३

भादवा सुदी १४, मंगलवार — ता. ७-९-७६

वैराग्यदशा कारण है, मोहदशा निवारण का

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अनन्त करुणानिधि शासनपति वीरप्रभु के मुखकमल से निःसृत शाश्वती वाणी का नाम सिद्धान्त है, जिससे आगम या शास्त्र की रचना हुई है। 'ज्ञाताधर्मकथा शास्त्र' में मल्लीकुमारी का वर्णन चल रहा है। मल्लीकुमारी ने अपने ज्ञान द्वारा जान कर पूर्वभव के ६ मित्रों को आस्रव के घर में से संवर के घर में लाने के लिए अपने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश-निर्देश दिया कि "अनेक स्तम्भों से युक्त एक विशाल सम्मोहन-घर में ६ गर्भ-गृह बनाओ। और उन ६ गर्भ-गृहों के मध्यभाग में चारों ओर से *जालियोंवाला एक जाल-गृह ऐसा बनाओ, कि उस जाल-गृह में क्या है,* यह बाहर में रहे हुए मनुष्य देख सकें, तथा जाल-गृह के अन्दर रहे हुए मनुष्य बाहर का दृश्य देख सकें। फिर आगे उन्होंने क्या हिदायत दी ? -

"तस्स णं जालघरयस्स बहुमज्झ देसभाए मणि-पेढियं करेह ते वि तहेव जाव पच्चपिणंति।"

हे देवानुप्रियों ! उस जाल-गृह के ठीक बीच में तुम मणियों से जटित एक पीठिका बनाओ। यह सब तैयार हो जाय, तब तुम इस कार्य के पूर्ण होने की खबर दो।" इस प्रकार मल्लीभगवती का आदेश-निर्देश सुनकर कौटुम्बिक पुरुषों ने विशाल सम्मोहन-गृह और उसके बीच में ६ गर्भ-गृह, तथा उनके ठीक बीच में

एक जाल-गृह बनाया । फिर उसके बीच में एक मणि-जड़ित पीठिका तैयार की । इस प्रकार आदेशानुसार तैयार करके वे मल्लिभगवती के समक्ष आकर कहने लगे - "हे देवानुप्रिय ! आपके आदेशानुसार हमने यथावत् सब तैयार करा दिया है । अब आपकी क्या आज्ञा है ?"

"तए णं मल्ली मणिपेढियाए उवरिं अप्पणो सरिसियं सरिसत्तयं सरिसव्वयं सरिसलावन्न-जोव्वण-गुणोववेयं कणगमइं मत्थयच्छिड्डं पउमुप्पलप्पिहाणं पडिमं करेह ।"

तत्पश्चात् उस मल्लीकुमारी ने उस मणिपीठिका पर शिल्पशास्त्रियों के बुलाकर अपने जैसी, अपने सदृश त्वचावाली, अपने समान वयवाली, अपने शरीर प्रमाण ऊँचाईवाली तथा अपने सरीखे रूप, लावण्य और यौवन आदि गुणों से युक्त एक स्वर्णमयी पुतली (प्रतिमा) बनाने का आदेश दिया । और यह भी कहा कि "उस प्रतिमा के मस्तक पर एक बड़ा छिद्र (सूराख) रखो, जो रक्त-नीलकमल के ढकने से ढका हो ।"

देवानुप्रियों ! मल्लिकुमारी ने जालगृह के ठीक बीच में मणिजटित एक पीठिका
तैयार कराने के बाद बड़े शिल्पकारों को बुलाया और उनसे एक स्वर्णमयी प्रतिमा
बनाने को कहा, जो अपने जैसे ही चमड़ी, अपने जैसे ही रूप, वयवाली तथा शरीर
की ऊँचाई भी अपने जितनी हो, वह ऐसी दिखे मानो हूबहू मल्लीकुमारी ही खड़ी
हो, तथा मस्तक पर एक सूराख हो, जो रक्त-नीलकमल के ढकने से ढका हो । हं
तो मल्लीकुमारी जिसको जो भी, जैसा भी आदेश-निर्देश देती, वे उनके आदेश-निर्दे
को 'तथाऽस्तु' (वैसा ही होगा) कहकर शिरोधार्य करते । उनका पुण्य प्रबल है, उ
मुख से जो भी वचन निकलते, उनके कहे अनुसार सबकुछ यथावत् तैया
जाता । यह मल्लीभगवती तो पुण्यराशि के धनी तीर्थंकर थीं । इस कारण इनकी
ही निराली थी । परन्तु क्या आप और हम कई व्यक्तियों को नहीं देखते-जान
उनकी प्रबल पुण्यवानी होती है, वे अपने घर के आदमियों को, नौकरों को,
को, पड़ोसियों को कोई काम करने का कहते हैं तो, वे तुरन्त प्रेम से उस क
करने हेतु तैयार हो जाते हैं, उनके मुँह से निकले हुए वचन कदापि ठुकराते
कार्य को करने से कभी इन्कार नहीं कर पाते । ऊपर से उनका बताया हुआ क
यों कहते हैं कि मेरा सद्भाग्य है कि आप जैसे बड़े आदमी ने मुझे यह (अ
बताया । इस प्रकार उस पुण्यवान् का कार्य करके उनका महान् उपकार
इसके विपरीत पुण्यहीन मनुष्य किसी को कोई कार्य करने का कहे तो वह
नहीं करता । तब उसके मन में उस (इन्कार करनेवाले) के प्रति द्वेषभाव
ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि "उसके प्रति उस (पुण्यहीन) के द्वारा द्वेष करना
उस वक्त उस मनुष्य को ऐसा विचार करना चाहिए कि उन्होंने महान

किया है, वे मेरी अपेक्षा अधिक गुणवान हैं। इस कारण सभी उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, जबकि अभी मेरे पुण्य में कमी है। वह ऐसा विचार करे तो अशुभ कर्म का क्षय हो सकता है। ऐसा चिन्तन करने से हरिकेशमुनि को जातिस्मरण ज्ञान हो गया था। (इस बारे में पू. महासतीजी ने बहुत सुन्दर विश्लेषण करके समझाया था।)

मृगापुत्र का दृष्टांत : ऐसा दूसरा उदाहरण मृगापुत्र का है। मृगापुत्र अपने महल के झरोखे में खड़े थे। उस समय उन्होंने मार्ग से जाते हुए एक पंच-महाव्रतधारी साधु को देखा। तेजस्वी संत को देखते ही मृगापुत्र की आँखें स्थिर हो गई। संत को देखकर वह ऊहापोह करने लगे - "मैं यह क्या देख रहा हूँ ? यह पवित्र महात्मा कौन होंगे ? आज मैं कुछ नवीन देख रहा हूँ।

मैं दुनिया सारी जोई लीधी, पण जे नथी जोयुं ते आज जोऊँ छुं।

अहो ! मैंने सारी दुनिया के मनुष्यों और पदार्थ देखे हैं, किन्तु अभी तक मैंने जो नहीं देखा उसे आज मैं देख रहा हूँ।" महान् सुख और समृद्धि में रहनेवाला, रमणियों के साथ रागरंग में रमण करनेवाला भोगविलास में पड़ा मृगापुत्र संत को देखकर आकर्षित हुआ। लोहचुम्बक लोहे से निर्मित अन्य पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करता है, किन्तु संत को देखकर मृगापुत्र स्वयं आकर्षित हुआ। तलवार की धार पर चलनेवाले शुद्ध पंच-महाव्रत के पालक संतों में ऐसी शक्ति होती है कि वे चाहे कुछ भी न बोलें, किन्तु उन्हें देखकर दूसरे आकर्षित हो जाते हैं। निर्विकारी संतों को देखकर विकारी आत्माओं के विकार शान्त हो जाते हैं। विकारी अविकारी हो जाता है।

देवानुप्रियों ! किसी में ज्ञान चाहे जितना हो, किन्तु अगर उसका चारित्र निर्मल न हो तो उस चारित्रविहीन ज्ञान की कोई कीमत नहीं है। माना कि चारित्रपालन के लिए ज्ञान की जरूरत है, परन्तु वह ज्ञान आचार-सहित होना चाहिए। मृगापुत्र पंचमहाव्रतधारी संत को देखकर चकित हो गए। अहो ! मैं यह क्या देख रहा हूँ ? ऐसा मालूम होता है, मानों कोई प्रकाश का पुंज चला जा रहा है ! जैसे कोई राकेट आकाशमार्ग से गमन करता है, तब उसके पीछे सफेद लकीर-सी पड़ जाती है। वह लकीर थोड़ी देर में विलय हो जाती है। परन्तु ऐसे चारित्रशील महापुरुषों के शरीर में से जो पवित्र और प्रकाशमान परमाणु निकलते हैं, वे विकारी के विकार को शान्त कर देते हैं, पापियों को पवित्र बना देते हैं, और क्रोधी को शान्त बना देते हैं। महान पुरुषों के परमाणुओं में ऐसी शक्ति है। पंचमहाव्रतधारी संत को देखकर मृगापुत्र के विचार शान्त हो गए, मन में मन्थन चला कि 'मैं यह क्या देख रहा हूँ ? मैंने पहले ऐसा नहीं देखा है।' जैसे दही का मन्थन करने से मक्खन अलग हो जाता है, वैसे ही आत्ममन्थन करते-करते मृगापुत्र का मोह उपशान्त हो गया, उन्हें जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। उस ज्ञान में उन्होंने अपने पूर्वभव (पूर्वजन्म) देखे। उन्हें साक्षात् दिखाई देने

लगा कि नरकगति और तिर्यंचगति में उन्होंने कैसे-कैसे दुःख सहे । यह सब देखकर मृगापुत्र का आत्मा चीख उठा । संसार पर से उनका मन विरक्त हो गया । अपनी माताजी के पास आकर कहने लगे - "माताजी ! मैं आपसे एक याचना करने आया हूँ ।" यह सुनकर माँ बोली - "बेटा ! तू किस बात की मांग करने आया है ? क्या तुझे हीरा, माणिक, मोती आदि चाहिए ?" तब वह बोला - "अब मुझे इन चीजों की जरूरत नहीं है । मुझे तो -

"अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो !" - अम्मा ! मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ, दीक्षा की अनुज्ञा दीजिए । मैं आपके पास जन्म-मरण के चक्र को टालनेवाली आर्हती दीक्षा की आज्ञा मांगने आया हूँ ।" पुत्र की वैराग्यपूर्ण बातें सुनकर मोहदशा में उन्मत्त बनी माता एकदम धरती पर ढल पड़ी । वह जब भान में आई, तब उन्होंने पुत्र को बहुत समझाया कि संयम में कैसे-कैसे कष्ट पड़ेंगे, कैसे-कैसे उपसर्ग और परिषह सहने पड़ेंगे ? परन्तु जिसका वैराग्य सौ टंच सोने जैसा पक्का और सुदृढ़ है, वे ऐसे कष्टों और परिषहों से घबराता-डरता नहीं, न ही कष्टों से विचलित होता है । माता ने संयम की कठिनता बताई, वहाँ-वहाँ मृगापुत्र ने नरकगति और तिर्यंचगति में उनसे भी बढ़कर भयंकर कष्टों के उन-उन भवों में सहने का हूबहू वर्णन प्रस्तुत किया । अन्त में पुत्र का तीव्र वैराग्य देखकर माता को दीक्षा की आज्ञा देनी पड़ी ।

संक्षेप में, हमें इस पर से समझना है कि प्रत्येक मनुष्य संतों के दर्शन करता है, परन्तु मृगापुत्र ने जिस गहराई से, संसार-भ्रमण के अन्त के सन्दर्भ में संत के दर्शन किये, उस दर्शन से उनके मोह के पटल दूर हो गए । संसार से वैराग्य का सूर्य उनके अन्तःकरण में उदित हो गया । वह संत भी कैसे पवित्र और आत्मार्थी थे, और दर्शनार्थी आत्मा भी कैसे हलुकर्मी और एक बार के संत-दर्शन से वैराग्य रंग में रंजित होकर दीक्षित हो गए और स्व-पर-कल्याण किया ।

मल्लीकुमारी की आत्मा भी महापवित्र है । उनके मुख पर अलौकिक तेज जगमगा रहा है । वह ऐसी पुण्यशाली आत्मा है कि उनकी जो-जो इच्छा होती है, माता-पिता उसकी पूर्ति करते हैं । अपने सेवकों को वह जो-जो आदेश-निर्देश करते हैं, वे विनयवान् शिष्य की तरह तथाऽस्तु (तहति) करके शिरोधार्य करते हैं । सच है, विनयवान् मनुष्य वैरी का भी प्रिय हो जाता है । कहा भी है -

विणएण णरो, गंधेण चंदणं सोमयाइ रयणियरो ।
महुररसेनं अमयं, जण पियत्तं लहइ भुवणे ।।

जैसे सुगन्ध के कारण चंदन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा तथा मधुर रस के कारण अमृत जगत् में लोकप्रियता को प्राप्त कर लेता है, वैसे ही विनय गुण के कारण मनुष्य लोक में प्रिय हो जाता है । क्योंकि -

'सकलगुणभूषा च विनयः' विनय समस्त गुणों का आभूषण है, श्रृंगार है। उसमें भी जैनदर्शन में तो विनय को विशेष महत्त्व दिया गया है। (इस सम्बन्ध में पू. महासतीजी ने गुरु-शिष्य का दृष्टान्त देकर सुन्दर ढंग से समझाया था।)

मल्लीकुमारी की आज्ञाओं का सेवक विनयवान् शिष्य की भांति पालन करते हैं। उन्होंने एक विशाल सम्मोहन-गृह बनवाया, जिसमें ६ गर्भगृह, जिसमें एक जल-गृह बनवाया। उस जल-गृह में एक रत्नजड़ित पीठिका बनवाई। तत्पश्चात् चतुर शिल्पिओं को बुलवाकर कहा कि "तुमलोग इस पीठिका पर मेरे समान रूप, मेरे जैसे होठ, नाक, आँख और मेरी चमड़ी का जो वर्ण है, वैसे वर्ण की चमड़ी तथा मेरे जितनी ऊँचाई-नीचाईवाली एक प्रतिमा बनाओ। उसके मस्तक पर एक छिद्र रखना, और उस छिद्र पर सुन्दर नीले और लालकमल का ढकना, इस प्रकार से ढका जाए कि किसी को यह भी मालूम न पड़े कि इस पर ढक्कन रखा है। देखनेवाले को ऐसा प्रतीत हो कि साक्षात् मैं ही खड़ी हूँ। ऐसी मेरी प्रतिमा बनाना।"

तीर्थंकर की पुण्यवानी जबर्दस्त होती है। मल्लीकुमारी पुत्री है। वह इतना बड़ा संमोहन घर बनवा रही है, फिर भी कोई उसे यों नहीं कहता कि तुम ऐसा घर किसलिए बनवा रही हो ? अभी तक दीक्षा नहीं ली है, फिर भी उनका कितना प्रभाव पड़ रहा है ? उन्होंने शिल्पिओं को हूबहू अपनी आकृति और डिलडौल जैसी प्रतिमा बनाने का निर्देश दिया। उस पर वे शिल्पी कहते हैं - "आपने जिस प्रकार का आदेश-निर्देश दिया है तदनुसार वैसी ही प्रतिमा पद्म कमलाकार ढकनेवाली बनायेंगे।" अब शिल्पी मल्लीकुमारी की प्रतिमा बनायेंगे। फिर मल्लीकुमारी क्या कहेंगी, यह भाव यथावसर व्यक्त किया जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार के पूर्वभव का वर्णन चल रहा था। मथुरा नगरी में पद्मनाभराजा की धारिणी रानी ने जोड़ले दो पुत्रों को जन्म दिया। दोनों पुत्र बहुत तेजस्वी हैं। उन में से एक का नाम मधु और दूसरे का नाम कैटभ रखा गया। दोनों पुत्र राजा और रानी को आँख की पुतली की तरह अत्यन्त प्रिय थे। उनका पालन-पोषण बहुत ही लाडप्यार से किया जा रहा है। वे पानी मांगे, तब दूध दिया जाता है। इस प्रकार दोनों पुत्र क्रमशः बड़े हो रहे हैं। दोनों पुत्रों को राजा ने बहुत ही पढ़ाया-लिखाया तथा अस्त्र-शस्त्र-विद्या में पारंगत बनाए। यों करते हुए दोनों पुत्र जवान हुए। इसलिए राजा ने बड़े राजघराने की दो कन्याओं के साथ धामधूम से उनका विवाह किया।

पुण्य का सदुपयोग : मधु और कैटभ दोनों राजपुत्र पढ़-लिखकर समस्त कलाओं में निपुण बने। उन दोनों में विनय और विवेक भी प्रचुरमात्रा में था। इन दोनों पुत्रों को देखकर पद्मनाभराजा के मन में विचार स्फुरित हुआ कि 'अहो ! मैं कैसा पुण्यशाली

हूँ, मेरे दोनों पुत्र कितने प्रवीण और विनयी हैं ? मेरी रानी रूपवती और गुणवती है। मेरे भाई भी मेरे प्रति कितना स्नेह रखते हैं ? मेरे प्रधान (मंत्रीगण) भी और नौकर-चाकर सभी मेरी एक हाक (बड़ी पुकार) को सुनकर खड़े हो जाते हैं और वे मेरे लिए अपने प्राण होमने को तैयार रहते हैं । सब प्रकार से योगदान देते हैं । मुझे अपने पूर्वपुण्य के कारण आर्यदेश, उत्तमकुल, इतना विशाल राज्य, हाथी-घोड़ा, समृद्ध कोष आदि अनेक प्रकार की सुख-सामग्री मिली है । अब मेरे ये दोनों पुत्र बड़े हो गए हैं । इन्हें राज्यभार सौंपकर दीक्षा ले लूं तो मेरा आत्मकल्याण हो जाय ।' ऐसा विचार करके राजा ने शुभ मुहूर्त देखकर बड़े राजकुमार मधु का राज्याभिषेक किया और कैटभ को युवराजपद प्रदान किया ।

बन्धुओं ! पुण्यवान् और हलुकर्मी जीवों को आत्म-साधना का अवसर मिलने पर वे चूकते नहीं । यहाँ बैठे हुए भाइयों में से कितने ही लोगों के पुत्र घर का भार उठा सकने योग्य बन गये होंगे, फिर भी किसी को ऐसा विचार आता है कि अब निवृत्ति लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करूँ ? दीक्षा नहीं ले सको तो कोई बात नहीं, किन्तु संसार (गृहस्थ) में रहकर भी धर्मध्यान करो, व्रत, नियम, तप, संयम का यथाशक्ति आचरण करो । तुम्हारे पुण्योदय से अगर पुत्र अच्छे हों तो संसार की माया छोड़कर आत्म-साधना में लग जाओ । ऐसा सुअवसर चूक जाओगे तो पुनः ऐसा अवसर नहीं मिलेगा । राजा ने परिवार का सारा भार अपने पुत्र को सौंप दिया ।

राजा संयम ले, तपस्या कीनी, सार्या आतम-काज ।
सुख से रही अयोध्या में, मधु भूपति करते राज हो ।। श्रोता...

राजा पुत्रों को राजगद्दी सौंपकर दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए । तब उनकी रानी ने सोचा कि 'मेरे पतिदेव दीक्षा ले रहे हैं, तो मुझे संसार में किसलिए रहना चाहिए ? मैं भी दीक्षा लूंगी ।' अतः राजा और रानी दोनों दीक्षा अंगीकार कर रहे हैं, ऐसे समाचार नगर में सर्वत्र वायुवेग से फैल गए । यह सुनकर भाविक नगरजनों को विचार हुआ कि अपने महाराजा ऐसा विशाल राज्य छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं, तो हमें संसार में क्यों रहना चाहिए ? अतः महाराजा और महारानी का उत्कृष्ट वैराग्य देखकर उनके साथ एक हजार स्त्री-पुरुष दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए । सभी महान आत्माओं ने दीक्षा ग्रहण की । देखिए, नगर के नायक दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए तो उनके पीछे कितने व्यक्ति विरक्त होकर दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गए ? घाटकोपर में भी अगर वजुभाई, सेवंतीभाई, हीराभाई जैसे श्रावक दीक्षा लेने के लिए तैयार हों, तो मैं समझती हूँ कि इनके पीछे भी कितने श्रावक तैयार होने सम्भव हैं ! (हँसाहँस)

पद्मनाभराजा ने दीक्षा ली, इसलिए उनकी राजगद्दी पर मधुराजा आए और कैटभ-कुमार युवराज बने । इन दोनों भाइयों ने ऐसे सुन्दर ढंग से राज्य-संचालन किया कि

प्रजाजन पद्मनाभराजा के वियोग को भूल गए । अगर इन पुत्रों ने ठीक ढंग से राज्य-संचालन नहीं किया होता तो प्रजा बड़े राजा को याद करती । किन्तु यहाँ तो अयोध्या नगरी के प्रजाजन खुलेआम मधुराजा के वखान करते हैं कि 'यह बालराजा हैं, फिर भी बाप की अपेक्षा बेटे सवाये निकले । क्या लाजवाब है, इनकी राज्य करने की कला ?' इन्होंने अपने कला-कौशल से प्रजा का मन हरण कर लिया । इस कारण राज्यभर में इनकी प्रशंसा होने लगी और मधुराजा के गुण की सुवास चारों ओर मघमघायमान होने लगी ।

प्रजा के सुख पर दुःख के अंगारे पड़े : मधुराजा खूब अच्छे ढंग से राज्य कर रहे हैं; और प्रजा भी उनके राज्य में सुख से रह रही है । प्रजाजन कहने लगे - "मधु और कैटभ दोनों भाइयों की जोड़ी इस प्रकार से सुशोभित हो रही है, मानो ये दोनों कृष्ण और बलभद्र हों ।" परन्तु सदा एकसरीखी सुख-शान्ति नहीं रहती । एक दिन मधुराजा सभा-मण्डप में राजसिंहासन पर बैठे थे । इतने में नगरजनों का प्रचण्ड कोलाहल सुनाई दिया । आवाज सुनकर मधुराजा अपने द्वारपाल से पूछते हैं - "अपनी नगरी में इतना कोलाहल किस बात का हो रहा है ? क्या कोई उपद्रव है या फिर कोई उत्सव आदि का प्रसंग है ?" तब द्वारपाल ने कहा - "भीमक नाम का एक महान् बलवान राजा है । वह अपनी सेना के बल से अनेक देश, ग्राम, नगर एवं बड़े-बड़े सार्थवाहों को लूटता है । अनेक स्थानों में लूट मचाता हुआ वह अपनी अयोध्या नगरी तक आ धमका है । नगरी के बाहर भाग में घूमते पशुओं और मनुष्यों को वह हैरान-परेशान करता है । इस कारण नगरजन भयभीत होकर इधर-उधर भागदौड़ कर रहे हैं और कोलाहल कर रहे हैं ।" यह सुनकर मधुराजा ने क्रुद्ध होकर प्रधान से कहा - "आप यह बात जानते हैं, फिर भी आपने मुझे बतलाई क्यों नहीं ?"

मदोन्मत्त हाथी के सामने सिंहशिशु की ललकार : राजा की बात सुनकर प्रधान ने कहा - "साहब ! आपके पिताजी ने दीक्षा ले ली; इसलिए आप राजा बने । परन्तु अभी आपकी उम्र बहुत छोटी है । अभी आप बालक हैं । इस कारण हमें इस समय आपकी रक्षा करनी चाहिए ।" यह सुनकर राजा ने कहा - "भले ही मैं छोटा हूँ; परन्तु मेरा पराक्रम छोटा नहीं है । मैं सिंहनी का बच्चा सिंह हूँ ।" यों कहकर राजा ने [illegible] पर [illegible] पैर पछाड़ा, इससे धरती कांप उठी । "हे प्रधानजी ! क्या आप [illegible] जात बच्चा हो तो भी हाथी के टोले के सामने ज़रा-सी [illegible] भाग [illegible] है । वन में बड़े-बड़े पशु गर्जते हों, उस [illegible] जाते हैं । इसी प्रकार भीमकराजा [illegible] के समान समझ लीजिए । आप [illegible] भारी सेना लेकर जाएँ और [illegible] ।"

मधुराजा ने विशाल सेना-सहित आगे कूच की : मधुराजा का आदेश होते ही मंत्रियों ने हजारों हाथी, लाखों घोड़े, सैकड़ों रथ तथा करोड़ों सैनिकों सहित एक विशाल सैना तैयार की और अयोध्या नगरी में रणभेरियाँ वज उठीं, रणसींगे का नाद होने लगा । इन सबका नाद सुनकर शूरवीर जागे और कायर कांपने लगे । मधुराजा ने शस्त्रसज्ज होकर युद्ध के लिए प्रस्थान किया । उनका सैन्यदल इतना बड़ा था कि आसमान धूल से ढक गया । सारी सेना अयोध्या छोड़कर जंगल में पहुँची । मार्ग में सैनिकों को प्यास लगी । रास्ते में एक तालाब आया । सैनिक दल में आगे चलनेवाले सैनिकों ने पानी पीया । बीच में चलनेवाले सैनिकों ने कीचड़ से मिश्रित जल पीया, और सबके पीछे चलनेवाले सैनिकों को पानी के बदले केवल कीचड़ मिला । ऐसी बड़ी भारी चतुरंगिणी सेना सहित मधुराजा अपने दुश्मन राजाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ बटपुर गाँव की सीमा (भागोल) में पहुँचे । बटपुर के हेमरथराजा को मालूम हुआ कि अयोध्या महाराजा अभी छोटी उम्र का होते हुए भी बहुत पराक्रमी है । वह भीमराजा को जीतने के लिए जा रहे हैं । अतः मैं उनको अपने राज्य में पधारने के लिए आमंत्रित करूँ । विनती करने पर मधुराजा ने कहा - "इस समय मैं नहीं आऊँगा । इस समय तो मैं जिस कार्य के लिए जा रहा हूँ, उस कार्य को करके वापस लौटूंगा तब आपके राज्य में आऊँगा ।" किन्तु हेमरथराजा ने बहुत आग्रह किया, इस कारण मधुराजा को उसके आमंत्रण का स्वीकार करना पड़ा । अब मधुराजा हेमरथराजा के आमंत्रण का स्वीकार करके बटपुर नगर में जाएगा, तब हेमरथराजा उसका कैसे सत्कार करेगा और वहाँ क्या घटना घटित होगी, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - ६४

भादवा सुदी पूनम, बुधवार — ता. ८-९-७६

भव-भ्रमण-निवारणार्थ : भोगी नहीं, त्यागी बनो

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

विश्व की विरल विभूति वीतराग-प्रभु विश्व के जीवों के हित के लिए आगमवाणी का प्रकाशन (प्रकट) करते हुए कहते हैं - "भव्यजीवों ! अनन्तकाल से राग की रंगोली में स्वार्थ के स्वस्तिक पूरकर भव-भ्रमण कर रहे हो । अगर तुम्हें भव-भ्रमण को रोकना हो, तो अब समझदारी के घर में आकर रागी न बनकर त्यागी बनो । भोगी न बनकर

प्रजाजन पद्मनाभराजा के वियोग को भूल गए । अगर इन पुत्रों ने ठीक ढंग से राज्य-संचालन नहीं किया होता तो प्रजा बड़े राजा को याद करती । किन्तु यहाँ तो अयोध्या नगरी के प्रजाजन खुलेआम मधुराजा के बखान करते हैं कि 'यह बालराजा हैं, फिर भी बाप की अपेक्षा बेटे सवाये निकले । क्या लाजवाब है, इनकी राज्य करने की कला ?' इन्होंने अपने कला-कौशल से प्रजा का मन हरण कर लिया । इस कारण राज्यभर में इनकी प्रशंसा होने लगी और मधुराजा के गुण की सुवास चारों ओर मघमघायमान होने लगी ।

प्रजा के सुख पर दुःख के अंगारे पड़े : मधुराजा खूब अच्छे ढंग से राज्य कर रहे हैं; और प्रजा भी उनके राज्य में सुख से रह रही है । प्रजाजन कहने लगे - "मधु और कैटभ दोनों भाइयों की जोड़ी इस प्रकार से सुशोभित हो रही है, मानो ये दोनों कृष्ण और बलभद्र हों ।" परन्तु सदा एकसरीखी सुख-शान्ति नहीं रहती । एक दिन मधुराजा सभा-मण्डप में राजसिंहासन पर बैठे थे । इतने में नगरजनों का प्रचण्ड कोलाहल सुनाई दिया । आवाज सुनकर मधुराजा अपने द्वारपाल से पूछते हैं - "अपनी नगरी में इतना कोलाहल किस बात का हो रहा है ? क्या कोई उपद्रव है या फिर कोई उत्सव आदि का प्रसंग है ?" तब द्वारपाल ने कहा - "भीमक नाम का एक महान बलवान राजा है । वह अपनी सेना के बल से अनेक देश, ग्राम, नगर एवं बड़े-बड़े सार्थवाहों को लूटता है । अनेक स्थानों में लूट मचाता हुआ वह अपनी अयोध्या नगरी तक आ धमका है । नगरी के बाहर भाग में घूमते पशुओं और मनुष्यों को वह हैरान-परेशान करता है । इस कारण नगरजन भयभीत होकर इधर-उधर भागदौड़ कर रहे हैं और कोलाहल कर रहे हैं ।" यह सुनकर मधुराजा ने क्रुद्ध होकर प्रधान से कहा - "आप यह बात जानते हैं, फिर भी आपने मुझे बतलाई क्यों नहीं ?"

मदोन्मत्त हाथी के सामने सिंहशिशु की ललकार : राजा की बात सुनकर प्रधान ने कहा - "साहब ! आपके पिताजी ने दीक्षा ले ली, इसलिए आप राजा बने । परन्तु अभी आपकी उम्र बहुत छोटी है । अभी आप बालक हैं । इस कारण हमें इस समय आपकी रक्षा करनी चाहिए ।" यह सुनकर राजा ने कहा - "भले ही मैं छोटा हूँ; परन्तु मेरा पराक्रम छोटा नहीं है । मैं सिंहनी का बच्चा सिंह हूँ ।" यों कहकर राजा ने सिंहासन पर जोर से पैर पछाड़ा, इससे धरती कांप उठी । "हे प्रधानजी ! क्या आप नहीं जानते कि सिंहनी सद्यःजात बच्चा हो तो भी हाथी के टोले के सामने जरा-सी कठोर नजर करे तो हस्तिदल भाग खड़ा होता है । वन में बड़े-बड़े पशु गर्जते हों, उस समय सिंह की एक जोरदार गर्जना सुनते ही वे भाग जाते हैं । इसी प्रकार भीमकराजा रूपी हाथी के सामने आपलोग मुझे सिंह के बच्चे के समान समझ लीजिए । आप जल्दी से अपनी सेना को सुसज्ज करिए । हम बड़ी भारी सेना लेकर जाएँ और भीमराजा को जीतकर उसके नगर पर कब्जा कर लें ।"

मधुराजा ने विशाल सेना-सहित आगे कूच की : मधुराजा का आदेश
मंत्रियों ने हजारों हाथी, लाखों घोड़े, सैकड़ों रथ तथा करोड़ों सैनिकों सहि
विशाल सेना तैयार की और अयोध्या नगरी में रणभेरियाँ बज उठीं, रणसींगे व
होने लगा। इन सबका नाद सुनकर शूरवीर जागे और कायर कांपने लगे। म
ने शस्त्रसज्ज होकर युद्ध के लिए प्रस्थान किया। उनका सैन्यदल इतना बड़ा
आसमान धूल से ढक गया। सारी सेना अयोध्या छोड़कर जंगल में पहुँची।
सैनिकों को प्यास लगी। रास्ते में एक तालाब आया। सैनिक दल में आगे चल
सैनिकों ने पानी पीया। बीच में चलनेवाले सैनिकों ने कीचड़ से मिश्रित जल
और सबके पीछे चलनेवाले सैनिकों को पानी के बदले केवल कीचड़ मि
ऐसी बड़ी भारी चतुरंगिणी सेना सहित मधुराजा अपने दुश्मन राजाओं पर
प्राप्त करता हुआ वटपुर गाँव की सीमा (भागोल) में पहुँचे। वटपुर के हेमर
को मालूम हुआ कि अयोध्या महाराजा अभी छोटी उम्र का होते हुए भी
पराक्रमी है। वह भीमराजा को जीतने के लिए जा रहे हैं। अतः मैं उनको अपने
में पधारने के लिए आमंत्रित करूँ। विनती करने पर मधुराजा ने कहा - "इस
मैं नहीं आऊँगा। इस समय तो मैं जिस कार्य के लिए जा रहा हूँ, उस कार्य को
वापस लौटूंगा तब आपके राज्य में आऊँगा।" किन्तु हेमरथराजा ने बहुत
किया, इस कारण मधुराजा को उसके आमंत्रण का स्वीकार करना पड़ा
मधुराजा हेमरथराजा के आमंत्रण का स्वीकार करके वटपुर नगर में जाएगा
हेमरथराजा उसका कैसे सत्कार करेगा और वहाँ क्या घटना घटित होगी,
भाव यथावसर कहे जाएँगे।

व्याख्यान - ६४

भादवा सुदी पूनम, बुधवार — ता. ८-९-

भव-भ्रमण-निवारणार्थ : भोगी नहीं, त्यागी बनो

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

विश्व की विरल विभूति वीतराग-प्रभु विश्व के जीवों के हित के लिए आगम
का प्रकाशन (प्रकट) करते हुए कहते हैं - "भव्यजीवों ! अनन्तकाल से राग की
में स्वार्थ के स्वस्तिक पूरकर भव-भ्रमण कर रहे हो। अगर तुम्हें भव-भ्रमण को
हो, तो अब समझदारी के घर में आकर रागी न बनकर त्यागी बनो। भोगी न ब

योगी बनो और स्वभाव में स्थिर हो जाओ । सच्ची समझ के अभाव में अनादिकाल से भवाटवी में भटकते रहे, 'पर' भाव में रमण किया और संसार में फंसे (धंसे) हुए हो । जबतक जीव ने अपने स्वरूप का आनन्द नहीं मनाया, स्वानुभूति नहीं हुई, तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लीकुमारी ने अपने शरीर की जैसी कान्ति है, वैसी तथा अपने समान ऊँचाई-नीचाईवाली स्वर्णमयी प्रतिमा बनवाई । उसे देखनेवाले को वह ऐसी ही लगती थी, मानो हूबहू साक्षात् मल्लीकुमारी ही खड़ी हो । उस प्रतिमा के मस्तक पर कमल के आकार का एक ढक्कन बनवाया । वह भी इस प्रकार का बनवाया कि किसी को पता न लगे कि यह ढक्कन है । ऐसी सुन्दर प्रतिमा तैयार हो जाने के बाद मल्लीकुमारी क्या करती हैं ? -

"करित्ता जं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारेइ, तओ मणुन्नाओ असणं ४ कल्लाकल्लिं एगमेगं पिंडगहाय तीसे कणगमईए, मत्थय छिड्डाए जाव पडिमाए मत्थयंसि पक्खिवमाणी पक्खिवमाणी विहरइ ।"

जब वह सोने की पुतली (प्रतिमा) तैयार हो गई, तब मल्लीकुमारी ने अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य रूप चारों प्रकार का आहार तैयार करवाकर उस आहार में से स्वयं भोजन करती थी, तत्पश्चात् उस मनोज्ञ अशन-पान-खादिम-स्वादिम रूप चतुर्विध आहार के एक कौर को एकमेक पिण्ड करके प्रातःकाल उस स्वर्णमयी प्रतिमा के मस्तक के छिद्र में प्रतिदिन डालती रहती थी । मल्लीकुमारी राजा की पुत्री है । रजवाड़ों में तो प्रतिदिन विविध प्रकार के भांति-भांति के स्वादिष्ट और उत्तम प्रकार के भोजन बनाये जाते थे । मल्लीकुमारी जब भोजन करने बैठती थीं, तब अपने भाणें में से सभी वस्तुएँ इकट्ठी करके उनका एक कौर बनाकर स्वर्ण प्रतिमा के मस्तक पर जो छिद्र था, उसमें डालती थी । उन्होंने यह प्रतिमा अन्दर से पोली बनवाई थी, इसलिए वह (मल्लीकुमारी) जो भी वस्तु उसमें डालती थी, वह अंदर जाती थी । इस प्रकार स्वर्ण प्रतिमा में प्रतिदिन आहार का एक-एक कौर डालने से उसमें से दुर्गन्ध आने लगी, क्योंकि प्रत्येक पुद्गल का स्वभाव सड़ने, गलने और विध्वंसन होने का है । सोने की प्रतिमा तो सुन्दर है, किन्तु उसमें प्रतिदिन जो आहार में पुद्गल पड़ते (डाले जाते) थे, उनके कारण प्रतिमा के मस्तक का ढकना जब भी खोला जाता, तब उसमें से अत्यन्त दुर्गन्ध निकलने लगी । वह दुर्गन्ध कैसी थी ? इसके लिए शास्त्रकार बताते हैं -

"से जहानामए अहिमडेइ वा जाव एत्तो अणिट्ठतराए अमणाम तराए ।।"

अर्थात् - वह दुर्गन्ध मरे हुए या सड़े हुए सांप जैसी थी । यहाँ 'यावत्' शब्द से *'गोमडेइ वा, सुणगमडेइ वा'* वगैरह शब्दों का संग्रह हुआ है । इसका अर्थ इस प्रकार है - मरकर सड़ गए गाय के शरीर जैसी, मरे हुए कुत्ते, बिल्ली, मनुष्य, पाड़े, चूहे, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, सांप और चिता आदि के शरीर की जैसी अनिष्टकारी दुर्गन्ध होती है, वैसी और उससे भी अधिक अनिष्टतर दुर्गन्ध प्रतिमा में से निकलती थी । उस बदबू से मन को एकदम घृणा या अरुचि हो, वैसी सर्वथा प्रतिकूल दुर्गन्ध उस प्रतिमा में से उठती थी, बाहर आती (निकलती) थी ।

देवानुप्रियों ! यह दुर्गन्ध ऐसी भयंकर थी कि नाक के आगे रुमाल आदि लगाए, तो भी दुर्गन्ध आती थी । उस दुर्गन्ध से मनुष्य का मस्तक फट जाए, ऐसी बेचैनी होती थी । विचार करो, अपने शरीर में क्या-क्या भरा हुआ है ? इस शरीर में अनेक अशुचि (अपवित्र) पुद्गल भरे हुए हैं । परन्तु जहाँ तक उसमें चेतनदेव (आत्मा) बैठा हुआ है, वहाँ तक उसमें कोई आपत्ति आनेवाली नहीं है । किन्तु चेतनदेव के अंदर से चले जाने के बाद यदि शरीर का अग्नि संस्कार न किया जाए तो अंदर से भयंकर दुर्गन्ध उठेगी । तुम जानते हो न कि २० वर्ष का जवान इकलौता लड़का मर जाए तो भी उसके मृत कलेवर को कोई घर में रखता है क्या ? नहीं । चेतनदेव के चले जाने के बाद पुत्र चाहे जितना प्यारा हो तो भी उसके शव को जला दिया जाता हैं । अत: विचार करो कि कीमत किसकी है ? हीरे की है या जौहरी की ? यों तो हीरा कीमती है, परन्तु हीरे की परख जौहरी हो तभी होती है । इस अपेक्षा से हीरे की अपेक्षा जौहरी की कीमत अधिक है । इस दृष्टि से हीरे के टुकड़े जैसा यह शरीर है और इसकी कीमत (मूल्यांकन) करानेवाला आत्मा जौहरी है । इसलिए शरीर की अपेक्षा आत्मा की कीमत अधिक है । अतएव ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि "देह कि सुरक्षा करते समय देही (आत्मा) को मत भूलो । अपितु जहाँ तक देह में देही (आत्मा) बैठा हुआ है, वहाँ तक (आत्मकल्याण की) साधना कर लो ।"

मल्लीकुमारी (अपनी) प्रतिमा में प्रतिदिन एक-एक कवल (कौर) आहार डालती है और उसके सड़ जाने से उसमें से भयंकर दुर्गन्ध उठती है । अब इस बात को यहीं स्थगित करके, शास्त्रकार भगवन्त दूसरी बात कहते हैं - मल्लीकुमारी के पूर्व (भव) के ६ मित्र - अचल, धरण आदि जयन्त विमान में से च्यवकर कौन, कहाँ उत्पन्न हुए हैं ? यह बात आगे आ गई है ।

अब यह बताया जा रहा है कि मल्लीकुमारी का सम्बन्ध पूर्व के मित्रों के साथ किस प्रकार होगा ?

"तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसल-णामं जणवए, तत्थ णं सागेए णामं नयरे ।"

जब मल्लीकुमारी संसार (गृहस्थवास) में थीं, उस काल और उस समय की यह बात है। उस समय 'कोशल' नामक जनपद (देश) था। उस कोशलदेश में 'साकेत' नाम का नगर था।

इस साकेत नगर के निवासी मानव बहुत चतुर थे। वे संकेत करने मात्र से समझ जाते थे। उन्हें किसी भी कार्य को करने के लिए बारबार कहना नहीं पड़ता था। ऐसे चतुर और समझदार मनुष्य वहाँ रहते थे। वे एक-दूसरे के साथ परस्पर संगठित और सहयोगी बनकर रहते थे। राजा की आज्ञा के विरुद्ध प्रजाजन कोई भी कार्य नहीं करते थे। इस कारण प्रजाजनों में अलौकिक शान्ति और संगठन (सम्प) था। जहाँ एकता होती है, सम्प होता है, वहाँ आनन्द-मंगल होता है। इस तरह प्रत्येक राष्ट्र, संघ या कुटुम्ब में भी जहाँ एकता और एकरूपता होती है, वहाँ का वातावरण (माहौल) भी अनोखा होता है। *आज तो जहाँ देखो वहाँ एक राज्य (प्रान्त) में भी कितनी भिन्नता* (फूट) है, उसके कारण साम्यवाद, समाजवाद या अधिनायकवाद आदि वाद पनप रहे हैं। प्रत्येक राष्ट्र, संघ, समाज या कुटुम्ब एकता साधकर कार्य करे तो उसमें जरूर सफलता मिलती है। साकेत नगर की प्रजा में परस्पर काफ़ी सम्प और ऐक्य थी। वहाँ की प्रजा में भी बहुत नम्रता थी। जिसमें नम्रता और विनय होता है, उसका नाम अमर हो जाता है।

जयमल महाराज का दृष्टांत : भूदेवमुनि नामक एक जैनमुनि थे। वे बहुत पवित्र और आत्मार्थी संत थे। उनके पास जयमल नामक एक छोटा-सा लड़का वन्दन करके कहने लगा - "गुरुदेव ! मुझे आपके पास दीक्षा लेनी है।" उसका तीव्र वैराग्य देखकर उसके माता-पिता की आज्ञा मिलने से भूदेवजी महाराज ने उसे दीक्षा दी। जयमल दीक्षा लेकर जयमलजी महाराज बने। उन्होंने दीक्षा लेकर ऐसा नियम लिया कि मुझे आजीवन तक एकान्तर उपवास करना। तपस्या के साथ-साथ वे शास्त्राध्ययन, गुरु की सेवा, विनय और भक्ति करने लगे। उनको दीक्षा लिये अभी दो ही वर्ष हुए थे, एक दफा ग्रीष्मऋतु में गुरु-शिष्य विहार करके जंगल के रास्ते से जा रहे थे, उस समय उनके गुरुदेव भूदेवजी* महाराज को बहुत प्यास लगी। प्यास के मारे जी घबराने लगा। इस कारण वे एक वृक्ष के नीचे बैठ गए और शिष्य को पानी लेने के लिए भेजा। बाद में शरीर की परिस्थिति विकट लगने से गुरुजी पद्मासन लगाकर *संथारा करके बैठ गए। इस ओर जयमलजी महाराज अचित्त पानी की गवेषणा करने* लगे। बहुत घूमते-घूमते एक घर में प्रासुक पानी मिला। वे पानी लेकर आए, तबतक गुरुजी का संथारा सीझ गया था। गुरुदेव को निढाल पड़े देखकर उनके दिल में बहुत दुःख हुआ। अहो ! मेरे परम उपकारी गुरुदेव यों चले गए ? मैं उन्हें प्रासुक

* पूज्य जयमलजी महाराज के गुरु का नाम भूदेवमुनि नहीं, भूधरमुनि म.सा. समझें।

पानी लाकर भी न पिला सका । अतः जयमलजी महाराज ने उसी समय से प्रत्याख्यान किया कि आज से मुझे जीवनभर तक पानी नहीं पीना, उसके बदले छाछ की आछ पीना है । तथा जीवनभर आडा आसन से नहीं सोना । ऐसी कठोर प्रतिज्ञा (नियमबद्धता) ली । पू. जयमलजी महाराज ने ५२ वर्ष तक ऐसे उग्र संयम का पालन किया और आत्म-साधना की । सचमुच उन्होंने विनय और भक्ति से गुरु का हृदय जीत लिया था ।

हाँ तो आपके समक्ष साकेतपुर नगर की बात चल रही थी । वहाँ के प्रजाजन भी विनयवान और एकतापरायण थे । अब आगे की बात शास्त्रकार कहते हैं -

"तस्स णं उत्तर-पुरत्थि मे दिसीभाए एत्थणं महंएगे नागघरए होत्था, दिव्वे सच्चे सच्चोवाए संनिहिय-पाडिहेरे ।"

उस साकेत नगर के बाहर उत्तर और पूर्व दिशा कोण (ईशान कोण) में एक महान् (प्रधान) नागगृह (नागदेव की प्रतिमा से युक्त चैत्य) था । वह दिव्य (देवाधिष्ठित) था, सत्य था, अर्थात् - उक्त नागदेव का कथन सत्य सिद्ध होता था । अथवा श्रद्धा भक्तिपूर्वक जो व्यक्ति अपनी भावना या सच्ची मनोकामना प्रकट करता, वह सत्य यानी सफल होती थी । इस कारण वह सत्याभिलाष या सत्योपाय था । उस नागगृह के द्वार पर व्यन्तर देव प्रतिहार के रूप में खड़े रहते थे । इस कारण वह सन्निहित-प्रतिहार्य था ।

उस साकेत नगर पर इक्ष्वाकुवंशीय प्रतिबुद्धि नामक राजा राज्य करते थे । उनकी रानी का नाम पद्मावती था । उनके प्रधान का नाम था - सुबुद्धि । प्रतिबुद्धि राजा हलुकर्मी थे । पूर्वभव में वह बहुत ही आराधना करके अनुत्तर विमान में गए, वहाँ से च्यवकर आए थे । वह बहुत ही प्रतापी और न्याय-नीतिमान राजा थे । उनकी रानी पद्मावती भी बहुत पवित्र एवं पतिव्रता नारी थी । सुबुद्धि प्रधान भी ऐसा ही पवित्र और न्याय-नीति-निपुण था । वह शाम, दाम, दण्ड और भेदनीति में कुशल था । शत्रु को शाम यानी शान्ति से समझाकर वश में करना शामनीति है । इस नीति से वश में न हो तो धन, पद आदि का प्रलोभन देकर वश में करना दामनीति है । इस उपाय से शत्रु वश में न हो तो उसे युद्ध आदि उपाय से लड़कर वश में करना दण्डनीति है और इससे भी वश में न हो तो शत्रु की सेना में सेनानायक एवं सैनिकों में परस्पर विरोध उत्पन्न कर देना भेदनीति है । सुबुद्धि इन चारों प्रकार की राजनीतियों में विचक्षण था । प्रतिबुद्धिराजा भी बहुत ही न्याय-नीतिपूर्वक आनन्द से राज्य-संचालन करते थे । प्रतिबुद्धिराजा ने राज्य-संचालन की कला में कुशलता से प्रजा के हृदय-सिंहासन पर अपना आसन जमा लिया था । पद्मावती रानी के साथ संसार का सुखोपभोग करते हुए आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करते थे ।

किसी समय एक बार पद्मावतीदेवी के यहाँ नागपूजा के महोत्सव का दिन आया । इस नागयज्ञ-महोत्सव की जानकारी होते ही पद्मावतीदेवी प्रतिबुद्धिराजा के पास गई । दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि रखकर उन्हें नमस्कार करके बोली – "स्वामीनाथ ! कल मेरे यहाँ नागयज्ञ (पूजा) महोत्सव होगा । अतएव आपकी अनुमति पाकर मैं नागपूजा-महोत्सव मनाने हेतु नागघर जाना चाहती हूँ । मैं खास तौर से इस सम्बन्ध में आपकी आज्ञा पाने के लिए आई हूँ ।"

पद्मावती प्रतिबुद्धिराजा की मान्य रानी थी, वह राजा को अत्यन्त प्रिय थी । उसकी जो भी इच्छा होती, राजा उसे पूरी करने में जरा भी कोताही नहीं करते थे । पतिव्रता नारी पति को चाहे जितनी प्रिय हो, उसका पति भी उसकी सलाह से कोई कार्य करता हो, तथापि वह पति की आज्ञा के विरुद्ध एक भी कदम नहीं उठाती । अपनी प्रियतमा रानी पद्मावती का विनयभाव और दाक्षिण्य देखकर प्रतिबुद्धिराजा ने प्रसन्न होकर कहा – "महारानी ! तुम्हारी जो भी इच्छा हो उसे पूरी करो । मेरी आज्ञा है, इस कार्य के लिए ।" फिर रानी ने सविनय निवेदन किया – "नाथ ! नागयज्ञ-महोत्सव मनाने का आनन्द मैं अकेली प्राप्त करूँ, इसकी अपेक्षा आप भी अगर साथ में पधारें तो विशेष आनन्द आएगा । अतः नागपूजा-महोत्सव में पधारने के लिए मैं आपको आमंत्रण देती हूँ । आप अवश्यमेव पधारें । आपके पधारने से नागपूजा-उत्सव की शोभा में अभिवृद्धि होगी ।"

पद्मावती रानी का कथन सुनकर प्रतिबुद्धिराजा ने उसकी विनती का सहर्ष स्वीकार किया । इस कारण रानी के दिल में अपूर्व आनन्द हुआ । अपने नागयज्ञ* महोत्सव में स्वयं महाराजा पधारेंगे, फिर तो प्रसन्नता में चार चाँद लग जाएँगे । स्वयं को तो उत्साह हो, किन्तु साथ में पति की ओर से भी प्रोत्साहन मिले तो विशेष उत्साह बढ़ता है । फिर वह सत्कार्य भी सहज ही अच्छा हो जाता है । राजा ने बहुत ही आनन्दपूर्वक रानी को इसके लिए आज्ञा दी । इतना ही नहीं, स्वयं भी नागपूजा-उत्सव में पधारेंगे, इससे रानी को बहुत ही आनन्द हुआ । अब वह नागपूजा-उत्सव मनाने की तैयारी करेगी तथा किस प्रकार उत्सव मनाएगी, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

हेमरथराजा के द्वारा मधुराजा का भावभीना स्वागत : हेमरथराजा के अत्याग्रह से मधुराजा ने उसके आमंत्रण को स्वीकार किया । इस कारण बटपुर-नरेश हेमरथराजा को बहुत ही आनन्द हुआ । उसने तोरण, वस्त्र इत्यादि से नगर को

* मूल सूत्र में 'नाग जन्नए' । सं० है – नागयज्ञक । यज्ञ का अर्थ देवपूजा है – इसलिए ही

भलीभांति श्रृंगारित करवाया। वाद्ययंत्रों की मधुर स्वरावलियों से मधुराजा का भव्य स्वागतपूर्वक नगर-प्रवेश कराया। फिर अपने महल में मधुराजा को ले जाकर सभा-मण्डप में स्वर्णमय सिंहासन पर बिठाया। तत्पश्चात् हेमरथराजा ने मधुराजा के समक्ष अनेकविध नवनवीन वस्तुएँ भेंट की और अन्तर के उल्लासपूर्वक उनका स्वागत किया। उसके बाद उनके भोजन कराने के लिए उत्तम प्रकार की स्वादिष्ट खाद्यपेय वस्तुएँ तैयार करवाई।

तदनन्तर हेमरथराजा ने अपनी रानी इन्दुप्रभा के पास आकर कहा - "महारानी! अपना महान् सौभाग्य है कि ऐसे महान् अयोध्यानरेश अपने यहाँ पधारे हैं। अतः उन्हें भोजन की उत्तम सामग्री लेकर उनकी थाली में परोसने के लिए तुम स्वयं जाना। अपनी भक्ति से महाराजा अपने पर खुश होंगे और उनके साथ अपने गाढ़ सम्बन्ध बँधेंगे।" इस पर रानी ने जवाब दिया - "स्वामिनाथ! आप अत्यन्त सरल और भद्रिक हैं। जिस राजा का हमें पहले कभी परिचय नहीं हुआ, जिसके साथ हमारा किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहा, उसके पीछे इतना पागलपन क्यों? सभी अच्छी चीजें अपरिचित राजा के समक्ष हाजिर नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अन्तर में बैठा हुआ काम-विकाररूपी कालानाग कब फुंकार मारेगा और मानव-मन कब चंचल बन जाएगा, यह कहा नहीं जा सकता। मैं परपुरुष का मुख देखना नहीं चाहती। अतः मैं भोजन परोसने नहीं जाऊँगी। आप इसके लिए दूसरी किसी भी महिला को भेज दें।" इस प्रकार इन्दुप्रभारानी ने कहा, तब राजा ने क्या जवाब दिया?

हेमरथराजा द्वारा भोजन परोसने जाने का अत्याग्रह और कटाक्ष : हेमरथराजा ने कहा - "हे रानी! मधुराजा तो अपने पितातुल्य हैं। यह कदापि कुदृष्टि करें ऐसे नहीं हैं। अतः तुम सुन्दर श्रृंगार से सुसज्जित होकर, एवं अच्छे वस्त्र पहनकर मधुराजा को भोजन परोसने के लिए जाओ।" इस पर इन्दुप्रभा ने कहा - "मैं यों नहीं कहती कि सभी राजा कुदृष्टिवाले और कामुक होते हैं। परन्तु इस राजा को भोजन परोसने जाने के लिए मेरा मन इन्कार कर रहा है। अतः मैं किसी भी मूल्य पर नहीं जाऊँगी।" रानी ने जब स्पष्ट इन्कार कर दिया, तब हेमरथराजा ने उसके प्रति अत्यन्त क्रोधाविष्ट होकर कहा - "हे रानी! तुझे अपने रूप पर बहुत गर्व है कि इस दुनिया में मेरे जैसी कोई रूपवती नहीं है! पर जरा विचार कर, आगन्तुक राजा के अन्तःपुर में तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक सौन्दर्य-सम्पन्न रानियाँ होंगी! इनकी रानियों के आगे तू तो दासी जैसी है। इनकी दासियाँ भी तेरे से अधिक रूपवती होंगी! अतः अपना अभिमान छोड़कर उनको भोजन परोसने के लिए जा।" इन्दुप्रभा ने भी हेमरथराजा को विविध युक्तियों से बहुत समझाया, किन्तु राजा बिलकुल नहीं माने।

कुलीन महिलाएँ एक बार तो अनुचित विचारों और कार्यों का स्पष्ट विरोध और इन्कार करती हैं। अन्त में, उक्त कार्य नापसंद या अनिच्छनीय होने पर भी पति की

आज्ञानुसार निरुपायतावश उक्त कार्य करती है। इस कारण राजा के वचनपालन के लिए वह सोलह श्रृंगार सजकर, अपने अंगोपांगों को अच्छी तरह ढककर इन्दुप्रभा रानी मधुराजा को भोजन परोसने के लिए गई।

इन्दुप्रभा का रूप देखकर मधुराजा के अन्तर में कामवासना जागी : रानी तो अपने अंगोपांगों को अच्छी तरह ढककर नीची नजर करके मधुराजा को परोसने आई। इन्दुप्रभा रानी का मुख देखकर मधुराजा विचार करने लगे - 'अहो ! यह तो कोई उर्वशी, रम्भा, देवी, सावित्री अथवा लक्ष्मी है या पाताल सुन्दरी है ? ऐसी स्वर्ग की देवांगना जैसी सुन्दर नारियाँ क्या इस पृथ्वी पर होती हैं ? इस मनुष्यलोक में जिस के ऐसी सौन्दर्य-सम्पन्न स्त्रियाँ होती है, सचमुच वह मनुष्य धन्य है ! धन्य है, वह पुरुष जो ऐसी कमनीय नारी के साथ सांसारिक सुखोपभोग करता है, इसके अमृतस्रावी वचन सुनता है, उसके कान सफल हैं। जो इसके सौन्दर्य को जी भरकर निहारता है, उसके नयन कृतार्थ हैं। जो इस रमणी के साथ विनोद या वार्तालाप करता है, उसकी जिह्वा सफल है।' इस प्रकार मधुराजा मन ही मन चिन्तन कर रहे थे। तभी इन्दुप्रभा वहाँ से झटपट निकलकर अपने महल में पहुँची। यह रमणी तो रवाना हो गई, इसके साथ-साथ मधुराजा का कामातुर मन भी रवाना हुआ।

कामातुर मधुराजा की विह्वलता : मधुराजा भोजन करके हेमरथराजा की अनुज्ञा लेकर अपने स्थान पर आए और बिछौने पर सो गए। मगर इन्दुप्रभा के विषय में विचारों का बवंडर मस्तिष्क में घूमता रहने से नींद नहीं आई। अब वे किसी के साथ बोलते नहीं, खाते-पीते नहीं, अपनी सेना का भी ध्यान नहीं रखते। इस समय में आकर मंत्री ने कहा - "साहब ! अब हमें यहाँ से प्रयाण कर देना चाहिए। अपनी आज्ञा हो तो मैं सेना को आगे कूच के लिए तैयार करूँ।" परन्तु राजा कुछ भी उत्तर नहीं देते। वह एकदम उदास होकर बैठे हैं। तब मंत्री ने पूछा - "साहब ! आप कितने उत्साह से भीमराजा को जीतने के लिए शूरवीर बनकर निकले थे, किन्तु आज उदासीन बनकर क्यों बैठ गए ? क्या आपके शरीर में कोई दर्द हो रहा है अथवा हेमरथराजा ने आपका अपमान कर दिया है ? अथवा उनने भोजन कराने में आपका सम्मान नहीं रखा ? आप मुझे सही-सही बात बताएँ तो मैं उसका कोई उपाय करूँ।" इतना पूछने पर भी राजा ने कोई जवाब नहीं दिया। तब प्रधान ने कहा - "महाराजा ! अगर आप यों ही करते रहेंगे तो सारी सेना व्याकुल हो जाएगी। अतः जो भी बात हो, आप मुझे साफ-साफ कहिए।" कामातुर मनुष्य को लज्जा या भय या शर्म नहीं होती। मंत्री ने बहुत खोदकर पूछा, तब मधुराजा ने कहा - "मैंने जब से हेमरथराजा की रानी को देखी, तब से मेरा मन उसमें आसक्त है। बस, तब से मेरी आँख के समक्ष उसीका मनोरम्य रूप दिखाई देता है, उसके सिवाय दूसरा

कुछ दिखता या सूझता नहीं । मेरे अन्तःपुर में अनेक रानियाँ हैं, किन्तु इस रानी के जैसी एक भी मेरे नेत्रों को हरनेवाली नहीं है । अतः मुझे यह रानी मिले, तभी मैं जीवित रह सकूँगा।'' यह बात सुनकर मंत्री को बहुत दुःख हुआ । अहो ! इनके माता-पिता कितने पवित्र हैं, जिन्होंने भगवती दीक्षा अंगीकार की है । उनका पुत्र ऐसा कुपात्र निकला ?

मंत्री ने अत्यन्त शान्ति से मधुराजा से कहा - ''जिन मनुष्यों ने परस्त्री के प्रति केवल कुदृष्टि की है, अभी परस्त्री-सेवन किया नहीं, किन्तु वे भी खाक में मिल गये हैं, तो जो परस्त्री-सेवन बहुत आसक्तिपूर्वक करते हैं, उनकी तो कितनी दुर्दशा होती है, यहाँ भी और आगे भी । परस्त्रीगमन सबसे बड़ा पाप है । आप जैसे पवित्र कुल के राजा के लिए यह शोभास्पद नहीं है । इस विषय में आपके कुविचार इहलोक और परलोक दोनों लोकों में हानिकारक हैं । अतः कुविचारों को छोड़कर हम जिस कार्य को करने के लिए निकले हैं, उस कार्य में जुट जाइए । यदि आप ऐसे कुविचारों में संलग्न रहेंगे तो सारी सेना आपको छोड़कर चली जाएगी । मैं भी आपको इस बुरे कार्य में सहायता नहीं दूंगा ।'' मंत्री की बात सुनकर मधुराजाने मन में सोचा - 'यह दुष्ट मंत्री मेरी बात जान गया है । मेरा दुःख दूर न करके उलटा मुझे इस प्रकार कहता है ।' अतः राजा ने अत्यन्त कोपायमान होकर मंत्री से कहा - ''अरे पापी ! तू मेरे से दूर चला जा । मुझे तेरा मुँह भी नहीं देखना है । मैं मर जाऊँगा, परन्तु तेरी सीख नहीं मानूँगा ।'' अब मंत्री अपनी बुद्धि से राजा को किस प्रकार समझायेंगे, और आगे क्या होगा, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - ६५

भादवा वदी २, शुक्रवार | ता. १०-९-७६

सांसारिक रागरंग में धर्म को मत भूलो

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी भगवन्त जगत् के जीवों को बोध देते हुए कहते हैं - "हे भव्य-जीवों ! इस अमूल्य मानवजीवन को पाकर तुमने क्या किया ? यह मानव की जिंदगी पुष्कल सम्पत्ति कमाकर जाने का अपूर्व अवसर है ।"

आपके समक्ष 'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में अंकित मल्लिनाथ भगवान् के अधिकार का वर्णन प्रतिपादित किया जा रहा है । कोशलदेश में प्रतिबुद्धिराजा की पद्मावती रानी को नागपूजा का उत्सव मनाने के लिए जाना है । इस कारण वह अपने पति प्रतिबुद्धिराजा की अनुज्ञा लेने के लिए आई । राजा ने उसे नागपूजा-महोत्सव मनाने की अनुमति दी, साथ ही रानी द्वारा इस उत्सव में पधारने का दिया गया आमंत्रण भी स्वीकार किया । इस कारण पद्मावती रानी को बहुत आनन्द हुआ । सच है, जब मनुष्य किसी आशा लेकर किसी के पास जाता है, और उसकी वह आशा फलीभूत हो जाती है, तब उसे अपूर्व आनन्द होता है ।

"तत्थणं पउमावई पडिबुद्धिणा रण्णा अब्भणुन्नाया हट्ठ-तुट्ठ जाव कोडुंबियपुरिसे सद्दावेई ।"

प्रतिबुद्धिराजा से आज्ञा पाकर रानी पद्मावती देवी बहुत ही हर्षित और सन्तुष्ट हुई । उसके आनन्द का पार न रहा । वह आनन्दित होती हुई अपने महल में आई । फिर उसने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और बुलाकर उन्हें इस प्रकार कहा - "हे देवानुप्रियों ! मेरे यहाँ कल नागपूजा-महोत्सव होगा, अतः तुम मालियों को बुलाओ और बुलाकर तुम उन्हें इस प्रकार कहो कि कल पद्मावती देवी के यहाँ नागपूजा-महोत्सव मनाना है, तो उसके लिए तुम लोग एक काम करो -

"तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! जल-थलय-दसद्धवण्णं मल्लं नागघरयंसि साहरह ।"

हे देवानुप्रियों ! तुम सब जल में और स्थल में उत्पन्न हुए पाँच रंगों के पुष्पों (पुष्पमाल्य) को तथा श्रीदामकाण्ड को नागघर में पहुँचाओ । कमल आदि कुछ पुष्प जल में उत्पन्न होते हैं, और गुलाब, मोगरा, चम्पा, जुही, चमेली आदि अनेक प्रकार के पुष्प स्थल (पृथ्वी) पर उत्पन्न होते हैं । विविध प्रकार के रंगबिरंगे फूल और उनकी सौरभ मानव-मन को आकर्षित करती है । ऐसे पानी में और पृथ्वी पर उत्पन्न हुए पाँच वर्णों के पुष्पों को लाकर नागघर में पहुँचाने की रानी ने आज्ञा दी । फिर उन पुष्पों को नागघर में ले जाकर अर्थात् - जल और स्थल के विकास पाये हुए, खिले हुए सुवासित पाँच वर्ण के पुष्पों से तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों की रचना से सुशोभित पुष्पों का एक मण्डप बनाओ । उसमें हंस, मृग, मोर, क्रौंच, सारस, चक्रवाक, मदनशाल और कोयल, इन सब पशु-पक्षियों के चित्रों से मण्डप को श्रृंगारित-सुसज्जित करो तथा ईहामृग, भेड़िया, बैल, घोड़ा, मगरमच्छ, पक्षी-व्यालक, किन्नर, रुरु, शरभ, हाथी, वनलता इत्यादि पशुओं के सुन्दर चित्रों से भी उस मण्डप को सुशोभित करो । वह पुष्प-मण्डप बहुमूल्य, सुन्दर तथा सौरभ से मघमघायमान तथा महापुरुषों के योग्य विशाल होना चाहिए । एवं उस मण्डप में ताने

हुए चंदोवे के नीचे ठीक मध्य भाग में नाक को अपनी सुवास से नृत्य करानेवाला एक बहुत बड़ा श्रीदामकाण्ड लटकाओ । मण्डप ऐसा सुन्दर और सुरम्य बनाओ कि जिसे देखकर राजा भी खुश हो जाए ।

बन्धुओं ! अनन्तकाल से जीवों को संसार के कार्य और संसार के रंगराग जितने अच्छे लगते हैं, धर्म उतना अच्छा नहीं लगता । ऐसे में यदि हलुकर्मी जीव हो तो आसानी से धर्म को प्राप्त कर लेता है । वह स्वयं धर्म को पाता है और दूसरों को भी धर्म प्राप्त कराता है । मुझे इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त याद आ रहा है -

एक दम्पति का दृष्टांत : एक नगर में अत्यन्त धर्मिष्ठ सेठ और सेठानी (दम्पति) रहते थे । वे बहुत सुखी और धर्मभावना से ओतप्रोत थे । उनके एक पुत्र था । सेठ की एक भावना थी कि मुझसे जो जीव धर्म प्राप्त कर सकें, उन्हें मुझे धर्म प्राप्त कराना । इसके लिए सेठ प्रतिदिन रात को चबूतरे पर बैठकर धर्म की बातें करते थे । इस प्रयत्न के कारण पड़ोस में रहनेवाले एक मुसलमान ने धर्म की बातें सुनते-सुनते धर्म को प्राप्त किया । उसके हृदय में जैनधर्म के सिद्धान्तों का चोटदार प्रभाव पड़ा । इस कारण उसने मुस्लिम धर्म का त्याग किया । फलस्वरूप अहिंसक बन गया । यह जानकर सेठ को बहुत आनन्द हुआ । मुस्लिम धर्म को छोड़कर जैन बनने से उसकी ज्ञाति के लोगों ने उसका बहिष्कार कर दिया और धमकी दी कि तू अगर जैनधर्म का त्याग नहीं करेगा तो तुझे हमारी बेटी नहीं देंगे । फिर भी वह भाई धर्म से जरा भी डिगा नहीं, विचलित न हुआ । उसकी संतान भी इतने ही दृढ़ रहे । कुछ समय बाद सेठ का पुण्य घटा, फलतः लक्ष्मी नहीं रही । धीरे-धीरे आर्थिक दृष्टि से सेठ कमजोर हो गये, शरीर से भी दुर्बल हो गये । परिणामस्वरूप सेठ-सेठानी दोनों कालधर्म को प्राप्त हुए । उनका पुत्र अब निराधार और निर्धन हो गया । आप जानते हैं कि संसार में धनवान् के सभी साथी और सगे होते हैं । यद्यपि सेठ (उसके पिता) बहुत दानवीर थे, लाखों को पालनेवाले थे । दयालु सेठ ने लाखों के आंसू पोंछे थे । मगर आज उनके पुत्र के आंसू पोंछनेवाला कोई नहीं था । पुत्र की सगाई एक धनाढ्य के यहाँ की थी, किन्तु निर्धन होने से उसके भावी ससुरालवाले सब ने उसको लड़की देने से मुँह फेर लिया । उनकी दृष्टि बदल गई । अब बेचारे दरिद्र को कौन लड़की दे, विवाह करे ?

संसार का सुख मानव के साथ नहीं है, मिल्कियत के साथ है । फिर भी तुम्हें यह संसार मीठा-मधुर लग रहा है । समय व्यतीत होने पर सेठ का वह (निर्धन) लड़का जवान हो गया । वह नौकरी करके मुश्किल से पेट भरता था । उसे लोग कहने लगे - "लड़के ! फलाने सेठ की लड़की के साथ तेरी सगाई हो चुकी है । तेरे माता-पिता ने उस लड़की को सगाई के समय बहुत गहने दिये हुए हैं । अतः तू उसके पिता से यह मांग कर कि या तो आप अपनी लड़की का मेरे साथ विवाह करो, या फिर मेरे

पिताजी ने जो गहने दिये हैं, वे मुझे सौंप दें ।" श्रेष्ठि पुत्र ने ससुर के यहाँ जाकर कहा - "मेरी ये दो मांगे हैं - (१) या तो आपकी लड़की का मेरे साथ विवाह करो । (२) फिर मेरे पिताजी ने जो गहने आपकी लड़की को दिये थे, वे मुझे वापिस सौंप दें । इन दोनों मांगों में से एक मांग पूरी कीजिए ।" यह सुनकर सेठ ने बहुत गुस्सा किया और लड़के (जमाई) का अपमान किया । लड़की को जब इस बात का पता लगा तो उसने कहा - "पिताजी ! कन्या का पति एक ही होता है । इस अपेक्षा से मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि मेरे लिए यही (जिसके साथ मेरी सगाई हुई है वही) भगवान् है । मैं इसीके साथ शादी करूँगी ।" लड़की के इस दृढ़ निश्चय के आगे सेठ की एक न चली । इस कारण सेठ ने भावी दामाद से कहा - "तुम दो हजार रुपये दो तो मैं अपनी कन्या का तुम्हारे साथ विवाह कर दूंगा ।" जहाँ एक रुपये की भी बचत होती न हो, वहाँ दो हजार रुपये वह कहाँ से लाता ? यह बात (जैनधर्म प्राप्त) मुसलमान भाई ने जानी तो उसने उस लड़के से कहा - "मैं तुम्हें एक शर्त पर दो हजार रुपये दे सकता हूँ । वह शर्त यह है कि तुम दोनों (पतिपत्नी) जबतक स्वयं कमाकर यह पूरी रकम वापस नहीं दे दो, तबतक दोनों को पूर्ण निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा । मुझे इस रकम का व्याज नहीं चाहिए ।" समझ में आई यह बात आप लोगों को ? उस मुसलमान भाई को ब्रह्मचर्य की कितनी लगन (उत्साह) जगी है ? अन्त में, इस शर्त को उक्त निर्धन श्रेष्ठिपुत्र द्वारा कबूल करने के बाद कन्या के पिता को उसने मुसलमान भाई से प्राप्त दो हजार रुपये दे दिये । दोनों का विवाह हुआ ।

विवाह करके अपने ससुराल के घर आने के बाद लड़की को जब यह सारी हकीकत लोगों से मालूम हुई कि मेरे पति ने ऐसी शर्त कबूल की है तब वह धर्मिष्ठ लड़की बहुत ही खुश हुई । बाद में लड़की के माता-पिता को इस बात का पता लगा तो उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ । दोनों को अपने इस प्रण को छोड़ देने के लिए समझाया, किन्तु दोनों इस प्रण पर अत्यन्त दृढ़ रहे । वे अपने गाँव को छोड़कर दूसरे गाँव चले गए । वहाँ इस लड़की ने पुरुष की पोशाक पहनी । और दोनों वहाँ के रजवाड़े में नौकरी करने गए । धर्म के प्रताप से दोनों को रजवाड़े में नौकरी मिल गई । दोनों शुद्धरूप से ब्रह्मचर्य-पालन कर रहे हैं । दोनों मितव्ययी बनकर अपना जीवन-यापन कर रहे हैं । अपने वेतन में से दोनों बचत कर रहे हैं । एक दिन दोनों रानी के महल की बारी के नीचे बैठकर बात करने लगे । पुरुष (पति) रोते-रोते अपनी पत्नी (उक्त लड़की) से कह रहा है - "तूने मेरे लिए कितना दुःख सहन किया ? कहाँ तो (तेरे पिता का) आलीशान बंगला और कहाँ यह मेरी झोंपड़ी ? कहाँ तेरे (पूर्वजीवन के) सब सुख और कहाँ मेरे घर के दुःख ? फिर भी ऐसे (विकट) समय में तूने मुझे ब्रह्मचर्य-पालन करने में जो सहयोग दिया है, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता ।" यों दोनों (पति-पत्नी) परस्पर सुख-दुःख की बात करते हैं और कहते हैं - "अपने दोनों के वेतन से उक्त

भाई की पूरी रकम वापस देने में १० साल लग जाएँगे, तबतक हम दोनों अखण्ड-ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे ।"

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से सम्मान प्राप्त हुआ : संक्षेप में सारी बात जब रानी ने सुनी तो उन दोनों के प्रति बहुत प्रेम और आदर बढ़ा । अतः उन दोनों को राजा-रानी ने सम्मानपूर्वक बुलाया और सारी हकीकत जानने की कोशिश की । पहले तो उन्होंने कहने से आनाकानी की, किन्तु अन्त में निरुपायता-वश सारी बात बताई । उन दोनों की बात सुनकर राजा-रानी बहुत प्रसन्न हुए । दोनों उनको हीरे का हार देने लगे, किन्तु दोनों ने तो पहले उसे लेने से इन्कार किया । तब राजा ने उनसे कहा - "हम तुम्हें यह भेंट नहीं दे रहे हैं, किन्तु तुम्हारी सेवा से प्रसन्न होकर यह दे रहे हैं । अन्ततोगत्वा, राजा-रानी के अत्याग्रहवश होकर दोनों ने हार स्वीकार किया और मुसलमान-भाई का कर्ज चुका दिया । यह देखकर मुस्लिम-भाई बहुत खुश हुआ । कहने लगा - "धन्य है, तुम दोनों को कि बाहर रहकर भी तुमने शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन किया ।" यों कहकर उन दोनों (श्रेष्ठिपुत्रदम्पति) के चरणों में झुक गया । मुस्लिम-भाई अत्यन्त धर्मिष्ठ बन गया और श्रेष्ठिपुत्र रमेश और उसकी पत्नी रमा दोनों राजा के अतिप्रिय बन गए । उनके ब्रह्मचर्य के प्रभाव से राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए । अब दोनों पति-पत्नी अत्यन्त सुखपूर्वक जीवनयापन करने लगे ।

बन्धुओं ! आपको मालूम होगा कि इस श्रेष्ठिपुत्र के पिता के द्वारा धर्मप्रेरणा पाकर जैनधर्म के आत्महितलक्षी तत्त्वों को स्वीकार कर लिया, इस कारण वह मुस्लिम-भाई अपनी ज्ञाति से पृथक् हो गया, किन्तु धर्म से अलग नहीं हुआ । धर्म के लिए उसने सभी सांसारिक सुख स्वेच्छा से छोड़ दिये, किन्तु धर्म (आत्म-शुद्धिकारक धर्म) को नहीं छोड़ा । शुद्ध धर्म पर वह दृढ़ रहा । बोलो, आपलोग वर्षों से उपाश्रय में आते हैं, सत्संग करते हैं, क्या धर्म पर आपलोगों की है इतनी दृढ़ श्रद्धा ? भाग्योदय से आपको ऐसा उत्तम धर्म मिला है, अतः प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी बनो । रमेश और रमा ये दोनों भी अपने लिए हुए व्रत पर दृढ़ रहे, अपने वचन पर अन्त तक मजबूत रहे । फलतः दोनों को राजा-रानी के प्रेमपात्र पुत्र-पुत्रवधू होने का-सा सुख मिला । दोनों को दृढ़धर्मी जानकर कन्या के पिता को अपने व्यवहार के लिए अपार पश्चात्ताप हुआ ।

महापुरुषों ने ठीक ही कहा है - *"शीलं परं भूषणम्, शीलं दुर्गति-नाशनम् ।"* अर्थात् ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ आभूषण है । ब्रह्मचर्य दुर्गति (अथवा दुःस्थिति) का नाशक है । वह जीव को इहलोक और परलोक में सुखी बनानेवाला है । रमेश और रमा दोनों विचार करने लगे - 'ब्रह्मचर्य का कितना अद्भुत प्रभाव है ? हमने ६ महीने तक शुद्ध अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया, उससे हमारा दुःख नष्ट हो गया, तो अगर हम यावज्जीव पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करें तो कितना महान् लाभ हो जाएगा ?' अतः दोनों पवित्रात्मा अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे । इस

प्रकार दोनों ने शुद्धभावपूर्वक अपना जीवन पवित्र बनाया । निष्कर्ष यह है कि अगर मानव को अपने जीवन में अटूट श्रद्धा हो तो वह अन्य अनेक मनुष्यों को भी धर्म-प्राप्ति करा सकता है और स्व-पर-कल्याण साध सकता है।

पद्मावती रानी को नाग-उत्सव मनाने में आनन्द है। इसी कारण उसने कौटुम्बिक पुरुषों को पाँच वर्ण के उत्तम जाति के सुन्दर पुष्पों से मण्डप बनाने का आदेश दिया है । वे सेवक सारी तैयारी करके रानी को सूचित करेंगे, यह भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

मधुराजा हेमरथराजा की रानी इन्दुप्रभा के रूप-सौन्दर्य पर अत्यन्त मुग्ध होकर उसे प्राप्त करने के विचार में खाना-पीना, सोना आदि सबकुछ भूल गया एवं अत्यन्त उदास होकर बैठा । मंत्री ने बहुत आग्रहपूर्वक पूछा, तब मधुराजा ने निर्लज्ज होकर सारी बात सचसच कह दी । उसे सुनकर प्रधान ने राजा को बहुत समझाया और स्पष्ट कहा कि "मैं भी ऐसे (अनैतिक) कार्य में आपकी सहायता नहीं करूँगा ।" इससे मधुराजा गुस्से से आग बबूला होकर बोले - "तू मेरी नजर के सामने से दूर हट जा । मैं तेरा मुख देखना नहीं चाहता । मैं मर जाऊँगा, मगर इस बात को नहीं छोडूंगा ।"

मंत्री बहुत विचक्षण था । उसने बहुत सोचकर कहा - "महाराजा ! हम अभी तो भीमराजा को जीतने के लिए जा रहे हैं । उसे जीतकर वापस लौटते समय मैं आपको उस रानी को प्राप्त करने में मदद करूँगा । परन्तु इस समय आप खराब विचार लेकर जाएँगे तो युद्ध में पराजय का मुँह देखना पड़ेगा । फलतः जगत् में आपकी अपकीर्ति होगी और शत्रु का पारा अधिक ऊँचा चढ़ जाएगा । अतः इस समय ये दुर्विचार दिमाग में से निकाल कर सेना को प्रोत्साहन दीजिए, ताकि शत्रु को जीता जा सके ।" मंत्री की बात सुनकर मधुराजा ने क्रुद्ध होकर कहा - "तुम मुझे क्यों डरा रहे हो ? भले ही, मेरी समस्त सेना चली जाय, कीर्ति भी जहन्नुम में जाय, मुझे सेना की और धन-सम्पत्ति की कोई परवाह नहीं है । मुझे तो बस इन्दुप्रभा चाहिए । अतः तुम इसके लिए प्रयत्न करो, या वादा करो तो मुझे जीवित रहना है, अन्यथा मर जाना है ।" इस पर प्रधान ने पुनः कहा - "शत्रु पर विजय प्राप्त करके आने के बाद आपकी इच्छा पूरी होगी, पहले नहीं ।" राजा ने कहा - "तो फिर तुम मुझे वचन दो ।" कामातुर मनुष्य को किसी भी तरह से विश्वास देना चाहिए । यों विचार करके मंत्री ने वचन दिया ।

मदोन्मत्त हाथी से कामातुर सिंह का मुकाबला : मधुराजा विशाल सेना लेकर भीमराजा के नगर के निकट पहुँच गए । इस बात की खबर मिलते ही नगर में लूटपाट होने के भय से प्रजा में भगदड़ मच गई । भीमराजा अहंकारावेश में

बोले - "इस जगत् में मुझे जीतने में कौन समर्थ है ? बड़े-बड़े प्रतापी राजा भी मुझ पर आक्रमण करने का साहस नहीं करते । तो यह बेचारा मधुराजा मेरा क्या कर सकता है ? आज तक क्या कभी ऐसा सुना है कि बड़े से बड़ा शक्तिशाली हाथी सिंह पर हमला कर सकता है ? नहीं ।" यों कहकर भीमराजा ने युद्ध की तैयारी की । दोनों ओर से रणभेरी बज उठी । दोनों के बीच खुंखार युद्ध हुआ ।

विजयलक्ष्मी ने पुण्यवान् के गले में वरमाला डाली : अत्यन्त भयंकर युद्ध होने के बाद अपने युद्धकलाकौशल से मधुराजा के सैनिकों ने भीमराजा को जीवित पकड़ लिया । अतः विजयलक्ष्मी ने मधुराजा के गले में विजय की वरमाला पहनाई। विजयपताका फहराकर मधुराजा ने उसके (भीमराजा के) राज्य पर अपने योग्य मनुष्यों को स्थापित करके अपनी राजधानी की ओर प्रस्थान किया । किन्तु उसके चित्त से इन्दुप्रभा विस्मृत नहीं हुई । इस कारण उसने मंत्री को याद दिलाई - "अब तुम अपने वचन का पालन करना ।" मंत्री के मन चिन्ता हुई कि अब क्या करना ? फिर भी राजा की सन्तुष्टि के लिए कहा - "आपने मुझे याद दिलाई, यह अच्छा किया ।"

मधुराजा का अयोध्या में प्रवेश : राजा को मधुर वचन से शान्त करके मंत्री ने सेनापति को इशारे में समझा दिया कि हमें अयोध्या जाने के लिए ऐसा रास्ता लेना है कि बीच में वटपुर न आए । मंत्री के कहने से सेनापति ने रात में सेना को ऐसे रास्ते से कूच कराई कि अल्प समय में मधुराजा सेना सहित अयोध्या के निकट आ पहुँचे । अयोध्या में वायुवेग से ये समाचार पहुँच गए कि दुष्ट भीमराजा को जीतकर अपने राजा यहाँ पधार रहे हैं । इस कारण उनका स्वागत करने के लिए प्रजाजनों ने सारी अयोध्या नगरी सुसज्जित की । लोग हर्षपूर्वक स्वागत करने के लिए आए, किन्तु राजा के मुख पर जरा-सी भी प्रसन्नता नहीं है । उन्होंने मंत्री पर गुस्से होकर कहा - "दुष्ट ! तू मेरा पक्का दुश्मन निकला । तूने मेरे साथ छल करके मुझे धोखा दिया है ।" तब मंत्री ने कहा - "राजन् ! मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता । मैं तो सेनापति के पीछे-पीछे चल रहा था ।" अतः राजा ने सेनापति को जब खूब धमकाया और पूछा, तब उसने कहा - "इसमें मेरा कोई दोष नहीं है । रात में अन्धेरा होने से मुझे रास्ते का कोई ख्याल नहीं रहा । मुझे माफ कीजिए । भविष्य में ऐसा नहीं करूँगा ।"

प्रजाजनों ने बहुत ही आनन्दपूर्वक राजा का नगर में प्रवेश कराया । परन्तु राजा का मन सन्तुष्ट और प्रसन्न नहीं हुआ । महिलाएँ मंगलगीत गा रही थीं, मंगलवाद्य बज रहे थे, प्रजाजन राजा की जयजयकार बोल रहे थे, किन्तु राजा के मन में तो इन्दुप्रभा बसी हुई थी । इस कारण उसे ये सब कैसे अच्छे लगते ? कौआ रात को देख नहीं पाता तथैव उल्लू दिन में देख नहीं पाता, किन्तु कामातुर मनुष्य को तो रात और दिन कुछ भी नहीं दिखता । अब कामातुर बना हुआ मधुराजा इन्दुप्रभा को प्राप्त करने के लिए क्या-क्या हथकंडे करेगा । उसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

• • • • • • • • • •

व्याख्यान - ५५

भादवा वदी ३, शनिवार — ता. ११-९-७६

वीतरागवाणी से मानवजीवन का कायापलट

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्त करुणानिधि शासन सम्राट् वीर-प्रभु के श्रीमुख से निःसृत शाश्वतीवाणी का नाम है - सिद्धान्त, शास्त्र या आगम। अपने महान पुण्योदय से ऐसी शास्त्रीय वाणी सुनने का सुअवसर मिला है। इस वाणी में भगवान् ने सुन्दर भाव भरे हैं। महान् पुरुषों के हृदय की गहराई से निकले हुए और अनुभव किये हुए उद्‌गार (शब्द) हमारे हृदय का परिवर्तन करने में समर्थ हैं। ज्ञानियों के मुखकमल से निकला हुआ प्रत्येक शब्द बहुत ही समझ-बूझपूर्वक होता है। यही कारण है कि उनका एक-एक शब्द मंत्र-सदृश समझा जाता है, क्योंकि उन शब्दों के पीछे गहरा चिन्तन, मन्थन और अनुभव होता है। इस कारण वे शब्द हमारे जीवन का कायापलट कर देते हैं। तुम्हारा धन या सत्ता मानवजीवन का परिवर्तन करा नहीं सकते, जबकि ज्ञानीपुरुषों के वचन पापी से पापी मनुष्य का हृदय-परिवर्तन करने में समर्थ हैं। इसीलिए महापुरुष कहते हैं, तुम अपना जीवन मंगलमय बनाओ।

जिसका जीवन मंगलमय होगा, उसका प्रत्येक कार्य भी मंगलमय होनेवाला है। जीवन को मंगलमय बनाने हेतु मानवभवरूपी सुन्दर अवसर मिला है। याद रखना, यह मानवतन (मानवजन्म) छूट गया तो फिर मामला खत्म, फिर दूसरे जन्म कुछ होनेवाला नहीं। जीवन को मंगलमय बनाने के लिए मानवशरीर मिला है, इसको व्यर्थ ही खो दिया तो फिर अन्यत्र कहीं ऐसा मंगलमय तत्त्व नहीं मिलेगा। मानवभव पाकर जो लोग केवल भोग-विलास में रचे-पचे रहते हैं, उनका जीवन मंगलमय नहीं बनता। जो व्यक्ति इच्छित भोगों को पाने में समर्थ होते हुए भी स्वेच्छा से उनकी ओर से पीठ फेर लेता है, उसका जीवन मंगलमय, शान्त, स्वस्थ, त्याग-तपोलक्षी बन जाता है। अतः मानवजीवन के प्रत्येक पल को पहचान कर उसे सार्थक करो। इसके लिए ज्ञानीजन कहते हैं कि "मानवजीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा को कर्मबन्ध से मुक्त कराने के लक्ष्य से होनी चाहिए, किन्तु केवल भोगवृत्ति से प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।" हिटलर का नाम तो आपलोगों ने सुना होगा न ? हिटलर के पास कितनी शक्ति थी, बुद्धि थी और साधन थे ? परन्तु उसने सबका उपयोग मानवसंहार के

लिए किया, विजय प्राप्त करने के लिए किया । उसकी समस्त शक्ति का नतीजा क्या आया ? 'विनाश ।' उसकी शक्ति और बुद्धि ने मानवजाति का विनाश किया और अपना भी विनाश किया । ऐसे उदाहरण सुनकर तुमलोग इतना ध्यान रखना कि तुम्हारी अपनी शक्ति और बुद्धि तुम्हें विनाश के पथ पर न ले जाए । तुम्हारी शक्ति, बुद्धि और जिंदगी संसार के भोगों के लिए नहीं है, अपितु आत्मा के लिए है । जब तुम्हारा लक्ष्य ऐसा (आत्महितलक्षी) होगा, तब तुम मानवजीवन की कीमत समझ सकोगे । ऐसा समझकर तुम अपनी आँखों पर से जड़वाद (भौतिकता) का चश्मा उतार डालो । इस भौतिक (जड़) वाद ने जीव को पराश्रयी और गुलाम बना डाला है । यह जड़वाद जब तुम्हारे मनमस्तिष्क से दूर हो जाएगा, तब चैतन्य के शुद्ध स्वरूप का भान होगा । जड़वाद के कारण जीव कर्मों के बन्धन से जकड़ गया है । चैतन्य को अपने स्वरूप का भान होते ही जड़वाद के बन्धन क्षणभर में टूट जाएँगे । जब जीव को चैतन्य की शक्ति का भान हो जाएगा, तब धन-वैभव, बंगला, कार (गाड़ी) लाड़ी (रमणी) और वाड़ी (बिल्डिंग) तुम्हें अपनी तरफ आकर्षित नहीं कर सकेंगे । आखिर तो ये धन-वैभव, भोग-विलास, विषय-सुख आदि सब एक दिन तुम्हें दगा देकर अदृश्य हो जानेवाले हैं । अतः तुम इन सब पर भरोसा मत रखो । तुम जितना विश्वास आज भौतिक पदार्थों के प्रति रखते हो, उतना अपने (आत्मा) पर रखो । आत्मा ही वस्तुतः अपना है । जो अपना है, वह कभी दगा नहीं देगा । किन्तु अगर पर-पदार्थों का विश्वास (भरोसा) रखने की भूल करोगे तो अवश्य ही दगे के शिकार बन जाओगे । अन्त में तो स्वेच्छा से या अनिच्छा से इन पर-पदार्थों को छोड़ना पड़ेगा । संसार की भूलभुलैया में पड़ा हुआ मानव यों मानता-समझता है कि यह धन-वैभव, राज्य, महल या अप्सरा जैसी सुन्दरियाँ तथा हाथी, घोड़े, माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बीजन मेरे हैं, साथ ही वह कंचन-सी काया पर इतराता है । अपने वैभव का गर्व करता है और अपने-आप प्राप्त सत्ता में अपनी महानता समझता है, किन्तु ये सब यहीं रह जानेवाले हैं । समस्त प्रिय माने जानेवाले सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों को छोड़कर यह जीव अकेला ही परलोक रवाना हो जाता है । तब इसे कोई भी सहयोग देने या इसके साथ में आनेवाला नहीं है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अपने समक्ष मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार प्रस्तुत किया जा रहा है । उसमें यह वर्णन आया है कि प्रतिबुद्धिराजा की रानी पद्मावती नाग-पूजा-महोत्सव मनाती है । इसके लिए उसने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर नागगृह के आगे क्या-क्या रचना करनी है, इस सम्बन्ध में आदेश दिया । साथ ही यह भी कहा कि - "मेरे कथनानुसार कार्य करके तुम सब मेरी प्रतीक्षा में वहाँ (अमुक जगह) खड़े रहना ।" इस प्रकार पद्मावती देवी (रानी) की आज्ञानुसार कौटुम्बिक पुरुषों ने मालियों को बुलाया,
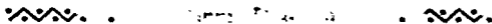
तदनन्तर उन्हें यथायोग्य सुन्दर पुष्प-मण्डप बनाने की आज्ञा दी। यों सभी कार्य व्यवस्थित ढंग से निपटाकर पद्मावतीदेवी की प्रतीक्षा में नियत स्थान पर एकत्र हुए।

"तए णं सा पउमावई देवी कल्लं कोडुंबिय-पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामे व भो देवाणुप्पिया! सागेयं नगरं सब्भितर-बाहिरियं आसित्त-सम्मज्जियोव लित्तं...जाव पच्चप्पिणंति॥"

तदनन्तर पद्मावतीदेवी ने दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय होने पर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार कहा - "हे देवानुप्रियों! तुम लोग शीघ्र ही साकेत नगर के बाहर और भीतर सुवासित पानी छांटो, बुहारी से कचरा बुहारकर एकदम साफ करो, फिर गोबर वगैरह से उसे लीपो, (यावत् उसे सुगन्धित करो, सुगन्ध की गोली जैसा बना दो।) इस प्रकार सुनकर कौटुम्बिक पुरुषों ने उसी प्रकार कार्य किया। फिर उनके पास आकर कहने लगे - "स्वामिनी! आपने जिस कार्य को करने की हमें आज्ञा दी थी, उस कार्य को हमने अच्छी तरह से पूरा कर दिया है।" यों वे उनकी आज्ञा वापिस लौटाते हैं।

देवानुप्रियों! आपको यह विचार होता होगा कि इस महारानी को नाग-महोत्सव मनाने का मन क्यों हुआ? सांसारिक सुख में आनन्द माननेवाले, मौज-मस्तीभरा जीवन बितानेवाले जीवों को ऐसा सब बहुत अच्छा लगता है। यह रानी भी सांसारिक सुखों में आनन्द माननेवाली थी। इसलिए पहन-ओढ़कर सैर-सपाटा करने और आमोद-प्रमोद-क्रीड़ा करने हेतु रानी ने इस उत्सव को मनाने का निश्चय किया था। रानी ने तो अपने शौक के लिए यह सब आयोजन खड़ा किया था। परन्तु इसका परिणाम सुन्दर आनेवाला है। बहुत-सी दफा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एकत्र होने पर आस्रव का कार्य भी संवर का कार्य हो जाता है।

नमिराजर्षि का दृष्टांत : नमिराजर्षि को दाहज्वर की भयंकर पीड़ा उठी। उसके कारण उनके शरीर में घोर जलन होने लगा। उस जलन को शान्त करने के लिए उनकी रानियाँ चन्दन घिसने लगी। चन्दन घिसते समय रानियों के हाथों में पहने हुए कंकण आपस में टकराने से बहुत शोर होता था, जो राजर्षि को असह्य होने लगा। अतः रानियाँ अपने हाथों में एक-एक चूड़ी रखकर चंदन घिसने लगीं। अब शोर बंद होने से राजर्षि ने पूछा - "क्या चन्दन घिसना बंद हो गया?" कहा गया - "अब रानियाँ अपने हाथ में स्व-सौभाग्यचिह्न-स्वरूप एक-एक चूड़ी रखकर घिस रही हैं, ताकि चूडियाँ खनके नहीं, आवाज न हो।" एकबार जो नमिराज अपनी रानियों के हाथों में पहने हुए कंकण की रणकार और पैरों में पहने हुए पायलों की झंकार सुनकर मुग्ध एवं प्रसन्न होते थे, उनमें उन्हें आनन्द आता था। पर आज शरीर में भयंकर रोग पैदा होने से वही सुखदायिनी आवाज उनके लिए दुःखदायिनी बन गई थी। तथा जब

रानियों ने उस असह्य दुःखदायिनी आवाज को बन्द करने लिए अपने हाथों में सौभाग्य-सूचक एक-एक कंकण रखकर शेष कंगन निकाल दिये । आवाज न होने का कारण पूछने पर जवाब मिला कि 'हाथ में एक कंगन रहने से अब खनकने की आवाज नहीं होती ।' यह सुनकर नमिराजर्षि के मन में एकत्व भावना का शुभ चिन्तन चला - 'अहो ! जहाँ एक है, वहाँ कैसी सुखद शान्ति है ? दो या अधिक जहाँ होता है, वहाँ संघर्ष, अशान्ति और बेचैनी होती है ।' यह निमित्त मिलते ही उनके चिन्तन ने नया मोड़ लिया - 'अहो ! सचमुच एक में आनन्द है, शान्ति है ।' इस एकान्त भावना का चिन्तन आगे बढ़ा - *'पत्तेयं जायइ पत्तेयं मरइ'* इस संसार में प्रत्येक प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है ।' *'एगो सया पच्चणुहोइ दुक्खं ।'* अपने द्वारा किये हुए कर्म के फलस्वरूप मिलनेवाला दुःख भी वह अकेला ही भोगता है । *एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ नाऽहमन्नस्स कस्सवि ।* मैं अकेला हूँ, इस जगत् में मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ । *'एगो मे सासओ अप्पा ।'* एकमात्र मेरा आत्मा ही शाश्वत है, शेष सब बाह्य (पर) भाव, या पुद्गल आशाश्वत हैं । इस प्रकार रानियों के कंकण की आवाज का निमित्त मिलने से नमिराजा का उपादान जगा और इन एकत्व भावना सूचक सूत्रों का आश्रय लेकर एकत्व भावना भाने से उन्हें संसार से वैराग्य हो गया । फलतः उन्होंने मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली ।

पद्मावती देवी को नाग-महोत्सव मनाने का अत्यन्त हर्ष है, मानो उनके घर में विवाह-प्रसंग हो ऐसा अपार आनन्द है । हर्षावेश में उन्मत्त-सी बनी हुई पद्मावती रानी ने कौटुम्बिक पुरुषों से कहा - "तुम नगर में सर्वत्र सुगन्धित पदार्थ डाल दो । सुगंधित जल सारे नगर में अन्दर और बाहर सर्वत्र छांट दो । जिससे चारों ओर सुगन्ध ही सुगन्ध फैल जाय । सारे नगर का वातावरण सुगन्धमय बन जाए ।" ऐसी आज्ञा करने के बाद कौटुम्बिक पुरुषों ने तदनुसार कार्य करके रानी से कहा - "हे माता ! आपकी आज्ञानुसार सभी कार्य पूर्ण कर दिया गया है ।"

'तएणं सा पउमावई देवी दोच्चं पिकोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी खिप्पामेव देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्तं जाव जुत्तामेव उवट्ठवेह । तएणं तेवि तहेव उवट्ठावेंति ।'

तत्पश्चात् पद्मावती ने दूसरी बार कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया । बुलाकर इस प्रकार कहा - "देवानुप्रियों ! शीघ्र ही लघुकरण से युक्त (द्रुतगामी अश्ववाले) यावत् रथ को जोड़कर उपस्थित करो ।" तब वे भी रथ जोड़कर उपस्थित करते हैं ।

देवानुप्रियों ! तुम्हें ऐसा लगता होगा कि रानी जिन कौटुम्बिक पुरुषों को आज्ञा देती है, तो क्या कार्य करनेवाले ये लोग रानी के सगे-कौटुम्बिक जन होंगे ? यहाँ कौटुम्बिक पुरुषों से रानी के कोई सगे-सम्बन्धी नहीं समझना है, किन्तु राज्य में

काम करनेवाले मनुष्य जानना । पहले राजा-महाराजा अपने यहाँ काम करते नौकर-चाकरों को भी अपने कुटुम्बीजनों के समान समझते थे । उनके साथ भेदभाव नहीं रखते थे । *'आत्मवत्-सर्वभूतेषु'* इस सिद्धान्त के अनुसार वे जगत् के समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझते थे । रानी की आज्ञा के अनुसार कौटुम्बिक पुरुष रथ तैयार करके लाए । जब रथ तैयार होकर आ गया, तब रानी ने रनिवास (रानियों के आवासस्थान) में जाकर स्नान किया । स्नान करना भी एक शोभा है । गृहस्थाश्रम में रहते कई मनुष्य प्रतिदिन (दो-तीन बार) स्नान करना धर्म नहीं है, ऐसा समझकर वे अनिवार्य संयोग के सिवाय नहीं करते । आज तो प्रतिदिन कपड़े धोये और स्नान करने की प्रवृत्ति बढ़ गई है । ऐसे फैशनपरस्त लोगों को स्नान किये बिना चैन नहीं पड़ता । उन्हें कपड़ा जरा-सा मैला हो जाए तो अच्छा नहीं लगता । *अतः भगवान् कहते हैं कि - "जब तुम्हें मैला शरीर और मैले कपड़े अच्छी नहीं लगते,* तब आत्मा को मैली रखना क्या अच्छा लगता है ?" शरीर और कपड़े मैले होंगे तो कुछ नुकसान नहीं होगा किन्तु आत्मा मैली होगी तो बहुत बड़ा नुकसान होगा । अतः शरीरशुद्धि की अपेक्षा आत्मा की शुद्धि की ओर विशेष लक्ष्य रखो ।

हाँ तो, पद्मावती रानी स्नान करके अच्छे वस्त्राभूषण पहनकर रथ में बैठ गई । तत्पश्चात् वह अपने दास-दासियों वगैरह परिवार के साथ साकेत नगर के ठीक बीचोबीच मध्यमार्ग से गुजरती हुई, नगर के मध्य बाजारों से होकर बड़े भारी जनसमूह के साथ आगे बढ़ रही है । नगरजन महारानी पद्मावती देवी को नाग-महोत्सव मनाने के लिए जाती देखकर आनन्दित होते हैं । रानी भी आनन्दपूर्वक रूमझुम करती जा रही है । नागघर जाते हुए रास्ते में सुन्दर विकसित कमलों से युक्त एक बावड़ी आती है, पद्मावती रानी वहाँ पहुँच गई । अब बावड़ी में पहुँचने पर यह क्या करती है; यह बात यथावसर कही जाएगी ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

कामज्वर से पीड़ित मधुराजा अयोध्या आए । नगरजनों ने उनका भव्य स्वागत किया, किन्तु राजा का मुख जरा भी प्रसन्न नहीं है । भुजबल से दस लाख सुभटों को जीतना सरल है, किन्तु काम को जीतना महाकठिन है । मधुराजा बलवान् भीमराजा पर विजय प्राप्त कर सका, किन्तु कामवासना पर विजय प्राप्त नहीं कर सका । इस कारण उसे कहीं भी चैन नहीं पड़ता ।

मधुराजा को प्रसन्न करने के लिए किये गए उपाय : मधुराजा का मुख उदास देखकर राजा के मुख्य मनुष्य तथा रानीवृन्द सभी विचार में पड़ गए । राजा का मुख प्रसन्न तथा हँसता चेहरा क्यों नहीं है ? इन्हें क्या हो गया है ? राजा को खुश करने के लिए मृगनयनी सुन्दरियाँ गीत गाने लगीं, कोई रमणी सच्चे मोतियों से उन्हें बधाने

लगी । कोई महिला नृत्य करके विविध हावभावों से रिझा रही थी, किन्तु राजा व
चित्त ऐसा उद्विग्न हो गया था कि उन्हें कहीं भी बैठने में, घूमने-फिरने में, एका
में या उद्यान में सर्वत्र बैचेन रहता था । वह राजसिंहासन पर बैठने हेतु सभा में न
जाते और न ही प्रजा का पालन करने में ध्यान देते हैं । उन्हें शयन करने के लिए फूल
की शय्या भी कांटों की तरह चुभती थी । राजा की यह दशा देखकर उसकी रानि
तथा अन्य कोई भी मनुष्य कुछ भी पूछने का साहस नहीं कर सके । प्रधान के म
में यह भय घुस गया कि मैं राजा के पास जाऊँ और वह वही इन्दुप्रभा को मिला
की रट लगाए तो मुझे पाप का भागीदार बनना पड़ेगा । इसी डर के मारे वह रा
के पास नहीं जाता । राजपुरुषों ने प्रधान के पास जाकर शिकायत की कि "राजा सभ
में आकर सिंहासन पर नहीं बैठते, इससे राज्य में अन्धाधुंधी फैलेगी ।"

मंत्री मधुराजा के पास आए : जनता की पुकार सुनकर मंत्री मधुराजा
पास आए, किन्तु यहाँ तो राजा की मनःस्थिति बहुत विचित्र थी । उन्हें प्रसन्न कर
के सभी उपाय निष्फल सिद्ध हुए । अन्त में, प्रधानमंत्री ने राजा के पास आकर पू
- "साहब ! आप सुखी हैं न ?" तब राजा ने कहा - "इन्दुप्रभा मिलेगी, तभी मु
सुख मिलेगा । उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता ।

प्रधानजी ! तुमने मुझे वचन दिया था कि भीमराजा को जीतकर वापिस लौट
समय मैं आपको (मुझे) इन्दुप्रभा से मिला दूंगा । अतः अब तुम अपने वचन का पाल
करो । मुझे तुम्हारी दूसरी कोई बात नहीं सुननी है । अगर तुम मुझे इन्दुप्रभा प्राप्त न
कराओगे तो मैं किसी भी हालत में जी नहीं सकूँगा । अगर तुम्हें मुझे जिंदा रखन
हो तो जल्दी से जल्दी उससे मिलाप करा दो ।" मंत्री राजा की बात सुनकर मन
सोचने लगा - 'कामातुर मनुष्य कितने निर्लज्ज बन जाते हैं ? जिनके माता-पित
कितने पवित्रात्मा थे ? उन्होंने आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली और इस राजा का पालन
पोषण मेरे हाथ से हुआ । मैंने इसकी परवरिश की, वह ऐसा बड़ा राजा होकर ऐस
अनर्गल बातें करता है तो दूसरों की तो बात ही क्या की जाए ? फिर भी अब भ
यह समझे तो मैं इसे समझाऊँ ।' यों सोचकर प्रधान कहता है - "राजन् ! मे
एक बात आप सुनिए ! जगत् में परस्त्रीगमन करनेवाले को महान् दुःख भोगन
पड़ता है । ज्योतिषी ऐसा कहते हैं कि जिस मनुष्य के बारहवाँ चन्द्रमा होता है
वह सुखी नहीं होता, वैसे ही परस्त्रीगमन करनेवाले को बारहवाँ चन्द्रमा रहता है
किसी मनुष्य को कोई रस्से के बन्धन से बांधे तो वह खुल्ला बंधन कहलाता है, किन
परस्त्री का मोह तो बिना बंधन के ही बन्धन जैसा है । परस्त्रीगमन करनेवाला बिन
ही रोग के रोगी बन जाता है । कोई किसी के मुँह पर काजल चुपड़े तो वह काल
दिखाई देता है, किन्तु परस्त्रीगमन करनेवाला जीव तो काजल के बिना ही काला ब
जाता है । किसी के घर में मृत्यु हो गई हो तो वहाँ शोकमय वातावरण छा जाता है

किन्तु परस्त्री के प्रति कुदृष्टि करनेवाला मनुष्य तो विना ही शोक के शोकग्रस्त बन जाता है । किसी मनुष्य के शनि की ग्रहदशा बाधक हो तो वह साढ़े सात वर्ष तक दुःखी होता है, किन्तु परस्त्रीगमन करनेवाला तो जीवनभर दुःखी होता है । जगत् में उसके अपयश का नगाड़ा बज उठता है ।

हे महाराजा ! अब भी आप समझ-बूझकर इस बात को छोड़ दें तो अच्छा है । अभी तक बाजी आपके हाथ में है । आप सरीखे महाराजा ऐसा कुकृत्य करेंगे तो अपनी नगरी में लम्पट पुरुष किसी की बहू-बेटी की लाज लूटेंगे तो आप उन्हें कैसे सजा दे सकेंगे ?" किन्तु प्रधान के द्वारा कही गई सारी हितशिक्षा सुनकर राजा बोला - "मंत्रीजी ! आपकी सभी बातें सच्ची है । मैं कबूल करता हूँ । परन्तु मेरे लिए तो सौ बात की एक ही बात है कि इन्दुप्रभा के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता । इसके सिवाय मुझे आपकी एक भी बात नहीं सुननी है । मुझे इन्दुप्रभा के बिना अपना जीवन शुष्क लगता है । उसके वियोग में मेरा एक दिवस एक वर्ष के समान बीत रहा है ।"

मधुराजा को उसके मंत्री ने बहुत समझाया, किन्तु राजा तो इन्दुप्रभा से मिलाप की बात पर दृढ़ रहा । इस समय वसंतऋतु का आगमन हुआ । राजा के मन में यकायक ऐसा विचार स्फुरित हुआ और उस विचार को मंत्री के समक्ष प्रस्तुत करते हुए राजा ने कहा - "मंत्रीजी ! यह वसन्त ऋतु आ गई है । वनराजी विकसित हुई है । कोयल मधुर स्वर में टुहुक रही है । अतः मेरे मन में ऐसा विचार स्फुरित हुआ है कि हम सभी राजाओं को वसन्तोत्सव मनाने के लिए यहाँ आमंत्रित करें तो मेरी इच्छा पूर्ण हो सकेगी ।" प्रधान को तो यह बात बिलकुल पसंद नहीं थी, किन्तु राजा को जिलाने (जिंदा रखने) के लिए अनिच्छा से भी उस बात में सम्मत होना पड़ा ।

वसन्तोत्सव मनाने के लिए अनेक राजाओं को पत्नी सहित आने का मधुराजा का भावभरा आमंत्रण : राजा के कहने से मंत्री ने अनेक नरेशों को आमंत्रण पत्र लिखा - मधुराजा सभी राजाओं के साथ एक महीने तक वसन्तोत्सव मनायेंगे । अतः आप सभी अपनी-अपनी रानियों के साथ वसन्तोत्सव मनाने हेतु पधारियेगा ।

दूसरे सभी खाण्डिक (खंडनी भरनेवाले) राजाओं को सामान्य आमंत्रण दिया, किन्तु जिसके लिए यह सब धमाचौकड़ी थी, उसके यहाँ मधुराजा ने स्वयं ने पत्र लिखा - हे हेमरथनरेश ! मैं जब बटपुर आया, तब आपने बहुत भक्ति-सहित मेरा स्वागत और सत्कार किया । आपकी भक्ति से मेरा मन प्रसन्न हो गया था । आपके द्वारा की गई भक्ति का नाद अभी तक मेरे अन्तर में गूंज रहा है । आप मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं । सच कहूँ तो आप मेरे जिगरी दोस्त हैं । आपके साथ में मेरा किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है । आप और मैं एक हैं । मेरी समस्त वस्तुएँ आपकी है । मेरी आज्ञा में रहनेवाले सभी राजाओं को अपनी रानियों सहित वसन्तोत्सव मनाने हेतु आने का

आमंत्रण दिया है। परन्तु आप तो मेरे खास स्नेही हैं, इसलिए आपको मैंने स्वयं यह आमंत्रण पत्र लिखा है। अत: आप अपनी रानी को साथ लेकर वसन्तोत्सव की मौज मनाने के लिए अवश्य शीघ्र पधारना। यह पत्र अब मधुराजा हेमरथराजा को भेजेंगे। हेमरथराजा इन्दुप्रभा रानी के समक्ष यह बात कहेंगे। रानी वहाँ जाने के लिए इन्कार करेगी, किन्तु अन्त में राजा के अत्याग्रह के कारण रानी को जाना पड़ेगा। इसका क्या परिणाम आएगा, उसका भाव यथावसर कहा जाएगा।...

व्याख्यान - ६७

भादवा वदी ४, रविवार | ता. १२-९-७६

जो क्षण को जाने, सार्थक करे, वह पण्डित कहलाए

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

वीर-प्रभु की शाश्वत वाणी वासना के बादलों को विखेरकर वैराग्य का भाव उत्पन्न करनेवाली है। बस एक बार हृदय में इसका रणकार होना चाहिए। ज्ञानी भगवन्त कहते हैं - *"खणं जाणाहि पंडिए"* - पण्डित वह होता है जो क्षण को जानता है, पहचानता है। तुमलोग भी क्षण को पहचानते हो, पर कहाँ, किस विषय में ? धन कमाना हो तो जीवन की एक भी क्षण व्यर्थ खो जाए तो जीव को उसका अफसोस होता है। जैसे - कोई अवधूत तुम्हें कहे कि 'मेरे साथ जंगल में चलो, आज मैं तुम्हें रसायन (सोना आदि) बनाने की वनस्पतियाँ बताऊँ।' तुम उस अवधूत के साथ जंगल में गए। उसने तुम्हें सारी वनस्पतियाँ बताकर कहा - "अगर तुम इतनी वनस्पतियों को घसकर, उनका रस किसी बर्तन में एकत्रित करोगे तो इनमें से ऐसा रसायन बनेगा कि उसकी एक बूँद हजारों मन लोहे पर डाली जाएगी, तो उसका सोना बन जाएगा। तो तुम आलस्य और प्रमाद छोड़कर, भूखप्यास सहन करके जंगल-जंगल में भटककर भी उक्त वनस्पतियाँ प्राप्त करके उनका रसायन बनाकर लोहे का सोना बनाओगे या नहीं ? लोहे का सोना बनाने के लिए महाकष्ट करके, रसायन तैयार करके एक शीशी में भर दिया। फिर उस शीशी को क्या तुम इधर-उधर घुमाते फिरोगे ? अरे ! उसकी एक बून्द भी व्यर्थ जाए, यह तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा। तुम्हारे दिल में अफसोस होगा कि ऐसे कीमती रसायन की बून्द धूल में गिर गई। इसी दृष्टि से तुम विचार करो कि इस मानवजीवन का प्रत्येक क्षण विषय-भोगरूपी धूल में मिल जाए

तो अन्तर में आघात लगता है क्या ? एक क्षण ही नहीं, इस जीवन में अभी तक कितने अमूल्य क्षण व्यर्थ गए हैं ? क्या कभी हृदय में इसकी चोट लगी है कि मैंने अपने जीवन के कितने अमूल्य क्षण सांसारिक कार्यों में व्यर्थ ही खो दिये हैं ? ऐसा अफसोस हृदय में होगा तो प्रतिक्षण आत्मा में जागृति आएगी और धर्म का पुरुषार्थ सक्रिय हो उठेगा।

आपके समक्ष मल्लीभगवती का वर्णन चल रहा था। उस अनुसंधान में पद्मावती रानी नाग-महोत्सव मनाने के लिए स्नान करके सुन्दर वस्त्राभूषणों से शरीर को सुसज्जित करके रथ में बैठी और अनेक दास-दासियों के साथ राजमहल से निकलकर नगर के मध्यभाग में से होकर गुजर रही हैं। नागघर जाते हुए मार्ग में अनेक कमलों से युक्त एक सुन्दर बावड़ी आती है, वहाँ पहुँची। अतः वह रथ से उतरी, फिर क्या किया ? सुनिए शास्त्रपाठ -

पुक्खरिणिं ओगाहेइ। ओगाहित्ता जलमज्जणं जाव परम-सुइभूया उल्ले-पडसाऽया जाइं तत्थ उप्पलाइं जावगेण्हइ। गेण्हित्ता जेणेव नागघरएतेणेवपहारेत्थगमणाए।

रथ से नीचे उतर कर वह पुष्करिणी (कमलयुक्त बावड़ी) में उतरी। उतरकर उसके जल में स्नान किया। यावत् परम मित्र होकर उसने भीगे वस्त्रों से ही पुष्करिणी में से कमल चुने। चुनने के बाद पद्मावती रानी ने नागघर की ओर प्रस्थान किया।

पद्मावती रानी अत्यन्त आनन्दपूर्वक हर्षित होकर नाग-महोत्सव मनाने के लिए जा रही हैं। इस महोत्सव को मनाने में किसी प्रकार की धर्मबुद्धि नहीं है। उसमें कोई आत्मकल्याण का उद्देश्य नहीं है। यह तो सिर्फ लौकिक व्यवहार से मौज-शौख और आमोद-प्रमोद के लिए मनाया जाता है। इस लौकिक-उत्सव को मनाने में रानी के मन में जितना आनन्द और उत्साह है, उतना आनन्द, उत्साह और लगन यदि आत्मा के लिए हो तो कर्मों के कगार टूट जाएँ। अगर जीव को वीतरागवाणी पर श्रद्धा हो तो वह सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता। संत-सतियों के उत्कृष्ट भाव से दर्शन करने से भी कर्मबंध टूट जाते हैं। तब फिर उनकी आज्ञा का पालन करके शुद्ध धर्म की आराधना-साधना करने से कितना बड़ा लाभ हो सकता है ? परन्तु जबतक जीव अज्ञानदशा में रहता है, वहाँ तक उसे लौकिक-व्यवहार और त्यौहार में जितना आनन्द आता है, उतना लोकोत्तर-पर्व (त्यौहार) में नहीं आता। जिनवचन श्रवण करने में आनन्द आए और उन पर श्रद्धा करे तो आत्मा एक दिन भगवान् जैसा बनने के लिए भाग्यशाली हो जाता है।

जैसे किसी राजा की दृष्टि जिस पर पड़ जाती है, उसका काम हो जाता है। मैं एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझाती हूँ - एक बार एक राजा के पास एक मनुष्य

आकर फफक-फफक कर रोने लगा। राजा ने उससे पूछा - "तू क्यों रो रहा है ?" तब उसने कहा - "मैं गरीब आदमी हूँ। मैं कंबल बेचने का व्यवसाय करता हूँ। मेरे पास इस समय १५० कंबल हैं, किन्तु मेरे विरोध में प्रतिस्पर्धा होने से मेरे कंबल बिकते नहीं। अब मौसम चली गई है। सारा माल स्टोक में मेरे सिर पर पड़ा है। क्या करूँ ?" उसकी रामकहानी सुनकर राजा को उस पर दया आई। राजा ने उससे कहा - "जा, तेरा काम हो जाएगा।"

दूसरे दिन राजसभा भरी। राजा ने घोषणा कराई - "राज्य के जितने भी पुलिसकर्मी, पटवारी, फौजदार, प्रधान आदि छोटे-बड़े जो भी अधिकारी हैं, तथा जो भी सेठ, साहूकार आदि जो भी सभा में आते हैं, प्रत्येक व्यक्ति को सभा में आने से पहले तह नहीं खोला हुआ एकदम नया गर्म कंबल ओढकर सभा में आना। जो इस आज्ञा का भंग करेगा, उसे दंड मिलेगा।" अधिकारी सोचने लगे, कि सूर्य आग उगल रहा हो, ऐसे धूमताप वाली गर्मी के मौसम में राजा ने एकदम नये गर्म कंबल ओढ़कर सभा में आने का फरमान क्यों निकाला होगा ? राजा से इस विषय में थोड़े ही पूछा जा सकता था ? किन्तु अगर राजा की आज्ञा का पालन न हो तो सजा मिले, और नौकरी से भी छुट्टी मिल जाए। अतः नये गर्म कंबल लाने ही पड़ेंगे।

राज्य के अधिकारी गर्म कंबल खरीदने के लिए बाजार में गए। संयोगवश उक्त गरीब कंबलवाले की दुकान पर सभी जा पहुँचे। यद्यपि प्रत्येक कंबल चालीस रुपयों की कीमत का था, किन्तु वह व्यापारी अधिक मुनाफा कमाने के लिए प्रत्येक कंबल पचास रुपये में बेचने लगा। कंबल के ग्राहक बढ़ने लगे, इसलिए उस व्यापारी के मन में भी लोभ बढ़ा। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है -

"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।"

मनुष्य को ज्यों-ज्यों लाभ मिलता है, त्यों-त्यों उसका लोभ अधिकाधिक बढ़ता जाता है। यही हुआ। उस गरीब कंबल के व्यापारी को लोभ बढ़ा और उसने प्रत्येक कंबल १०० रुपये में बेचने लगा। देखिए, लोभ ने कितनी अनीति कराई ? अन्त में उसके पास कंबल का स्टोक खत्म हो गया, तब वह रोने लगा कि हाय ! पहले मुझे ऐसा पता नहीं था कि कंबल के इतने ग्राहक बढ़ जाएँगे ? अहह ! मनुष्य का मन कैसा चंचल और क्षुब्ध है ! पहले जहाँ कंबल नहीं बिकते थे, तब रोता था, उसके बदले जब कंबल बिकने लगे, मुनाफा अधिक होने लगा, तब मनचाही कमाई होने पर भी रोने लगा।

बन्धुओं ! जीवों की तृष्णा कितनी विचित्र है ? कंबल खत्म हो गए, उसका अफसोस हुआ, परन्तु मेरी इतनी जिंदगी खत्म हो गई, बीत गई, उसका कोई अफसोस नहीं; उसके लिए सावधान नहीं हुआ, कोई आत्म-साधना नहीं की, संत-समागम का

लाभ नहीं लिया, इस बात का कोई अफसोस होता है क्या ? इसके लिए कभी आँख में आंसू आते हैं ? नासमझी में मैंने अपना कीमती समय प्रमाद में गंवा दिया, ऐसे अफसोस से आँख में आंसू नहीं आते । इसका कारण है - सांसारिक सुख का राग । अभी उसका बाह्यभाव (आत्म-बाह्यभाव-परभाव या विभाव) छूटा नहीं है, इस कारण जीव प्रमाददशा में पड़कर संसार में आनन्द मानता है । भगवान् ने तो समयमात्र भी प्रमाद करने का निषेध किया है । चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारक गणधर गौतमस्वामी को भी भगवान् ने एक बार नहीं, किन्तु ३६ बार कहा है -

"समयं गोयम ! मा पमायए !"

हे गौतम ! एक समयमात्र का भी प्रमाद मत करना ।

तो क्या यह सूत्र हमारे जीवन को लागू नहीं होता ? क्या हमें अपने जीवन में इसे नहीं अपनाना है ? हमें तो इसे सर्वप्रथम समझना था, किन्तु हमें समझ में नहीं आता, इसका एक ही कारण है - जीव की अज्ञानदशा ।

नाग-महोत्सव मनाने के लिए पद्मावती देवी ने बावड़ी में स्नान करके उसमें खिले हुए कई सुन्दर कमल चुने । फिर वह नागघर की ओर चलने लगी । उसके पीछे अनेक दास-दासियाँ फूलों के करंडिये तथा धूपदानियाँ हाथों में लिए हुए चलने लगी । इस प्रकार पद्मावती रानी अपनी अनेक सखियों तथा दास-दासियों वगैरह परिजनरूप अपनी समग्र ऋद्धि के साथ जहाँ नागघर था, वहाँ पहुँची । वहाँ पहुँचकर वह नागघर के अन्दर गई । वहाँ जाकर उसने मोरपिच्छी हाथ में ली और उससे उसने नागघर को स्वच्छ किया । नागघर की सफाई करके उसने धूप जलाया, फिर पति प्रतिबुद्धिराजा के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई वहाँ बैठ गई ।

इस ओर प्रतिबुद्धिराजा ने स्नान किया । स्नान करके सुन्दर वस्त्र पहने, फिर मुकुट, बाजूबंद, सातसेरा-नवसेरा हार वगैरह आभूषण धारण किये । इस प्रकार उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर राजा अपने विशिष्ट हाथी पर बैठे । जब राजा हाथी पर बैठे, तब छत्रधारियों ने उन पर कोरंटपुष्पों के गुच्छों से बनाया हुआ तथा मालाओं से सुशोभित छत्र (उनके मस्तक पर) धारण करके रखा । तथैव चामरधारियाँ उन पर उत्तम प्रकार के श्वेत चामर डुलाने लगीं । इस प्रकार प्रतिबुद्धिराजा हाथी, घोड़े, रथ और पैदल मानवसमूह के साथ बड़े ठाटबाठ से साकेत नगर के मध्यमार्ग से होकर जिधर नागघर था, उधर गए । वहाँ पहुँचकर वह हाथी पर से नीचे उतरे । और जब उन्होंने नाग-प्रतिमाएँ देखी, तब उन्होंने नमन किया । नमन करने के पश्चात् वह पद्मावती देवी द्वारा निर्मित पुष्प-मण्डप में आए । वहाँ आकर वह सुन्दर सिंहासन पर बैठे ।

पुष्प-मण्डप की सुन्दर सुरुचिपूर्ण रचना अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों के चित्रों आदि से की हुई थी । उसे देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए । उसके बाद उन्होंने मण्डप

के बीच में लटकाया हुआ मनोहारी एवं उत्तम प्रकार के सौरभ से महकता हुआ एक श्रीदामकाण्ड देखा। उसे देखकर राजा आश्चर्यचकित हो गए - 'अहो ! यह मैं क्या देखता हूँ।' राजा ने सूक्ष्म दृष्टि से बहुत देर श्रीदामकाण्ड का निरीक्षण किया। अर्थात् - उसके सामने टकटकी लगाकर देखते रहे। राजा को इस श्रीदामकाण्ड को देखकर सहर्ष विस्मय हुआ। इसलिए उन्होंने अपने सुबुद्धि नामक मंत्री से इस प्रकार कहा -

"तुमंणं देवाणुप्पिया ! मम दोच्चेणं बहुणि गामागरजाव संमिवेसाइं आहिंडसि, बहुणि राइसर जाव गिहाइं अणुपविससि, तं अत्थिणं तुमे कहिंचि एरिसए सिरिदामगंडेदिट्ठपुव्वे, जारिसएणं इमं पउमावईएदेवीए सिरिदामगंडे ?"

हे देवानुप्रिये ! तुम मेरे दौत्यकार्य से - दूत होकर बहुत-से ग्रामों, नगरों, आकरों, यावत् सन्निवेशों आदि में घूमते रहे हो, और बहुत-से राजाओं, ईश्वरों (तथा तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाहों) आदि के निवासस्थानों (घरों आदि) में प्रवेश (आवागमन) करते हो, अर्थात् - मैं अपने राज्य के काम से तुम्हें भेजता हूँ, तब तुम मेरी आज्ञा से सभी जगह जाते-आते हो, तो क्या तुमने ऐसा (यानी पद्मावती देवी द्वारा बनवाया हुआ है, वैसा) सुन्दर श्रीदामकाण्ड पहले कहीं (किसी जगह) देखा है ?"

मन को आकर्षक, नासिका को आनन्ददायी सुगन्ध से मघमघायमान श्रीदामकाण्ड देखकर राजा को ऐसा आनन्द उत्पन्न हुआ कि (वह रानी की प्रशंसा करने लगे-) "वाह ! कितनी प्रखर बुद्धि है रानी की ? सचमुख कैसी इसकी कला है ? ऐसा श्रीदामकाण्ड तो मैंने अभी तक कभी देखा नहीं।" इस प्रकार (अमात्य से) पूछने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि राजा को रानी के प्रति कितना गौरव है ? रानी ने इतने उमंग से श्रीदामकाण्ड बनाया हो, और (इसे लेकर) राजा को रानी के प्रति इतना सम्मान हो, उस समय सत्य बात प्रस्तुत करना आसान बात नहीं है। आज अधिकांश लोग खुशामदखोर (चापलूस) होते हैं। वे सच्ची बात न हो तो भी कह देते हैं - बहुत अच्छा है। जो हमारे मुँह पर मीठा बोलते हैं, किन्तु पीठ पीछे वक्र बोलते हैं। भगवान् कहते हैं - "पीठ पीछे वक्र बोलने की अपेक्षा मुँह पर जैसा हो, वैसा कह देना चाहिए। कहा है - *"पिट्ठिमंसं न खाएज्जा'*- पीठ पीछे वक्र बोलना पीठ का मांस खाने के समान है। अतः पीठ पीछे किसी की निन्दा करना, या चुगली खाना (वक्र बोलना) नहीं चाहिए।

प्रतिबुद्धिराजा का सुबुद्धि प्रधान खुशामदखोर (चापलूस) नहीं था, अपितु यथार्थ सत्य कहनेवाला था। इसलिए वह राजा को क्या जवाब देगा ? इसका भाव यथावसर कहा जाएगा। अब जरा चालू चरित्र पर दृष्टिपात कर लें।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

मधुराजा ने हेमरथराजा को वसंतोत्सव मनाने के आने का खास आमंत्रण भेजा था, और फिर इसके लिए पत्र भी लिखा । सरलहृदय का हेमरथराजा इन्दुप्रभा से कहता है - "मधुराजा का अपने प्रति कितना प्रेम है ? अब हम जल्दी ही वसंतोत्सव में शामिल होने के लिए चलें ।" इस पर इन्दुप्रभा ने कहा - "स्वामीनाथ ! गहराई से सोचने की आपकी बुद्धि नष्ट हो गई लगती है । क्या पता है, मधुराजा यह सब किसलिए करता है ? हम छोटे राजा हैं, और वह हैं बड़े राजा ! फिर भी वह इतना अधिक आग्रह कर रहे हैं, तो इसमें मुझे तो दाल में काला प्रतीत होता है ! बड़े आदमी, छोटे आदमियों का इतना अधिक आदर नहीं किया करते, किन्तु यह इतना आग्रह/आदर किसलिए करते हैं ? बड़े राजा छोटे राजा के रक्षण के लिए होते हैं । वाड़ खेत की रक्षा करती है, किन्तु वाड़ ही खेत में पैदा हुई ककड़ी को खा जाए तो वह किस काम की ? मुझे वहाँ नहीं जाना है । अगर आप मुझे वहाँ (जबरन) ले जाएँगे तो आप बहुत बड़ी मुश्किल में पड़ जाएँगे ।"

रानी कहे - महाराज ! खेल यह, मुझ पर खास रचाया ।
मत ले जाओ साथ नाथ !, मैं सोच कहूँ पतिराया हो ।। श्रोता...

रानी ने कहा - "स्वामीनाथ ! मैं आपको बहुत विचार करके कह रही हूँ कि आप मुझे साथ में ले जाने की बात छोड़ दें । मधुराजा ने यह सब खेल मेरे लिए रचा है । मुझे ऐसा वसंतोत्सव मनाना अच्छा नहीं लगता । मुझे पराये रजवाड़े में जाना पसंद नहीं है । मुझे अपने महल के सिवाय अन्यत्र कहीं जाना उचित नहीं लगता । आप अपनी दूसरी रानियों को ले जाइए । मुझे आपके साथ नहीं आना है । मैं आपको खुल्ले शब्दों में कह देती हूँ कि मेरा अन्तरात्मा (इसके लिए) अंदर से रो उठा है । अतः मुझे वहाँ (साथ में) आने के लिए एक शब्द भी मत कहिए ।" यह सुनकर हेमरथराजा ने कहा - "इन्दुप्रभा ! सभी राजा अपनी-अपनी रानी सहित आएँ और तू न आए, यह कितना खराब लगेगा ? फिर हमें तो उन्होंने दूसरे राजाओं के अपेक्षा अत्यधिक आग्रह-पूर्वक आदरसहित बुलाया है, इसलिए तुझे मेरे साथ आना ही पड़ेगा । मधुराजा तो हम सबके पितातुल्य हैं, पवित्र हैं ! फिर तू उनके लिए ऐसे शब्द क्यों बोलती है ? तू कुँए के मेंढक जैसी है । तुझे अपने रूप का बहुत गर्व है । अतः विचार कर । तेरे जैसी तो उनके अन्तःपुर में अनेक रानियाँ हैं । यह तो अपने पर उनकी कृपादृष्टि है, इस कारण आग्रहपूर्वक अपने को आमंत्रित किया है । अतः तू अब एक शब्द भी बोले बिना तैयार हो जा ।"

रानी बोली - "नाथ ! इस समय आपको मेरी बात अच्छी नहीं लगती, किन्तु बाद में आपको पछताना पड़ेगा, यह आप निश्चित् समझ लेना ।" धोबी का एक वचन

सुनकर रामचन्द्रजी ने गर्भवती सीताजी को वन में भेज दी । फिर बाद में उनको कितना पछतावा हुआ ? इसी तरह अभी आप मेरी बात नहीं मान रहे हैं, किन्तु बाद में आपको भरपेट पछताना पड़ेगा । अतः इतने से आप समझ जाएँ तो अच्छा है ।" किन्तु हेमरथराजा बिलकुल माने नहीं । इस कारण इन्दुप्रभा को बरबस तैयार होना पड़ा । दोनों ने जब वहाँ जाने के लिए प्रस्थान किया, तब अपशुकन भी हुए। तो भी हेमरथराजा इसकी परवाह किये बिना रानी सहित अयोध्या नगरी पहुँच गए ।

हेमरथ और इन्दुप्रभा के आगमन के समाचार सुनकर मधुराजा को बहुत खुशी हुई । उन्होंने सामने जाकर उनका स्वागत किया तथा उनके रहने के मकान के बगल में उनके रहने के लिए महल दे दिया । दूसरे राजाओं का भी यथायोग्य सत्कार करके उन्हें भी अलग-अलग जगह ठहराया तथा वसन्तक्रीड़ा का आनन्द लेने के लिए क्रीड़ा करने के वन को सुशोभित और सुसज्जित करने हेतु वनपालकों को आदेश दे दिया । उस वन में जो बावड़ी, सरोवर आदि जो जलाशय थे, उनमें सुगन्धित द्रव्य डालकर उनका पानी सुगन्धित बनवाया । यों अनेक प्रकार से वन को सुसज्जित कराया । सभी आगन्तुक राजा अपनी-अपनी रानियों को साथ लेकर मधुराजा के साथ वन में वसन्तक्रीड़ा के लिए गये ।

इन्दुप्रभा को पाने के लिए मधुराजा ने बिछाया कपटजाल : एक महीने तक सभी राजा मधुराजा सहित वसन्तक्रीड़ा का आनन्द लूटा । सबको आनन्द आया, परन्तु इन्दुप्रभा के मन में जरा भी आनन्द नहीं था । जब एक महीना पूरा हो गया, तब मधुराजा ने आगन्तुक राजाओं को बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देकर उनका योग्य सत्कार किया और उन्हें विदा किया । हेमरथराजा का सत्कार करके मधुराजा ने कहा - "आप हमारे मित्र हैं । आपके आने से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है । आप मेरी एक बात सुनिए ! मैंने सभी आगन्तुक राजाओं को आभूषण दिये हैं, किन्तु आपकी रानी इन्दुप्रभा के लिए तो मैंने उन सबकी अपेक्षा मूल्यवान आभूषण तैयार करने के लिए स्वर्णकार को आदेश दिया है । आभूषण अभी तक तैयार नहीं हुए । अतः आप तो खुशी से बटपुर पधारिए, क्योंकि राजा के बिना राज्य देखभाल से रहित कहलाता है । आपको अपने राज्य छोड़े एक महीना हो गया है । पता नहीं, कब कोई शत्रुराजा अकस्मात् चढ़ाई कर बैठे, अतः आप वहाँ अब शीघ्र ही पहुँचकर शत्रु आदि से राज की रक्षा करें, यही उचित है । आभूषण तैयार हो जाएँगे कि मैं स्वयं इन्दुप्रभा का आभूषणादि से सत्कार करके उसे आपके पास सुरक्षित भेज दूंगा । आप बिलकुल चिन्ता न करें ।"

इन्दुप्रभा द्वारा किया गया प्रतीकार : सरल हृदय का हेमरथराजा मधुराजा के द्वारा बिछाये गए कपटजाल को समझ नहीं सका । उसे तो यही लगा कि मधुराजा का मेरे प्रति कितना प्रेम है, अतः उसने स्वीकृतिसूचक उत्तर दिया - "बहुत

अच्छा ! मैं उसे (इन्दुप्रभा को) यहीं छोड़कर जाऊँगा ।" यों कहकर हेमरथराजा इन्दुप्रभा के पास आया और बोला - "मधुराजा ने तेरे लिए बहुमूल्य आभूषण घड़ाने के लिए सुनार को आदेश दिया है । वे आभूषण अभी तक तैयार नहीं हुए । आभूषण तैयार हो जाने पर महाराजा स्वयं वे आभूषण उपहाररूप में देंगे । फिर कंचुकी के साथ तुझे बटपुर भेज देंगे । तब तू आ जाना । मैं बटपुर जा रहा हूँ ।" यह सुनकर इन्दुप्रभा ने कहा - "नाथ ! मुझे इनके आभूषण नहीं चाहिए । मुझे यहाँ नहीं रहना है । मैं तो आपके साथ ही आ रही हूँ ।" इस पर हेमरथराजा ने कहा - "इन्दुप्रभा ! तू इतनी अधिक चिन्ता क्यों कर रही है ? मधुराजा अपने यहाँ आए थे, तब हमने उनका बहुत अच्छा स्वागत किया था, इस कारण वे तेरा उससे भी अधिक सवाया स्वागत करना चाहते हैं । इसमें कुछ भी डरने की आवश्यकता नहीं है ।" इस पर रानी ने कहा - "स्वामीनाथ! आप बहुत भोले हैं । आप समझते नहीं हैं कि यह स्वागत है या स्वार्थ है ? आप मुझे यहाँ छोड़कर जाएँगे, पीछे यह महाराजा (मधुराजा) मुझे हैरान करेगा ।" इतना कहने पर भी हेमरथराजा नहीं माने । जैसे-तैसे इन्दुप्रभा को समझा-बुझाकर उसे वहीं छोड़कर स्वयं अकेले बटपुर चले गए । कर्म की गति विचित्र है । अब कर्मराजा कैसा नाच नचायेंगे, यह बात यथावसर कही जाएगी ।

आज अपने यहाँ बा.ब्र. भावनाबाई महासतीजी के २६वाँ उपवास है और जिसकी उम्र सिर्फ १५ वर्ष की है, उस बहन चेतना के ३२ उपवास का पारणा है । धन्य है तपस्वियों को ! ॐ शान्तिः ।

व्याख्यान - ६८

भादवा वदी ५, सोमवार — ता. १३-९-७६

विभाव से कर्मो का आवरण, स्वभाव रमण से कर्ममुक्ति का आचरण

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी भगवन्त सिद्धान्त में फरमाते हैं कि-"अनादिकाल से अपनी आत्मा कर्मबन्धनों से जकड़कर चतुर्गतिक रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है । कहा है - *'कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं,'* अर्थात् कर्म ही जन्म-मरण का मूल है । ये कर्म अनादिकाल से आत्मा को हैरान कर रहे हैं ।" ये कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ थे और वर्तमानकाल में भी हैं । इसी कारण अभी जीव की मुक्ति नहीं होती । कोई यहाँ शंका कर सकता है कि आत्मा तो शुद्ध स्वरूप और निर्मल है,

तब फिर आत्मा के साथ कर्म लगे किस कारण ? ज्ञानी भगवन्त जीव को समझाते हैं कि-'जीव विभावदशा से कर्मों को बांधता और स्वभावदशा में स्थिर होता है, तब कर्मों को तोड़ता है ।'

तुम सोने की खान देखने के लिए जाते हो, तब उसमें से निकली हुई चमकती धूल देखकर तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि 'यह सोना है, किन्तु यह धूल अच्छी है, घर में बर्तन मांजने में काम आएगी, लाओ, थोड़ी-सी ले लें ।' परन्तु वह खान का अधिकारी कहेगा कि 'भाई ! यह धूल नहीं है, अपितु सोना है । किन्तु इस समय वह धूल की हालत में है ।' अब उसे कोई पूछे कि 'यह सोना धूल के साथ कब मिला ? कितने हजार वर्षों पहले मिला ? किसने इसे मिलाया ?' तो इसका क्या जवाब मिलेगा ? यही कि सोना अनादिकाल से धूल के साथ मिला हुआ था । उसके समय की मर्यादा नहीं बताई जा सकती । जिस प्रकार सोना धूल के साथ मिला हुआ है, उसी प्रकार आत्मा कर्मों के साथ मिला हुआ है ।

बहुत-से लोग यों पूछते हैं कि आत्मा की उत्पत्ति कब हुई ? आत्मा और कर्म की फिलोसोफी की जानकारी अज्ञानी को कहाँ से होती ? विज्ञान का एक सिद्धान्त है कि जिसका जन्म होता है, उसका मरण अवश्य होता है । हम तो यह मानते हैं कि आत्मा अमर है, तब फिर आत्मा की जन्म या मरण कहाँ से हो सकता है ? आत्मा को किसी ने उत्पन्न नहीं किया । अगर आत्मा की उत्पत्ति को स्वीकार करोगे तो उसका अन्त भी समझ लेना होगा । जिसका सर्जन होता है, उसका विसर्जन तो अवश्य ही होनेवाला है, किन्तु पर्याय बदलता है ।

बन्धुओं ! आत्मा के साथ कर्म का मिश्रण होने से मनुष्य की वृत्तियों में परिवर्तन होता है । कर्म जीव को विविध प्रकार का नाच नचाता है । प्रत्येक कर्म का फल पृथक् - पृथक् रूप से जीव को भोगना पड़ता है । ये कर्म ही हैं, जो जीव को विविध भवों में भटकाते हैं । बन्धुओं ! तुम समझ गए न ? किसी के यहाँ अच्छा कुटुम्ब परिवार देखकर तुम्हें ऐसा लगता है कि इसके पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि कैसे सद्‌गुणी हैं ? सभी परिवार के मुखिया का कहना मानते हैं । सब इसका कितना सम्मान करते हैं ? किन्तु मेरे घर में कोई ऐसा सम्मान क्यों नहीं करते ? ऐसा क्यों है ? इस पर विचार करना । यह सब कर्म की करामात है । इस जगत् में कोई राजा है तो कोई रंक है, कोई निर्धन है तो कोई धनवान् है, कोई रोगी है तो कोई नीरोगी है, यह सब कर्म के उदय के कारण है । जीव जब कर्म की जंजीर में जकड़ जाता है, तब फिर उसे कर्म के इशारे के अनुसार चलना पड़ता है । उदाहरणार्थ - मान लो, तुम ट्रेन में बैठ गए, फिर अधबीच में तुम्हारे मन में ऐसा विचार उठे कि मुझे स्टेशन आने से पहले इस ट्रेन से उतर जाना है, तो तुम नहीं उतर सकते । दूसरे स्टेशन तक तो तुम्हें जाना ही पड़ेगा । ऐसा ही दूसरा उदाहरण लो । मान लो, तुम प्लेन में बैठे । प्लेन

आकाश में ऊपर उड़ने लगा । फिर तुम्हारे मन में विचार उठे कि मुझे अब प्लेन अच्छा नहीं लगता, मुझे उतर जाना है । तो वहाँ तुम्हारी बात नहीं चलेगी । समझ आया न ? प्लेन तुमने पसंद किया । टिकट के दाम खर्चे । किन्तु उसमें बैठने के पश्च उसके आधीन बनकर रहना पड़ेगा । जब उस (प्लेन) का स्टेशन आएगा, तभी तुम प्ले से उतर सकोगे ।

बन्धुओं ! यहाँ यह बात समझ लेनी है कि अपना आत्मा भी कर्मरूपी वाहन आधीन हो गया है, अर्थात् वह कर्मरूपी वाहन में बैठ गया है । इस कारण उसे क के अनुसार उड्डयन करना पड़ता है । तुम कहोगे कि मुझे कर्म के चलाए अनुस नहीं चलना है, तो यह वहाँ नहीं चलेगा । तुम्हें कर्मराजा के कहे अनुसार चल पड़ेगा । आठ प्रकार के कर्मों की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न है और उनकी परिणतियाँ भिन्न-भिन्न हैं । उन परिणतियों के अनुसार जीव की जीवन-नैया चलती है । यह क सिद्धान्त अगर ठीक-ठीक समझ में आ जाय तो आत्मा को किसने बनाया ? आत पहले कैसा था ? कब हुआ ? इत्यादि प्रश्न फिर तुम्हारे दिमाग में नहीं उठेंगे और आत के अस्तित्व का अनुभव हो जाएगा । सारा जगत् (जगत् के जीव) कर्म के प्रभावानुस काम करता है । आत्मा ज्यों-ज्यों कर्म के भार से भारी बनता है, त्यों-त्यों संसार अधिक परिभ्रमण करता है । इसके विपरीत ज्यों-ज्यों कर्मों का क्षय करता है त्यों-त्यों वह हलका होता जाता है ।

मनुष्यभव कर्मों के बन्धन से मुक्त होने का स्थान है । अगर मनुष्य प्रबल सम्यक पुरुषार्थ के लिए कमर कस के शीघ्र मोक्ष जाता है और मंद पुरुषार्थ करे तो दीर्घकाल के पश्चात् मोक्ष पाता है । जैसे किसी व्यक्ति को नारियल की रस्सी जलानी है, अग वह उसे एक सिरे से जलाता है, तो धीमे-धीमे जलेगी और अगर उसे गोल-गोल इकट्ठ करके लच्छा बनाकर आग में डालता है तो वह जल्दी ही जल जाएगी । किसी के सि पर लाख रुपये का कर्ज हो और वह प्रति मास १०० रु. जमा कराता जाए तो उ ऋणमुक्त होने में अधिक समय लगेगा, किन्तु वह अधिकाधिक रुपया भरता जा तो शीघ्र ही कर्ज चुकाना हो जाता है । तुम्हारे सिर पर अनन्तकाल से कर्म का कर्ज चढ़ा हुआ है । उसका भरपाई करने के लिए प्रतिदिन कम से कम एक सामायिक करो कभी उपवास, कभी आयंबिल, कभी एकाशन कर लो, तो क्या उतने त्याग, तप मा से कर्म के कर्ज से (सर्वथा) मुक्त हुआ जा सकता है ? नहीं । किन्तु जब किसी जीव को तीव्र लगन (तड़फन) लगे कि मुझे कर्म की कैद से शीघ्र छूटना है, तो उसे प्रबल पुरुषार्थ करने का मन होगा । देवानुप्रियों ! महान पुण्योदय से मनुष्यभव मिल है । पिछले लगभग प्रत्येक भव में जीव कंगाल था । यहाँ उसे सभी समृद्धि मिल है । कंगाल मनुष्य को धन मिले तो उसको कितना आनन्द होता है ? उसी प्रकार तुम्हे इस मनुष्यभव के प्राप्त होने का आनन्द होना चाहिए ।

एक गरीब आदिवासी मनुष्य जिस रास्ते से जा रहा था, उसे रास्ते के बीच में पड़ा हुआ एक रुपये का नोट मिला। जिसे बहुत मुश्किल से एक पैसा मिलता हो, उसे एक रुपये का नोट मिलना, सौ रुपये के नोट मिलने के बराबर है। जिसके यहाँ लाखों रुपये हैं, उसके लिए एक रुपये का कोई हिसाब नहीं होता। किन्तु जिसके पास कुछ न हो, उसके मन में तो आनन्द ही होता है न ? वह गरीब मनुष्य एक रुपये का नोट लेकर आगे चला तो वहाँ एक जगह लौट्री की टिकटें बिक रही थीं। उसके मन में हुआ कि लौट्री का टिकट खरीदूँ। उसने लौट्री का एक टिकट खरीदा। उसके पुण्य ने जोर मारा। लौट्री लग गई। उसे एक लाख रुपयों का इनाम मिला। उस रकम से उसने धंधा किया और एक दिन तो वह सुखी, सम्पन्न बड़ा करोड़पति सेठ बन गया।

देवानुप्रियों ! उसकी लौट्री लग गई और वह करोड़पति सेठ बन गया। किन्तु वह मनुष्य करोड़पति में से कब रोडपति बन जाएगा, इसकी उसे खबर नहीं है। किन्तु- इस महान पुण्य के उदय से अनन्त भवों में भ्रमण करते-करते उसकी लौट्री लग गई और उसे मनुष्यभव मिला। उसमें तो कदापि वह रोडपति नहीं बनेगा, ऐसा यह अवसर है। अतः यहाँ ऐसी साधना कर लो, ताकि तुम चाहो तो पंचम आरे में भी एक-भवावतारी भी हो सकोगे। किन्तु उसके लिए जीव को पुरुषार्थ करना पड़ेगा।

एक मकान में दो भाई रहते थे। एक दिन रात को मकान में अचानक आग लगी। छोटा भाई तो एकदम जाग गया। उसने बड़े भाई को जगाया। दोनों भाई घर से बाहर निकल गए। बड़े भाई ने तुरंत ओफिस में फोन किया कि तुरंत दमकल (आग बुझाने) वाले आ गए। दोनों भाइयों ने आग बुझाने के लिए पुरुषार्थ किया और सावधान हो गए, इसलिए बच गए। इस प्रकार तुम भी सोचो कि यह शरीररूपी घर जल रहा है। चारों ओर वासना और लालसारूपी धुँए के गोले ऊँचे उठ रहे हैं। तृष्णारूपी आग लगी है। मोहरूपी पवन जोर से चल रही है। क्रोध के अंगारे (चिनगारियाँ) उछल रहे हैं। तभी आत्मारूपी बड़े भाई के मन रूपी छोटे भाई ने जगाया और बड़े भाई को याद आया कि मैं (ऐसे समय में) सद्गुरु की शरण में जाऊँ। इसलिए उसने (सद्गुरु को आमंत्रित करके) वीतरागवाणीरूपी पानी के बंबे फायर ब्रिगेडवाले बुलाए। (सौभाग्य से) भगवान् महावीर के फायर केप्टन आ पहुँचे और वह मकान जलकर भस्म होने से रुक गया। इसी प्रकार अगर चेतनदेव जागृत हो जाएगा तो भव-भ्रमण रुक जाएगा। जिसका शरीर बिलकुल जीर्ण-शीर्ण हो गया हो, वैसा मनुष्य विचार करे कि 'हे आत्मन् ! जैसे रेतघड़ी में से रेत एकदम नीचे उतर जाती है, वैसे ही शरीररूपी घड़ी में से आयुष्यरूपी रेत एकदम नीचे उतर जाती (निकल जाती) है। इसके बाद शरीररूपी घड़ी यहीं रहनेवाली है। अतः मृत्यु से कोई भी बच नहीं सकता, इसलिए जितना हो सके, उतना पुरुषार्थ कर लो।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अपना 'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में वर्णित पद्मावती रानी द्वारा नाग-महोत्सव मनाने से सम्बन्धित अधिकार चल रहा है। पद्मावती रानी के मन में ऐसी उमंग थी कि मैं ऐसा नाग-महोत्सव मनाऊँ, कि सभी आगन्तुक मेहमान और दर्शक खुश हो जाएँ, सभी यों कहने लगें कि ऐसा नाग-महोत्सव तो आजतक कभी किसी ने नहीं मनाया। तुम लोग भी अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह के बाद रिसेप्सन का आयोजन करते हो न ? तब तुम्हारे मन में भी यही विचार स्फुरित होता है कि लोग रिसेप्सन में आएँ और बखान करें कि कितना सुन्दर डेकोरेशन (साज सज्जा) है ? यह सुनकर तुम्हारा हृदय भी हर्ष से नाच उठता है। सच है, जहाँ संसार-वर्धक सुख है, वहाँ जीव को कितनी खुशी होती है ? वहाँ सम्मान पाने की ललक में वह सोचता है कि अभी तक किसी ने नहीं किया हो, वैसा कार्य कर लूं। किन्तु क्या किसी दिन ऐसा विचार आता है कि मुझे मनुष्यभव मिला है तो जल्दी से जल्दी तीसरे भव में, अथवा अधिक से अधिक पन्द्रह भव में मोक्ष प्राप्त कर सकूँ, ऐसा परमिट प्राप्त कर लूँ। ऐसा भाव आएगा, तब संसार के लौकिक आनन्द में उसे रस नहीं आएगा। उसे तो बस एकमात्र आत्मा के हित से सम्बन्धित बातें ही अच्छी लगेंगी।

पद्मावती रानी के समक्ष आत्मतत्त्व का लक्ष्य नहीं था। इसी कारण वह ऐसे लौकिक आनन्द में मस्त बन गई थी। प्रतिबुद्धिराजा वहाँ आकर रानी के द्वारा निर्मित पुष्प-मण्डप में बैठे। रानी के द्वारा निर्मित्त पुष्पों का दामकाण्ड देखकर राजा का मन आकर्षित हुआ। सोचा – 'कितना सुन्दर दामकाण्ड है ? कितनी लाजवाब इसकी सुगन्ध है ?' राजा की घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय (सूंघ-देखकर) नृत्य करने (डोलने) लगी। उसका तन-मन दामकाण्ड देखकर (हर्ष से) डोलने लगा। इसके बदले, दामकाण्ड देखकर राजा को ऐसा विचार आया होता कि अहो ! पुष्पों का यह दामकाण्ड इतना सुशोभित प्रतीत होता है, एवं सुगन्ध से ऐसा महक रहा है कि देखनेवाले को आकर्षित करता है। वह प्रशंसा का पात्र बना है तो मेरा आत्मा ज्ञानदर्शन-चारित्र-तप-सत्य, नीति और सदाचार से महक उठे तो उसकी सौरभ तो इस जगत् में अद्वितीय रूप से व्याप्त हो जाए। वे (द्रव्य) पुष्प तो मुर्झा जाते हैं, तब उनकी सुगन्ध नष्ट हो जाती है। किन्तु जीवन में सत्य, नीति, न्याय और सदाचार की सौरभ सदा-सदा के लिए महकती है। मेरे जीवन में ऐसे गुण होंगे तो मुझे मनुष्यों को कहना नहीं पड़ेगा कि तुम मेरे पास आओ। वे स्वतः मेरे कुदरती आकर्षण से आकर्षित होकर आएँगे।

प्रतिबुद्धिराजा दामकाण्ड की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए कहते हैं – "हे मेरे सुबुद्धि प्रधान ! तुम मेरी आज्ञा से अनेकबार ... के ... अनेक ग्राम-नगरों में

जाते हो, तो क्या तुमने ऐसा श्रीदामकाण्ड कहीं भी किसी जगह (क्षेत्र में) देखा है ? इस पर सुबुद्धि प्रधान ने कहा -

"एवं खलु सामी । अहं अन्नया कयाइं तुब्भं दोच्चेणं मिहिलं रायहाणिं गए, तत्थणंमए कुंभगस्स रण्णो धूयाए पभावईए देवीए अत्तयाए मल्लीए विदेहवर-रायकन्नाए संवच्छर-पडिलेहणगंसि दिव्वे सिरिदामगंडे दिट्ठपुव्वे । तस्सं णं सिरिदामगंडस्स इमे पउमावईए सिरिदामगंडे सयसहस्सइमं पिकल्लं न अग्घइ ।"

हे स्वामिन् ! ऐसा है कि एक बार किसी समय आपके दौत्यकार्यवश दूत के रूप में मिथिला राजधानी गया था । वहाँ मैंने कुम्भराजा की पुत्री और प्रभावतीदेवी की आत्मजा, विदेह की श्रेष्ठ राजकन्या मल्ली के संवत्सर-प्रतिलेखन (वर्षगांठ) के महोत्सव के अवसर पर दिव्य श्रीदामकाण्ड इससे पहले देखा था । उस श्रीदामकाण्ड के सामने पद्मावतीदेवी का यह श्रीदामकाण्ड (शतसहस्त्रवे) लाखवें अंश की भी बराबरी नहीं कर सकता ।

हे महाराजा ! उस श्रीदामकाण्ड की मैं क्या बात कहूँ ? क्या उसकी मनोरम्यता थी ? कितनी उसकी व्यापक महक थी ? उसकी चमक, रौनक, रंग-रूप और रचना कोई अनोखी ही थी ! मैंने मल्लीकुमारी के जन्मोत्सव के समय जो श्रीदामकाण्ड लटकाया हुआ देखा था, वह अभी तक मेरी नजर समक्ष दिखाई दे रहा है ! उसकी सुगन्ध तो मेरी नासिका में से अभी तक जा नहीं रही है । अलौकिक था वह श्रीदामकाण्ड ! उसके सामने पद्मावतीदेवी का यह श्रीदामकाण्ड लक्षांश-सम भी नहीं है । अतः सौन्दर्य और सौरभ दोनों दृष्टियों से मल्लीकुमारी के जन्मोत्सव प्रसंग के श्रीदामकाण्ड के समक्ष पद्मावतीदेवी का यह श्रीदामकाण्ड कुछ भी नहीं है, नगण्य है ।"

सुबुद्धिप्रधान के मुख से यह बात सुनकर प्रतिबुद्धिराजा चौकन्ना हो गया । राजा ने कहा - "प्रधानजी ! जिसके जन्मोत्सव के अवसर पर ऐसा विशाल श्रीदामकाण्ड कुम्भकराजा ने बनवाया था, तो वह विदेहराजा पुत्री कैसी होगी ? क्या तुमने उस मल्लीकुमारी को देखी है ? जो आत्मा तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन करके आया हो, जिसका जन्मोत्सव मनाने के लिए इन्द्रगण तथा छप्पन दिक्कुमारियाँ आई हों, उसके रूप और गुण में तो क्या कमी हो सकती है ?" यों प्रतिबुद्धिराजा ने सुबुद्धिप्रधान से पूछा - "क्या तुमने उस राजकुमारी को प्रत्यक्ष देखी है ? वह कैसी है ?" यह सुनकर अब सुबुद्धिप्रधान राजा के समक्ष मल्लीकुमारी के रूप और गुणों का वर्णन करेगा । इस प्रतिबुद्धिराजा का उसके साथ पूर्व का जो स्नेह था, वह स्नेह किस प्रकार जागेगा ? इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

कामान्ध मधुराजा की मांग : जिसके शरीर में कामज्वर पैदा हुआ, वह मधुराजा मंत्री से कहा - "मंत्रीजी ! वह नरेश तो चला गया । अब तो इन्दुप्रभा अपने हाथ में है । अब उसे मेरे पास ले आओ तो मेरे मन को शान्ति होगी ।" तब मंत्री ने कहा - "साहब ! जरा, सूर्य की तो शर्म रखो । दिन तो बीतने दो । किन्तु मैं आपको एक बात तो अवश्य कहूँगा - अब भी आप समझ जाइए । अभी तक दूध फटा नहीं है । आपने जिस बहाने से उसे (इन्दुप्रभा को) रखी है, उस प्रकार से उसका सत्कार -सम्मान करके वापस (वटपुर) भेज दो । परस्त्रीगमन करने से मनुष्य की बहुत ही दुर्दशा होती है । मैं यह बात आपके हित की दृष्टि से कह रहा हूँ ।" किन्तु इतना कहने पर भी मधुराजा की मति नहीं सुधरी । उसे तो एक ही धुन लगी है कि कब रात पड़े और कब इन्दुप्रभा मुझे मिले ।

कामवासना-लम्पट मधुराजा की अधमता : सूर्यास्त हुआ । रात पड़ी कि तुरंत मधुराजा ने मंत्री से कहा - "अब तो इन्दुप्रभा को मेरे पास ले आओ ।" यद्यपि मंत्री को यह कार्य करना बिलकुल नापसंद था, किन्तु राजा की आज्ञा से यह सब अनिच्छा से करना पड़ रहा है । मंत्री ने एक दासी को इन्दुप्रभा के पास भेजी । दासी ने इन्दुप्रभा के पास आकर कहा - "हमारे महाराजा ने आपको समाचार भिजवाया है, उसे आप सुन लें ।" इन्दुप्रभा ने कहा - "राजा ने जो कुछ कहा है, उसे तू मुझे कह ।" अतः दासी ने कहा - "आपके पति हेमरथराजा आपको यहाँ छोड़कर गए हैं । उन्होंने वटपुर जाते समय आधे रास्ते से एक दूत भेजकर मधुराजा को कहलाया है कि अगर आपको मेरे साथ मित्रता रखनी हो तो आप उसे (इन्दुप्रभा को) जो भी आभूषण देने हों, देकर जल्दी मेरे पास भेज दीजिए । इसलिए मधुराजा आपको शीघ्र बुला रहे हैं ताकि आज रात को आपको आभूषण देकर सुबह आपके पति के पास आपको भेज देंगे । अतएव आप राजा के महल में चलें ।"

यह सुनकर इन्दुप्रभा सब समझ गई । निश्चय ही मुझे उसके (मधुराजा के) महल में ले जाने का यह षड्यंत्र है । अगर पति को मुझे बुलानी थी तो मैंने उन्हें बहुत समझाया था, फिर भी वह किसलिए मुझे यहाँ छोड़कर गए ? उन्हें इतना भी विचार नहीं आया कि सभी राजाओं की रानियों के लिए आभूषण तैयार हो गए हैं, तब फिर एक मेरे लिए ही आभूषण क्यों नहीं तैयार हुए ? मैंने उन्हें समझाने में कुछ भी बाकी नहीं रखा था । फिर भी वह नहीं माने । क्या वह (मेरे पति) अब रास्ते में से मुझे बुलायेंगे ? इस बात में कुछ रहस्य है ! उसने उक्त दासी से कहा - "बहन ! मैं इस समय नहीं आऊँगी । तू राजाजी से जाकर कह दे कि रात में परपुरुष के महल में जाना, (पतिव्रता) सती नारी का धर्म नहीं है ।" दासी ने इन्दुप्रभा को बहुत समझाया,

फिर भी इन्दुप्रभा नहीं गई । तब राजा ने दूसरी दो-तीन दासियों को भेजकर कहलाया - "आपको राजा ने बहुत आग्रहपूर्वक कहलाया है, अतः राजा के महल में आना पड़ेगा ।" दासियों ने उसे जबरन तैयार की । अतः गहरे निःश्वासपूर्वक लड़खड़ाते पैरों से रानी महल में जाने के लिए तैयार हुई । दूर से इन्दुप्रभा को दासियों के साथ आती देखकर मधुराजा महल की सातवीं मंजिल पर चढ़ गए । सभी दासियों को नीचे खड़ी रखकर एक दासी इन्दुप्रभा को लेकर सातवीं मंजिल पर गई । इन्दुप्रभा को दरवाजे में प्रविष्ट कराकर वह दासी भी नीचे उतर गई ।

जैसे ही इन्दुप्रभा ने महल में प्रवेश किया । मधुराजा ने तुरंत दरवाजा बंद कर लिया । रानी समझ गई कि अब मेरे पर मुसीबत आ पड़ी है । जैसे बाघ को देखते ही गाय डर जाती है, वैसे ही भयभीत होकर कांपने लगी । यह देखकर मधुराजा ने उसे कहा - "इन्दुप्रभा ! अब तू क्यों डर रही है ? तेरा पति हेमरथराजा तो मेरा दास है । अब उसका डर छोड़कर तू मेरे साथ सुख भोग । मैं तुझे अपनी पटरानी बनाऊँगा । तू मेरा कहना मान जा । मेरे जैसा प्रेमी राजा तुझे नहीं मिलेगा ।"

इन्दुप्रभा द्वारा लम्पट राजा को हितोपदेश : रानी भय से थरथर कांप रही थी । फिर भी कामातुर मधुराजा के कामातुरतायुक्त वचन सुनकर साहस करके इन्दुप्रभा ने कहा - "हे महाराजा ! आप तो हमारे पालक पिता के समान हैं । क्या आपको यह सब अकृत्य शोभता है ? परस्त्रीसंग से मनुष्य लोक में निन्दा का पात्र बन जाता है, मित्रों के साथ मित्रता टूट जाती है, मन का सन्ताप बढ़ जाता है, बल का ह्रास हो जाता है, राज्य और धन का नाश हो जाता है । ऐसा मनुष्य जगत् में कलंकित हो जाता है । परस्त्री के संग से जीव को नरक में जाना पड़ता है । इसलिए आपको परस्त्री का त्याग करना चाहिए और हे महाराजा ! क्या आपने कभी ऐसा सुना है कि पानी में से आग पैदा होती है ? मेघ में से अंगारवृष्टि होती है ? सूर्य में से अन्धकार उत्पन्न होता है, चन्द्रमा में से अंगारे झरते हैं ? या समुद्र कभी अपनी मर्यादा छोड़ देता है ? कभी नहीं ! वैसे ही इतने बड़े महाराजा कभी परस्त्री में आसक्त होते हैं क्या ? राजा तो सदैव परस्त्री के त्यागी होते हैं । फिर आप ऐसा कुकृत्य क्यों कर रहे हैं ? जरा समझिए, ठंडे दिल-दिमाग से विचारिए !"

इन्दुप्रभा के इस हितोपदेश का कामान्ध मधुराजा के दिल पर जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा । जैसे क्षार भूमि पर कितनी ही बरसात बरसे, वह व्यर्थ जाती है, सर्प को चाहे जितना दूध पिलाया जाय, वह जहर बन जाता है, वैसे ही इन्दुप्रभा का मधुराजा को दिया गया हितकर उपदेश व्यर्थ गया । मधुराजा ने निर्लज्ज होकर इन्दुप्रभा पर बलात्कार करके उसका शील लूट लिया ।

बन्धुओं ! इस भारतभूमि पर कितनी ही ऐसी सतीनारियाँ हो गई हैं, जिन्होंने अपनी शील की रक्षा के लिए प्राण अर्पण कर दिये । राणकदेवी पर जब सिद्धराज

की दृष्टि बिगड़ी और वह उसका शील खण्डित करने के लिए तैयार हुआ, तब सती ने अपने प्राण दे दिये, किन्तु शील खण्डित नहीं होने दिया। महासती चन्दनबाला की माता धारिणीदेवी पर शतानीक राजा के सारथी की दृष्टि बिगड़ी, तब वह अपनी जीभ कुचल (खींच) कर मर गई। ऐसी तो अनेक सतियाँ हुई हैं, जिन्होंने अपने शील की रक्षा के लिए प्राणों की बलि दे दी, किन्तु शील खण्डित नहीं होने दिया। यह इन्दुप्रभा भी समझती थी कि मेरे पर मधुराजा की कुदृष्टि हुई है। इसी कारण वह अपने पति के साथ वसंतोत्सव के अवसर पर आने के लिए तैयार नहीं हुई। हेमरथराजा उसे यहाँ अकेली को छोड़कर गये तब भी उसे बहुत दुःख हुआ था। फिर मधुराजा ने उसे रात को महल में किसलिए बुलाई थी, इसका कारण भी वह समझ गई थी। फिर भी वह अपने शील की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकी। इतनी उसके सतीत्व में अपरिपक्वता कहनी चाहिए। शीलरक्षा के लिए प्रयत्न करने के बावजूद भी मधुराजा ने बलात्कार करके उसका शील खण्डित कर दिया। एक दिन तो उसके दिल में बहुत कम्पकम्पी छूट गई कि हाय! यह क्या हो गया? वह बहुत रोई। परन्तु फिर मधुराजा के मधुसम मधुर वचन एवं हावभाव देखकर उसने मन में सोचा कि 'अब तो जो होना था सो हो गया।' ऐसी विचार से उसका सोच कम हुआ। दो-तीन दिन तक मन में संकोच रहा। फिर तो वह स्वयं मधुराजा के प्रेम में पड़ गई और अपने पति को भूल गई। अहह! संसार में मोह की विडम्बना कैसी है? एक समय ऐसा था कि हेमरथराजा (पति) को परमेश्वर की तरह पूजती थी, आज वह पराई हो गई। हेमरथराजा तो यही मान कर बैठा है कि कुछ दिनों के बाद मेरी इन्दुप्रभा आ जाएगी। वह इसी प्रतीक्षा में आशा लगाए हुए है।

मधुराजा कामान्ध होय ने, उसे करी पटराणी।
विविध भांति के सुख भोगवे, मानो इन्द्र-इन्द्राणी हो ॥ श्रोता...

मधुराजा इन्दुप्रभा के प्रेमपाश में फंसकर अपनी अन्य रानियों को भूल गया और उसे पटरानी बनाकर उसके साथ मनचाहे सुख भोगने लगा। जैसे देवलोक में इन्द्र-इन्द्राणी सुख भोगते हैं, वैसे ही ये दोनों परस्पर सुख भोगने लगे और मौजशौक करने लगे। हेमरथराजा इन्दुप्रभा के रक्षण के लिए जिन मनुष्यों को नियुक्त करके गए थे, उनको रानी का यह बर्ताव सहन नहीं हुआ। इस कारण वे सब इन्दुप्रभा को यहीं छोड़कर वटपुर चले गए। उन्होंने वहाँ जाकर हेमरथराजा को समाचार दिये कि "आप जिस मधुराजा को अपना खास मित्र समझते थे, वह खास शत्रु निकला। उसने आपकी रानी इन्दुप्रभा को प्राप्त करने के लिए ही आप के साथ मित्रता का नाटक किया था। बाद में इन्दुप्रभा का विशिष्ट वस्त्राभूषणों से सत्कार करने के बहाने वहाँ रखकर अपना मनचाहा कार्य सिद्ध कर लिया है और इन्दुप्रभा उसकी पटरानी बन बैठी है।" यह सुनकर हेमरथराजा को इस बात पर

विश्वास नहीं हुआ। परन्तु जब उसके मंत्री आदि राज्याधिकारियों ने दृढ़तापूर्वक कहा कि हम अपनी आँखों से यह देखकर आए हैं, तब राजा (हेमरथ) को बहुत ही आघात लगा कि क्या इन्दुप्रभा उसकी पटरानी बन गई ? इस विचार से तो राजा हेमरथ बेभान होकर लुढक गए। अब उनका क्या होगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

(पू. बा.ब्र. हर्षदमुनि महाराज साहब की आज २३वीं पुण्यतिथि होने से उनके त्याग-तप-वैराग्यमय जीवन का, तथा उनके ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों का पूज्य महासतीजी ने बहुत सुन्दर वर्णन किया था। जिसे सुनकर श्रोताओं की आँखों में हर्षाश्रु उमड़ पड़े थे।)

व्याख्यान - ६१

भादवा वदी ६, मंगलवार — ता. १४-९-७६

अज्ञानतिमिर का नाश, होता जब ज्ञान-प्रकाश

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

राग-द्वेष के विजेता और मोक्षमार्ग के नेता श्रीवीतराग-परमात्मा के मुख से निःसृत शाश्वती-वाणी का नाम सिद्धान्त है, दूसरे शब्दों में इसे शास्त्र, आगम या श्रुत भी कहते हैं। यह सिद्धान्त की वाणी अमृतवाणी है। जो आत्मा हृदय के भावपूर्वक इस अमृतवाणी का पान करता है, वह अजर-अमर हो जाता है। महान भाग्योदय से अमृतवाणी के पान करने का सुअवसर मिला है, उसे चूकना नहीं। इस अमृतवाणी का पान करनेवाले आत्मा के जन्म-मरण का चक्कर टल जाता है या कम हो जाता है, साथ ही अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। अज्ञान के कारण जीव चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता है और अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है। घर में घडीभर भी अन्धेरा हो जाए तो वह उलझन में डाल देता है, बेचैन बना देता है, किन्तु आत्मा में जो अज्ञान का अंधेरा है, उसकी कुछ उलझन या बेचैनी होती है क्या ? 'उत्तराध्ययन सूत्र' (अ.-६, गा.-१) में कहा है -

जावंतऽविज्जा-पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख-संभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥

संसार में जितने भी अविद्यावान् (अज्ञानी) पुरुष हैं, वे सब अपने लिए दुःख पैदा करते हैं। ऐसे मूढ जीव अज्ञानान्ध होकर इस अनन्त संसार में बार-बार पीड़ा पाते

हैं। दुःख से पीड़ित वे अज्ञानी जीव बार-बार नये-नये कर्मो के बन्धनों से लिप्त होते रहते हैं। अज्ञानी जीव कर्म के बन्धनों को तोड़ नहीं सकता। तुम्हें बाह्य अन्धकार दिल में चुभता (खटकता) है, वैसे ही अगर अज्ञानान्धसार खटकने (चुभने) लगे तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना। अज्ञान अन्धकार है, जबकि ज्ञान प्रकाश है। आजकल तो जगह-जगह ट्यूब लाइटें लग गई हैं, इसलिए बाह्य अन्धकार तो दिखाई नहीं देता। फिर भी बहुत-से विचारशील मनुष्य जब रात्रि के समय घर से बाहर निकलते हैं, तब टोर्च साथ में रखते हैं, ताकि कहीं अंधेरे के कारण भटक न जाएँ। परन्तु जिस के पास (प्रकाश का) साधन नहीं है, वे गड्ढे-खाडे में पड़ जाते हैं। अज्ञानी जीव के लिए संत कबीर कहते हैं –

"नाम न जाने गाँव का, बिन जाने कित जाय।
चलते-चलते जुग भया, पाव कोस पर गाँव॥"

कोई मूर्ख मानव जिस गाँव में जाना है, उसका नाम नहीं जानता। वह गाँव कितनी दूर है? इसका भी उसे पता नहीं है और आँखें मूँदकर चलता जा रहा है। इस प्रकार वह वर्षो तक चलता रहे तो भी उक्त गाँव में पहुँच सकता है, क्या? नहीं। यदि उसे मालूम हो कि मुझे अमुक गाँव में जाना है तो वह उस गाँव के विषय में पूछताछ करे तो कोई उसे बता सकता है। ज्ञान के बिना सब अन्धेरा है। गाँव पावकोस दूर होने पर भी जानकारी (ज्ञान) न होने से वर्षो तक चलता रहे, तब भी गाँव नहीं आता। इसी प्रकार तुम जीवन के विषय में विचार करो कि अज्ञान आत्मा के लिए दुःखकारक है, या नहीं? यदि अज्ञान दुःखरूप लगता हो तो उसे दूर करके ज्ञान की छोटी-सी बेट्री (टोर्च) अपने पास रखो। ज्ञानी और अज्ञानी में क्या अन्तर है? इसे निम्नोक्त गाथा से समझो –

"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वासकोडिहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सास-मित्तेण॥"

अज्ञानी जीव जिन कर्मों को करोड़ों वर्षो तक करणी करके खपाता (क्षय करता) है, उन कर्मो को तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानीपुरुष एक श्वासोच्छ्वास मात्र समय में खपा (क्षय कर) डालता है। यह ज्ञान का ही प्रभाव है। अतः कर्मों को शीघ्र क्षय करने के लिए ज्ञान का दीपक प्रकटाओ। घर में कहाँ कौन-सी चीज पड़ी है? उसे प्रकाश होगा तो (अंधेरे में) देख सकोगे और झट प्राप्त कर सकोगे। किन्तु अगर अन्धकार होगा तो घंटों तक इधर-उधर व्यर्थ प्रयास करोगे, फिर वह वस्तु मिलेगी नहीं। वैसे ही अपनी आत्मा ने अनन्तकाल तक अज्ञानवश भव-भ्रमण करके कैसे-कैसे कर्म बांधे हैं और उन्हें किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं? ज्ञान का प्रकाश होने से पता लग जाता है और फिर अल्प समय में क्षय किया जा सकता है। किन्तु अज्ञान-अवस्था में करणी करने पर भी उन कर्मों को दूर नहीं किया जा सकता। अज्ञानान्धकार

को मिटाने के लिए भक्त भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहता है - ''प्रभो ! तू तो एक अलौकिक दीपक है । तेरा तेज भी अनोखा है, तेरा ज्ञान अगाध है । इस ज्ञान के किरण मेरे अन्तर में आएँ तो मेरे जीवन में रहा हुआ अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो जाए ।''

शास्त्रों का स्वाध्याय करने से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है । स्वाध्याय के पाँच भेद हैं - वाचना, पृच्छना, परिपट्टणा, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा । इस पाँच प्रकार से किये जानेवाले स्वाध्याय में अगर मन एकाग्र और लीन हो जाए तो इधर-उधर नहीं भटकेगा और कर्मबन्ध करना रूक जाएगा । जिसका मन निकम्मा और निठल्ला रहता है, वह अंटसंट विचार करता है, बाहर भटकता है और कर्मबन्ध करता है ।

एक पवित्र साधु थे । उनके गुरु बहुत विद्वान और ज्ञानी थे । उनका शिष्य-परिवार भी विशाल था । एक साधु के मन में खराब विचार आने लगे, किन्तु वह साधु अत्यन्त लज्जावान् थे । भगवान् ने कहा है - ''कोई साधु कदाचित् मोहकर्म के उदय से चारित्र से पतित हो जाए अथवा चारित्र से पतित होने के विचार आने लगे, किन्तु उसमें लज्जा होगी तो वह पुनः चारित्र में स्थिर हो सकेगा । 'दशवैकालिक सूत्र' (अ.-९, उ.-१, गा.-१३) में कहा है -

'लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं, कल्लाण-भागिस्स विसोहि-ठाणं ।''

अर्थात् जिसमें लज्जा है, दया है, संयम है और ब्रह्मचर्य शुद्ध है, वह एक दिन कल्याण का भागी होकर विशुद्धि-स्थान (सर्वकर्म मुक्तियुक्त मोक्ष-स्थान) को प्राप्त कर लेता है ।

हाँ तो, उक्त साधु बहुत ही लज्जावान् थे । वह मन ही मन चिन्तित-व्यथित रहते थे कि ऐसे खराब विचार किसके समक्ष प्रकट करूँ ? किसी गंभीरता से रहित व्यक्ति को ये निकृष्ट विचार कहे नहीं जा सकते थे । इस कारण आहार-पानी करने में, ध्यान वगैरह किसी भी धर्मक्रिया के करने में उनका मन लगता नहीं था । वे दिनानुदिन गमगीन रहने लगे । यह देखकर उनके समवयस्क समनोज्ञसाथी साधुओं ने उनसे पूछा - ''क्या बात है ? तुम इन दिनों में उदास क्यों रहते हो ? क्या तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है ? तुम्हारे मन में क्या कोई चिन्ता, व्यथा या उद्विग्नता होती है ? क्या होता है, हमारे समक्ष दिल खोलकर कहो ।'' अतः वह कहने लगे - ''साथी मुनिवरों ! क्या बताऊँ मैं ! मैंने किसी के दबाव से, भय से या प्रलोभन से अथवा रागभाव से यह पवित्र आर्हती दीक्षा नहीं ली है, अपितु समझ-बूझकर आत्मा को ज्ञानादि की पूर्णता तक पहुँचाने के भाव से ली है । पर कौन जाने, मेरे किन्हीं गाढ़ अशुभकर्मों का उदय हुआ है कि मेरे मन में कुछ दिनों से बुरे विचार आते हैं । मैं इन विचारों को अपने मन से दूर करने के लिए मेहनत करता हूँ । किन्तु ये मेरे चित्त में से हटते

(जाते) नहीं, प्रत्युत मेरे मन को चंचल बनाते रहते हैं। पिछले लगभग १५ दिनों से ऐसा हो रहा है। मैं किसी के समक्ष कह भी नहीं सकता, सह भी नहीं सकता।" इतना बोलते-बोलते उनकी आँखों से आंसू उमड़ पड़े। दूसरे शिष्यों ने गुरु को इन मुनिजी की उलझन की जानकारी दी। अतः गुरु ने उस शिष्य को अपने पास बुलाकर एकान्त में बिठाकर पूछा - "वत्स ! तुझे कैसे-कैसे विचार आते हैं ? मेरे समक्ष दिल खोलकर कह दे।" शिष्य ने गुरुजी को कुछ भी छिपाये बिना सारी हकीकत सच-सच कह दी और रोने लगा। गुरु ने उसे आश्वासन देते हुए कहा - "वत्स ! तू रो मत। मैं बैठा हूँ। तेरे मन से कुविचारों को निकालकर सुविचारों में, सुध्याय में एकाग्र करने की कला सिखाऊँगा। जरा भी घबरा मत।" गुरु को शिष्य अपने पुत्र की तरह प्रिय होता है। परन्तु उनका वात्सल्य संसार का नहीं, संयममार्ग का होता है। शिष्य का शीघ्र कल्याण कैसे हो ? इसके लिए गुरु उसे वात्सल्य भाव से मार्गदर्शन देते हैं। उसी दिन से गुरुजी उस शिष्य को रात्रि के तीन बजे उठा देते हैं, पंचपरमेष्ठी मंत्र का जाप करवाकर स्वाध्याय कराते हैं। प्रतिक्रमण का समय होने पर उसे शुद्ध मन से प्रतिक्रमण करने को कहते हैं। फिर सूर्योदय होने के बाद पुनः स्वाध्याय कराते हैं। फिर जो स्वाध्याय या वाचन किया हो, उसका ध्यान कराते हैं। दोपहर को उसे गौचरी करने के लिए भेजते हैं। आहार-पानी से निवृत्त होने के बाद सद्ग्रन्थों का वाचन कराते हैं। फिर उस पर प्रश्नोत्तरी-चर्चा करते हैं। यों गुरुजी प्रत्येक क्रिया में शिष्य के साथ भाग लेने लगे। उसका मन एक क्षण भी निकम्मा (खाली) नहीं रहने दिया। इस प्रकार का प्रयोग एक महीने तक किया। इससे शिष्य के मन में पहले जो खराब विचार आते थे, वे चले गए और पहले की तरह वह शिष्य संयम में स्थिर हो गया। ज्ञानी कहते हैं कि "मन को निकम्मा न रहने दो। उसे स्वाध्याय काल में स्वाध्याय में और नहीं तो, नवकार मंत्र के जाप में सतत संलग्न कर दो।"

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में जो शास्त्रीय वर्णन चल रहा था, उस पर अब थोड़ा विचार कर लें। पद्मावती रानी के नाग-महोत्सव में आए प्रतिबुद्धिराजा ने उसके द्वारा बनवाये हुए श्रीदामकाण्ड को देखकर उसकी खूब तारीफ की। परन्तु प्रधान के मुख से सुना कि 'मिथिला नगरी' में कुम्भराजा की पुत्री और प्रभावती रानी की आत्मजा मल्लीकुमारी के जन्मोत्सव के अवसर पर जो श्रीदामकाण्ड बनाया गया था, उसके आगे यह श्रीदामकाण्ड किसी बिसात में नहीं है, नगण्य है।' इस पर प्रतिबुद्धिराजा के मन में ऐसा विचार आया कि एक राजकुमारी के जन्म के समय ऐसा विशाल श्रीदामकाण्ड बनाया और विशाल पैमाने पर जन्मोत्सव मनाया, वह मल्लीकुमारी

कैसी होगी ? इस निमित्त से प्रतिबुद्धिराजा का पूर्वस्नेह जागृत हुआ । अतः राज सुबुद्धि प्रधान से पूछते हैं -

"केरिसिया णं देवाणुप्पिया । मल्ली विदेहवर-रायकन्ना ?"

देवानुप्रिये ! विदेह की श्रेष्ठ राजकन्या मल्ली कैसी है जिसके जन्मोत्सव के अवसर पर बनाये हुए श्रीदामकाण्ड के आगे पद्मावतीदेवी का यह श्रीदामकाण्ड लाखवाँ अंश के बराबर भी नहीं है ? इस प्रकार इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न प्रतिबुद्धिराजा को सुबुद्धि मंत्री ने कहा -

"एवं खलु सामी । मल्ली विदेहवर-रायकन्नगा सुपइट्ठिय-कुम्मुन्नय चारुचरणा वन्नओ ।"

"हे स्वामिन् ! ऐसा है कि विदेह की श्रेष्ठ राजकन्या मल्लीकुमारी सुप्रतिष्ठित (सरस आकारवाले) और कछुए की पीठ के समान उन्नत एवं सुन्दर चरणवाली है ! कैसा उसका अद्भुत तेज है ? इसके जैसी सौन्दर्यवती नारी जगत् में कोई नहीं है ।" यों प्रधान ने उसकी बहुत प्रशंसा की । (इसका विशेष वर्णन जम्बूद्वीप, प्रज्ञप्ति इत्यादि शास्त्रों के अनुसार जान लें) इस प्रकार सुबुद्धि प्रधान के मुख से श्रीदामकाण्ड के गुणश्रवण से तथैव मल्लीकुमारी के सौन्दर्य आदि गुणों की चर्चा सुनकर उसे हृदय में अवधारित करके अत्यन्त हर्षित हुए । प्रतिबुद्धि ने दूत को बुलाकर इस प्रकार का आदेश दिया -

"गच्छाहिणं तुमं देवाणुप्पिया । मिहिलं रायहाणिं, तत्थणं कुंभगस्सरण्णो धूयं पउमावईए देवीए अत्तयं मल्लिं विदेह-रायवर-कण्णगंमम भारियत्ताए वरेहि । जइ वि णं सासयं रज्जसुक्का ।"

देवानुप्रिये ! तुम मिथिला राजधानी जाओ । वहाँ कुम्भराजा की पुत्री, पद्मावती-देवी की आत्मजा और विदेह की श्रेष्ठ राजकुमारी मल्ली को मेरी पत्नी के रूप में मंगनी करो । अर्थात् प्रभावतीदेवी की कुक्षि से जन्म पाई हुई, कुम्भराजा की पुत्री मल्लीकुमारी के साथ प्रतिबुद्धिराजा विवाह करना चाहते हैं । अतः मेरी वधू के रूप में उसकी याचना करो । मतलब यह है कि साकेत नगर के राजा प्रतिबुद्धि आपकी पुत्री, प्रभावतीदेवी की आत्मजा, यानी जिसे प्रभावतीदेवी ने जन्म दिया है, उस मल्लीकुमारी के साथ विवाह करना चाहते हैं । आप इसके लिए अपनी स्वीकृति दें ।' यहाँ प्रभावती देवी की आत्मजा पुत्री कहने का आशय यह है कि राजा के अनेक रानियाँ होती हैं, अनेक राजकन्याएँ होती हैं । इस कारण कुम्भराजा की दूसरी कन्या की याचना करते हैं, ऐसा वह न समझें, इसलिए प्रतिबुद्धिराजा ने स्पष्टीकरण किया है कि जो प्रभावतीदेवी की कुक्षि से जन्मी हुई राजकन्या मल्ली है, उसीके साथ

विवाह करने का सन्देश दूत के द्वारा कुम्भराजा को कहलाया । साथ ही यह भी कहलाया कि "भले ही उसके लिए सारा राज्य शुल्क-मूल्य रूप में देना पड़े ।"

कैसा है, यह संसार का राग ? पूर्वभव में प्रतिबुद्धिराजा (मल्लीकुमारी के जीव के) मित्र थे । वहाँ इन्होंने कैसी उत्तम साधना की थी ? वहाँ से काल करके वे सभी (मित्र) अनुत्तर विमान में देव हुए थे और वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके पृथक्-पृथक् स्थानों (क्षेत्रों) में जन्मे हैं । इन मित्र राजाओं को यह भी मालूम नहीं है कि मल्लीकुमारी के साथ हमारा पूर्व का क्या स्नेह-सम्बन्ध है ? किन्तु मल्लीकुमारी तो अवधि-ज्ञान के बल से यह सब जानती है । इसलिए इन्होंने तो सभी पूर्वतैयारी कर रखी है । हमें तो यह बात समझनी है कि पूर्व का स्नेह जाग जाने पर मनुष्य के मन में कैसी भावना उत्पन्न होती है ? मल्लीकुमारी का नाम और उसके रूप एवं गुण की प्रशंसा सुनकर प्रतिबुद्धिराजा को उसके प्रति मोह जगा और उसे अपनी रानी बनाने की मन में ललक उठी । अभी तो उसे प्रतिबुद्धिराजा ने देखी तक नहीं, केवल प्रधान के मुख से उसकी प्रशंसा सुनकर उसके साथ विवाह करने का मन हो गया । यह सामान्य बात नहीं है । वस्तुतः ऐसा पूर्व के स्नेह के कारण बना ।

इस संसार में विषय-वासना का प्रबल जोर है । मनुष्य के अन्तर में सोया हुआ विषयरूपी विषधर जबतक नहीं जगा, उसने फुंकार नहीं मारी, तबतक अच्छा है । कामविकार की कथा करने से, पूर्वकृत कामभोगों का स्मरण करने से काम का कीड़ा जाग उठता है । ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए शास्त्र में नौ बाड़ बताई है । उनमें से छट्ठी बाड़ में कहा गया है कि ब्रह्मचारी साधु या साध्वी हों, अथवा श्रावक-श्राविका हों, उन्होंने पूर्व में जो कामभोग भोगे हैं, उनका स्मरण नहीं करना । इस सम्बन्ध में सर्प और काष्ठहारक का दृष्टान्त दिया गया है ।

जंगल में झोंपड़ी बनाकर एक बुढ़िया रहती थी । एक दिन उसके यहाँ एक कठियारा अतिथिरूप में आया । बुढ़िया ने उसे छाछ और रोटी खिलाकर विदा किया । उसके जाने के बाद बुढ़िया को मालूम पड़ा कि जिस मिट्टी की गौणी में छाछ थी, उसमें बिलौना करते समय सर्प बिलोया गया । उसी जहरीली छाछ को पीकर वह अतिथि गया है । किन्तु १२ वर्ष के बाद वही अतिथि वापस बुढ़िया के यहाँ आया । उसे जिंदा देखकर बुढ़िया ने पूछा - "बेटा ! तू जीवित है !" उसने बुढ़िया से ऐसा पूछने का कारण पूछा तो उसने कहा - "तू जिस छाछ को पीकर गया था, उसमें सर्प बिलोया गया था ।" यह सुनते ही अतिथि को सर्प का जहर १२ वर्ष बीत जाने पर भी चढ़ गया और वह व्यक्ति वहीं का वहीं मर गया । अगर बुढ़िया पूर्वघटना का स्मरण न कराई होती तो कोई हर्ज नहीं था । किन्तु स्मरण होते ही उसे सर्प का जहर चढ़ गया । इसी प्रकार पूर्व-सेवित कामभोगों का स्मरण करने से भी काम-विष चढ़ता है । अतः जिसे ब्रह्मचर्य का शुद्ध रूप से पालन करना हो, उसे पूर्व के कामभोगों का हर्गिज स्मरण नहीं करना चाहिए । ब्रह्मचर्य बहुमूल्य कोहीनूर रत्न है । तुम्हारे रत्नों की सुरक्षा

के लिए एक तिजोरी है, जबकि ब्रह्मचर्यरूपी श्रेष्ठरत्न की सुरक्षा के लिए नव-बाड़ रूपी नौ तिजोरियाँ हैं । अतः सोचिए, यह रत्न कितना कीमती है ?

प्रतिबुद्धिराजा ने मल्लीकुमारी का नाम सुना और उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी, तब उसके अन्तर में बैठे हुए विषयरूपी विषधर ने फुंकार मारी और कामभोगेच्छा प्रबल हुई, कि मैं मल्लीकुमारी को अपनी रानी बनाऊँ, तो मेरा अन्तःपुर सुशोभित हो उठेगा । अतः उसने दूत को बुलाकर मिथिला नगरी जाकर कुम्भराजा से मल्लीकुमारी की मंगनी करने के लिए कहा । साथ में यह भी कहा कि मल्लीकुमारी बहुत ही रूपवती और गुणवान है, अतः-*'जइवियणं साससयंरज्जमुक्का'* - ऐसी अनुपम रूप-गुण-सम्पन्न मल्लीकुमारी अपने शुल्क के रूप (मूल्यरूप) में मेरा सारा राज्य मांगेगी तो अपना सारा राज्य उसे सौंपने को तैयार हूँ । देखिए, मोहनीय कर्म कैसा नाच नचाता है ? प्रतिबुद्धिराजा के अन्तःपुर में क्या दूसरी रानियाँ नहीं थी ? फिर भी मल्लीकुमारी के साथ विवाह करने के लिए अपना समग्र राज्य देना पड़े तो भी देने के लिए तैयार हो गए ! अब यह मोहराजा क्या करेगा, कैसा खेल खेलाएगा और क्या होगा ? इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

यहाँ भी सुनिए, मोह का नाटक कैसा है ? मधुराजा और इन्दुप्रभा रानी, मानो दोनों पहले से ही परिणीत हों, इस प्रकार कामसुखोपभोग करने लगे । अब इन्दुप्रभा को हेमरथराजा याद नहीं आते । यह उसके सतीत्व में कमी थी । अगर वह भारत की सती नारियों जैसी होती तो प्राणों का बलिदान दे देती, किन्तु शील खण्डित न होने देती । किन्तु मोहकर्म ने नाच नचाया और वह मधुराजा के साथ भोगविलास में पड़ गई ।

अपने हाथों किया, अपने ही माथे में लगा : जब हेमरथराजा को उसके मंत्री, कंचुकी आदि ने ये समाचार दिये तो पहले तो राजा ने इन समाचारों को सच नहीं माना । परन्तु अन्त में उसे मानना पड़ा । इन समाचारों से उसे बहुत आघात लगा । हेमरथराजा बेहोश हो गए । बहुत उपचार करने के बाद वह होश में आए । आवेश में आकर प्रधान से कहा - "प्रधानजी ! तुम जल्दी से सेना तैयार करो । यह चींटी जैसा मधुराजा अपने मन में क्या समझता है ? मैं इसे मसल डालूंगा ।" प्रधान ने कहा - "साहब ! अब रहने दीजिए ये बातें ! मधुराजा चींटी जैसा नहीं है, आप ही उसके आगे चींटी जैसे हैं । वह बड़ा बलवान् राजा है । उसकी सेना के सामने आपकी सेना कितनी है ? उसको मसलने जाते, आप स्वयं मसल डाले जाएँगे । अब लड़ाई करने की बात छोड़ दो । उसके सामने आपका जोर नहीं चलेगा ।" अब हेमरथराजा को भान हुआ । वह बहुत रोने लगा और बार-बार 'इन्दुप्रभा ! इन्दुप्रभा!'

कहने लगा। इस पर प्रधान ने कहा - "रांड हो जाने के बाद चतुराई किस काम की? पहले आपको इन्दुप्रभा ने बहुत समझाया था, परन्तु आप समझे नहीं। आप मधुराजा के भुलावे में आ गए। तुमने हाथों से यह विष-बीज बोया, अब वह विषाक्त होकर हृदय में व्याप्त हो गया है। अब तो इन्दुप्रभा आपकी नहीं रही। उसका मोह छोड़ दीजिए। अगर वह आपकी होती तो काया कुर्बान कर देती, आपके लिए प्राण दे देती, किन्तु मधुराजा के मोह में नहीं लिपटती।" इस प्रकार से प्रधान ने हेमरथराजा को बहुत समझाया, किन्तु उसका मोह दिल से हटता नहीं है।

हेमरथराजा का विलाप : "अरे ! इन्दुप्रभा ! तू मुझे छोड़कर कहाँ चली गई ? मुझे तेरे बिना जरा भी अच्छा नहीं लगता। मैं तो तेरी राह देख रहा था कि तू आज आए, कल आए। परन्तु तू तो मुझे भूल ही गई।" यों इन्दुप्रभा के वियोग में हेमरथराजा क्षण में हंसता है, क्षण में रोता है। कभी गाता है, नाचता है और कूदता है! थोड़ी देर महल में जाता है और फिर वापस बाहर आता है और चारों ओर दृष्टि दौड़ाता है। कभी महल में सोता रहता है, तो कभी सभा में जाता है। कभी तो ऐसे करुण स्वर में विलाप करता है, करुण स्वर में बोलता है - "हे इन्दुप्रभा ! तेरे बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। तेरे बिना मुझे यह वटपुर का राज्य और राजमहल सूने-सूने लगते हैं। तेरा वियोग मेरे लिए असह्य हो गया है! तेरे वियोग में मेरी भूख भाग गई है, नींद उड़ गई है। मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है ? मैंने तेरा क्या गुनाह किया है ? तू एक बार मेरे पास आकर यह कह दे। तूने मुझे बहुत समझाया था, किन्तु मैंने भोले बनकर तुझे वहाँ रखी, यह बहुत गलत किया। अब उस मधुराजा के सामने मेरा जोर नहीं चल सकता। अतः तू स्वयं यहाँ आ जा !" यों बोलता हुआ नगर में चारों ओर घूमने लगा, धूल में लोटने लगा। कभी-कभी तो स्वयं पहने हुए वस्त्रों को निकाल डालने लगता। प्रधान आदि मनुष्यों ने राजा का मन शान्त करने के लिए बहुत उपचार किये, पर सब व्यर्थ ! हेमरथराजा के दूसरी अनेक रानियाँ थीं, परन्तु इन्दुप्रभा के आगे वे सभी उसे तुच्छ लगती थी। किसी भी तरह से राजा का मन शान्त नहीं हुआ। वह इन्दुप्रभा के पीछे दिमाग पर नियंत्रण खोकर पागल हो गया। अब तो उसके मनुष्यों ने हार-थककर उसे छोड़ दिया। वह अपने कर्मोदय वश वन-वन में भटकने लगा। जहाँ गाँव आता, वहाँ जाकर जोर-जोर से चिल्लाता - "हे इन्दुप्रभा!" उसे पागल समझकर कोई-कोई उस पर पत्थर मारने लगते। लड़के उसे पागल-पागल कहकर उसकी मजाक करने लगे। यों घूमते-घूमते हेमरथराजा इन्दुप्रभा के पीछे पागल बनकर भवितव्यतावश अयोध्या नगरी पहुँच गया।

पागल बना हुआ हेमरथराजा अयोध्या में भटकने लगा : पागल हेमरथराजा अयोध्या नगरी में घूमने लगा। कुँए के किनारे पनिहारिनें पानी भरने के लिए आती हैं। उनमें से किसी को रूपवती देखता तो कहने लगता - "इन्दुप्रभा ! तू मेरी

इन्दुप्रभा है न ?" यों कहकर उसके पीछे दौड़ने लगता । इस पर महिलाएँ उसे लकड़ी लेकर बहुत मारने लगती, फिर भी वह अंटसंट बोलना बंद नहीं करता । ऊपर से यों कहने लगता - "क्या मेरी इन्दुप्रभा यहाँ आई है ? किसी ने उसे देखी है ? तुममें से किसी ने उसे देखी हो तो मुझे बता दो ।" यों बकने लगता । कई बार सभी लड़के उसके पीछे पड़ जाते और कंकर मारने लगते । परन्तु यह तो एक दिन इन्दुप्रभा, इन्दुप्रभा की रट लगाता हुआ, भटकता-भटकता राजमहल के पास आया । इन्दुप्रभा की दासी इसे देखकर पहचान गई । उसने सोचा - 'निश्चय ही यह इन्दुप्रभा का पति हेमरथराजा है । इसके पीछे यह कैसा पागल बन गया है ?'

वह दासी दौड़ती-दौड़ती इन्दुप्रभा रानी के पास आकर बोली : "महारानी ! एक विचित्र घटना हुई है । उसे आपको कहने में मेरी जीभ नहीं चलती ! किन्तु कहे बिना मैं रह नहीं सकती ।" यह सुनकर रानी ने पूछा - "ऐसी क्या बात है ? मुझे झटपट कह दे ।" तब दासी ने कहा - "आपके जो पहले पति थे हेमरथराजा, वह आपके वियोग में पागल हो गए हैं और जहाँ-तहाँ भटकर रहे हैं ।" दासी की बात सुनकर इन्दुप्रभा ने गुस्से होकर कहा - "पहले जो मेरे पति थे, उनके तो मैं एक नहीं, अनेक रानियाँ हैं । उनके यहाँ तो हाथी, घोड़ा, रथ, सैनिक आदि सबकुछ हैं । उनके किसी बात की कमी नहीं है कि वह पागल होकर अकेला भटके ? तेरी बात बिलकुल गलत है ।" इस पर दासी ने कहा - "अगर आपको मेरी बात सच्ची न लगती हो तो आप झरोखे के पास चलिए । मैं आपको रूबरू बताऊँ ।" यों कहकर वह दासी रानी को महल के झरोखे के पास ले आई । फिर पागल की तरह 'इन्दुप्रभा, इन्दुप्रभा' बोलते हुए हेमरथराजा को बताते हुए बोली - "देखिए ! यह आपका पति है या नहीं ? इसके तुम दर्शन करो ।" इन्दुप्रभा हेमरथराजा को तुरंत पहचान गई ।

देवानुप्रियों ! यह कैसी मोहराजा की माया है ? यहाँ सोचना यह है कि जो रानी अपने पति को छोड़कर परपुरुष के प्रेम में पड़ गई, उसका नाम भी लेना क्या अच्छा लग सकता है ? नहीं । उसके प्रति तो नफरत होनी चाहिए न ? उसके बदले हेमरथ-राजा उसके पीछे पागल हो गया । इसीका नाम संसार है । अभी भी देखिए । मोह क्या-क्या कराता है ? रानी के मन में विचार आया कि यह तो मेरे नाम की रट लगाता है । मेरी बदनामी करेगा, फजीहत करेगा । इसकी अपेक्षा इसे समझा-बुझाकर यहाँ से निकाल दूं, अतः उसने क्या किया ?

धाय भेज बुलाया हेमरथ को, पूछा एकान्त मांही ।
पहले कहा, तूने नहीं माना, मैं तुझ नारी नाहीं हो ॥ श्रोता...

इन्दुप्रभा ने दासी को भेजकर हेमरथराजा को ऊपर महल में बुलाया, फिर उसे एकान्त में ले जाकर कहा - "अब तू 'इन्दुप्रभा इन्दुप्रभा' कहकर क्या मेरी फजीहत करने पर तुला है ? मैंने पहले तुझे बहुत समझाया था, फिर भी तू नहीं

जाती है और ऊब महसूस होती है। एक बैठक में चार-पाँच सामायिक कर ली तो कहेगा - "महासतीजी ! मेरी कमर दुःखने लगी है।" दुकान में तुम ग्राहक को माल दिखाने-व समझाने-पटाने में कितनी बार उठ-बैठ करते हो फिर भी थकान महसूस होती है क्या ? नहीं होती। वहाँ कितनी लाचारी बताते हो ? वहाँ जीव की कितनी नम्रता है ? ऐसी नम्रता आत्मा के लिए आए तो कितना अच्छा हो !

अधिक क्या कहूँ ? देह की सुरक्षा करने के लिए कितनी देखभाल करते हो ? सामने से तेजी से आती हुई ट्रेन को देखते हो, तब तुम रेल की पटरियों को लांघने जाते हो क्या ? नहीं जाते। क्योंकि तुम जानते हो कि ट्रेन की चपेट में आ जाने से मृत्यु हो जाती है। इन सब खतरों से तो दूर रहते हो; किन्तु संसार-परिभ्रमण का भी कभी भय लगा है ? भव-भ्रमण का भय लगेगा, तब उसे स्व-स्वरूप का भान हो जाएगा, आत्मा की पहचान होगी। अनादिकाल से जीव को शरीर की जानकारी हुई है; किन्तु अभी तक आत्मा की जानकारी नहीं हुई। रोग से जब घबराते हो, तब डॉक्टर को तलाशने जाते हो न ? वैसे ही आत्मा को विभाव-रमण का रोग लगा हुआ है, फिर भी डॉक्टर को ढूंढने का मन होता है क्या ? नहीं होता। क्योंकि जीव पुद्गल की पहचान करने में पड़ा (लगा हुआ) है, किन्तु ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि "शरीर का भाव परभाव है, जबकि आत्मा का भाव स्व-भाव है।"

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

प्रतिबुद्धिराजा शरीर के बाह्यभाव में रमण कर रहे हैं, उनकी रमणता आत्मभाव में नहीं है। प्रधान के मुख से श्रीदामकाण्ड के गुण-श्रवण से तथा मल्लीकुमारी के सौन्दर्य एवं गुणों का वर्णन सुनकर वह मल्लीकुमारी को अपनी रानी बनाने के लिए तैयार हुए हैं। कैसी है जीव की मोहदशा ? नीचे उतरना, जीव का स्व-भाव हो गया है। उच्च-भावों में चढ़ने का विवेक वह भूल गया है। उच्चता पर आरोहण करने में पुरुषार्थ करना पड़ता है, नीचे तो आसानी से उतरा जाता है। पानी को ऊँचे चढ़ाने में मेहनत करनी पड़ती है, किन्तु नीचे उतारने में मेहनत नहीं करनी पड़ती।

प्रतिबुद्धिराजा ने प्रधान को बुलाकर कहा - "तुम कुम्भराजा के पास जाओ और उनसे प्रभावतीदेवी की आत्मजा, यानी प्रभावती की कुक्षि से जन्मी हुई मल्लीकुमारी की मांग (याचना) करो।" क्या प्रतिबुद्धिराजा के रानियाँ कम थीं ? क्या उसके अन्तःपुर में रानियों का टोटा था ? नहीं। किन्तु अग्नि पर राख डालो तो वह ढक जाती है, किन्तु हवा का झोंका लगते ही वह प्रज्वलित हो जाती है, वैसे ही प्रतिबुद्धिराजा और मल्लीकुमारी का पूर्व का स्नेह ढका हुआ था, मल्लीकुमारी का नाम सुनते ही उनका स्नेह जागृत हो गया। इसी कारण राजा ने प्रधान से कहा कि "आप जाकर कुम्भराजा से कहना कि हमारे महाराजा को मल्लीकुमारी को पटरानी बनानी है।"

मल्लीकुमारी जैसी पटरानी हो तो उससे हमारे राज्य की शोभा है । कुम्भराजा कदाचित् इस विषय में आनाकानी करें तो कहना कि "ऐसे अनुपम गुणवाली मल्लीकुमारी को आप हमें (राजा को) देंगे, और उसके बदले में कदाचित् आप मेरा सारा राज्य भी मांगे तो मैं (प्रतिबुद्धिराजा) देने को तैयार हूँ ।"

बन्धुओं ! सोचो - कितना रागमोह है ? अहा ! एक राजकन्या के साथ विवाह के लिए सारा राज्य उपहार में देने को तैयार हो गए हैं ! दिल्ली के श्रेष्ठी के पुत्र इलायचीकुमार ने नटकन्या के साथ शादी करने के लिए कितना त्याग किया ? दूध-चावल का भोजन करनेवाला, अत्यन्त सुख में पला हुआ इलायचीकुमार नटकन्या के मोह में पड़ा और उसे प्राप्त करने के लिए कितना त्याग करना पड़ा ? माता-पिता के प्रेम का त्याग, महान सुख-समृद्धि का त्याग और समस्त कुटुम्बीजनों के प्रेम का भी त्याग कर दिया । उसे इतना भी विचार नहीं हुआ कि मैं इस नटकन्या के मोह में पड़ा हूँ, पर इससे मेरे कुल की लज्जा और इज्जत का क्या होगा ? सच है, मोहकर्म के चंगुल में फंसे हुए मानव का विवेक विस्मृत हो जाता है । वह भान भूल जाता है । उसके ज्ञान का दीपक बुझ जाता है । यह मोहनीय कर्म ही है, जिसने इतने बड़े श्रेष्ठिपुत्र को नट बनने को बाध्य किया । यह प्रतिबुद्धिराजा भी मोहवश एक कन्या के लिए अपना सारा राज्य अर्पण करने को तैयार हो गए ।

राजा हरिश्चन्द्र का दृष्टांत : यह राजा तो एक कन्या के लिए राज्य देने को तैयार हो गए, जबकि हरिश्चन्द्रराजा ने सत्यधर्म के पालन के लिए अपना सारा राज्य (विश्वामित्र ऋषि को) दे दिया था । विश्वामित्र ऋषि बगीचे में तप कर रहे थे । हरिश्चन्द्रराजा को सत्यव्रत से विचलित करने लिए एक देव ने राजा को विश्वामित्र के बगीचे की ओर जाने की प्रेरणा दी । राजा जब बगीचे में पहुँचे, तब वहाँ ऋषि के श्राप से पेड़ के साथ चिपकी हुई दो बालिकाएँ देखीं, जो जोर से चिल्ला रही थी - "कोई हमें बचाओ, कोई बचाओ, सत्यवादी हरिश्चन्द्र के राज्य में हम पर जुल्म हो रहा है !" यों बोलती और विलाप करती हुई उन दो बालाओं को राजा हरिश्चन्द्र ने छुड़ा दिया । विश्वामित्र को इस बात का पता लगते ही वे क्रोध से आग बबूला हो गए ।

विश्वामित्र ऋषि का तप तापमय था । इस कारण वह क्रोध से भड़कते हुए राज्यसभा में जा पहुँचे और बोले - "राजन् ! जिन बालाओं को हमने बंधन से बांधी थी, उसे तुम कैसे छुड़ा सकते हो ?" इस पर हरिश्चन्द्रराजा ने प्रजाजनों से पूछा - "मैंने दो लड़कियों को छुड़ाई (बन्धनमुक्त की) इसमें मेरा अपराध है क्या ?" प्रजाजनों ने कहा - "आप सर्वोपरि मालिक हैं । आपको पूर्ण सत्ता है कि आप जो धारें, वह कर सकते हैं । आपका कोई गुनाह है ही नहीं ।" प्रजाजनों के इन वचनों को सुनकर ऋषि सोचने लगे कि "प्रजा तो राजा की तरफदारी में ही बोल रही है । इसी कारण यह राजा

का पक्ष ले रही है।' यह देख ऋषि को अत्यन्त क्रोध हुआ। वह क्रोधावेश में आकर वहाँ से चलने लगे। तब राजा ने सम्मानपूर्वक कहा - "पधारिए ऋषिवर!" इस पर क्रोधावेश में आकर विश्वामित्र ने कहा - "अगर तू ऋषि का सत्कार-सम्मान करता है तो वह जो मांगे, वह चीज उन्हें दे दे। तू राजनीति की बड़ी-बड़ी बातें करता है, परन्तु अपने आंगन में आये हुए याचक को दान देने का तो तू जानता-समझता ही नहीं।" राजा ने कहा - "ऋषिवर! आप जो मांगेंगे, वह मैं दूंगा।" पवित्र हृदय वाले मानव को यह ख्याल नहीं होता कि सामनेवाले के पेट में कौन-सी गलत बदबू भरी है। ऋषि ने कहा - "राजन्! समुद्रसहित तेरा समग्र राज्य मुझे दे दो।" राजा ने एक सत्य के लिए प्रसन्न मुख से सारा राज्य ऋषि को दे दिया। फिर ऋषि ने कहा - "अब (दान के बाद) दक्षिणा तो दे?" तब राजा ने अपने प्रधान से कहा - "अपने राज्यभंडार से १००० स्वर्णमुद्राएँ लाकर इन्हें दे दो।" ऋषि ने कहा - "समुद्र सहित सारा राज्य जब तूने मुझे दे दिया है, तब भंडार में से स्वर्णमुद्राएँ नहीं ली जा सकती।" राजा ने विचार किया - 'अब तो एक हजार स्वर्णमुद्राएँ बाहर से ही लानी पड़ेगी।'

हरिश्चन्द्र राजाने तारामती से इस सम्बन्ध में बात की। हरिश्चन्द्रराजा से तारामती और रोहित के सहमत होने पर तीनों ने वन की विषम राह पर प्रस्थान किया। तब विश्वामित्र ने तारामती और रोहित से कहा - "राजा भले ही राज्य से बाहर जाए, तुम दोनों माता-पुत्र क्यों इनके साथ जा रहे हो? तुम्हें वनवास नहीं दिया गया है।" तारामती ने कहा - "ऋषिवर! आपने ही हमें पतिव्रत धर्म सुन्दर ढंग से समझाया है। अतः मेरे पति जाते हों तो मुझसे उनका अनुसरण किये बिना, यहाँ कैसे रहा जाएगा?" ऋषि ने तारामती की बहुत कसौटी की, परन्तु तारामती अपने प्रण से डिगी नहीं। अन्त में ऋषि ने कहा - "अच्छा, तुम जाती हो, इनके साथ तो भले ही जाओ, पर तुम्हारे आभूषण तो उतार कर मुझे दे दो?" सोचिए जरा। एक सत्य के लिए कितना त्याग किया? सारा राज्य अर्पण कर दिया, सिर्फ सत्य के लिए ही न?

हरिश्चन्द्रराजा ने सत्य के लिए सम्पूर्ण राज्य का त्याग किया। परन्तु यहाँ तो प्रतिबुद्धिराजा मोह के पोषण के लिए और राजकन्या को पाने के लिए अपना पूरा राज्य दे देने के लिए उद्यत हो गए। और प्रधान से भी कहा कि "तुम जल्दी जाओ मल्लीकुमारी की मंगनी कर आओ। अगर वह मल्लीकुमारी [illegible] देने के लिए आनाकानी या टेढ़ापन करे, राज्य भी [illegible] दे देना, [illegible] भी मूल्य पर मल्लीकुमारी को लेकर आना।" [illegible]

तएणं से दुए पडिबुद्धिणा [illegible]

तदनन्तर उस दूत [illegible] के [illegible]
उसकी आज्ञा स्वीका[illegible] जहाँ [illegible]

•••

प्रधान बहुत ही आज्ञाकारी है। वह राजा की आज्ञा के अनुसार कार्य करता है। कभी राजा किसी कार्य में गलती करता है, या भूल जाता है तो उसे सत्य समझाता है। राजा अगर सत्य चूक जाता हो, भ्रष्ट हो रहा हो, तो सच्ची-सच्ची बात कह देता है। वास्तव में वही सच्चा प्रधान (मंत्री) होता है। राजा की बात सुनकर प्रधान को अपार हर्ष हुआ, क्योंकि मल्लीकुमारी जब छोटी थी, तब प्रधान ने उसे देखी थी। उस समय भी उसका रूप-सौन्दर्य अनुपम था। तो इस समय तो वह (यौवन-सम्पन्न होने से) कैसी शोभायमान होगी ? ऐसी सुन्दरी और गुणवती राजकन्या अगर हमारे महाराजा को मिले और पटरानी बने तो हमारे राज्य का मूल्य और गौरव बढ़े। इस कारण प्रधान के मन में बहुत प्रसन्नता है। अत: उसने घर जाकर स्नान किया। स्नान करके सुसज्ज होकर चार घंटवाला रथ मंगाया। सारथी ने चार घोड़ेवाला तथा चार घंटवाले रथ को तैयार किया। फिर हाथी, घोड़े तथा सुभट आदि परिवार को साथ लेकर रथ में प्रधानजी बैठे और साकेतपुर नगर के मध्यभाग से होकर जिस ओर मिथिला राजधानी थी, उस ओर प्रयाण किया। मिथिला नगरी में जहाँ प्रभावती रानी की आत्मजा और कुम्भराजा की पुत्री थी, वहाँ पहुँचने के लिए रथ को उस ओर मोड़ा। मल्लीकुमारी और प्रतिबुद्धिराजा का पूर्वकालिक प्रेम-सम्बन्ध था, इस कारण राजा का मल्लीकुमारी के प्रति आकर्षण हुआ। यह एक पूर्वकालिक मित्रराजा की बात हुई। अब प्रधान मिथिला नगरी में पहुँचेगा और कुम्भराजा आदि के साथ उसका क्या वार्तालाप होगा, यह बात यथावसर कही जाएगी।

द्वितीय पूर्वकालिक मित्र चम्पा नगरी के अंगराज चन्द्रच्छाय का परिचय :

अब दूसरे पूर्वकालिक मित्रराजा के विषय में विचार कर लें।

तेणं कालेणं तेणं समएणं अंगणामं जणवए होत्था। तत्थणं चंपाए णामं णयरीए चंदच्छाए अंगराया होत्था।

उस काल और उस समय में (अर्थात्-मल्लीभगवती का जन्म हुआ था, उस समय में) अंग नामक जनपद (देश) था, उसकी राजधानी चम्पा नाम की नगरी थी। उस चम्पा नगरी में अंगराज चन्द्रच्छाय नामक राजा था। चन्द्रच्छायराजा कैसे थे ? वह यथा-नाम तथा गुण की कहावत के अनुसार चन्द्र जैसे शीतल थे। सूर्य तपता और तपाता है, मगर चन्द्रमा तो शीतलता यानी ठंढक देता है। यह चन्द्रच्छायराजा भी चन्द्र जैसे शीतल थे। सभी जीवों को शान्ति और शीतलता देनेवाले थे। फिर वे अत्यन्त धर्मिष्ठ और प्रामाणिक थे। जहाँ का राजा धर्मात्मा होता है, वहाँ की प्रजा भी प्राय: धर्मात्मा होती है। यह राजा नगरी में किन्हीं संत या सतीजी के आगमन के समाचार सुनते तो तुरंत उनके दर्शन, वन्दन एवं प्रवचन-श्रवण के लिए पहुँच जाते थे। मगधनरेश श्रेणिकराजा जहाँ भगवान् महावीर के पदार्पण के समाचार सुनते थे,

का पक्ष ले रही है ।' यह देख ऋषि को अत्यन्त क्रोध हुआ । वह क्रोधावेश में आकर वहाँ से चलने लगे । तव राजा ने सम्मानपूर्वक कहा - "पधारिए ऋषिवर !" इस पर क्रोधावेश में आकर विश्वामित्र ने कहा - "अगर तू ऋषि का सत्कार-सम्मान करता है तो वह जो मांगे, वह चीज उन्हें दे दे । तू राजनीति की बड़ी-बड़ी बातें करता है, परन्तु अपने आंगन में आये हुए याचक को दान देने का तो तू जानता-समझता ही नहीं ।" राजा ने कहा - "ऋषिवर ! आप जो मांगेंगे, वह मैं दूंगा ।" पवित्र हृदय वाले मानव को यह ख्याल नहीं होता कि सामनेवाले के पेट में कौन-सी गलत वदबू भरी है । ऋषि ने कहा - "राजन् ! समुद्रसहित तेरा समग्र राज्य मुझे दे दो ।" राजा ने एक सत्य के लिए प्रसन्न मुख से सारा राज्य ऋषि को दे दिया । फिर ऋषि ने कहा - "अव (दान के वाद) दक्षिणा तो दे ?" तव राजा ने अपने प्रधान से कहा - "अपने राज्यभंडार से १००० स्वर्णमुद्राएँ लाकर इन्हें दे दो ।" ऋषि ने कहा - "समुद्र सहित सारा राज्य जव तूने मुझे दे दिया है, तव भंडार में से स्वर्णमुद्राएँ नहीं ली जा सकती ।" राजा ने विचार किया - 'अव तो एक हजार स्वर्णमुद्राएँ वाहर से ही लांनी पड़ेगी ।'

हरिश्चन्द्र राजाने तारामती से इस सम्बन्ध में वात की । हरिश्चन्द्रराजा से तारामती और रोहित के सहमत होने पर तीनों ने वन की विषम राह पर प्रस्थान किया । तव विश्वामित्र ने तारामती और रोहित से कहा - "राजा भले ही राज्य से वाहर जाए, तुम दोनों माता-पुत्र क्यों इनके साथ जा रहे हो ? तुम्हें वनवास नहीं दिया गया है ।" तारामती ने कहा - "ऋषिवर ! आपने ही हमें पतिव्रत धर्म सुन्दर ढंग से समझाया है । अतः मेरे पति जाते हों तो मुझसे उनका अनुसरण किये विना, यहाँ कैसे रहा जाएगा ?" ऋषि ने तारामती की वहुत कसौटी की, परन्तु तारामती अपने प्रण से डिगी नहीं । अन्त में ऋषि ने कहा - "अच्छा, तुम जाती हो, इनके साथ तो भले ही जाओ, पर तुम्हारे आभूषण तो उतार कर मुझे दे दो ?" सोचिए जरा । एक सत्य के लिए कितना त्याग किया ? सारा राज्य अर्पण कर दिया, सिर्फ सत्य के लिए ही न ?

हरिश्चन्द्रराजा ने सत्य के लिए सम्पूर्ण राज्य का त्याग किया । परन्तु यहाँ तो प्रतिवुद्धिराजा मोह के पोषण के लिए और राजकन्या को पाने के लिए अपना पूरा राज्य दे देने के लिए उद्यत हो गए । और प्रधान से भी कहा कि "तुम जल्दी जाओ मल्लीकुमारी की मंगनी कर आओ । अगर वह मल्लीकुमारी को देने के लिए आनाकानी या टेढ़ापन करे, राज्य भी देना पड़े तो दे देना, परन्तु किसी भी मूल्य पर मल्लीकुमारी को लेकर आना ।" यह सव कौन वुलवाता है ? मोहनीय कर्म ।

तएणं से दुए पडिवुद्धिणा रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे पडिसुणेइ ।

तदनन्तर उस दूत ने प्रतिवुद्धिराजा के इस प्रकार कहने पर हर्षित और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा स्वीकार की । और जहाँ अपना घर था, वहाँ गया । दौत्यकर्म-प्रवीण

प्रधान बहुत ही आज्ञाकारी है। वह राजा की आज्ञा के अनुसार कार्य करता है
राजा किसी कार्य में गलती करता है, या भूल जाता है तो उसे सत्य समझा
राजा अगर सत्य चूक जाता हो, भ्रष्ट हो रहा हो, तो सच्ची-सच्ची बात कह
वास्तव में वही सच्चा प्रधान (मंत्री) होता है। राजा की बात सुनकर प्रधान को
हर्ष हुआ, क्योंकि मल्लीकुमारी जब छोटी थी, तब प्रधान ने उसे देखी थी। उस
भी उसका रूप-सौन्दर्य अनुपम था। तो इस समय तो वह (यौवन-सम्पन्न
कैसी शोभायमान होगी ? ऐसी सुन्दरी और गुणवती राजकन्या अगर हमारे म
को मिले और पटरानी बने तो हमारे राज्य का मूल्य और गौरव बढ़े। इस कारण
के मन में बहुत प्रसन्नता है। अतः उसने घर जाकर स्नान किया। स्नान करके
होकर चार घंटवाला रथ मंगाया। सारथी ने चार घोड़ेवाला तथा चार घंटव
को तैयार किया। फिर हाथी, घोड़े तथा सुभट आदि परिवार को साथ लेकर
प्रधानजी बैठे और साकेतपुर नगर के मध्यभाग से होकर जिस ओर मिथिला रा
थी, उस ओर प्रयाण किया। मिथिला नगरी में जहाँ प्रभावती रानी की आत्मज
कुम्भराजा की पुत्री थी, वहाँ पहुँचने के लिए रथ को उस ओर मोड़ा। मल्ली
और प्रतिबुद्धिराजा का पूर्वकालिक प्रेम-सम्बन्ध था, इस कारण राजा का मल्ली
के प्रति आकर्षण हुआ। यह एक पूर्वकालिक मित्रराजा की बात हुई। अब
मिथिला नगरी में पहुँचेगा और कुम्भराजा आदि के साथ उसका क्या वा
होगा, यह बात यथावसर कही जाएगी।

द्वितीय पूर्वकालिक मित्र चम्पा नगरी के अंगराज चन्द्रच्छाय का परिचय

अब दूसरे पूर्वकालिक मित्रराजा के विषय में विचार कर लें।

तेणं कालेणं तेणं समएणं अंगणामं जणवए होत्था। त
चंपाए णामं णयरीए चंदच्छाए अंगराया होत्था।

उस काल और उस समय में (अर्थात्-मल्लीभगवती का जन्म हुआ था, उस
में) अंग नामक जनपद (देश) था, उसकी राजधानी चम्पा नाम की नगरी थी
चम्पा नगरी में अंगराज चन्द्रच्छाय नामक राजा था। चन्द्रच्छायराजा कैसे थे
यथा-नाम तथा गुण की कहावत के अनुसार चन्द्र जैसे शीतल थे। सूर्य
और तपाता है, मगर चन्द्रमा तो शीतलता यानी ठंडक देता है। यह चन्द्रच्छायरा
चन्द्र जैसे शीतल थे। सभी जीवों को शान्ति और शीतलता देनेवाले थे।
अत्यन्त धर्मिष्ठ और प्रामाणिक थे। जहाँ का राजा धर्मात्मा होता है, वहाँ की प्र
प्रायः धर्मात्मा होती है। यह राजा नगरी में किन्हीं संत या सतीजी के आगम
समाचार सुनते तो तुरंत उनके दर्शन, वन्दन एवं प्रवचन-श्रवण के लिए पहुँच

तो तुरंत वहाँ सपरिवार ठाठबाठ से उनके दर्शन-वन्दनार्थ पहुँच जाते थे । राजा की इस वृत्ति-प्रवृत्ति को देखकर प्रजा भी प्रभु महावीर के दर्शन-वन्दनार्थ पहुँच जाती थी ।

राजा चन्द्रच्छाय चन्द्रसम शीतल थे, तो उनकी प्रजा भी शीतल थी । इसके प्रमाणस्वरूप चम्पा नगरी के अर्हन्नक प्रमुख पोतवणिकों के जीवन की झांकी शास्त्र में प्रस्तुत की गई है । अर्हन्नक आदि कतिपय पोतवणिक थे, वे जलमार्ग से व्यापार करने के लिए विभिन्न जनपदों-देशों में साथ-साथ जाते-आते थे । वे साथ-साथ रहते और साथ ही निवास करते थे । उस समय मुख्यतया चार प्रकार की वस्तुओं का व्यवसाय होता था । कुछ गणिम वस्तुओं का व्यापार गिन-गिनकर होता था, जैसे नारियल आदि । कुछ धरिम वस्तुओं का व्यापार तराजू से तोलकर होता था, जैसे धन आदि । कुछ मेय वस्तुओं का व्यापार पायली आदि से मापकर होता था, जैसे पायली आदि भरकर बेचने योग्य अनाज आदि । कुछ परिच्छेद्य-काटकर या गज आदि से नापकर होता था, जैसे कपड़ा आदि । ऐसे अनेक वस्तुओं का व्यवसाय करनेवाले समृद्ध व्यापारी इस नगरी में रहते थे । वे सब व्यापारी धन-धान्य आदि समस्त सुखसाधनों से सम्पन्न थे । वे किसी से पराभूत होने (दबने या हार खाने) वाले नहीं थे । उन बड़े व्यापारियों में अर्हन्नक नामक बड़ा व्यापारी था, वह श्रावकव्रती था । वह कैसे-कैसे गुणों से सम्पन्न था, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

हेमरथराजा कहता है - "इन्दुप्रभा ! तू एकबार तो मुख ऊँचा करके मेरे सामने देख और मेरे साथ वटपुर चल ।" किन्तु उसकी बात अनसुनी करके बोली - "अब तुम जल्दी से जल्दी यहाँ से रवाना हो जाओ । अभी मधुराजा आएँगे, तो तुम्हारी फजीहत होगी ।" तब हेमरथराजा ने कहा - "अरी, फटे हुए दूध जैसी रांड ! अब तुम्हारी फजीहत होने में क्या बाकी रह गया ? तू मुझे कहती है, तुम्हारी फजीहत होगी, परन्तु कालाकर्म तो तूने किया है । तू किसी पराये के घर में बैठ गई है और मेरी फजीहत कर रही है । परन्तु याद रखना, तू नरक-तिर्यंच गति में जाएगी ।" इस प्रकार से दोनों परस्पर बकझक कर रहे थे । इसी बीच मधुराजा आ पहुँचे । इन्दुप्रभा ने उनका स्वागत किया । मधुराजा तो इन्दुप्रभा के मोह में मुग्ध बन गया, उसके पीछे इतना पागल बन गया कि राज्यसभा में नहीं जाता । राज्य की गतिविधि के विषय में जरा भी ध्यान नहीं देता, कोई व्यक्ति अपनी फरियाद लेकर राजा के पास आता है तो उस से कह देता है - "तुम अपनी फरियाद प्रधानजी से कहो ।" परस्त्रीगमन में आसक्त राजा राज्य की सुचारु सुव्यवस्था के प्रति अपने दायित्व और कर्तव्य को बिलकुल भूल गए । इतना ही नहीं, कोई दुश्मन राज्य पर हमला कर दे, या राज्य चला जाए, इस विषय में भी वह कोई सारसंभाल नहीं रखते थे ।

इन्दुप्रभा की ललकार से मधुराजा का जीवन-परिवर्तन : ऐसे जीव की जब भवितव्यता जागती है, तब उसे कोई न कोई अच्छा निमित्त मिल जाता है। अर्जुनमाली जैसे पापी को सुदर्शन श्रमणोपासक से भेट होने तथा भगवान् महावीर के मिलने से वह पापी से पुनीत धर्मात्मा बन गया था और उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर चुका था। एक दिन मधुराजा इन्दुप्रभा के मोह में मुग्ध बना हुआ, उसके साथ महल में बैठा था। तभी एक सिपाही एक परस्त्रीलम्पट पुरुष को पकड़कर राजा के पास लाया। राजा ने पूछा - "क्या बात है ? इसे यहाँ क्यों लाए हो ?" सिपाही बोला - "इसने परस्त्रीगमन किया है। इसके लिए आपको जो सजा फरमानी हो, उसे फरमाइए।" राजा ने कहा - "तुम इसकी सजा जानते हो, फिर मुझे क्यों पूछते हो ? परस्त्रीगमन करनेवाले को तो फांसी की सजा दी जाती है, ताकि दूसरा कोई ऐसा कुकर्म न करे।" इन्दुप्रभा रानी उस समय पास में ही बैठी थी, उसने राजा से पूछा - "आप इसे फांसी की सजा क्यों दे रहे हैं ?" राजा ने कहा - "इसने परस्त्रीगमन किया है। मेरे राज्य में कोई भी मनुष्य बहन, बेटी के प्रति कुदृष्टि करे, अथवा कोई किसी कुंआरी लड़की या विवाहिता नारी की छेड़खानी करे तो उसे मैं फांसी की सजा देने का आदेश देता हूँ।"

इन्दुप्रभा ने कहा - "किसी ने किसी की बहन, बेटी की छेड़खानी की, उस पर बलात्कार करके उसकी शील लूटा तो उसे सुधारिए, किन्तु उसे फांसी की सजा क्यों देते हैं ?" राजा कहता है - "महारानी ! क्या यह अपराध छोटा और नगण्य है ? यह तो बहुत बड़ा पाप है।" यह सुनकर इन्दुप्रभा ने कहा - "महाराजा ! परस्त्रीगमन को आपने भयंकर अपराध बताये तथा उसके अनेक दोष बताए। तो आप मुझे किस प्रकार लाए हैं और मुझे बलात् अपनी अंगशायिनी बना ली है। क्या आपने मेरे साथ विवाह किया है ? नहीं किया न ? अतः मैं आपके लिए परस्त्री हूँ न ? इस जगत् में परस्त्रीगमन बहुत बड़ा पाप है, ऐसा भी आप समझते हैं। इतना जानते-समझते हुए भी आप किस रास्ते पर हैं ? ठंडे दिल-दिमाग से सोचिए।" इन्दुप्रभा के वचन सुनकर मधुराजा एकदम खड़े हो गए और पश्चात्तापभाव से कहने लगे - "धिक्कार है मुझे। मैं कैसे घोर पाप में पड़ गया। अहह ! मैंने यह क्या किया ? मैं दूसरों के दोष देखता हूँ, पर मुझे अपने दोष नजर नहीं आते ? मैं अपनी प्रजा पर जिस अपराध के लिए मृत्युदण्ड का आदेश देता हूँ, कठोर सजा करता हूँ, उस राज्य में मैंने ऐसा अधम कार्य किया। इन्दुप्रभा के मोह में पड़कर दुनिया की दृष्टि में मैंने ऐसा घोर अकृत्य किया।" राजा को अपनी भूल का भान हुआ। उनके अन्तर में पश्चात्ताप के झरने बहने लगे - "हाय ! मैंने कुलाचार का लोप किया। वृद्धों के वचनों का अनादर किया।" यों राजा ने अपनी इन्द्रियों की विषय-लोलुपता की निन्दा की और इन्दुप्रभा से कहा - "अब तू मेरी माता और बहन समान है। अब मुझे एक क्षण भी संसार

७. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में उक्त मल्लिनाथ भगवान् का वर्णन सुनाया जा रहा है। चम्पा नगरी में अर्हन्नक प्रमुख अनेक बड़े-बड़े व्यापारी रहते थे। वे सब धन-धान्य आदि समस्त वैभवों से सम्पन्न थे। उनमें अर्हन्नक नामक व्यापारी तो श्रमणोपासक था। श्रमणोपासक किसे कहते हैं ? जो श्रमणों की उपासना करे, वह श्रमणोपासक कहलाता है। साधु का गुणस्थान छठ्ठा है, जबकि श्रमणोपासक (श्रावक) का गुणस्थान पाँचवाँ है। इस अपेक्षा से श्रावक साधु का पड़ोसी है। भगवान् ने धर्म के दो प्रकार बताए हैं - 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है - *"अगार्यनगारश्च"*- एक आगारधर्म और दूसरा अनगारधर्म। दूसरे शब्दों में कहें तो एक साधुधर्म और दूसरा श्रावकधर्म।

हम यहाँ श्रावकधर्म की बात कर रहे हैं। चम्पा नगरी में अर्हन्नक श्रावक बहुत धनवान् था। वह केवल धन से ही समृद्ध नहीं, किन्तु धर्म से भी समृद्ध था। आज संसार में धनवान् तो बहुत दिखाई देते हैं, किन्तु धर्मवान् बहुत ही कम देखने में आते हैं। बहुत-से लोगों के घर में करोड़ों की सम्पत्ति है, परन्तु शुद्ध (आत्म) धर्म कितने लोगों के पास है ? आज तो लोगों के पास धन तो बढ़ता गया, मगर धर्म घटता जा रहा है। अर्हन्नक वणिक आर्हत आगम का अनुरागी और श्रमणों का सेवक था। वह अत्यन्त धर्मिष्ठ था। श्रावक कैसा होता है, इसका एक गुण बताया गया है - *'अहिगय-जीवाजीवे'* अर्थात् - जीव और अजीव का ज्ञाता। और भी गुण बताए हैं -

दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः।
सलज्जः सदयः सौम्यः, परोपकृति-कर्मठः॥

अर्थात् - श्रावक दीर्घदर्शी होता है। दीर्घदर्शी वह होता है, जो आगे-पीछे का विचार करके कार्य करता है, यह कार्य (सही) यथार्थ है, यह अयथार्थ (गलत) है, इस कार्य में आत्मा का हित है, इस कार्य में अहित है, केवल सामान्य तौर से ही नहीं, विशेषरूप से वह किसी वस्तु या व्यक्ति को जाने, वह विशेषज्ञ होता है। फिर वह लोकप्रिय होता है। अपने सत्य, सदाचार, सेवा, सहिष्णुता, उदारता आदि गुणों से जो जनता का प्रेम सम्पादन करता है, वह लोकप्रिय होता है। वह कृतज्ञ होता है, कृतघ्न नहीं। जिसने अपने पर [illegible] उपकार [illegible] उपकार कभी भूले नहीं। समय आने पर उसके [illegible], यह कृतज्ञ होता है। श्रावक लज्जावान होता है, [illegible] में जो [illegible] नहीं है, वैसे अनुचित कार्यों-कुकृत्यों को करने [illegible] है। [illegible]

जीवों की हिंसा का कार्य हो, वहाँ उसका हृदय कांपने लगता है, वह सहृदय हो
है, मरते हुए जीवों को यथाशक्ति दया करके बचाता है। वह सोचता है कि अरे
मैं गृहस्थजीवन में रहा हूँ, मुझे आरम्भादि जन्य पापकर्म करना पड़ता है। फिर
वह उदासीनतापूर्वक करता है, अल्पारम्भपूर्वक करने का प्रयत्न करता है। श्रावक
प्रकृति और आकृति सौम्य होती है। वह तीव्र क्रोधादि से दूर रहता है। सच्चे सह
श्रावक के मुख पर शान्ति और प्रसन्नता होती है। तीव्र क्रोधादि की रेखा न
होती। वह परोपकार करने में कर्मठ होता है। वह परोपकार एवं सेवा करने
सदा उद्यत रहता है। अवसर आने पर संघ की सेवा करने में भी पीछे नहीं हटत
प्रेम से सेवा करता है।

यहाँ हमें अर्हन्नक श्रावक की बात करनी है। अर्हन्नक के जीवन में श्रावक
योग्य सभी गुण थे। अपने गुणों से अर्हन्नक ने लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। अ
सब लोग भी श्रावक हैं न? किन्तु एक बात निश्चित है कि अगर आपको सच्चे श्राव
बनना हो तो उपर्युक्त गुणों को अपने जीवन में अपनाने होंगे। अर्हन्नक श्रमणोपास
सभी व्यापारियों में अग्रणी (प्रमुख) था। इस कारण शास्त्र में उसका नाम तथा उस
दृढ़ धार्मिकता का परिचय दिया गया है। दूसरे सभी व्यापारियों को श्रावक नहीं क
गया है, क्योंकि चम्पा नगरी में जितने व्यापारी थे, वे सब श्रावक नहीं थे, सम्भ
है, उनमें कोई-कोई श्रावक भी होंगे। एक दिन अर्हन्नक प्रमुख सभी सांयत्रिक नौ
वणिक् नौकाओं द्वारा व्यापार करनेवाले किसी स्थल पर एकत्रित हुए और उन्हों
मिलकर परस्पर यों विचार-विमर्श किया -

"सेयं खलु अम्हं गणिमंच, धरिमं च, मेज्जंच, परिच्छेज्जं
भंडगं गहाय लवणसमुद्दं पोय-वहणेण ओगाहित्तए त्तिकट्
अन्नमन्नं एयमट्ठं पडिसुर्णेति।"

हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि हमें गणिम अर्थात् - गिन-गिनकर बेचने यो
नारियल आदि पदार्थ, धरिम यानी तराजू से तोलकर बेचने योग्य घृत आदि पदा
मेय यानी पायली आदि से मापकर बेचने योग्य अनाज आदि पदार्थ तथा परिच्छे
अर्थात्-गज आदि से नापकर काटकर बेचने योग्य वस्त्र आदि, अथवा पदार्थ के गुण
से परीक्षण करके बेचने योग्य रत्न, मणि, हीरे आदि आभूषण, इन चारों प्रकार
भाण्ड (विक्रेय पदार्थ) लेकर नौकाओं में भरकर उन जहाजों (जलयानों) द्वारा लवण
समुद्र पार करके जाएँ तो हमें काफी लाभ होगा।" इस प्रकार परस्पर विचार कर
उन्होंने वह बात अंगीकार की।

बन्धुओं ! इस अर्हन्नक श्रावक ने सभी व्यापारियों को एकत्र करके कहा - "गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य, इन चार प्रकार की विक्रेय वस्तुएँ लेकर हम सब विदेश कमाने के लिए जाएँ तो हमें बहुत लाभ होगा । परन्तु समुद्र को लांघ (पार) करके जाना है । इसलिए हम सब एकत्र होकर जाएँ । एकत्र होकर जाने से एक-दूसरे को आनन्द मिलेगा ।" वास्तव में धन कमाने के लिए मनुष्य अपने माता-पिता, पुत्र, पत्नी, मित्र तथा अपनी प्रिय जन्मभूमि को छोड़कर विदेश जाता है । आज अनेक माता-पिता अपनी संतानों को विदेश पढ़ने के लिए भेजते हैं । जो माता एक दिवस भी अपने पुत्र के बिना नहीं रह सकती, वह धन कमाने के लिए वर्षों तक-विदेश में रह जाती है । इसका मतलब है, धन मिलता हो तो पुत्रादि का वियोग भी सहन कर लिया जाता है । एक कवि कहता है -

ओ...तारा धनना टेका उपर, मस्त बनीने तुं नाचे छे,
आ धन छे तारुं पोतानुं, ए भ्रमणामां राचे छे ।
केवी मूर्खाई मूर्खाई, मूर्खाई...नवाई छे,
तुं भूले छे भाई ! नथी ए साची सगाई ॥ केवी...

जिस धन को प्राप्त करके उसके सहारे से तू मस्तराम बनकर नाचता है, क्या वह धन तेरा है ? अगर वह तुम्हारा होगा तो तुम्हारे साथ में आएगा न ? आज तक कितने करोड़पति अपने साथ धन को लेकर गए हैं ? यदि कोई धन को साथ में लेकर गया हो तो मुझे बताओ । (श्रोताओं से आवाज - कोई भी अपने साथ एक लाल पाई भी लेकर नहीं जाता । सब यहीं पड़ा रह जाता है ।) इतना जानने पर भी उसे प्राप्त करने के लिए कितना उखाड़पछाड़ करते हो ? याद रखो, मरते वक्त साथ में पुण्य और पाप के सिवाय कुछ भी नहीं आता । अगर तुम्हें सच्चा सुख और वास्तविक शान्ति चाहिए तो धर्माचरण में जुट जाओ । आस्रव का घर छोड़कर संवर के घर में आ जाओ । अगर समझ-बूझकर संवर-निर्जरारूप धर्म के घर में नहीं आओगे तो, जब पुत्र सारा व्यापार अपने हाथ में ले लेंगे, जब तुम्हें वे दुकान पर आने की मना ही कर देंगे, तब तुम्हें बहुत आघात लगेगा । संत तुम्हें जो हित की बात समझाते हैं, वह तुम्हारी भलाई के लिए होती है ।

बहुत वर्षों पहले की घटना है । मारवाड़ में रोहिड नामक पवित्र साधु हो गए हैं । उनको दीक्षा लेने के बाद ऐसी लगन लगी कि मुझे शीघ्र कर्मक्षय करके जल्दी मोक्ष प्राप्त करना है । उन्होंने अपने गुरु से कहा - "गुरुदेव ! मुझे भव-भ्रमण नहीं करना है । जन्म-मरण का चक्कर मिटाने के लिए आप जो भी (तपत्याग आदि करने का) कहेंगे, उसे मैं करने को तैयार हूँ । रोहिडमुनि को जन्म-मरण के दुःख त्रासदायी लगते थे । इस कारण गुरु के चरणों में समर्पित होकर गुरु की आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार हुए । गुरु ने जल्दी से जल्दी कल्याण हो, ऐसा मार्ग बताया । रोहिडमुनि

ने जीवनभर एकान्तर (एक दिन छोड़कर एक दिन उपवास) उपवास करने की प्रतिज्ञ
की । तदुपरान्त भी वह एक वर्ष में दो मासखमण, छह अट्ठाईयाँ तथा बीच बीच
छट्ठ (वेला), अट्ठम (तेला) भी करते थे । ऐसी घोर तपस्या के साथ शीत और उष्णऋ
की आतापना लेते थे । यानी शीत ऋतु की ठंडी में और ग्रीष्म ऋतु में धगधगत
रेत में ध्यान करके खड़े रहते थे और भगवान् की आज्ञा अनुसार शुद्ध संयम क
पालन करते थे । तथैव स्वाध्याय-ध्यान में रत रहते थे । इतना तप करते हुए भी व
कभी लम्बे पैर करके नहीं सोते थे । उनकी एक ही भावना थी के मेरे सिर पर कर्म
का कर्ज हो तो मुझ से मस्ती से कैसे सोया जा सकता है ? एक बार वे गर्मी के दिन
में गाँव के वाहर आतापना लेने हेतु ध्यान करके खड़े थे । उस समय एक फणीध
सर्प आकर उनके दोनों पैरों को इस तरह लिपट गया था कि मानो मजबूत वंधन
किसी ने उनके पैर वांध दिये हों । फिर भी वह तो अपने ध्यान में मस्त थे, उनक
मन जरा भी विचलित नहीं हुआ । उनका मन तो नहीं डिगा सो नहीं डिगा, तन भ
नहीं हिला । कितनी स्थिरता होगी उनके तन-मन में ! परन्तु जिसे जल्दी मोक्ष
जाना है, जिसे जल्दी कर्म खपाने हैं, उसका शरीर के प्रति रागभाव छूट जाता है
वह वहुत ही समतापूर्वक ध्यान में अडिग खड़े हैं । नाग भी स्थिर है । वह भी दंश
नहीं देता है ।

इस समय गाँव के वाहर उपले वीनने के लिए गये हुए मनुष्य जव वापस लौ
रहे थे, तव उन्होंने यह दृश्य देखा । वे दौड़ते-दौड़ते गाँव में आए और श्रावकों
यह वात कही । श्रावक भी जल्दी से गाँव के वाहर आए । देखा कि मुनिजी वे
दोनों पैरों पर काला नाग लिपटा हुआ है । मुनि ध्यान-साधना में स्थिर हैं । श्रावक
ने मन में सोचा कि नाग के पाश से संत को छुड़ाएँ, किन्तु नाग के पास जाते हैं
तो वह फुंकार करता है । किसी की ताकत है कि वहाँ जा सके ? सभी लोग दू
खड़े-खड़े वड़वड़ा रहे हैं । कोई कुछ कर नहीं सकता । अन्त में समय पूरा होते ह
मुनिजी ने ध्यान खोला कि सर्प तुरंत पैर से उतरकर किसी प्रकार की क्षति
पहुँचाए विना चला गया । संत इतने पवित्र थे कि उनका स्पर्श होने से विषभ
सर्प भी निर्विष हो गया । आया तो था डसने, किन्तु डसे विना ही पवित्र होक
चला गया । ऐसी शक्ति होती है चारित्र में ।

वन्धुओं ! चारित्र एक ऐसी जड़ीवूटी है कि उससे विषधर का विष चला जात
है, वैरी वैर को भूल जाता है, विषयी के विष का वमन हो जाता है, विषयासक्त आत्म
विरक्त वन जाता है । इलायचीकुमार नटकन्या के साथ शादी करने लिए नट वनक
नाच रहा था । डोरी पर खड़े-खड़े उसकी दृष्टि नीचे एक हवेली पर पड़ी । एक पवि
संत नीची नजर किये एक नवयौवना महिला उनके पात्र में आहार वहरा रही है । य

दृश्य देखकर इलायचीकुमार के (मन पर चढ़ा हुआ) विषय का विष उतर गया। उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। डोरी ऊपर ही उन्होंने मन की डोरी हाथ में ले ली। आत्मचिन्तन करते-करते क्षपकश्रेणी पर चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त कर गए। अविकारी संत को दूर से देखा तो विकारी के विकार शान्त हो गए। यह है त्यागी के त्याग की महिमा।

ऐसे दृढ़धर्मा अर्हन्नक का जीवन सत्य, न्याय, नीति और सदाचार से ओतप्रोत था। वह कभी दगा प्रपंच नहीं करते थे। इसलिए इन पर सभी व्यापारियों को विश्वास था। इस कारण अर्हन्नक श्रावक की बात एक स्वर से सभी व्यापारियों ने शिरोधार्य कर ली। गणिम आदि चारों प्रकार की बेची जानेवाली वस्तुएँ नौकाओं में रखकर लवणसमुद्र पार करने की बात सब व्यापारियों ने सर्व सम्मति से स्वीकार कर ली। फिर उन्होंने चारों प्रकार की विक्रेय वस्तुएँ अपने-अपने गाड़ी-गाड़ों में भरी। फिर शुभतिथि, करण, नक्षत्ररूप शुभ मुहूर्त में असन, पान, खाद्य और स्वाद्य नामक चारों ही प्रकार का आहार पुष्कल प्रमाण में बनवाया। बनवाकर मित्र-ज्ञाति स्वजनों आदि को जिमाया यावत् उनकी अनुमति ली। तत्पश्चात् वे माल से भरे गाड़े-गाड़ी जोतकर चम्पा नगरी के बीचोबीच होकर निकले और जहाँ गंभीर नामक पोतपट्टन (बंदरगाह) था, वहाँ आए।

वहाँ आकर उन्होंने गाड़े-गाड़ी छोड़ दिये और जहाज सुसज्जित करके उनमें चारों प्रकार की बेचने योग्य वस्तुएँ भरी। इसी प्रकार जहाज सुसज्जित करके वस्तुएँ, बर्तन, औषध, भैषज, घास, लकडी, वस्त्र, शस्त्र आदि आवश्यक वस्तुएँ भी भर दीं। फिर बंदरगाह पर उन्होंने सोचा कि विदेश जाना है, इसके लिए शुभ दिवस निश्चित किया। प्रस्थान के दिन सभी व्यापारियों ने एक जगह बैठकर जीमने के लिए उत्तम प्रकार का भोजन तैयार करवाया। फिर अपने स्वजन-स्नेहियों आदि को भोजन के लिए आमंत्रित किया। अब वे सब भोजन करने आएँगे और उस समय क्या होगा, उसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

मधुराजा, उसकी पटरानी, इन्दुप्रभा, कैटभ तथा उसकी पत्नी, इन सब ने दीक्षा अंगीकार की। ये जीव कितने पवित्र बन गए। मधुराजा आदि जबतक समझे नहीं थे, तबतक अनेक कुकर्म किये, और जब समझे, तब किये हुए पापकर्मों का प्रायश्चित्त किया। उनके प्रायश्चित्त के रूप में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेकर वे सभी ऐसा कठोर चारित्र पालन करने लगे, ताकि जो पापकर्म किये हैं, उनका जल्दी से जल्दी चूरा हो जाए। इन्दुप्रभा भी एक बार भान भूलकर मधुराजा के मोह में पड़ गई थी, परन्तु बाद में उसे भान हुआ कि 'मैंने बहुत बुरा काम किया है।' उसका पश्चात्ताप

दृश्य देखकर इलायचीकुमार के (मन पर चढ़ा हुआ) विषय का विष उतर गया । उ
वैराग्य उत्पन्न हो गया । डोरी ऊपर ही उन्होंने मन की डोरी हाथ में ले ली । आत्मचिन्त
करते-करते क्षपकश्रेणी पर चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त कर गए । अविकारी संत को
से देखा तो विकारी के विकार शान्त हो गए । यह है त्यागी के त्याग की महिमा

ऐसे दृढ़धर्मा अर्हन्नक का जीवन सत्य, न्याय, नीति और सदाचार से ओतप्रो
था । वह कभी दगा प्रपंच नहीं करते थे । इसलिए इन पर सभी व्यापारियों को विश्वा
था । इस कारण अर्हन्नक श्रावक की बात एक स्वर से सभी व्यापारियों ने शिरोधा
कर ली । गणिम आदि चारों प्रकार की वेची जानेवाली वस्तुएँ नौकाओं में रखक
लवणसमुद्र पार करने की बात सब व्यापारियों ने सर्व सम्मति से स्वीकार कर ली
फिर उन्होंने चारों प्रकार की विक्रेय वस्तुएँ अपने-अपने गाड़ी-गाड़ों में भरी । फि
शुभतिथि, करण, नक्षत्ररूप शुभ मुहूर्त में असन, पान, खाद्य और स्वाद्य नामक चा
ही प्रकार का आहार पुष्कल प्रमाण में बनवाया । बनवाकर मित्र-ज्ञाति स्वज
आदि को जिमाया यावत् उनकी अनुमति ली । तत्पश्चात् वे माल से भरे गाड़े-गा
जोतकर चम्पा नगरी के बीचोबीच होकर निकले और जहाँ गंभीर नामक पोतप
(बंदरगाह) था, वहाँ आए ।

वहाँ आकर उन्होंने गाड़े-गाड़ी छोड़ दिये और जहाज सुसज्जित करके उनमें चा
प्रकार की वेचने योग्य वस्तुएँ भरी । इसी प्रकार जहाज सुसज्जित करके वस्तुएँ, बर्त
औषध, भैषज, घास, लकड़ी, वस्त्र, शस्त्र आदि आवश्यक वस्तुएँ भी भर दीं । फि
बंदरगाह पर उन्होंने सोचा कि विदेश जाना है, इसके लिए शुभ दिवस निश्चि
किया । प्रस्थान के दिन सभी व्यापारियों ने एक जगह बैठकर जीमने के लिए उत्त
प्रकार का भोजन तैयार करवाया । फिर अपने स्वजन-स्नेहियों आदि को भोज
के लिए आमंत्रित किया । अब वे सब भोजन करने आएँगे और उस समय क्य
होगा, उसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

मधुराजा, उसकी पटरानी, इन्दुप्रभा, कैटभ तथा उसकी पत्नी, इन सब ने दीक्ष
अंगीकार की । ये जीव कितने पवित्र बन गए । मधुराजा आदि जबतक समझे न
थे, तबतक अनेक कुकर्म किये, और जब समझे, तब किये हुए पापकर्मों क
प्रायश्चित्त किया । उनके प्रायश्चित्त के रूप में दीक्षा ग्रहण की । दीक्षा लेकर वे सभ
ऐसा कठोर चारित्र पालन करने लगे, ताकि जो पापकर्म किये हैं, उनका जल्दी से जल्
चूरा हो जाए । इन्दुप्रभा भी एक बार भान भूलकर मधुराजा के मोह में पड़ गई थी
परन्तु बाद में उसे भान हुआ कि 'मैंने बहुत बुरा काम किया है ।' उसका पश्चात्ता

करके उसके प्रायश्चित्त स्वरूप उसने दीक्षा ग्रहण की और उग्र संयम-पालन करने लगी। मधुराजा और उसका भाई कैटभकुमार दोनों ने भगवान् की आज्ञानुसार निर्मल चारित्र-पालन किया। शास्त्रों का वहुत अध्ययन किया और कर्मक्षय के लिए दुःसह तप किया। अन्त में समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर बारहवें देवलोक में महर्द्धिक देव बने। वहाँ देवलोक के विशिष्ट सुख भोगने लगे। संक्षेप में, इन सब पुण्यात्माओं ने दीक्षा ली, निर्मल चारित्र का पालन किया। इनमें से कौन कहाँ उत्पन्न हुआ, यह बात भी बताई गई है। मधुराजा और कैटभ बारहवें देवलोक में दिव्य सुख भोग रहे हैं। इन्दुप्रभा भी देवलोक में गई। वहाँ के दिव्य-सुखों का वह उपभोग करने लगी। इन्दुप्रभा देव का आयुष्य पूर्ण करके वहाँ से च्यवकर वैताढ्य-पर्वत पर हरिराजा की हरिवती रानी की कुक्षि से पुत्री रूप में जन्मी। वहाँ उसका नाम रखा गया - कनकमाला।

मधुराजा और इन्दुप्रभा के आगामी भव : यौवनवय में आते ही कनकमाला का विवाह मेघकूट के राजा 'कालसंवर' के साथ हुआ और कनकमाला कालसंवर-राजा की पटरानी बनी और सांसारिक सुख भोगने लगी।

मधु भूपेन्द्र स्वर्ग-सुख भोगी, शेष रही पुण्याई।
प्रद्युम्नकुमार हुआ रुकमण के, श्रीहरिवंश के मांई हो ॥ श्रोता...

मधुराजा का जीव बारहवें देवलोक से च्यवकर द्वारिका नगरी में त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण वासुदेव की पटरानी रुक्मिणी की कुक्षि से जन्मा, उसका नाम रखा गया प्रद्युम्नकुमार, और कैटभकुमार बारहवें देवलोक आयुष्य पूर्ण कर वहाँ से च्यव-कर कृष्ण वासुदेव की रानी जाम्बुवती की कुक्षि में शाम्बकुमार के रूप में उत्पन्न होगा। वह बात आगे आएगी। यह तो हुई तीन जीवों की बात। अब सिर्फ एक जीव की बात बाकी रहती है। वह कौन था ? तुम्हें याद है न ? इन्दुप्रभा के वियोग में जो पागल हो गया था और 'इन्दुप्रभा...इन्दुप्रभा', यों रटन करता हुआ अयोध्या में आया था। इन्दुप्रभा ने उसे बुलाया। तब उसने इन्दुप्रभा से कहा - "चलो, अब हम दोनों वटपुर चलें।" परन्तु इन्दुप्रभा ने कहा - "अब मैं तुम्हारी रानी नहीं हूँ।" यों कहकर उसने वहाँ से उसे निकाल दिया।

हेमरथराजा पहले तो इन्दुप्रभा के वियोग में पागल हो गया था; उस पर रानी ने ऐसे शब्द कहे, इस कारण उसे बहुत दुःख हुआ। अतः आर्त्तध्यान में मरकर अनेक योनियों में भ्रमण करके मनुष्यभव पाया। वहाँ तप करके असुरों का राजा धूमकेतु नामक देव हुआ। अब तुम्हें सारी बात स्पष्टतः समझ में आ गई होगी। यह धूमकेतुदेव एक दिन अपने विमान में बैठकर जा रहा था। उस दौरान रुक्मिणी के महल पर

(आते ही) उसका विमान रुक गया। इस कारण उसने विभंगज्ञान का उपयोग लगाकर देखा कि मेरा विमान क्यों यहाँ रूका ? उसने (पूर्वभव में) अपनी पत्नी का अपहरण करनेवाले प्रद्युम्नकुमार को उसकी माता की गोद में खेलता देखा। अतः उसे पूर्व का वैर याद आने से प्रद्युम्नकुमार को माता की गोद में से उठाया और उसका अपहरण करके पर्वत पर ले जाकर मार डालने के लिए तैयार हुआ। उस समय आकाशवाणी हुई कि 'यह हलुकर्मी-चरमशरीरी जीव है, इसे मारने के लिए चाहे *जितने प्रयत्न करोगे, तो भी यह मरनेवाला नहीं है।' अतः* धूमकेतु उसे एक बड़ी पाषाण-शिला पर रखकर चला गया। उसके बाद कालसंवरराजा और कनकमाला वहाँ आए।

यह सारी बात सीमन्धरस्वामी के श्रीमुख से नारदजी ने सुनी। प्रद्युम्नकुमार के पूर्वभव की बात सीमन्धर-प्रभु के मुख से वहाँ के पद्म चक्रवर्ती और दूसरे लोगों ने भी सुनी।

एक-दूसरे के साथ वैरभाव रखने से उसका कैसा भयंकर परिणाम आता है, यह बात सुनकर कतिपय जीवों ने प्रतिबोध पाया कि अब हमें किसी के साथ वैरभाव नहीं रखना है, ऐसी प्रतिज्ञा की। साथ ही जिन-जिन के साथ वैरभाव था, उसने उन-उन से क्षमापना (क्षमा का आदान-प्रदान) की और पुराने वैर का त्याग कर दिया। ऐसे पुण्यात्माओं का पूर्वभव सुनकर भी कई जीवों ने बोध प्राप्त किया। नारदजी तो भगवान् को झुक-झुककर वन्दन करने लगे। ये उद्‌गार निकाले - "अहो प्रभो! आपने मेरे प्रश्न का जवाब देकर मुझ पर महान उपकार किया।" साथ ही पद्म चक्रवर्ती का भी बहुत उपकार मानते हुए कहा - "मैं तो प्रश्न पूछने के लिए आया था, किन्तु आपने मेरी ओर से भगवान् को प्रश्न पूछकर अथ से इति तक ठीक-ठीक समाधान कराया है। आप मेरे लिए बहुत ही सहायक बने हैं। अतः आपको भी मैं धन्यवाद देता हूँ।" नारदजी जिस कार्य के लिए आए थे, वह कार्य सिद्ध हो गया। अब तो नारदजी को यह लगन लगी है कि अब मैं जल्दी से जल्दी द्वारिका पहुँचुं और शीघ्र ही रुक्मिणी और श्रीकृष्ण को ये समाचार दूँ। किन्तु एक विचार यह आया कि अब मेरा प्रद्युम्नकुमार कैसा है, यह भी देखता जाऊँ ? भले ही थोड़ी देर हो जाय। उन्हें गाड़ी या प्लेन में जाना नहीं था। वह स्वयं प्लेन से भी अधिक तीव्रगति से आकाशगमन करते थे।

मेघकूट नगर में प्रद्युम्नकुमार को देखने के लिए नारदजी का आगमन : नारदजी को अब दो कार्यों को करने की चटपटी लगी है - एक तो प्रद्युम्नकुमार को देखना है, और दूसरा कार्य - शीघ्र द्वारिका पहुँचना है। इस कारण बहुत ही शीघ्र गति से जहाँ वैताढ्य पर्वत पर मेघकूट नगर में कालसंवरराजा का महल था, वहाँ आए। उन्हें देखते ही कालसंवरराजा और कनकमाला रानी ने उनका खूब सत्कार

किया। उन्हें योग्य आसन देकर बिठाया। उनका बहुत ही विनय किया। उनकी योग्य सेवा करके प्रसन्न किये। फिर थोड़ी-सी बातचीत करने के बाद नारदजी ने पूछा - "हे रानी ! मैं तो आकाशमार्ग से देश-विदेश में घूमता हूँ। मैंने सुना है कि तू गुप्तगर्भिणी थी, तथा तूने अत्यन्त सुन्दर पुत्ररत्न को जन्म दिया है। वह तेरा पुण्यवान् पुत्ररत्न कैसा है ? उसे मुझे देखना है।" इस पर रानी ने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा - "आप जैसे ऋषिमुनिओं की कृपा से मेरे एक पुत्र है और सब तरह से आनन्दमंगल हो रहा है।"

नारदजी ने कहा - "माता ! तू अपने पुत्र को दिखा तो सही वह बड़ा होने पर कैसा पराक्रमी होगा ? इत्यादि उसके लक्षणों को देखकर उसे आशीर्वाद दूँ।" यह सुनकर कनकमाला रानी ने तुरंत प्रद्युम्नकुमार को लाकर नारदजी के पास रखा। अतः नारदजी ने उसे देख लिया और उसके मस्तक पर हाथ रखकर कहा - "बेटा ! तू दीर्घायुषी बनना और अपनी माता की आशा जल्दी पूरी करना।" यों कहकर उसे आशीर्वाद दिये और रानी को अपना पुत्र ले लेने के लिए कहा। कनकमाला यों समझी कि नारदजी ने कैसे शुभ आशीर्वाद दिये और मेरी आशा पूर्ण करने को कहा। वह कहाँ जानती है कि इसकी (वास्तविक) माता कौन है और नारदजी ने किस माता के लिए ऐसा कहा था ? प्रद्युम्नकुमार को देखकर नारदजी की आँख क्षम (शान्त हो) गई। कितना सुन्दर सुकुमाल पुत्र है ! शरीर से, आकृति से जैसा सुन्दर है, वैसा ही यह गुणवान और पराक्रमी बनेगा। रूप तो ऐसा है मानो दूसरा कामदेव हो। उसे देखते हुए आँख तृप्त नहीं होतीं, ऐसा यह पुत्र है। उसे देखकर नारदजी अत्यन्त हर्षित हुए।

अब नारदजी ने वहाँ से द्वारिका नगरी की ओर जाने के लिए प्रस्थान किया। इधर जब से नारदजी सीमंधर भगवान् को पूछने के लिए चले थे, तब से रुक्मिणी और श्रीकृष्णजी दोनों मेघ की तरह उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जैसे आषाढ़ मास पूर्ण हो जाए और श्रावण महीना आधा चला जाए, तो भी बरसात न आए तो किसान लोग जैसे अधीर होकर आकाश की तरफ अनिमेष दृष्टि से एकटक देखते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण और रुक्मिणी दोनों एकटक नारदजी की राह देख रहे हैं कि कब नारदजी आएँ और पुत्र के समाचार लाएँ। इसी अर्से में नारदजी द्वारिका नगरी पहुँच गए। नारदजी को देखकर रुक्मिणी को इतना आनन्द आया, जैसा पिता के आने का आता है। उनका विनय करके बहुत आदर-सत्कार किया। अब वे दोनों पुत्र का समाचार जानने के लिए आतुर हो रहे हैं। नारदजी जब उन्हें प्रद्युम्नकुमार के समाचार देंगे, तब उन्हें कितना आनन्द आएगा और क्या बनाव बनेगा, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

(आते ही) उसका विमान रुक गया । इस कारण उसने विभंगज्ञान का उपयोग लगाकर देखा कि मेरा विमान क्यों यहाँ रूका ? उसने (पूर्वभव में) अपनी पत्नी का अपहरण करनेवाले प्रद्युम्नकुमार को उसकी माता की गोद में खेलता देखा । अतः उसे पूर्व का वैर याद आने से प्रद्युम्नकुमार को माता की गोद में से उठाया और उसका अपहरण करके पर्वत पर ले जाकर मार डालने के लिए तैयार हुआ । उस समय आकाशवाणी हुई कि 'यह हलुकर्मी-चरमशरीरी जीव है, इसे मारने के लिए चाहे जितने प्रयत्न करोगे, तो भी यह मरनेवाला नहीं है ।' अतः धूमकेतु उसे एक बड़ी पाषाण-शिला पर रखकर चला गया । उसके बाद कालसंवरराजा और कनकमाला वहाँ आए ।

यह सारी बात सीमन्धरस्वामी के श्रीमुख से नारदजी ने सुनी । प्रद्युम्नकुमार के पूर्वभव की बात सीमन्धर-प्रभु के मुख से वहाँ के पद्म चक्रवर्ती और दूसरे लोगों ने भी सुनी ।

एक-दूसरे के साथ वैरभाव रखने से उसका कैसा भयंकर परिणाम आता है, यह बात सुनकर कतिपय जीवों ने प्रतिबोध पाया कि अब हमें किसी के साथ वैरभाव नहीं रखना है, ऐसी प्रतिज्ञा की । साथ ही जिन-जिन के साथ बैरभाव था, उसने उन-उन से क्षमापना (क्षमा का आदान-प्रदान) की और पुराने बैर का त्याग कर दिया । ऐसे पुण्यात्माओं का पूर्वभव सुनकर भी कई जीवों ने बोध प्राप्त किया । नारदजी तो भगवान् को झुक-झुककर वन्दन करने लगे । ये उद्‌गार निकाले - "अहो प्रभो! आपने मेरे प्रश्न का जवाब देकर मुझ पर महान उपकार किया ।" साथ ही पद्म चक्रवर्ती का भी बहुत उपकार मानते हुए कहा - "मैं तो प्रश्न पूछने के लिए आया था, किन्तु आपने मेरी ओर से भगवान् को प्रश्न पूछकर अथ से इति तक ठीक-ठीक समाधान कराया है । आप मेरे लिए बहुत ही सहायक बने हैं । अतः आपको भी मैं धन्यवाद देता हूँ ।" नारदजी जिस कार्य के लिए आए थे, वह कार्य सिद्ध हो गया । अब तो नारदजी को यह लगन लगी है कि अब मैं जल्दी से जल्दी द्वारिका पहुँचुं और शीघ्र ही रुक्मिणी और श्रीकृष्ण को ये समाचार दूँ । किन्तु एक विचार यह आया कि अब मेरा प्रद्युम्नकुमार कैसा है, यह भी देखता जाऊँ ? भले ही थोड़ी देर हो जाय । उन्हें गाड़ी या प्लेन में जाना नहीं था । वह स्वयं प्लेन से भी अधिक तीव्रगति से आकाशगमन करते थे ।

मेघकूट नगर में प्रद्युम्नकुमार को देखने के लिए नारदजी का आगमन : नारदजी को अब दो कार्यों को करने की चटपटी लगी है - एक तो प्रद्युम्नकुमार को देखना है, और दूसरा कार्य - शीघ्र द्वारिका पहुँचना है । इस कारण बहुत ही शीघ्र गति से जहाँ वैताढ्य पर्वत पर मेघकूट नगर में कालसंवरराजा का महल था, वहाँ आए । उन्हें देखते ही कालसंवरराजा और कनकमाला रानी ने उनका खूब सत्कार

किया । उन्हें योग्य आसन देकर बिठाया । उनका बहुत ही विनय किया । उनकी योग्य सेवा करके प्रसन्न किये । फिर थोड़ी-सी बातचीत करने के बाद नारदजी ने पूछा - "हे रानी ! मैं तो आकाशमार्ग से देश-विदेश में घूमता हूँ । मैंने सुना है कि तू गुप्तगर्भिणी थी, तथा तूने अत्यन्त सुन्दर पुत्ररत्न को जन्म दिया है । वह तेरा पुण्यवान् पुत्ररत्न कैसा है ? उसे मुझे देखना है ।" इस पर रानी ने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा - "आप जैसे ऋषिमुनिओं की कृपा से मेरे एक पुत्र है और सब तरह से आनन्दमंगल हो रहा है।"

नारदजी ने कहा - "माता ! तू अपने पुत्र को दिखा तो सही वह बड़ा होने पर कैसा पराक्रमी होगा ? इत्यादि उसके लक्षणों को देखकर उसे आशीर्वाद दूं ।" यह सुनकर कनकमाला रानी ने तुरंत प्रद्युम्नकुमार को लाकर नारदजी के पास रखा । अतः नारदजी ने उसे देख लिया और उसके मस्तक पर हाथ रखकर कहा - "बेटा ! तू दीर्घायुषी बनना और अपनी माता की आशा जल्दी पूरी करना ।" यों कहकर उसे आशीर्वाद दिये और रानी को अपना पुत्र ले लेने के लिए कहा । कनकमाला यों समझी कि नारदजी ने कैसे शुभ आशीर्वाद दिये और मेरी आशा पूर्ण करने को कहा । वह कहाँ जानती है कि इसकी (वास्तविक) माता कौन है और नारदजी ने किस माता के लिए ऐसा कहा था ? प्रद्युम्नकुमार को देखकर नारदजी की आँख क्षम (शान्त हो) गई । कितना सुन्दर सुकुमाल पुत्र है ! शरीर से, आकृति से जैसा सुन्दर है, वैसा ही यह गुणवान और पराक्रमी बनेगा । रूप तो ऐसा है मानो दूसरा कामदेव हो । उसे देखते हुए आँख तृप्त नहीं होती, ऐसा यह पुत्र है । उसे देखकर नारदजी अत्यन्त हर्षित हुए।

अब नारदजी ने वहाँ से द्वारिका नगरी की ओर जाने के लिए प्रस्थान किया । इधर जब से नारदजी सीमंधर भगवान् को पूछने के लिए चले थे, तब से रुक्मिणी और श्रीकृष्णजी दोनों मेघ की तरह उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । जैसे आषाढ़ मास पूर्ण हो जाए और श्रावण महीना आधा चला जाए, तो भी बरसात न आए तो किसान लोग जैसे अधीर होकर आकाश की तरफ अनिमेष दृष्टि से एकटक देखते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण और रुक्मिणी दोनों एकटक नारदजी की राह देख रहे हैं कि कब नारदजी आएँ और पुत्र के समाचार लाएँ । इसी अर्से में नारदजी द्वारिका नगरी पहुँच गए । नारदजी को देखकर रुक्मिणी को इतना आनन्द आया, जैसा पिता के आने का आता है । उनका विनय करके बहुत आदर-सत्कार किया । अब वे दोनों पुत्र का समाचार जानने के लिए आतुर हो रहे हैं । नारदजी जब उन्हें प्रद्युम्नकुमार के समाचार देंगे, तब उन्हें कितना आनन्द आएगा और क्या बनाव बनेगा, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - ७२

भादवा वदी ९, शुक्रवार | ता. १७-९-७६

श्रावक जीवन में उदारता का व्यवहार

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्त करुणानिधि भगवान् के मुख से निःसृत शाश्वती-वाणी का नाम है - आगम, शास्त्र या सिद्धान्त । जो वाणी दुःखों का भेदन करनेवाली, सन्ताप मिटानेवाली और जन्म-मरण के चक्र को टालनेवाली है । ऐसी भगवान् महावीर की वाणी किसे रुचिकर होती है ? इसे बताने के लिए कहा है -

"सुखायते तीर्थकरस्य वाणी, भव्यस्य जीवस्य न चेतरस्य ।
सुखायते सर्व वनस्य मेघो, जवासकस्येव सुखायते न ॥"

तीर्थकर-प्रभु की वाणी भव्यजीवों के लिए सुखदायिनी व रुचिकर होती है, अभव्यजीवों को नहीं । अर्थात् - जो भव्यजीव होते हैं, उन्हें ही जिनवाणी (सुनने) में रुचि होती है । जैसे - मेघगर्जन होता है तो मोर नाच उठता है, समस्त वन्यजीव या वनस्पति जगत् के लिए वह सुखदायी लगता है । इसी प्रकार तीर्थंकरवाणी सुनकर भव्यजीवों का हृदय हर्ष से नाच उठता है, किन्तु अभव्यजीवों को भगवद्वाणी सुखदायिनी - रुचिकर नहीं लगती । जैसे - मेघवृष्टि सारे वन के प्राणियों या वनस्पति जगत् के लिए सुखद व रुचिरूप लगती है, किन्तु 'जवासे' को सुखद व रुचिकर नहीं लगती है, वह वर्षाजल पाकर भी सूख जाता है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अब जरा 'ज्ञातासूत्र' गत मल्लिनाथ भगवान के अधिकार में वर्णित चन्द्रच्छाय-राजा का परिचय जान लें । अंगदेश की राजधानी चम्पा नगरी में चन्द्रच्छाय नामक पराक्रमी राजा राज्य करते थे । उस नगरी में अर्हन्नक नामक अनेक व्यापारी रहते थे । व्यापारी तो बहुत होते हैं, परन्तु उनमें से जिसे धन की अपेक्षा धर्म प्यारा था, पेढी (फर्म) की अपेक्षा परमेश्वर और संतानों की अपेक्षा संत प्यारे थे, तथा जिसकी रग-रग में जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों के प्रति श्रद्धा कूट-कूटकर भरी हुई थी, ऐसा अर्हन्नक-श्रावक समस्त व्यापारियों में शिरोमणि था । उसने छोटे-बड़े सभी व्यापारियों को एकत्र करके उनके समक्ष परदेश में न्याय-नीति से धन कमाने के लिए

जाने की बात कही । सभी को अर्हन्नक की बात रुचिकर और अच्छी लगी । सभी व्यापारी धर्मनीति से धन कमाने के लिए परदेश जाने की बात में सहमत हुए । उस जमाने में ट्रेन, प्लेन या मोटर आदि वाहन नहीं थे, किन्तु गाड़ी-गाड़े, रथ, वाहन आदि वाहनों से यातायात व्यवहार होता था । इस कारण दूर-सुदूर परदेश या विदेश के मार्ग से व्यापार के लिए एक-दो मनुष्य नहीं जा सकते थे । अनेक मनुष्य इकट्ठे व संगठित होकर ही परदेश जाते थे । साथ ही उस समय में महर्द्धिक एवं धनाढ्य व्यापारियों में अतीव उदारता एवं हृदय की विशालता होती थी । वे जब परदेश जाते थे, तब नगर में घोषणा करवाते थे कि 'हम परदेश धन कमाने के लिए जा रहे हैं, अतः जिन्हें हमारे साथ चलना हो, वे चलें । जिनके पास धन की जोगवाई नहीं होगी, उन्हें हम धन देंगे, जिनके पास किराणा या विक्रेय वस्तु नहीं होगी, उसे विक्रेय वस्तु देंगे । मार्ग में अशुभ कर्म के उदय से कोई बीमार पड़ेगा तो उसकी हम चिकित्सा-सुविधा करेंगे । जिनके पास रास्ते के भोजनादि के लिए पाथेय (भाता) नहीं होगा, उसे हम पाथेय देंगे । यहाँ से रवाना होने से लेकर जबतक स्वदेश नहीं लौटेंगे, वहाँ तक की सारी सुविधा हम करेंगे । अतः जिसे भी हमारे साथ व्यापारार्थ आना हो, वे तैयार हो जाएँ ।''

बन्धुओं ! कहाँ उन व्यापारियों की उदारता और विशाल हृदय और कहाँ आज के तथाकथित बड़े-बड़े व्यापारियों की संकुचितता ? आज तो एक माता की कूख से जन्मे हुए दो सगे भाई होंगे, तो एक भाई दूसरे भाई को व्यापार-धंधे की लाइन नहीं बताएँगे । आज का व्यापारीवर्ग ऐसा कंजूस बन गया है । पहले के मनुष्य अपने खर्च में आवश्यक-अनावश्यक का विवेक करके कतख्योंत अवश्य करते थे, किन्तु कंजूसी नहीं करते थे । मितव्ययिता और कंजूसी में अन्तर है । कंजूस मनुष्य में संग्रहवृत्ति होती है । उसकी नीयत होती है कि चमड़ी जाय, पर दमड़ी नहीं जाय, जबकि मितव्यय करनेवाला मनुष्य अपने अनावश्यक मौज-शौक के खर्च में कटौती करता है । अगर दो वस्तुओं से काम चल जाता है तो वह तीसरी वस्तु का उपयोग नहीं करता, फिजूल खर्च नहीं करता । वह इस प्रकार मितव्यय करके जो धन बचाता है, उसका उपयोग मुक्तहस्त से दीन-दुःखियों के आंसू पोंछने में, स्वधर्मी-सेवा में करता है । आज तो एक स्वधर्मी अपने घर आ गया हो तो मन में विचार होता है कि कब जाएगा यह ? अभी तो बाहर से आकर अपने हाथ में ली हुई थैली नीचे रखी नहीं, उससे पहले पूछा जाता है - 'कब जाएँगे ?' जिसके आने के साथ ही जाने की राह देखी जाती हो, वहाँ उसका आदर-सत्कार तो किया ही कैसे जाएगा ? बड़े-बड़े धनाढ्यों के घर में मेहमानों के अलग-अलग क्लास होते हैं - यह फर्स्ट क्लास का मेहमान है, यह सेकंड क्लास का और यह थर्ड क्लास का है ! ट्रेन में आजकल थर्ड क्लास निकल गया है, किन्तु श्रीमन्तों के घरों में तीनों क्लास

हैं। जिसका सत्कार करने से व्यापार में बड़ा लाभ होने की संभावना हो, उस फर्स्ट क्लास के मेहमान के लिए मालपूए और दूधपाक (खीर) बनाई जाती है और अगर सामान्य स्थिति का गरीब मेहमान आए तो उसको रोटी और उड़द की दाल खिलाकर विदा कर दिया जाता है। न तो उसे पुनः भोजन करने का आमंत्रण दिया जाता है और न ही उसे अधिक रूक जाने का आग्रह किया जाता है और धनाढ्य सौदागर को रूकना न हो तो भी आग्रह करके रोका जाता है और माल-मलीदा जिमाया जाता है।

भगवान् महावीर के श्रावकों के यहाँ पहले ऐसा भेदभाव या पक्षपात नहीं था। गरीब हो या धनवान, मध्यमवर्ग का हो या उच्चवर्ग का, हरएक अतिथि के लिए श्रावक के द्वार अभंग (खुल्ले) रहते थे। वह घर आये हुए प्रत्येक व्यक्ति को यथाशक्ति सेवा करता था। सच्चे श्रावक का लक्षण क्या है ? इसके लिए एक आचार्य ने कहा है -

श्रद्धालुतां श्राति पदार्थ-चिन्तनाद्, धनानि पात्रेषु वपन्त्यनारतम्।

कीरत्यपुण्यानि सुसाधु-सेवनाद्, यतोऽपितं श्रावकमाहुरुत्तमाः ॥

अर्थात् - जो तत्त्वार्थ के चिन्तन द्वारा अपनी श्रद्धा मजबूत करते हैं। निरन्तर सत्पात्रों में अपने धनरूपी बीज को बोते रहते हैं। शुद्ध सुसाधुओं की सेवा करके पापरूपी धूल को दूर फेंक (झाड़) देते हैं, उस महान आत्मा को उत्तम पुरुष श्रावक कहते हैं।

पहले के श्रावक अपने धन का सत्कार्यों में सदुपयोग करते थे। उनमें संग्रहवृत्ति नहीं थी। ऐसे उदार श्रावक जिनशासन में हुए हैं। अर्हन्नक श्रावक भी उदार दिल का था, उसके रग-रग में धर्म का रंग था। उसके प्रत्येक वचन के प्रति व्यापारियों को श्रद्धा थी। अर्हन्नक श्रावक ने कहा कि 'परदेश धनार्जन करने हेतु जाने से हमें बहुत लाभ होगा।' इसलिए बहुत-से व्यापारी जाने के लिए तैयार हुए। जाने का निश्चित हुआ, इसलिए पूर्वोक्त चारों प्रकार का विक्रेय माल गाड़े-गाड़ियों में उन्होंने भर लिया। प्रत्येक व्यापारी के हृदय में प्रसन्नता की ऊर्मियाँ उछल रही थीं कि हम विदेश में जा रहे हैं तो अपनी विदेशयात्रा सफल होगी। वहाँ जाकर अपार धन कमाएँगे।

बन्धुओं ! अर्हन्नक प्रमुख श्रावकों के हृदय में परदेश कमाई करने जाने का आनन्द है। यहाँ वीतराग के व्यापारीरूपी संत व्यापार करने हेतु आए हैं। अर्हन्नक-प्रमुख व्यापारीगण चार प्रकार का माल लेकर परदेश जा रहे हैं। वीतराग-प्रभु के संत भी चार प्रकार का माल लेकर आए हैं। यह ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप चार प्रकार का माल है। यह माल ऊँची क्वालिटी का है। भगवान् ने हमें (साधु-साध्वियों को) इस माल को बेचने के लिए भेजा है। जो मनुष्य इस माल को खरीदेगा, उसके भव का बेड़ापार हो जाएगा। कर्मो का क्षय करके मोक्ष में जा सके, ऐसा यह माल है। पूर्वजन्मों में सत्कर्म करके आए हैं, तभी इस भव में सभी प्रकार की अनुकूलता मिली हैं। उसका लाभ उठाकर इस भव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप का माल खरीदकर ऐसी

कमाई कर लो, ताकि कर्मों का क्षय करके मोक्षरूप शाश्वत स्थान की प्राप्ति हो जाए। ऐसा अवसर बार-बार नहीं मिलेगा।

अर्हन्नक आदि सभी व्यापारियों ने सब माल गाड़े-गाड़ियों में भरवा दिया। तत्पश्चात् शुभमुहूर्त, शुभतिथि और शुभनक्षत्र था, उस दिन उन्होंने चारों प्रकार का आहार तैयार करवाकर अपने सगे-सम्बन्धियों और स्नेहीजनों को तथा ज्ञातिजनों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। तदनन्तर - *"मित्त-णाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं भोयणवे लाए भुंजा वेंति, जाव (भुंजावेत्ता) आपुच्छंति।"*

भोजन तैयार हो जाने पर भोजन वेला में उन्होंने अपने मित्रों, ज्ञातिजनों, निजजनों, स्वजनों, सम्बन्धीजनों एवं परिजनों को भोजन कराया। भोजनोपरान्त उन व्यापारियों ने पूछा - "हम सब व्यापार करने के लिए परदेश जाना चाहते हैं। इसके लिए आप सब हमें अनुमति दीजिए।" इस प्रकार उन व्यापारियों ने उन्हें सविनय विनती करके उनसे परदेश जाने की अनुमति प्राप्त की। देखिए, इन व्यापारियों को स्वयं को परदेश जाना है, परन्तु उनकी इस परदेशयात्रा के पीछे कितना विनय-विवेक है ? पहले तो उन्होंने सब ने प्रेम से एक साथ बैठकर भोजन किया और उन स्वजनों आदि को सन्तुष्ट किया। तत्पश्चात् उनसे परदेश जाने की इजाजत मांगी। वे सब अपनी स्वतंत्र इच्छा से परदेश नहीं जा रहे हैं, अपितु सबको सन्तुष्ट करके आज्ञा प्राप्त करके जा रहे हैं। अतः सब ने उन्हें प्रेम से परदेश जाने की अनुमति दी। तत्पश्चात् वे क्या करते हैं ?

"आपुच्छित्ता सगडि-सागडियं जोयंति, जोइत्ता चंपाए नयरीए मज्झंमज्झेण णिगच्छंति, णिगच्छित्ता जेणेव गंभीरए पोयपट्टणे तेणेवं उवागच्छंति।"

अनुमति लेकर उन्होंने माल-सामान से भरी हुई गाड़ियाँ और गाड़े जोते। जोत कर वे सब चम्पा नगरी के बीचोबीच मार्ग से होकर बाहर निकले। निकलकर जहाँ गम्भीर नामक पोतपट्टन (वाहन पर बैठने का स्थान - बंदरगाह) था, वहाँ पहुँचे। अब सभी व्यापारियों ने सोचा कि जाने से पहले हमें सभी से क्षमापना (क्षमा मांगना - क्षमा देना) कर लेनी चाहिए। इसलिए जिन-जिन के साथ जिनका मनमुटाव (अनबन) था, जिन-जिन के साथ बैर-विरोध था, उन-उन के पास जाकर उन्होंने अन्तःकरण से क्षमा मांगी, सबको खमाया। प्रश्न होता है - परदेश जाते समय सबसे क्षमा मांगने (खमाने) का क्या कारण था ? क्या आपलोग समझे ? व्यापारियों ने विचार किया कि हम परदेश जा रहे हैं। परदेश से वापस लौटने में काफी समय लग जाएगा। तो काल का किसे पता है, क्या होगा ?

बहुत-सी दफा आकाश में बादल छा जाते हैं और पलभर में वे सब बिखर जाते हैं। कई बार आकाश में इन्द्रधनुष दिखाई देता है, उसमें लाल, पीला, आसमानी आदि

रंग दिखाई देते हैं और थोड़ी देर बाद ही उन सबका विलय हो जाता है। इन्द्रधनुष में वे रंग किसने भरे और बिखर (विनष्ट हो) कर कहाँ गए ? यह सब पुद्गलों की माया है। अपना जीवन भी सन्ध्या के रंग जैसा अथवा आकाश में छाये हुए बादलों जैसा है ! आयुष्य पानी की तरंग-सा क्षणिक है। अतः कल क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसलिए हम सबसे खमत-खमावणा करके जाएँ, ऐसा विचार करके सबने जिन-जिन के साथ वैर-विरोध था, उनसे क्षमा-याचना की, उन्हें क्षमा-प्रदान भी की।

बन्धुओं ! ये व्यापारी तो यह समझते थे कि कल क्या होगा ? किसी को मालूम नहीं, किन्तु मेरे घाटकोपर के श्रावक बन्धुओं को यह बात समझ में आती है या नहीं ? यही कि इस समय शरीर अच्छा है, स्वस्थ है, सारी अनुकूलताएँ हैं, तो मैं धर्म की आराधना कर लूं। कल का किसी को पता नहीं है। तथैव वृद्धावस्था आते ही काया जर्जरित हो जाएगी। तब तो अपने आप खड़े होने की भी शरीर में शक्ति नहीं रहेगी। खड़े रहने में पैर थरथर कांपने लगेंगे। कानों से सुना नहीं जा सकेगा। आँखों का तेज कम हो जाएगा, तब मैं धर्मध्यान कैसे कर सकूँगा ? उसकी अपेक्षा इस समय मुझे सद्गुरु समझाते हैं कि शरीर अच्छा और ठीक है, तो समझ (सम्यग्दृष्टि) प्राप्त करके आत्म-साधना कर लूं। आत्मा सीधा (सरल) होगा, तब उसे ऐसी समझ और सूझबूझ आएगी और विचार होगा कि वास्तव में, मुझे सद्गुरु समझाते थे, तब मोहमूढ़ता के कारण मुझे यह बात समझ में नहीं आती थी कि यह संसार कैसा है ? अब मुझे अनुभव हो गया, यानी मेरी बुद्धि में यह बात भलीभांति ठस गई कि यह संसार माया का भोंयरा (भूमि-गृह - तलघर) है। इस भोंयरे में घुसा हुआ मानव कहीं का कहीं निकल जाता है।

पुराने जमाने में रजवाड़ों में गुप्त भोंयरे बनवाये जाते थे। उन भोंयरों में से होकर मनुष्य गाँव से बाहर कहीं का कहीं निकल जाता था। खंभात में बनी हुई वर्षों पहले की एक सच्ची घटना है। अहमदाबाद के नगर सेठ की इकलौती लाडली बेटी विवाहित होकर खंभात के नगर सेठ के यहाँ आई। उसके पिता ने दहेज में प्रचुर धन दिया था। नगरश्रेष्ठी की यह पुत्री बहुत ही लाडप्यार में पली थी। उसने अपने हाथ से कभी पानी का ग्लास भी भरा नहीं था। इसलिए उसके पिता ने यह सोचकर कि मेरी बेटी को ससुराल में काम न करना पड़े, इस लिहाज से विवाह के बाद उसके साथ कई दास-दासियाँ, रसोइया आदि सब दिये थे। उसकी ससुराल में भी अपार सम्पत्ति थी। पीहर से भी उसको सुख-सुविधा के साधन देने में कोई कमी नहीं रखी थी। इस लड़की को भोजन करने के बाद मुँह में सुपारी का टुकड़ा डालकर खाने की आदत थी। पहले दिन ही भोजन करके वह उठी और सुपारी खाये बिना उसका मन ऊँचा-नीचा होने लगा। चाहे जितना धन से परिपूर्ण घर हो, पर यह तो उसका ससुराल था न ? ससुराल में आते ही नई बहू द्वारा सुपारी कैसे मांगी जाए ? अतः

भोजन के बाद उसे चैन नहीं पड़ रहा था । इस कारण इधर-उधर चक्कर काटने लगी । यह देखकर सासू ने पूछा - "क्यों बहू बेटा ! तुम इधर-उधर चक्कर काट रही हो, तुम्हें कुछ हो रहा है क्या ?" तब बहू ने कहा - "माँ ! मुझे और तो कुछ नहीं होता, परन्तु मुझे जीमने के बाद तुरंत सुपारी का टुकड़ा मुँह में डालने की आदत है । यह व्यसन है तो खराब ही, परन्तु क्या करूँ, मुझे यह आदत पड़ गई है, इसलिए चैन नहीं पड़ता । मेरे पीहर से मुझे सब कुछ दिया है, किन्तु सुपारी देना भूल गए हैं ।" आपलोग शायद यह सोचते होंगे कि अभी इस बहू की सासू सुपारी दे देगी । परन्तु सासुजी भी बहुत उस्ताद थी । सासुजी यों आसानी से सुपारी दे दें, ऐसी नहीं थीं । उन्होंने ताना मारा - "बहू ! तुम्हें प्रतिदिन सुपारी के टुकड़े खाने के लिए चाहिए तो तुम्हारे पिता को कहलवा दो कि तुम्हारे लिए वाहन भरकर सुपारी भिजवा दे ।" देखिए, सासू ने भी कैसा टोना मारा ? उसने बोरे या गाड़ी भरकर सुपारी मांगी होती तो कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु उसने तो वाहन भरकर सुपारी मांगी । वाहन कैसे भेजा जाए ? फिर भी बहू ने उत्तर दिया - "अच्छा माँ ! मेरे पिताजी सुपारी से भरा वाहन भेज देंगे ।"

बहू के पिताजी ने उसे कह रखा था कि "बेटी ! तू ससुराल में जरा भी कष्ट मत भोगना । ससुराल जाने के बाद सासु को तेरी व्यवहार कुछ खटके या वह कोई ताना मारे तो मुझे तुरंत समाचार दे देना ।" अतः बहू ने तुरंत अपने पिता को पत्र लिखा । उसके पिता ने अहमदाबाद से खंभात तक वाहन जा सके, ऐसी एक गहरी सुरंग खुदवाई । उसमें पानी आ गया, तब एक वाहन (जलयान) सुपारी से भरकर इस सुरंग से रास्ते से भेजा । नारेश्वर के पास अभी भी एक नाला-पड़ता है, खंभात की जनता उस नाले को इस प्रकार पहचानती है ।

बन्धुओं ! शब्द में कितनी शक्ति है ? कहा भी है -

> शब्द शब्द क्या करो ?, नहिं हाथ नहिं पांव ।
> एक शब्द घा रूझवे, एक शब्द करे घाव ॥

शब्द के कोई हाथ या पैर नहीं है, परन्तु उसमें ऐसी ताकत है कि मनुष्य अगर एक शब्द बोले तो बीमार आदमी बैठा हो जाता है, उसका आधा रोग चला जाता है और दूसरा मनुष्य एक शब्द ऐसा बोलता है कि स्वस्थ मनुष्य बीमार जैसा हो जाता है, उसके हृदय में गोली लगती है, त्यों बोली की गोली लगने से मनुष्य गिर जाता है । ऐसी शक्ति शब्द में है । अतः भगवान् कहते हैं - "तुम बोलने से पहले विचार-विवेक करके बोलना ।" सामनेवाले का दुःखी दिल शान्त हो जाए, उसे सान्त्वना मिल जाए, ऐसी मधुर भाषा बोलना । किन्तु कोई मनुष्य सुख से बैठा हो, किन्तु तुम्हारे बोलने से उसके दिल में दुःख उत्पन्न हो जाय, ऐसी कर्कश भाषा मत बोलना । हो सके तो किसी का भला करना, किन्तु बुरा तो हर्गिज न करना । कहा भी है -

यदि भला किसी का कर न सको तो, बुरा किसी का मत करना ।
अमृत न पिलाने को घर में तो, जहर पिलाते भी डरना ।
यदि फूल नहीं बन सकते तो, कांटे बनकर न बिखर जाना ॥

तुम्हें श्रेष्ठ मानवतन मिला है, हो सके तो उससे किसी का भला करना, किन्तु किसी का बुरा तो हर्गिज मत करना । हो सके तो फूल के समान कोमल बनकर दूसरों को सुगन्ध देना, किन्तु किसी के सरल और कोमल मार्ग में कांटे मत बिखेरना । तुम श्रावक हो । श्रावक का जीवन साधु जैसा पवित्र होना चाहिए । पहले के श्रावक ऐसे होते थे कि वे साधु के लिए उदाहरणरूप बन जाते थे । साधु-साध्वीगण उनके जीवन का उदाहरण देकर दूसरों को समझाते थे ।

अर्हन्नक श्रावक आदि व्यापारी परदेश धन कमाने हेतु जाने के लिए तैयार हो गए । उससे पहले, जिन-जिन के साथ अनबन या बैर-विरोध था, उन सबसे क्षमा-याचना करके सबके साथ मैत्रीभाव किया । फिर एक बड़े भोजन समारोह का आयोजन किया । सभी ने एक जगह बैठकर साथ-साथ भोजन किया और कराया।

फिर सब ने अपने-अपने बुजुर्गों का आशीर्वाद लिया । गाड़े-गाड़ियों में सारा माल भरवा कर (जलपोत) वाहन में बैठने का जहाँ बन्दरगाह (पोतपट्टण) था, वहाँ आए। फिर वे सब जहाज में माल भरायेंगे और फिर क्या करेंगे, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार का अपहरण क्यों हुआ ? यह तो तुम समझ गए हो न ? उसने पूर्वभव में पत्नी का वियोग कराया, इस कारण इस भव में उसे अपनी माता से वियुक्त होना पड़ा । नारदजी प्रद्युम्नकुमार को देखकर द्वारिका आ पहुँचे । कृष्णजी और रुक्मिणी तो नारदजी के मुख से पुत्र का समाचार सुनने के लिए आतुर हो रहे थे । नारदजी ने भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के मुख से जो-जो बात सुनी थी, वह सब श्रीकृष्ण और रुक्मिणी को कह सुनाई । दोनों को प्रद्युम्नकुमार के कुशल समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई ।

नारदजी ने कहा - "रुक्मिणी ! मैं तो तुम्हारे लाडले लाल को देखकर आया हूँ । तेरा नन्दन बहुत तेजस्वी है । उसका ललाट देखने से मुझे लगा कि वह भविष्य में महान पराक्रमी और समस्त यादवों का शिरोमणि होगा । वह ऐसा ही बुद्धिशाली और चतुर है । तू जरा भी चिन्ता मत कर । तुझे १६ वर्ष तक उसका वियोग सहन करना पड़ेगा । तू इसकी जिस प्रकार सार-संभाल करती, उसकी अपेक्षा सवागुणी अधिक उसकी सुरक्षा और सार-संभाल कनकमाला करती है ।" यह सुनकर रुक्मिणी को बहुत आनन्द हुआ । उसे पुत्र को देखने का मन हुआ । उसने नारदजी से कहा -

व्याख्यान - ७३

भादवा वदी १०, शनिवार — ता. १८-९-७६

कर्म-कारा से मुक्ति, दिलाती है धर्मशक्ति

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी महापुरुषों ने जगत् के जीवों पर करुणा का प्रपात बरसा कर कहा - "हे भव्यजीवों ! अनन्तकाल से आत्मा ने विभाव दशा से जुड़कर चतुर्गति के चक्कर बढ़ें, ऐसा कर्म का खजाना एकत्रित किया है । जन्म-मरण का मूलकारण है - कर्म जीव को यह कर्म कांटे की तरह चुभना चाहिए । जब कर्म की चुभन आपको महसूस होगी, तब जन्म-मरण का त्रास छूटेगा । क्या कर्म तुम्हें खटकते हैं या चुभते हैं ? जब जीव को ऐसा लगेगा कि ये कर्मो के कांटे निकालने ही हैं, तब संसार छोड़कर संयमी बनने का भाव जगेगा । कदाचित् चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से वह दीक्षा न ले सके, किन्तु संसार (गृहस्थ) में रहते हुए भी उसके सामने एक लक्ष्य-बिन्दु रहेगा कि कब मैं सर्वविरति साधु बनूं और कब कर्मों के बन्धन से मुक्त होऊँ ? संसार में मैं अनिच्छा से बैठा हूँ, इसलिए मुझे पाप-कार्यो में प्रवृत्ति करनी पड़ती है, माया-प्रपंच करने पड़ते हैं, इनसे कर्मबन्धन होते हैं, ये कर्म जबतब मुझे अवश्य भोगने पड़ेंगे । कर्म की करामात अलौकिक है । कर्म जो न कराये उतना ही कम है ।

कोई व्यक्ति किसी सत्ताधीश मानव का अपराध करे तो वह (सत्ताधीश) अपराध करनेवाले पर गुस्सा करके कहता है - "याद रखना, उलटा मस्तक करके लटका कर अंधेरी कोठरी में बन्द कर दूंगा ।" ऐसा कहने/करने पर कितना दुःख होता है ? किन्तु इस कर्म ने भी जीव को अंधेरी कोठरी में उलटा मस्तक करके लटकाया था । कब लटकाया था, मालूम है न ? अपराधी को जब अन्धेरी कोठरी में मस्तक उलटा करके लटकाया था, वहाँ तो थोड़ा-बहुत प्रकाश भी होगा, थोड़ी हवा भी आती होगी, किन्तु जीव जब माता के गर्भ में आया, वहाँ (उस) अंधेरी कोठरी में उलटे मस्तक लटका था, क्या वहाँ हवा और प्रकाश थे ? बोलो, कर्मराजा कैसी सजा करता है, जीव को ? भले ही कर्म तुम्हें प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते हों, पर उनकी (दी हुई) सजा तो तुम्हें भोगनी पड़ती है न ? कर्म जबतक मौजूद है, तबतक जन्म लेना पड़ता है न ? यह सब करानेवाला कर्म ही है । भले ही वह प्रत्यक्ष न दिखाई देता हो, परन्तु कर्म की भयंकरता तो दिखाई देती है न ? कोई अन्धा मनुष्य चला जा रहा हो, रास्ते में सांप

रहा है, इसका त्रास क्यों नहीं होता ? यह बात जबतक समझ में नहीं आए, तबतक उनका नाश करने की चटपटी नहीं लगेगी ।

मान लो, किसी ने डोक्टर के पास जाकर रोग का निदान कराया, उसे डोक्टर कहता है – "तुम्हारे फेफड़ों में खराबी है, तुम तेल, मिर्च आदि मत खाना ।" डोक्टर की बात सुनकर रोगी तुरंत उन हानिकारक चीजों का त्याग कर देता है, क्योंकि रोगी को बीमारी की भयंकरता समझ में आ गई है । वैसे ही कर्मों का रोग अनादिकाल से है, कषायों का ज्वर भी अनादिकाल से आत्मा को हैरान कर रहा है । शारीरिक रोग मिटाने के लिए रोगी सावधानी न रखे तो उसे भयंकर वेदना भोगनी पड़ती है और अन्त में मरण-शरण होना पड़ता है । इसी प्रकार जो मनुष्य कर्मों की भयंकरता को नहीं समझते और उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करते, उन जीवों को भी चतुर्गति में परिभ्रमण करके जन्म-मरणादि दुःखों को सहन करने पड़ते हैं । छोटे बेसमझ बच्चे को कोई रोग लागू पड़ जाता है, तब उसके माता-पिता उसे डोक्टर के पास ले जाकर रोग का निदान कराते हैं और दवा पिलाते हैं । तब वह नासमझ बालक कहता है – "मैं दवा नहीं पीऊँगा ।" वह लात मारकर दवा को ढोल देता है । माँ उसे अमुक चीज खाने को न दे तो रोता है, क्लेश करता है । यह सब वह क्यों करता है ? इसलिए कि उसे रोग के स्वरूप एवं रोग से होनेवाले नुकसान के विषय में जानकारी नहीं है । उसे जब डोक्टर के पास ले जाया जाता है, तो वह डोक्टर को देखकर भाग जाता है । डोक्टर को मानो वह दुश्मन की तरह देखता है । किन्तु यदि उसे अपने रोग का ज्ञान हो जाए, तो डोक्टर उसे प्रिय लगेगा । इसी प्रकार जिन जीवों को जन्म-जरा-मरण के रोग त्रासदायक लगते हैं, उन्हें इन रोगों को नष्ट करने की दवा देनेवाले, जिनेश्वर-प्रभु के संत प्रिय लगेंगे । एवं उनके वचनामृतों को औषध जैसे समझकर पी जाते हैं, यानी उन्हें आचरण में लाते हैं । उसे वीतराग के वचनों पर श्रद्धा दृढ़ हो जाती है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अपने चालू अधिकार में ऐसी ही बात आती है । अर्हन्नक आदि बहुत-से व्यापारी स्वदेश छोड़कर धन कमाने के लिए परदेश जाने के लिए तैयार हुए हैं । उनमें अर्हन्नक श्रावक कर्मसिद्धान्त के स्वरूप को समझनेवाला था । उसके पास बहुत सम्पत्ति थी, फिर भी वह उसमें लिप्त नहीं होता था । सम्यग्दृष्टि श्रावक सं[illegible] (गृहस्थजीवन) में रहता है, धनोपार्जन करता है, कुटुम्ब का प[illegible] उसे इसमें रस (दिलचस्पी) नहीं होता । उसे सांसारिक का[illegible] है [illegible] है, इसी तरह दूसरे जीवों को भी सांसारिक काम कर[illegible] वे [illegible]न्तु इन [illegible]नों की दृष्टि में अन्तर होता है । एक को [illegible]

रस या आनन्द नहीं होता और दूसरे (सम्यग्दृष्टि रहित) को करना पड़ता है और वह करता है। उसे उसमें आनन्द आता है और वह उसे रसपूर्वक करता है। इससे उन दोनों के कर्म-बन्धन में अन्तर होता है। एक जीव रसपूर्वक आसक्ति के साथ सांसारिक क्रिया करता है, उसे तीव्र कर्म बंधते हैं, जबकि दूसरा जीव इसी क्रिया को नीरसता से करता है, उससे अल्प कर्म बन्धते हैं। अतः संसार में रहना पड़े तो रहो, किन्तु अनासक्त भाव से रहो।

बन्धुओं! अर्हन्नक की अस्थि-मज्जा में धर्म (आत्मधर्म) का रंग था। वह धन कमाने जा रहा है, किन्तु धर्म को भूला नहीं है। उसके जीवन में तन-मन-धन की अपेक्षा धर्म की कीमत अधिक थी। वह चाहे जैसे देश या परदेश में जाता, धर्म के नित्य-नियमों और अनुष्ठानों को सर्वप्रथम कर लेता था। वह धर्मानुष्ठान के उपकरण, बिछावन (संथारिया-संस्तारक), मुखवस्त्रिका, गुच्छा (पूंजनी), माला आदि हर समय साथ में रखता था। आज तो अधिकांश व्यक्ति घर या देश छोड़कर परदेश धन कमाने जाते हैं, किन्तु धर्म (आत्मधर्म) को भूल जाते हैं।

सभी व्यापारी गाड़ों और गाड़ियों में माल भरकर गम्भीरक नामक पोत (जलयान) में बैठने के लिए बंदरगाह (पोत-पट्टण) आ पहुँचे। वहाँ पहुँचकर वे सब अपने-अपने गाड़ी-गाड़ों से नीचे उतरे। फिर जहाज (जलयान) में अपना-अपना स्थान सुरक्षित और सुसज्जित किया। तदनन्तर गाड़े-गाड़ियों में से विक्रेय माल उतारकर जहाज में स्व-सुरक्षित और सुसज्जित स्थान में व्यवस्थित ढंग से जमा दिया। तत्पश्चात् उन्होंने वाहन में चावल, गेहूँ, गेहूँ का आटा, गेहूँ के आटे से बनाये हुए पकवान-विशेष एवं तेल, घी, गोरस, पानी, पानी भरने के वर्तन, त्रिकटु वगैरह औषध, पथ्याहार-विशेष भैषज, चारा, लकड़ी, अंगारे (कोयले) आदि सामग्री तथा तलवार आदि शस्त्र, एवं वाहन में ले जाने योग्य दूसरी अनेक आवश्यक वस्तुएँ यथास्थान जमा कर रख दीं। इस प्रकार उन्होंने सभी वस्तुओं को यथास्थान जमाकर जहाज को भर दिया। चारों प्रकार की बेचने योग्य वस्तुएँ जब जहाज में भर दी गईं, तब उन्होंने पुनः अशन, पान, खाद्य और स्वाद्यरूप चारों प्रकार का आहार तैयार कराया और अपने-अपने मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन आदि परिजनों को आमंत्रित करके भोजन कराया। स्वयं ने भोजन किया। फिर उन्होंने अपने उन परिजनों से समुद्रयात्रा करने की आज्ञा मांगी। आज्ञा प्राप्त करके उन सब पोतवणिकों का जहाज में जहाँ-जहाँ बैठने का स्थान था, वहाँ आकर वे बैठ गए।

देखिए, ये कितने बड़े-बड़े आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न महर्द्धिक व्यापारी थे? फिर भी उनमें कितना विनय और विवेक था? आज तो अधिकांश सन्तानों को अपने माता-पिता और बुजुर्गों के चरणों में पड़ने में शर्म आती है। ये लोग बड़े समृद्ध व्यापारी थे, फिर भी अपने बुजुर्गों, ज्ञातिजनों और कुटुम्बीजनों को उन्होंने पुनः भोजन

कराया । पहले उन्हें खिला-पिलाकर उनसे परदेश जाने की आज्ञा मांगी, दूसरी बार समुद्रयात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व प्रस्थान करने के दिन पुनः उन्हें भोजन कराकर उनके चरणों में मस्तक नमाकर आज्ञा के साथ आशीर्वाद प्राप्त किये । अर्थात् - उन्होंने अपने कुटुम्बीजनों, स्वजनों और परिजनों आदि सबसे पुनः सम्मति एवं अनुज्ञा प्राप्त की, सरकार की भी (विदेशयात्रा के लिए) परवानगी ली । सबकी आज्ञा और शुभाशीष प्राप्त करने के बाद सभी वाहन (जलयान) में बैठने के लिए तैयार हुए । इन सब व्यापारियों में अर्हन्नक श्रावक अग्रसर है । जिनका अग्रेसर धर्म (शुद्ध आत्मधर्म) के रंग में रंगा हुआ होता है, उसे किसी प्रकार की आंच नहीं आती । उसकी धर्म के प्रति अटल श्रद्धा और शुद्ध धर्म क्रियाएँ देखकर दूसरे मनुष्य भी धर्म के रंग में रंग जाते थे । ऐसा वह पुण्यवान् श्रावक था । आप दूसरे को धर्म प्राप्त न करा सको यानी धर्माचरण में न लगा सको, तो कोई बात नहीं, किन्तु कम से कम अपनी सन्तानों को तो अवश्य धर्म की लगन लगाना । उनमें धर्म की लगन होगी, तो परम्परा से धर्म के संस्कार वारसे (उत्तराधिकार) में रहेंगे ।

धर्मिष्ठ सेठ का दृष्टांत : एक सेठ बहुत ही धर्मिष्ठ था । उसके मन में ऐसी भावना थी कि मेरे पास धनसम्पत्ति की कोई कमी नहीं है । इसका उत्तराधिकार तो मेरे पुत्र को मिलेगा, इसमें कोई विशेषता नहीं है । इन पत्थर के टुकड़ों (धन के सिक्कों) का उत्तराधिकार तो मैंने अनेक भवों में अनेक पुत्रों को दिया होगा और आज भी अनेक लोग अपनी सन्तानों को देकर जाते हैं । परन्तु उससे उनका कोई कल्याण नहीं होता । हीरा, माणिक आदि पत्थरों की पूंजी के पूंजीपति अपने पुत्रों को इन पत्थरों की पूंजी देते हैं, जबकि आत्मारूपी अमूल्य हीरे के जो मालिक होते हैं, वे अपने पुत्रों को आत्मगुण रूपी अमूल्य हीरे देते हैं । जिसके पास जो वस्तु होती है, उसे ही वह अपनी सन्तानों को वारसे (उत्तराधिकार) में देकर जाता है । अतः मेरा यह पुत्र जैनकुल में मेरे जैसे धर्मात्मा के यहाँ जन्मा है, तो मैं उसे आत्मा की अव्याबाध पदवी का वारसा (उत्तराधिकार) देता जाऊँ । यह वारसा कभी नष्ट नहीं होता, वह शाश्वत है । यों विचार करके सेठ अपने पुत्र को साधु-साध्वियों के दर्शन करने, उनके व्याख्यान श्रवण करने तथा सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धर्मानुष्ठान करने का बारबार कहते, किन्तु सेठ का पुत्र भारी कर्मी था । यानी किसी भी तरह से उसकी धर्म में रुचि नहीं होती थी । संसार में कहावत है - 'आग के पुत्र कोयले होते हैं' अग्नि के बुझ जाने पर उसके कोयले हो जाते हैं । यह सेठ तो आग जैसे तेजस्वी धर्मिष्ठ थे, किन्तु उनका पुत्र तो बुझी हुई आग के कोयले जैसा था । सेठ ने उसे विभिन्न युक्तियों से बहुत समझाया, किन्तु उसे किसी भी तरह से धर्म का नाम सुनना अच्छा नहीं लगता था । सेठ ने धार्मिक पुस्तकें लाकर उसे पढ़ने-वांचने को दीं, परन्तु उसने वे पुस्तकें फेंक दी । सेठ उसे जबरन गुरुदेव के पास ले गए, उनसे धर्म के बोल सुनवाए, किन्तु उसका भी कोई प्रभाव पुत्र पर नहीं पड़ा ।

धर्मात्मा सेठ के दिल में अत्यन्त दुःख हुआ । सेठ के पास करोड़ों की सम्पत्ति है, उसकी कीर्ति सारे गाँव में फैली हुई है । सेठ की आज्ञा की कोई भी अवहेलना नहीं करता । ऐसे धर्मिष्ठ सेठ चिन्ता ही चिन्ता में सूखने लगे । सेठ को खाना-पीना अच्छा नहीं लगता । उसे रात को नींद भी नहीं आती । सेठ के शरीर में रक्त कम हो गया, इससे उसका शरीर फीका हो गया, तेजस्विता अत्यन्त कम हो गई ।

सेठ के लिए नौकरों में उत्पन्न हुई चिन्ता : सेठ की यह हालत देखकर उसके मुनीम, मित्र और परिवार के मनुष्य एवं नौकर आदि सभी पूछते हैं - "सेठ-जी ! आपको क्या चिन्ता है ? आपका शरीर क्यों सूखता जा रहा है ? इसके लिए कोई दवा लो, इलाज कराओ ।" सेठ के आदमी उन्हें दिखाने के लिए बड़े-बड़े वैद्यों और हकीमों को लाए, बहुमूल्य कीमती दवाइयाँ दीं, किन्तु उनका रोगग्रस्त शरीर अच्छा नहीं हुआ । रोग का वास्तविक निदान या परीक्षण भी नहीं हुआ । रोग किसी भी चिकित्सक के पकड़ में नहीं आया । तत्पश्चात् उनके व्यक्तिगत (प्राइवेट) मित्रों ने उन्हें एकान्त में बिठाकर पूछा - "तुम्हें क्या चिन्ता है ? जो हो सो, दिल खोलकर बात कहो ।" सेठ ने कहा - "भाई ! मुझे कोई चिन्ता या दुःख नहीं है । मैं सब तरह से सुखी हूँ । मुझे सबसे बड़ा दुःख यह है कि मेरे पुत्र की धर्म में बिलकुल रुचि नहीं है । उसके लिए मुझे रात-दिन चिन्ता रहती है कि इस पुत्र को मैंने धर्म का उत्तराधिकार (वारसा) देने के लिए इतनी मेहनत की, परन्तु किसी भी तरह से उसे धर्म अच्छा नहीं लगता । एक ही तो पुत्र है । मुझे रात-दिन इस चिन्ता का कीड़ा कुतर कर खा रहा है कि मेरे परलोक-गमन के बाद मेरे धर्म के द्वार बंद हो जाएँगे । मेरे धर्म का कौन संरक्षण करेगा ? मेरे आंगन में संतों के चरण नहीं पड़ेंगे और धर्म से विमुख बने हुए इस लड़के का क्या होगा ? यही एक चिन्ता है, दूसरी कोई चिन्ता मुझे नहीं है ।"

देवानुप्रियों ! इस सेठ को धर्म का कैसा रंग लगा होगा ? इसके परिवार में से धर्म चला जाएगा, इसकी कितनी चिन्ता थी उसे ? उसके दिल में कितनी आघात है इस बात का ? तुम्हारी संतति धर्म से विमुख रहे तो तुम्हें ऐसा आघात लगता है क्या ? सेठ के सरीखे दृढ़धर्मी हों तो ऐसा दुःख हो न ? आज तो हल्दी के रंग-सा धर्म का रंग है । हल्दी के पानी में कपड़ा रंगकर उसे धूप में रखा जाए तो उसका रंग उड़ जाता है । वैसे ही अधिकांश सुख-समाधिपूर्वक धर्माचरण करना पसंद है । जब उनकी जरा-सी कसौटी होती हो तो धर्म का रंग उड़ जाता है । परन्तु कुछ ऐसे हलुकर्मी दृढ़धर्मी जीव भी हैं, जो चाहे जितने कष्ट पड़ने पर भी धर्म को छोड़ते नहीं हैं । धन को तजकर भी धर्म को दृढ़ता से पकड़े रखते हैं । किन्तु ऐसे मनुष्य बहुत ही कम हैं।

सभी व्यापारी परदेश जाने के लिए तैयार हुए हैं । उनमें से अर्हन्नक श्रावक पूर्वोक्त सेठ जैसा दृढ़धर्मी था । धर्म के लिए कदाचित् प्राण भी अर्पण करने पड़ें तो वह

अर्पण करने को तैयार था। वे सब व्यापारी अपने-अपने वाहन (जहाज) में माल-सामान भरकर तैयार हुए। दूसरे वाहनों में समुद्रयात्रा में आवश्यक वस्तुएँ भर दीं। सभी व्यापारियों के सगे-सम्बन्धी, स्नेहीजन, ज्ञातिजन, मित्र आदि सब उन्हें विदा करने के लिए आए हैं। बन्दरगाह पर बहुत-से मनुष्य एकत्रित हुए हैं। आप सब परदेश या विदेश जाते हैं, तब आपके सगे-सम्बन्धी, स्नेहीजन आपको विदा देने के लिए एयरपोर्ट पर आते हैं न ? और हार आदि पहनाकर आपको बहुमान करते हैं न ? वैसे ही यहाँ भी व्यापारियों के स्नेहीजन आए हैं।

"तएणं तेसिं अहन्नग-पामोक्खाणं जाव वाणियगाणं परियणा जावताहिं (इट्ठाहिं, कंताहिं, पियाहिं गमणुण्णाहिं, मणामाहिं ओरालाहिं) वग्गूहिं अभिनंदंताय अभिसंथुणमाणा य एवंवयासी-अज्ज ! भाय ! माउल ! भाइणेज्ज ! भगवया समुद्देणं अभिरक्खिज्जमाणा २ चिरंजीवह, भद्दं च भे, पुणरवि कयकज्जे अणहसमग्गे नियगं धरं हव्वमागए पासामो किट्टु ताहिं सोमाहिं जाव दिट्ठीहिं निरिक्खमाणा मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठंति।"

तत्पश्चात् उन अर्हन्नक-प्रमुख पोतवणिकों के परिजन (परिवार के लोग जो उन्हें विदा देने के लिए आए थे; वे अनेक प्रकार के इष्ट, कान्त, प्रिय आदि मंगलवचनों से अभिनन्दन करते और उनकी प्रशंसा करते हुए यों कहने लगे - "हे पिता ! हे भाई ! हे मामा ! हे भाणेज ! आप सब इस विशाल समृद्ध समुद्र को पार करके सुरक्षित रहते हुए चिरकाल तक जीवित रहें, आपका कल्याण हो, हम सब आपको लाभान्वित एवं कृतकार्य होकर (अपने कार्य को भलीभांति पार लगा कर) किसी प्रकार की शारीरिक कठिनाई के बिना, सब प्रकार से स्वस्थ तथा धन एवं पूरे-परिवार-सहित वापस घर पर आए हुए देखें।" इस प्रकार कहकर वे लोग सौम्य, स्नेहमय, सतृष्ण एवं अश्रुपूर्ण दृष्टि से देखते-देखते मुहूर्त मात्र (अर्थात्-कुछ देर तक) वहीं खड़े रहे।

जो मनुष्य उन व्यापारियों को विदा देने के लिए आए थे, उनमें कोई किसी का पिता परदेश जा रहा था, किसी का भाई, किसी का मामा तो किसी का भाणेज, भतीजा परदेश जा रहा था। मुसाफरी लम्बे समय की और सुदूर मार्ग की थी, इसलिए अपने-अपने सगे-स्नेहियों को विदा देते समय उनकी आँखों से अश्रु छलछला उठे। सभी अन्तःकरण से यही चाहते हैं कि 'आप जिस आशा से परदेश जा रहे हैं, आप की यह आशा सफल हो, आपका मनोनीत कार्य सफल हो। भगवान् आपकी रक्षा करें, आप चिरंजीवी हों, आपकी मनोकामना पूर्ण हो, आप अपनी समुद्रयात्रा सफल करके पर्याप्त धन कमाकर क्षेमकुशल सहित जल्दी वापस आएँ ताकि आपको देखकर

हम आनन्द पाएँ ।' इस प्रकार अश्रुभीनी आँखों से अपने-अपने स्नेहीजनों को उन्होंने आशीर्वाद दिए ।

यह तो द्रव्य-सागर पार करने के आशीर्वाद हैं, वीतराग भगवान् हमें भवसागर पार करने के आशीर्वाद देते हैं ।

भगवान् नेमिनाथ जब पशुओं की पुकार सुनकर तोरण से वापस लौट गए और गिरनार पर्वत पर जाकर दीक्षा ले ली, तब राजीमती को इस बात का पता लगा तो उसने यह विचार किया कि 'भले ही नेमिकुमार मुझसे विवाह किये बिना ही वापस लौट गए, परन्तु मेरी सगाई उनके साथ हो चुकी थी, इसलिए मैं उनकी पत्नी और यादव कुल की बहू के रूप में जाहिर हो गई । अतः अब जो मार्ग इनका (पति का), वही मेरा मार्ग होगा । मैं भी दीक्षा लेकर आत्मा का कल्याण करूँ । माता-पिता ने राजीमती को बहुत समझाई, परन्तु वह संसार में नहीं रही, दीक्षा लेने के लिए उद्यत हुई । कृष्ण वासुदेव को यह बात मालूम हुए तो उनका हृदय हर्ष से नाच उठा, हृदय प्रफुल्लित हो गया । सोचा - 'मैं कैसा भाग्यशाली हूँ ? भले ही उसने विवाह नहीं किया, नेमिकुमार के साथ, किन्तु यादवकुल की पुत्रवधू तो कहला चुकी न ? वह दीक्षा ले रही है, इस कारण मेरा यादवकुल भी उज्ज्वल होगा । मेरे लघुबांधव (नेमिकुमार) ने तो दीक्षा ले ली और उसकी पत्नी उत्कृष्ट मनोभाव भरी कन्या राजीमती भी दीक्षा ले रही है । अतः श्रीकृष्णजी उसके पास आए और बहुत सुन्दर, मधुर एवं आशीर्वाद भरे उद्‌गार निकाले - "हे राजीमती ! तू माता-पिता और कुटुम्ब-परिवार को अश्रुपात करते हुए छोड़कर दीक्षा लेने के लिए तैयार हुई है । तू अब किसी भी सांसारिक सम्बन्धों के सामने पीछे मुड़कर देखने को तैयार नहीं है । तू दीक्षा लेकर अपने पितृकुल और यादवकुल दोनों कुलों को उज्ज्वल बना रही है । मैं तुझे अपने अन्तर से आशीर्वाद दे रहा हूँ - *'संसार-सागरं घोरं, तर कन्ने लहु लहु ।'* - हे राजीमती ! तुम जिस भाव से आर्हती दीक्षा ग्रहण कर रही हो, तुम्हारी वह मनोभावना सफल हो, संयम का अच्छी तरह से निर्दोष पालन करके, ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप की सम्यक् आराधना करके तुम जल्दी-जल्दी संसार-सागर को तिर जाओ ।" इस प्रकार कृष्ण वासुदेव ने राजीमती को संसार-सागर तिरने के आशीर्वाद दिये थे ।

यहाँ सभी लोग अर्हन्नक-प्रमुख व्यापारियों को जल से परिपूर्ण समुद्र तिरने के आशीर्वाद दे रहे हैं । जिसके जो-जो सगे-सम्बन्धी हैं, उन्हें सम्बोधित करके सभी कह रहे हैं - "आप सब अच्छा धंधा करके खूब धन कमाकर समुद्रयात्रा सफल करके वापस जल्दी आना ।" सभी के आशीर्वाद लेकर सब व्यापारी अब अपने-अपने वाहन में बैठेंगे । आगे क्या होगा, उसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

पू. गुलाबचन्दजी म.सा. की पुण्यतिथि के अवसर पर

आज हमारे महान तपस्वी पू. गुलाबचन्द्रजी महाराज साहब की पुण्यतिथि का पवित्र दिवस है । साथ ही हमारे उग्र तपस्वी बा.ब्र. भावनाबाई महासतीजी के ३२ उपवास की पूर्णाहुति का भी पावन दिवस है । उनकी भावना निर्विघ्नतया पूर्ण हुई है । उनकी तपस्या आत्मशुद्धि के शुभ उद्देश्य से समझ-बूझपूर्वक हुई है । प्रतिदिन स्वाध्याय करना, शास्त्र-वाचन में बैठना, जप और ध्यान करना इत्यादि संयम-साधना की प्रत्येक क्रिया के साथ आपने आत्महितलक्षी तपस्या के द्वारा कर्मों को चकचूर करने के लिए ऐसी उग्र तप-साधना अंगीकार की । ऐसी छोटी उम्र में ऐसी उग्र साधना करनेवाली तपोमूर्ति साध्वी को जितना धन्यवाद दें, जितने उनके गुणगान करें, उतने ही कम हैं । आज उनका पाँचवाँ मासखमण है ।

भाइयों और बहनों ! तपस्वियों का बहुमान तप और त्याग से होता है । ऐसे तपस्वियों का बहुमान करने से, उनके गुणगान करने से और तप की अनुमोदना करने से अनेक कर्मों की बहुत निर्जरा होती है । जो भाई-बहन तप नहीं कर सकते हों, वे तप की अनुमोदना तो अवश्य करें । अतः ३२ दिन तक ब्रह्मचर्य का पालन, रात्रि-भोजन, कंदमूल तथा नाटक-सिनेमा का त्याग वगैरह अनेक प्रकार के तप, त्याग, नियम, प्रत्याख्यान आदि उत्साहपूर्वक लें । आज पू. गुलाबचन्द्रजी महाराज साहब की भी पुण्यतिथि है । वह महाराज साहब भी उग्र तपस्वी थे । इसलिए इन दोनों प्रसंगों को मनाने में आप दिल खोलकर त्याग, तप, प्रत्याख्यान करेंगे तो तपस्वी का बहुमान और पू. गुलाबचन्द्रजी म.सा. की पुण्यतिथि मनाना सार्थक होगा । कल भावनाबाई महासतीजी के तप का पारणा तथा उनका बहुमान है । अतः सभी भाई-बहन अच्छी संख्या में लाभ लेना । पू. गुलाबचन्द्रजी महाराज के जितने गुणगान करें, कम हैं । वे ऐसे ही महान चारित्रवान संत थे । आगे के भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

जहाँ प्रद्युम्नकुमार बड़ा हो रहा है, अब वहाँ की जरा झांकी कर लें । प्रद्युम्नकुमार विद्याधराधीश कालसंवरराजा के महल में सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष की तरह बड़ा होने लगा । प्रद्युम्नकुमार में बचपन से ही चन्द्रमा जैसी सौम्यता और सूर्य जैसी तेजस्विता थी । दोनों गुणों से वह प्रभावशाली और प्रकाशमान बना । कामदेव सौन्दर्यवान होने से दूसरों के चित्त में विकार पैदा करता है, जबकि प्रद्युम्नकुमार अपने सौन्दर्य से दूसरों को आनन्द प्रदान करता है । वह जैसे-जैसे बड़ा होने लगा,

वैसे-वैसे उसके पिता के घर में धन-धान्य की वृद्धि होने लगी। जब वह पाँच वर्ष का हुआ तो पिता ने उसे उपाध्याय के पास पढ़ने के लिए भेजा। उसकी स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि उपाध्याय एक शब्द कहते तो उसे चार शब्दों का ज्ञान हो जाता था। जो पाठ उपाध्याय एक बार पढ़ाते, उसे वह भूलता नहीं था। विद्याध्ययन करते हुए वह शुक्लपक्ष के दूज के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। अल्प समय में ही शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या दोनों विद्याओं में निपुण हो गया। पुरुषों की ७२ कलाओं में वह निष्णात हो गया। उसकी माता कनकमाला को यह पुत्र प्राणों से भी अधिक प्रिय था। यों धीरे-धीरे प्रद्युम्नकुमार यौवनवय में आया। उसका रूप देखकर स्त्रियाँ मोहित हो जाती थीं, किन्तु प्रद्युम्नकुमार ऐसा पवित्र था कि किसी भी महिला के सामने ऊँची दृष्टि करके नहीं देखता था।

प्रद्युम्नकुमार का बेजोड़ पराक्रम : प्रद्युम्नकुमार सभी विद्याओं और कलाओं का अभ्यास करके उनमें पारंगत और होशियार हो गया था। अब उसे घर में बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था। अतः उसे अब बाहर भ्रमण करने का, नये-नये देश देखने का बहुत ही मन होने लगा। वह पिता की आज्ञा लेकर सेना तैयार करके बाहर गया और अपने भुजबल से अनेक सुभटों को पराजित करने लगा। उसकी शूरवीरता देख-देखकर कोई भी शासक युद्ध के लिए उसके सामने आने की हिम्मत नहीं करता था। बलवान शत्रुओं को उसने अपने पराक्रम से मित्र बनाए। जो बहुत अभिमानी थे, उन्हें भी अपनी कलाकुशलता से जीतकर अपनी आधीन बनाए। उसके सिवाय बाकी रहे हुए शत्रुओं को जीतने के लिए पिता की आज्ञा लेकर गया और अपने सामर्थ्य से दूसरे सभी विद्याधर राजाओं को जीतकर सब देशों में पिता का शासन स्थापित करके वापस लौटा।

पुत्र का ऐसा शौर्य और पराक्रम देखकर कालसंवरराजा विचार करने लगा कि 'अब मैं प्रद्युम्नकुमार को युवराजपद दे दूं।' पिता ने उसे बहुत ही आडम्बर-सहित नगर-प्रवेश कराया। चारों ओर सर्वत्र प्रद्युम्नकुमार के गुण गाये जाने लगे। सर्वत्र उसके पराक्रम की प्रशंसा होने लगी। उसके माता-पिता के हृदय में अपार हर्ष था। कालसंवरराजा की दूसरी ५०० रानियाँ थीं। उनके भी पुत्र जवान हो गए। प्रद्युम्नकुमार की चारों तरफ प्रशंसा सुनकर उन रानियों के मन में ईर्ष्या की आग प्रकट हो गई। वे परस्पर कहने लगीं - "क्या यह एक ही राजा का पुत्र है, दूसरे पुत्र नहीं हैं ? क्या सर्वत्र उसीके गुण गाये जाँय ?" ईर्ष्या की आग बिना अग्नि के ही मनुष्य को जला देती है। अब वे रानियाँ क्या करती हैं, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

व्याख्यान - ७४

भादवा वदी १२, सोमवार | ता. २०-९-७६

जिनवाणी - जलयान : कराता भव-सागर से प्रयाण

अनन्तज्ञानी तीर्थंकर भगवन्तों ने कहा - "हे भव्यजीवों ! सिद्धान्त (शास्त्र) वाणी के यथार्थ श्रवण, मनन और चिन्तन के बिना जीवात्मा अनन्तकाल से संसार में भटक रहा है, बेकार परिभ्रमण कर रहा है । सिद्धान्त-वाणी का श्रवण, मनन और चिन्तन करने से अष्टविध कर्मो का सर्वथा क्षय करके संसार-सागर को पार किया जा सकता है । सागर दो प्रकार के हैं - एक तो वह सागर है, जिसमें जलयान द्वारा मुसाफिरी की जाती है, और दूसरा है - संसार-सागर । जैसे समुद्र में डूबते हुए मनुष्य को द्वीप का सहारा मिलने पर वह बच सकता है, वैसे ही संसार-समुद्र में डूबते हुए जीव को शास्त्र की वाणी द्वीप-समान है । जो आत्माएँ शास्त्र-वचनों का सहारा लेती हैं, वे संसार-सागर को पार कर जाती हैं । देखिए - भगवान् ने संसार-सागर को (कैसी) किसकी उपमा दी है ? -

अहो ! असार - संसारः सागर इव दारुणः ।
कारणं तस्य कर्मेव, हेतु बीजस्तरोरिव ॥

अनन्तकाल व्यतीत हो गया, फिर भी अभी तक जीव संसार-सागर को पार नहीं कर सका । इसका कारण यह है कि इस दारुण संसार-सागर को तैरना बहुत कठिन है । कोई विरल ही विभूतियाँ कर्मों का पूर्णतया क्षय करके संसार-समुद्र को पार कर सकती हैं । जैसे समुद्र में पानी की तरंगे (ऊर्मियाँ) उछलती हैं, इसी तरह इस भव-सागर में संकल्प-विकल्प की तरंगें उछलती हैं (ऊपर उठती) हैं । सागर में मत्स्य, मगर, कच्छप आदि बहुत-से जल-जन्तु होते हैं, वैसे ही भव-सागर में काम, क्रोध, लोभ-मोहरूपी मगरमच्छ, कछुए आदि बहुत रहते हैं । जैसे समुद्र में ज्वार-भाटे आते हैं, वैसे ही संसार-सागर में भी सुख-दुःखों के ज्वार-भाटे आते रहते हैं । समुद्र खारे पानी से भरा रहता है, वैसे ही संसार-सागर अष्टकर्मरूपी खारे जल से भरा हुआ है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

ऐसे अगाध संसार-सागर में रहनेवाले जीवों के दिल में अगर वीतराग-प्रभु की वाणी के प्रति सम्यक् श्रद्धा की किरण फूटे तो उसका बेड़ापार हुए बिना नहीं

रहता । जिसे वीतराग-वचन पर दृढ़ श्रद्धा है, ऐसा अर्हन्नक जैसा श्रावक अनेक व्यापारियों के साथ व्यापार करने के लिए परदेश जाने हेतु तैयार हुआ है । इस समय द्रव्य-समुद्र पार करने जा रहा है, भविष्य में भाव-समुद्र को पार करनेवाला है । ऐसे पवित्रात्माओं के नाम शास्त्र में स्वर्णाक्षरों से लिखा गया है । उनको समुद्र द्वारा विदेशयात्रा में जिन-जिन वस्तुओं की जरूरत थी, उन सब चीजों को जलपोत में भरकर सभी व्यापारी अपने-अपने वाहन में बैठ गये । बिदाई के वक्त उनके सगे-सम्बन्धियों ने सबको अन्तर से आशीर्वाद देते हुए कहा - "हमारी शुभकामना है कि आप सब इस लवण-समुद्र को पार करके धन कमाने की इच्छा से विदेश जा रहे हैं, आप सबकी वह इच्छा पूर्ण हो । शासनदेव आपकी सुरक्षा करें, आप चिरंजीवी हों और विदेश से प्रचुर धन कमाकर क्षेमकुशलतापूर्वक शीघ्र लौट आएँ ।"

ऐसा मंगलमय आशीर्वाद देने का एक ही कारण है कि यह समुद्र द्वारा यात्रा है । समुद्र में कब तूफान आए, कब वाहन टूट जाए, और क्या हो जाए ? यह कुछ कहा नहीं जा सकता । कदाचित् कोई शारीरिक उपाधि, या व्याधि आ धमके, इस विषय में कहा नहीं जा सकता । आज धनिक लोग प्लेन से मुसाफिरी करते हैं । प्लेन द्वारा अल्प समय में लम्बी और सुदूरवर्ती मुसाफिरी की जा सकती है । परन्तु कभी-कभी प्लेन में भी गंभीर दुर्घटना हो जाती है । ट्रेन में भी ऐक्सीडेंट हो जाता है, गाड़ी (मोटर आदि) भी कभी-कभी दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है । उस समय अपने साधन भी स्वयं को कठिनाई में डाल देते हैं । स्वयं को मनपसंद साधन भी कभी-कभी मुश्किली में डाल देते हैं । इस पर मुझे एक दृष्टान्त याद आ रहा है, सुनिए -

राजा का दृष्टांत : एक राजा को घोड़ों को खेलाने (क्रीडा कराने) का बहुत शौक था । अधिकांश राजाओं को अलग-अलग तरह का शौक होता है । कोई राजा शिकार का शौकीन होता है, तो कोई राजा युद्ध करने का शौकीन होता है । इस राजा को घोड़ों का खिलाड़ी बनकर रहने का शौक था । अपने राजा को किस बात का अधिक शौक है ? इसे उसके प्रजाजन जानते हैं । एक सौदागर को पता लगा कि अमुक राजा घोड़ों का खिलाड़ी है, इसलिए वह अच्छे से अच्छे तेज-तर्रार घोड़े लेकर राजा के पास पहुँचा । जिसको जिस चीज का शौक होता है, उसे वह वस्तु नजर के समक्ष आते ही बहुत खुशी होती है । अतः राजा भी तरह-तरह के घोड़े देखकर अत्यन्त खुश हुआ, और प्रत्येक घोड़े की कीमत पूछी । सौदागर ने प्रत्येक घोड़े की कीमत बताई । उनमें से राजा ने एक तेज-तर्रार घोड़ा पसंद करके खरीदा । परन्तु यह नहीं पूछा कि उस घोड़े की प्रकृति कैसी है ? घोड़े की प्रकृति या प्रगति का पता उसकी लगाम पर से लगता है । अब किसी मानव को हमें प्रसन्न करना हो तो सर्वप्रथम उसकी प्रकृति जान लेनी चाहिए । किसकी प्रकृति कैसी है ? यह जान लें और तदनुसार उसके

साथ व्यवहार करें तो वह भी हमारे अनुकूल हो जाता है; हमें अपने कार्य में सफलता मिलती है। किन्तु राजा ने खरीदे हुए घोड़े की तासीर और गति-प्रगति की जानकारी नहीं की। सौदागर तो घोड़ा बेचकर चला गया।

राजा अपने आदमियों से अलग पड़ गया : एक दिन राजा अपने नये खरीदे हुए घोड़े पर बैठकर अपने मंत्री एवं कुछ आदमियों के साथ वन की सैर करने निकला। थोड़ी ही देर में जंगल आ गया। घोड़ा बहुत तेजी से चल रहा था। राजा ने मन में सोचा - 'घोड़े की चाल जरा धीमी कर दूँ।' धीमी करने के लिए राजा ने घोड़े की लगाम खींची तो घोड़े की गति और अधिक तेज हो गई। तब राजा ने और अधिक लगाम खींची तो घोड़ा बहुत तेज चलने लगा। राजा ज्यों-ज्यों लगाम खींचता गया, घोड़ा त्यों-त्यों अधिकाधिक तेज दौड़ने लगा। घोड़ा अब हवा से बातें करने लगा। राजा घबराया। वह अब सबसे आगे, अलग पड़ गया। वह गाढ़ जंगल में बहुत दूर निकल गया। राजा ने सोचा - 'मैं अब अकेला पड़ गया। भयंकर जंगल आ गया। पता नहीं यह घोड़ा आज मुझे कहाँ ले जाएगा ? यह किसी भी तरह से खड़ा नहीं रहता। इससे तो अच्छा होगा, मैं घोड़े को यहीं छोड़ दूँ।' राजा यों विचार करता है, इतने में तो एक विशाल वटवृक्ष दिखाई दिया। राजा ने अपने प्राण बचाने के लिए घोड़े की लगाम छोड़कर वटवृक्ष की डाली पकड़ ली। राजा के हाथ से लगाम छूटते ही घोड़ा खड़ा रह गया। राजा वृक्ष पर से नीचे उतरा। सोचने लगा - 'यह घोड़ा उलटी लगाम का मालूम होता है। मैंने ज्यों-ज्यों इसकी लगाम खींची, त्यों-त्यों यह अधिकाधिक पवनवेग से दौड़ता गया। अगर मैंने पहले से यह जान लिया होता तो मैं इतनी कठिनाई में नहीं पड़ता।'

बन्धुओं ! यह तो उलटी लगाम का घोड़ा था। मगर बहुत-सी दफा मनुष्य की प्रकृति ऐसी होती है कि उसे किसी कार्य को करने से इन्कार किया जाता है तो भी वह उस कार्य को अधिक जोश से करता है। किसी रोगी को डोक्टर कहता है कि 'अमुक वस्तु तुझे नहीं खानी है,' तब उसे उसी वस्तु को जल्दी से खाने का मन होता है, और रोग मिट जाने पर तो बेधड़क होकर वह उस वस्तु को खाने लगता है। उस वक्त उसे पता नहीं लगता कि भविष्य में मेरा क्या होगा ? इसी प्रकार भव-भ्रमण के रोगी मनुष्यों को संतरूपी डोक्टर यों कहते हैं कि "तुम विषय-भोगों का त्याग करो। ब्रह्मचर्य का पालन करो, व्यसनों का त्याग करो, रात्रि-भोजन मत करो," परन्तु अज्ञानी जीवों के गले नहीं उतरती। इस कारण वे अधिकाधिक विषय-वासना का सेवन करते हैं। ऐसे मनुष्य भी उलटी लगाम के घोड़े जैसे ही कहलायेंगे न ? इसके विपरीत जो सीधी लगाम के घोड़े जैसे होते हैं, वे जीव सद्गुरुओं द्वारा समझाये जाने पर समझ जाते हैं और अपनी शक्ति अनुसार त्याग करते हैं। विशेष त्याग करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

प्राण कण्ठ में आने पर सहयोग मिला : गर्मियों के दिन थे । राजा घने जंगल में आ पहुँचा, जहाँ कोई भी मनुष्य दिखाई नहीं देता । गर्मी के कारण राजा को अत्यन्त प्यास लगी । मध्याह्न का समय हो गया था, इसलिए भूख भी कड़ाके की लगी थी । थकान भी बहुत हो गई थी । भूख, प्यास और थकान के कारण चक्कर आने से राजा बेहोश होकर गिर पड़ा । देखिए, राजा को घोड़ा कितना प्रिय था ? अपनी प्रिय वस्तु भी (किसी समय) कितनी दुःखदायक बन जाती है । राजा बेभान होकर मुर्दे की तरह पड़ा है । उस समय एक भील की लड़की बकरियाँ चराने के लिए उस जंगल में आई । उसने राजा को बेभान अवस्था में पड़ा हुआ देखा । राजा को देखकर उसके मन में विचार स्फुरित हुआ कि 'यह कोई बड़ा और सज्जन मनुष्य मालूम होता है । भूल से इस गाढ़ जंगल में आ चढ़ा प्रतीत होता है और उसकी ऐसी हालत हो गई है । मेरे से इसकी रक्षा हो सके तो रक्षा करूँ । दुःख के समय सहायता करना मानव-मात्र का कर्तव्य है । ऐसे जंगल में हम गरीब मनुष्य और तो क्या कर सकते हैं ? किन्तु इस सज्जन पुरुष की यथायोग्य सेवा करूँ ।' यों विचार करके भील की लड़की राजा के पास आई और अपने पीने के लिए जो ठंडा पानी लाई थी, वह ठंडा पानी राजा के मुँह पर छींटा । इस कारण राजा को कुछ शान्ति हुई, और वह होश में आया । उसके मन में विचार आया कि 'मुझे इस घोर जंगल में किसने जीवनदान दिया है ?' भील की लड़की को अपने पास बैठी हुई देखकर राजा हर्षित हो उठे !

राजा ने उससे पूछा - "शुभे ! यहाँ कुछ खाने को मिल सकेगा क्या ? मुझे बहुत भूख लगी है । मैं कुछ खाये बिना जी नहीं सकूँगा ।" यों तो यह लड़की बहुत विनयशील और सेवाभावी थी । वैसे तो वह भील के कुल में जन्मी थी । ऐसे कुल में इतने उच्च संस्कार मिलने कठिन हैं, परन्तु यह पूर्वभव का कोई संस्कारी जीव थी । लड़की ने सोचा - 'यह बड़ा आदमी है । अगर यह जी जाएगा तो कुछ भलाई के कार्य करेगा । अतः भूख सहन कर लूंगी, पर इनको कुछ खाने को दूं ।' यों सोचकर उसने अपने पास जो रोटी और छाछ थी, वह राजा को खाने को दी । राजा उसे खा-पीकर अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हुआ । फिर राजा उसका बदला देने की दृष्टि से भील की झोंपड़ी पर पहुँचा ! भील समझ गया कि यह बड़ा राजा है । अतः उसका बहुत सत्कार किया और कहा - "पधारिए महाराजा ! मेरी झोंपड़ी पावन करिए ।" राजा कहने लगा - "भाई ! मैं तुम्हारे पास से कुछ मांगने आया हूँ ।" भील बोला - "कहिए साहब ! आपको क्या चाहिए ?" राजा ने कहा - "तुम्हारी बेटी ने मुझे जिलाया है, जीवनदान दिया है । अतः यदि यह कुआरी हो तो मेरे साथ उसका विवाह कर दो ।" भील बोला - "साहब ! आप तो हमारे पालनकर्ता हैं । आप तो बड़े महाराजा हैं । हम तो तुच्छ भील जाति के हैं । आपके अन्तःपुर में तो अनेक रानियाँ

पड़ जाए तो वह मिठाई जहरीली वन जाती है, वैसे ही सद्‌गुणों से भरे हुए जीवन में एक छोटा-सा दुर्गुण प्रविष्ट हो जाए तो वे सभी गुण दुर्गुण वन जाते हैं। अतः प्रभो ! आप मेरे जीवन में सदैव सद्‌गुणों का सिंचन करना।"

इस प्रकार नई रानी प्रभु से प्रार्थना कर रही थी। राजा उसे भलीभांति सुनकर रानी पर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने पटरानी से कहा - "तुम्हारी दृष्टि में जहर भरा है। यही कारण है कि तुमने मुझे गलत भ्रम में डाला। इस रानी की भावना शुद्ध है। वह भगवान् से वहुत ही सुन्दर प्रार्थना करती है। वास्तव में, वह पटरानी पद के लायक है।" यों कहकर राजा ने उक्त भीलनी रानी को पटरानी का पद दिया। उस (नई रानी) ने तो वहुत ही इन्कार किया, इस पद के लेने से। उसने कहा - "स्वामीनाथ ! मुझे यह पद शोभा नहीं देता। मुझे सदैव छोटी ही रहने दें, छोटी ही रखें।" किन्तु राजा के दृढ़ विचार के आगे उनकी एक न चली। भीलनी रानी, अपने सद्‌गुणों के कारण राजा की पटरानी वन गई। निष्कर्ष यह है कि जिसका मन सीधी लगाम के घोड़े जैसा है, जिसमें आत्मगुणों का दीपक प्रज्वलित रहता है और जिसके जीवन में सद्‌गुणों की सौरभ महकती है, वह आगे वढ़ सकता है, और महान सुख का स्वामी वन सकता है।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अर्हन्नक श्रावक के जीवन में भी आत्मगुणों का दीपक जगमगा रहा था। उसका जीवन सद्‌गुणों की सुवास से महक रहा था। इस कारण सभी व्यापारी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। सभी व्यापारी (नौका वणिक) अपने-अपने वाहन (जलयान) में वैठ गए। उनके सगे-सम्वन्धिओं ने, तथा मित्रों और ज्ञातिजनों ने शुभाशीर्वाद दिये - "आप पर शरीर से सम्वन्धित तथा समुद्र से सम्वन्धित कोई भी उपद्रव न आए, एवं आप सभी शरीर से स्वस्थ, धन और परिवार से परिपूर्ण होकर शीघ्र ही वापस घर आएँ। हम आपकी सव तरह से कुशलता चाहते हैं।" यों कहकर वे वहाँ - *"तहिं सोमाहिं, णिद्धाहिं दीहाहिं सप्पिवासाहिं पप्पुयाहिं दिट्ठीहिं निरिक्खमाणा मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठंति।"* उन सौम्य, स्निग्ध (स्नेहमयी), दीर्घकाल तक, दर्शन की पिपासा से युक्त - सतृष्ण, अश्रुओं से परिप्लावित दृष्टियों से उन्हें देखते-देखते मुहूर्त भर तक वहीं खड़े रहे।

उन सभी पोतवणिकों को समुद्रयात्रा के लिए विदा देते हुए उनके परिवारजनों की आँखें अश्रुओं से परिपूर्ण हैं और जलपोतों के सम्मुख वे अश्रुपूरित नेत्रों से टकटकी लगाकर अनिमेष दृष्टि से देख रहे हैं। तत्पश्चात् उन पोतवणिकों ने नौका में (वैठने से पूर्व) समुद्र को पुष्प, चावल आदि चढ़ाये। अपने पहने हुए वस्त्रों पर

पाँच अंगुलियों से रक्तचन्दन के थापे (छापे) लगाए । समुद्र की वायु की धूप अ
से पूजा की, वलाय-बाहा (लम्बे लम्बे काष्ठवल्ले) यथास्थान संभाल कर रख
फिर श्वेत पताकाएँ नौका पर फहरा दीं । फिर वाद्यों की मधुर मंगल ध्वनि होने
विजय-कारक सब शुकन होने पर, तथा समुद्रयात्रा के लिए चम्पापुरी
राजा का आदेशपत्र प्राप्त हो जाने पर, महान और उत्कृष्ट सिंहनाद यावत् कलव
ध्वनि से अत्यन्त क्षुब्ध हुए महासमुद्र की गर्जना के समान पृथ्वी को शब्दम
करते हुए एकाभिमुख होकर वे सभी पोतवणिक नौका पर चढ़े । इसके पश्च
क्या-क्या हुआ, नौका को किस प्रकार खोला (बन्धन-मुक्त किया) गया, इन
भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार सभी विद्याएँ, कलाएँ सीखकर, पढ़-लिखकर होशियार
गया । उसने अपनी बुद्धि और बाहुबल से अनेक विद्याधर राजाओं पर विजय प्रा
कर ली । कुछ राजाओं को उसने प्रेम से जीते तो कतिपय राजाओं को बाहुब
का चमत्कार बताकर जीते और चारों ओर अपने पिता कालसंवरराजा की आ
(आज्ञा) प्रवर्तित की । ऐसे पराक्रमी पुत्र को देखकर किस माता-पिताओं
हृदय हर्षित नहीं होते ? कालसंवरराजा और कनकमाला रानी की छाती प्रद्युम्नकुम
को देखकर गज-गज फूल उठी । कालसंवरराजा उससे कहने लगे - "बेटा ! ज
से तेरा जन्म हुआ, तभी से मैंने तो तुझे युवराजपद दे दिया था, किन्तु अ
सभी राजाओं के समक्ष तुझे विधिपूर्वक युवराजपद पर स्थापित करना है
यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "पिताजी ! मेरे दूसरे अनेक भाई हैं, उनमें
आपको योग्य लगे, उसे युवराजपद दीजिए, मुझे यह पद नहीं चाहिए ।" पर
राजा ने कहा - "बेटा ! मुझे तेरे में युवराजपद की योग्यता प्रतीत होती
इसलिए तू ही युवराजपद के लिए योग्य है । अतः तू इस पद को स्वीक
कर ।" पिताजी का अत्यन्त आग्रह होने से विनयवान प्रद्युम्नकुमार ने युवराज
का स्वीकार किया । राजा ने बहुत धूमधाम से प्रद्युम्नकुमार को युवराज
दिया । इस मंगल अवसर पर राजा ने अभावग्रस्तों, निर्धनों आदि को मुक्त ह
से दान दिया । समागत राजाओं आदि का सत्कार-सम्मान किया । इस प्रक
यह महोत्सव मनाया ।

प्रद्युम्नकुमार को युवराजपद मिला, किन्तु उसमें किसी प्रकार का अभिमान न
है । विनय, नम्रता, सरलता, निरभिमानता एवं पराक्रम-कुशलता आदि गुणों
कारण उसकी सर्वत्र बहुत प्रशंसा होने लगी । प्रद्युम्नकुमार पर कालसंवररा

और कनकमाला रानी का सगे माता-पिता जैसा ही वात्सल्यभाव और प्रेमभाव है। प्रद्युम्नकुमार को यह पता नहीं है कि ये राजा और रानी मेरे पालक पिता-माता है। फिर भी वह उनके प्रति अत्यन्त विनयभाव और आदरभाव रखता है। उसको देखकर माता-पिता हर्षविभोर हो जाते हैं। यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रद्युम्नकुमार की अत्यन्त प्रशंसा और प्रतिष्ठा होने लगी।

प्रद्युम्नकुमार की प्रशंसा सुनकर जगा द्वेषभाव : दूसरी ओर कालसंवरराजा के जो ५०० रानियाँ थी, तथा उनके जो पुत्र थे, उनके दिलों में राजा के द्वारा प्रद्युम्नकुमार को युवराजपद पर स्थापित किये जाने से ईर्ष्याभाव एवं द्वेषभाव जगा। जब उन रानियों के पुत्र अपनी-अपनी माताओं को प्रणाम करने गए, तब उनकी माताएँ क्रोधाविष्ट होकर अपने पुत्रों से कहने लगी - "पुत्रों ! धिक्कार है तुम्हारे जीवन को ! अगर पुत्र पराक्रमी होता है, तो वह अपनी माता का नाम उज्ज्वल करता है।"

जिनके अन्तर में ईर्ष्या की आग भड़क उठी है, वे रानियाँ अपने-अपने पुत्रों पर कुपित होकर कहने लगीं - "धूल पड़ी इस पृथ्वी पर तुम्हारे अवतरित होने (जन्म लेने) पर। सिंहनी चाहे एक ही पुत्र को जन्म देती है, पर किसी की ताकत नहीं है कि उस सिंहशिशु का सामना कर सके ! सिंहनी का बच्चा जंगल में अकेला ही निर्भयतापूर्वक रहता है। कदाचित् सिंहनी का आयुष्य पूरा हो जाए, तो भी उसे यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरे (मरने के) बाद मेरे बच्चे का क्या होगा ? जबकि गधी दश बच्चों को जन्म देती है, किन्तु उसके पीठ पर से बोझा उतरता नहीं है, वह सदैव बोझा ढोती रहती है। इस दृष्टि से हे पुत्रों ! तुम विचार करो। प्रद्युम्नकुमार कितना पराक्रमी है ? उसने कितने विद्याधर राजाओं को जीता है ? उसके पराक्रम को देखकर तुम्हारे पिता ने उसे युवराजपद दे दिया है। आज उसकी सर्वत्र कितनी प्रशंसा हो रही है ? पुत्रों ! सारी नगरी में चौराहे और चोहट्टे में सर्वत्र प्रद्युम्नकुमार के गुणगान हो रहे हैं। यह युवराज तो बन गया, अब तुम अगर कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करोगे तो वह राज्य का स्वामी (धनी) भी बन जाएगा। फिर तुम्हारी कुछ भी कीमत नहीं रहेगी। तुम्हें कोई किसी भाव भी नहीं पूछेगा। ऐसे कायर पुत्रों की माता बनने में हमें क्या लाभ ?" इस प्रकार अपने-अपने कुंवरों (पुत्रों) को उन-उन की माताएँ कहने लगीं। माताओं के वचन सुनकर उत्तेजित होकर सभी राजकुमार अत्यन्त क्रोधाविष्ट हो गए। उनके मन-मस्तिष्क में प्रद्युम्नकुमार के प्रति द्वेषाग्नि प्रकट हो गई। वे अत्यन्त क्रोधावेश में आकर कहने लगे - "हे माता ! हम सिंहनी के अंगजात-सम सिंह हैं। हम कोई गधे नहीं हैं। अब हम चाहे जिस तरह से प्रद्युम्नकुमार का कांटा निकालकर ही दम

लेंगे। उसे मारकर हम राजगद्दी पर बैठेंगे। तुम जरा भी चिन्ता मत करना।" यों कहकर पुत्रों ने माताओं को आश्वासन दिया।

प्रद्युम्नकुमार को मार डालने के लिए रचा कपटजाल : माताओं को वचन देकर सभी राजकुमार एक जगह एकत्रित हुए और सर्व सम्मति से निश्चित किया - 'इसमें सफलता के लिए सर्वप्रथम तो प्रद्युम्नकुमार के साथ मित्राचार से उसे अपने प्रति आकर्षित करना चाहिए। उसके पश्चात् दाव अजमाएँगे तो इस काम में सफलता मिलेगी।' यों निश्चित करके प्रद्युम्नकुमार को वे सभी राजकुमार प्रेम से बुलाने और साथ-साथ लेकर चलने लगे। प्रद्युम्नकुमार तो सरल था। वह भी इन सब भाइयों के साथ-साथ आनन्द और आमोद-प्रमोद करने लगा। उसे पता नहीं था कि मेरे साथ यह सब दगाबाजी की जा रही है, कपटजाल रचा जा रहा है।

सभी राजकुमार सगे भाइयों की तरह प्रद्युम्नकुमार के साथ प्रेम से हिलमिल कर रहने लगे। वे ऐसा प्रेमभाव बताने लगे, मानो सबके शरीर भले ही अलग-अलग हों, पर सबका जीव अलग नहीं है। उनका यह व्यवहार देखकर प्रद्युम्नकुमार को इतनी अधिक खुशी हुई कि मेरे भाइयों का मेरे प्रति कितना प्रबल प्रेम है ? सबको अब यह विश्वास हो गया कि अब प्रद्युम्न के साथ गाढ़ मैत्री हो गई है, दोस्ती में कोई कसर नहीं रही। इसलिए उन्होंने कहा - "भाई ! तू एक दिन हमारे यहाँ भोजन करने के लिए आ, ताकि हम सब साथ बैठकर भोजन करें।" प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "अच्छा, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मैं तुम्हारे यहाँ भोजन करने आऊँगा। फिर तुम सब भी मेरे यहाँ भोजन करने के लिए आना।" सब ने यह बात मंजूर की।

सभी कुमारों ने भयंकर तीव्र जहर डालकर अपने यहाँ भोजन तैयार कराया। प्रद्युम्नकुमार की थाली में वही विषमिश्रित भोजन परोसा। परन्तु उसका पुण्य प्रबल था, जहर भी उसके लिए अमृत बन गया। जहर का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। सच है, जिसका पुण्य प्रबल हो, जहर उसका क्या कर सकता है ? दूसरी बात - अगर ऐसे विषप्रयोग से वह मर जाता तो भगवान् के वचन मिथ्या सिद्ध हो जाते। भगवान् सीमंधरस्वामी के वचन थे कि रुक्मिणी को उसका पुत्र (प्रद्युम्नकुमार) १६ वर्ष बाद मिलेगा। जब प्रद्युम्नकुमार पर विष-प्रयोग का कोई असर नहीं हुआ, इस कारण उसके वे भाई उस पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए कि यह कैसा वज्र-सा है, वज्रांग है कि इस पर विष का कुछ भी असर नहीं हुआ। खैर, अब दूसरा उपाय अजमाएँ। जब वे (कुमार) एक षड्यंत्र में सफल नहीं हुए तो अब दूसरा कैसा षड्यंत्र करेंगे, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

व्याख्यान - ७५

भादवा वदी १३, मंगलवार ता. २१-९-७६

सम्यग्दृष्टि जमे, तो आत्मा में रमे

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

वर्षों से वीतरागवाणी का पान करने पर भी अभी तक अपनी आत्मा का उद्धार क्यों नहीं होता ? इस तथ्य पर अन्तर की गहराई से चिन्तन-मननपूर्वक विचार करेंगे तो समझ में आएगा कि अभी तक (सांसारिक जीवों का) आत्मा मिथ्यात्व के मोह में पड़ा है । अतः मिथ्यात्व के निवारण के लिए वीतरागवाणी पर श्रद्धा करना चाहिए । मिथ्यात्व के दूर होते ही सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का गुण प्रकट होगा । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इस त्रिपुटी के आश्रय से जीव मोक्ष में पहुँच सकता है । इस पर यह प्रश्न उठेगा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र किसे कहते हैं ? संक्षेप में कहूँ तो सम्यग्दर्शन का अर्थ है - आत्मा की यथार्थ रुचि, सम्यग्ज्ञान का अर्थ है - आत्मा की सही पहचान और सम्यक्चारित्र का अर्थ है - आत्मा का स्व में रमणता का अनुभव अथवा आत्मा की स्वरूप में स्थिति । सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन आत्मा को नई और सही स्पष्ट दृष्टि प्रदान करता है ।

मान लो, आप अपने किसी स्नेहीजन के यहाँ मिलने के लिए गए । वहाँ आपने सोने का रत्नजटित एक सुन्दर ग्लास देखा । थोड़ी देर बाद वहाँ एक अपरिचित मनुष्य आया । उसने भी उस ग्लास को देखा । आपको उस ग्लास को देखकर ऐसा विचार होगा कि मेरे इन स्नेहीजनों ने भूल से यह सोने का रत्नजटित ग्लास बाहर निकाल कर रखा मालूम होता है । मैं इस ग्लास को उठाकर उन्हें दे दूं । जबकि दूसरा मनुष्य चोर की दृष्टि से ग्लास को देख रहा है । वह सोचता है - 'यह आदमी यहाँ से जरा-सा दूर चला जाए तो मैं इस ग्लास को उठाकर रवाना हो जाऊँ ।' एक को इस ग्लास को देने की भावना होती है, जबकि दूसरे को इस ग्लास को लेने की भावना होती है । विश्लेषण करें तो यों कह सकते हैं - सम्यग्दर्शन से मित्र-तुल्य दृष्टि आती है और हृदय में पड़ी हुई विकारपूर्ण वासनाएँ दूर हो जाती हैं और पौद्गलिक पदार्थों के प्रति समभाव उत्पन्न होता है । जिससे सांसारिक वासनाएँ आत्मा में प्रविष्ट नहीं होती ।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' के आठवें अध्ययन में मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार है। उसके सन्दर्भ में यहाँ अर्हन्नक श्रावक का वर्णन चालू है । समुद्रयात्रा प्रारम्भ होने से पूर्व समस्त मंगलविधि हो चुकी है । इसके बाद बंदीजनों (चारणों) ने इस प्रकार के मंगल वचन कहे -

"हं भो ! सव्वेसिमवि अत्थसिद्धी, उवट्ठियाइं कल्लाणाइं, पडिहयाइं सव्वपावाइं, जुत्तो पूसो, विजओ मुहुत्तो, अयं देस-कालो ।"

"हे पोतवणिकों ! तुम सबको अर्थ की सिद्धि हो, तुम्हें कल्याण उपस्थित (प्राप्त) हों, तुम्हारी मंगल-यात्रा में समस्त पाप (विघ्न) नष्ट हों । इस समय चन्द्रमा के साथ पुष्य नक्षत्र का योग हो रहा है, साथ ही विजय नामक मुहूर्त है । अतः प्रस्थान के लिए यह देश और काल शुभावह है ।"

इस प्रकार बंदीजनों के द्वारा मंगल-वाक्य कहे जाने पर वे हृष्टतुष्ट हुए । कुक्षिधार नौका के बगल में, यानी जिन नौकाओं के मध्यभाग में अनेक प्रकार की विक्रेय वस्तुएँ भरी थीं तथा अग्रभाग में यथोचित विभिन्न प्रकार की संचालन-सामग्री भरी थी, उन्हें वल्ले से चलानेवाले कर्णधार (खेवैये) एवं गर्भज नौका के मध्य में रहकर छोटे-बड़े कार्य करनेवाले और सांयात्रिक नौकावणिक् अपने-अपने कार्य में लग गए । फिर मध्यभाग की और अग्रभाग की नौकाएँ जो किनारे ऊपर के स्तम्भों के बन्धन (लंगर) से बंधी थीं, उन्हें खोलकर बन्धन-मुक्त किया गया ।

स्नेहीजन और ज्ञातिजन जो बिदा देने आए थे, वे सब जलपोतों के रवाना होते ही कहने लगे - "आप सभी शीघ्र क्षेम-कुशल वापस आना, आना, आना ।" इन आवाजों के साथ वाहन दिखाई दिये वहाँ तक वे अनिमेष दृष्टि से वाहनों की ओर टकटकी लगाए देखते रहे । लगभग एक मुहूर्त तक वहाँ बैठे रहे । जब वाहन दिखने बंद हो गए, तब सभी अपने-अपने घर चले गए । लंगर खोलते ही (जलपोतों के बन्धन मुक्त होते ही) वे सरसराहट तीव्र गति से चलने लगे । वाहन चलानेवाले नाविक लंगर खोले बिना चाहे जितने जोर से चापू चलाएँ वाहन जरा-सा भी आगे नहीं चलता । इसके विपरीत लंगर खोलते ही एक-दो बार चप्पू चलाते ही वाहन धड़ल्ले के साथ सरसराहट चलते हैं । जीव की भी वाहन जैसी दशा है । तुमलोग (गृहस्थ) संसार में बैठे हो । तुम्हारी नौका संसार-सागर से तारने के लिए हम (साधु-साध्वीगण) वीतरागवाणी के चाहे जितने चप्पू चलाएँ, किन्तु जबतक तुम लोग राग और मोह के जबर्दस्त लंगर डालकर बैठे रहोगे, लंगर खोलेगे नहीं, तबतक तुम्हारी जीवन-नौका कहाँ से संसार-सागर पार कर सकेगी ?

समुद्र की छाती पर तैरनेवाला जलपोत गृहस्थाश्रमी जीवों को प्रेरणा देता है, तुम लोग मेरी तरह संसार (सागर) में रहोगे तो तुम्हारी जीवन-नौका डूबेगी नहीं । जलपोत में हजारों मन वजन भरा होता है, उसमें कितने ही मनुष्य भी बैठे होते हैं फिर भी वह जलयान आधा पानी में और आधा जल से बाहर (ऊपर) होता है । स्टीमर का भी आधा भाग पानी में और आधा भाग पानी से ऊपर (बाहर) होता है । उसके चारों ओर अगाध पानी होता है, फिर भी वह पानी में नहीं डूबता और न उसके भीतर पानी प्रविष्ट हो सकता है । इसका क्या कारण है ? कारण यह है कि नौका पूर्णतया सुरक्षित है । उसमें सुई की नोक जितना भी छिद्र नहीं है । इस कारण जलपोत या स्टीमर पानी में रहने पर भी अपने भीतर पानी को प्रवेश नहीं करने देता, इसलिए पानी के ऊपर तिरता है । इसी प्रकार आत्म-जागृतिवाले श्रावक संसार में रहते हैं, उनके चारों ओर वासना की तरंगें उछलती रहती हैं, फिर भी वह डूबता नहीं है । क्योंकि यह आत्मा में वासना के पानी को प्रविष्ट नहीं होने देता । वह संसार में रहता हुआ भी संसार को बन्धनरूप मानता है । उसमें (बन्धन) से बाहर निकलने के लिए प्रयत्न करता है । जिस क्षण उसे अवसर मिलेगा, उसी क्षण वह संसार के बन्धनों का त्याग करके बाहर निकल जाएगा । फिर वह एक क्षण भी संसार में नहीं रहेगा ।

संसाररूपी समुद्र को तिरने के लिए वाहन कहो, स्टीमर कहो, जलपोत कहो, वह है शरीर और जीव उसे चलानेवाला नाविक है । गाड़ी को, ट्रेन या कार को चलानेवाला ड्राइवर होता है, प्लेन को चलानेवाला पायलोट होता है, स्टीमर को चलानेवाला केप्टन होता है । गाड़ी, ट्रेन, प्लेन, स्टीमर या वाहन में बैठनेवाले यात्री टिकट लेकर बैठ जाते हैं । उन यात्रियों में से कोई भोजन करता है, कोई नींद लेता है, तो कोई अलक-मलक की गप्पें हांकने में पड़ जाता है, तो कोई यात्री सजग रहकर अपना सामान की रक्षा करता है । यात्री खाने-पीने में, सोने में, खेलने-कूदने में, या बातें करने में, गप्पें हांकने में पड़ जाते हैं, तो उनका बहुत बड़ा नुकसान नहीं होता । किन्तु ड्राइवर, पायलोट, केप्टन या नाविक अगर खाने-पीने में, सोने में, खेल-कूद में या गप्पें मारने में पड़कर लक्ष्य चूक जाए तो कितना बड़ा नुकसान हो जाए ? याद रखो, संसार-सागर में रहा हुआ जीवरूपी ड्राइवर, केप्टन, पायलोट या नाविक पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्त होकर या रागद्वेषयुक्त होकर या गाफिल होकर पड़ा रहे तो उसकी कैसी दशा होती है ? इस पर विचार करना ! उसकी नौका संसार-सागर में भटककर डूब जाती है । फलस्वरूप जीवरूपी नाविक भव-भव में भटकता है और जागृत नाविक अपनी नौका से संसार-सागर पार कर लेता है ।

कोई शिकारी सिंह को पकड़ कर पींजरे में बंद कर दे तो उसे पींजरे में रहना अच्छा नहीं लगता । पींजरे में बंद वह सिंह ऐसा विचार करता है कि 'मैं कोई पींजरे में बंद रहने योग्य नहीं हूँ । मैं तो वनराज केसरी हूँ । मुझे कपटजाल से पकड़कर पींजरे में बंद किया गया है । परन्तु मैं कैदी बनने के लिए नहीं आया हूँ इस सृष्टि में । कब

मुझे सुअवसर मिले और मैं इस परतंत्रता के प्रतीक पींजरे से मुक्त होकर छटक जाऊँ।' सचमुच, यदि अवसर मिले तो सिंह पींजरे में से छटक जाता है। पींजरे से मुक्त होने के बाद वह पींजरे के सामने देखने के लिए खड़ा नहीं रहता। जबकि तोता, मैना जैसे पक्षी पींजरे में बंद होने के पश्चात् पींजरे को ही अपना घर मान लेते हैं, यानी उन्हें उसीमें आनन्द मानते हैं। फिर वे वन में मुक्त-रूप से विचरण करने की मौज को भूल जाते हैं। फिर तो पींजरा कदाचित् खुला रखकर खुले आकाश में उड़ाने का प्रयत्न किया जाता है, तो भी वे उड़ नहीं सकते। कदाचित् जबरन उन्हें उड़ाया जाता है, तो भी वे थोड़ा-सा उड़कर पुनः पींजरे में स्वयं बंद हो जाते हैं। आपलोग सोचिए कि आपका नंबर किसमें है? सिंह में है या तोता-मैना में? इस विषय में आप स्वयं समझ लेना, मैं नहीं कहती। परन्तु एक बात निश्चित समझ लेना कि पाँचों इन्द्रियों और मन के अधीन (वशवर्ती) बनकर अपनी आत्म-सुरक्षा भूल जाने-वाला जीव संसार में भटकता है। अतः आप संसार में इस प्रकार से रहें कि संसार आप में प्रवेश न कर सके। जहाज समुद्र में रहने पर भी तिरता है। वैसे ही आप भले ही सर्वविरति संत न बन सकें, किन्तु (गृहस्थ) संसार में रहते हुए भी ऐसी जागृति रखें कि संसार की वासनाएँ आपमें घर न कर जाएँ! संसार में अनासक्त भाव से रहेंगे तो संसार के जन्म-मरणादि दुःखों से छूटना चाहेंगे तो छूट सकेंगे।

अर्हन्नक श्रावक संसार में धँसे हुए थे, किन्तु वीतराग वचनों तथा जैन सिद्धान्तों के प्रति उनकी श्रद्धा अटल थी। इस कारण वह अनासक्त भाव से रहते थे। अर्हन्नक आदि समस्त पोतवणिकों के जहाज बन्धनमुक्त होकर बंदरगाह से रवाना हुए। बन्धनमुक्त हुआ अर्हन्नक का वाहन पवन के थपेड़ों से आहत व प्रेरित होकर तथा गंगा नदी के तीव्र प्रवाह से क्षुब्ध होता हुआ, पाल में पवन भर जाने से वाहन को तीव्रगति मिली, अपने स्वच्छ पाल की पांखें पसारी हुई, एवं आकाश में उड़ती हुई ऐसी दिखाई देती थी, मानो कोई गरुड़ युवती हो।

समुद्र में अनुकूल पवन मिलने से सभी जलपोत गंगानदी के तीव्र प्रवाह की तरह तीव्रगति से चलने लगे। समुद्र में हवा द्रुतगति से बह रही थी। छोटी-बड़ी सैकड़ों तरंगें उछल रही थी। उन सब तरंगों को लांघकर कई दिवस और रात्रियाँ वाहनों में बिताएँ फिर लवण समुद्र में अनेक योजन तक दूर-दूर पहुँच गए। यानी अर्हन्नक प्रमुख पोतवणिक लवण-समुद्र का किनारा छोड़कर सैकड़ों योजन दूर पहुँच गए। अब उनके सामने सैकड़ों आफतें उनके सिर पर लटकने लगी।

देवानुप्रियों! उस जमाने की समुद्रीयात्रा बहुत ही भयावह थी। उस समय अभी की तरह इतने साधन नहीं थे। सिर पर मौत को लेकर जूझने जैसी वह मुसाफिरी थी। धन कमाने के लिए मनुष्य अपने मस्तक पर मौत को लेकर फिरता है और कितने कष्ट सहता है? किन्तु इतनी सब कठिनाइयाँ झेलकर, कष्ट सहनकर, प्राप्त किया

हुआ धन अन्त में यहीं रह जानेवाला है । फिर भी आपलोग उसके लिए कितना कठोर पुरुषार्थ करते हैं ? इसके विपरीत जो आत्मिक धन जन्म-मरण की श्रृंखला तुड़वाकर साथ में आनेवाला है, उसके लिए कितना पुरुषार्थ करते हैं ? उसके लिए कितनी सहनशीलता और कष्ट-सहिष्णुता प्राप्त की है ? धन कमाने के लिए जाने में लाखों मुश्किलियाँ आएँ, तो भी सहन करते हैं, किन्तु आत्म-साधना करने में जरा-सी कठिनाई आ पड़े तो उसका त्याग कर देते हो, साधना छोड़कर बैठ जाते हो । यद्यपि धनार्जन करने में मुसीबतें आती हैं, तो मनुष्य ऊब कर कहने लगता है, 'अब मुझे धन कमाने हेतु नहीं जाना है ।' अनादिकाल से जीव की ऐसी उलटी समझ है । अर्हन्नक - प्रमुख पोतवणिकों के जहाज जब गहरे समुद्र के बीच में पहुँचे, तब एक बड़ा उपद्रव शुरू हुआ । वह उत्पात कैसा था ? शास्त्रकार कहते हैं -

"अकाले गज्जिए, अकाले विज्जुए, अकाले थणियसद्दे, अभिक्खणं अभिक्खणं आगासे देवयाओ नच्चंति, एगं च महं पिसायरूवं पासंति ।"

सभी पोतवणिक जब समुद्र के मध्य में पहुँचे, तभी अकाल में ही आकाश में बादल उमड़ आए । मेघ-गर्जनाएँ होने लगीं, अकाल में ही बिजलियाँ चमकने लगीं, अकाल में ही मेघों की गंभीर गड़गड़ाहट होने लगी और अच्छे-अच्छे वज्र जैसी छातीवाले मनुष्यों को कंपा दे, ऐसी मेघों की गर्जनाएँ और बिजली की कड़कड़ाहट आवाज आने लगी । दूसरी ओर समुद्र भी उन्मत्त-सा होकर बड़ी-बड़ी तरंगें उछालने लगा । भयंकर तूफानी हवाएँ बहने से वाहन डांवाडोल हो उठे । इससे भी आगे बढ़कर भयंकरता यह बनी कि आकाश में बार-बार बहुत-से देवनृत्य करते हुए दिखाई देने लगे, तथा एक भारी भरकम विशाल शरीरवाले भयंकर पिशाच का रूप भी उन्हें दिखाई दिया । वह पिशाच कैसा था ? शास्त्रकार कहते हैं -

तालजंघं दिवं गयाहिं बाहाहिं मसि-मूसग-महिस-कालगं भरिय-मेहवन्नं लंबोट्ठं निग्गयग्ग-दंतं जाव खुरधारं असिंगलय अभिमुहेमावयमाणं पासंति ।

पिशाच ताड़ के पेड़ के समान लंबी जांघोंवाला था, उसकी दोनों बांहें
स्पर्श क... हों, ऐसी थीं, वह काजल, काले चूहे और भैंसे के समान
...मे भरे हुए मेघ के समान था, उसके होठ लम्बे थे और
...निकले हुए थे, उसने अपनी एक-सी दो जीभें मुँह
... मुँह में धंसे हुए थे, उसकी नाक छोटी और
...चमकता हुआ लाल-लाल था । देखनेवाले
... छाती चौड़ी और भयंकर थी, उसकी

भृकुटि डरावनी और अत्यन्त वक्र थी। उसका पेट विशाल और लम्बा था। हंसते और चलते समय उसके अवयव लटके हुए और ढीले दिखाई देते थे।

ऐसे डरावने राक्षस के समान वह पिशाच नाच रहा था, मानो आकाश को फोड़ रहा था, सामने आ रहा था, गर्जना कर रहा था और बहुत बार ठहाके मार रहा था। ऐसी गाढ़े नीलकमल, भैंस के सींग, नीलगाय (गवय), अलसी के फूल के समान काली, छुरे की धार के समान तीक्ष्ण तलवार हाथ में लेकर अपनी (वणिकों की) ओर आते हुए उस पिशाच को पोतवणिको ने देखा। उसे देखकर अच्छे-अच्छे लोगों की छाती फट जाए, ऐसा भयंकर वह पिशाच था। वह नाचता हुआ दोनों भुजाओं को एक-दूसरी के साथ टकराता था। ताड़ के वृक्ष के समान लम्बे पैर मानो धरती को छूते हों और हाथ मानो आकाश को स्पर्श करते हों, ऐसा लगता था। उसके हाथ-पैरों के पछाड़ने की आवाज भयंकर मेघगर्जन-सी प्रतीत होती थी और वह नाचता, कूदता, अट्टहास्य करता तथा भयंकर गर्जना करता हुआ आ रहा हो, ऐसा लगता था। उसके हाथ में छुरे के धार जैसी तीक्ष्ण धारवाली तलवार थी। वह उनकी ओर ही आ रहा हो ऐसा लगता था। अर्हन्नक के सिवाय अन्य सब पोतवणिक पिशाच के इस भयंकर तूफान को देखकर थर-थर कांपने लगे। वे मन ही मन सोचने लगे - 'अब तो साक्षात् मौत आ पहुँची है। इस उपसर्ग से बचकर हम सहीसलामत घर पहुँच जाएँ, ऐसा प्रतीत नहीं होता।' सबके दिल दहल उठे। वे मृत्यु के डर से भयभीत हो गए। ऐसे समय में भगवान् कैसे याद आते हैं ? अर्हन्नक के सिवाय सभी पोतवणिक एकाग्रचित होकर अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। सभी भयभीत हो गए हैं, सिर्फ एक अर्हन्नक श्रावक निर्भीक होकर बैठे हैं। जिसे वीतराग-वचनों पर दृढ़ श्रद्धा है, उसे मरण का डर नहीं लगता। वह तो एक ही विचार करता है कि अगर मेरा आयुष्य इसी निमित्त से पूरा होनेवाला होगा तो मुझे कोई भी बचाने में समर्थ नहीं है और मेरा आयुष्य शेष होगा तो मुझे कोई भी मार नहीं सकेगा, फिर किसलिए डरना चाहिए ?

बन्धुओं ! तुम भी तो श्रावक हो न ? तुम्हें वीतराग-वचन पर ऐसी दृढ़ श्रद्धा है या डोलती हुई ध्वजा जैसी तुम्हारी वृत्ति है ? 'स्थानांग सूत्र' के चतुर्थ स्थान में चार प्रकार के श्रावकों का उल्लेख है। प्रथम प्रकार के श्रावक दर्पण जैसे होते हैं। जैसे दर्पण, तुम्हारा जैसा मुख होगा, उसका प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों बता देता है, वैसे ही जो श्रावक दर्पण जैसे होते हैं, वे सिद्धान्त (शास्त्र) की वाणी साधु-साध्वी के पास से सुनी होती है, वैसी ही दूसरों को कह सुनाते हैं और जितना हो सके, तदनुसार आचरण भी करते हैं। दूसरे प्रकार के श्रावक ध्वजा के समान होते हैं, जिस तरफ की हवा होती है, ध्वजा उस तरफ डोलने लगती है। कई-कई श्रावक ऐसे होते हैं, जिन्हें कोई कहे कि (धर्म-) क्रिया से कोई लाभ नहीं होता, सिर्फ आत्मा को पहचानो,

हुआ धन अन्त में यहीं रह जानेवाला है। फिर भी आपलोग उसके लिए कितना कठोर पुरुपार्थ करते हैं ? इसके विपरीत जो आत्मिक धन जन्म-मरण की श्रृंखला तुड़वाकर साथ में आनेवाला है, उसके लिए कितना पुरुपार्थ करते हैं ? उसके लिए कितनी सहन-शीलता और कष्ट-सहिष्णुता प्राप्त की है ? धन कमाने के लिए जाने में लाखों मुश्किलियाँ आएँ, तो भी सहन करते हैं, किन्तु आत्म-साधना करने में जरा-सी कठिनाई आ पड़े तो उसका त्याग कर देते हो, साधना छोड़कर वैठ जाते हो। यद्यपि धनार्जन करने में मुसीवतें आती हैं, तो मनुष्य ऊब कर कहने लगता है, 'अब मुझे धन कमाने हेतु नहीं जाना है।' अनादिकाल से जीव की ऐसी उलटी समझ है। अर्हन्नक - प्रमुख पोतवणिकों के जहाज जब गहरे समुद्र के बीच में पहुँचे, तब एक बड़ा उपद्रव शुरू हुआ। वह उत्पात कैसा था ? शास्त्रकार कहते हैं -

''अकाले गज्जिए, अकाले विज्जुए, अकाले थणियसद्दे, अभिक्खणं अभिक्खणं आगासे देवयाओ नच्चंति, एगं च महं पिसायरुवं पासंति।''

सभी पोतवणिक जब समुद्र के मध्य में पहुँचे, तभी अकाल में ही आकाश में बादल उमड़ आए। मेघ-गर्जनाएँ होने लगीं, अकाल में ही विजलियाँ चमकने लगीं, अकाल में ही मेघों की गंभीर गड़गड़ाहट होने लगी और अच्छे-अच्छे वज्र जैसी छातीवाले मनुष्यों को कंपा दे, ऐसी मेघों की गर्जनाएँ और बिजली की कड़कड़ाहट आवाज आने लगी। दूसरी ओर समुद्र भी उन्मत्त-सा होकर वड़ी-बड़ी तरंगें उछालने लगा। भयंकर तूफानी हवाएँ बहने से वाहन डांवाडोल हो उठे। इससे भी आगे वढ़कर भयंकरता यह बनी कि आकाश में वार-बार बहुत-से देवनृत्य करते हुए दिखाई देने लगे, तथा एक भारी भरकम विशाल शरीरवाले भयंकर पिशाच का रूप भी उन्हें दिखाई दिया। वह पिशाच कैसा था ? शास्त्रकार कहते हैं -

तालजंधं दिवं गयाहिं वाहाहिं मसि-मूसग-महिस-कालगं भरिय-मेहवन्नं लंवोट्ठं निग्गयग्ग-दंतं जाव खुरधारं असिगहाय अभिमु हेमावयमाणं पासंति।

वह पिशाच ताड़ के पेड़ के समान लंबी जांघोंवाला था, उसकी दोनों बांहें आकाश को स्पर्श करती हों, ऐसी थीं, वह काजल, काले चूहे और भैंसे के समान काला था। उसका वर्ण जल से भरे हुए मेघ के समान था, उसके होठ लम्बे थे और दांतों के अग्रभाग मुख से वाहर निकले हुए थे, उसने अपनी एक-सी दो जीभें मुँह से वाहर निकाल रखी थीं, उसके गाल मुँह में धंसे हुए थे, उसकी नाक छोटी और चपटी थी, नेत्रों का रंग जुगनू के समान चमकता हुआ लाल-लाल था। देखनेवाले को वह घोर त्रास पहुँचानेवाला था। उसकी छाती चौड़ी और भयंकर थी, उसकी

भृकुटि डरावनी और अत्यन्त वक्र थी। उसका पेट विशाल और लम्बा था। हंसते और चलते समय उसके अवयव लटके हुए और ढीले दिखाई देते थे।

ऐसे डरावने राक्षस के समान वह पिशाच नाच रहा था, मानो आकाश को फोड़ रहा था, सामने आ रहा था, गर्जना कर रहा था और बहुत बार ठहाके मार रहा था। ऐसी गाढ़े नीलकमल, भैंसे के सींग, नीलगाय (गवय), अलसी के फूल के समान काली, छुरे की धार के समान तीक्ष्ण तलवार हाथ में लेकर अपनी (वणिकों की) ओर आते हुए उस पिशाच को पोतवणिको ने देखा। उसे देखकर अच्छे-अच्छे लोगों की छाती फट जाए, ऐसा भयंकर वह पिशाच था। वह नाचता हुआ दोनों भुजाओं को एक-दूसरी के साथ टकराता था। ताड़ के वृक्ष के समान लम्बे पैर मानो धरती को छूते हों और हाथ मानो आकाश को स्पर्श करते हों, ऐसा लगता था। उसके हाथ-पैरों के पछाड़ने की आवाज भयंकर मेघगर्जन-सी प्रतीत होती थी और वह नाचता, कूदता, अट्टहास्य करता तथा भयंकर गर्जना करता हुआ आ रहा हो, ऐसा लगता था। उसके हाथ में छुरे के धार जैसी तीक्ष्ण धारवाली तलवार थी। वह उनकी ओर ही आ रहा हो ऐसा लगता था। अर्हन्नक के सिवाय अन्य सब पोतवणिक पिशाच के इस भयंकर तूफान को देखकर थर-थर कांपने लगे। वे मन ही मन सोचने लगे - 'अब तो साक्षात् मौत आ पहुँची है। इस उपसर्ग से बचकर हम सहीसलामत घर पहुँच जाएँ, ऐसा प्रतीत नहीं होता।' सबके दिल दहल उठे। वे मृत्यु के डर से भयभीत हो गए। ऐसे समय में भगवान् कैसे याद आते हैं ? अर्हन्नक के सिवाय सभी पोतवणिक एकाग्रचित होकर अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। सभी भयभीत हो गए हैं, सिर्फ एक अर्हन्नक श्रावक निर्भीक होकर बैठे हैं। जिसे वीतराग-वचनों पर दृढ़ श्रद्धा है, उसे मरण का डर नहीं लगता। वह तो एक ही विचार करता है कि अगर मेरा आयुष्य इसी निमित्त से पूरा होनेवाला होगा तो मुझे कोई भी बचाने में समर्थ नहीं है और मेरा आयुष्य शेष होगा तो मुझे कोई भी मार नहीं सकेगा, फिर किसलिए डरना चाहिए ?

बन्धुओं ! तुम भी तो श्रावक हो न ? तुम्हें वीतराग-वचन पर ऐसी दृढ़ श्रद्धा है या डोलती हुई ध्वजा जैसी तुम्हारी वृत्ति है ? 'स्थानांग सूत्र' के चतुर्थ स्थान में चार प्रकार के श्रावकों का उल्लेख है। प्रथम प्रकार के श्रावक दर्पण जैसे होते हैं। जैसे दर्पण, तुम्हारा जैसा मुख होगा, उसका प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों बता देता है, वैसे ही जो श्रावक दर्पण जैसे होते हैं, वे सिद्धान्त (शास्त्र) की वाणी साधु-साध्वी के पास से सुनी होती है, वैसी ही दूसरों को कह सुनाते हैं और जितना हो सके, तदनुसार आचरण भी करते हैं। दूसरे प्रकार के श्रावक ध्वजा के समान होते हैं, जिस तरफ की हवा होती है, ध्वजा उस तरफ डोलने लगती है। कई-कई श्रावक ऐसे होते हैं जिन्हें कोई कहे कि (धर्म-) क्रिया से कोई लाभ नहीं होता, सिर्फ आत्मा को

उसी में कल्याण है, तो वे धर्मक्रिया छोड़ बैठते हैं । उनकी श्रद्धा डामाडोल हो जाती है, ऐसे श्रावक ध्वजा के समान होते हैं । तीसरे प्रकार के श्रावक थंभे के समान होते हैं । वे इतने अक्कड़ होते हैं कि कोई उन्हें सत्य और हितकर बात समझा दे तो भी अपनी पकड़ी हुई गलत बात को छोड़ते नहीं और चौथे प्रकार के श्रावक होते हैं - तीखे कांटे के समान । उन्हें कोई सच्ची, हितशिक्षा दे तो वे उसके खिलाफ कांटे जैसे चुभते तीखे वचन कहकर उसे दुःखी और बदनाम कर देते हैं । ये चार प्रकार के श्रावकों का उल्लेख 'स्थानांग सूत्र' में भगवान् ने किया है । इन चार प्रकार के श्रावकों में से तुम्हारा नंबर किस प्रकार के श्रावक में है ? इसे तुम जान लो ।

अर्हन्नक श्रावक डोलती ध्वजा जैसे, थंभे जैसे या तीखे कांटे जैसे श्रावक नहीं थे, किन्तु दर्पण के समान आदर्श श्रावक थे । समुद्र में जब देव (पिशाच) का भयंकर उपद्रव शुरू हुआ, तब अन्य सब पोतवणिक तो भयभीत होकर कांपने लगे, मगर अर्हन्नक श्रावक का एक रोम भी विचलित नहीं हुआ । क्योंकि उनको तो भगवान् के वचन पर अटल श्रद्धा थी । उन्होंने तो अपनी जीवन-नैया भगवान् को समर्पित कर दी थी । *"अप्पाणं वोसिरामि"* कहकर उन्होंने मन से स्वयं को समर्पित कर दिया था कि 'भगवन् ! मेरी नैया आपके आश्रित है ।' उन्होंने भक्ति की भाषा में कहा - "प्रभो ! मुझे डुबाएँ, चाहे तारें ! मेरी जीवन-नौका की मार्गदर्शिका डोरी आपके हाथ में है । ऐसा परम समर्थ तू मेरा धनी (स्वामी) हो, वहाँ मुझे क्या चिन्ता है ? मुझे तेरे पर पूर्ण श्रद्धा है कि अगर मेरा आयुष्य बलवान् होगा तो मेरी नौका डूबनेवाली नहीं है और न ही यह काल-राक्षस-सा पिशाच मेरा कुछ कर सकेगा ।" यों अर्हन्नक स्वयं भी दृढ़ है और दूसरों को भी कह रहा है - "तुमलोग घबराओ मत ।" भगवान् का स्मरण करो । हम पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आनेवाली है ।" इस प्रकार अर्हन्नक श्रावक श्रद्धा में दृढ़ है । दूसरों को भी वह ढाढस बंधाते हैं । अभी तो पिशाच का थोड़ा-सा वर्णन किया है कि वह पिशाच कैसा भयंकर था ! आगे वह पिशाच समुद्र के मध्य में अर्हन्नक श्रावक की कैसी कसौटी करेगा और वह किस प्रकार दृढ़ रहेंगे, यह भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

सौतेली माता के पुत्रों ने प्रद्युम्नकुमार को मार डालने के लिए उसके भोजन में जहर मिला दिया था, किन्तु 'जिसे राम रखे, उसे कौन चखे ?' इस कहावत के अनुसार उसका पुण्य प्रबल था, वह चरमशरीरी जीव था, इसलिए उसे कोई भी मारने में समर्थ नहीं था । जहर देने पर भी प्रद्युम्नकुमार मरा नहीं, इसलिए उसके सौतेले भाइयों ने दूसरा षड्यंत्र रचा । उन सबमें सबसे बड़े कुमार का नाम था - वज्रमुख । उसने कहा - "भाइयों ! हम सब इकट्ठे होकर वैताढ्य पर्वत पर घूमने

चलें । वहाँ आमोद-प्रमोद करके वापस आएँगे ।" सबने कहा - "अच्छी बात है । हम उसके लिए तैयार हैं ।" सबने एक स्वर से वज्रमुख का यह प्रस्ताव स्वीकार किया । प्रद्युम्नकुमार भी साथ में चलने के लिए तैयार हो गया ।

दूसरा कपट-जाल : छल-कपट करके सैर करने के बहाने सभी वैताढ्य पर्वत पर आए । वहाँ पहुँचने के बाद इधर-उधर घूमते हुए, कुतूहल करते हुए वे सब पर्वत पर बहुत ऊँचे चढ़ गए । वहाँ एक बड़े शिखर पर एक बहुत बड़ी भयंकर गुफा देखी । वज्रमुख को पता था कि इस गुफा में जो प्रवेश करता है, वह जीवित वापस नहीं आता । अतः वज्रमुख ने कपटपूर्वक सभी भाइयों से कहा - "जो व्यक्ति इस गुफा में प्रवेश करके सकुशल बाहर आ जाता है, वह मनोवांछित वस्तु प्राप्त कर लेता है। ऐसा अपने वृद्ध बुजुर्ग विद्याधर कहते थे । अतः मैं गुफा में जाकर मनोवांछित वस्तु प्राप्त करके शीघ्र ही वापस लौटकर आता हूँ । तुम सब मेरी प्रतीक्षा में यहाँ खड़े रहकर भगवत-स्मरण करना ।" यह सुनकर पराक्रमी प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "बड़े भैया! आपकी आज्ञा हो तो मैं गुफा में जाऊँ ।" इस पर सभी एक साथ बोले - "हाँ, भाई! तू बहुत पराक्रमी है, तू खुशी से जा । तू जाएगा तो अधिक लाभ मिलेगा ।"

प्रद्युम्नकुमार का गुफा में प्रवेश : प्रद्युम्नकुमार ने प्रभु-स्मरण करके गुफा में प्रवेश किया । यह देखकर वज्रमुख आदि विद्याधर-पुत्र खुश होकर बोलने लगे - "अच्छा हुआ ! अब यह बला गई समझो । अब हम सुखपूर्वक पिताजी के राज्य सुख का उपभोग करेंगे । इससे अपनी माताएँ भी सन्तुष्ट होंगी । चलो, 'सांप भी मरा, लाठी भी नहीं टूटी ।' इस प्रकार विचार करके वज्रमुख आदि विद्याधरकुमार प्रद्युम्न के गुफा में जाने से अत्यन्त हर्षाविष्ट होकर कहने लगे - "अब हमें निश्चिंतता हो गई ।" साथ ही वे यह भी मानने लगे कि प्रद्युम्नकुमार गुफा में गया है, वह अब मर जाएगा । परन्तु वहाँ दूसरी ही अप्रत्याशित घटना हो गई :

> **मदन जाय कर देव को जीता, हार सिंहासन दीना ।**
> **मंग अरू कंकण, कोप मुकुट पुनि, आभरण दे दीना हो ॥ श्रोता...**

प्रद्युम्नकुमार ने गुफा में प्रवेश करते ही गम्भीर गर्जना की, भूमि पर जोर से पैर पछाड़े, कि तुरंत गुफा का अधिष्ठाता नागकुमार देव वहाँ प्रकट हुआ और गुस्से से लाल-लाल आँखें करके निष्ठुरतापूर्वक बोला - "ओ पापी ! हे निर्लज्ज ! अकाल में मृत्यु को चाहनेवाले ! तू इस गुफा में क्यों आया ? तुझे पता नहीं है कि इस गुफा में आनेवाला मरण-शरण हो जाता है ।" यह सुन पराक्रमी प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "हे दुष्ट ! तू मुझे किसलिए डराता है ? अगर तेरे में ताकत हो तो मेरे साथ लड़ने के लिए तैयार हो जा !" यह सुनकर वह देव प्रद्युम्नकुमार को मारने दौड़ा । किन्तु प्रद्युम्नकुमार ने एक मुट्ठी के प्रहार से उसे हरा दिया । अतः नागकुमार देव उसके चरणों

में गिरकर कहने लगा – "पुरुषोत्तम ! आप आज से मेरे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक हूँ।" यों कहकर नागकुमार देव ने सोने का एक रत्नजटित सिंहासन लाकर प्रद्युम्नकुमार को बैठने के लिए दिया। उस पर बैठकर प्रद्युम्नकुमार ने पूछा – "हे देव ! तुम इस गुफा में क्यों रहते हो ?" तब नागकुमार ने कहा – "मैं आपको जो वस्तुएँ भेंट दे रहा हूँ, उन्हें आप स्वीकार लो, फिर मैं अपनी सारी रामकहानी सुनाता हूँ।" यों कहकर नागकुमार देव ने प्रद्युम्नकुमार को एक देवाधिष्ठित रत्न का हार, रत्नजटित सिंहासन, अनेक विद्याएँ, मुकुट तथा दूसरे अनेक आभूषण भेंट दिए। फिर प्रद्युम्नकुमार ने नागकुमार देव से पूछा – "तुम ऐसी विचित्र अन्धेरी गुफा में क्यों रहते हो ?" तब नागकुमार देव ने कहा – "हे प्रद्युम्नकुमार ! मैं आपके खातिर इस विषम स्थान में रहता हूँ।" यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार को बहुत आश्चर्य हुआ कि 'अहो ! यह तो मेरा नाम भी जानता है और मेरे लिए यहाँ रहा है, यों किसलिए कहता होगा ?' गम्भीर पुरुष धैर्यवान् होते हैं, सारी बातें वे एक साथ नहीं पूछते। अतः थोड़ा रुककर फिर पूछा – "कृपा करके मुझे यह बताओ कि तुम मेरी खातिर यहाँ क्यों रह रहे हो ?" इस पर नागकुमार देव अपनी बात प्रद्युम्नकुमार से कहता है।

नागकुमार देव ने पूर्ववृत्तान्त कहा : "हे कुमार ! तुम्हें अगर सुनने की अत्यन्त इच्छा है तो मैं कहता हूँ, ध्यान से सुनो। इस वैताढ्य पर्वत पर लंका नाम की नगरी है। वहाँ कनककेतु नामक राजा राज्य करता है। उसके अतीव रूपवती, अतिचतुर, सती के गुणों से सुशोभित, सौम्य स्वभाववाली अनिला नाम की रानी है। ये दोनों (पति-पत्नी) स्वर्गोपम सुख भोगते हुए समय यापन कर रहे थे। एक बार देवलोक से च्यवकर एक देव अनिला रानी की कुक्षि में आया। गर्भ के नौ मास पूरे होने पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र देवकुमार के समान सुन्दर था। उसका नाम रखा गया – हिरण्यकुमार। हिरण्यकुमार जब जवान हुआ, तब उसके पिता कनककेतु-राजा को यह विचार आया कि 'मेरा पुत्र अब राज्य का पालन-संचालन करे, ऐसा होशियार हो गया है, फिर मुझे अब संसार में किसलिए फंसे रहना चाहिए ? अतः पुत्र को राजगद्दी सौंपकर मुझे अब स्व-पर-कल्याण करने के लिए भागवती दीक्षा ले लेना चाहता हूँ।' यों विचार करके संसार-तप से उद्विग्न होकर पुत्र को राज्य सौंपकर भागवती दीक्षा ले ली। कनककेतुराजा ने दीक्षा अंगीकार करने के बाद वर्षों तक संयम का पालन कर, बहुत ही शास्त्रज्ञान प्राप्त करके, दुष्कर तपश्चर्या करके कर्मों का क्षय करके मोक्ष पहुँचे।

हिरण्यराजा की विद्या प्राप्त करने की साधना : हरिण्यकुमार राजा बने। वह पिता की तरह न्याय-नीतिपूर्वक सुन्दर ढंग से राज्य का पालन-संचालन करते थे। एक बार वह अपने महल के उच्च शिखर पर चढ़कर चारों ओर देख रहे थे। तब उन्होंने अनेक विभूतियों से सुशोभित, बड़ी सेना के स्वामी दैत्यराजा को देखा। इस पर से उनके मन में यह विचार स्फुरित हुआ कि 'मेरे पास ऐसा ऐश्वर्य नहीं है, अतः मैं सिद्ध

विद्या की आराधना करके उसे प्रसन्नकर उसके पास से विद्याएँ प्राप्त करूँ ।' ऐसा विचार करके अपने छोटे भाई को अपना राज्य सौंपकर विद्या सिद्ध करने के लिए हिरण्यराजा सिद्धवन में चले गए । वहाँ जाकर बहुत तप करके अनेक विद्याएँ सिद्ध की, फिर पुनः अपनी लंकानगरी में आकर सुखपूर्वक राज्य-सुख भोगने लगे । ऐसे महान सुख का अनुभव करते हुए किसी सामान्य निमित्त को लेकर उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ । अतः अपने पुत्र को राज्य सौंपकर नमिनाथ भगवान् के समवसरण में पहुँचे। प्रभु को वन्दन करके शाश्वत-सुख प्राप्त करने हेतु भागवती दीक्षा प्रदान करने की विनती की । अब वह हिरण्यराजा दीक्षा लेने के लिए तत्पर होंगे, वहाँ क्या घटना घटित होगी, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ७६

भादवा वदी १४, बुधवार — ता. २२-९-७६

मूल्य किसका ? : चेक का या लिफाफे का ?

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

वीतराग-भगवन्त फरमाते हैं कि "हे जीवात्मा ! तू अनन्तकाल से भवनगर में मुसाफरी कर रहा है । संसार की मुसाफिरी करने के लिए तुम्हें तीन चीजों की मुख्यतया जरूरत पड़ती है - पैसा, पाथेय (भाता) और बिछौना (बिस्तर) । ये तीन चीजें खासतौर से आवश्यक है ।" वैसे ही इस जीव को मोक्षनगरी तक पहुँचने के लिए भी मुसाफिरी में तीन चीजों की जरूरत पड़ती है । वे तीन चीजें कौन-कौन-सी हैं, तुम्हें पता है न ? 'नहीं' । तुम्हारी मुसाफिरी में क्या-क्या चाहिए ? इसकी तो तुम्हें जानकारी होती है, किन्तु आत्मा की मुसाफिरी में क्या-क्या चाहिए, इसकी जानकारी तुम्हें नहीं है । मैं बताती हूँ । 'तत्त्वार्थ सूत्र' (मोक्ष शास्त्र) में पहला सूत्र यही बताया है -

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर जीव को मोक्षनगरी में पहुँचने के लिए मुख्य साधन हैं । जिन्होंने पूर्ण वीतराग दशा का अनुभव किया है, उन महावीर-प्रभु ने भी 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है -

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एसं मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ -अ. २८/२

अर्थात् - ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चारों का मिलकर केवलदर्शी - केवलज्ञानी जिनेन्द्रों ने मोक्ष-मार्ग कहा है। तप का समावेश चारित्र में हो जाता है।

भगवान् महावीर ने भी भव्यजीवों को कहा - "यदि तुम्हें मोक्ष (सर्वकर्म मुक्ति) प्राप्त करना हो तो उपर्युक्त रत्नत्रयी की साधना करो।" रत्नत्रयी की साधना मोक्ष-प्राप्ति की सर्वश्रेष्ठ साधना है। रत्नत्रयी में पहला नंबर है - सम्यग्दर्शन का। सम्यग्दर्शन आत्मा की (मोक्षप्राप्ति की) रुचि या श्रद्धा है। मान लो, तुम बाजार में गए। वहाँ तुमने कोई नवीन वस्तु देखी। वह तुम्हें पसंद आ गई। फिर उस वस्तु को प्राप्त करने की कैसी आकांक्षा जागती है? फिर उसे प्राप्त करने के लिए तीव्र अभीप्सा पैदा होती है कि इस वस्तु को मैं कैसे प्राप्त करूँ? उसके लिए कैसा पुरुषार्थ करूँ? इस प्रकार की आत्मा की तीव्र लिप्सा का नाम है - सम्यग्दर्शन।

हमारे अन्तर में बिराजित चेतनदेव की ऐसी रुचि, श्रद्धा या तमन्ना जगेगी, लगन *लगेगी तो (आत्मार्थी मनुष्य को) ऐसा भान होगा कि हे जीव! तू बाहर में (आत्म* बाह्य सजीव-निर्जीव भावों - पदार्थों में) बहुत भटका और बाह्य वस्तुएँ बहुत प्राप्त की, किन्तु जहाँ तक अन्तर में रहे हुए आत्मतत्त्व को प्राप्त न कर लूं, वहाँ तक मनुष्य-जन्म पाने की सार्थकता नहीं है। अंदर की वस्तु को पहचान कर उसके प्रति रुचि या श्रद्धा जगने का नाम सम्यग्दर्शन है। दर्शन का अर्थ सिर्फ देखना नहीं, अपितु रुचि जगना है। उसकी प्राप्ति के बिना जीवन रूखा-सूखा लगे। अन्तर में अपने आपको खोये बिना भक्त भी भगवान् नहीं बन सकता। भगवान् कोई यों ही बन नहीं जाता। उसके लिए अंदर की रुचि, श्रद्धा या तमन्ना जगनी चाहिए। जब तीव्र रुचि या तमन्ना जगती है, तभी बीज अंकुर बनकर धरती में से फूटता है - बाहर निकलता है।

मान लो, कुछ बहनें बाजार में खरीदी करने के लिए गई। वहाँ एक बहन ने एक सुन्दर साड़ी देखी। उसे खरीदने के लिए बटुआ खोला, परन्तु उसमें साड़ी के मूल्य जितना पैसा नहीं है। किन्तु उसे साड़ी तो लेनी ही है। अतः वह दुकानदार से कहती है - "यह साड़ी मेरी है, यों मानकर इसे अलग रख देना। मैं कल आकर ले जाऊँगी।" कहिए, कितनी लगन है, साड़ी जैसी आत्म-बाह्य वस्तु के लिए? बन्धुओं! आत्मा के लिए भी तुम में ऐसी तमन्ना या तड़फन होनी चाहिए। किसी भी वस्तु को लेने की रुचि जगने के बाद मनुष्य उसके पीछे दुनिया, देह और दौलत सबकुछ कुर्बान करने के लिए तैयार हो जाता है। रुचिकर वस्तु को प्राप्त करने के लिए उसके पीछे किये गए त्याग में आनन्द प्राप्त होता है कि मैं इतना छोड़ा अवश्य, किन्तु पाया भी तो है न? यों अन्तर में जिसके प्रति प्रीति जागती है, उस वस्तु के मिल जाने पर अन्य वस्तुओं को मानव भूल जाता है।

कल पक्खी का दिन है। यदि मैं तुम्हें कहूँ कि तुम कल उपवास करना, तो तुम (प्रायः) यही कहोगे - 'हमसे उपवास नहीं होगा।' किन्तु अगर तुम्हारी दुकान में भरपूर

ग्राहकों की भीड़ हो, हाउसफुल हो और भोजन करने का भी टाइम नहीं मिलता हो, तो उपवास हो जाता है या नहीं ? वहाँ भूख का दुःख सहन किया जा सकता है न ? तुम सवेरे एक कप चाय पीकर दुकान गये हो, वहाँ खरीददारों की भीड़ लगी है, किन्तु भोजन का समय हो गया, तभी तुम्हारी श्रीमतीजी तुम्हें फोन करे कि "एक बज गया है, फिर भी आप अभी तक भोजन करने के लिए क्यों नहीं आए ?" तुम कहोगे -"अभी मुझे पानी पीने का भी समय नहीं है । थोड़ी देर बाद आता हूँ ।" यों तीन-चार बार फोन किया तो भी सेठ को टाइम नहीं मिला । फिर श्रीमतीजी लड़के को भेजती हैं आपको बुलाने के लिए । लड़का आकर कहता है - "पप्पा ! मेरी मम्मी आपको भोजन करने के लिए बुला रही है । भोजन ठंडा हो रहा है ।" ऐसे वक्त तुम क्या कहोगे ? सच बोलना । तब तुम यही कह दोगे कि "बेटा ! तू अपनी मम्मी से यही कह देना की तुम मेरा इंतजार मत करना । तुम सब भोजन कर लेना । मुझे इस समय एक सेकंड का भी समय नहीं है ।" भले ही पेट में कड़ाके की भूख लगी हो, किन्तु ग्राहकों की भीड़ के आगे पेट की आग मालूम नहीं होती । क्योंकि भूख तो बहुत लगी है, किन्तु पैसे कमाने की रुचि के आगे भूख की परवाह नहीं होती । धन कमाने के पीछे समय, संयोग और सहनशक्ति का कोई प्रश्न नहीं रहता । बोलो, धन कमाने की रुचि जगी तो कितनी भूख सहन की ? किन्तु हम उपवास करने को कहें, तब चट् से कह देते हो - "मेरे से भूख सहन नहीं होती, उपवास नहीं किया जाता ।" इसका कारण समझ गए न ? जितनी धन कमाने की ओर तुम्हारी रुचि है, उतनी ही रुचि जब आत्मा की तरफ जगेगी, तब ऐसा लगेगा कि मैं इस मनुष्यजन्म को पाकर आत्मा के लिए कुछ भी नहीं किया । आत्मा के प्रति जितनी अधिक लगन होगी, उतनी ही संसार में 'मैं और मेरेपन की वृत्ति कम होगी ।' एक बार आत्मा की तरफ की भूख लगनी चाहिए, अंदर की रुचि ठीक-ठीक जगनी चाहिए कि 'मैं' अर्थात् - कौन ? 'मैं' का अर्थ है - आत्मा । मैं का अर्थ है - सच्चिदानन्द-पूर्ण-स्वरूपी । फिर ऐसी स्फुरणा होगी - अनन्तशक्ति का अधिपति होते हुए भी मैं इस देह की छोटी-सी दुनिया में क्यों बैठा हूँ, क्यों रह रहा हूँ ? 'मैं' इस जन्म से पहले भी था और मृत्यु के बाद भी रहनेवाला हूँ । मैं मरणशील नहीं हूँ, अजर-अमर-अविनाशी हूँ । फिर मुझे मरण का कैसा भय ? मरण आत्मा का नहीं होता, देह का होता है । ये सब जड़ पदार्थ मेरे नहीं हैं, न ही ये मेरे साथ आनेवाले हैं । जो मेरा है ही नहीं, उसके लिए मुझे दुःख क्यों और किसका हो ? यह शरीर मरता है और आत्मा तरता है । शरीर यहीं पड़ा रह जाता है, आत्मा ऊपर चढ़ जाता है । ऐसी आत्मा से सम्बद्ध शाश्वत रुचि जगने का नाम सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन आने (प्राप्त होने) से मानव-जीवन की रौनक बदल जाती है ।

देवानुप्रियों ! जिसे आत्मदशा का भान हो गया है, जिसकी सुषुप्त चेतना जागृत हो चुकी है, वैसा मानव-शरीर को एक कवर जैसा समझना है, उस (शरीर) में रहा हुआ आत्मा चेक जैसा है । चेक कवर में रखा हुआ है, किन्तु कवर और चेक दोनों

अलग-अलग है। कर्म के उदय से आत्मा शरीररूपी कवर में बंद है, किन्तु शरीर और आत्मा दोनों पृथक्-पृथक् है। ऐसा ख्याल सबको नहीं होता। मान लो पच्चीस पैसे के कवर में पाँच लाख रुपयों का चेक है, इस कारण कवर की कीमत पाँच लाख रुपयों की नहीं होती, कीमत तो कवर के अंदर रहे (रखे) हुए पाँच लाख रुपयों के चेक की है। इसी प्रकार ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "यह मानव-शरीर पच्चीस पैसे के कवर जैसा है। इसमें जो आत्मा रूपी चेक रहा हुआ है, उसकी कीमत है।" एक अरूपी आत्मा की पहचानवाली दृष्टि जब खुल जाएगी, तब कवररूपी देह की नहीं, किन्तु आत्मारूपी चेक की तुम संभाल रखोगे। तुम्हारे यहाँ कवर में बंद करके एक व्यक्ति ने पाँच लाख रुपयों का चेक भेजा। तुम उस कवर को एक तरफ से खोलोगे अवश्य, परन्तु उस कवर के अंदर रहा हुआ चेक फट न जाय, उसकी सुरक्षा के लिए कितनी सावधानी रखोगे ? इस बारे में तो तुम इतने अधिक होशियार हो कि कवर को चाहे जिस तरफ से फाड़ा जाए, परन्तु ऐसा मालूम हो जाए कि बाजू से फाड़ने से चेक फट जाने का अंदेशा है, तो उस कवर को बीच में से फाड़ेगे और तो और तुम सारा कवर फाड़ डालोगे, किन्तु चेक की बराबर सुरक्षा करोगे। वहाँ तुम्हें चेक और कवर दोनों के मूल्य को समझने में जरा भी अड़चन नहीं आएगी। तुम इसे भलीभांति समझते हो कि चेक के आगे कवर की कोई कीमत नहीं है। कीमत तो चेक की है। वैसे ही शरीररूपी कवर के साथ तुम्हारा कोई लगाव नहीं है, जो भी लगाव है, वह आत्मा के साथ है।

जब आत्मा के विषय में ऐसा विवेक जगेगा, तब तुम्हारे मन में ऐसा भाव उत्पन्न होगा कि मैं अपने आत्मा को सुरक्षित रखकर शरीर से यथायोग्य काम ले लूं। अलबत्ता, यह शरीररूपी कवर आत्मारूपी चेक को सुरक्षित रखने के लिए अवश्य उपयोगी है। शरीर आत्मा को मोक्ष में पहुँचा देता है, यहाँ तक उसकी महत्ता है। जैसे कवर चेक को एक गाँव से दूसरे गाँव तक पहुँचाने का काम करता है, वैसे ही यह मानव-शरीर आत्मा को मोक्षपुरी में पहुँचाने का काम करता है। अतः कवर की सुरक्षा करो, इससे इन्कार नहीं है, क्योंकि उसमें तुम्हारा बहुमूल्य चेक रहा हुआ है। परन्तु कदाचित् ऐसा समय आ जाय कि दो में से एक के फट जाने की संभावना हो, उस समय इतना अवश्य ध्यान रखना कि कवर भले ही फट जाए, किन्तु चेक नहीं फटना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि शरीर और आत्मा दोनों में से किसी एक की असुरक्षा की संभावना हो, वहाँ शरीर की सुरक्षा को गौण करके आत्मा की सुरक्षा करनी जरूरी है।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में अर्हन्नक श्रावक का वर्णन है। अर्हन्नक को आत्म-स्वरूप का भान हो गया था, इसलिए उसने शरीर को कवर और आत्मा को चेक-सम मान लिया था। वह चंपापुरी के अन्य व्यापारियों के साथ व्यापार करने के लिए समुद्री मार्ग से विदेश जा रहे हैं। जलपोत समुद्र के मध्य में जब पहुँचा, तब अकस्मात्

एक पिशाच का भयंकर उपद्रव शुरू हो गया । उसने बीच समुद्र में कैसा उत्पा
मचाया ? उसका असर अर्हन्नक आदि व्यापारियों पर और अर्हन्नक पर कैसा हुआ
इस सम्बन्ध में संक्षेप में बताती हूँ -

*"तएणं ते अरहण्णगवज्जा संजत्ता-णावा-वाणियगा एगं च
णंमहं तालपिसाचं पासंति ।"*

इसका भावार्थ यह है कि अर्हन्नक के सिवाय अन्य सभी सांयात्रिक पोतवणिक
जनों ने एक बड़े भारी तालपिशाच (ताड़ के वृक्ष जैसा और ताड़ के वृक्ष जैसी मोट
जंघाओंवाले पिशाच) को देखा । यहाँ ऐसा कहा गया है कि अर्हन्नक के अतिरिक्
अन्य सभी पोतवणिकों ने ऐसा भयंकर पिशाच देखा । इसका यह अर्थ नहीं है कि
अर्हन्नक श्रावक ने उस पिशाच को नहीं देखा । अर्हन्नक श्रावक ने उसे देखा । यह
शास्त्रकार का आशय यह है कि अर्हन्नक श्रावक के सिवाय अन्य सभी पोतवणिक
उस पिशाच को देखकर अत्यन्त भयभीत हो गए, जबकि अर्हन्नक श्रावक जरा भी
डरे नहीं, नहीं घबराये । क्योंकि वह तो इस शरीर को कवर के समान मानते थे, अर्थात्
- वह ऐसा विचार करते थे कि 'कदाचित् यह पिशाच मुझे मार डालेगा तो वह मेरे
शरीर को मारेगा, किन्तु मेरे आत्मा को मारने में वह समर्थ नहीं है । मेरा आत्मा तो
अखण्ड, अविनाशी और नित्य है । उसके टुकड़े करने में कोई भी समर्थ नहीं है ।
जिसके तन-मन-वचन में आत्मा के प्रति ऐसी श्रद्धा हो, उस पर चाहे जितने उपसर्ग
आएँ वह जरा भी विचलित हो सकता है क्या ? अतः उसे किसी भी प्रकार का भय
नहीं था । वह शान्त चित्त से निश्चिंत होकर बैठा था ।

वह पिशाच कैसा था ? उसके दोनों हाथ इतने लम्बे थे कि मानो वे आकाश को
स्पर्श करते हों ऐसा प्रतीत होता था । उसके मस्तक के बाल अलग-अलग होकर बिखरे
हुए थे । उसके शरीर का रंग भौंरों के झुंड जैसा, उड़द के ढेर जैसा, पाड़े के सींग
जैसा तथा पानी से भरे हुए मेघ की घटाओं जैसा अत्यन्त काला था । उसके नख सूपड़े
जैसे थे । उसकी जीभ अग्नि में तपाने से अत्यन्त लाल हुए हलके कोश जैसी थी ।
उसके होठ बहुत लम्बे-लम्बे थे । उसका मुख सफेद गोलमटोल अणीवाली मजबूत
दाढोंवाला था । उसकी दोनों जीभें म्यान में से बाहर निकाली हुए तलवार जैसी तीक्ष्ण
थी । वह पतला और चंचल था । विषय के रसों को ग्रहण करने हेतु अत्यन्त लोलुप
और आतुर हों, इसकी तरह उसमें से सतत लार टपकती थी । उसका तालु और जीभ
बीभत्स, लालसूर्ख हींगलू जैसे दिखाई देते थे । मानो उसके मुख में से अग्निज्वालाएं
बाहर निकल रही हों । उसे देखकर मनुष्य मूर्च्छित हो जाएँ, ऐसा वह डरावना लगता
था । उसके दोनों गाल कोस की तरह झुरियाँ वाले थे और वे मुँह के भीतर घुस गए
थे । उसकी नाक छोटी और चपटी थी । उसकी नाक के छिद्रों में से जो श्वासोच्छ्वास
निकलता था, वह ऐसा मालूम होता था, मानो कोई क्रोधाविष्ट मानव धम-धम करता
हुआ सामने से आ रहा हो, तथा उसमें से आवाज भी ऐसी आ रही थी, मानो धौंकनी

में से धम-धम आवाज आ रही हो। इस प्रकार पिशाच जब श्वासोच्छ्वास लेता था, तब कठोर और कर्कश आवाज आती थी।

उस पिशाच की दोनों ओर की कनपटी ऊँची और फूली हुई थी। उसके दोनों कानों पर जो रोमराजि थी, वह महाविकराल थी। उसके दोनों कान आँख के दोनों कोनों तक फैले हुए थे। उसकी दोनों आँखें बिल्ली की आँखों की तरह पीली थीं। किसी-किसी मनुष्य की आँखें ऐसी क्रूर प्रतीत होती हैं, मानो वह अपने सामने ही आँखें तरेर कर देख रहा हो। मानो शिकारी जैसी ही आँखें ही देख लो। उन्हें देखते ही डर लगता था। उसकी भौंहें टेढ़ी थीं। उसके गले में नरमुंड (या मनुष्य की गर्दनवाली) माला पहनी हुई थी। उसके शरीर पर भिन्न-भिन्न प्रकार के सर्पों, बिच्छुओं, गोह, चूहों और नेवलों एवं गिरगिटों आदि की अनेक रंगोंवाली मालाएँ पहनी हुई थीं। कान में कुंडल (कर्णपुट) के स्थान पर भयंकर फनों वाले, फुफकारते हुए दो काले सर्प पहने हुए थे। अपने दोनों कंधों पर बिल्ला और सियार बिठा रखे थे। बड़ी आवाज में घू-घू करते हुए उल्लुओं को उसने अपने मस्तक पर मुकुट के स्थान पर बिठा रखे थे। घंटे की भयंकर ध्वनि के कारण वह भयंकर प्रतीत होता था और अपनी भयंकर ध्वनि से वह कायर मनुष्यों के हृदय को कंपानेवाला अट्टहास्य बराबर करता था। उसका शरीर चर्बी, लोही, मांस और मल से लिप्त (गंदा) हो रहा था। उसका वक्षस्थल बहुत ही चौड़ा था। उसने अंगों पर अनेक प्रकार के रंगों के बाघ के चमड़े के वस्त्र पहन रखे थे। जिस पर बाघ ने साबूत, नख, रोम, मुँह, आँखें तथा कान स्पष्ट दिखाई देते थे। ऊँचे किये हुए दोनों हाथों पर उसने रक्त से लिप्त हाथी का लम्बा चमड़ा पहना हुआ था। ताड़ के वृक्ष जितने ऊँचे ऐसे पिशाच को उन पोतवणिकों ने अत्यन्त भयंकर कर्कश, अत्यन्त अप्रिय, अमनोज्ञ, अमंगलकारी और बीभत्स वाणी से दूसरों को त्रास देते हुए, पिशाच को अपनी ओर आते हुए देखा।

बन्धुओं! आप घर में बैठे हों, उस समय अथवा स्वप्न में अपनी तरफ आते हुए देखें तो भी कांप उठते हैं। ये लोग समुद्र के मध्य में खुले जलपोत में बैठे हुए थे, उन्हें कितना डर लगा होगा? यदि वे घर में या जंगल में हों तो कहाँ से कहाँ भाग छूटते, परन्तु ये तो समुद्र पर स्थित जहाज में थे, इसलिए इस समुद्र में से कहाँ जा सकते थे? ये सब पोतवणिक भय से त्रस्त हो रहे थे। उनकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में भय का कम्पन होने लगा और वे भयभीत होकर एक-दूसरे से चिपट गए। जब मनुष्य अत्यन्त भयग्रस्त हो जाता है, तब वह एक-दूसरे से लिपट - (चिपट) पड़ता है। भय के मारे वे (इस प्रकार) बोलने लगे - "अररर! अब अपना क्या होगा? यह पिशाच हमें मार डालेगा।" तथा और भी चेष्टाएँ करने लगे -

"बहूणं इंदाण य खंदाण य, रुद्द-सिव-वेसमण-णागाणं भूयाण य जक्खाण य, अज्जकोट्ट-किरियाण य, बहूणि उवाइय-सयाणि ओवाइयमाणा ओवाइयमाणा चिट्ठंति।"

बहुत-से इन्द्रों को, स्कन्दों (कार्तिकेय) की, तथा रुद्र, शिव, वैश्रमण (कुबेर) और नागदेवों की, भूतों की, यक्षों की, प्रशान्त स्वभाववाली देवियों की तथा कोट्टक्रिया (महिषवाहिनी दुर्गा, चण्डिका आदि) देवियों की, सैकड़ों प्रकार की बार-बार बहुत-बहुत मनौतियाँ करने लगे। अपने इष्टदेव को हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे - "कृपालु देव ! अगर हम इस संकट से मुक्त हो गए तो आपके दर्शन करने आएँगे, आपके स्थान पर धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ाएँगे तथा चढ़ावा करेंगे।" इस प्रकार अपने इष्टदेव का स्मरण करके मनौती करने लगे।

जब मनुष्य ऐसी भयंकर कठिनाई में पड़ जाता है, तब भगवान् या अपने इष्टदेव के स्मरण में इतना तल्लीन, इतना एकाग्र व दत्तचित्त हो जाता है कि बाहर कौन आया और क्या हुआ ? इसका कुछ भी पता नहीं लगता। वह ऐसा मग्न व मस्त हो जाता है, परन्तु उसी व्यक्ति को अगर हम नवकारमंत्र की एक माला फेरने का कहें तो यों कहने लगता है - "महासतीजी ! माला फेरने में हमारा चित्त स्थिर नहीं रहता।" किन्तु मैं पूछती हूँ, ऐसे संकट के समय चित्र कैसे स्थिर हो जाता है ? रुपयों को या नोटों के बंडल गिनते समय कितनी स्थिरता होती है ? उस समय दस रुपये के नोटों के बंडल में १०० रु. की नोट रखकर नहीं आते। बहीखाते में हिसाब लिखते समय, कितनी स्थिरता होती है चित्त की ? अगर निःस्वार्थ भाव से भगवान् के नामस्मरण में, जप में इतनी चित्त-स्थिरता हो जाए तो बेड़ापार हो जाय ! किन्तु समुद्र में अपने अपने जहाज में बैठे हुए वे व्यापारी भय से कांप उठे हैं। वे सभी भय से मुक्त होने के लिए एकाग्र चित्त से भगवान् का नाम-स्मरण करते हैं। इन सब में अर्हन्नक श्रावक ही ऐसे हैं, जो निर्भय, निश्चिंत और अनुद्विग्न होकर बैठे हैं। उनका एक रोम भी नहीं फड़कता।

अर्हन्नक श्रावक में कितना आत्मविश्वास होगा ? उनकी कैसी दृढ़ता थी, उस समय ? ऐसे श्रावकों की दृढ़ता देख-सुनकर आपको और हमें भी श्रद्धा में दृढ़ होना है। सचमुच, ऐसे श्रावकों के जीवन से साधु-साध्वियों को भी निर्भयता और धीरता की प्रेरणा मिलती है कि गृहस्थ-जीवन में रहा हुआ श्रावक जब इतना दृढ़धर्मी है, मरणान्तिक उपसर्ग आने पर भी देव-गुरु-धर्म और सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा से विचलित नहीं होता, तब साधु-साध्वियों ने तो घरबार, कुटुम्ब-परिवार तथा धन-साधन आदि सब का त्याग किया है, शत्रु-मित्र के प्रति तथा सुख-दुःख एवं सम्पत्ति-विपत्ति में समभाव रखने की यावज्जीव सामायिक (समतायोग) की प्रतिज्ञा ली है, तब ऐसे संकटापन्न समय में कितना दृढ़ रहना चाहिए ? ऐसे संकट एवं भयावह समय में अर्हन्नक श्रावक निश्चिंत होकर बैठे हैं। अब वह पिशाच क्या करेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

* * * * * * * *

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

हरिण्यराजा संसार से विरक्त हो गए । उन्होंने भगवान् नमिनाथ को भागवती दीक्षा देने की विनती की, जिसका उन्होंने स्वीकार किया । भगवान् द्वारा दीक्षा की स्वीकृति मिलने तथा उसको दीक्षा लेने से पूर्व किन-किन वस्तुओं का त्याग करना है ? इस बात का निर्देश मिलने पर वह दीक्षा की तैयारी करने लगे ।

सिद्ध विद्याओं का स्वामित्व किसे सौंपा ? : हिरण्यराजा ने उस समय जो विद्याएँ सिद्ध की थीं । उन विद्याओं की अधिष्ठात्री देवियों ने उसके पास आकर कहा - "नाथ ! आप तो अब संयम अंगीकार कर रहे हैं, तब हमें किस का आश्रय लेना ?" उनकी बात सुनकर हिरण्यराजा ने नमिनाथ भगवान् को वन्दन करके सविनय पूछा - "प्रभो ! कृपा करके यह कहिए कि मेरे द्वारा दीक्षा लेने के बाद इन सिद्ध विद्याओं का स्वामी कौन होगा ?" तब भगवान् नमिनाथ ने कहा - "अरिष्ट नेमिनाथ के तीर्थ में द्वारिका नगरी में प्रशस्थ गुण को धारण करनेवाली श्रीकृष्ण की रुक्मिणी नाम के रानी की कुक्षि से प्रद्युम्न नामक पुत्र का जन्म होगा, वह इस गुफा में आकर इन विद्याओं का स्वामी बनेगा ।" भगवान् नमिनाथ की बात सुनकर हरिण्यराजा ने मुझे कहा - "जो व्यक्ति अपने पराक्रम से गर्जना करता हुआ यहाँ आकर तेरे साथ युद्ध करेगा, वह आपका स्वामी बनेगा । अतः हे विद्यागणाधीश ! आप तबतक इन विद्याओं को सुरक्षित रखते हुए इस गुफा में रहिए ।" यों कहकर हिरण्यराज ने निश्चिंत होकर आर्हती दीक्षा ले ली । बहुत वर्षों तक निर्मल चारित्र का निरतिचार पालन किया, उग्र तप-संयम से आत्मा को भावित करके सर्वकर्मों का क्षय करके वह मोक्ष में गए । उनके वचनानुसार मैं इन विद्याओं (मंत्र-मण्डल) की रक्षा करता हुआ, तब से लेकर आज तक मैं आपकी (प्रद्युम्नकुमार की) प्रतीक्षा कर रहा था । आज मेरे परम सौभाग्य से आप यहाँ आ पहुँचे । इस कारण मैं आपको ये सब विद्याएँ सौंपकर अपनी जवाबदारी से मुक्त हो गया हूँ । नमिनाथ भगवान् के वचनानुसार आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक हूँ । आप मेरे योग्य सेवा-कार्य फरमाइए ।" यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "इस समय तो मेरी सेवा का कोई कार्य नहीं है, किन्तु आपको यदि सेवा करने की प्रबल इच्छा है तो मैं जब भी आपका स्मरण करूँ, तब आप मेरे पास आ जाना ।" तब प्रद्युम्नकुमार की आज्ञा का स्वीकार करके नागकुमार असुर अदृश्य हो गया ।

सौतेले भाइयों का निकृष्ट विचार : इस ओर कालसंवरराजा के वज्रमुख आदि कुमार प्रद्युम्नकुमार के गुफा में जाने के पश्चात् इधर-उधर टहल रहे थे । थोड़ी देर बाद विचार करने लगे - 'निश्चय ही प्रद्युम्नकुमार अब तक मर गया होगा, क्योंकि इस गुफा में गया हुआ कोई भी व्यक्ति आज तक वापस लौटकर नहीं आया । चलो, अच्छा हुआ । हमें उसे मारने का पाप करना नहीं पड़ा । औषधि

के बिना ही व्याधि मिट गई । अब सदा के लिए चिन्ता मिट गई ।' इन और ऐसे विचारों से हर्षित होकर वे नाचने लगे । इसी दौरान प्रद्युम्नकुमार अनेक विद्याओं तथा आभूषणों से विभूषित होकर चमचमाते सूर्य की तरह गुफा में से बाहर आया । प्रद्युम्नकुमार को जीवित बाहर आया हुआ जानकर उसके सौतेले-भाई विचार करने लगे - 'इसे भेजा तो था मरने के लिए, किन्तु यह तो जीवित लौटकर आ गया । इसे पहले जहर दिया था, परन्तु वह इसके लिए अमृत बन गया । इतना ही नहीं, यह इतनी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त करके बाहर आ गया ।' उन भाइयों के मन में अंदर तो बहुत दुःख हो रहा था, परन्तु ऊपर हंसता मुँह रखकर वज्रमुख बोला - "क्यों भाई ! मेरी बात सत्य निकली न ? तू गुफा में गया तो तुझे इतनी उत्तम चीजें मिल गई न ?"

प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "यह सब आपका प्रताप है ।" प्रद्युम्नकुमार जानता था कि यह सब किसके प्रताप से मिला है ? फिर भी उसमें कितना विनय, नम्रता और सज्जनता एवं औदार्य है ? किन्तु वज्रमुख आदि कुमार सोचने लगे - 'वास्तव में, चाहे जैसे करके भी हमें इसका काम तमाम करना है । इसे किसी भी मूल्य पर जिंदा नहीं रखना है । यदि यह जिंदा रह गया तो हमें जीवनभर इसकी गुलामी करनी पड़ेगी ।' दूसरी ओर प्रद्युम्नकुमार के मन में इन भाइयों के प्रति जरा भी शंका नहीं है कि ये लोग मुझे मार डालने के लिए यह सब जाल रच रहे हैं । क्योंकि प्रद्युम्न की दृष्टि पवित्र थी । जिसकी दृष्टि पवित्र होती है, उसे सभी पवित्र नजर आते हैं । इसके विपरीत जिसकी दृष्टि में विष भरा होता है, उसे सबमें विष दिखाई देता है । सज्जन चाहे जैसे संयोगों में अपनी सज्जनता नहीं छोड़ते और दुर्जन दुर्जनता नहीं छोड़ता । चकमक पत्थर को कोई सौ वर्ष तक पानी में रखकर बाहर निकाले, फिर दूसरे पत्थर के साथ वह उसे घिसता है तो उसमें से अग्नि निकले बिना न रहेगी । तथैव दुर्जन व्यक्ति को चाहे जितनी हितशिक्षा दो, तो भी उसकी मति नहीं सुधरती । इसी प्रकार से दुर्जन सौतेले भाई प्रद्युम्नकुमार को मार डालने के लिए अब क्या षड्यंत्र रचते हैं, देखिए -

दूसरी गुफा में भी प्रद्युम्न को दूसरा लाभ मिला : वज्रमुख ने प्रद्युम्न से कहा - "भाई ! अब हमलोग इससे भी अच्छी दूसरी गुफा में चलें । वहाँ भी अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती हैं ।" यों कहकर दूसरी भयंकर गुफा की ओर वे प्रद्युम्नकुमार को ले गए । दूसरी गुफा के द्वार पर आकर कपटी वज्रमुख बोला - "जो इस गुफा में प्रवेश करेगा, उसे इष्ट सिद्धि प्राप्त होगी । अतः मैं उसके अंदर जाकर अभी वापस आता हूँ ।" यों कहकर वज्रमुख ने उस गुफा में जाने के लिए अत्यन्त धीमा कदम उठाया । तब प्रद्युम्न ने कहा - "बड़े भैया ! आप आज्ञा दें तो मैं गुफा में जाऊँ । आप बाहर खड़े रहें ।" अतः वज्रमुख ने कहा - "अच्छा भाई ! तेरी इच्छा है तो खुशी से जा ।" वज्रमुख को यही चाहिए था । ऊपर से कहा - "तू जाएगा तो हम सबको

लाभ ही है ।" आज्ञा मिलते ही प्रद्युम्नकुमार ने नवकारमंत्र का स्मरण करके गुफा के अंदर प्रवेश किया । प्रविष्ट होते ही उसने भयंकर गर्जना की । उसे सुनकर गुफा के अधिष्ठायक असुर ने उसके पास आकर कहा – "अरे हीनपुण्यवाले ! तू अपना माँ का सौतेला पुत्र मालूम होता है, इस कारण तुझे मारने के लिए यहाँ भेजा है । तुझे पता नहीं है कि मैं इस गुफा में आनेवाले व्यक्ति का साक्षात् काल (यमराजा) हूँ ।" यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने शान्तिपूर्वक जवाब दिया – "मैं सौतेला पुत्र नहीं हूँ । मैं अपनी माँ का इकलौता पुत्र हूँ ।" इस पर असुर ने कहा – "तू छोटा-सा बालक है, इसलिए मुझे तेरे पर दया आती है, अतः अब भी मैं तुझे कहता हूँ कि तुझे जीवित रहना है तो यहाँ से झटपट चला जा ।" प्रद्युम्न ने उसे चैलेंज देते हुए कहा – "तुझे मेरे पर गुस्सा करने की या दया खाने की जरा भी जरूरत नहीं है । तेरे में अगर ताकत है तो मेरे साथ युद्ध करने के लिए तैयार हो जा ।" तब वह असुर गुस्से में आकर प्रद्युम्न से लड़ने के लिए तैयार हो गया । प्रद्युम्नकुमार ने उसे खिलौने की तरह पकड़ लिया और बहुत पीटा । इस कारण वह अपनी हार कबूल करके प्रद्युम्नकुमार की बहुत प्रशंसा करने लगा । प्रसन्न होकर उस असुरदेव ने प्रद्युम्नकुमार को अनेक चीजें भेंट दीं ।

इस देव का नाम था कुसुमपाल । उसने प्रद्युम्नकुमार के पराक्रम से प्रसन्न होकर उसे एक छत्र, दो चामर, एक तलवार और एक दिव्य वस्त्र भेंट दिये और कहा कि "यह तलवार शत्रुनाशक है । इसे युद्ध में साथ में रखोगे तो कभी तुम्हारा पराजय नहीं होगा ।" यों कहकर उसके चरणों में पड़कर कहा – "मैं आपका सेवक हूँ ।" अब प्रद्युम्नकुमार अलौकिक छत्र, दो चामर और शत्रुविनाशक तलवार आदि सब लेकर बाहर आया । यह देखकर उसके सौतेले भाइयों को बहुत दुःख हुआ कि यह तो किसी भी तरह से मरता नहीं ! कौन जाने, इसके लिए पत्थर भी फूल बन जाता है ।

अब उसके भाइयों ने विचार किया कि 'देव-देवी, व्यन्तर, असुर आदि तो आराधना से प्रसन्न हो जाते हैं, किन्तु नागकुमार देव बहुत क्रोधी होता है, अतः इसे अब नागकुमार देव की नागगुफा में ले जाएँ तो वहाँ इसकी मृत्यु हो जाएगी ।'

तीसरी गुफा में आत्मरक्षक-विद्या की प्राप्ति : प्रद्युम्नकुमार को मार डालने के लिए वे विद्याधर-पुत्र अब उसे नागगुफा की तरफ लेकर आए । वहाँ आते ही वज्रमुख ने कहा – "भाइयों ! जो इस गुफा में प्रवेश करेगा, उसे मन चाहे अर्थ (पदार्थ) की प्राप्ति होगी । अतः मैं अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए गुफा में जाता हूँ ।" तभी प्रद्युम्नकुमार ने कहा – "बड़े भैया ! आप रहने दें, मैं जाता हूँ ।" उसने तुरंत हाँ कर दी कि "खुशी से जाओ ।" अतः प्रद्युम्नकुमार गुफा में प्रविष्ट हुआ कि अपनी-अपनी बांबी में से फुफकारते हुए कई सर्प बाहर [illegible] । प्रद्युम्नकुमार ने विद्या-प्रभाव से विषवैद्य की तरह उन सबको वश में [illegible] के प्रभाव और

पराक्रम को देखकर नागदेव बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने प्रद्युम्नकुमार को बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा सैन्यरक्षिणी और आत्मरक्षिणी दो महत्त्वपूर्ण विद्याएँ भेंट दीं । इन सबको लेकर प्रद्युम्नकुमार बाहर आया । उसे जिंदा और सम्पन्न देखकर उसके भाइयों के मुँह फीके पड़ गए । बहुत ही चिन्तातुर होकर वे विचार करने लगे - 'यह दुष्ट किसी भी तरह से मरता नहीं है । यह जहाँ भी जाता है, इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करके वापस जीवित लौट आता है । अब इसे कैसे मारना ?' इसके लिए वे कोई उपाय ढूंढ रहे हैं । अब प्रद्युम्नकुमार का क्या होगा ? उसके ये दुष्ट-भाई उसे अभी और किस-किस कठिनाई में डालेंगे, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ७७

भादवा वदी अमावस्या, गुरुवार | ता. २३-९-७६

प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी की पहचान

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

आगमवचनों की प्ररूपणा करनेवाले तीर्थंकर होते हैं । तीर्थंकर भगवन्त केवलज्ञान होने के बाद तीर्थ की स्थापना करते हैं । जिससे तिरा जा सके, उसे तीर्थ कहते हैं। भगवान् के धर्मसंघ में चार धर्मतीर्थ कहलाते हैं - साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका । इन चारों के ऐक्य (संगठन) को संघ कहते हैं । भगवान् महावीर के धर्मसंघ में साधु की अपेक्षा साध्वियों की, और श्रावक की अपेक्षा श्राविकाओं की संख्या अधिक है । इस चतुर्विध धर्मतीर्थ का एक अंग है - श्रावक । भगवान् महावीर के श्रावक दृढ़धर्मी और हेय-ज्ञेय-उपादेय के ज्ञाता होते हैं, उनकी श्रद्धा देवाधिदेव अर्हन्नक पर, निर्ग्रन्थ धर्मगुरु पर और सर्वज्ञ (केवली) द्वारा प्ररूपित धर्म (आत्मधर्म) पर सुदृढ़ होती है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

आपके समक्ष कई दिनों से अर्हन्नक श्रावक की बात चल रही है । तुम रोज प्रतिक्रमण के अन्तर्गत खामणा में बोलते हो - भगवान् के श्रावक दृढ़धर्मी और प्रियधर्मी होते हैं । आज प्रियधर्मी श्रावक तो बहुत देखने में आते हैं, किन्तु दृढ़धर्मी तो बहुत ही कम हैं । प्रियधर्मी किसे कहते हैं ? जिसे धर्म (क्षमादि आत्मधर्म) प्रिय

लगता हो, जिसे धर्म पर श्रद्धा हो, रुचि हो, जो भलीभांति समझता है कि धर्म अ
और सच्चा है, धर्म से सुखशान्ति मिलती है, कल्याण होता है। किन्तु जब क
संकट उपस्थित होता है, तब उसकी श्रद्धा तो देव-गुरु-धर्म पर रहती है,
धर्माचरण से डगमगा जाता है, धर्म पर दृढ़ नहीं रह पाता, किन्तु जो दृढ़धर्मी हो
वह वीतराग-प्ररूपित आत्मधर्म से चलित नहीं होता। उस पर चाहे जितनी अ
आए, वह धर्म को नहीं छोड़ता। मृत्यु का आलिंगन करने को तैयार रहता है,
वीतराग परिपह धर्म का त्याग नहीं करता। अर्हन्नक श्रावक धन कमाने के लिए
छोड़कर परदेश जा रहा है। वह व्यापार तो जब करेगा, तब करेगा, अभी तो
में ही धर्मरूपी धन कमाने का बाजार खुल गया है। जिसके मन-मस्तिष्क में
को माल और धन को उसकी सुरक्षा के लिए खोखा या बारदान है, यह समझ प
बैठ गई है; वह आफत के समय धर्मरूपी माल को पकड़कर रखता है और धन
खोखे या बारदान को फेंक देता है। हाँ तो अर्हन्नक श्रावक ऐसे ही दृढ़धर्मी श्र
थे कि धर्म और धर्मी की सुरक्षा के लिए वह धन और शरीर की भी परवा नहीं
थे। ऐसे धर्म से चलित या भ्रष्ट न होनेवाले वर्तमान युग में सच्चे देवाधिदेव, नि
गुरु और केवलिप्राप्त धर्म व शास्त्र पर जिसकी श्रद्धा अडोल होती है, वही नि
निश्चल और निरपेक्ष हो सकता है, कर्मों का शीघ्र क्षय कर डालता है।

कल व्याख्यान में यह बात बताई थी कि उन पोतवणिकों को भयभीत करने
लिए विकराल व भयोत्पादक रूप बनाकर एक पिशाच आया। उसके हाथ, पैर, जं
होठ, कान, नाक, आँख वगैरह भी कैसे भयावह थे ? यह वर्णन शास्त्रानुसार पढ़
सुनाया गया था। हमने प्रत्यक्ष नहीं देखा उस पिशाच को, किन्तु उसका वर्णन सु
भी कलेजा कांप उठता है। इस उपाश्रय में अगर ऐसा भयानक दृश्य दिखाई दे,
मैं मानती हूँ कि अधिकांश व्यक्ति यहाँ से शीघ्र भाग खड़े होंगे। (हँसाहँस).
समझती हूँ, ऐसे भयानक दृश्य को देखकर आप ही नहीं, पट्टे पर बैठकर व्याख
सुनानेवाले भी शायद आपके साथ ही भाग जाएँगे। क्योंकि सबको अपना जी
प्रिय है, मरण किसी को भी प्रिय नहीं है। यहाँ तो पानी से परिपूर्ण समुद्र में
व्यापारियों ने पिशाच को नजर के सामने देखा। जहाज के नीचे पानी का उत्पात
और ऊपर है - पिशाच का उत्पात। वर्षा बरस रही है, मेघगर्जना हो रही है, बिज
चमक रही है, कभी-कभी कड़कड़ाती है। भयंकर तूफान उठ रहा है। पानी की त
ऊँची-ऊँची उछलती हैं, जहाज जरा-सी टेढ़ी हो जाती है। थोड़ी ही देर में जहाज ड
जाएगी, ऐसा लगता है। ऊपर भयंकर पिशाच अट्टहास्य करता हुआ, बड़ी-बड़ी ला
लाल आँखें दिखाता हुआ, हाथ में तलवार लेकर उन्हीं समुद्रयात्रियों की तरफ
(पिशाच) आता हुआ दिखाई दे रहा है। यह सब उपद्रव होने से अर्हन्नक श्रावक
सिवाय शेष सभी पोतवणिक भयभीत होकर जहाज में इधर से उधर भागदौड़ क

लगे । सभी अपने-अपने इष्टदेव की मनौती करने लगे और एक-दूसरे से चिपट पड़े । सिर्फ एक अर्हन्नक श्रावक इस दृश्य से भयभीत न होकर ठंडे कलेजे से बैठा है।

"तएणं से अरहन्नए समणोवासए तं दिव्वं पिसायरूवं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता, अभीए, अतत्थे अचालिए असभंते अणाउले अणुव्विग्गे अभिण्ण-मुहराग-णयण-वण्णे अदीणविमण-माणसे ।"

उसके पश्चात् अर्हन्नक श्रमणोपासक ने जब उस दिव्य अपूर्वदृष्ट (पहले कभी नहीं देखे हुए) पिशाच के रूप को अपने जलयान (जहाज) की ओर आते हुए देखा, देखकर वह जरा भी भयभीत नहीं हुआ, त्रस्त भी नहीं हुआ, धर्म से विचलित नहीं हुआ, हड़बड़ाया या घबराया नहीं, आकुल-व्याकुल नहीं हुआ, उद्विग्न नहीं हुआ, उसके मुँह का रंग और आँखों का वर्ण जरा भी विकृत नहीं हुआ, उसके मन में न तो दीनता हुई, और न ही उन्मना हुआ ।

देवानुप्रियों ! अर्हन्नक तुम्हारे जैसा ही एक श्रावक था, परन्तु धर्म पर उसकी कितनी अडोल श्रद्धा है ? स्वयं भगवान् ने उसके गुणों का बखान किया है । घर में बैठे हुए भी जिसे देखकर वज्र-से कठोर मनुष्य की छाती फट जाए, वैसे भयावने पिशाच को अर्हन्नक श्रमणोपासक ने जब अपने वाहन (जलयान) की तरफ आते हुए देखा, फिर भी वह जरा भी भयभीत नहीं हुआ । भय के कारण कम्पन्न भी नहीं आया । न ही उसको घबराहट हुई कि मैं यहाँ से भाग जाऊँ; यह राक्षस आएगा और मुझे मार डालेगा, मेरा क्या होगा ? इस प्रकार का डर नहीं लगा सो नहीं लगा, किन्तु उसके मुख पर या आँख पर भय की रेखा नहीं दिखाई देती थी, क्योंकि उसे भगवान् के वचनों और संवर-निर्जरा-मोक्षरूप उपादेय धर्मतत्त्व पर अविचल श्रद्धा थी, उसमें आत्मविश्वास कूट-कूटकर भरा था, आत्मा की शक्ति से वह परिचित हो गया था कि मेरी आत्मा में अनन्तशक्ति है । उसकी हत्या करने की किसी में ताकत नहीं है । वस्तुतः भगवान् के द्वारा प्ररूपित आत्मधर्म के तत्त्वों को उसने पूरी तरह से हृदयंगम कर लिया था ।

हीरे का मूल्य जौहरी ही कर सकता है, कुम्भार नहीं : इस सम्बन्ध में मुझे एक दृष्टान्त याद आ रहा है । एक गाँव में एक कुम्भार रहता था । वह प्रतिदिन मिट्टी की खान से मिट्टी खोदकर लाता था । एक बार वह गाँव से बाहर बहुत दूर एक पहाड़ के पास मिट्टी खोदने के लिए गया । कुम्भार को वहाँ मिट्टी खोदते दो हीरे मिले । कुम्भार ने हीरा कभी देखा नहीं था । उसे उन हीरों को देखकर आश्चर्य हुआ कि मैंने पत्थर तो बहुत प्रकार के देखे, परन्तु ये पत्थर तो कोई अलग ही जाति का है । उसे हीरों के विषय में बिलकुल जानकारी नहीं थी, फिर उसे इनकी कीमत का पता कहाँ से और कैसे होता ? अब मैं आप लोगों से कहती हूँ कि आप सबको

हीरे जैसा जिनशासन और जैनधर्म मिला है, किन्तु जबतक जैनत्व की झांकी या परख न हो, तबतक आप इनका सदुपयोग या मूल्यांकन नहीं कर सकते, तबतक हीरे सरीखा यह जैनधर्म या जिनशासन मिला, न मिला बराबर है। तबतक सर्व धर्मों में श्रेष्ठ जैनधर्म मिला भी किस काम का ? भगवान् ने फरमाया है - "अतिशय पुण्य के उदय से आपको जैनकुल, जिनशासन और जैनधर्म मिला है, अतः सच्चे जौहरी बनकर आत्मारूपी हीरे की पहचान और परख कर लो। ऐसा अवसर बारबार मिलना कठिन है।

हाँ तो, उस कुम्भार को मिट्टी की खान में से दो हीरे मिले। उसने ऐसे चमकीले पत्थर कभी देखे नहीं थे। इसलिए उन्हें देखकर बहुत खुश हुआ कि 'चलो, ये चमकीले पत्थर बच्चों को खेलने के लिए दूंगा तो बेचारे राजी हो जाएँगे। धनवानों के बच्चे खिलौनों से खेलते हैं, तो मेरे बच्चे इन चमकीले पत्थरों से खेलेंगे।' ऐसा विचार करके कुम्भार ने अपने साफे के सिरे पर उन दोनों चमकीले पत्थरों को रखकर बाँध लिये। मिट्टी खोदकर कुम्भार अपने मस्तक पर साफा बांधकर घर की ओर रवाना हुआ। दोपहर का समय था। सूर्य की किरणें मस्तक पर पड़ने से साफे के किनारे पर बांधे हुए वे कीमती हीरे चमकने लगे। कुम्भार को मालूम नहीं पड़ा कि आज मेरे मस्तक पर साफे में बंधे हुए हीरे चमक रहे हैं। वह गाँव के एक सेठ की दुकान के पास से गुजर रहा था, दुकान में बैठे हुए सेठ ने कुम्भार के साफे में चमकता हुआ कोई पदार्थ देखा, इसलिए सेठ ने उस कुम्भार को बुलाकर पूछा - "अरे भाई ! इस साफे में तुने क्या बांधा है ?" कुम्भार ने कहा - "आज मिट्टी खोदते-खोदते दो चमकीले पत्थर मिले थे, उन्हें मैंने साफे में बांधे हैं।" सेठ ने कहा - "वे पत्थर बता तो सही, कैसे हैं ?" कुम्भार ने जब वे दोनों हीरे बताए तो उन्हें देखकर सेठ का मन उन्हें लेने के लिए ललचाया। कुम्भार से कहा - "भाई ! ये दोनों पत्थर मुझे दे दे। मैं इन पत्थरों को मेरी तराजू के कांटे पर बाधूंगा तो वहाँ ये सुशोभित हो उठेंगे।" कुम्भार बोला - "सेठ ! ये दोनों पत्थर तो अपने बच्चों के खेलने के लिए लाया हूँ।" सेठ ने कहा - "इन पत्थरों से क्या खेलना ? मैं तुझे इनके बदले में एक सेर गुड़ दे देता हूँ। तेरे बच्चे रोटी और गुड़ खाकर राजी हो जाएँगे।" सेठ की बात सुनकर गरीब कुम्भार खुश हो गया। उसने उन दो चमकीले पत्थरों के बदले सेरभर गुड़ लिया और घर चला गया।

हीरा मिला, पर पहचाना नहीं : इस सेठ को भी हीरे की पहचान नहीं थी। वह अपनी दुकान में घी, तेल, गुड़, खांड और आटा, दाल, चावल आदि बेचता था। उसने एक पत्थर लेकर तराजू के कांटे पर बांध दिया। एक बार एक जौहरी घूमता-घूमता इस गाँव में आया। उसे बहुत भूख लगी थी। इस कारण भोजन बनाने की सामग्री लेने के लिए इस सेठ की दुकान पर आ पहुँचा। इस जौहरी को जिन चीजों की जरूरत थी, उन्हें सेठ तराजू के पलड़े में रखकर तोल रहा था, तभी इस जौहरी

ज़र तराजू के कांटे पर पड़ी । कांटे पर बांधे हुए कीमती हीरे को देखकर जौहरी र ही आश्चर्य हुआ कि 'अहो ! इस व्यापारी ने यह कीमती हीरा घी-गुड़ आदि स तराजू के कांटे पर क्यों बांधा होगा ?' जौहरी को उस चमकीले पत्थर ों ही वह समझ गया कि यह बहुत कीमती हीरा है । हीरा-परीक्षक जौहरी ठ से पूछा - "अरे भाई ! यह तराजू पर क्या बांधा है ?" सेठ बोला - "यह क चमकीला पत्थर है ।" जौहरी समझ गया कि इस किराने के दुकानदार को र की पहचान नहीं है । अतः उसने दुकानदार से पूछा - "सेठ ! क्या यह पत्थर तुम्हें बेचना है ?" सेठ ने मन ही मन सोचा - 'कुछ पैसा मिलता हो तो इसे बेच डालूं । मेरे तो यह किसी काम का नहीं है । यह तो शोभा के लिए मैंने इस तराजू पर बांधा है ।' अतः सेठ ने उससे पूछा - "हाँ, बेचना है, इसके बदले कितने रुपये दोगे ?" जौहरी ने कहा - "आप ही कहो न ? आपको कितने में इसे बेचना है ?" सेठ ने कहा - "पचास रुपये दो तो मैं इसे दे सकता हूँ ।" जौहरी ने चट से पचास रुपये निकालकर सेठ को दे दिये और सवा लाख का वह हीरा पचास रुपये में खरीद लिया । जौहरी बहुत प्रसन्न था; इस कीमती हीरे को ५०/- रु. में लेकर । आपको भी लाख रुपये की चीज सौ रुपये में मिल जाए तो कितनी प्रसन्नता होती है ? यह तो तुम्हें ही पता लगे (हँसाहँस) । वह जौहरी तो हीरे को लेकर रवाना हो गया ।

उक्त व्यापारी सेठ को पचास रुपये मिलने का आनन्द हुआ, क्योंकि उसने एक सेर गुड़ देकर कुम्भार से ये दोनों पत्थर लिये थे । उनमें से एक पत्थर के इसे ५०/- रु. मिल गए । जौहरी को सवा लाख का हीरा पचास रुपये में मिलने का अपार आनन्द हुआ और उस कुम्भार को तो इन दो पत्थरों के बदले में सेर भर गुड़ मिलने का आनन्द हुआ । परन्तु सच्चा आनन्द तो इस जौहरी को हुआ, जबकि कुम्भार और सेठ को हीरे की पहचान नहीं थी, इसलिए सेरभर गुड़ और पचास रुपयों के पाने में आनन्द माना । किन्तु तुमलोग तो होशियार हो न ? तुमलोग इस प्रकार से ठगानेवाले नहीं हो ! कुम्भार ने सेरभर गुड़ के लाभ में सवा लाख का हीरा दे दिया । उसके भाग्य में सवा लाख रुपयों का लाभ नहीं था । आप सब भी एक अपेक्षा से उस कुम्भार के समान हैं । महान पुण्योदय से मिले हुए, हीरे से भी कीमती मानवजन्म (नरभव) को सेरभर गुड़ के समान तुच्छ कामभोग में खो रहे हैं । मानवजन्मरूपी कीमती हीरे को कौड़ी की कीमत में बेचने की (खोने की) मूर्खता कर रहे हो, और फिर बहुत खुश होते हो कि हमारे जैसा कोई सुखी नहीं है । सच पूछें तो आप धन कमाने में जितने प्रवीण हैं, धर्म के बारे में उतने प्रवीण नहीं हुए ।

व्यापारी सेठ ने उक्त जौहरी को पचास रुपये में एक पत्थर दे दिया । तदनन्तर उस सेठ की क्या दशा हुई ? यह सुनने योग्य किस्सा है ।

जो दूसरा चमकीला पत्थर था, उसे सेठ ने तराजू के कांटे में बांध दिया । कोई ६ महीने बाद एक दूसरा जौहरी उसी व्यापारी के यहाँ तेल, गुड़, खांड आदि खरीदने

के लिए आया। उसने भी वह हीरा देखा। उसने मन ही मन सोचा - 'इस व्यापारी ने ऐसा कीमती हीरा तराजू के साथ क्यों लटकाया है ? क्या उसे इस हीरे की पहचान नहीं है ?' यह जौहरी नीति-सम्पन्न और धर्मिष्ठ था। उसने मन में सोचा कि - 'इस व्यापारी को हीरे का भान कराऊँ ?' इसी प्रकार जो धर्मिष्ठ मानव होता है, वह किसी जीव को धर्म-विमुख देखता है तो उसे अफसोस होता है कि ऐसा अमूल्य मानवभव पाकर बेचारा यह मनुष्य धर्मविहीन रह जाएगा। यहाँ धर्माचरण नहीं करेगा तो परभव में इसका क्या होगा ? धर्मिष्ठ और तत्त्वज्ञ मानव धर्महीन मानव पर करुणाभाव लाकर उसे धर्म उपार्जन करने, संवर-निर्जरा-मोक्षरूपी धर्म की कमाई करने का पुरुषार्थ करता है। इस जौहरी ने सेठ को हीरे की कीमत का भान कराने के लिए पूछा - "आपको यह पत्थर बेचना है क्या ?" उसने कहा - "हाँ, बेचना है।" तो बोलो इसकी कितनी कीमत लेनी है ?" इस पर सेठ ने जौहरी की उस पत्थर को लेने की उत्कण्ठा देखकर कहा - "सौ रुपये मिले तो इसे बेचना है।" जौहरी धर्मिष्ठ था। उसने सोचा - 'इस सेठ को हीरे की कीमत और परख नहीं है, इसी कारण यह इस कीमती हीरे को सौ रुपयों में देने को तैयार हो गया है। अतः जौहरी ने कहा - "सेठ ! इसे सौ रुपये में तो नहीं लूंगा। मैं आपको इसके बदले में २५ हजार रुपये दूँगा।" यह सुनकर उक्त सेठ बुक्का फाड़कर रोने लगा। यह देखकर जौहरी ने मन में सोचा - 'शायद २५ हजार रुपये कम पड़ते होंगे, इसलिए यह रोता होगा।' अतः जौहरी ने कहा - "सेठ ! आप रोओ मत ! मैं तुम्हें इस पत्थर के ५० हजार दे दूँगा।" इस पर सेठ तराजू का पलड़ा हाथ में लेकर उससे माथा कूटने लगा। जौहरी ने उसे आश्वासन देते हुए कहा - "सेठ ! आप माथा मत कूटो ! मैं ७५ हजार रुपये दे दूंगा। बोलो, अब तो इस चमकीले पत्थर को दे दोगे न ?" यह सुनकर सेठ खूब जोर-जोर से सिसकियाँ भरकर रोने और पंसेरी से माथा फोड़ने लगा। जौहरी ने उसे बहुत समझाया कि "सेठ यों माथा फूट जाएगा, खून निकलेगा। आप ऐसा न करें। सुनें मेरी बात। यह मेरी अन्तिम बात सुन लो। यह हीरा सवा लाख की कीमत का है। मैं २५ हजार रुपये मुनाफा लेकर तुम्हें इसके एक लाख रुपये दे देता हूँ। बोलो, अब तो प्रसन्न हैं न ?" सेठ पुनः माथा फोड़ने लगे। जौहरी ने उनका हाथ पकड़कर ऐसा करने से रोका, तथा उसके इतना रोने और अफसोस करने का कारण पूछा तो उसने कहा - "भाई ! आपने मुझे इस पत्थर के २५, ५०, ७५ और एक लाख रुपये देने का कहा, मुझे इस पत्थर के दाम कम नहीं पड़े, इस कारण मुझे रुदन और अफसोस नहीं हो रहा है, किन्तु मेरे पास ऐसा एक दूसरा हीरा था, उसे भी मैंने शोभा के लिए तराजू के साथ बांध रखा था। एक जौहरी आया, वह उसे पचास रुपयों में ले गया। उस अज्ञानता के कारण मैं ठगा गया, इसका मुझे दुःख होता है। मुझे इस बात का अफसोस होता है कि अगर आज वह हीरा मेरे पास होता तो मुझे दोनों हीरों के दो लाख रुपये मिलते न ? हाय... वह (जौहरी) कहाँ गया होगा ?" यों कहकर

दीवार के साथ माथा टकराने लगा; तब जौहरी ने कहा - "सेठ ! शान्ति रखिए । अब वह (जौहरी) वापस थोड़े ही आनेवाला है ? बीती बात का अफसोस छोड़कर जो मिला है, उसीमें सन्तोष मानो । गया हुआ अवसर वापस नहीं आता ।

बन्धुओं ! आपलोगों को धर्माराधना करने का, आत्मस्वरूप की पहचान करने का अमूल्य अवसर मिला है । अगर हाथ में आये हुए अवसर को नहीं पहचानोगे तो पूर्वोक्त सेठ की तरह पछताना होगा । फिर चाहे जितना मस्तक कूटोगे या अफसोस करोगे तो गया हुआ अवसर नहीं मिलेगा । बोलो, अभी जो समय आपको मिला है, उसका लाभ लेना है या फिर पश्चात्ताप करके सिर फोड़ना है ?" आपकी ऐसी दशा न हो जाय, इसका ध्यान रखना । मानव-जीवन आकाश में छाये हुए बादलों जैसा क्षणभंगुर है । बादल कब बिखर जाएँगे, इसका पता नहीं । इसी तरह आयुष्य का दीपक कब बुझ जाएगा, इसका भी कोई पता नहीं । जिंदगी का जितना समय अज्ञान-अवस्था में गया, वह वापस आने (मिलने) वाला नहीं है । अतः जितनी जिंदगी हाथ में है, उसका सदुपयोग कर लो ।

अर्हन्नक श्रावक ने आत्म-स्वरूप की पहचान कर ली थी, इस कारण उनका मुख प्रशान्त था । शास्त्र में बताया गया है - *'अहीण-विमण-माणसे'* - ऐसी कठोर अग्नि-परीक्षा में भी उनका मन दीन-हीन और विकृत नहीं हुआ । भगवान् का श्रमणोपासक अपने पूर्वकृत कर्मों के उदय से दुःखी जरूर होता है, किन्तु दीन-हीन नहीं होता । कठोर कसौटी होती है तो भी दीन-हीन नहीं बनता कि यह पिशाच मुझे मार डालेगा ।' मैं क्या करूँगा ? मैं इसके चरणों में पड़ जाऊँ या उससे माफी मांग लूँ, तो वह मुझे नहीं मारेगा । ऐसी दीनता दृढ़धर्मी श्रावक प्रकट नहीं करता । उसकी ज्यों-ज्यों कसौटी की जाती है, त्यों-त्यों उसकी श्रद्धा सुदृढ़ होती जाती है । कहा भी है -

तोफानो आवे ठंडीना, के तापना के वरसादना
प्रवासीना पगनो उजम ना डुके ।
पावन-पंथी प्रवासीनां कदम ना रूके । हृदय ना झूके...

अर्हन्नक श्रावक अटल श्रद्धावान था । मोक्ष में शीघ्र पहुँचने की लगन लगती है, उस पर चाहे जितनी मुसीबतें आएँ, कठिनाइयाँ उसके रास्ते में अड़ी-खड़ी हों, वह हंसते मुख से, प्रसन्न चेहरे से उनका मुकाबला करता है । उसके हृदय में ऐसी श्रद्धा का दीपक सतत जलता रहता है कि मैंने तो अपना जीवन प्रभु के चरण में अर्पण कर दिया है, फिर उसमें चाहे जितने शर्दी, गर्मी और वर्षा के तूफान उठें, देव, मनुष्य या तिर्यंच से सम्बन्धित कैसे भी भीषण झंझावात आएँ, मुझे उस विषय में जरा-सी भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है । मुझे दीन-हीन बनकर किसी के चरणों में झुकने की भी जरूरत नहीं है । जिसके चरणों में मैंने अपनी जीवननैया समर्पित की

के लिए आया । उसने भी वह हीरा देखा । उसने मन ही मन सोचा - 'इस व्यापारी ने ऐसा कीमती हीरा तराजू के साथ क्यों लटकाया है ? क्या उसे इस हीरे की पहचान नहीं है ?' यह जौहरी नीति-सम्पन्न और धर्मिष्ठ था । उसने मन में सोचा कि - 'इस व्यापारी को हीरे का भान कराऊँ ?' इसी प्रकार जो धर्मिष्ठ मानव होता है, वह किसी जीव को धर्म-विमुख देखता है तो उसे अफसोस होता है कि ऐसा अमूल्य मानवभव पाकर बेचारा यह मनुष्य धर्मविहीन रह जाएगा । यहाँ धर्माचरण नहीं करेगा तो परभव में इसका क्या होगा ? धर्मिष्ठ और तत्त्वज्ञ मानव धर्महीन मानव पर करुणाभाव लाकर उसे धर्म उपार्जन करने, संवर-निर्जरा-मोक्षरूपी धर्म की कमाई करने का पुरुषार्थ करता है । इस जौहरी ने सेठ को हीरे की कीमत का भान कराने के लिए पूछा - "आपको यह पत्थर बेचना है क्या ?" उसने कहा - "हाँ, बेचना है ।" तो बोलो इसकी कितनी कीमत लेनी है ?" इस पर सेठ ने जौहरी की उस पत्थर को लेने की उत्कण्ठा देखकर कहा - "सौ रुपये मिले तो इसे बेचना है ।" जौहरी धर्मिष्ठ था । उसने सोचा - 'इस सेठ को हीरे की कीमत और परख नहीं है, इसी कारण यह इस कीमती हीरे को सौ रुपयों में देने को तैयार हो गया है । अतः जौहरी ने कहा - "सेठ ! इसे सौ रुपये में तो नहीं लूंगा । मैं आपको इसके बदले में २५ हजार रुपये दूँगा ।" यह सुनकर उक्त सेठ बुक्का फाड़कर रोने लगा । यह देखकर जौहरी ने मन में सोचा - 'शायद २५ हजार रुपये कम पड़ते होंगे, इसलिए यह रोता होगा ।' अतः जौहरी ने कहा - "सेठ ! आप रोओ मत ! मैं तुम्हें इस पत्थर के ५० हजार दे दूँगा ।" इस पर सेठ तराजू का पलड़ा हाथ में लेकर उससे माथा कूटने लगा । जौहरी ने उसे आश्वासन देते हुए कहा - "सेठ ! आप माथा मत कूटो ! मैं ७५ हजार रुपये दे दूंगा । बोलो, अब तो इस चमकीले पत्थर को दे दोगे न ?" यह सुनकर सेठ खूब जोर-जोर से सिसकियाँ भरकर रोने और पंसेरी से माथा फोड़ने लगा । जौहरी ने उसे बहुत समझाया कि "सेठ यों माथा फूट जाएगा, खून निकलेगा । आप ऐसा न करें । सुनें मेरी बात । यह मेरी अन्तिम बात सुन लो । यह हीरा सवा लाख की कीमत का है । मैं २५ हजार रुपये मुनाफा लेकर तुम्हें इसके एक लाख रुपये दे देता हूँ । बोलो, अब तो प्रसन्न हैं न ?" सेठ पुनः माथा फोड़ने लगे । जौहरी ने उनका हाथ पकड़कर ऐसा करने से रोका, तथा उसके इतना रोने और अफसोस करने का कारण पूछा तो उसने कहा - "भाई ! आपने मुझे इस पत्थर के २५, ५०, ७५ और एक लाख रुपये देने का कहा, मुझे इस पत्थर के दाम कम नहीं पड़े, इस कारण मुझे रुदन और अफसोस नहीं हो रहा है, किन्तु मेरे पास ऐसा एक दूसरा हीरा था, उसे भी मैंने शोभा के लिए तराजू के साथ बांध रखा था । एक जौहरी आया, वह उसे पचास रुपयों में ले गया । उस अज्ञानता के कारण मैं ठगा गया, इसका मुझे दुःख होता है । मुझे इस बात का अफसोस होता है कि अगर आज वह हीरा मेरे पास होता तो मुझे दोनों हीरों के दो लाख रुपये मिलते न ? हाय... वह (जौहरी) कहाँ गया होगा ?" यों कहकर

दीवार के साथ माथा टकराने लगा; तब जौहरी ने कहा - "सेठ ! शान्ति रखिए । अब वह (जौहरी) वापस थोड़े ही आनेवाला है ? बीती बात का अफसोस छोड़कर जो मिला है, उसीमें सन्तोष मानो । गया हुआ अवसर वापस नहीं आता ।

बन्धुओं ! आपलोगों को धर्माराधना करने का, आत्मस्वरूप की पहचान करने का अमूल्य अवसर मिला है । अगर हाथ में आये हुए अवसर को नहीं पहचानोगे तो पूर्वोक्त सेठ की तरह पछताना होगा । फिर चाहे जितना मस्तक कूटोगे या अफसोस करोगे तो गया हुआ अवसर नहीं मिलेगा । बोलो, अभी जो समय आपको मिला है, उसका लाभ लेना है या फिर पश्चात्ताप करके सिर फोड़ना है ?" आपकी ऐसी दशा न हो जाय, इसका ध्यान रखना । मानव-जीवन आकाश में छाये हुए बादलों जैसा क्षणभंगुर है । बादल कब बिखर जाएँगे, इसका पता नहीं । इसी तरह आयुष्य का दीपक कब बुझ जाएगा, इसका भी कोई पता नहीं । जिंदगी का जितना समय अज्ञान-अवस्था में गया, वह वापस आने (मिलने) वाला नहीं है । अतः जितनी जिंदगी हाथ में है, उसका सदुपयोग कर लो ।

अर्हन्नक श्रावक ने आत्म-स्वरूप की पहचान कर ली थी, इस कारण उनका मुख प्रशान्त था । शास्त्र में बताया गया है - *'अहीण-विमण-माणसे'* - ऐसी कठोर अग्नि-परीक्षा में भी उनका मन दीन-हीन और विकृत नहीं हुआ । भगवान् का श्रमणोपासक अपने पूर्वकृत कर्मों के उदय से दुःखी जरूर होता है, किन्तु दीन-हीन नहीं होता । कठोर कसौटी होती है तो भी दीन-हीन नहीं बनता कि यह पिशाच मुझे मार डालेगा ।' मैं क्या करूँगा ? मैं इसके चरणों में पड़ जाऊँ या उससे माफी मांग लूँ, तो वह मुझे नहीं मारेगा । ऐसी दीनता दृढ़धर्मी श्रावक प्रकट नहीं करता । उसकी ज्यों-ज्यों कसौटी की जाती है, त्यों-त्यों उसकी श्रद्धा सुदृढ़ होती जाती है । कहा भी है -

तोफानो आवे ठंडीना, के तापना के वरसादना
प्रवासीना पगनो उजम ना हुके ।
पावन-पंथी प्रवासीनां कदम ना रूके । हृदय ना झुके...

अर्हन्नक श्रावक अटल श्रद्धावान था । मोक्ष में शीघ्र पहुँचने की लगन लगती है, उस पर चाहे जितनी मुसीबतें आएँ, कठिनाइयाँ उसके रास्ते में अड़ी-खड़ी हों, वह हंसते मुख से, प्रसन्न चेहरे से उनका मुकाबला करता है । उसके हृदय में ऐसी श्रद्धा का दीपक सतत जलता रहता है कि मैंने तो अपना जीवन प्रभु के चरण में अर्पण कर दिया है, फिर उसमें चाहे जितने शर्दी, गर्मी और वर्षा के तूफान उठें, देव, मनुष्य या तिर्यंच से सम्बन्धित कैसे भी भीषण झंझावात आएँ, मुझे उस विषय में जरा-सी भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है । मुझे दीन-हीन बनकर किसी के चरणों में झुकने की भी जरूरत नहीं है । जिसके चरणों में मैंने अपनी जीवननैया समर्पित की

है, वह स्वयं मेरी चिन्ता करेगा, मुझे वीतरागता के पथ पर डटे रहने की शक्ति, प्रोत्साहन, मार्गदर्शन या प्रेरणा देगा । जिसके रोम-रोम में ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो, क्या वह कभी दीन बन सकता है ? स्वयं को हीन मान सकता है ? कभी नहीं । भगवान् के श्रावक प्रत्येक देवी-देवों की मनौती नहीं करते, परन्तु उनके सम्बन्ध में चाहे जैसे अपशब्द कहकर उनकी आशातना भी नहीं करते । अर्हन्नक श्रावक ने जब यह देखा कि यह देव (पिशाच) मेरी ओर आ रहा है, तब उसके प्रति जरा भी रोष या द्वेष नहीं किया, कि यह पापी, दुष्ट भर-समुद्र में क्यों मुझे हैरान करने के लिए आ रहा है ? वह धर्म पर दृढ़ था । इस कारण मन में जरा भी भयभीत नहीं हुए । परन्तु एक निर्णय यह किया कि 'कदाचित् (उसके द्वारा कृत) इस उपसर्ग में मेरी मृत्यु हो जाएगी, अथवा मैं जीवित रहूँगा, यह निश्चित नहीं है । अतः मैं अपने सागारी संथारे की आराधना कर लूं ।' ऐसा विचार करके अर्हन्नक श्रावक जहाँ बैठे थे, वहाँ से उठकर उस आराधना के लिए स्थान ढूंढने लगे -

"पोयवहणस्स एगदेसंमि वत्थंतेणं भूमिं पमज्जइ, पमज्जित्ता ठाणं ठाइ, ठाइत्ता करयल-परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी - 'नमोऽत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं जाव ठाणंसंपत्ताणं, जइणं अहंएत्तो उवसग्गाओ मुंचामि, तो मेकप्पइ पारित्तए, अह णं एत्तोउवसग्गाओ ण मुंचामि, तो मे तहा पच्चक्खाएय व्वेत्तिकट्टु सागारं भत्तं पच्चक्खाइ ।

उसने पोतवाहन (जलयान) के एक तरफ के एकान्त भाग में जाकर वस्त्र के छोर से भूमि का प्रमार्जन किया । उस जगह को बारीकी से देखा कि यहाँ किसी जीव का रहने का स्थान नहीं है, फिर उसे पूंजनी से यतनापूर्वक साफ किया । तत्पश्चात् वहाँ अपना आसन बिछाकर बैठ गये । बैठकर दोनों हाथों की अंजली बनाकर (जोड़कर) उसे मस्तक पर लगाकर इस प्रकार कहने लगा- "नमस्कार हो उन अरहन्तों को जो यावत् सिद्धगति को प्राप्त कर चुके हैं, (इस प्रकार उसने 'नमोऽत्थुणं' का पूरे पाठ का उच्चारण किया) फिर कहा - "भगवन् ! यदि मैं इस पिशाच के उपसर्ग से मुक्त हो जाऊँ (बच जाऊँ) तो कायोत्सर्ग पार कर आहार-पानी वगैरह ग्रहण करूँगा, और यदि मैं इस उपसर्ग से मुक्त न होऊँ, यानी बच न सकूँ, अर्थात् - इस उपसर्ग से मेरी मृत्यु हो जाए, मेरी रक्षा न हो, तो जिस प्रकार से मैंने प्रत्याख्यान (आहार, शरीर, उपाधि तथा १८ प्रकार के पापस्थल के त्याग) किये हैं, वे जीवनपर्यन्त कायम रहेंगे । यानी इस प्रकार प्रत्याख्यान-रूप कायोत्सर्ग को पाटना नहीं कल्पता ।" इस प्रकार उसने सागारी अनशनरूप संथारा किया ।

बन्धुओं ! अर्हन्नक श्रावक की कितनी दृढ़ है - श्रद्धा और निष्ठा । उसे भयंकर उपद्रव (उपसर्ग) में मृत्यु की सम्भावना होने से उन्होंने पहले से सावधान होकर उस

दौरान मन-वचन-काया में किसी प्रकार का भय या रागद्वेषादि विकार न आएँ, उस भयंकर परिस्थिति का हंसते-हंसते स्वीकार कर सकूँ, इसके लिए चारों प्रकार के आहार शरीर व उपाधि के प्रति ममत्व का एवं १८ पापस्थानों का त्याग कर लिया। परन्तु साथ में यह आगार भी रखा कि अगर इस उपसर्ग से मैं बच जाऊँ, यानी मेरी मृत्यु न हो, तो मेरे श्रावकव्रत से सम्बन्धित जो त्याग-प्रत्याख्यान लिये हुए हैं, वे पूर्ववत् रहेंगे। ऐसे उपसर्ग के समय किसी प्रकार का दुर्भाव या दुर्ध्यान न हो, भय, चिन्ता और घबराहट से, यानी आर्त-रौद्रध्यान से दूर रहकर धर्मध्यान में टिके रहने के लिए सागारी भक्त-प्रत्याख्यान का विधान साधुवर्ग और श्रावकवर्ग दोनों के लिए है।

आप उपाश्रय में सामायिक लेकर बैठे हों, उस समय ऐसा कोई उपद्रव या उपसर्ग हो (आ) जाय तो आप शायद सामायिक में ही भागकर घर पहुँच जाओगे न? किन्तु घर में जाएँ या जंगल में जाएँ, कर्म किसी को छोड़नेवाला नहीं है। पूर्वकृत कर्मो का शुभ-अशुभ फल प्रत्येक प्राणी को भोगना पड़ता है। परन्तु निकाचित कर्म न बंधा हो तो इस प्रकार की सावधानी रखे और त्याग, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान करता रहे तो व्यक्ति उस कर्मफल से बहुत अंशों में बच भी सकता है। इसी दृष्टि से अर्हन्नक श्रावक अपने धर्म में दृढ़ रहते हुए सागारी संथारा करके पंचपरमेष्ठी के स्मरण में लीन हो गए। आगे क्या घटना होती है, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

जैसे अर्हन्नक श्रावक की कसौटी आई है, वैसे प्रद्युम्नकुमार की भी बार-बार कसौटी हो रही है। अर्हन्नक श्रावक की प्रशंसा देवलोक में हुई, वह एक मिथ्यात्वी देव से सहन न हुई। इस कारण उसकी परीक्षा करने के लिए उस देव ने यह उपद्रव किया है। इसी प्रकार प्रद्युम्नकुमार के गुण और पराक्रम के कारण उसकी बहुत प्रशंसा होने लगी। उसके पिता ने उसे युवराजपद दे दिया, इस कारण उसकी सौतेली माताओं को उसके प्रति ईर्ष्या हुई। उन्होंने अपने पुत्रों को उकसाकर उसके प्रति द्वेष उत्पन्न कराया, इसलिए उसे मार डालने के लिए वे (सौतेली माताओं के पुत्र) कपटजाल रचकर वैताढ्य पर्वत पर लाये हैं। किन्तु उसका पुण्य इतना प्रबल है कि वह जहाँ जाता है, वहाँ उसकी जीत होती है, और देव उस पर प्रसन्न होकर उसे देवाधिष्ठित दिव्य वस्तुएँ भेंट दे देते हैं। यह कहावत प्रसिद्ध है - 'पुण्यशाली के पद-पद पर निधान।' पुण्यशाली प्रद्युम्नकुमार के कदम-कदम पर निधान था। वह तीन गुफाओं में गया, वहाँ उसे क्या-क्या प्राप्त हुआ? यह बात आप पहले सुन चुके हैं। वह जब तीसरी गुफा से जीवित और सहीसलामत निकला तो उसके भाई विचार करने लगे - 'यह तो कोई विलक्षण प्रकार का मानव है। यह कैसे मरेगा?' तब वज्रमुख ने कहा - "भाइयों! तुम चिन्ता मत करो। अभी ऐसे बहुत-से विषम स्थान हैं, कहीं न कहीं तो यह अवश्य मरेगा।"

चौथा लाभ - मगर के चिह्नवाला ध्वज : तीसरी गुफा में से जब प्रद्युम्नकुमार सकुशल बाहर आए, तब इसके भाई घूमते-घूमते उसे एक देवाधिष्ठित बावड़ी (वापी) के पास ले आए । वहाँ पहुँचते ही वज्रमुख ने अपने भाइयों से कहा - "भाइयों ! इस बावडी के पानी में जो व्यक्ति स्नान कर लेता है, उसका शरीर अत्यन्त तेजस्वी बन जाता है । अतः मैं इस बावड़ी में स्नान करके आता हूँ । तुम सब यहीं खड़े रहना ।" यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "बड़े भैया ! मुझे बावड़ी में स्नान करने का बहुत शौक है । अतः आप मुझे जाने दें ।" इस पर वज्रमुख ने उसे बावड़ी में जाने की आज्ञा दी । आज्ञा मिलते ही प्रद्युम्नकुमार ने बावडी में प्रवेश किया और उसके पानी में स्नान किया । इसलिए उस (बावडी) का अधिष्ठायक देव प्रकट हुआ, और प्रद्युम्नकुमार पर गुस्से होकर बोला - "दुष्ट ! इस बावड़ी में तो देव-देवियाँ स्नान करतें हैं । तेरा शरीर तो अशुचिवाला और मल-मूत्र से भरा है, दुर्गन्धित है । तूने मेरी बावडी में स्नान करके इसे अपवित्र कर दी । तू छोटा है, इसलिए मुझे तुझ पर दया आती है । तुझे जिन्दा रहना है, जल्दी से यहाँ से चला जा ।" तब प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "मैं भले ही उम्र में छोटा हूँ, किन्तु पराक्रम में बड़ा हूँ । तुम्हें अपने बल का गर्व हो, तो मेरे साथ युद्ध कर लो; तो तुम्हें मेरी शक्ति का पता लग जाएगा ।" दोनों का परस्पर द्वन्द्व-युद्ध हुआ । इसमें प्रद्युम्नकुमार जीत गया ।

प्रद्युम्नकुमार का अतुल बल देखकर देव उस पर प्रसन्न होकर कहने लगा - "तू तो कोई देवकुमार है ।" यों कहकर उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे मगर के चिह्नवाला एक ध्वज उसे भेंट दिया । तब से लोग उसे 'मकरध्वज' कहने लगे । इस बावड़ी में स्नान करने से प्रद्युम्नकुमार का शरीर का तेज जगमगाने लगा । तेजस्वी तन-बदन से युक्त प्रद्युम्नकुमार मकरध्वज लेकर बाहर आया । इसे इस अवस्था में देखकर विद्याधरपुत्र द्वेष से जल उठे । परन्तु इस पर किसी का वश नहीं चल सकता था । अतः निरूपाय होकर वे उसे लेकर आगे चले तो एक बड़ा अग्निकुण्ड आया ।

पाँचवाँ लाभ - दिव्य कुण्डल की जोड़ी और दिव्य वस्त्र : अग्निकुण्ड के पास आकर वज्रमुख बोला - "यह परीक्षा करने का अग्निकुण्ड है । जैसे सोने की अग्नि में परीक्षा होती है । अग्निपरीक्षा में पास हुआ सोना तेजस्वी हो जाता है, इसी तरह जो मनुष्य इस अग्निकुण्ड में पड़कर परीक्षा में पास हो जाता है, वह भी चिन्तित वस्तु को प्राप्त करके अधिक तेजस्वी बनकर बाहर आता है । अतः मैं अग्निकुण्ड में प्रवेश करता हूँ ।" इस पर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "भाई ! आपको कोई आपत्ति न हो तो मैं इस अग्निकुण्ड में प्रवेश करूँ !" वज्रमुख को तो इतना ही चाहिए था । उसने कुछ भी आनाकानी किये बिना कह दिया - "हाँ, खुशी से प्रवेश करो ।" इसलिए प्रद्युम्नकुमार ने साहस करके अग्निकुण्ड में प्रवेश किया । अंदर जाकर विद्यासिद्ध पुरुष की तरह दोनों हाथों से धधकती अग्नि की ज्वालाओं को पकड़कर खेलने

लगा। तभी अग्निकुण्ड का अधिष्ठाता देव उस पर क्रुद्ध होकर उसे मारने के लिए आया। अतः प्रद्युम्नकुमार ने उसे खिलौने की तरह हाथ में उठा लिया और उसके हाथ का अंगूठा दबाया। इससे देव जोर से चीख मारने लगा। प्रद्युम्नकुमार के बल के आगे वह हार गया।

देव अपनी हार होने से प्रद्युम्नकुमार के चरणों में नतमस्तक हो गया। उस पर प्रसन्न होकर देव ने दो वस्त्र तथा दिव्य कुण्डल की जोड़ी दी। उन्हें लेकर प्रद्युम्नकुमार तेज से चमचमाता हुआ बाहर आया। उसे देखकर वज्रमुख आदि विद्याधरपुत्र ईर्ष्याग्नि से जल उठे। परस्पर कहने लगे - "अहो ! हम तो इसे मारने के लिए लाये, किन्तु यह तो मरता नहीं, प्रत्युत इसका बल, रूप और तेज बढ़ता जा रहा है। साथ ही इसे दिव्य वस्त्राभूषण भी भेंट में मिलते हैं।" वज्रमुख ने सबको आश्वासन देते हुए कहा - "तुम क्यों चिन्ता करते हो ? एक बार तो यह मरनेवाला है। यह मर जाएगा, तब इसे उपहार में मिली हुई सब वस्तुएँ अपने को ही मिलेगी।" यों कहकर वे आगे बढ़े।

छठा लाभ - मुकुट और माला : प्रद्युम्नकुमार को साथ में लेकर सभी विद्याधरपुत्र मेघाकार पर्वत पर पहुँचे। वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "इस पर्वत पर जो गुफा है, उसमें जो प्रवेश करेगा, उसे महान लाभ मिलेगा। अतः मैं जाता हूँ, उस गुफा में प्रवेश करने के लिए।" पहले की तरह प्रद्युम्नकुमार वज्रमुख की आज्ञा लेकर पर्वत के शिखर पर चढ़ा। वहाँ दो स्वर्णमय शिखर देखे। उनके नीचे गुफा थी। प्रद्युम्नकुमार ने चक्रवर्ती की तरह बहादुरी से उसमें प्रवेश किया।

प्रद्युम्नकुमार ने गुफा में पैर रखा कि उसके पैर की आवाज से वह गुफा का अधिष्ठायक देव कांप उठा। उसने मन में सोचा कि 'जिसके पैर के प्रहार से मैं कांप उठा, उसका बल कितना होगा ? उसके साथ मुठभेड़ करने में सार नहीं है।' यों जानकर देव ने प्रकट होकर स्वयं अपनी हार स्वीकार की। देव का नाम था - मर्कटदेव। मर्कटदेव ने प्रद्युम्नकुमार पर प्रसन्न होकर उसे एक दिव्य मुकुट और एक दिव्य माला भेंट दी, जिन्हें लेकर प्रद्युम्नकुमार हर्षित होकर बाहर आया।

सातवाँ लाभ - आकाशगामिनी पादुकाएँ : यों वैताढ्य पर्वत पर घूमते-घूमते और पर्वत का प्राकृतिक सौन्दर्य देखते-देखते वे सब आगे बढ़े। मार्ग में एक विशाल घटादार आम्रवृक्ष आया। उसे देखकर वज्रमुख ने कहा - "जो इस आम के पेड़ पर चढ़कर उसके फल खाएगा, उसे कभी बुढ़ापा नहीं आएगा। वह सदा जवान रहेगा। अतः मुझे कभी बुढ़ापा न आए, इसलिए मैं चढ़ता हूँ, इस आम्रवृक्ष पर।" तब प्रद्युम्न ने कहा - "भैया ! मेरी इच्छा है कि मैं सदा जवान रहूँ, इसलिए मुझे जाने दें।" तब वज्रमुख ने कहा - "भाई ! तू तो बहुत जबर्दस्त है। सब तुझे ही चाहिए। तू हमारा छोटा भाई है, और हमें बहुत प्यारा है, इसलिए तेरी सभी इच्छाएँ हम पूरी करते हैं। बाकी के सभी भाई इस वृक्ष पर चढ़ने के लिए तैयार हैं।" इस

पर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "भाइयों ! आप सब की कृपा है ।" कौन भाई जाने के लिए तैयार है, यह तो भगवान् जानें । अगर आसानी से सब कुछ मिल जाता तो प्रद्युम्नकुमार को कोई जाने न देता । वे (भाई) तो इसे मृत्यु के मुख में धकेलने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इसका पुण्य प्रबल है, इसलिए अनेक प्रकार की दिव्य वस्तुएँ प्राप्त करके जीवित बाहर आ जाता है । प्रद्युम्नकुमार ज्यों ही आम के वृक्ष पर चढ़ा, त्यों ही उस आम्रवृक्ष का अधिष्ठायक देव वन्दर के रूप में प्रकट हुआ । प्रद्युम्नकुमार ने उसे चूहे की तरह पकड़ लिया और बहुत मारा । तब उस देव ने कहा - "भाई ! तू जीता और मैं हारा, मुझे छोड़ दे ।"

बन्दर के रूप में आए हुए देव ने प्रद्युम्नकुमार पर प्रसन्न होकर उसे एक पादुका देते हुए कहा - "तू इस पादुका पर खड़ा रहकर जहाँ जाने का विचार करेगा कि वहाँ आकाशमार्ग से उड़कर जा सकेगा । तुझे फिर दूसरे किसी भी वाहन की जरूरत नहीं पड़ेगी ।" यों कहकर उस देव ने गगनगामिनी पादुका, मुकुट और हार आदि सब भेंट दिये । उन्हें लेकर वह आम्रवृक्ष से सहीसलामत नीचे उतर आया । इसे देखकर सभी विद्याधरपुत्रों को बहुत दुःख हुआ । अभी वे भाई प्रद्युम्नकुमार को कहाँ-कहाँ ले जाएँगे, प्रद्युम्नकुमार को वहाँ क्या-क्या लाभ होगा, वे सब भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - ७८

आसो सुदी १, शुक्रवार — ता. २४-९-७६

फूल शूल में सम रहो : बढ़ो लक्ष्य की ओर

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

आत्मा में निहित अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति को प्रकट करके जगत् के सर्व पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानने और देखनेवाले परम पवित्र भगवान् जिनेश्वरदेव भव्यजीवों को उपदेश देते हुए फरमाते हैं - "हे भव्यजीवों ! मोहनिद्रा से जागो और उठकर यह विचार करो - हे भव में भ्रान्त होकर भटकते हुए यात्री ! तू कहाँ से आया है और तुझे कहाँ जाना है ? तू अपने मार्ग को ढूंढ ले ।" यह जीवन एक यात्रा है और जीव यात्री है । यात्री अगर यात्रा न करे, चले नहीं, एक ही जगह बैठा रहे तो निश्चित किये हुए स्थान पर कदापि नहीं पहुँच सकता । जैसे धनुष्य से छूटा हुआ बाण सीधा अपने लक्ष्य में जाकर अटकता (रुकता) है । वैसे ही मनुष्य को भी

अपने निर्धारित (निश्चित) किए हुए स्थान पर पहुँचकर ही आराम करना चाहिए । यहाँ आराम करने का स्थान नहीं है । सच्चा यात्री दिनप्रतिदिन आगे बढ़ता है । सच्चा वीर यात्री वह है, जो अपने मार्ग में फूल बिछाये हुए हों, या कांटे, अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं होता । अपने परम पितामह भगवान् महावीरस्वामी जब आत्म-साधना करने निकले, तब उनकी साधना के मार्ग में कैसे-कैसे कष्ट और उपसर्गरूपी कांटे बिछे हुए थे, साथ ही प्रशंसा के फूल भी बिछे हुए थे, दोनों ही परिस्थितियों में समभाव रखकर भगवान् अपनी साधना में आगे से आगे बढ़ते रहे । अनेक अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग एवं परिषह आए, तो भी वीर-प्रभु चलायमान नहीं हुए । भक्तों की भक्ति उन्हें ललचा नहीं सकी, तथैव विरोधियों का विरोध उन्हें रोक नहीं सका । इन्द्र आकर उनके चरणों में पड़ा और स्तुति की तो हर्ष नहीं और संगमदेव ने आकर अनेक उपसर्ग किये, छह-छह महीनों तक उन्हें अनेक कष्ट दिये, फिर भी उसके प्रति लेशमात्र भी रोष नहीं । बस, साधना के पथ पर आगे बढ़ते जाना, यही उनके जीवन का लक्ष्य था ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

ऐसी ही बात अपने चालू अधिकार में आई है । अर्हन्नक श्रावक धन कमाने के लिए अनेक व्यापारियों के साथ जलपोत में बैठकर परदेश जा रहे हैं । समुद्र के मध्य में जब उनका वाहन आया, उस समय समुद्र में भयंकर उत्पात मच गया । यह उनकी परीक्षा की घड़ी थी । जबतक हीरा शान पर नहीं चढ़ता, तबतक उसका मूल्य नहीं मालूम होता, उसका प्रकाश बाहर नहीं आता । सोना अग्नि में नहीं पड़े, वहाँ तक वह शुद्ध नहीं होता और यह सोना है या पीतल, इसकी प्रतीति नहीं होती । इसी प्रकार जीवन में जबतक ऐसी कठोर कसौटी नहीं होती, तबतक यह सच्चा श्रावक है या डोलती ध्वजा जैसा है, इसकी प्रतीति नहीं होती । भगवान् महावीर के दश आदर्श श्रमणो-पासक हुए, उनकी प्रत्येक की कसौटी हुई और कसौटी में पास होने पर ही उनके नाम शास्त्र के पन्ने पर स्वर्णाक्षरों में अंकित हुआ ।

अर्हन्नक श्रावक भी ऐसा दृढ़धर्मी श्रावक है । उसके सामने भी भयानक रूप लेकर पिशाच आ रहा है । उसकी बीभत्स रूप देखकर अच्छे-अच्छे व्यक्तियों का कलेजा कांप उठता है । अगर कोई कच्चा-पोचा मनुष्य हो तो उसके प्राण-पखेरू वहीं के वहीं उड़ जाते हैं । जैसे प्रलयकाल (कल्पान्तकाल) का भयंकर पवन चलता है, तब सभी पर्वत चलायमान हो जाते हैं, किन्तु वह मेरु पर्वत को तो नहीं, उसके शिखर को भी चलायमान नहीं कर सकता । 'भक्तामर स्तोत्र' में कहा है –

"किंमन्दराद्रि-शिखरं चलितं कदाचित् ?" इसी तरह देव (पिशाच) द्वारा उत्पन्न किये हुए समुद्री-तूफान और पिशाच-लीला देखकर अर्हन्नक श्रावक का मन

चलायमान नहीं हुआ । वह गम्भीरतया बैठे रहे । नदियाँ कभी-कभी अपनी मर्यादा छोड़ देती है, मगर समुद्र मर्यादा नहीं छोड़ता । अर्हन्नक श्रावक सागर की तरह गम्भीर थे । उनके मन में जरा-सी भी खलबली नहीं हुई कि 'अरेरे ! यह पिशाच मार मार करता आ रहा है । अभी मुझे मार डालेगा । अब घर नहीं पहुँचा जा सकता । मेरी पत्नी और बच्चों का क्या होगा ?' ऐसा जरा-सा भी संकल्प-विकल्प मन में नहीं उठा । आफत के समय उन्हें घर-बार, पत्नी, पुत्र या पैसा वगैरह कुछ भी याद नहीं आया । सिर्फ एक (आत्म-) धर्म उनको याद आ रहा था । उनके मन में एक चिन्तन चला कि 'जिसका जन्म हुआ है, उसका एक दिन मरण अवश्य होनेवाला है । उसमें लेश मात्र भी परिवर्तन होनेवाला नहीं है । अतः मैं अपनी आत्मा की साधना कर लूं । मेरे मस्तक पर चाहे जैसी आफत आए, मैं उससे जरा भी भयभीत न होऊँ । ऐसी परिपक्व साधना कर लूं ।' अर्हन्नक का ऐसा चिन्तन था -

"हुं तो आ आपदाओने सदा उपहार मानुं छुं ।
कोई कांटा गणे दुःखने, हूं तो फूलहार मानुं छुं ॥"

अर्हन्नक श्रावक कहता है - "मेरे मस्तक पर जो भी संकट, आपदा या कष्ट आया है, उसे मैं उपहार मानता हूँ ।" कोई मनुष्य हमें कीमती भेंट देता है तो कितना आनन्द होता है ? वैसे ही कर्म के उदय के समय मुझ पर जो कष्ट पड़ता है, उसे मैं कर्मराजा की कीमती भेंट समझकर सहर्ष स्वीकार कर लेता हूँ । वह अंदर में विराजमान चैतन्य-देव से कहते हैं - "हे चेतनदेव ! कर्मक्षय करने का यह अमूल्य अवसर है । ऐसा अवसर पुनः नहीं मिलेगा ।" अतः अपनी श्रद्धा में दृढ़ रहना ।

बन्धुओं ! कतिपय मनुष्यों को जरा-सा कष्ट पड़ता है, जैसे कि पैर में कांटा चुभ जाने पर जैसा दुःख होता है, वैसा ही दुःख होता है । वे मुँह से बोलते हैं - "हे भगवान् ! मुझे ऐसा दुःख कहाँ से आया ? तेरी नजर में मैं ही आया हूँ ! दूसरा कोई तेरी नजर में नहीं आता ?" यों कहकर रोना-धोना शुरू कर देते हैं । वीतराग-प्रभु का श्रावक ऐसे शब्द नहीं बोलेगा । ऐसे शब्द बोलनेवाले की श्रद्धा में कमी है । श्रद्धावान् के मुख से कभी ऐसे शब्द नहीं निकल सकते । श्रद्धावान् श्रावक दुःख के समय क्या विचार करे ? 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है -

"अप्पा कत्ता विकत्ताय दुहाणय सुहाणय ।"

सुखों और दुखों को उत्पन्न करनेवाला अपना आत्मा है । कर्म का कर्ता आत्मा है और उसका भोक्ता भी आत्मा ही है । मेरे द्वारा किये हुए कर्मों के अनुसार मुझे सुख या दुःख मिला है । भगवान् किसी को सुख या दुख नहीं देते ।

अर्हन्नक श्रावक के मन में ऐसी श्रद्धा थी । इसी अपेक्षा से उन्होंने कहा - "यह दुःख मुझे कांटे जैसा नहीं लगता । मैं तो इसे फूल का हार मानकर वधा लेता हूँ, और इस आफत के समय मेरे कोई स्वजन, पत्नी-पुत्र आदि मेरे पास नहीं हैं,

इसका मुझे बिलकुल अफसोस नहीं है।'' इस संसार में (निश्चय दृष्टि से तो) कोई किसी का नहीं है। 'आचारांग सूत्र' में भगवान् ने कहा है -

"नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा।"

अर्थात् - ''तेरे पर आ पड़े दुःख के समय वे (तुम्हारे स्वजनादि) तुम्हे त्राण (रक्षण) या शरण देनेवाले नहीं हैं और तू भी उनके दुःख में त्राण या शरण देनेवाला नहीं है।'' अपने द्वारा बांधे हुए कर्मो का फल जीव को स्वयमेव भोगना पड़ता है। अतः ये (तथा कथित) स्वजन मेरे पास हों, या न हों, उसका अफसोस मुझे क्यों करना चाहिए ?

समाधिभाव में बैठे हुए अर्हन्नक श्रावक पिशाच के उपद्रव से जरा भी विचलित नहीं हुए। तब वह विकराल रूपधारी पिशाच जहाँ अर्हन्नक श्रावक बैठे थे, वहाँ आया। फिर भी उनका मन जरा भी क्षुब्ध नहीं हुआ कि यह तो मेरे एकदम निकट आ गया है। उन्होंने तो सागारी अनशन (संथारा) कर लिया था कि अगर मैं इस उपसर्ग (आये हुए कष्ट) से बच जाऊँगा तो आहार-पानी करूँगा और नहीं बचा तो मैं सब को वोसिरे-वोसिरे (व्युत्सर्जन-त्याग) करता हूँ। इस प्रकार वे समस्त झंझट और प्रपंच छोड़कर स्व (आत्मभाव) में लीन हो गए। अब उन्हें मृत्यु आए तो भी क्या चिन्ता ? किन्तु दृढ़ श्रद्धा ? कितना आत्मविश्वास ? वह पिशाच अर्हन्नक श्रावक के पास आया और आकर इस प्रकार कहने लगा -

"हं भो अरहन्नगा। अपत्थिय-पत्थिया। जाव दुरंत-पंत-लक्खणा, हीणपुण्ण - चाउद्दसिया ! सिरि-हिरि-धिइ-कित्ति) परिवज्जिया !"

''अरे अर्हन्नक ! अप्रार्थित - मौत की प्रार्थना (इच्छा) करनेवाले, यावत् हे, दुरन्त-प्रान्त-लक्षण (कुलक्षणी), हे हीन-पुण्या (अभागिनी) काली चौंदस के जन्मे ! हे लज्जा, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी से परिवर्जित ! हे कुलकलंकित !'' इस प्रकार क्रोध से धमधमाता हुआ पिशाच अत्यन्त कठोर और मर्मस्पर्शी शब्द बोलने लगा। ऐसे हृदय -भेदक शब्द जोर-जोर से बोलने लगा कि ''अरे ! तेरी सारी कीर्ति धूल में मिल गई है। अरे मृत्यु को चाहनेवाले ! अरे काली चौंदस को जन्मे हुए पुण्यहीन !'' आदि। फिर भी गम्भीर पुरुष (अर्हन्नक) समभाव से सहन करता है। ऐसे तमतमाते कठोर अपशब्द कहने पर भी जब अर्हन्नक श्रावक ने कुछ भी जवाब नहीं दिया, तब पुनः उन्हें उकसाने के लिए पिशाच बोला - ''अरे अभागे ! पुण्यहीन ! मेरे सामने देख। मैं जो तुझे कहना चाहता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुन।'' यों उत्तेजित करके पिशाच कहता है -

"णो खलु कप्पइ तव सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण - पोसहोववासाइं चालित्तए वा एवं खोभेत्तए वा, खंडित्तए वा, भंजित्तए वा, उज्झित्तए वा, परिच्चइत्तए वा।''

हे अर्हन्नक ! तुमने जो पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यों बारह व्रतों (में विरति का प्रकार) का अंगीकार किया है, उसका पालन करते हो, तुमने मिथ्यात्व से निवृत्ति (उसका निवारण) करके सम्यक्त्व का अंगीकार किया है। नवकारसी आदि का, तथा दूज, पाँचम, आठम, ग्यारस, चौदस या पूनम (पक्खी) यों महीने में दस तिथियों को हरी वनस्पति (लिलोती) का त्याग - प्रत्याख्यान किया है, तथा पर्व दिवसों में पौष-धोपवास करते हो, इन सबसे चलायमान होना, (अर्थात् - जिस भोगे से जो व्रत ग्रहण किया है, उसे बदलकर दूसरे भोगे से कर लेना), क्षोभयुक्त होना यानी इस व्रत को इस प्रकार पालूं या त्याग दूं, ऐसा सोचकर क्षुब्ध होना, एक देश से खण्डित करना; पूरी तरह व्रत-नियम का भंग करना, देशविरति का सर्वथा त्याग करना अथवा सम्यक्त्व आदि का परित्याग करना तुम्हें नहीं कल्पता; परन्तु अगर तुझे सुख से जीवित रहना हो, सहीसलामत वापस घर पहुँचना हो, सुखी होना हो तो तू स्वयं समझकर तेरे द्वारा अंगीकार किये हुए इन व्रत, नियम, शील, गुण आदि का परित्याग कर दे, सर्वथा छोड़ दे।" फिर उसे धमकी देते हुए कहा -

"जइणं तुमं सीलव्वयं जाव ण परिच्चयसि, तो ते अहं एयं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाहिं गेण्हामि।"

"अगर तुम स्वयं शील, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि का परित्याग नहीं करते हो तो मैं तुम्हारे इस पोतवाहन (जलयान) को दो अंगुलियों (अर्थात् - तर्जनी और मध्यमा इन दो अंगुलियों) से पकड़कर उठा लूंगा। यद्यपि दो अंगुलियों पर हजारों मन वजनवाले वाहन को उठाने की देव में ताकत है, किन्तु अगर मनुष्य अपने व्रत, नियम आदि पर सुदृढ (डटा) रहे तो उसके व्रतादि को जबरन तुड़वाने की देव में ताकत नहीं है। कहिए, व्रत, नियम में कितनी शक्ति रही हुई है ? द्वारिका नगरी का विनाश - दहन करके विनष्ट करने के लिए नियाणा करके अग्निकुमार के रूप में उत्पन्न (द्वेपायन ऋषि) देव उद्यत था, किन्तु जबतक द्वारिका नगरी में आयम्बिल आदि तप, व्रत, प्रत्याख्यान चलता रहा, तबतक वह अग्निकुमार देव द्वारिका नगरी को जला नहीं सका। इसी प्रकार पिशाचदेव अर्हन्नक श्रावक को चाहे जितना कष्ट दे सकता है, परन्तु उनके गृहीत व्रत-नियमों आदि को तुड़वाने या छुड़वाने में समर्थ नहीं है। इस लिए पिशाच के रूप में आया हुआ देव कहता है - 'अगर तुम व्रत-नियमादि का स्वेच्छा से परित्याग नहीं कर दोगे, तो मैं तुम्हारे वाहन (जलयान) को दो अंगुलियों से पकड़कर ऊँचा उठा लूंगा और फिर क्या करूँगा, यह भी सुन लो-

"गिण्हित्ता सत्तट्ठ-ताल-प्पमाण-मेत्ताइं उड्ढं वेहा से उव्विहामि, उव्विहित्ता अंतोजलंसि णिव्वोलेमि।"

उन सब के चेहरे श्याह हो गए, यानी वे सब काले कर्म करने की दुष्ट बुद्धि के कारण उनकी बुद्धि पर अज्ञान का काला पर्दा पड़ गया । उनकी दुष्ट बुद्धि अभी तक नहीं सुधरी । 'हारा जुआरी दुगुना दाव लगाकर खेलता है ।' इस कहावत के अनुसार अब भी प्रद्युम्नकुमार को मार डालने के लिए आगे चलते जा रहे हैं ।

नौवाँ लाभ - दिव्य मुद्रिका : आगे चलते-चलते एक पर्वत का शिखर आया । उस पर्वत के शिखर पर बहुत-से सर्प थे । वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "जो व्यक्ति इस शिखर की गुफा में जाएगा, उसे बड़ा राज्य प्राप्त होगा । अतः मैं जाता हूँ ।" यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "हम सब कहाँ अलग-अलग हैं ? मुझे राज्य मिलेगा, वह आप सब भाइयों का ही है न ? आपको कोई आपत्ति न हो तो मुझे जाने दीजिए ।" भाई की आज्ञा प्राप्त होते ही प्रद्युम्नकुमार गुफा में गया कि तुरंत गुफा का अधिष्ठायक सर्प (देव) आया । प्रद्युम्नकुमार ने उसे डोरी की तरह पकड़कर गोल-गोल घुमाया, इसलिए सांप का जोर नहीं चला । वह हार गया । अतः प्रसन्न होकर प्रद्युम्नकुमार को एक दिव्य मुद्रिका देते हुए कहा - "इस मुद्रिका के प्रभाव से तुझे कभी सांप, बिच्छू वगैरह जहरीले जन्तु नहीं काटेंगे ।" प्रद्युम्नकुमार उन दिव्य मुद्रिका को लेकर प्रसन्नतापूर्वक गुफा में से बाहर आया । उसे देखकर विद्याधरपुत्र उदास हो गए । इतना होने पर भी वे प्रद्युम्न को लेकर आगे चले ।

दशवाँ लाभ - कण्ठहार और कंदौरा : प्रद्युम्नकुमार को लेकर वज्रमुख आदि कुमार शराल पर्वत पर गए । वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "मैंने यह सुना है कि जो व्यक्ति इस पर्वत के शिखर पर चढ़ेगा, उसे विद्याधरों की पूर्ण लक्ष्मी मिलेगी, इसलिए मैं लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए शिखर पर जाता हूँ ।" यों कहकर ज्योंहि वह जाने के लिए तैयार हुआ, त्यों ही प्रद्युम्नकुमार ने उससे जाने की आज्ञा मांगी । अतः वज्रमुख ने तुरंत ही आज्ञा दे दी । इसलिए प्रद्युम्नकुमार पलभर में शिखर पर चढ़ गया । इस कारण उस पर्वत का रक्षकदेव प्रकट होकर प्रद्युम्नकुमार को मारने के लिए आया । किन्तु प्रद्युम्नकुमार छोटे पिल्ले की तरह पकड़कर उसे ऊपर उछालने लगा । इस कारण बिना लड़े ही वह देव हार गया । फिर उसने क्या उपहार दिया ?

> **दश में श्रावता गिरि के सुर ने, कटि-सूत्र श्रीकार ।**
> **कडेकेयूर कण्ठका भूषण, दीनी वस्तु उदार हो ॥ श्रोता...**

पर्वत का अधिष्ठाता देव प्रद्युम्न के बल और पराक्रम को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और प्रद्युम्नकुमार को एक दिव्य हार, एक कण्ठ में पहनने का आभूषण तथा एक कमर में पहनने का कंदौरा (कटिसूत्र) वगैरह चीजें देकर कहा - "मैं आज से तुम्हारा मित्र हूँ । तुम्हें जब भी जरूरत पड़े तो मुझे याद करना, मैं आकर उपस्थित हो जाऊँगा ।" इन सब आभूषणों को लेकर प्रद्युम्नकुमार शिखर पर से नीचे उतरा ।

वहाँ दिव्य बावड़ी और अग्निकुण्ड में स्नान करने से प्रद्युम्नकुमार का रूप अधिकाधिक चमकने लगा । उसने दिव्य आभूषण पहन रखे थे, उनसे ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो उसके सामने देवों का तेज भी फिका पड़ जाए । यह तो सभी भाइयों के पास पहुँच गया । इसके मन में अपार आनन्द था, जबकि इन भाइयों के मन में अपार शोक था । ये सब अग्नि के बिना ही (ईर्ष्या से) जल रहे हैं । फिर भी इनके हृदय में ऐसी हिम्मत है कि हम किसी भी तरह से प्रद्युम्नकुमार को मारकर ही दम लेंगे । वज्रमुख अपने भाइयों से बोला - "अभी भी ऐसे भय से परिपूर्ण दूसरे छह स्थान बाकी हैं । अतः चिन्ता मत करो ।"

ग्यारहवाँ लाभ - पुष्प-धनुष्य और जयशंख : अब प्रद्युम्नकुमार को साथ में लेकर विद्याधरपुत्र आगे बढ़े । वहाँ एक शूकराकार पर्वत आया । वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "जो मनुष्य इस पर्वत पर जाएगा, वह बड़ा राजा बनेगा ।" अतः प्रद्युम्नकुमार शूकराकार पर्वत पर चढ़ गया । शूकराकार पर्वत पर जाकर उसने सर्वप्रथम पर्वत-रक्षक शूकरमुख नामक देव को हराया । अतः देव ने उस पर प्रसन्न होकर उसे एक पुष्प-धनुष्य और दूसरा जय नामक शंख दिया और कहा कि "यह धनुष्य तेरे पास रखना । यह धनुष्य जबतक तेरे पास होगा, तबतक दूसरा कोई मनुष्य तेरे सामने धनुष्य नहीं छोड़ सकेगा । और जय शंख तू फूंकेगा, तब तेरे दुश्मन भाग जायेंगे ।" अतः प्रद्युम्नकुमार धनुष्य और शंख लेकर वह विद्याधरपुत्रों के पास आया । वहाँ उन भाइयों ने मन ही मन सोचा - 'हम तो इसे मार डालने के लिए लाये हैं, परन्तु यह तो हरबार जीता-जागता बाहर आ जाता है । समझ में नहीं आता कि अब इसके लिए क्या किया जाए ?' वज्रमुख सबको आश्वासन देते हुए कहता है - "मैं साहस-पूर्वक कहता हूँ कि अभी इनसे भी कई विषम गुफाएँ और जंगल बाकी हैं, जहाँ यह जीवित नहीं रह सकेगा, मर जाएगा, इसलिए आगे चलो इसे लेकर ।"

बारहवाँ लाभ - तीन विद्याएँ, हार और कन्या : वहाँ से वे विद्याधरपुत्र घूमते-घूमते एक कमलवन के पास पहुँचे । वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "जो इस कमलवन में जाता है, वह बहुत-सी सिद्धियाँ प्राप्त करके आता है ।" अतः शूरवीर प्रद्युम्नकुमार उस कमलवन में गया । वहाँ जाकर उसने क्या किया ?

कमलवन में उसने देखा कि एक विद्याधर मजबूत बंधन से बांधा हुआ है । दयालु प्रद्युम्नकुमार ने उसके पास जाकर पूछा - "भाई ! तुम्हें इस जंगल में किसने बांधा है ?" तब उसने कहा - "भाई ! वसंत नाम के एक विद्याधर ने पूर्व के वैर के कारण मुझे यहाँ बांधा है । मेरा नाम मनोजय विद्याधर है । वसंत-विद्याधर अभी कहीं गया है । वह मुझे मार डालेगा । तुम्हारे पास से मैं अभयदान मांगता हूँ ।" प्रद्युम्नकुमार ने तुरंत उसे बन्धनमुक्त कर दिया । अतः बन्धनमुक्त हुआ विद्याधर

उन सब के चेहरे श्याह हो गए, यानी वे सब काले कर्म करने की दुष्ट बुद्धि के कारण उनकी बुद्धि पर अज्ञान का काला पर्दा पड़ गया। उनकी दुष्ट बुद्धि अभी तक नहीं सुधरी। 'हारा जुआरी दुगुना दाव लगाकर खेलता है।' इस कहावत के अनुसार अब भी प्रद्युम्नकुमार को मार डालने के लिए आगे चलते जा रहे हैं।

नौवाँ लाभ - दिव्य मुद्रिका : आगे चलते-चलते एक पर्वत का शिखर आया। उस पर्वत के शिखर पर बहुत-से सर्प थे। वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "जो व्यक्ति इस शिखर की गुफा में जाएगा, उसे बड़ा राज्य प्राप्त होगा। अतः मैं जाता हूँ।" यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "हम सब कहाँ अलग-अलग हैं ? मुझे राज्य मिलेगा, वह आप सब भाइयों का ही है न ? आपको कोई आपत्ति न हो तो मुझे जाने दीजिए।" भाई की आज्ञा प्राप्त होते ही प्रद्युम्नकुमार गुफा में गया कि तुरंत गुफा का अधिष्ठायक सर्प (देव) आया। प्रद्युम्नकुमार ने उसे डोरी की तरह पकड़कर गोल-गोल घुमाया, इसलिए सांप का जोर नहीं चला। वह हार गया। अतः प्रसन्न होकर प्रद्युम्नकुमार को एक दिव्य मुद्रिका देते हुए कहा - "इस मुद्रिका के प्रभाव से तुझे कभी सांप, बिच्छू वगैरह जहरीले जन्तु नहीं काटेंगे।" प्रद्युम्नकुमार उस दिव्य मुद्रिका को लेकर प्रसन्नतापूर्वक गुफा में से बाहर आया। उसे देखकर विद्याधरपुत्र उदास हो गए। इतना होने पर भी वे प्रद्युम्न को लेकर आगे चले।

दसवाँ लाभ - कण्ठहार और कंदौरा : प्रद्युम्नकुमार को लेकर वज्रमुख आदि कुमार शराल पर्वत पर गए। वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "मैंने यह सुना है कि जो व्यक्ति इस पर्वत के शिखर पर चढ़ेगा, उसे विद्याधरों की पूर्ण लक्ष्मी मिलेगी, इसलिए मैं लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए शिखर पर जाता हूँ।" यों कहकर ज्योंहि वह जाने के लिए तैयार हुआ, त्यों ही प्रद्युम्नकुमार ने उससे जाने की आज्ञा मांगी। अतः वज्रमुख ने तुरंत ही आज्ञा दे दी। इसलिए प्रद्युम्नकुमार पलभर में शिखर पर चढ़ गया। इस कारण उस पर्वत का रक्षकदेव प्रकट होकर प्रद्युम्नकुमार को मारने के लिए आया। किन्तु प्रद्युम्नकुमार छोटे पिल्ले की तरह पकड़कर उसे ऊपर उछालने लगा। इस कारण बिना लड़े ही वह देव हार गया। फिर उसने क्या उपहार दिया ?

दश में भावता गिरि के सुर ने, कटि-सूत्र श्रीकार।
कडेकेचूर कण्ठका भूषण, दीनी वस्तु उदार हो ॥ श्रोता...

पर्वत का अधिष्ठाता देव प्रद्युम्न के बल और पराक्रम को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और प्रद्युम्नकुमार को एक दिव्य हार, एक कण्ठ में पहनने का आभूषण तथा एक कमर में पहनने का कंदौरा (कटिसूत्र) वगैरह चीजें देकर कहा - "मैं आज से तुम्हारा मित्र हूँ। तुम्हें जब भी जरूरत पड़े तो मुझे याद करना, मैं आकर उपस्थित हो जाऊँगा।" इन सब आभूषणों को लेकर प्रद्युम्नकुमार शिखर पर से नीचे उतरा।

वहाँ दिव्य बावड़ी और अग्निकुण्ड में स्नान करने से प्रद्युम्नकुमार का रूप अधिकाधिक चमकने लगा । उसने दिव्य आभूषण पहन रखे थे, उनसे ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो उसके सामने देवों का तेज भी फिका पड़ जाए । यह तो सभी भाइयों के पास पहुँच गया । इसके मन में अपार आनन्द था, जबकि इन भाइयों के मन में अपार शोक था । ये सब अग्नि के बिना ही (ईर्ष्या से) जल रहे हैं । फिर भी इनके हृदय में ऐसी हिम्मत है कि हम किसी भी तरह से प्रद्युम्नकुमार को मारकर ही दम लेंगे । वज्रमुख अपने भाइयों से बोला - "अभी भी ऐसे भय से परिपूर्ण दूसरे छह स्थान बाकी हैं । अतः चिन्ता मत करो ।"

ग्यारहवाँ लाभ - पुष्प-धनुष्य और जयशंख : अब प्रद्युम्नकुमार को साथ में लेकर विद्याधरपुत्र आगे बढ़े । वहाँ एक शूकराकार पर्वत आया । वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "जो मनुष्य इस पर्वत पर जाएगा, वह बड़ा राजा बनेगा ।" अतः प्रद्युम्नकुमार शूकराकार पर्वत पर चढ़ गया । शूकराकार पर्वत पर जाकर उसने सर्वप्रथम पर्वत-रक्षक शूकरमुख नामक देव को हराया । अतः देव ने उस पर प्रसन्न होकर उसे एक पुष्प-धनुष्य और दूसरा जय नामक शंख दिया और कहा कि "यह धनुष्य तेरे पास रखना । यह धनुष्य जबतक तेरे पास होगा, तबतक दूसरा कोई मनुष्य तेरे सामने धनुष्य नहीं छोड़ सकेगा । और जय शंख तू फूंकेगा, तब तेरे दुश्मन भाग जायेंगे ।" अतः प्रद्युम्नकुमार धनुष्य और शंख लेकर वह विद्याधरपुत्रों के पास आया । वहाँ उन भाइयों ने मन ही मन सोचा - 'हम तो इसे मार डालने के लिए लाये हैं, परन्तु यह तो हरबार जीता-जागता बाहर आ जाता है । समझ में नहीं आता कि अब इसके लिए क्या किया जाए ?' वज्रमुख सबको आश्वासन देते हुए कहता है - "मैं साहस-पूर्वक कहता हूँ कि अभी इनसे भी कई विषम गुफाएँ और जंगल बाकी हैं, जहाँ यह जीवित नहीं रह सकेगा, मर जाएगा, इसलिए आगे चलो इसे लेकर ।"

बारहवाँ लाभ - तीन विद्याएँ, हार और कन्या : वहाँ से वे विद्याधरपुत्र घूमते-घूमते एक कमलवन के पास पहुँचे । वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "जो इस कमलवन में जाता है, वह बहुत-सी सिद्धियाँ प्राप्त करके आता है ।" अतः शूरवीर प्रद्युम्नकुमार उस कमलवन में गया । वहाँ जाकर उसने क्या किया ?

कमलवन में उसने देखा कि एक विद्याधर मजबूत बंधन से बांधा हुआ है । दयालु प्रद्युम्नकुमार ने उसके पास जाकर पूछा - "भाई ! तुम्हें इस जंगल में किसने बांधा है ?" तब उसने कहा - "भाई ! वसंत नाम के एक विद्याधर ने पूर्व के वैर के कारण मुझे यहाँ बांधा है । मेरा नाम मनोजय विद्याधर है । वसंत-विद्याधर अभी कहीं गया है । वह मुझे मार डालेगा । तुम्हारे पास से मैं अभयदान मांगता हूँ ।" प्रद्युम्नकुमार ने तुरंत उसे बन्धनमुक्त कर दिया । अतः बन्धनमुक्त हुआ विद्याधर

दौड़ता-दौड़ता स्वयं को बाधनेवाले वसंत विद्याधर को प्रद्युम्नकुमार के पास ले आया। प्रद्युम्नकुमार ने उस वसंत विद्याधर को बहुत समझाया। फलतः वह मनोजय विद्याधर के साथ जो उसका बैर-विरोध था, वह शान्त हो गया। प्रद्युम्नकुमार का पुण्य इतना प्रबल है कि इसे देखकर क्रोधियों का क्रोध शान्त हो जाता है, मानियों का मान नष्ट हो जाता है, मायावी उसके सरल हो जाते हैं और लोभी उदार वन जाते हैं। वसंत और मनोजय दोनों विद्याधरों में परस्पर मैत्री हो गई। फलतः दोनों विद्याधरों ने प्रद्युम्नकुमार पर प्रसन्न होकर उसे एक मनोहर हार, इन्द्रजाल विद्या तथा दूसरी दो विद्याएँ, यों कुल चार विद्याएँ प्रदान की। वसंत विद्याधर ने अपनी अत्यन्त सौन्दर्यवती पुत्री का उसके साथ पाणिग्रहण कर दिया। इन सबको लेकर प्रद्युम्नकुमार कमलवन से बाहर आकर अपने भाइयों से मिला।

तेरहवाँ लाभ - विविध धनुष्य और बाण : अब वे सब आगे चल पड़े। रास्ते में एक कालवन आया। वज्रमुख ने कहा - "इस वन में जो जाता है, वह यमसदन में पहुँच जाता है।" अतः वज्रमुख आदि विद्याधरपुत्र परस्पर गुप्तरूप में बातचीत करने लगे कि 'यहाँ उसको कोई सहायता करनेवाला नहीं मिलेगा। यह सब जगह जीतकर जिंदा आ गया है, परन्तु यहाँ से जीवित नहीं आ सकेगा। यह मर जाएगा, तब ये सब चीजें हमें मिल जाएँगी।' यों विचार करके वज्रमुख ने कहा - "इस वन में जो जाता है, वह अमर बन जाता है। अतः इसके लिए मैं जाता हूँ। प्रद्युम्नकुमार ने उसे रोका और स्वयं कालवन में गया। कालवन में जाकर प्रद्युम्नकुमार ने वहाँ वनरक्षक दैत्य के साथ युद्ध करके उसे हरा दिया। उसके पराक्रम से प्रसन्न होकर दैत्य ने उसे धनुष्य और बाण दिये। उन बाणों के नाम थे - उत्पादन, शोषण, तापन, मदन और मोहन! इन पाँच बाणों के प्रभाव से प्रद्युम्नकुमार सही माने में मदन-कामदेव बन गया। इस प्रकार कालवन में अपने पुण्य के प्रभाव से प्रद्युम्नकुमार तेरहवाँ अलभ्य लाभ प्राप्त करके कालवन से बाहर आया। इसे देखकर सबके चेहरे फीके पड़ गए। सभी कहने लगे - "यह किस जाति का मानव है? किसी भी उपाय से यह मरता नहीं है। यह तो काल को भी कवलित कर लेता है। अब क्या करना?" इसी पशोपेश में एक भाई ने कहा - "अभी भीमगुफा बाकी है।" यों कहकर सभी आगे बढ़े। अब वे सब भीमगुफा में जाएँगे। वहाँ क्या होगा, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

तपस्वियों को धन्यवाद : आज एक १५ वर्ष की बहन स्मिता के ३२ उपवास का पारणा है। अपने यहाँ घाटकोपर के वर्तमान चातुर्मास में ऐसी छोटी बालिकाओं सहित १४ मासखमण हुए हैं। धन्य है, ऐसे महान तपस्वियों को! तपस्या करनेवालों को बहुत-बहुत धन्यवाद!

व्याख्यान - ७१

आसो सुदी २, शनिवार ता. २५-९-७६

ज्ञानाचार की चाबी से खुले मुक्ति का द्वार

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

जगत् के समस्त जीवों को आत्मोन्नति और आत्मकल्याण का सुपथ बतानेवाले परम कृपानिधि वीतराग-प्रभु ने हमारे सामने अध्यात्म का सुन्दर आदर्श उपस्थित करके, वीतराग-दशा प्राप्त करने के लिए अपनी अमृतवाणी का प्रकाश किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम साधन हैं। इनमें रमणता प्राप्त करो। पुत्र, परिवार और पैसे पर रमणता, यानी ममता, यह परभावों में रमणता है। कल्पित सुख के लिए सांसारिक जीव प्रमाद में पड़कर बार-बार इन्द्रिय-विषयों में लुब्ध और मोहान्ध बनता है। विषयों के प्रति आसक्ति, ममता और रागान्धता जीव को भवाटवी, (संसार के गहन वन) में भटकाती है और बार-बार भ्रमण कराती है। विषयों में आसक्त रहनेवाले मानव के लिए मोक्ष बहुत दूर और दुर्लभ है। जैसे एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, क्योंकि ये परस्पर विरोधी हैं। विरागभाव और रागभाव दोनों एक जगह रहने पर भी इनमें विरागभाव की प्रबलता होनी चाहिए। वीतरागभाव ही परम सुख, मोक्षानन्द का मुख्य कारण है। मानवभव का महामूल्यवान् अवसर मिला है, वीतरागभाव को प्राप्त करने के लिए। जहाँ तक इस प्रकार का सच्चे जीवन की चाबी नहीं मिलेगी, वहाँ तक मोक्षमार्ग के द्वार नहीं खुलेंगे।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

आपके समक्ष अर्हन्नक श्रावक की बात चल रही है। वह व्रती श्रावक और नौतत्त्व के ज्ञाता थे। उन्होंने एक ही विचार किया कि 'जब और तब यह नश्वर शरीर छूटने ही वाला है। देह छूटने से मेरा (आत्मा का) कुछ भी छूटनेवाला नहीं है। जो मेरा है, वह मेरे साथ ही रहनेवाला है। यह पिशाच रूपधारी देव चाहे जितना धमपछाड़ा करे, और मुझे चाहे जितना सताए, ऐसा करके मेरी आत्मा के एक प्रदेश को भी खण्डित करने की उसमें शक्ति नहीं है। मेरा शरीर तो विनाशी है। आत्मा अविनाशी है। यह विनाशी शरीर का नाश कर सकता है, अविनाशी आत्मा का नहीं। इस जगत् में जितने भी महापुरुष हो गए, प्रत्येक की कसौटी हुई है, फिर भी कसौटी के समय वे जरा

भी विचलित नहीं हुए । तो मेरी भी आज कसौटी है । हे चेतन ! देखना, कसौटी के समय जरा भी चलायमान नहीं होना । मेरु पर्वत के समान अडोल रहना ।' ऐसा विचार करके समाधिभाव में स्थिर रहते हुए वह वाहन (जलयान) के एक भाग में स्थान का परिमार्जन करके अपना आसन विछाकर सागरी संथारा करके बैठे हैं । उक्त पिशाचरूपधारी देव उनके पास आकर कहने लगा – "ओ अर्हन्नक ! तूने जो बारहव्रत, प्रत्याख्यानादि अंगीकार किये हैं, उन्हें तोड़ना, भंग करना, खण्डित करना अथवा त्याग करना तेरे लिए कल्पनीय नहीं है । किन्तु यदि तू तेरे द्वारा अंगीकार किये हुए इन व्रत-नियम-प्रत्याख्यानादि का त्याग नहीं करेगा तो मैं दो अंगुलियों से इस वाहन (जलयान) को पकड़कर सात-आठ ताल जितना ऊँचा उठाकर आकाश में उछालकर पानी में डुबा दूंगा । फिर तेरी क्या हालत होगी ? सुन ले –

"जेणं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे असमाहिपत्ते अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जासि ।"

जब मैं तेरे वाहन (जलयान) को दो अंगुलियों से उठाकर आकाश में उछालकर पानी में डुबा दूंगा, तब आर्तध्यान और दुर्घट रौद्रध्यान के वश होकर तू पीड़ित हो जाएगा, तू चित्त में असमाधि को प्राप्त होगा, और अकाल में ही आयुष्य पूरा होने से मृत्यु को प्राप्त होगा, यानी जीवन से रहित हो जाएगा ।"

देवानुप्रियों ! पिशाच के रूप में देव ने अर्हन्नक को कैसी धमकी दी और भयजनक स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया ! इस प्रकार अर्हन्नक की कैसी कठोर परीक्षा थी ? यह परीक्षा जैसी-तैसी नहीं थी, परन्तु दृढ़धर्मी श्रावक की चाहे जितनी कसौटी हो, मौत के मुख में धकेले जाने का अवसर आए, तो भी वह अपनी धर्मश्रद्धा से चलित नहीं होता । उलटे, वह अपनी श्रद्धा में आगे बढ़ता जाता है ।

जो श्रावक या साधु पावन-पथ = मोक्ष-पथ का प्रवासी हो, उसकी वीतराग-वचनों पर दृढ़ श्रद्धा होती है । उसकी अर्हन्नक श्रावक जैसी कसौटी हो, अरे ! उससे भी कठोर कसौटी हो, तो भी वह शान्ति और धैर्य से सहकर कसौटी में पास हो जाता है, पीछे नहीं हटता । उसकी श्रद्धा का तेज फीका नहीं पड़ता । कदाचित् कोई उसे धर्म छोड़ने के प्रलोभन दे अथवा उस पर प्रहार करे, तो वह धर्म को नहीं छोड़ता । अर्हन्नक श्रावक को पिशाच ने कहा – "हे अर्हन्नक ! मुझे तुम पर दया आ रही है, इसलिए मैं तुझे इस संकट से बचने का उपाय बताता हूँ । अगर तुम्हें सुख से जीना हो तो, इन गृहीत व्रत-नियमों का त्याग कर दो ।" यह सुनकर अर्हन्नक के एक रोम में भी भय और प्रलोभन से बचने का विचार तक न आया । वह शान्त होकर ठंडे कलेजे से बैठे रहे । उनके एक अणु में भी भय प्रविष्ट नहीं हुआ । पिशाच के सभी उद्‌गार शान्त चित्त से सुने, किन्तु उसके विरोध में कोई उत्तर नहीं दिया । कष्ट आए, कष्ट पड़े, तब धर्म न चूके, हृदय न झुके और कदम न रूके, इसीका नाम दृढ़धर्मी ।

दृढ़धर्मी व्यक्ति उत्कृष्ट रसायनपूर्वक ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना करे तो अजर, अमर एवं मुक्त हो सकता है ।

जैसे शास्त्र में अर्हन्नक श्रावक की दृढ़धर्मिता की बात बताई है, वैसे सैद्धान्तिक और धार्मिक क्षेत्र में दृढ़धर्मिता के कई ऐतिहासिक उदाहरण भी मिलते हैं । वर्षो पहले की एक घटना है । एक सेठ थे । वह धन कमाने के लिए परदेश में व्यापार करने गए । पुण्योदय से परदेश में उन्होंने अपना व्यापार बहुत ही न्याय-नीतिपूर्वक किया । जिसमें अच्छी कमाई हुई । अतः वहाँ से एक नौका में अपना सारा सामान, नगद रकम तथा आभूषण आदि रखकर उसमें बैठकर रवाना हुए, किन्तु दुर्दैव से बीच समुद्र में सहसा एकाएक तूफान उठा । वह नौका तड़तड़ करके टूटने लगी । ऐसे संकट के समय सेठ की वीतराग-प्रभु के प्रति श्रद्धा अत्यन्त दृढ़ है । अन्त में नौका जब पूरी तरह से टूट गई । तब सेठ के हाथ में लकड़ी का एक पाटिया आ गया । सेठ उसके सहारे जीवित रह गए । पाटिया के सहारे सेठ समुद्र पार करके किनारे आ गए । सबकुछ चला गया, किन्तु सेठ बच गए । यह था धर्म का प्रभाव ! सेठ अपने घर आए । लोग उनसे मिलने आए और अपनी सहानुभूति प्रकट करते हुए कहने लगे - "अरर सेठ ! आपका सब चला गया !" इसे सुनकर सेठ कहते हैं - "मेरे भाइयों ! मेरा कुछ नहीं गया । धन तो आज है, कल नहीं, यह तो नाशवान चीज है, परन्तु मैं धर्म के प्रताप से सुरक्षित बच गया । ऐसे भयंकर समुद्रीय तूफान के चलते मैं जीवित रहा हूँ, इसलिए मैं धर्माचरण कर सकूँगा । मैं जीवित रहा हूँ - यह मेरे नवकारमंत्र का प्रभाव है ।" सेठ की धर्म पर अटल श्रद्धा देखकर सब विस्मित हो गए । सेठ के मन में धन की अपेक्षा धर्म की कीमत अधिक थी और उसीके प्रभाव से वह बच गए । धर्म ही सच्चा धन है । (पू. महासतीजी ने श्रद्धा पर बहुत विस्तार से कहा था, किन्तु उसे संक्षेप में नोट किया था ।)

हाँ तो, उस सेठ के शब्द सुनकर नगरजनों की आँख में अश्रु छलक उठे - "अहा ! कितनी श्रद्धा है इस सेठ की धर्म पर ? इतना धन चला गया, फिर भी मुखपर विषाद नहीं, दुःख का नाम नहीं । सेठ के धर्म के वचन सुनकर कितने ही मनुष्य धर्म के प्रति श्रद्धावान बने । सेठ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगे । भगवान के श्रावक धर्म में ऐसे दृढ़ होने चाहिए ।

पिशाच को अर्हन्नक श्रावक ने मन से क्या कहा ? : *"तएणं से अरहन्नए समणोवासए तं देवं मणसा चेव एवं वयासी - अहंणं देवाणुप्पिया ! अरहन्नए णामं समणोवासए अहिगय-जीवाजीवे...।"*

तब अर्हन्नक श्रमणोपासक ने उस देव को इस प्रकार कहा - "देवानुप्रिय ! मैं अर्हन्नक नामक श्रमणोपासक हूँ । मैं जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नौ तत्त्वों का जानकार हूँ, मैं इनका ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, मैं

इन्हे यथायोग्य हेय-ज्ञेय-उपादेय रूप से जानता हूँ। मुझे कुछ ऐसा-वैसा अज्ञानी या कायर मत समझना। तुम मुझे कदाचित् पहचानते नहीं हो। इसलिए मुझे मृत्यु का भय बताकर धर्म से च्युत करना चाहते हो। परन्तु तुम्हारे द्वारा डराने, सताने या लालच बताने से मैं डर जाऊँ या ललचा जाऊँ ऐसा नहीं हूँ। मैं सिंहनी का जाया सिंह-सम शूरवीर हूँ। मैं वीतराग भगवान का उपासक, सच्चा श्रावक हूँ, कायर या दूर्वल नहीं हूँ।

नो खलु अहं सक्को केणइ देवेण वा जाव निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा, खोभेत्तए वा विपरिणामित्तए वा, तुमं णं जा सद्धा तं करेहि।

निश्चय ही किसी भी देव, दानव, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व आदि देव या देवी में मेरे निर्ग्रन्थ-प्रवचन से मुझे विचलित कर सकने की शक्ति नहीं है। कोई देवादि मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन से क्षुब्ध नहीं कर सकता, न ही संशय उत्पन्न करके मुझे उसमें शंकाशील बना सकता है, और न विपरिणामी बना सकता है, यानी उसके प्रति विपरीत भाव उत्पन्न नहीं कर सकता है। किसी भी देव में ताकत नहीं है कि मुझे अपने श्रावक धर्म से डिगा सके। इस कारण हे देव ! तुम्हारी जैसी श्रद्धा-इच्छा हो, वैसा करो।" इस प्रकार अर्हन्नक श्रावक ने अपने मन से उक्त देव को सम्बोधन करके कहा और फिर यह (अर्हन्नक) निर्भय, अत्रस्त, निश्चलित, असम्भ्रान्त, अनाकुल अनुद्विग्न तथा चित्त से शान्त होकर बैठ गए। निर्भय एवं निश्चल होने के कारण उनके मुख और आँखों की कान्ति में जरा भी परिवर्तन नहीं हुआ। भय और संशय से रहित तथा मानसिक खेद-रहित होने से उनका चित्त विषाद, क्षोभ और वैमनस्य से रहित था। इस कारण वह धर्मश्रद्धा में दृढ़ रहे। ऐसे कष्ट के समय शान्त, निःस्पन्द रहे, एवं धर्म ही एकमात्र शरणरूप है, यों मानकर मौन धारण करके धर्म में तल्लीन बने रहे।

देवानुप्रियों ! कैसी अडोल श्रद्धा थी ? मृत्यु का कोई भय नहीं, और न ही जरा-सा क्रोध, क्षोभ या अदैन्य ! वर्तमान युग का मानव ऐसे दुःख को तो सहन नहीं कर सकता, किन्तु किसी का कटुवचन भी नहीं सह सकता। देव ने अर्हन्नक श्रावक को कटु वचन-अपमानजनक शब्द कहे थे कि हे *अप्रार्थित-प्रार्थित !* अप्रार्थित-प्रार्थित का अर्थ है - अप्रार्थित यानी जिस मरण को भेंटने की इच्छा करने योग्य नहीं है, उसे तू प्रार्थित = इच्छा करता है। अर्थात् - तू मरण की इच्छा करनेवाला है। अगर तू धर्म से चिपका रहेगा, धर्म का त्याग नहीं करेगा, तो उसके फलस्वरूप तुझे दुःखरूप कटुफल भोगने पड़ेंगे। इसलिए तू दुरंत-प्रान्त-लक्ष्मी यानी कुलक्ष्मी ! एवं हीन-पुण्य-चतुर्दशिक ! है, यों कहकर सम्बोधन किया। जिसका अर्थ होता है - तू कृष्णपक्ष की चौदस को जन्मा है। कृष्णपक्ष की चौदस के दिन चन्द्रमा की कला क्षीण हो

जाती है । वह अन्धेरी चौदस अमंगलकारी मानी जाती है । अतः कृष्णपक्ष की चतुर्दशी मंगलकारी नहीं होने से वह हीनपुण्य मानी जाती है । इस पर से देव यों कहना चाहता है कि तेरा जन्म ऐसी चतुर्दशी को हुआ लगता है, इस कारण तू हीनपुण्य है, अभागा है । इसके पश्चात् तीसरा सम्बोधन किया है **श्री, ह्री, धी, कीर्ति से परिवर्जित** । इसका अर्थ हुआ - तू श्री अर्थात् = लक्ष्मी, ह्री यानी लज्जा, धी यानी बुद्धि और कीर्ति यानी यश, इनसे रहित है । स्पष्ट शब्दों में कहें तो उसने ऐसा सम्बोधन किया - तू दरिद्र है, निर्लज्ज है, बुद्धिहीन है, कुलकलंकित है । यह कितने अपमानजनक शब्दों से सम्बोधित किया है, ऐसे-ऐसे अपमानजनक, अवगुणबोधक एवं क्रोधादि-उत्तेजक शब्द कहने पर भी अर्हन्नक श्रावक के मन में जरा भी क्रोध नहीं आया । अपितु समझ-बूझ-पूर्वक समभाव में रहकर समाधिस्थ रहे, कुछ भी बोले नहीं, न ही किसी का प्रतिवाद या प्रतिकार किया । निर्भय बनकर अपने धर्म में स्थिर रहे । बोलो, तुम्हें कोई ऐसे अपशब्द कहे तो तुम्हारे मन में समभाव रहता है क्या ? सामान्यतया ऐसा समभाव और देव-गुरु-धर्म और जीवन के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखना बहुत कठिन है । यहाँ तो अर्हन्नक श्रावक ने मन से ही देव को स्पष्ट कह दिया - 'मैं अपनी धर्म-श्रद्धा से विचलित होनेवाला नहीं हूँ, तुम्हें जो करना हो सो करो ।' अब देव कैसा उपसर्ग करेगा, और क्या होगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

चौदहवाँ लाभ : दिव्य पुष्पशय्या और दिव्यपुष्प का छत्र : घूमते-घामते विद्याधरपुत्र भीमकन्दरा के पास आए । उस गुफा का द्वार भीम जैसा भयंकर था । वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा - "जो इस गुफा में प्रवेश करेगा, वह जिस प्रकार का रूप धारण करना चाहेगा, कर सकेगा ।" वहाँ प्रद्युम्नकुमार ने छलांग मारकर भीम कंदरा में प्रवेश किया । वहाँ दिव्यपुष्पों की शय्या और दिव्य छत्र था । प्रद्युम्नकुमार निर्भयतापूर्वक जाकर शय्या पर सो गया । अतः उसका रक्षकदेव धम-धम करता हुआ वहाँ आया और उससे कहा - "जिस पुष्पशय्या की रक्षा करने के लिए देव हाजिर रहते हैं, उस पुष्पशय्या पर तू किसकी आज्ञा से आया है ? शीघ्र खड़ा हो जा, अन्यथा, तुझे मार डालूंगा ।" इतना सुनते ही प्रद्युम्न ने उस देव को तिनके की तरह पकड़कर दबा दिया । इस कारण उसे बहुत त्रास हुआ । अतः उसने कहा - "मुझे छोड़ दे ।" इसलिए प्रद्युम्नकुमार ने उसे छोड़ दिया ।

चौदहवीं भीमगुफा के रक्षक देव ने उसका पराक्रम और बल देखकर कहा कि "यह लड़का अत्यन्त पराक्रमी है । यह पुष्पशय्या इसको देनी चाहिए ।" अतः गुफारक्षक देव ने प्रसन्न होकर प्रद्युम्नकुमार को पुष्पशय्या और पुष्प का छत्र भेंट दिये और कहा कि "ये दिव्यपुष्प हैं, ये कभी मुर्झाते नहीं हैं ।" साथ ही उनमें क्या क्या गुण है वे बताए । इन दोनों चीजों को लेकर प्रद्युम्नकुमार बाहर आया । उसे देखकर

विद्याधरपुत्र वज्रमुख से कहने लगे – "इसे चाहे जहाँ भेजो, खोटे रुपिये की तरह वापिस आ जाता है। अन्त में यही उपाय है कि हम सब मिलकर इसे मार डालें। इस उपाय के सिवाय यह मरेगा नहीं।" तब वज्रमुख ने कहा – "अभी खतरों के दो स्थान और हैं। अगर वहाँ भी नहीं मरा, तो फिर हम और कोई उपाय सोचेंगे।"

पन्द्रहवाँ लाभ - रतिसुन्दरी की प्राप्ति : प्रद्युम्नकुमार आदि सब विद्याधरकुमार घूमते-घामते दुर्जय नामक विषम वन में आए। उस वन में जयन्त नामक पर्वत था। वहाँ जाकर वज्रमुख ने कहा – "जो व्यक्ति इस पर्वत पर चढ़कर उतरेगा, वह इच्छित वस्तु को प्राप्त करके देवोपम सुखों का उपभोग करेगा।" अतः प्रद्युम्नकुमार छलांग मारता हुआ सिंह की तरह पर्वत पर चढ़ गया। उस पर्वत पर एक वन था, वह वहाँ गया। वहाँ एक वृक्ष के नीचे एक रूपवती नवयौवना बालिका पद्मासन लगाकर स्फटिक रत्न की श्वेत माला से एकाग्र चित्त होकर जाप कर रही थी। वह सफेद साड़ी में देवी जैसी सुशोभित हो रही थी। उसे देखकर प्रद्युम्नकुमार ठिठक गया – "अहो ! यह मैं क्या देख रहा हूँ ? क्या यह नागकन्या है ? उर्वशी है ? रम्भा है ? इन्द्राणी है या पातालसुन्दरी है ? यह कौन होगी ? उसके रूप पर मुग्ध बना हुआ प्रद्युम्नकुमार इस प्रकार चिन्तन कर रहा था, उस वक्त वहाँ एक विचक्षण सज्जन पुरुष आया और प्रद्युम्नकुमार को प्रणाम करके खड़ा रहा। तब प्रद्युम्नकुमार ने पूछा – "भाई ! ऐसे जंगल में यह कन्या क्यों जप कर रही है ? यह कौन है ? यह इस जंगल में तप करके अपने शरीर को क्यों सूखा रही है ?" यह सुनकर उस पुरुष ने कहा – "सुनो, इस वैताढ्य पर्वत पर विद्याधर के नगर में वायु नाम का एक विद्याधर राजा है। उसकी रानी का नाम सरस्वती है। ये दोनों राजा-रानी इन्द्र-इन्द्राणी जैसे सुखोपभोग करने लगे। सरस्वती रानी की कुक्षि से उत्पन्न रति नाम की उनकी पुत्री है। एक दिन वायु नामक विद्याधर ने एक ज्योतिषी से पूछा – 'मेरी इस पुत्री का पति कौन होगा ?' तब ज्योतिषी ने कहा – 'द्वारिकाधीश त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव की पटरानी – रुक्मिणी की कुक्षि से उत्पन्न प्रद्युम्नकुमार नामक पुत्र है, वह इस कन्या का पति होगा। उसका मिलाप तुम्हारे महल में नहीं होगा। किन्तु वह घूमता-घूमता इस दुर्जय वन में आएगा, वहीं उसके साथ इसका पाणिग्रहण होगा।' तब से इसके पिताजी ने प्रद्युम्नकुमार की प्रतीक्षा करने लिए यहाँ रखी है। यहाँ यह भगवान् का भजन करती है। जप और यथाशक्ति तप करती है। इस वन में अभी तक तो कोई आ नहीं सका है। इसके भाग्योदय से आप यहीं आए हैं। आपके शरीर की तेजस्विता, डिलडौल, लक्षण, चिह्न और गुण को देखते हुए मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप ही प्रद्युम्नकुमार होंगे। आप ही श्रीकृष्णजी के लाड़ले पुत्र और रुक्मिणी के अंगजात हैं। अगर मेरा अनुमान सत्य है तो अब आप इस कन्या के साथ विवाह करें।" तत्पश्चात् प्रद्युम्नकुमार और रति सुन्दरी दोनों ने परस्पर वार्तालाप किया और दोनों की सद्भावनापूर्वक इच्छा से रतिसुन्दरी के भाई ने वहीं दोनों का विवाह किया। दोनों का परिणय सूत्र में बंधने से जंगल में मंगल हो गया। रतिसुन्दरी को भी प्रद्युम्नकुमार जैसा योग्य पति मिलने से बहुत आनन्द हुआ।

सोलहवाँ लाभ - पुष्पक रथ : रतिसुन्दरी को लेकर प्रद्युम्नकुमार वन से बाहर राजमार्ग पर आया । वहाँ रास्ते में उन्हें शकटासुर मिला । इन्द्र-इन्द्राणी-सम दम्पति (पति-पत्नी) को पैदल चलकर जाते हुए देखकर उसने विचार किया - 'अहो ! ये कोमल कायावाले दम्पति पैदल चलकर वन को पार करेंगे तो थक जाएँगे ।' यों सोचकर उसने एक सुन्दर पुष्पक रथ उन्हें भेंट दिया । प्रद्युम्नकुमार (मदनकुमार) और रतिसुन्दरी दोनों उस पुष्पक रथ में बैठ गए । रथ में लगे हुए रणझण बजने लगे । इस ओर प्रद्युम्नकुमार को काफी देर हो गई, 'अभी तक आया नहीं ।' ऐसा सोचकर वज्रमुख आदि उसके भाई विचार करने लगे - 'हमारा अनुभव है कि प्रद्युम्न अवश्य ही मार डाला गया होगा ।' तब दूसरा भाई कहता है - "तुम्हारी बात सही है । देखिए, इतनी देर हो गई है, देवों ने उसे मार डाला होगा । देखो, उसकी खुशी में ये घूघरे और बाजे बज रहे हैं ।" इस प्रकार वे बात कर रहे हैं, तभी प्रद्युम्नकुमार का रथ झणझणात करता हुआ वन की सीमा पार कर बाहर आया । उसके भाइयों ने जब देखा कि यह (प्रद्युम्न) तो अप्सरा जैसी कन्या के साथ विवाह करके साथ में लाया है, तो उन (भाइयों) का मुख काला-श्याम हो गया । सबको प्रद्युम्न की हर जगह सफलता देखकर अत्यन्त दुःख हुआ । अबतक भय के सभी स्थानों की यात्रा पूर्ण हो चूकी थी । वे विचार करने लगे - 'यह तो कहीं मरा नहीं ।' दूसरे भाई बोले - "अब तो यही उपाय है कि हम सब मिलकर इसे मार डालें ।" तब वज्रमुख ने कहा - "अच्छे-अच्छे देव उसे मार नहीं सके, तब हम उसे कैसे मार सकेंगे ? इसे मारने जाते हम मारे जाएँगे । इसका पुण्य और पराक्रम प्रबल है । फिर भी हम साहस करेंगे । किन्तु अब तो उसके पास कितने ही दैवीशस्त्र-अस्त्र हैं । अतः इसे मारना अपने वश की बात नहीं है ।" इधर ये लोग इस तरह सलाहमशविरा कर रहे थे, तभी प्रद्युम्नकुमार का रथ वहाँ आ धमका । प्रद्युम्नकुमार ने वहाँ पहुँचते ही कहा - "भाइयों ! अब अपने लिए देखने और जानने लायक कोई स्थान बाकी नहीं रहा । हम सारे वैताढ्य पर्वत पर घूम-फिर चुके हैं । अब हमें जल्दी से जल्दी वापस चलना चाहिए । अपने माता-पिता आदि अपनी चिन्ता करते होंगे ।" अब तो सभी भाइयों को वापस लौटने के सिवाय कोई चारा नहीं था । प्रद्युम्नकुमार रतिसुन्दरी के साथ रथ में बैठा है । ये दोनों ऐसे मालूम पड़ते हैं, मानो साक्षात् इन्द्र और इन्द्राणी हों । ये दोनों तो इस तरह रथ में बैठे सुशोभित हो रहे थे, जबकि वज्रमुख आदि विद्याधरकुमार प्रद्युम्न के पैदल सैनिक जैसे प्रतीत हो रहे थे ।

सब ने नगर की ओर प्रयाण किया । कालसंवरराजा को मालूम हुआ कि प्रद्युम्नकुमार वैताढ्य पर्वत पर स्थित १६ भयस्थानों पर विजय प्राप्त करके दो कन्याओं के साथ विवाह करके आ रहा है, इसलिए कालसंवर ने सारे नगर को स्थान-स्थान पर ध्वजाओं, पताकाओं और तोरणों से सजवाया (श्रृंगारित करवाया) । साथ ही प्रद्युम्नकुमार का जय जयकार बोलाते हुए नगर में प्रवेश कराया । सारा नगर जय जयकार की ध्वनि

से गूंज उठा । प्रद्युम्नकुमार और रतिसुन्दरी को देखकर नगर के लोग तो ऐसे ही कहने लगे कि कोई महर्धिक देव और देवी स्वर्ग में से उतरकर आए हैं । उन्हें देखने के लिए नगर के स्त्री-पुरुष आतुर (पागल) हो रहे थे ।

प्रद्युम्नकुमार का रथ बाजार में से होकर जा रहा है । जन-मेदिनी (नगरवासी लोग) तो इन्हें देखने के लिए ऐसे पागल हो रहे थे कि शान, भान सब भूल गए थे । उस भीड़भड़क्के में कई महिलाओं के कण्ठ में पहने हुए सच्चे मोतियों के हार टूट गए, फिर भी उन्हें ध्यान नहीं रहा । कतिपय नारियों ने उन दम्पति को देखने जाने की उतावली में वस्त्र उलटे-सुलटे, जैसे-तैसे पहन लिये । कुछ ललनाओं ने उनके दर्शन की आतुरता में नाक में पहनने की नथ कान में पहन ली और कान में पहनने का आभूषण (लौंग) नाक में पहन लिया । तो किसी रमणी ने कपाल पर कुंकुम का तिलक करने के बदले आँखों में कुंकुम आंज लिया । किसी दर्शनातुर स्त्री ने गाल पर काजल के बिन्दु लगाये । कोई कोई तो हड़बड़ी में अपने बालक के बदले किसी दूसरी महिला का बालक गोद में उठाकर प्रद्युम्नकुमार (मदनकुमार) और रतिसुन्दरी को देखने के लिए चल निकली । उन्हें देखते हुए आँखें तृप्त नहीं होती । प्रत्येक नगरजन प्रद्युम्नकुमार की प्रशंसा करते हुए कहने लगे - "क्या गजब का इसका पराक्रम है ? कैसी प्रखर इसकी बुद्धि है ? उसने अपने पराक्रम से न मालूम कितनी विद्याएं प्राप्त की हैं ? यह बोलता है तो ऐसा लगता है, मानो मुख से फूल झर रहे हों ।"

कोई कहे - जोड़ी अमर रहो, तपो सूरज अरु चंद ।
मदन रति की जोड़ी मिल गई, ज्यूं रुक्मणी गोविन्द हो ॥ श्रोता...

नगरजनों में से कोई कह रहा है - जबतक सूर्य और चन्द्र रहे, तबतक इन दोनों की जोड़ी अमर रहे । मदन और रतिसुन्दरी की यह जोड़ी ऐसी मालूम होती है, इस तरह शोभायमान हो रही है । प्रद्युम्नकुमार का रूप कामदेव जैसा होने से और वह सबके रूप के मद (अहंकार) को गला देनेवाला होने से रूप और गुण के अनुरूप लोगों ने उसका नाम मदनकुमार रख दिया । [illegible] से सभी [illegible] कहकर बुलाने लगे । साथ ही सभी उसके सच्चे (सगे) [illegible] कृष्ण [illegible] की उपमा से उपमित करने लगे । जहाँ कृष्ण [illegible] का [illegible], वहाँ प्रद्युम्नकुमार (मदनकुमार) के [illegible] लगे [illegible] भी [illegible] होने लगी कि मैं १६ स्थानों में गया [illegible] मुझे [illegible] यों [illegible]
कृष्ण के लाडले नन्द और [illegible]
और रुक्मिणी की जोड़ी जैसे [illegible]
रूक्मिणी कौन होंगे ? मेरे पिता [illegible]
है । वैसे भी अब उसके माता [illegible]
लोगों के मुख से असली माता-[illegible]
के मन में तो कोई ऐसी शंका न[illegible]

पिता का दूसरा नाम कृष्ण और रुक्मिणी होगा । इस प्रकार हजारों नगर-जनों का आशीर्वाद प्राप्त करता हुआ और अनेक याचकों को अपने हाथ से दान देता हुआ वह राजमहल में पहुँच गया ।

वहाँ पहुँचते ही प्रद्युम्नकुमार ने सर्वप्रथम अपने पिताजी के चरणों में पड़कर प्रणाम किया । वह इतना अधिक बाहोश था कि वैताढ्य पर्वत के तूफानी दौर में वहाँ के कई देवों को हराकर आया है, तथा उनके कई बहुमूल्य दिव्य वस्तुएँ उपहार में प्राप्त हुए हैं, उन्हें लेकर आया है । तथापि उसके तन-मन-वचन में लेशमात्र भी अभिमान नहीं है । उसके जीवन में कितना विनय है ? आते ही उसने तुरंत पिताजी को प्रणाम किया । पिताजी ने भी उसे तहेदिल से आशीर्वाद दिया । फिर प्रद्युम्नकुमार अपनी माता के पास आया और उसके चरणों में भी सविनय नमन किया । माता ने भी हर्ष से पुत्र को छाती से लगा लिया । माता ने पुत्र को चिरंजीव (चिरकाल तक जीते रहो) यों कहकर पुत्र को आशीर्वाद दिया । फिर वह अपनी माँ के पास थोड़ी देर बैठा । अभी तक माता की दृष्टि निर्मल थी । यद्यपि वह प्रद्युम्नकुमार की जन्मदात्री माता नहीं थी, किन्तु जन्म देनेवाली माता से भी अधिक प्यार और वात्सल्य से उसने प्रद्युम्नकुमार का लालन-पालन किया है और प्रद्युम्नकुमार भी ऐसा ही समझता था कि यह मेरी जन्मदात्री माता है । इसलिए निर्दोषभाव से माता के पास बैठा है । अभी तक तो उसकी उम्र के सोलह वर्ष भी पूर्ण नहीं हुए हैं; क्योंकि सोलह वर्ष पूर्ण होने पर तो वह अपनी सगी माता रुक्मिणी से मिलनेवाला है । ऐसे भगवान् सीमन्धरस्वामी के वचन हैं । फिर भी प्रद्युम्नकुमार का यौवन खिल उठा है । अब प्रद्युम्नकुमार को देखकर माता कनकमाला को कैसी दुष्ट भावना होती है और प्रद्युम्नकुमार उसका विविध युक्तियों से प्रतीकार (ललकार) करके कैसे सामना करता है, इत्यादि भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - ८०

आसो सुदी ३, रविवार — ता. २६-९-७६

भौतिक-सुखों का मोह छोड़ आत्म-सुखों की ओर मन मोड़

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्त-करुणासागर वीतराग-परमात्मा ने जगत् के जीवों का मिथ्या मोह दूर कराने के लिए जड़ और चेतन का अन्तर समझाते हुए कहा - "हे चेतन ! मुख्यतया दो तत्त्व हैं - जीव और अजीव ।" दूसरे शब्दों में कहें तो जड़ और चेतन हैं । किन्तु

जिसे जड़ और चेतन का ज्ञान और भान नहीं है, वह जड़ पदार्थों के मोह में पड़कर उसे प्राप्त करने और प्राप्त की सुरक्षा करने का प्रयत्न करता है। कहा भी है -

निर्मलः स्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः ।
अध्यस्तोपाधि-सम्बन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति ॥

आत्मा का सहज स्वरूप स्फटिक के समान निर्मल है। परन्तु मनुष्य जड़ के संग में रहकर जड़ पदार्थों के मोह में पड़कर आत्मा के शुद्ध स्वभाव को भूल जाता है। यद्यपि शरीरादि बाह्य पदार्थ आत्मा से भिन्न है, तथापि उन पदार्थों को अपने मानकर उनमें मोहग्रस्त हो जाता है। जैसे करोड़पति के छोटे-से नादान बच्चे में ऐसी समझ नहीं होती कि मैं करोड़पति सेठ का पुत्र हूँ। इस कारण वह प्रायः घर में काम करनेवाले नौकर से पैसे मांगता है। नौकर के पास से दो-चार आना मिलने से वह आनन्द मानता है, हर्षित हो जाता है। ऐसी दशा हो रही है, मानवशरीर में बैठे हुए चैतन्य-स्वरूप आत्मा की। आत्मा अनन्त अव्याबाध सुख का स्वामी होने पर भी संसार के भौतिक-सुखों में पड़कर अपनी सच्ची शक्ति को भूल जाता है। ऐसा व्यक्ति संसार के भौतिक-सुखों और जड़-पदार्थों को अपने मानकर अपना सर्वस्व खो बैठता है। फलतः वह अनेक विपत्तियों में फंस जाता है।

बन्धुओं! ऐसे भौतिक-सुख में भान भूलकर उसमें मुग्ध बने हुए अनेक जीवों को जिनेश्वरदेव कहते हैं - "हे जीव! तू एक बार अपने स्वरूप की ओर दृष्टिपात करके अपने स्वरूप को भलीभांति पहचान ले। अगर तू एक बार भी स्वयं को, यानी अपनी आत्मा को पहचान लेगा तो तू दूसरे को जान सकेगा। अगर तू स्वयं को ही नहीं पहचानेगा तो दूसरे किसको पहचानेगा? जो मनुष्य गेहूँ के आटे को जानता है, वह रोटी, भाखरी, पूरी वगैरह चीजों को जान सकता है। किन्तु जो व्यक्ति गेहूं के आटे को जानता-पहचानता नहीं, वह उससे बनाई हुई चीजों को कहाँ से जान सकेगा? इसी प्रकार जो व्यक्ति आत्मा को नहीं जानता, वह आत्मा की कितनी और कौन-कौन सी सम्पदाएँ हैं, इसे कैसे जान सकेगा? जौहरी के हाथ में हीरा आते ही वह जान सकता है कि इस हीरे में कितना पानी है? इस हीरे में किनता तेज है? एवं हीरे का मूल्य कितना है? किन्तु वही हीरा एक गोपालक के हाथ में दिया जाए तो वह इसे चमकता काच का एक पहलदार टुकड़ा समझकर अपने बच्चे के गले में पहनाकर खुश होता है। इस तरह ज्ञानी हमें समझाते हैं कि "दूसरे सब को पहचानने के बजाय तू अपने आपको पहचान। जिससे तुझे अपनी सच्ची सम्पत्ति का ख्याल आ जाएगा।"

इस जगत् में चींटी से लेकर हाथी तक प्रत्येक जीव बाह्य सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उसे प्राप्त करने का उपाय खोजता है। उसमें वह किसी बात की कमी नहीं रखता। शरीर की रक्षा के लिए मनुष्य और तिर्यंच आदि क्षुद्र जन्तु अनेक प्रकार के प्रयत्न करते रहते हैं। इन सब बातों का आप सबको अनुभव है।

परन्तु अपने परम तारक जिनेश्वर भगवन्तों ने आत्म-स्वरूप को समझकर उसमें कितना असीम सुख भरा हुआ है, यह जाना और आत्म-स्वरूप में रमणता की । उसका रक्षण करने का मार्ग भी उन्होंने बताया है । उस ओर किसी का लक्ष्य नहीं है । जड़ का स्वरूप जानकर, उसे प्राप्त करके उसके सुख का जो अनुभव होता है, उसकी अपेक्षा अगर आत्मा की शक्ति, सम्पदा और सुख की ओर जीव का ध्यान हो जाता तो उसका कुछ अलौकिक ही आनन्द आता ।

आत्म-स्वरूप को समझना कोई आसान बात नहीं है । किन्तु उसे समझने के लिए योग्य पुरुषार्थ हो और सद्गुरु का योग मिले तो आत्म-जागृति होती है और सद्गुण प्रकट होते हैं । जड़ पदार्थों पर से जीव का मोह उतर जाता है । जड़ पदार्थों पर की वासना से विरत हो जाए तो सारे दिन में पाँच मिनट या एकाध क्षण भी अपना सहज स्वरूप क्या है ? सच्चा सुख कौन-सा है ? ऐसा चिन्तन करते-करते एक दिन आत्म-स्वरूप की पहचान हुए बिना नहीं रहती । आत्म-स्वरूप का भान होने पर जीव को स्वतः समझ में आ जाता है कि यह शरीर आत्मा नहीं है । यह आत्मा से भिन्न है । आयुष्य पूर्ण होने पर देह का कलेवर यहीं पड़ा रह जाता है और अंदर से आत्मा निकल कर चला जाता है । ऐसी स्थिति होने पर हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य मर गया । शरीर चाहे जितना रूपवान हो, उसकी कीमत आत्मा से होती है । अंदर से आत्मा चला जाए तो फिर शरीर की कोई कीमत नहीं रहती । बारदान चाहे जितने रंगबिरंगे डिजाइनवाला हो, पर उसकी कीमत उसके अंदर रहे हुए माल से आंकी जाती है । माल से रहित बारदान की कोई कीमत नहीं होती । इसी प्रकार आत्मा माल है, शरीर बारदान है । शरीररूपी बारदान की कीमत आत्मारूपी माल से आंकी जाती है । आत्मारूपी माल को कीमती (बढ़िया) बनाना या घटिया बनाना, यह अपने हाथ की बात है । परन्तु आज का मानव आत्मा की करामात को भूलकर शरीर की मरम्मत में पड़ गया है । बारदान की सजावट में जो व्यक्ति माल की मौलिकता (असलियत) को भूल जाए, उसे आपलोग क्या कहेंगे ? (श्रोताओं में आवाज - मूर्ख) । तो आप भी यदि आत्मा को भूलकर शरीर की सजावट में पड़ जाओ, बाह्य सुख में डूब जाओ तो मुझे आपको क्या कहना ? (हँसाहँस) । आपलोग हंसकर बात को उड़ा देते हैं, परन्तु यह बात हंसकर टाल देने (निकाल देने) जैसी नहीं है । ऐसा अवसर जीव को बारबार मिलना मुश्किल है । मिले हुए समय को पहचानो और जड़-चेतन का भेदज्ञान करके आत्मा के स्वरूप को पहचान लो ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

जिसे आत्म-स्वरूप की पहचान हो गई है, ऐसे अर्हन्नक श्रावक के सामने भयंकर पिशाच का रूप धारण करके हाथ में चमचमाती तीक्ष्ण धारदार तलवार लेकर देव खड़ा है और कह रहा है - "अरे अर्हन्नक ! तूने जो व्रत अंगीकार किये हैं, उनका त्याग

कर दे। अगर तू उनका त्याग नहीं करेगा, तो मुझमें ताकत है कि मैं अपनी दो अंगुलियों से तेरे वाहन (जलयान) को ७-८ ताल ऊँचा उठाकर ऊँचा उछालकर फिर उसे पानी में डुबो दूंगा। इसके परिणाम-स्वरूप तुम सब मर जाओगे।" इतना डराने-धमकाने पर भी वह डरे नहीं। अपने धर्म के नियमों को छोड़ने का विचार तक नहीं किया। उल्टे, देव के सम्मुख ललकार कर कहा - "देवानुप्रिये! मैं कोई ऐसा-वैसा नहीं हूँ। मैं श्रमणोपासक हूँ। मेरे देव, गुरु और धर्म कौन-कौन-से हैं? इसका तुम्हें पता नहीं है।

"अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण-पन्नत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं॥"

जिन्होंने कर्मरूपी या राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया है, वे अरिहन्त भगवान् मेरे देव हैं, पंच-महाव्रतों का शुद्ध रूप से पालन करनेवाले निर्ग्रन्थ मेरे गुरुदेव हैं और वीतराग-जिनेश्वर-प्रभु के द्वारा बताए हुए तत्त्व, (परश्रीद्धान) मेरा धर्म है। ऐसा निर्मल सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है। इसलिए मुझे मेरी श्रद्धा से चलायमान करने में तू समर्थ नहीं है। मैं अपने व्रत-नियम हर्गिज नहीं छोड़ूंगा।" अर्हन्नक ने चुनौती देते हुए कहा - *"तुमंणं जा सद्धा तं करेहिं"* - हे देव! तुम्हारी जो श्रद्धा (इच्छा) हो, वैसे करो।" अर्थात् - **'तुम्हे जो करना हो वह करो।'**

देवानुप्रियों! यह कैसा श्रमणोपासक है? तुम श्रमणोपासक हो या धनोपासक? अर्हन्नक श्रावक श्रमणों के समीप बैठकर श्रमण जैसे बन गए थे? कहावत है -

'जेना संगमां रहीए, तेना जेवा थइए।
जेनां शरणे जइए, तेना जेवा थइए॥'

ये शब्द होठ से बोले जाते हैं, हृदय से नहीं। हाँ, संसार-व्यवहार में तो यह किसी हद तक ठीक है कि जिसके संग में रहते हो, वैसा बन जाते हो। धनवान् की शरण में जाते हैं तो वैसी भावना होती है कि मैं कब धनवान बनूं और उसके लिए पुरुषार्थ भी होता है, किन्तु आत्मा के बारे में ऐसा नहीं बनता, क्योंकि अनन्तकाल से जीव ने संसार का संग किया है, इस कारण उसका रंग लगा है। किन्तु आत्मा का संग नहीं किया, इस कारण यह रंग जल्दी नहीं लगता। जीव को धर्म का रंग लगाने के लिए कितना समझाना पड़ता है? कितनी मेहनत करनी पड़ती है? तब जाकर वह धर्म के मार्ग की ओर मुड़ता है। किसी हलुकर्मी (लघुकर्मा) जीव के लिए ऐसी मेहनत नहीं करनी पड़ती। सिर्फ आत्मा की बातें करने से आत्मा की पहचान नहीं होती, लेकिन आत्मा की बातें सुनकर उन्हें आचरण में लाने से ही समझ में आती है।

चाहे जितने विद्वान् बनो, लेखक बनो या वक्ता बनो, किन्तु आचरण के बिना सब निष्फल है, निरर्थक है। विद्वान मानता है कि मैं अपनी विद्वत्ता से सबको खुश करूँ। लेखक लेख में अध्यात्म की सुन्दर बातें लिखें और वक्ता अपनी वक्तृत्वशक्ति से श्रोताओं को आत्मधर्म की बातें समझाएँ, किन्तु वे स्वयं आचरण में न लाएँ तो

उस ज्ञान (जानकारी) का कोई मूल्य नहीं । पहले स्वयं उस बात को जीवन में क्रियान्वित करे और फिर दूसरों को समझाए तो उसका शीघ्र असर होता है और तुम भी ऐसे मानते हो कि 'वह कहता भला और हम सुनते भले', तो वर्षो तक व्याख्यान-वाणी सुनते रहोगे, तो कल्याण होनेवाला नहीं है । जैसे वाटरप्रूफ वस्तु पर पानी का कोई असर नहीं होता, फायरप्रूफ वस्तु पर अग्नि का कोई असर नहीं होता, वैसे तुम पर भी वीतरागवाणी के प्रवचन का कोई असर न हो, तो तुम्हें भी क्या और कैसे व्यक्ति कहने ? प्रवचन-प्रूफ (हँसाहँस) । तुम लोग प्रवचन-प्रूफ हो गए हो, इसलिए तुम पर प्रवचन का कोई असर नहीं होता । बरसात में रैनकोट पहनकर तुम बाहर निकलते हो, इस कारण चाहे जितनी जोर की वर्षा हो तो भी वह रैनकोट भीगता नहीं, पानी उस पर टिकता नहीं, नीचे गिर जाता है । इसी प्रकार तुमलोग यहाँ भी मोह-माया-ममता का रैनकोट पहनकर आते मालूम होते हो । यही कारण है कि वीतरागवाणी से तुम्हारा हृदय भीगता नहीं । ठीक है न ? (हँसाहँस) ।

अर्हन्नक श्रावक को सच्चा रंग लगा था । वह प्रवचन-प्रूफ नहीं थे, उनके प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर चेतन की चमक थी । यही कारण है कि देव ने उन्हें मरण का भय बताया, तो भी उनकी समाधि में किसी प्रकार का भंग नहीं हुआ । उन्होंने एक ही विचार किया कि 'धन मेरा नहीं है, कुटुम्ब, परिवार और घरबार भी मेरे नहीं हैं, यह शरीर भी मेरा नहीं है । ये सबके सब मेरी आत्मा से भिन्न हैं । वे जाएँ या रहें, इनसे मेरा कोई लेना-देना नहीं है ।' इसी प्रकार उन्होंने आत्म-स्वरूप की भलीभांति पहचान कर ली और 'पर' का राग छोड़ दिया और आत्म-भाव के झूले में झूलने लगे । धन, शरीर आदि सभी परपदार्थ भले ही चले (छूट) जाएँ, किन्तु उन्हें धर्म को हर्गिज नहीं छोड़ना है और तुम पर भी चाहे जितने कष्ट पड़ें, किन्तु धन को छोड़ना नहीं है, क्यों यह ठीक है न ? धन का लोभ जो न कराए, वही कम है ।''

एक गाँव में एक अत्यन्त गरीब ब्राह्मण रहता था । बहुत मेहनत करता, तब बड़ी मुश्किल से एक टाइम की रोटी का जुगाड़ होता था । शाम को तो पति-पत्नी दोनों भूखे सो जाते थे । एक दिन वणिककी पत्नी ने कहा - ''ऐसा दुःख कबतक सहन करते रहेंगे ?'' वणिक ने कहा - ''तू कहे तो मैं दूसरे गाँव जाऊँ ।'' पत्नी की सम्मति पाकर वह दूसरे गाँव के लिए वहाँ से चल पड़ा । रास्ते में इसने एक जगह मनुष्यों की भीड़ देखी तो पूछा कि ''यहाँ क्या है ?'' किसीने कहा - ''यहाँ माताजी का मन्दिर है । माताजी को जो मानता है, उसे मुँह मांगा सुख मिलता है ।'' अतः उक्त वणिक ने ओधसंज्ञा के अनुसार माताजी को मनौती की - ''हे माता ! अगर मैं अपनी इच्छानुसार धन कमाकर वापस लौटूंगा तो आपको एक नारियल चढ़ाऊँगा ।''

इस प्रकार मनौती करके वह आगे बढ़ा । वह किसी एक बड़े शहर में जा पहुँचा । मनुष्य को सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख कर्मानुसार मिला करता है । देव-देवी की मनौती करने मात्र से सुखी नहीं हुआ जाता, क्योंकि अगर उसके

कितनी बड़ी लानी पड़ेगी । उसने दोनों हाथ फैलाकर चौड़े किये और बोला - "इतनी बड़ी !" दोनों हाथ नारियल को छोड़कर खुले कर देने से सेठ और ऊँटवाला दोनों ही धड़ाम से कुँए में पड़ गए और मर गए । एक आने के लोभ के लिए वणिक अमूल्य मानव-जीवन हार गया, खो दिया । उसने बाह्य धन के लोभ में अपना जीवनधन !! बड़ी मेहनत से कमाये हुए पाँच हजार रुपयों का उपयोग करने के लिए वह जगत् में नहीं रहा । लोभी मनुष्य केवल धन को देखता है, धन के कारण आनेवाली आपत्ति को नहीं देखता । जैसे बिल्ली दूध को देखकर दूध पीने के लिए ललचाती है, किन्तु दूध पीने जाते लाठी का प्रहार पड़ेगा, इसे नहीं देखती । वैसे ही धन का लोभी पाप करके धन प्राप्त करने जाता हुआ, कैसे और कितने अशुभ कर्मों का बंध होगा और उनका कितना कटु फल भोगना पड़ेगा, यानी जब वे पापकर्म उदय में आएँगे, तब कैसे भयंकर दुःख सहन करने पड़ेंगे, इस बात को भूल जाता है । अर्हन्नक श्रावक ऐसे संकटापन्न अवसर पर दृढ़ निश्चय करता है कि कदाचित् इस शरीर के टुकड़े हो जाएँगे, समुद्र में डूब जाना पड़ेगा, तो भी मैं इन दोनों खतरों में पड़ने के लिए तैयार हूँ, किन्तु अपने धर्म को छोड़ने के लिए जरा भी तैयार नहीं हूँ । अब देव क्या और कैसा दारुण उपद्रव करेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार का यौवन सोलह कलाओं से खिल उठा है । उसकी माता कनकमाला उसके सामने ताक-ताककर देखने लगी । अहो ! कैसा इसका चाँद जैसा मुख है ? कैसे सुन्दर प्रवाल (मूंगे) जैसे होठ हैं, कैसे सुन्दर अनार की कली जैसे दांत हैं और कैसी सुन्दर इसकी आँखें हैं ? इसके शरीर का तेज भी अलौकिक है । इसके हाथ-पैर भी कितने सुन्दर और रम्य हैं ? ऐसा रमणीय रूप तो किसी का नहीं है । यों उसके अंगोपांगों को टकटकी लगाकर देखती हुई कनकमाला के अन्तर में कामवासना का कीड़ा कुलबुलाने लगा । इस कारण माता कुछ भी बोली नहीं । मदनकुमार इसका गहरा रहस्य समझ नहीं सका । उसके मन में यह विचार स्फुरित हुआ कि 'मैं सब जगह से विजयी होकर तथा दो-दो रमणियों को विवाह करके लाया हूँ, इस कारण मेरी माता का हृदय मुझे देखकर भर आया है ।' ऐसा समझकर प्रद्युम्नकुमार वहाँ से उठकर अपने महल में गया, परन्तु कनकमाला की मनःस्थिति कैसी विकृत हो गई ?

बन्धुओं ! कामवासना का जोर कितना प्रबल है ? जिस पुत्र को अपने हाथों से पाला, पोसा, रमाया, खेलाया, उसे देखकर उस पर उस (पालक) माता की कुदृष्टि हुई कि मैं इसके साथ कामभोग भोगूं तो मेरा जन्म सफल हो । प्रद्युम्न के वहाँ से उठकर चले जाने के बाद कनकमाला की बेचैनी बढ़ गई । वह खाती-पीती नहीं, सोती नहीं, बार-बार आलस्य मरोड़ने लगी, उबासी आने लगी । उसके विरह में आकुल-व्याकुल होकर कभी-कभी तो रोने लगती, तो कभी हंसने लगती । बार-बार निःश्वास छोड़ने लगी । यह देखकर

कालसंवरराजा भी घबरा गए । कनकमाला की तबियत सुधारने के लिए बड़े-बड़े नामी हकीमों, राजवैद्यों और डोक्टरों को बुलाए । वैद्यों और डोक्टरों ने रानी की नब्ज देखी, काफी चिकित्सा भी की, परन्तु उसके रोग की परख नहीं हो सकी । डोक्टर-वैद्यों ने कहा - "साहब ! रानीजी को किसी प्रकार का रोग नहीं है । रोग का ठीक से निदान हो और पकड़ में आए तो हम दवा दें, इलाज करें । रोग के बिना हम क्या दवा दें ?" यों कहकर एक-एक करके सभी वैद्य और डोक्टर बिदा हुए । किन्तु रानी का रोग बढ़ने लगा । इस कारण राजा की चिन्ता बहुत बढ़ने लगी ।

प्रद्युम्नकुमार को सैर-सपाटा करते देखकर उसके पिता ने कहा - "बेटा ! तू बहुत होशियार हो गया, कई दिव्य वस्तुएँ लाया और विवाह किया । इसलिए अब तू घूमने-फिरने में मशगूल हो गया है । तेरी माता मरणासन्न हो रही है । वह तुझे बारबार याद करती है, किन्तु तू है कि अपनी माता को याद भी नहीं करता । तू अब घूमने-फिरने और मौज-मजा करने में पड़ गया है । तू देख तो सही तेरी माता की क्या हालत हो गई है ?" यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "पिताजी ! ऐसी बात नहीं है । मेरी माता रोगग्रस्त है, इस बात का मुझे पता नहीं है । इस दुनिया में मुझे माँ से बढ़कर दूसरा कोई प्रिय नहीं है । मेरी तीर्थसमा माता को मैं कैसे भूल सकता हूँ ? चलिए, मैं अभी ही माताजी के पास जाता हूँ ।"

प्रद्युम्नकुमार दौड़ता हुआ माताजी के महल में आया । उसकी हालत देखकर बोला - "अरेरे ! मेरी माताजी को यह क्या हो गया ?" माता सोई हुई थी, वहाँ आया और माता की स्थिति देखकर आँखों से दड़दड़ आंसू छलक उठे । प्रद्युम्न ने निर्दोषभाव से कहा - 'माताजी ! आपकी तबियत इतनी अधिक बिगड़ गई, आप इतनी अस्वस्थ हो गई, फिर भी मुझे आपने कोई खबर तक नहीं दी ? माँ, तुम्हें क्या हो गया ? इतनी अधिक दुःखी किस कारण से हो गई ? मैं शीघ्र ही वैद्यों व डोक्टरों को बुलाकर आप के रोग का निदान करा लेता हूँ । माँ ! तुम्हारा मुझ पर महान उपकार है । तुम्हारे लिए जितना करूँ उतना कम है ।" प्रद्युम्नकुमार के उद्‌गार सुनकर कनकमाला उसके सामने एकटक होकर देखने लगी । प्रद्युम्नकुमार की उस पर दृष्टि पड़ी, अतः मन ही मन बड़बड़ाने लगी - "मुझे कोई रोग नहीं है । मेरे रोग को मिटानेवाला तू ही है और उसे बढ़ानेवाला भी तू ही है ।" प्रद्युम्नकुमार उसकी गूढ बात को समझा नहीं । कनकमाला का मुख बहुत मुर्झा गया था, शरीर भी सूख गया था । यह देखकर प्रद्युम्न उसके पास जाकर बैठा और पूछा - "माताजी ! आपको क्या रोग है ? आपको ऐसा क्यों होता है ? मुझे साफ-साफ कहिए ।" इस पर कनकमाला ने कहा - "पहले तू इन सबको बाहर भेज दे, फिर मैं तुझसे कहूँगी कि मेरा क्या रोग है ? वह कैसे मिट सकेगा ?" वहाँ बैठे हुए दास-दासी, नौकर-चाकरों के मन में यह विचार आया कि 'अपनी महाराणी को अपने पुत्र के साथ कोई गुप्त बात करना है ! अतः हम सब नीचे चले जाएँ । यों सोच वे सब वहाँ से चले गए ।

कैसे उपसर्ग देता है ? भरे समुद्र के मध्य में उसे सताता है और धमकी भरे शब्दों में कहता है – "तू अपने शीलादि व्रतों का त्याग कर दे। यदि त्याग नहीं करेगा तो तेरी मौत नजदीक आ गई है, यों समझ ले।" इतना कहने और अपमानित करने पर भी अर्हन्नक धर्मश्रद्धा से जरा भी विचलित नहीं हुए। जो व्यक्ति श्रद्धा से विचलित या भ्रष्ट हो जाता है, उसने धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझा नहीं है। संस्कृत भाषा के एक मनीषी ने कहा है –

"अश्रद्धा परमं पापं, श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी ।
जहाति पापं श्रद्धावान्, सर्पो जीर्ण मिव त्वयम् ।।"

अश्रद्धा परम (उत्कट) पाप है और श्रद्धा पाप-मोचक है, पापनाशक है। इसीलिए विवेकी श्रद्धावान् मनुष्य पाप का उसी तरह त्याग कर देता है, जिस प्रकार सांप अपनी जीर्ण हुई कांचली (त्वचा) का त्याग कर देता है। सांप अपनी त्याग की हुई कांचली के सामने नहीं देखता, इसी प्रकार श्रद्धावान् विवेकी पुरुष भी त्याग किये पापों को पुनः नहीं अपनाता, यानी पुनः पाप कार्यों में वह रस नहीं लेता। तात्पर्य यह है कि अश्रद्धा घोर पाप है। अश्रद्धा के कारण अज्ञानी जीव अनन्तकाल से चतुर्गति के संसार में विविध योनियों में परिभ्रमण करता है और नानाविध दुःखों को भोगता है। इसका मूल कारण है – देवाधिदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और सर्वज्ञ प्रज्ञप्त धर्म के प्रति अश्रद्धा। जैन शास्त्रों में बार-बार कहा गया है कि जीव अगर एकबार सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो वह पापकर्मों से बच जाता है, उसका भवभ्रमण कम हो जाता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से जीव परित्तसंसारी बन जाता है, फिर उसे पापकर्मों में रस या आनन्द नहीं आता। परन्तु दुःख की बात यह है कि आज बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ और स्वयं को आस्तिक माननेवाले लोग भी नास्तिक जैसे विचार और आचरण करते हैं। कहने का आशय यह है कि ऐसे लोग स्वयं अपने (आत्म) स्वरूप को समझ नहीं सकते और न ही जगत् के स्वरूप को समझ पाते हैं। श्रद्धा के अभाव के कारण या श्रद्धा में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा के कारण स्वयं अपने जीवन को अशान्ति, भय और संकीर्णता से भर देते हैं। ज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति श्रद्धा में समाई हुई है। इस कारण श्रद्धावान् मनुष्य में ज्ञान भले ही कम हो, तो भी वह श्रद्धा के बल पर संसार-सागर से पार उतर जाते हैं। ज्ञानी मनुष्य में ज्ञान हो, किन्तु उसमें श्रद्धा न हो तो वह अपनी पीठ पर (दिमाग में) ज्ञान का बोझ ढोकर घूमता रहता है।

बन्धुओं ! बहुत-से बेसमझ लोग ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि श्रद्धा तो अन्धी होती है। जैसे अन्धा आदमी पद-पद पर ठोकरें खाता गिर पड़ता है, वैसे ही श्रद्धा से अन्ध बना हुआ मानव भी इस संसार में ठोकरें खाता रहता है। परन्तु यह बात मिथ्या है, क्योंकि श्रद्धावान् मनुष्य के जीवन में विवेकरूपी दीपक प्रकट होता है और वह विवेक द्वारा पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बंध वगैरह का स्वरूप जानता है। जानने के पश्चात् पाप, आस्रव और बन्ध के मार्ग का त्याग कर देता है और श्रद्धावान

बनकर संवर और निर्जरा के मार्ग पर दृढ़ होकर आगे बढ़ता है । इसलिए विवेकयुक्त श्रद्धावान मनुष्य कदापि ठोकरें नहीं खाता । वह सद्धर्म के प्रति कदापि शंका या अविश्वास नहीं करता, बल्कि धर्म में अधिकाधिक दृढ़ बनकर अपने मानव-जीवन को उन्नत बनाता है ।

श्रद्धा में कितना सत्त्व रहा हुआ है, इसे महापुरुषों के जीवन से जानो । इसीलिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि "तुम मनुष्यभव पाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो । दर्शन शब्द के दो अर्थ होते हैं - एक अर्थ है - देखना और दूसरा अर्थ है श्रद्धा करना । आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें या तुम्हारी सांसारिक दृष्टि से विचार करें, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में श्रद्धा की जरूरत है । श्रद्धा के बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती ।-श्रद्धा के बिना धर्मक्रिया में भी यथेच्छ लाभ नहीं होता । संसार-व्यवहार के कार्य में भी श्रद्धा के बिना सफलता प्राप्त नहीं होती । संसार-व्यवहार में भी श्रद्धा की कितनी आवश्यकता है ? इसे मैं युक्तियों द्वारा समझाती हूँ -

एक किसान श्रद्धा-विश्वास से अपने खेत में हजारों मन अनाज का महंगा बीज लाकर मिट्टी में बोता है । ऐसा करने में उसकी श्रद्धा होती है कि एक कण से हजारों कण मिलेंगे । अधिकांश घरों में बहनें भरे हुए दूध के तपेले में छाछ का जावण डालती हैं । उनके हृदय में श्रद्धा है कि दूध में छाछ का जावण देने से दही जम जाएगा, उसको बिलोने से मक्खन और तपाने से घी मिलेगा । परन्तु किसान ने बीज बोया, वर्षा हुई । दो-तीन दिन होने के बाद किसान के मन में यह विचार आए कि अनाज पैदा होगा या नहीं ? यों समझकर जमीन खोदकर बोये हुए अनाज के दाने बाहर निकालकर दूसरी जगह बोए । फिर दो-तीन दिन बीते कि वह सोचे कि यहाँ भी अनाज उत्पन्न नहीं हुआ । अतः वहाँ से भी जमीन खेदकर तीसरी जगह उन दानों को बोए । वहाँ भी नहीं उगे तो चौथी जगह वे दाने बोए । यों वह किसान वर्षों तक इस ढंग के बारबार जमीन में बोए हुए बीजों को निकाल-निकाल अन्यत्र बोया करे तो क्या अनाज उत्पन्न हो सकता है ? नहीं । इसी तरह बहने दूध में छाछ का जावण देकर उसे बारबार दूध को हिलाया करे तो क्या दही जम सकता है ? नहीं । अतः किसान को-बीज बोने के बाद तथा बहनों को दूध में छाछ का जावण डालने के बाद श्रद्धा रखनी पड़ती है कि इसका समय परिपक्व हो जाएगा, तब जमीन में से अंकुर फूटेंगे तथा दही जमेगा । अगर ये श्रद्धा न रखें तो सारा कार्य बिगड़ जाता है । इस प्रकार संसार के विभिन्न कार्यों में भी अगर अविश्वास या अश्रद्धा हो तो सफलता नहीं मिलती, तो फिर धर्म का कार्य या धर्माचरण का कार्य तो बहुत ही कठिन है । अगर उसमें जीव को श्रद्धा न हो तो आत्मकल्याण कैसे हो सकता है ? अगर आत्मकल्याण करना हो तो (आत्म) धर्म के प्रति सबसे पहले श्रद्धा रखनी पड़ेगी । 'आचारांग सूत्र' में भगवान् ने कहा है-

"वितिगिच्छा-समावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं । सिया वेगे अणुगच्छंति, असिया वेगे अणुगच्छंति । अणुगच्छमाणेहिं

शत्रु कभी मौका देखकर तेरे पर आक्रमण भी करेंगे और तुझे मार डालेंगे । इसकी अपेक्षा तो तू धर्म को ही छोड़ दे न !" यह सुनकर स्टिवन ने बहुत शान्तिपूर्वक उन्हें जवाब दिया – "मित्रों ! तुम्हें उसके लिए कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं है । मैंने एक लोहखंडी किला तैयार कर रखा है । मैं उसमें घुस जाऊँगा । वहाँ मुझे कोई भी मार नहीं सकेगा ।" यह सुनकर उसके मित्र यों समझे कि हम तो उस पर दया लाकर उसके हित के लिए कहने आए थे, किन्तु उसमें तो अभिमान कूट-कूटकर भरा है । उसके ये मित्र भी गैरसमझ के कारण उसके द्वेषी बन गए और उन्होंने स्टिवन के अभिमान का पारा उतारने का निश्चय कर लिया । जो धर्म पर दृढ़ रहता है, उसकी कसौटी तो होती ही है । परन्तु जो अपने धर्म पर दृढ़ रहता है, वह कसौटी में पास हो जाता है।

एक बार स्टिवन किसी कार्य के लिए अकेला बाहर जा रहा था । मार्ग में उन धर्मद्रोही मित्रों ने उसे चारों ओर से घेर लिया और उसे मारने के लिए तैयार हुए । परन्तु स्टिवन जरा भी डरा नहीं । वे द्वेषी उससे कहने लगे – "स्टिवन ! अब तू क्या करेगा ? तेरा वह मजबूत लोहखंडी किला कहाँ है ?" तब स्टिवन ने निर्भयतापूर्वक शान्ति से उत्तर दिया – "भाइयों ! मेरा किला मेरे हृदय में है, बाहर नहीं । उसका नाम है – धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा । जहाँ तक अपने आत्म-श्रद्धारूपी किले में हूँ, वहाँ तक तुम मेरा जरा भी अनिष्ट नहीं कर सकते । मरण शरीर का है, आत्मा का नहीं । शरीर तो देर-सवेर एक दिन छूटने ही वाला है । अतः आज यह कदाचित् तुम मुझे मार डालेगे तो तुम देह को मार सकोगे, मेरी आत्मा को तुम मार नहीं सकोगे ।" यों कहकर प्रसन्न चेहरे से वह खड़ा रहा । स्टिवन का उत्तर सुन धर्मद्रोही लोग ठंडे हो गए और उसके चरणों में पड़ गए । वे सभी स्टिवन के सहयोग से धर्मश्रद्धावान् बन गए ।

देवानुप्रियों ! धर्म श्रद्धा पर अटल रहने का कैसा सुन्दर फल मिला ? मैं प्रारम्भ में कह चुकी हूँ कि जिसके अन्तर में श्रद्धा का दीपक प्रकट हो जाता है, वह जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष के स्वरूप को पूर्णतया समझ लेता है ।

इन तत्त्वों को समझकर वह पाप, आस्रव और बन्ध का त्याग कर देता है । परन्तु जो जीव अश्रद्धावान् हैं, वे आत्मा, परमात्मा, पुण्य-पाप, बन्धन और मुक्ति, अर्थात् – परलोक के विषय में संशय करते हैं और विचार करते हैं कि 'मैं वर्षों से धर्म का आचरण करता हूँ, फिर भी मुझे कुछ भी फल नहीं मिला । धर्मक्रियाओं में मैंने व्यर्थ इतना समय खोया ।' श्रद्धा में डांवाडोल होने से वह ऐसा विचार करता है ।

"नत्थि नूणं परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो ।
अदुवा वंचिओमित्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ।।"

भगवान् कहते हैं – "मेरा साधक कभी ऐसा विचार न करे कि निश्चय ही परलोक तो है ही नहीं और तपस्वी को भी किसी प्रकार की ऋद्धि प्राप्त नहीं होती । अथवा

मैं ठगा गया । ऐसा विचार मन से भी न करे । जो साधक ऐसा विचार करता है, उसका इहलोक तो बिगड़ता है, साथ ही परलोक भी बिगड़ता है ।" संक्षेप में श्रद्धा के अभाव में साधक अपनी साधना में आगे बढ़कर प्रगति नहीं कर सकता, जबकि धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखनेवाला साधक प्रगति को साध सकता है । उसे संसार की कोई भी शक्ति हरा नहीं सकती ।

आपको पता है न, दृढ़धर्मी अर्हन्नक श्रावक के सामने कौन-सी शक्ति खड़ी है ? यह दैवी शक्ति है - देवी की शक्ति है । देव की शक्ति जैसी-तैसी नहीं थी । एक मात्र भुजबल से दश लाख सुभटों को जीतनेवाला, सैनिक चाहे जितना बलवान हो, किन्तु देव की शक्ति के आगे उसकी शक्ति किसी बिसात में नहीं है । देव ने अर्हन्नक श्रावक को एक-दो ही नहीं, तीन-तीन बार डराते-धमकाते हुए कहा - "तू अपने व्रत-नियमों का त्याग कर" फिर भी अर्हन्नक ने त्याग नहीं किया । इसलिए देव उस पर कोपायमान हुआ । तुम अपने पुत्र को यों कहो कि "भाई ! तू ऐसा मत करना ।" उसे आप एक-दो बार ही नहीं, तीन बार कहो, फिर भी वह न माने तो तुम उसे कहते हो न, कि "तुझे कितनी बार कहूँ ?" फिर तुम्हें गुस्सा आ जाता है न ? इसी प्रकार देव को भी अर्हन्नक पर गुस्सा आया । क्रोध से तमतमाता हुआ वह आगबबूला हो गया और फिर उसने वाहन (जलयान) को अपनी मध्यमा और तर्जनी इन दो अंगुलियों से पकड़ लिया । *"गिण्हित्ता सवुड्ढ-तलाइं जाव अहन्नगं एवं वयासी ।"* पकड़कर वह सात-आठ ताल यानी सात-आठ ताल - ताड़वृक्ष के ऊँचे (ऊँचाई पर) आकाश में ले गया । ताड़वृक्ष बहुत ऊँचे होते हैं । एक वृक्ष पर दूसरा वृक्ष, दूसरे वृक्ष पर तीसरा, यों ७-८ ताड़ के वृक्ष एक पर एक रखे जाएँ तो कितने ऊँचे हो जाते हैं ? इतनी ऊँचाई पर वह देव अर्हन्नक के वाहन (जलयान) को ले गया । इतना ऊँचा ले जाकर अर्हन्नक से इस प्रकार कहा -

"हं भो ! अरहन्नगा ! अपत्थिय - पत्थिया ! णोखलुकप्पइ, तव-सीलव्वय तहवे धम्मज्झाणोवगए विहरइ ।"

"हे अर्हन्नक ! अप्रार्थित-प्रार्थित यानी मरण के इच्छुक ! मैं तुम्हें शीलव्रत आदि से विचलित करूँ, यह मुझे उचित नहीं लगता । इसलिए मैंने कहा कि तुम अपनी इच्छा से व्रत-नियमादि का त्याग कर दो । अन्यथा, मैं तुम्हारे वाहन (जलयान) को यहाँ से (इतनी ऊँचाई से) नीचे पटककर समुद्र के जल में डुबा दूंगा । जिससे तुम असमाधि को पाकर आर्तध्यान के वश हो जाओगे । अर्थात्-तुम समुद्र में वाहन-सहित फेंक दिये जाओगे तो तुम्हें असमाधि होगी, आर्तध्यान होगा और तुम कल्पान्त करोगे । तथा मृत्यु आने से पहले अकाल मृत्यु के शिकार बन जाओगे ।" ये सब बातें अर्हन्नक ने सुन ली । वह बहरा नहीं था, परन्तु देव की बात पर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया और मन ही मन, पहले की तरह देव को उद्देश करके कहा - "मुझे

निर्ग्रन्थ-प्रवचन से कोई भी चलायमान नहीं कर सकेगा।" इस प्रकार विचार करके वह निश्चल और निर्भय होकर मौन रहकर धर्मध्यान में तल्लीन हो गए।

अर्हन्नक श्रावक की ऐसी दृढ़ श्रद्धा देखकर देव भी स्तब्ध हो गया। 'अहो! कितनी गजब की इसकी श्रद्धा है? मैं इतना तूफान किया, भयंकर रूप धारण करके डराया, उसे मार डालने तक की धमकी दी और अन्त में वाहन बहुत ऊँचा उठाकर पानी में डुबा देने की भी डर बताया। फिर भी यह अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं हुआ। मैंने ज्यों-ज्यों अधिक कसौटी की, त्यों-त्यों इसकी श्रद्धा का प्रकाश बढ़ता गया। अब तो कसौटी की हद हो गई। मानवमात्र को मरण के डर से बढ़कर अन्य कोई डर नहीं है, परन्तु यह अर्हन्नक तो मृत्यु से भी नहीं डरता।' यों विचार करके पिशाच रूपधारी देव अर्हन्नक श्रावक को निर्ग्रन्थ प्रवचन से क्षुब्ध करने में, विचलित करने में तथा विपरिणमित करने में असमर्थ रहा। अतः श्रान्त-थका हुआ, भग्न-टूट हुए मन से खिन्न होकर उपसर्ग करने आदि रूप में अपने कृत्य से प्रतिनिवृत्त हो गया। अर्थात् वह देव हार, थककर बैठ गया। अर्हन्नक की दृढ़ श्रद्धा देखकर देव के परिणाम बदले। अर्हन्नक श्रावक अपने ध्यान में मस्त है। अब आगे देव क्या करेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

माता को दिया करारा जवाब : कनकमाला को प्रद्युम्नकुमार ने बहुत ही कठोर शब्द कहे, फिर भी वह नहीं मानी। वह बोली - "मैंने तुझे जन्म नहीं दिया। मैं तेरी माँ नहीं हूँ।" तब प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "भले ही तूने मुझे जन्म नहीं दिया हो, किन्तु तू मेरी पालक-माता तो है न? अबतक तू मुझे बेटा! बेटा! कहती थी और मैं तुझे माता माता कहकर पुकारता था और तेरी गोद में खेलता-कूदता था। अतः अब तेरी बुद्धि क्यों बदल गई?" यह सुनकर कनकमाला ने कहा - "अपने बगीचे में वृक्ष उगाने पर उसके मीठे फल क्या वह नहीं खाता? वैसे ही तू ऐसे रत्नकुल में पका हो तो तेरे साथ सुखरूप फल भोगें तो इसमें क्या दोष है? अतः ये सब व्यवहार शून्य पोथी पाण्डित्य छोड़कर मेरी इच्छा पूरी कर।" यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार विचार में पड़ गया कि घोड़ा लगाम से वश में होता है, हाथी अंकुश से वश में होता है, परन्तु यह स्त्री किसी भी तरह से वश में नहीं होती। इसे मैंने चाहे जितने कड़वे और कड़े वचन कहे, फिर भी यह समझती नहीं है और समझ जाए, ऐसा भी नहीं लगता। अतः यहाँ रुकने में कोई सार नहीं है। फिर भी [illegible] अस्त्र छोड़ते हुए प्रद्युम्न ने कहा - "हे माता! तू ऐसा [illegible] आचरण करने से कुल कलंकित होता है। [illegible] में दुर्गति होती है। अतः आप शुद्ध ध्यान में [illegible] पवित्र बनाओ।"

बार-बार समझाई मात को, विचार नहीं पलटाया ।
आया उठ तब मदल विपिन में, बैठा तरुवर की छाया हो ॥ श्रोता...

प्रद्युम्नकुमार ने कनकमाला को विभिन्न युक्तियों से बहुत समझाया, फिर भी वह नहीं मानी । इसलिए वह वहाँ से उठकर चल दिया । माता के ऐसे खराब व्यवहार से उसे बहुत दुःख हुआ । इसलिए अपने मन को शान्त करने के लिए गाँव से बाहर जंगल में जाकर एक वृक्ष की छाया में उदास होकर कनपटी पर हाथ रखकर बैठ गया । उस समय संयोगवश एक मुनिवर विचरण करते-करते वहाँ आए । ऐसे वन में पवित्र मुनि को देखकर उसे बहुत आनन्द हुआ । तुरंत खड़े होकर उसने मुनि को वन्दन करके कहा - "गुरुदेव ! ऐसे जंगल में दुःख के समय मुझे आपके दर्शन हुए, अतः मैं बहुत भाग्यशाली हूँ । गुरुदेव ! कृपा करके मेरे एक प्रश्न का जवाब दीजिए, मेरे संशय का निवारण कीजिए ।" मुनि अवधिज्ञानी थे । उन्होंने कहा - "भाई ! तुम्हारी जो भी शंका हो, उस विषय में खुशी से पूछो ।" प्रद्युम्नकुमार बोला - "गुरुदेव ! क्या बात करूँ ? प्रश्न पूछते हुए भी मुझे शर्म आती है । फिर लज्जा संकोच छोड़कर मैं आपसे पूछता हूँ -

माता के क्यों इच्छा उपजी, सुत-संग काम-विकार ?
कौन कर्म का यह फल होगा ?, कहो करुणा-भंडार हो ॥ श्रोता...

गुरुदेव ! मुझे देखकर मेरी माता के मन में काम-विकार पैदा हुआ । उसकी दृष्टि बिगड़ी । पुत्र के साथ कभी ऐसा विकल्प माता को नहीं आता । किन्तु मुझे देखकर मेरी माता की ऐसी कुबुद्धि हुई, उसका क्या कारण है ? यह मेरे किस कर्म का फल है ? इस विषय में आप दया करके मुझे कहिए ।"

कनकमाला और प्रद्युम्नकुमार का पूर्वभव : मुनि ने कहा - "वत्स ! पूर्व के सम्बन्ध बिना किसी के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते । पूर्वभव में वे कैसे थे, यह सुनो । तू इस भव से पूर्व तीसरे भव में अयोध्या नगरी में मधु नामक राजा था और कैटभ तेरा छोटा भाई था । तुमने हेमरथराजा की प्राणप्रिया इन्दुप्रभा रानी को बलात्कार से कपटपूर्वक तुम्हारे यहाँ रख ली और उसके साथ अनेक दिनों तक सांसारिक सुख भोगा । एक दिन किसी परस्त्रीगामी पुरुष को तुमने फांसी पर लटकाने की सजा फरमाई । इन्दुप्रभा ने यह बात जानी तब तुम्हें कहा - "नाथ ! आपने इस पुरुष का परस्त्री के साथ रमणता के कारण अपराधी मानकर फांसी की सजा फरमाई तो आपने कहाँ मेरे साथ विवाह किया था ? आप भी परस्त्री के साथ रमणता करते हैं न ?" इन्दुप्रभा के इन शब्दों को सुनकर तुम्हारी आत्मा जागृत हुई । विरक्त होकर तुमने दीक्षा अंगीकार की । तुम्हारे छोटे भाई कैटभकुमार ने भी तुम्हारे साथ दीक्षा ग्रहण की । तब इन्दुप्रभा के मन में भी ऐसा विचार आया कि अब मुझे अकेले संसार में किसलिए रहना चाहिए ? मैं भी दीक्षा ले लूं । इसलिए उसने भी दीक्षा ले ली और

सुन्दर चारित्र पालकर आयुष्य पूर्ण करके तीनों ही देवलोक में गए । वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके वहाँ से च्यवकर इन्दुप्रभा विद्याधर कुल में जन्म लेकर कालसंवरराजा की पत्नी कनकमाला वनी और तुमने द्वारिका नगरी में त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव की पटरानी रुक्मिणी की कुक्षि से जन्म लिया और हेमरथराजा पत्नी के वियोग में आर्तध्यान में मरकर असुरदेव हुआ । पूर्वभव के वैर के कारण तुम्हारा जन्म होने के छठ्ठे दिन माता की गोद में से उठाकर तुम्हें मार डालने के लिए पर्वत पर ले गया । वहाँ तुम पर एक शिला रखकर चला गया । वहाँ से तुम्हें लाकर कनकमाला ने तुम्हें पाला-पोसा और तुम बड़े हुए ।

मधुराजा के भव में तुमने उसके साथ वहुत काम-सुख भोगा । उसके कारण इस भव में तुम्हारे जवान होने पर तुम्हें देखकर उसकी ऐसी भावना जागृत हुई है । अब उसकी इच्छा तुम्हें दो विद्याएँ देने की है । अतः तुम युक्तिपूर्वक दो विद्याएँ उससे ले लेना ।" पूर्वभव की वात सुनकर प्रद्युम्नकुमार को कर्म के स्वरूप का भान हुआ ।

रुक्मिणी का पूर्वभव : प्रद्युम्नकुमार ने पुनः एक प्रश्न पूछा - "भगवन् ! भवसिन्धु तारक ! मैं फिर एक प्रश्न पूछता हूँ । मेरा जन्म होने के वाद ६ दिवस में माता से मेरा वियोग क्यों हुआ ? क्या यह (वियोग) मेरे दोष के कारण हुआ या मेरी माता के दोष के कारण हुआ ?" तव मुनि ने कहा - "हे प्रद्युम्नकुमार ! इसमें तेरी माता के पूर्वभव के कर्म का कारण है ।" "भगवन् ! तो यह मेरी माता के किस कर्म के उदय के कारण है ? कृपा करके मुझे समझाइए । " मुनि ने कहा - "हे प्रद्युम्नकुमार, सुन ! इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगधदेश में लक्ष्मीपुर नामक एक नगर है । वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश का ध्यान करनेवाला सोमशर्मा नामक ब्राह्मण रहता था । उसके कमला नाम की पतिव्रता स्त्री थी । उसके लक्ष्मीवती नाम की एक पुत्री थी । वह अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय थी । ब्राह्मण के पास अपार सम्पत्ति थी । वड़ी होने पर लक्ष्मीवती का धूमधाम से विवाह कर दिया । एक दिन वह अपने पति के साथ जंगल में घूमने गई । वहाँ एक वृक्ष के नीचे मोरनी ने अंडे दे रखे थे । फिरते -फिरते लक्ष्मीवती की नजर उन अंडों पर पड़ी । कैसे सुन्दर अंडे हैं ये ? यह कहकर उसने अंडों को देखने के लिए कुतूहलवश हाथ में लिए । उसके हाथ पर ताजी मेंहदी लगी होने से अंडे कुंमकुम् जैसे लाल हो गए । लक्ष्मीवती ने अंडों को देखकर वे जहाँ थे वहाँ रख दिये । कुछ समय वाद मोरनी आई तो उसने मेंहदी के रंग से रंगे हुए लाल वने हुए उन अंडों को देखकर सोचा - 'ये मेरे अंडे नहीं हैं ।' उसने अपने अंडों को नहीं पहचाना । इस कारण सोचा - 'मेरे अंडे चले गए हैं ।' यों सोचकर वह विलाप करने लगी । उसने सोलह घड़ी तक अंडों को नहीं पहचाने । इस कारण उन अंडों को सेवे नहीं । उस तेरी माता ने इस कारण कठोर कर्म बंध लिए । अब मोरनी उन अंडों को कैसे पहचानेगी और आगे क्या होगा, इसका भाव यथावसर आगे कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ८२

आसो सुदी ५, मंगलवार | ता. २८-९-७६

सम्पत्ति बढ़ाओ : जो आत्मिक हो ।

सत्य के शोधक, भव-भव के भेदक, परम-पथ के पथिक, मोक्ष की मंजिल के प्रवासी, अनन्त करुणा के सागर भगवान् ने जगत् के जीवों को सच्ची राह बताने हेतु सिद्धान्त की प्ररूपणा की । शास्त्र का वाचन, मनन और श्रवण करने से जीव कल्याणकारी मार्ग को जान सकता है । आपको पता होगा कि किसी भी मार्ग को जानने-समझने के लिए कितना पुरुषार्थ करना पड़ता है ? बालक पाँच-छह साल का हो जाय, तब से लेकर जवान हो जाए वहाँ तक स्कूल और कोलेजों में पढ़ता है । इतने मात्र से काम नहीं बनता, इसके आगे धन कैसे कमाया जाय ? उस मार्ग को भी जानता है । वह धन तो सिर्फ तुम्हारे इस जीवन में काम आएगा । और तो और, इस जीवन में भी अगर पापकर्म का उदय हो जाय तो जीवन चालू होने पर भी धन चला जाता है । वर्तमान युग का मानव रुपये, पैसे, सोना, हीरा, मोती आदि को धन मानता है, किन्तु धर्मरूपी धन को धन नहीं मानता । इसका कारण यह है कि धन को तथा धन से होनेवाले लाभ को प्रत्यक्ष देख सकते हो, अनुभव कर सकते हो, किन्तु धर्म (अमूर्त होने से) प्रत्यक्ष दिखता नहीं है । तथैव धर्म से होनेवाले लाभ को भी देख नहीं सकते । इस कारण जीव धर्मरूपी धन की कद्र नहीं करता । परन्तु ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि "धन कमाने का मार्ग जानना उतना जरूरी नहीं है, जितना जरूरी है, धर्मरूपी धन कमाने का मार्ग जानना ।" यही कारण है कि भगवान ने वीतरागवाणी का श्रवण करना दुर्लभ बताया है । शास्त्र का श्रवण करने से व्यक्ति धर्म और धन दोनों का अन्तर समझ सकता है । तब उसे समझ में आ जाता है कि धन कमाने का मार्ग पापबहुल पथ है । इसलिए मुमुक्षु और सम्यग्दृष्टि जीव पापाचारी मार्ग से बचने के लिए कल्याणकारी मार्ग पर चलते हैं । इस मार्ग पर चलने से जीव मोक्ष की मंजिल पहुँच सकता है ।

आज जगत् का प्रत्येक जीव मोक्ष की इच्छा रखता है । नरकगति का नाम सुनते ही, उसके प्रति नफरत पैदा होती है । जबकि मोक्ष मार्ग का नाम सुनने पर जिज्ञासा जागती है । मैं तुमसे पूछती हूँ कि नरक के नाम के प्रति नफरत करने से क्या नरक में जाने से बचा जा सकता है ? अथवा मोक्ष की इच्छा करने मात्र से मोक्ष में पहुँचा

जा सकता है ? नहीं । मोक्ष प्राप्त करने के लिए क्या करना पड़ेगा ? इस संसाररूपी रणभूमि पर अपनी सेना (आध्यात्मिक तप-जपादि) को साथ लेकर कर्मरूपी शत्रु के साथ भयंकर युद्ध करना पड़ेगा । कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से मोक्षरूपी किला सर किया जा सकता है । बाह्य-शत्रुओं पर विजय पाने के लिए जैसे राजा, मंत्री, हाथी, घोड़ा, रथ, सेना तथा रणभेरी इत्यादि सभी साधनों की जरूरत पड़ती है, वैसे ही कर्म-शत्रुओं पर विजय पाने के लिए इन सबकी जरूरत पड़ती है । यहाँ राजा, मंत्री, सैन्य वगैरह कौन-कौन हैं ? क्या आपको उनका पता है ? आपको शायद इनका पता नहीं होगा । तो लो, मैं ही आपको बता देती हूँ ।

जीवरूप राजा, समकित प्रधान जाके ।
ज्ञान को भंडार, शीलरूप रथ-सारके ॥

आत्मा एक महान, गुणवान, शक्ति सम्पन्न, प्रतापी राजा है । उसके सम्यक्त्वरूपी प्रधान है । *बन्धुओं ! क्या आपको यह बात समझ में आती है ?*

अगर राजा को प्रामाणिक, नीतिसम्पन्न, बुद्धिशाली मंत्री हो तो वह राजा को राज्य के कामकाज में सच्ची सलाह देकर राज्य को सुरक्षित रखने में सहायक होता है । वह राज्य भी अच्छी तरह चलाता है । इसके विपरीत मंत्री मूर्ख या दुष्ट हो तो राजा को खोटी सलाह देता है, और राजा को उलटे रास्ते ले जाता है । परिणाम-स्वरूप वह राज्य दुश्मन के हाथ चला जाता है और राजा का जीवन भी खतरे में पड़ जाता है । यह न्याय आत्मा के साथ घटित करना है । आत्मा राजा है । सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) उसका खास मंत्री है । सम्यक्त्वरूपी मंत्री आत्मा को संसार-संग्राम में विजयी बनाकर मोक्षरूपी किला प्राप्त कराता है । क्योंकि जिसके जीवन में सम्यक्त्व आ गया है वह देर-सवेर अवश्य मोक्ष में जानेवाला है । सम्यक्त्व में ऐसी शक्ति है कि वह आत्मा को मोक्ष दिलाकर ही दम लेता है । किन्तु मिथ्यात्वरूपी दुष्ट और कपटी मंत्री हो तो वह आत्मा को शक्तिहीन बनाकर कर्मरूपी शत्रुओं के खिलाफ युद्ध में पराजय दिलाता है । उसके फलस्वरूप मोक्ष तो दूर रहा, अपितु आत्मा को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है और दीर्घकाल तक नरकगति और तिर्यंचगति के दुःख सहने पड़ते हैं । इस कारण मिथ्यात्वरूपी मंत्री आत्मा के लिए दुःख का कारण बनता है । वह जीव को कुपथगामी बनाता है । परन्तु अगर सम्यक्त्वरूपी मंत्री जाए तो वह कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर आ जाता है और उनकी सलाह से कर्मरूपी शत्रुओं को पराजित कर सकता है । अब आपकी समझ में आ गया न कि राजा कौन है और मंत्री कौन है ? अब हमें विचार करना है कि इस (आत्मारूपी) राजा का खजाना कौन-सा है ? इस पर विचार करें ।

राज्य का खजाना धन, हीरा, माणिक, मोती और सोने से परिपूर्ण होता है । क्योंकि राजा के पास यह खजाना न हो तो उसका राज्य कैसे चल सकता है ? धन के अभाव में न तो शस्त्रास्त्रों का प्रबन्ध हो सकता है, और न सेना जुट सकती है ।

जैसे यह राजा का खजाना है, वैसे ही जीवरूपी राजा भी अपने पास अक्षय भण्डार रखता है। वह भण्डार कौन-सा है ? क्या आपको पता है ? मैं आपको बताती हूँ। ज्ञानरूपी भण्डार अक्षय है। राजा के भण्डार को चोरी, लूट और नष्ट होने का भय है, जबकि इस भण्डार को किसी प्रकार का भय (खतरा) नहीं होता। किसी मनुष्य के पास पापकर्म के उदय से धन न हो तो वह अपने आपको गरीब मानता है। परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि "जिसके पास सम्यग्ज्ञानरूपी धन नहीं है, वह गरीब है। जिसके पास भौतिक धन नहीं है, किन्तु ज्ञानरूपी धन है, वह संसार के विषम (अटपटे) मार्ग पर बेफिक्र होकर निश्चिंतता से चलता-चलता मोक्ष के द्वार तक पहुँच सकता है। ज्ञान आत्मा की अखूट और अक्षय सम्पत्ति है। ज्ञानीपुरुषों ने सम्पत्ति के दो प्रकार बताए हैं। एक है - बाह्य सम्पत्ति और दूसरी है - आध्यात्मिक सम्पत्ति। बाह्य सम्पत्ति तो आँखों के सामने प्रत्यक्ष दिखाई देती है। धन-सम्पत्ति, माल-मिल्कियत आदि सब बाह्य-सम्पत्ति है। जबकि ज्ञान, दर्शन, आत्म-श्रद्धा, क्षमा, सरलता, शील, सन्तोष, विनय आदि सब आध्यात्मिक सम्पत्ति है। बाह्य सम्पत्ति तो कोई लूट सकता है, परन्तु आध्यात्मिक सम्पत्ति तो मानव तो क्या, देवता की भी ताकत नहीं है कि उसे लूट सके। जिसे इस सम्पत्ति की पहचान नहीं है, वह बाहर ही बाहर भटकता है।

एक सुखी धनवान सेठ थे। उन्होंने अन्याय, अनीति, ठगी, विश्वासघात एवं धोखेबाजी आदि अनेक पाप करके पुष्कल धन संचित किया। वह सेठ धन के पीछे पागल थे। पैसे को ही वह सर्वस्व समझते थे, क्योंकि उनके जीवन में अत्यन्त धन-लिप्सा थी। इसके कारण चाहे जैसे भी पाप करके धन संचित करने में वह आनन्द मानता था। और धन देख-देखकर हर्षित होता था कि मेरे पास सम्पत्ति है, वैभव है, और सुखसामग्री है। किन्तु उसे धन नजर के समक्ष दिखाई देता, किन्तु येन-केन-प्रकारेण धन प्राप्त करने के लिए मैंने कितना पाप किया है, वह दिखाई नहीं देता था। परन्तु ज्ञानी कहते हैं -

"पाप छिपायां ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग।
दाबी - दूबी ना रहे, रूई लपेटी आग॥"

सेठ के पुण्य का उदय था, वहाँ तक पाप करके धन संचित करता रहा। उसने धन को कमाने, प्राप्त करने, उसकी सुरक्षा करने में कभी धर्मरूपी धन को याद नहीं किया।

समय बीतते ही सेठ के पुण्य का सितारा अस्त होने लगा। इस कारण किसी मनुष्य ने राजा को बताया कि 'इस सेठ ने अन्याय, अनीति और विश्वासघात करके लाखों रुपये इकट्ठे किये हैं। वह दगा-प्रपंच-ठगी आदि करने में शूरवीर और धीर है।' राजा को यह बात सुनकर बहुत गुस्सा आया, क्योंकि राजा स्वयं प्रामाणिक और न्याय-सम्पन्न थे। राजा ने अपने आदमियों को आदेश दिया कि "इस सेठ की तमाम मिल्कियत (सम्पत्ति) जप्त कर लो और वह सारा धन दीन, दुःखी, अभावपीड़ित, निराधार, अपाहिज (विकलांग) और अनाथ आदि में बांट दो।" सरकार का यह आर्डर हुआ और उस आदेश को लेकर

राजसेवक पहुँचे । जिसके मन में धन ही प्राण और सर्वस्व है, वह सेठ तो राजाज्ञा सुनते ही एकदम घबरा गया । यह खबर उसके लिए प्राणघातक और आघातजनक हुई । वह अपना मस्तक दीवार से पछाड़ने लगा । सचमुच वह अत्यन्त घबरा गया था । लोगों को भरमाकर, दगा करके ठगा । वहाँ (गाँव में) यह बात चल गई । परन्तु सरकार के कानून के आगे पोलपट्टी कैसे चल सकती थी ? इस कारण सेठ दुकान से घबराकर घर पर आया और वुक्का फाड़कर रोने लगा ।

सेठानी ने पूछा - "आज आप इतने रोते क्यों हैं और घबराये हुए क्यों दिखाई दे रहे हैं ?" सेठ बोला - "राजा का हुक्म हुआ है कि सेठ की सारी सम्पत्ति जप्त कर लो और उसे गरीबों में बांट दो । अब अपना क्या होगा ?" सेठानी यह सुनकर हंस पड़ी और कहने लगी - "इसके जैसा आनन्द और क्या हो सकता है ? राजा ने अपना धन जप्त करने का आदेश दिया है, क्या इस कारण हम गरीब हो गए ?" सेठानी के यह शब्द सेठ को कैसे लगेंगे ? यह शब्द जलती आग में घी डालने जैसे दुःख में अधिक दुःख बढ़ानेवाले लगते हैं ? अतः उसने कहा - "सेठानी ! तुम इतना भी नहीं समझती कि जब अपने पास धन नहीं रहेगा, तब हम क्या गरीब नहीं कहलाएँगे ?" सेठानी अत्यन्त शान्त स्वभाव की थी । वह बाह्य सम्पत्ति की अपेक्षा आत्मिक सम्पत्ति को महत्त्वपूर्ण समझनेवाली थी । उसमें आध्यात्मिकता का ज्ञान बहुत था । उसने कहा - "क्या सरकार हमारी आत्मिक सम्पत्ति को लूट सकेगी ? कोई भी किसी की आत्मिक सम्पत्ति लूट नहीं सकेगा । (भौतिक) धन बाहर से आया है, वह बाहर ही जानेवाला है । उसके चले जाने से दुःख किस बात का ? सच्चा सुख और शान्ति देनेवाली आत्मिक सम्पत्ति है । सरकार तुम्हारे तन और मन को जप्त कर सकेगी क्या ? नहीं । तो फिर आपको चिन्ता किस बात की है ? राजा धन-दौलत ले जा सकता है, किन्तु आपके हृदय में जो सन्तोषरूपी धन है, उसे कौन ले जा सकता है ? वह धन यदि आपके पास है तो फिर आप गरीब कैसे हैं ? वास्तविक गरीब वह है, जिसके पास सद्ज्ञान नहीं है । सन्तोष नहीं है । जिसके पास सन्तोषरूपी धन है, उसके पास त्याग, वैराग्य, तप, धैर्य, क्षमा, दया, न्याय, नीति, सहिष्णुता आदि अनेक गुण स्वतः आ जाते हैं । मैं समझती हूँ कि इस बाह्य धन जप्त होने से आपका आत्मिक धन बढ़ जाएगा ।"

सेठानी की यह बात सुनकर सेठ ठंडे हो गए । उसकी आँखें खुल गई । उन्हें समझ में आ गया कि बाह्य सम्पत्ति पाने में पाप और छोड़ते वक्त भी यदि आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान हो तो भी पाप । अन्त में सेठ ने सामने से चलकर राजा को कहा - "मेरे यहाँ धन प्रचुरमात्रा में है । मुझे उसकी रक्षा करनी पड़ती है । उसकी सुरक्षा रखने के लिए भी मुझे बहुत उपाधि रखनी पड़ती है । अतः आप इस धन को ले जाइए ।" सेठ को सत्य समझ में आ गया था, इसलिए अब उसे त्यागने में जरा भी आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान नहीं होता । किन्तु वह ऐसा मानते हैं कि मेरे सिर से पाप का बोझ उतर गया । सेठ को सच्ची सम्पत्ति का भान होते ही बाह्य सम्पत्ति का मोह उतर गया ।

आपके समक्ष 'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार सुनाया जा रहा है। देव ने अर्हन्नक श्रावक की कठोर से कठोर कसौटी की, परन्तु जिसने भलीभांति समझ लिया था कि मेरी आत्मिक-सम्पत्ति कभी लूटने या नष्ट होनेवाली नहीं है, इस कारण शील आदि १२ व्रतों से और वीतराग के मार्ग से विलकुल विचलित या विपरिणामित नहीं हुए। इतना सब करने के बाद जब वह अर्हन्नक को विचलित न कर सका, तब वह थक गया। उसका मनोवल टूट गया। उसने सोचा - 'इस मनुष्य के साथ मुठभेड़ में मैं हार गया। कहाँ देव ! कहाँ मनुष्य ! क्या एक मनुष्य मुझ देव को हरा दे ?' कोई दुर्बल सवल को हरा दे तो सवल की नाक कटे ! वैसे ही यहाँ मानव के सामने अधिक शक्तिशाली देव हार गया। इस कारण उसकी नाक कटने जैसा हो गया। अन्त में, उस देव ने अर्हन्नक को उपसर्ग (कष्ट) देना बंद कर दिया। धीरे-धीरे आकाश से उतरकर उसने वाहन (जलयान) को पानी पर तैरता हुआ रख दिया। अब देव अर्हन्नक पर प्रसन्न हुआ। वह मन ही मन विचार करने लगा - 'अहो ! मैंने ऐसे धर्मिष्ठ, दृढ़धर्मी और प्रियधर्मी श्रावक को इतना दुःख दिया, मैंने उनकी घोर आशातना की है।' अतः उसने वाहन (जलपोत) को पानी पर रख देने के बाद क्या किया ?

ठवित्ता तं दिव्वं पिसायरूवं पडिसाहरइ।

वाहन को पानी पर रखकर उसने अपना दिव्य पिशाचरूप अन्तर्हित कर लिया। अर्थात् उसने पिशाचरूप बदल कर अपना सच्चे दिव्य रूप धारण कर लिया। देव का रूप और सौन्दर्य अपार होता है। उसकी शक्ति भी वहुत होती है। मूल रूप धारण करके दिव्य रूप में पहने हुए उसके वस्त्र छोटी-छोटी घूघरियों के गुच्छे-गुच्छे से जड़े हुए ऐसे सुन्दर प्रतीत हो रहे थे। वह हिलता-चलता तो वे घूघरियाँ खड़खड़ाती थीं। देव के दिव्य वस्त्र कीमती, मुलायम और वहुत ही सुन्दर होते हैं। तदनन्तर देव ने आकाश में स्थिर रहकर श्रमणोपासक अर्हन्नक को इस प्रकार कहा -

"हं भो ! अरहन्नगा ! धन्नोऽसि णं तुमं देवाणुप्पिया ! जाव जीवियफले, जस्स णं तव निग्गंथे पावयणे इमेयारूवा पडियत्ती लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया।"

(देव हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर कहता है -) "हे अर्हन्नक ! तुम धन्य हो। देवानुप्रिये ! (तुम कृतार्थ हो, तुम सफल लक्षणवाले हो) तुम्हारा जन्म और तुम्हारा जीवन सफल है कि जिसको (यानि तुमको) निर्ग्रन्थ-प्रवचन में इस प्रकार की प्रतिपत्ति (श्रद्धा) लव्ध (उपलव्ध) हुई है, प्राप्त हुई है और आचरण में लाने के कारण सम्यक् प्रकार से समन्वागत (सम्मुख) हो गई है।"

'दशवैकालिक सूत्र' में कहा है - *"देवावितंनमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ।"* - "जिसका मन सदैव धर्म में लीन होता है, जिस घर में सत्य, नीति और प्रामाणिकता होती है, ऐसे आत्माओं को (सब प्रकार के) देव भी नमस्कार करते हैं।"

हाँ तो, यहाँ भी देव आकाश में से गर्जना करके उल्लास में आकर कहता है - "हे अर्हन्नक श्रावक ! अहो ! मेरे वीतराग भगवान् के श्रमणोपासक ! मैंने बहुत भूल की । सुधर्मा सभा में सौधर्मावतंसक विमान में देवेन्द्रशक्र ने जैसी आपकी प्रशंसा की थी, हूबहू वैसे ही मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ । मैं आपको हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ । आपको धन्य है । आपकी जननी को भी धन्य है । जिसने तुम-से पुत्ररत्न को जन्म दिया है । हे देवानुप्रिये ! तुमने समग्र रूप से मनुष्य-जीवन का फल प्राप्त किया है, मनुष्य-जीवन को सफल किया है । सचमुच, इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर तुमने सम्यक् श्रद्धा प्राप्त की है । तुम्हारी तो क्या बात करूँ ? तुम्हें श्रद्धा से चलायमान करने के लिए मैंने अनेक उपसर्ग दिये । फिर भी तुम अपने व्रतों पर, श्रद्धा पर अन्त तक टिके (चिपके) रहे ।"

वास्तव में अर्हन्नक श्रावक दुःख में घबराये नहीं और सुख में अहंकार से फूले नहीं । उन्होंने दुःख को पचाने की अद्भुत शक्ति का अभ्यास किया था । सुख को पचाना तो सबको आता है, परंतु दुःख को पचाना आए, यही जीवन की विशेषता है । देव कहता है -

तएणं अहं देवाणुप्पिया । मवकस्स देविंयस्स एय मट्ठे णो सद्दहापि जाव भुज्जो भुज्जो खामेइ खामित्ता अरहन्नयस्सादुवेकुंडले-जुयलेदलयइ ।"

"हे देवानुप्रिये ! मैंने तुम्हें दुःख क्यों दिया ? देवानुप्रिये ! मैं किसलिए आया ? वास्तव में मैंने तुम्हारे साथ जो कुछ बर्ताव किया है, उसके पीछे कारण इस प्रकार है - एक दिन परम ऐश्वर्यशाली देवराज देवेन्द्र शक्रेन्द्र ने सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में सौधर्मविसंसक विमान में अनेक देवों के बीच में बैठकर बुलंद आवाज में पहले सामान्य रूप से तथा फिर विशेष रूप से समझाते हुए कहा - "इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दक्षिण भरतक्षेत्र में चम्पा नाम की नगरी में जीव-अजीव इत्यादि तत्त्वों का ज्ञाता अर्हन्नक नामक श्रमणोपासक रहता है । वह दृढ़ सम्यक्त्वी है । देव-गुरु-धर्म के प्रति अखण्ड श्रद्धावाला तथा देशाविरतिरूप धर्म में इतना अधिक दृढ़ और स्थिर है कि -

"एवं खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहेवासे चंपाए नयरीए अरहन्नए समणोपासए अहिगय-जीवजीवे' नोखलु सक्के केणइ देवेण वा दाणवेण वा निग्गंथाओ पावयणाओ चालितए वा, जाव (खोभित्तए वा) विपरिणामित्तए वा ।"

उसको (अर्हन्नक को) श्रद्धा से विचलित करने में, विक्षुब्ध करने में तथा परिणामों को विपरीत करने में कोई भी देव आए (यानी दानव, किन्नर, किम्पुरुष महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि के रूप में व्यन्तर जाति के देव आएँ, भवनपति देव आएँ, ज्योतिषी देव आएँ अथवा वैमानिक देव आएँ तो भी उसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन रूप धर्म से विचलित नहीं कर सकते । इसे शक्रेन्द्र देवराज ने अवधि-ज्ञान का उपयोग किया । उसमें उन्होंने अर्हन्नक को देखा । इस कारण पुनः उल्लास में, आनन्द में आ गए, और बोले - "हे देवो ! तुममें से किसी की शक्ति या सामर्थ्य नहीं है कि अर्हन्नक श्रावक को काया से तो दूर रहा, मन से भी विचलित कर सको ! कहते हैं कि वर्षा बरसती है तब और तो सारी वनस्पतियाँ हरीभरी हो जाती हैं, किन्तु जवासा जल जाता है । जवासे की तरह मुझसे यह अच्छी बात भी सहन नहीं हुई । ओह ! हमारी पर्षदा में किसी देव की प्रशंसा न करके मर्त्यलोक के मानव की गुणगान या प्रशंसा करना क्या शोभा देता है ? मैं ठहरा ईर्ष्यालु । तुम्हारे (अर्हन्नक के) गुणकीर्तन को पचा (सहन) न कर सका । आज भी जगत् में किसी के विषय में अच्छी बात कही जाए तो ईर्ष्यालु मनुष्य पचा नहीं सकता । संसार में नहीं पचानेवाले बहुत हैं, परन्तु माफी मांगनेवाले बहुत थोड़े हैं । जबकि यहाँ तो देव अर्हन्नक से माफी मांगता है । वह कहता है - "आपकी प्रशंसा मैं सहन न कर सका, मैं देवराज इन्द्र के कथन पर श्रद्धाबान न हुआ । उनके वचन मुझे अच्छे नहीं लगे । इस कारण मेरे मन में इस प्रकार अभ्यर्थित, चिन्तित, प्रार्थित, कल्पित संकल्प उत्पन्न हुआ कि चलें, अर्हन्नक श्रावक के पास जाएँ, और जाँच-पड़ताल करें कि यह प्रियधर्मी (ये धर्मप्रिय है या नहीं ? यह दृढ़धर्मी (धर्म में दृढ़) है या नहीं ? और अपने शील, संयम, व्रतों और गुणों (गुणव्रतों) को त्याग करता है, खण्डित करता है या नहीं ? उसके द्वारा गृहीत व्रतों में अतिचार लगते हैं या नहीं ? मैंने इस प्रकार सोचकर अवधि-ज्ञान से मैंने देखा कि तुम इस समय समुद्र में हो । अतः मैं ईशानकोण की ओर जाकर अन्तरवैक्रिया करके पिशाच का रूप धारण करके मैं आपके पास आया । आकर आप पर अनेक उपसर्ग किये । आप पर उपसर्ग करने का मेरा क्या प्रयोजन था, यह मैंने आपको बता दिया ।" अब देव अर्हन्नक श्रावक पर प्रसन्न होकर उसके चरणों में क्या भेंट प्रस्तुत करता है, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार के द्वारा पूछने से मुनिवर रुक्मिणी का पूर्वभव कह रहे हैं । लक्ष्मीवती के हाथ पर लगाई हुई ताजी मेंहदी का रंग अंडे पर लग जाने से मयूरी ने सोलह घड़ी तक अंडे को पहचाना नहीं, और उसको सेया नहीं । वहाँ और क्या हुआ ? बिजली चमकने लगी । गर्जन-सहसा आकाश में बादल छा गए । गाजवीज होकर बरसात होने लगी । अंडे पर पानी पड़ने से लगी हुई मेंहदी का रंग धुल गया और वह अपने असली रूप में दिखने लगा । तब मोरनी ने अंडे का सेवन किया । १६ घड़ी तक मयूरी अंडे

को सेवन न कर सकी, उस कर्म के फलस्वरूप सोलह घड़ी के बदले १६ वर्ष तक तेरी माता का तेरे से वियोग पड़ा । अज्ञानी जीव हँस-हँसकर पापकर्म बांधते हैं, परन्तु उस कर्म का फल भोगने का समय आता है, तब कितना आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान करता है ?"

प्रद्युम्नकुमार पूछता है – "भगवन् ! फिर उस लक्ष्मी ब्राह्मणी का क्या हुआ ? क्या वह मरकर रुक्मिणी हुई ?" ज्ञानीमुनि कहते हैं – "नहीं । उस भव में उसने कर्म बांधा था । अतः वहाँ से मरकर वह तिर्यचगति में गई । तिर्यंचगति का आयुष्य पूर्ण करके वह एक मच्छीमार की पुत्री हुई । उस मच्छीमार-पुत्री का शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय था । इस कारण वह गंगानदी के तट पर एक झोंपडी बांधकर रहने लगी । वह डोंगी (छोटी नौका) चलाने का काम करती थी । डोंगी में बिठाकर वह यात्रियों को इस किनारे से उस किनारे तक पहुँचा देती । उसका जो भी मेहनताना होता, वह ले लेती । आजीविका के लिए पर्याप्त पैसे रख लेती, बाकी के पैसे वह अपने पिता को दे देती ।

एक बार हेमन्त ऋतु में सन्ध्या-समय एक मुनि का आगमन हुआ । शाम का समय था, इसलिए नदी के किनारे एक विशाल पेड़ था, उसके नीचे मुनि ठहर गये । कड़ाके की ठंड पड़ रही थी । सनसनाती हुई ठंडी हवाएँ चल रही थीं । मुनि तो ध्यान में बैठ गये। इन मुनिवर को देखकर माछीपुत्री को बहुत दया आई । अहह ! कैसी कड़ाके की ठंड पड़ रही है ? मुनि तो बाहर खुले में विराजे हैं । वे ठंड से कैसे कांप रहे हैं ? यह देख वह मुनि के पास आकर वहाँ अलाव (लकड़ियाँ जलाकर तापणी) शुरू करने लगी थी । मुनि ने इशारे से उसे वैसा करने की मनाही कर दी । फिर वह मुनि को ठंडक से बचने के लिए दो कंबल लेकर आई । किन्तु मुनिजी ने उसे लेने से इन्कार किया।

मुनिजी ने कंबल नहीं लिए और तापणी (अलाव) भी न करने दी । क्योंकि साधु को नव कोटि से जीव हिंसा न करने का विधान है । छहों काया के जीवों की हिंसा न करने की, तीन योग से प्रत्याख्यान होता है, अतः तापणी करना-कराना भी नहीं है । मन से भी तापणी करने का विचार तक नहीं करना है । वह माछीपुत्री मुनि के प्रति करुणाभाव करती हुई सारी रात अपनी झोंपड़ी में बैठी रही ।

सवेरा होते ही वह मुनिजी के पास दर्शनार्थ आयी और विनती करने लगी – "आज आप मेरे घर पर भोजन करने के लिए [illegible] । मैं [illegible] में जन्मी हूँ । मैंने कदापि मछलियाँ नहीं पकड़ी और [illegible] है ।" यह लड़की जैनसाधु के आचार से अपरिचित है । [illegible] मुनि उससे कहते हैं – "बहन ! तुम्हारी भावना अच्छी [illegible] किसी के घर पर भोजन करने हम नहीं [illegible] सकते । [illegible] से बोली – भगवन् [illegible]

.~.~.

तापणी नहीं करने दी, तथा कम्बल नहीं ओढी । भोजन करने के लिए भी नहीं आये । तो अब मुझे समझाएँ कि आपका धर्म क्या है ? उसकी आचारविधि क्या है ?" मुनि ने उसे जैनधर्म और उसमें साधुधर्म एवं श्रावकधर्म का स्वरूप और आचार समझाया । यह सुनकर उसके आनन्द का पार न रहा । उसने वहाँ मुनि से श्रावकधर्म अंगीकार किया । यहाँ तो रोज उपदेश सुननेवाले को भी सहसा मन नहीं होता कि मैं सामायिक-प्रतिक्रमण सीखूँ । तुम्हारी संतानों को कभी पूछते हो कि तुम्हें सामायिक-प्रतिक्रमण आता है या नहीं ?

मच्छीपुत्री ने श्रावकव्रत अंगीकार करने के पूर्व समकित ग्रहण की । कतिपय दिवसों के पश्चात् वह वहाँ से निकलकर साध्वीजी का समागम करने के लिए गई । वहाँ साध्वीजी के मिलने पर वह दशवाँ व्रत ग्रहण करके उनके साथ रहने लगी । वह भी गौचरी करके आहार करती थी । इस प्रकार वह महासतीजी के साथ विहार करती थी । एक दिन विहार बहुत लम्बा हो गया । इतना चलने पर भी गाँव नहीं आया । सूर्यास्त होने आया । वहाँ जंगल में एक झोंपड़ी थी । आत्मरक्षा के लिए सभी साध्वीजी झोंपड़ी के अंदर रही और यह मच्छीपुत्री श्राविका झोंपड़ी के बाहर दरवाजे के पास अपना आसन बिछाकर बैठी और नवकार मंत्र का जाप करने लगी । कायोत्सर्ग करके वह नवकारमंत्र का ध्यानपूर्वक जाप कर रही थी । बाघ, सिंह आदि हिंसक जानवरों से साध्वीजी की रक्षा के लिए वह झोंपड़ी के दरवाजे के बाहर कायोत्सर्ग करके बैठी, जाप कर रही थी कि वहाँ अचानक एक बाघ आ गया और इस बाई को मुँह में पकड़ कर चड़-चड़ करता हुआ चला गया । धर्मसंस्कार वश बाई को उस समय आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं हुआ । समाधिपूर्वक मृत्यु पाकर देवलोक में गई ।

स्वर्ग से चलकर हुई रुक्मणी, माधव-घर पटरानी ।
कामदेव वही मात तुम्हारी, गुण में अधिक बखानी ।।...श्रोता...

देवलोक से आयुष्य की स्थिति पूर्ण करके वहाँ से च्यवकर एक राजा के यहाँ पुत्री रूप में उत्पन्न हुई । वहाँ उसका बहुत मान-सम्मान होता था । उसका नाम रखा गया - रुक्मिणी । बड़े लाड़-प्यार से उसका लालन-पालन हुआ । बड़ी होने पर उसका विवाह तुम्हारे पिता कृष्ण वासुदेव के साथ किया गया । वहाँ उसे पटरानी पद मिला । अत: त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव तुम्हारे पिता हैं और रुक्मिणी तुम्हारी माता है । कालसंवर विद्याधर और कनकमाला तेरे पालक पिता-माता हैं । तेरी जन्मदात्री माता ने (पूर्वभव में) १६ घड़ी का कर्म बांधा था । वह इस समय उदय में आया और इस कारण माता रुक्मिणी के साथ तेरा १६ वर्ष का वियोग पड़ा । अब तेरे १६ वर्ष पूरे होने आए हैं । तुम अब उसके पास जानेवाले हो । परन्तु जाने से पहले पालक माता कनकमाला के पास से दो विद्याएँ हस्तगत कर लेनी है । वे विद्याएँ तुम्हारे चारित्रपालन में लाभदायी है ।" प्रद्युम्नकुमार मुनिवर को वन्दन करके वहाँ से

उठा । अब प्रद्युम्नकुमार आभूषण पहनकर पालक माता के पास जानेवाला है। कनकमाला उसे आये देख खूब हर्षित होगी । वह यों समझेगी कि अब यह मेरे पीछे मुग्ध हुआ है । इसी कारण वापस आया है । अब प्रद्युम्नकुमार कनकमाला के पास से दो विद्याएँ कैसे प्राप्त करेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

कल से आयम्बिल की ओली के मंगल दिवस प्रारम्भ हो रहे हैं । आप अभी उसकी आराधना में जुट जाना और अपनी अन्तरात्मा को जगाना ।

व्याख्यान - ८३

आसो सुदी ६, बुधवार — ता. २९-९-७६

धर्मरक्षा ही आत्मरक्षा है

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी परमात्मा के मुख से निःसृत शाश्वती वाणी का नाम सिद्धान्त या शास्त्र है । 'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में मल्लिनाथ भगवान् के अधिकार में अर्हन्नक श्रावक का वर्णन चल रहा है । अर्हन्नक श्रावक की कैसी कठोर कसौटी हुई थी । सिर पर लटकती हुई तलवार की तरह उन पर मृत्यु झूम रही थी, फिर भी वह मन से तनिक भी नहीं डिगे । इसका कारण यह था कि वह धर्म को अपने प्राणों से भी अधिक मानते थे । जीवन-दीपक भले ही बुझ जाए, किन्तु धर्म का दीपक जीवन में बुझने देना नहीं था । जैनशासन में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि वे धर्मरक्षा के लिए अपना सर्वस्व देने को तैयार हो गए थे । धर्म के लिए जिन्होंने अपने प्राण अर्पण कर दिये, पर धर्म को नहीं छोड़ा । उन्होंने अपने प्राणों का बलिदान देकर भी धर्म की रक्षा की है । उनका ऐसा दृढ़ विश्वास था कि *'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः'* जो व्यक्ति धर्म का विनाश करता है, उसका विनाश हो जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा होती है ।

देवानुप्रियों ! यहाँ रक्षा से शरीर रक्षा या सम्पत्ति रक्षा की बात नहीं है, किन्तु आत्मा की रक्षा अभिप्रेत है । इसलिए हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि जो मनुष्य धर्म का त्याग कर देता है, उसकी आत्मा कर्मों के भार से भारी बन जाती है और दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करती है । जो व्यक्ति दृढ़ता से धर्ममार्ग पर चलता है, वह महान पुरुष कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को परमात्मा बनाकर सदा के लिए

दुःखों से मुक्त हो जाता है। उन महान पुरुषों के जीवन में आज के मनुष्यों जैसी असन्तोष वृत्ति, अशान्ति और व्याकुलता नहीं थी। धन के लिए वे हाय-हाय नहीं करते थे। धर्म के प्रति गाढ़ श्रद्धा होने से तृष्णा पर उनका अंकुश रहता था। धर्म के प्रति उनकी जितनी रुचि होती है, उतनी धन के प्रति नहीं होती।

वे महान पुरुष समझते थे कि सुख और दुःख, ये तो अपने किये हुए कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) का फल है। जिस जीव ने पूर्वभव में पुण्य का संचय किया होता है, उसे इस भव में नीरोगी शरीर, सम्पत्ति और सांसारिक सुख-साधनों की प्राप्ति होती है। अगर पूर्वकृत पुण्य न हो तो कोटि प्रयत्न करने पर भी सुख या सुख के साधन नहीं मिलते। ऐसा समझकर इस मनुष्यभव में जो कुछ साधन-सामग्री मिली है, वह अपने कर्मानुसार मिली है, ऐसा समझकर सन्तोष रखकर हो सके उतने शुभ कर्मों का संचय करना चाहिए। ऐसे भाव कब आते हैं? जब धर्म जीवन में ताने-बाने की तरह बुना जाना चाहिए। चाहे जैसी परिस्थिति आए, फिर भी धर्म के मार्ग से विचलित न हो। मनुष्य को ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि धर्म के मार्ग पर चलने से कदापि मेरी आत्मा का अहित होनेवाला नहीं है। कदाचित् दुःख आ पड़े तो समझना चाहिए, कि यह मेरे कर्मों के उदय के कारण आया है।

अर्हन्नक श्रावक धर्मश्रद्धा पर दृढ़ रहे तो धर्म ने उनकी रक्षा की। जो देव उसकी कसौटी करने आया था, वह उनके चरणों में झुक गया और उसे ऐसा पश्चात्ताप भी हुआ कि मैंने दृढ़धर्मी श्रावक को ऐसा कष्ट दिया। उसने कह दिया कि शक्रेन्द्र महाराज ने सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में सौधर्मावतंसक नामक विमान में बहुत-से देवों के बीच में आपके गुणों की प्रशंसा की थी, वह मुझसे सहन नहीं हुई। इस कारण मैं आपकी कसौटी करने हेतु आया था। एक बात निश्चित है कि जो ईर्ष्या करता है, उसे पहले जलना पड़ता है। दिया सलाई दूसरे को जलाती है, उससे पहले उसे खुद को जलना पड़ता है। उक्त देव को अर्हन्नक के गुणों की प्रशंसा सहन नहीं हुई, इस कारण उसे अपना देव-सिंहासन छोड़कर तथा अपने दिव्य शरीर का त्याग कर भयंकर दुर्गन्ध से मस्तक फट जाए, ऐसे दुर्गन्धयुक्त मर्त्यलोक में आना पड़ा। पिशाच का भयावना रूप धारण करना पड़ा और दो अंगुलियों द्वारा वाहन (जलयान) को उठाने का कष्ट सहना पड़ा। यह सब ईर्ष्या के कारण था या और कुछ कारण था?

एक बार शक्रेन्द्र महाराज ने अपनी परिषद में देव-देवियों के बीच में कृष्ण वासुदेव की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की कि उनमें दो मुख्य गुण हैं - एक तो गुण ग्राहकता और दूसरा है - नीच युद्ध (निम्न कोटि के संग्राम) से दूर रहना। नीच-युद्ध कदापि नहीं करना। कृष्ण वासुदेव की गुणग्राहकता की परीक्षा करने के लिए देव सड़ी हुई कुतिया का रूप बनाकर आया था। तब कृष्ण ने दूसरा कुछ भी न देखते हुए यह देखकर उद्‌गार निकाले कि इस कुतिया के दांत की बत्तीसी कितनी सुन्दर है। यह दृष्टान्त तो तुमलोग बहुत-सी बार सुन चुके हो। अतः इस विषय में विशेष कुछ

नहीं कहती। उनमें दूसरा गुण था - नीच युद्ध से दूर रहना। उसके लिए देव ने कैसी कसौटी की ? सुनिए -

एक देव मनुष्य के रूप में मर्त्यलोक में आया और कृष्ण वासुदेव का एक प्रिय घोड़ा लेकर भाग गया। सैनिक उसके पीछे दौड़े, परन्तु वह किसी के हाथ में नहीं आया। तब कृष्ण वासुदेव उस घोड़े को उसके हाथ से छुड़ाने के लिए स्वयं गए। तब वह मनुष्य के रूप में रहा हुआ देव बोला - "आप मेरे साथ युद्ध करके घोड़े को ले जा सकते हैं।"

जो जीतेगा, उसका घोड़ा : इस पर कृष्ण ने कहा - "भाई ! मल्लयुद्ध, मुष्टियुद्ध, दृष्टियुद्ध आदि युद्ध के अनेक प्रकार हैं। इन सब युद्धों में से तुम्हें कौन-सा युद्ध करना है ?" तब देव ने कहा - "मुझे ऐसा कोई युद्ध नहीं करना है, मुझे पीठ-युद्ध करना है। मैं और तुम दोनों पीठ से लड़ें।" तब कृष्ण ने कहा - "मुझे ऐसा नीच युद्ध नहीं करना है। ऐसा युद्ध राजनीति-विरुद्ध है। तुझे दूसरा युद्ध करना हो तो मैं करने को तैयार हूँ, परन्तु ऐसा निर्लज्ज युद्ध करके घोड़ा वापस पाना मैं पसंद नहीं करता। तुम खुशी से घोड़ा ले जा सकते हो।"

तीन खण्ड के अधिपति श्रीकृष्ण वासुदेव घोड़ा यौंही (मुफ्त में) जाने देने के लिए तैयार हो गए, किन्तु नीच युद्ध करना पसंद न किया। घोड़ा यौंही जाने दिया। आज तो दो भाइयों के साझे की चीजों का बंटवारा होता हो, तब एक माता की कूंख में जन्मे हुए सहोदर भाई एक छोटी-सी चीज यौंही जाने देने के लिए तैयार नहीं होते। वे कोर्ट चढ़ेंगे, वकील की जेब भरेंगे, किन्तु छोटे भाई को नहीं देंगे। वह दूसरे के लिए त्याग करना सीखे तो उसका संसार स्वर्ग-सम बन जाए। श्रीकृष्णजी ने देव को कहा - "घोड़ा भले ही जाय, किन्तु मुझे ऐसा नीच युद्ध नहीं करना है।" कृष्ण की बात सुनकर देव ने मनुष्य का रूप छोड़कर वास्तविक देवरूप धारण किया और कृष्णजी के चरणों में गिरकर कहा - "देव-सभा में इन्द्र महाराज ने आपके दो गुणों की खूब प्रशंसा की थी। उसकी परीक्षा करने के लिए मैंने सड़ी हुई कुतिया का रूप धारण किया था और आज मैं मनुष्य के रूप में आया। आपमें ये दोनों विशिष्ट गुण हैं, उन्हें मैंने प्रत्यक्ष देख लिये।" यों कहकर देव ने कृष्णजी की खूब प्रशंसा की और एक दिव्य भेरी भेंट की। भेरी के विशिष्ट गुण बताते हुए कहा - "यह भेरी आप छ महीने बाद बजाना। इसमें ऐसी शक्ति है कि जहाँ तक भेरी की आवाज सुनाई देगी, वहाँ (उस सीमा) तक रहनेवाले मनुष्यों के महामारी जैसे भयंकर से भयंकर रोग मिट जाएँगे। जो मनुष्य इस भेरी की आवाज सुनेगा, उसके चाहे जैसा, असाध्य रोग होगा, मिट जाएगा। परन्तु इसके साथ मेरी एक शर्त है कि ६ महीने पहले यह भेरी मत बजाना।"

देव ने भेरी देते समय श्रीकृष्णजी से कहा - "इस भेरी में कोई विशिष्ट प्रकार का द्रव्य लगाया हुआ है, उसके प्रभाव से रोग नष्ट हो जाते हैं । अंदर लगाये हुए द्रव्य के कारण इस भेरी की विशेषता है । अन्यथा, यह भेरी सामान्य भेरी जैसी ही है ।" इस प्रकार की हिदायत देकर देव चला गया । तत्पश्चात् श्रीकृष्णजी ने वह भेरी अपने एक विश्वासपात्र सेवक को देकर देव के कहे अनुसार हिदायत दी उसी दौरान द्वारिका नगरी में एक भयंकर रोग फैला । हजारों लोग इस रोग से पीड़ित होने लगे । देव द्वारा भेरी दिये हुए ६ महीने हो चुके थे । इसलिए श्रीकृष्ण की आज्ञा से भेरी बजाई गई । उसकी आवाज जहाँ तक पहुँची, वहाँ तक प्रत्येक प्रकार के रोगियों के रोग मिट गए । वे सब रोगी नीरोग हो गए । परन्तु दूर-दूर तक आसपास के सूबे के लोगों को भेरी की आवाज कैसे सुनाई देती ? उन लोगों ने जब सुना कि जो भेरी का नाद सुनता है, उसका रोग मिट जाता है । अतः दूर-दूर से रोगी सुमेरु के पास आकर कहने लगे कि हमारे पर दया करके एकबार भेरी बजाइये । तब भेरी बजानेवाले सेवक ने कहा - "६ महीने से पहले भेरी बजाने की राजा की मनाही है ।" परन्तु लोगों ने बहुत आग्रह किया और उसे रिश्वत देने को कहा । तब उस सेवक ने कहा - "अगर मैं अभी भेरी बजाऊँ तो इसकी आवाज महाराजा सुनकर मेरे पर कोपायमान होंगे, मुझे कठोर दण्ड देंगे । अतः तुम्हें भेरी में लगाया हुआ दिव्य द्रव्य देता हूँ ।" उसका प्रयोग करने से कई रोगियों के रोग शान्त हो गए । यह बात जानकर दूसरे अनेक रोगी भेरी-वादक के पास आने लगे । अतः भेरीवादक रिश्वत लेकर भेरी मेंसे दिव्य द्रव्य उखाड़ कर देने लगे । इस प्रकार भेरी में लगा हुआ दिव्य द्रव्य उखाड़-उखाड़ कर देने लगा । फलतः भेरी में रहा हुआ दिव्य द्रव्य समाप्त हो गया । नियमानुसार जब ६ महीने पूरे होने आए तो श्रीकृष्णजी की आज्ञा से भेरीवादक ने पुनः भेरी बजाई । परन्तु उससे अब किसी भी रोगी का रोग नष्ट नहीं हुआ । कृष्ण महाराज को पता लगा कि भेरी-वादक ने रिश्वत लेकर इसका दिव्य द्रव्य निकालकर लोगों को दे दिया, इसलिए अब भेरी बजाने से रोगियों के रोग नष्ट नहीं होते हैं । अतः श्रीकृष्ण ने भेरीवादक को उचित दण्ड देखर देशनिकाला दे दिया ।

श्रीकृष्ण वासुदेव ने परोपकार के लिए पुनः अट्ठमतप (तेले) की आराधना की । देव ने प्रसन्न होकर भेरी को पहले जैसी (दिव्य द्रव्यों से युक्त) बना दी । वह भेरी श्रीकृष्णजी ने एक विश्वस्त सेवक को वह भेरी देकर पुनः सख्त हिदायत देकर प्रति छह महीने में बजाने के लिए नियुक्त किया । वह सेवक श्रीकृष्णजी की आज्ञानुसार ठीक ६ महीने बाद भेरी बजाता था । उस भेरीवादक के पास भी पहले की तरह अनेक रोगी आकर, उसे रिश्वत देकर भेरी के अंदर का द्रव्य दे देने के लिए समझाते थे, परन्तु उसने कृष्ण महाराज की आज्ञा का बराबर (पूर्णतया) पालन किया । इससे उक्त सेवक पर प्रसन्न होकर श्री कृष्णजी ने उसे पर्याप्त इनाम दिया और उसकी बहुत प्रशंसा की ।

बन्धुओं ! इस दृष्टान्त का सार हमें क्या समझना है ? देखिए, द्वारिका नगरीरूप आर्यक्षेत्र है । तीर्थकर भगवन्तरूप कृष्ण वासुदेव हैं । पुण्यरूप देव हैं । भेरी तुल्य है - वीतरागवाणी । भेरी बजानेवाले के समान वीतराग भगवान् के साधु हैं । जो साधु-साध्वीगण संयम लेकर वीतराग-प्रभु की आज्ञा के प्रति वफादार नहीं हैं, सूत्रों का मनमाना अर्थ करते हैं, सूत्रों का जो सही अर्थ है, उसे छिपाते हैं, सूत्र और अर्थ की मिथ्या प्ररूपणा करते हैं । ऐसे शिष्य गृहस्थवर्ग के मोह और राग में पड़कर सिद्धान्त विरुद्ध प्रयाण करते हैं । ऐसे शिष्य आगमज्ञान के अधिकारी नहीं है । ऐसे शिष्य और श्रोता अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हैं और अनन्त दुःख भोगते है । जैसे नौ निन्हव हो गए, जिन्होंने उत्सूत्र-प्ररूपणा की थी । जमालीमुनि ने भगवान् के वचनों को उत्थापित किये । *'कडेमाणे कडे'* के बदले *'कडेमाणे अकडे'* इतना-सा वचन उत्थापित किया, तो वह जैसे गेहूँ में से कंकर निकालकर फेंक दिया जाता है, वैसे ही जमालीमुनि भ. महावीर के संघ से फेंक दिये गए । उन्होंने अनन्त संसार बढ़ा दिया । जो साधक जिनवाणी में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करते और भगवन्त की आज्ञानुसार पालन करते हैं, वे मोक्ष के महान सुख को प्राप्त करते हैं ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

कृष्ण वासुदेव ने त्याग करने का उपक्रम किया तो देव प्रसन्न हुआ और उन्हें कैसा महान लाभ हुआ ? कसौटी के समय जो दृढ़ रहता है, जगत में उसकी कीमत आंकी जाती है और देव भी उसकी प्रशंसा करते हैं । अर्हन्नक श्रावक की बात आपके समक्ष कई दिनों से चल रही है । वह भी कसौटी के समय अपने धर्म में दृढ़ रहे तो देव को झुकना पड़ा और वह किसलिए मर्त्यलोक में आया था, वह सारी बात दिल खोल कर अर्हन्नक श्रावक के समक्ष कही । तत्पश्चात् उसने कहा - "देवानुप्रिये ! मैंने आकर बहुत बड़ा उत्पात किया । पिशाच का रूप धारण करके तुम्हें उपसर्ग दिया, फिर भी आप भयभीत नहीं हुए । *"नो चेव णं देवाणुप्पिया ! भीया वा, तत्थवा, तंजंणं सक्के देविंदे देवराया वदइ सच्चे णं एसमट्ठे ।"* आप उससे डरे नहीं, त्रास नहीं पाए, उद्विग्न नहीं हुए, आपके मन के किसी कोने में भी भय उत्पन्न नहीं हुआ । यही कारण था कि आपके लिए देवराज देवेन्द्र शक्र ने जो प्रशंसा की थी, वह बात यथार्थ है, सत्य है । मैंने आपके गुणों की समृद्धि देख ली है । की आपकी आत्मा का तेज, आपका आत्मबल, आपके शरीर का शौर्य, धर्म में आपकी दृढ़ता, धर्माराधनारूप आपका पराक्रम, ये सब आपके गुण मैंने देख लिये हैं । आपने ये सब गुण अच्छी तरह से उपलब्ध किये हैं, इन सब गुणों को आपने अपनाए हैं और वैसे ही उनका सेवन किया है । ऐसे गुणवान, पवित्र और दृढ़धर्मी आत्मा को उपसर्ग दिया, उसके लिए मुझे बहुत दुःख हुआ है ।"

"तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! खमंतुमरहंतु देवाणुप्पिया णाइभुज्जो भुज्जो एवंकरणयाए त्ति कट्टु पंजलिउडे पायवडिए, एयमट्ठं भुज्जो भुज्जो खामेइ !"

इस कारण हे देवानुप्रिये ! मैं आपको खमता हूँ, आप मेरे अपराध के लिए क्षमाप्रदान करने योग्य हैं। हे देवानुप्रिये ! मैंने जो आपके अपराध किये हैं, उन सबके लिए मैं आप से क्षमा मांगता हूँ। अब भविष्य में बार-बार फिर कभी मेरे से ऐसा अयोग्य बर्ताव नहीं होगा। अर्थात् - मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा।" इस प्रकार कहकर देव अपने दोनों हाथ जोड़े और अर्हन्नक श्रावक के चरणों में पड़कर पंचांग नमाकर नमस्कार किया और इस घटना के लिए बार-बार सविनय क्षमा-याचना करने लगा।

बन्धुओं ! एक देव जैसा देव मर्त्यलोक के मानव से क्षमा मांगे, उसके पैरों में पड़े, यह ऐसी-वैसी बात नहीं है। उसने अर्हन्नक की विविध प्रकार से परीक्षा की। वह (अर्हन्नक श्रावक) परीक्षा में दृढ़ रहे तो (स्वयं हारकर) उनके चरणों में पड़कर क्षमा मांगी। क्षमा मांगने के बाद देव ने क्या किया ?

"खामित्ता अरहन्नयस्य दुवे कुंडल-जुयले दलयइ, दलपित्ता जाये व दिसिंपाऊब्भूए तामेव दिसिं पडिगए !"

क्षमा-याचना करने के बाद उस देव ने अर्हन्नक श्रावक को दो कुण्डलों की जोड़ी उपहार रूप में दी। कुण्डल युगल देने के बाद वह देव जिस दिशा से आया था, (प्रकट हुआ था) उसी दिशा की ओर देवलोक में गया।

देव के जाने के बाद अर्हन्नक श्रावक ने जान लिया कि अब मैं उपसर्ग से मुक्त हो गया हूँ। मेरे पर आया हुआ संकट अब समाप्त हो गया है, इसलिए उन्होंने जो सागारी संथारा लिया था, उसे अब फलितं पालितं इत्यादि पाठ बोलकर पार लिया। फिर अर्हन्नक प्रमुख सायंत्रिक पोतवणिकों ने उन वाहनों को आगे चलाया। अब उनके जलपोत सामुद्रिक मार्ग से सफर करते-करते किस नगरी में पहुँचेंगे, वहाँ क्या बनाव बनेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

कनकमाला से प्रद्युम्नकुमार ने दो विद्याएँ प्राप्त की : मुनिवर से सारा वृत्तान्त जानकर प्रद्युम्नकुमार कनकमाला के महल में आया। अबतक तो माता के पास आता था, तो उसे नमन करता था। मगर आज उसने नमन नहीं किया। वह आज उसके पास में बैठा। यह देखकर कनकमाला विचार करने लगी कि अवश्य ही आज यह मेरे मोह के वशीभूत होकर मेरी इच्छा पूरी करने के लिए मेरे महल में आया है। सच है जिसके मन में जो बात भरी होती है, उसे वैसा ही दिखता है। अतः प्रद्युम्नकुमार

मोह में उन्मत्त होकर आया है, यों समझकर उसने कहा - "आओ ! पधारो मेरे नाथ ! अगर तुम मेरी इच्छा पूर्ण कर दोगे तो मैं तुम्हें मेरा सर्वस्व अर्पण कर दूंगी।" इस प्रकार प्रलोभन देती हुई कहती है - "ओ प्रद्युम्नकुमार ! मेरे पास सभी विद्याओं में श्रेष्ठ रोहिणी और प्रज्ञप्ति नाम की दो श्रेष्ठ विद्याएँ हैं, उन्हें मैं तुम्हें दे दूंगी।" प्रद्युम्नकुमार सोचा कि इसके सामने मुझे इसके जैसा ही होना पड़ेगा। ठग के सामने ठग बने बिना विद्या मिलेगी नहीं। इस कारण उसने वाणी में मिठास घोलते हुए कहा - "अभी तक मैंने किसी दिन तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन किया है ? तूने जैसे कहा, मैंने वैसे किया है और अब भी मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा। मुझे तुम्हारा एक दास समझ लो।" इस प्रकार प्रद्युम्नकुमार ने उससे कहा। मोहान्ध मनुष्य भान भूल जाता है कि मैं यह क्या कर रहा हूँ। उसको सभी उजले पदार्थ दूध जैसे प्रतीत होते हैं। कामी मनुष्य जिस पर मुग्ध होता है, उसे अपना सर्वस्व अर्पण करने हेतु तैयार हो जाता है। वैसे ही कनकमाला ने प्रद्युम्नकुमार को अपने महल में आया जानकर यह मान लिया कि 'अब यह मेरे पर मुग्ध हो गया है। इसलिए अब यह मेरी इच्छा पूर्ण करेगा।' ऐसा विश्वास करके उसने अपने पास रही हुई रोहिणी और प्रज्ञप्ति नामक दोनों विद्याएँ प्रद्युम्नकुमार को दे दी। साथ ही दोनों की विधि भी बता दी। प्रद्युम्नकुमार ने दोनों विद्याएँ हस्तगत कर लीं। विद्याधरी कनकमाला मोहान्ध बन गई थी, किन्तु प्रद्युम्नकुमार मोहान्ध नहीं बना, न ही बनना चाहता था। वह अपने चारित्र-धर्म पर अटल था। कनकमाला मोहवश कहने लगी - "स्वामीनाथ ! मैंने अपना घर खाली करके सर्वस्व आपके चरणों में अर्पण कर दिया है। अब आप मेरी बहुत दिनों की इच्छा पूर्ण करो। आओ, मेरे साथ बैठो। हम दोनों इच्छित सांसारिक सुख भोगें।" कनकमाला के मोहभरे वचन सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "हे माता ! मैंने तो जन्म लेकर तुम्हें ही माता-पिता के रूप में देखे हैं। मैंने अपनी जन्मदात्री माता तथा जनक-पिता नहीं देखे। जिस माता की गोद में मुझे मातृप्रेम मिलता था, उस माता का मैं पति बनूं, क्या यह तुझे योग्य लगता है माँ ? *जल में अग्नि प्रकट हो, चन्द्रमा से अंगारे झरें, सूर्य में से शीतलता बरसे तो भी यह तेरा पुत्र* अपना शीलव्रत भंग करने को तैयार नहीं है। चाहे तू मेरे गुणगान कर, या मेरे अवर्णवाद बोल, मुझे तू मार डालेगी, तो मैं मर जाऊँगा, परन्तु मैं अपने सत्य का त्याग नहीं करूँगा। एक तो तू मेरी पालक माता है। दूसरे तूने मुझे विद्याएँ दी हैं। जो हमें विद्यादान देता है, वह गुरु कहलाता है। इस अपेक्षा से तू मेरी विद्यागुरु बन गई। गुरु को भी माता कहते हैं। इसलिए मेरी गुरुमाता बन गई और जगत् तो तुझे मेरी जननी ही मानता है। अब तू विचार कर ! क्या माता के साथ विषयभोग भोगा जा सकता है ? हाँ, तू माता के रूप में मुझे जो आज्ञा करेगी, मैं उसका पालन

करूँगा। उसका पालन करने के लिए मैं हर समय तैयार रहूँगा, किन्तु पत्नी के रूप में तेरी कोई भी बात नहीं मानूँगा।"

वज्रपात सम वचन श्रवण कर, अग नाघन ज्यों रूठी।
कर जुहार प्रद्युम्न सिधायो, डार हाथ से छूटी हो...॥ श्रोता...

प्रद्युम्नकुमार के वचन सुनकर कनकमाला को सहसा ऐसा आघात लगा, मानो उसके हृदय पर वज्र टूट पड़ा हो। जैसे विफरी हुई बाघिन जोर से दहाड़ती है, वैसे दहाड़ती हुई बोलने लगी - "पापी ! इतना समझाने पर भी तू मानता नहीं। अब देख ले, मैं क्या करती हूँ ?" यों कहकर उसने प्रद्युम्नकुमार का हाथ पकड़ा। तब प्रद्युम्न ने विचार किया कि यह अब बाघिन की तरह विफरी है, न मालूम क्या कर बैठे ? यहाँ मुझे अब एक क्षण भी नहीं रूकना है। अतः एक झटके से उसके हाथ में से अपना हाथ छुड़ा लिया। फिर जैसे वृक्ष पर से डाल टूट पड़ती है वैसे ही झटपट खिड़की में से कूदकर प्रद्युम्नकुमार भी भाग गया।

प्रद्युम्नकुमार पर कनकमाला द्वारा लगाया गया आरोप : प्रद्युम्नकुमार के चले जाने के बाद कनकमाला ने सोचा - 'यह पापी अब मेरी सारी कलई खोल देगा। अगर यह दूसरे के सामने यह बात कह देगा तो मेरा सारा मान-सम्मान मिट्टी में मिल जाएगा। इसकी अपेक्षा मैं ही इसे बदनाम करके लोगों की दृष्टि में नीचा दिखा दूं।' यों विचार करके उसने निर्णय किया कि इस पापी को इसके पाप का फल चखा कर ही दम लूँगी। वह क्रोध से आग बबूला होकर रोने लगी। अपने कपड़े फाड़ डाले, बाल नोंच लिये तथा अपने हाथ, पैर, कपाल तथा कोमल अंगों पर नख लगा दिये। चमड़ी पर खरोंच कर खून निकाला। हाथ और पैर पर मुँह से थोड़ा काट लिया। फिर रोती और माथा कूटती हुई बड़बड़ाने लगी - "दौड़ो दौड़ो ! मैं ठगा गई। यह पापी मुझ पर जुल्म करके भाग गया। उसे कोई पकड़ कर लाओ !" ऐसा रंगढंग एवं ढोंग करके ठीक-ठीक त्रिया-चरित्र किया।

अब कालसंबरराजा आएगा और रानी की हालत देखकर तथा उसकी बात सुनकर प्रद्युम्नकुमार के प्रति कैसा क्रोध करेंगे, आगे क्या करेंगे, इसका भाव यथावसार कहा जाएगा।

आज आयम्बिल की ओली का मांगलिक दिन है। आज हम अरिहन्त भगवान् का स्मरण करके उनके जैसे बनने के लिए उनके गुण जीवन में अपनाएँ, इन ओलियों के दिनों में आयम्बिल तप का बहुत महत्त्व है। आयम्बिल तप करने से सांसारिक रोग मिट जाते हैं, मानसिक रोगों का शमन होकर शान्ति, समाधि, स्वस्थता प्राप्त होती है। आज समय काफी हो गया है। अतः विशेष न कहकर इतना ही कहूँगी कि आयम्बिल तप की सम्यक् आराधना अच्छी संख्या में करना। इतना कहकर विदाई लेती हूँ

• • • • • • • •   • • • • • • •

व्याख्यान - ८४

आसो सुदी ८, गुरुवार | ता. ३०-९-७६

आत्मगुणरत्नों के पारखी जौहरी बनो

अनन्तकरुणा के जादूगर (कौशल-निपुण), कृपासिन्धु तीर्थंकर भगवान् भव्यजीवों को उद्देश्य करके कहते हैं - "हे चेतन ! तू सच्चा जौहरी है, तो सच्चे जवाहरात को परख ले ।" दूसरे किसी जीव को नहीं, मनुष्य को भगवान् ने जौहरी की उपमा दी है । क्या उसका रहस्य आपको समझ में आता है ? ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "जौहरी के जैसा दुर्लभ मानव-जीवन तुम्हें मिला है, तो उसे संसार के कोड़ियों जैसे कामभोगों में व्यर्थ मत खोओ । जिस प्रकार जौहरी बहुमूल्य रत्नों की सच्ची परीक्षा करके उसका लाभ उठा लेता है, उसी प्रकार तुम भी आत्मा के गुणरूपी अमूल्य रत्नों की यथार्थ परीक्षा करके उसका लाभ उठा लो । एक कवि भी कहता है - मानव-जीवन जवाहरात की फर्म है, उसमें कौन-कौनसे रत्न रहे हुए हैं ? देखिए इस कविता में -

"संयम सुहीरा नील नियम विद्रुम व्रत, गोमेघ विराग, ज्ञान माणिक हरखी ले ।
तप-जप मोती ध्यान, पन्ना नय लसणिया, अभयदान पुखराज ही निरखी ले ।
पूरण भरी है जिनधर्म-मंजूष यह, ए रे जीव जौहरी ! जवाहिर पारखी ले ॥"

इस कविता में कितने सुन्दर भाव कवि ने भरे हैं ? कवि कहता है - "हे जीवरूपी जौहरी ! तेरे अंदर जैनधर्मरूपी दुर्लभ रत्नमंजूषा (रत्नों से भरी हुई पेटी) पड़ी है । उसका लाभ लेना छोड़कर तू बाहर में कांच के टुकड़े क्यों खोजता फिरता है ? तेरे अन्तर में रहे हुए रत्नों की परख करके उनसे अभीष्ट लाभ उठा ले । इस सद्धर्मरूपी पेटी में कौन-कौन-से रत्न रहे हुए हैं ? इस मंजूषा में संयमरूपी हीरा है, नियमरूपी नीलरत्न है, व्रतरूपी विद्रुमरत्न (मूंगा) है, ध्यानरूपी पन्ना है और नयरूपी लसणिया रत्न है, और अभयदानरूपी पुखराज है ।"

ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "अय ! जीवरूपी जौहरी ! तू मनुष्य है, पशु नहीं । पशु चाहे जितना बलवान हो, फिर भी वह रत्नों की परीक्षा कदापि नहीं कर सकता । पर तू तो जवाहरात की परीक्षा कर सकता है । फिर भी तेरी अपनी धर्मरूपी पेटी (धर्ममंजूषा) में निहित संयम, नियम, वैराग्य, तप, जप, ध्यान और दानादि रूपी इन दुर्लभ रत्नों का लाभ क्यों नहीं उठाते ? पशु की तरह बाह्य पदार्थों के प्रति दृष्टिपात करके क्षणिक सुख देनेवाले नकली साधन इकट्ठे करता है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से शान्तिपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हारी समझ में आ जायेगा कि ये सब नकली भौतिक सुख के साधन कांच के टुकड़े

जैसे हैं । उनकी कोई कीमत मिलनेवाली नहीं है । किन्तु अगर तू अन्तरात्मा में विवेक का दीपक जला (प्रगटा) कर सूक्ष्म दृष्टि से आत्मा में निहित गुणरूपी अमूल्य रत्नों को तू परख लेगा तो, उसमें से मोक्षमार्ग की संपूर्ण यात्रा का खर्च सहजरूप से उसमें से निकल जाएगा ।"

ऐसे अमूल्य रत्नों की पहचान करवानेवाले जौहरी ही मानव बन सकते हैं । अगर मनुष्य जौहरी बनकर आत्म-गुणरूपी रत्नों की पहचान नहीं कर सकता है तो उसे जौहरी कहना व्यर्थ है, क्योंकि मनुष्य चाहे जितना अज्ञानी और मूर्ख क्यों न हो, फिर भी वह पशु नहीं कहलाता । कई ज्ञानी ऐसा विचार करे कि मुझे इस पशु को मनुष्य बनाना है, तो उसके लिए वह जितने प्रयत्न क्यों न करें, फिर भी उसे आत्मिक गुणों की परख करनेवाला मनुष्य-जौहरी बना नहीं सकता, जबकि प्रयत्न करने से मनुष्य तो आत्मिक गुणों को परखनेवाला सच्चा (ज्ञानी) जौहरी बन सकता है । परन्तु उसके लिए मनुष्य में लगन और जिज्ञासा जागनी चाहिए ।

बन्धुओं । आत्मिक गुणों की पहचान करने के लिए दुनियाभर की पुस्तकें पढ़ लेने या उन्हें कण्ठस्थ करने की जरूरत नहीं है, और न ही बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ प्राप्त करने की जरूरत है, और न तर्क-वितर्क करने की शक्ति प्राप्त करने ही जरूरत है । उसके लिए तो वीतराग-वचनों पर श्रद्धा करके भगवान् की आज्ञा अनुसार हिंसा-झूठ-चोरी-अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथैव राग-द्वेषादि कषायों का त्याग करके अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह तथा क्षमा, करुणा, वात्सल्य, ध्यान, चिन्तन, मनन और यथाशक्ति तप, त्याग, व्रत-नियमों का पालन करने की जरूरत है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

जिन्होंने आत्मिक गुणोंरूपी जवाहरात को परख लिया है, वैसे आत्मा के सच्चे जौहरी अर्हन्नक श्रावक समुद्र के मध्य हुई कठोर कसौटी में पास हो गए । यह आत्मा के सच्चे जौहरी बनकर व्यापार करने जा रहे हैं । देव ने इनसे क्षमा मांगी और दिव्य कुण्डल की दो जोड़ी भेंट देकर जिस दिशा में से आया था, उसी दिशा में वापस चला गया । यह अर्हन्नक श्रावक मर्त्यलोक का ही मानव था न ? और तुम जैसा व्यापारी था न ? तुम भी व्यापारी हो, फिर भी तुममें उसके जैसी शक्ति है क्या ? तुम ऐसी शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करो । देव के जाने के बाद अर्हन्नक प्रमुख व्यापारियों ने जलपोतों का लंगर खोल दिये और दक्षिण दिशा में अनुकूल पवन की सहायता से उनके वाहन चल पड़े । समुद्र की सैर करते-करते वे मिथिला नगरी के बाहर समुद्र के किनारे जहाँ गम्भीरक नामक बंदरगाह था, जहाँ जहाजों को लंगर से बांधकर रोकने का बंदरगाह था, वहाँ सभी पोतवणिक आ पहुँचे ।

व्यापारी किसे कहते हैं ? जो क्रय-विक्रय करे । अर्थात् - अपने पास रहा हुआ माल बेचे और नया माल खरीदे, वह व्यापारी कहलाता है । अर्हन्नक प्रमुख सभी व्यापारियों

ने अपने-अपने जलपोतों को समुद्र तट पर लाकर सभी वाहनों के लंगर डाल दिये, यानी रस्सों से उन्हें अच्छी तरह बांध दिये । तत्पश्चात् छोटी-छोटी गाड़ियों तथा बड़े गाड़ों को रस्सों वगैरह साधनों से सुसज्ज किये । फिर उन्होंने गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्यरूप चार प्रकार की विक्रय वस्तुओं को वाहन में से उतारकर गाड़ियों में सामान भरे । फिर उन्होंने गाड़ियाँ और गाड़ें जोते । जोतकर जहाँ मिथिला नगरी थी, वहाँ आए । वहाँ से मिथिला राजधानी में जाने और उस महाप्रयोजन की सिद्धि के लिए महान व्यक्तियों को योग्य मूल्यवान रत्नों आदि की भेंट तथा देव द्वारा दिये हुए दोनों कुण्डल-युगल, जो राजा के योग्य थे, उन्हें साथ में लिये । फिर वे सब व्यापारी मिथिला राजधानी पहुँचे ।

मिथिला नगरी के कुम्भराजा बहुत ही न्याय-नीतिसम्पन्न थे । जिस नगर में जो व्यापारी व्यापार करने के लिए जाते हैं, तब उस नगरी का राजा न्यायप्रिय और उदार होता है तो परदेशी व्यापारियों को व्यापार करने में सुगमता रहती है । और जिस नगर में दूसरे नगर के व्यापारी व्यापार करने आते हैं, तब उस नगर के राजा का परवाना प्राप्त करना चाहिए । उस समय में रिवाज था कि जिस नगर में व्यापार करना हो, उस नगर के राजा को वे व्यापारी कीमती रत्न, आभूषण तथा कोई नई बहुमूल्य वस्तु अपने पास हो, उसे भेंट के रूप में देते थे । इस अपेक्षा से अर्हन्नक आदि व्यापारी भी कुम्भराजा को भेंट देने के लिए कीमती रत्न, आभूषण वगैरह वस्तुएँ साथ में लेकर मिथिला राजधानी में कुम्भराजा के पास जाते हैं ।

बन्धुओं ! भौतिक धन की प्राप्ति के लिए उसके अनुरूप योग्य विधिविधान करने पड़ते हैं । राजा को खुश करने के लिए भेंट देनी पड़ती है । तब इस धर्मस्थानक में आकर चेतनराजा को राजी करने के लिए कुछ भेंट लेकर आते हो या नहीं ? तुम्हें जिस स्थान में जाना हो, उस स्थान में जाने योग्य योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है न ? किसी रजवाड़े में जाना हो तो उसके योग्य पोशाक से सजधजकर जाते हो । कोर्ट में जाना हो तो उस रीति से, तथा शादी-विवाह में जाना हो तो तदनुरूप वस्त्राभूषणों से सुसज्ज हो कर जाते हो, किसी पार्टी में जाना हो तो पार्टी के योग्य वस्त्रालंकार से विभूषित होकर जाते हो । किसी व्यापारी से मिलने के लिए जाते हो, तब वैसे व्यापारी बनकर जाते हो । अतः तुम लोग धर्मस्थानक में आते हो तो धर्मस्थानक में देने योग्य योग्यता प्राप्त करके आते हो क्या ? इस धर्मस्थानक में आस्रव के द्वार बंद करके आना चाहिए । यहाँ आकर दो घड़ी तक सामायिक में बैठना चाहिए । आस्रव के द्वार बंद करके संवर के घर में आकर बैठने से दुर्गति के द्वार बंद हो जाते हैं ।

परभव में जीव का कोई सहायक हो तो वह धर्म है । इस समय तुम जिसके मोह में पड़कर, रागभाव में फंसकर जिसे तुम 'मेरा है' यह कह रहे हो, वह कोई तुम्हारा नहीं है । तुम कहते भी तो हो कि आँखें मूंदते ही सम्बन्ध पूरा हो गया । यह तो आँखें मूंदते ही सम्बन्ध पूरा होने की बात कहते हो, परन्तु ज्ञानीपुरुष तो कहते हैं कि – "तेरे गाढ़ कर्मों का उदय होगा, तब तूने जिसके [illegible] है, जिनको मेरे मानकर राग

किया है, वे लोग तुम्हारी खुली आँखें भी सम्बन्ध का बंध तोड़ डालेंगे । तुम्हारे सामने भी नहीं देखेंगे । उस समय तुम्हें दुःख होगा, आघात लगेगा । इसके बजाय तो तुम समझपूर्वक सांसारिक स्नेह का राग अपने आप तोड़ डालो, उसके ऊपर ममता-मूर्च्छा का त्याग कर दो तो समय आने पर तुम्हें दुःख नहीं होगा । और हीरे की खान जैसे मनुष्यभव को पहचानकर तुम सच्चे जौहरी बन सकोगे ।" दूसरे जन्मों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा, दया आदि रत्नों की प्राप्ति नहीं की जा सकती । इसलिए वे जन्म कोयले की खान जैसे हैं । अतः मनुष्य-जीवन को सफल बनाने के लिए अनर्थ की खान जैसे संसार की ममता छोड़ो । मुझे इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त याद आ रहा है - संसार ममता की जाल के समान है । तेल में पड़ी हुई मक्खी कदाचित् बाहर निकल सकती है, परन्तु जो ममता की जाल में फंस जाता है, उसकी कैसी दशा होती है ? सुनिए -

माता-पिता और पुत्र का दृष्टांत : एक निर्धन माता-पिता थे । वे बहुत मेहनत करके अपना पेट भरते थे । उनके एक पुत्र था । 'आशा अमर है' इस अपेक्षा से अपने पुत्र को पढ़ा-लिखाकर आगे लाएँ, ताकि वह भी सुखी हो और हम भी सुखी हों । इस आशा से स्वयं कठोर मजदूरी करके, अनेक कष्ट सहकर पुत्र को किसी बड़े (अच्छे) शहर में पढ़ाई के लिए रखते हैं । कुदरत का योग ऐसा हुआ कि उस गरीब पिता के पुत्र का पढ़ने के प्रति लक्ष्य अच्छा था, संक्षेप में वह लड़का पढ़कर होशियार हो गया और तुम्हारे ऐसे, मौज-मस्तीवाले शहर में महाराष्ट्र की एक बड़ी बैंक में मैनेजर हो गया । पैसा क्या नहीं करा देता ? उसके पास पैसा बहुत आया, पत्नी आई । बंगला, गाड़ी, मोटर और वैभव तो आया, किन्तु उस वैभव ने उसे अपने माता-पिता को विस्मृत करा दिया । वह मौज-शौख में पड़ गया और माता-पिता को भूल गया ।

तरसते माँ-बाप पुत्र की खोज में : मोह के राग में रंगे हुए माता-पिता ने अनेक तर्क-वितर्क के अन्त में निर्णय किया - 'अरेरे ! मेरे बेटे को क्या हुआ होगा ? एक्सीडेंट तो नहीं हुआ न ?' यों अनेक प्रकार से भयंकर रुदन करते हुए मुंबई पहुँचे । सब जगह पूछताछ की, गली-गली में घूमे, अनेक नुक्कडों, ओफिसों में तलास की । मन ही मन कल्पना करने लगे - 'अरे ! मेरा किशोर कहाँ होगा ?' अन्त में एक बंगले के झरोखे में पिता ने किशोर को देखा ।

पुत्र को मिलने जाते हुए मार पड़ी : पिता हर्षावेश में दौड़कर पुत्र के पास गए । किशोर ने पिता को देखा और अपनी पत्नी से कहा - "ये मेरे वृद्ध माता-पिता हैं । जिन्होंने अपने पेट पर पट्टे बांधकर, कठोर मजदूरी करके मुझे पढ़ाया है । वास्तव में, ये तो मेरे तीर्थधाम हैं, मेरे जीवन के निर्माता हैं । मैं इनके चरणों में पड़कर इनकी चरणरज मस्तक पर चढ़ाकर आता हूँ ।" यह शब्द सुनते ही श्रीमतीजी ने कटुवचनों की बौछार की, जिसे सुनकर किशोर का माँ-बाप के प्रति प्रेमल हृदय पलट गया । अहह ! दुनिया कहाँ जा रही है ? एक क्षण पहले जो किशोर माता-पिता को तीर्थधाम कहता था, वह दूसरे ही क्षण में श्रीमतीजी के ओर्डर के अनुसार मिलने आये हुए बूढ़े

बाप को नौकर के द्वारा धक्का-मुक्की कराकर कंपाउंड के बाहर निकलवा देता है। यह दृश्य देखकर पिता के हृदय से ये उद्गार निकले -

"बांध्या हता आशा तणा मिनारा, बनी गया जमीनदोस्त ए मिनारा।"

यों आँखों से अश्रुपात करता हुआ वृद्ध पिता वहाँ से वापस लौट गए। पति-पत्नी दोनों एक वृक्ष के नीचे बैठे। हृदय में आघात लगने से पिता ढेर होकर धरती पर पड़ गए। वहीं उनका प्राणपंखेरु उड़ गया। यह दुर्घटना होते ही किशोर की माँ का होश-हवास गुम हो गया। 'अरेरे ! किशोर ! यह तूने क्या किया ? तूने अपने वृद्ध माँ-बाप के सामने भी देखा नहीं ? बेटा ! पिता का पालन, सेवा आदि करने के बदले प्रहार किये ! कहाँ तो तेरी उस वक्त की लगन और भक्ति और कहाँ आज का किशोर !' माताजी का रुदन देखकर पेड़ के पक्षी भी कांप उठे। उस रास्ते से जाते हुए राहगिर भी रो पड़े ! माताजी को भान हो गया कि संसार कैसा है ? खानदानी मांजी वेश-परिवर्तन करके घर का काम करनेवाली नौकरानी बनकर किशोर के बंगले पर गई।

कामवाली (नौकरानी) के वेष में मांजी : "सेठानी बा। क्या आपको नौकरानी की जरूरत है ?" किशोर की पत्नी बोली - "हाँ है, क्या वेतन लोगी ?" "माँ-बाप ! आप जो दोगे वह ले लूंगी।" यों मांजी पुत्र के यहाँ रहती है। परन्तु प्रतिक्षण अपने पति का स्मरण हो आता है, और आँख में आंसू छलक पड़ते हैं। एक दिन ऐसा योग मिला कि सेठानी बाहर गई हुई थी, और किशोर ओफिस से घर पर आया। माता मधुर शब्दों में अपनी रामकहानी कहानी के रूप में बालकों को सुना रही है। घर आये हुए किशोर ने यह कहानी सुनी। उसका हृदय चूर-चूर हो उठा। मन में सोचा - 'धिक्कार है मुझे ! मैंने अपनी पवित्र माता को विधवा बनाई। मैंने अपने पिता के प्राण लिये ! अहह ! जीवात्मा ! तेरी क्या दशा होगी ? तू यहाँ से तो छूट जाएगा, परन्तु कर्म की कोर्ट में से कभी छूट नहीं सकेगा।' यों विचार करते हुए पश्चात्ताप के झरने में उसका आत्मा पवित्र होने लगा। पाप का इकरार करके क्षमा मांगता हुआ माता के चरणों में झुक पड़ा। माता ने किशोर को सहसा छाती से लगा लिया। उसके मस्तक पर हाथ फिराती हुई बोली - "बेटा किशोर ! उठ बेटा ! उठ !" "अहा ! माता ! मैंने यह क्या किया ?, तेरे जैसी पवित्र माता से मजदूरी के काम कराये ! अरे ! मैंने अपने पिता के प्राण नष्ट कराये। यह दुष्ट पापी इस पाप से कैसे छूटेगा ?" यों फफक-फफक कर रोता हुआ किशोर अपने अपराध (पाप) के लिए माफी मांगता है। पुत्र का प्रेम देखकर और पति के वियोग की याद आने से माता का हृदय सहसा भर आया और बोल उठी - "अरेरे बेटा ! तेरा प्रेम मुझे मिला, पर तेरे पिता तो चले गये न !" इस प्रकार अपने पति का स्मरण तीव्र हो जाने से एकदम हृदयवेधक आघात लगते ही माता के प्राणपखेरु उड़ गए। यह करुण दृश्य देखकर किशोर और उसकी पत्नी का एकदम हृदय-परिवर्तन हो गया।

(पू. महासतीजी ने यह दृष्टान्त बहुत विस्तारपूर्वक, वर्तमानयुग में प्रचलित काल के साथ संकलित करके बहुत सुन्दर ढंग से कहा था। यह दृष्टान्त सुननेवाले श्रोताजनों में

से एक भी मानव ऐसा न था, जिसकी आँख में आंसू न छलक पड़े हों । यहाँ तो इ
दृष्टान्त को संक्षेप में लिखा है ।)

इस दृष्टान्त का सारांश यह है कि तुम संसार में रहते हुए भी माया के बन्धन से अलि
रहो । संसार में रहना पड़े तो रहो, परन्तु संसार तुममें नहीं रहना चाहिए । जैसे जलपो
समुद्र में रहता हुआ भी समुद्र के उपर तिरता है । जलपोत के चारों ओर जलराशि उछल
है, उस जलयान का आधा भाग पानी में डूबा हुआ रहता है, फिर भी वह पानी में डूब
नहीं, क्योंकि उसके अंदर पानी प्रवेश नहीं हो पाता । वैसे ही आत्म-दृष्टिवाला मानव संस
में रहता है, उसके चारों ओर वासना का सागर उछल रहा है, फिर भी वह उसमें डूब
नहीं, क्योंकि वह अपनी आत्मा में वासना के नीर को प्रविष्ट नहीं होने देता । संस
में रहता हुआ भी वह संसार को बन्धन-सा मानता है । वह उसमें से निकलने के लि
प्रवल प्रयत्न करता है । जिस क्षण उसको अवसर मिलेगा, उसी क्षण वह संसार के वन्ध
को छोड़कर बाहर निकल जाएगा । फिर एक क्षण भी संसार में नहीं रहेगा ।

ऐसे अर्हन्नक श्रावक की बात चल रही है । धर्म का ज्ञाता सच्चा जौहरी अर्हन्न
श्रावक तथा अन्य सभी पोतवणिक राजा को भेंट देने के लिए मूल्यवान रत्न अ
आभूषण आदि लेकर मिथिला राजधानी में आए ।

"अणुपविसित्ता जेणेव कुंभएराया तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित
करयल जाव (परिग्गहियं सिरसावत्तं मढथए अंजलिं कट्टु तं महत्
दिव्वं कुंडल जुयलं उवणेंति ।" वहाँ जाकर जहाँ कुम्भक- राजा थे, वहाँ
पहुँचे । वहाँ पहुँचकर सभी पोतवणिकों ने दोनों हाथों को जोड़कर, उन्हें मस्तक पर रखक
राजा को नमन किया । फिर अपने साथ में लाये हुए रत्न वगैरह उपहार तथा कुंडल उन्हों
राजा को भेंट दिये ।

परदेशी व्यापारियों ने कुम्भकराजा को जो अमूल्य रत्न भेंट में दिये, उसका कुम्भकराज
ने सहर्ष स्वीकार किया । बहुत से मूल्यवान रत्न भेंट दिये । परन्तु इन सबमें कुण्डल क
जोड़ी राजा को बहुत पसंद आई । सोचा - 'क्या इसका तेज है ? कैसा अनुपम इसका घा
है ? यह कुण्डल मैं अपनी लाड़ली पुत्री मल्लीकुमारी को पहनाऊँ ! उसके कान में ये कुण्डल
सुशोभित हो उठेंगे ।' यों विचार करके कुम्भकराजा ने उसी वक्त अपनी पुत्री मल्लीकुमा
को वहाँ बुलाई बुलाकर - *"तं दिव्वं कुंडल-जुयलं मल्लीए विदेह-वर-राय*
कन्नगाए विणद्धइ ।" - वे दिव्य कुण्डल-युगल विदेहराजवर-कन्या मल्लीकुमा
को पहनाए । पहनाकर उसे दूतों के साथ कन्या को वहाँ से अन्तःपुर में पहुँचाई ।

कुम्भकराजा की सभा में मल्लिकुमारी आकर चली गई । कुण्डल पहनी हु
मल्लीकुमारी ऐसी लगती थी, मानों बिजली चमक रही हो । मल्लीकुमारी को देखक
परदेशी व्यापारी स्तब्ध हो गए । अहो ! हमने यह क्या देखा ? क्या गजब का मल्लीकुमा
का तेज है ? क्या उसका रूप है ? क्या यह किन्नरी है ! विद्याधरी है ! उर्वशी है या अप्स
है । इसका रूप ही कोई अलौकिक है ! ऐसा दिव्य रूप इस पृथ्वी पर अभी तक किस

का हमने नहीं देखा । मल्लीकुमारी का रूप देखकर सभी सभाजन आश्चर्य में पड़ गए । अब आगे क्या होगा, उसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

कनकमाला रानी ने बराबर त्रियाचरित्र किया । उसने क्या किया ? यह बात कल कही जा चुकी है । उसने लोकनाटक-सा किया और जोर से चिल्लाई - "दौड़ो, दौड़ो ! ठग मुझे ठगकर भाग गया है ।" यों बोलकर रानी जोर-जोर से रोने लगी । यह सुनकर कालसंवरराजा, प्रधान वगैरह सब दौड़कर आए । पूछा - "रानीजी ! तुम्हारी ऐसी दशा किसने की ?" तब कनकमाला ने कहा - "स्वामीनाथ ! जिसे पुत्र समान समझकर मैंने लालन-पालन किया, लाड-लडाए और पालन-पोषण किया, वह नीच छोकरा मेरे पर कुदृष्टि करने पर उतारू हुआ । सर्प को दूध पिलाया, पर सब विषरूप में परिणत हुआ । नाथ ! आप मेरे अंगोपांगों को देखकर समझ सकते हैं कि वह पुत्र कितना निर्लज्ज, अधर्मी और क्रूर कर्म करनेवाला नीच है ? उसने मेरी लज्जा लूटने के लिए मेरे शरीर की यह दशा की । परन्तु नाथ ! उसने इतना जुल्म किया, किन्तु आपकी कृपा से और कुलदेवी के प्रभाव से मेरा शील खण्डित नहीं हुआ, इतनी मैं भाग्यशाली हूं । परन्तु अब रिसता हुआ उसका कटा हुआ सिर मैं नहीं देखूँगी, तो मैं जी नहीं सकूँगी । अतः उसका सिर काटकर मेरे सामने लाओ, तभी मुझे शान्ति होगी ।" देखिए, यह संसार का मोह कैसा है ? राजा मान रहा है कि मेरी रानी सती-शिरोमणि है । उन्हें पता नहीं है कि रानी प्रद्युम्नकुमार में आसक्त बनी हुई है, इसलिए रानी की स्थिति देखकर राजा ने निर्णय किया कि मैं इस पापी लड़के को मार नहीं डालूँ तो रानी चिता में जलकर मर जाएगी । एक समय के प्राणप्रिय पुत्र प्रद्युम्नकुमार पर राजा को बहुत क्रोध आया कि यह नीच छोकरा अपने मन में क्या समझता है ? बस, अभी इसे मरवा डालूं ।

प्रद्युम्नकुमार को मारने के लिए बिछाया कपटजाल : कालसंवरराजा ने वज्रमुख आदि अपने पुत्रों को बुलाया और उन्हें कहा - "पुत्रों ! प्रद्युम्नकुमार अत्यन्त नीच है ।" फिर उसकी अत्यन्त निन्दा करके कहा - "इस दुष्ट को चाहे जैसे करके मार डालो । यों तो यह जल्दी मरनेवाला नहीं है, क्योंकि यह बहुत बाहोश (सावधान) है । वैताढ्यगिरि पर १६ भयस्थानों में वह विजय प्राप्त करके आया है । उस दिन वह रथ में बैठकर आया और तुम सब पैदल चलकर आये । तभी इसकी नीचता का मुझे भान हो चुका था । यह वहाँ से बहुत-सी विद्याएँ प्राप्त करके आया है । अतः उसे जीतना तो बहुत मुश्किल है । नगर की समस्त जनता उसे चाहती है, इसलिए तुमलोग ऐसा कोई उपाय करके उसे मार डालो कि हमने उसे मार डाला है, यह बात जाहिर में न आए ।" यह सुनकर पुत्रों ने कहा - "बहुत अच्छा, पिताजी ! इस बात को कोई जानने भी न पाए, इस प्रकार हम उसका काम तमाम कर देंगे । आप चिन्ता न करें ।"

बन्धुओ ! जैसे सिंह को पकड़ना आसान नहीं है, वैसे ही प्रद्युम्नकुमार को मारना, इन विद्याधरपुत्रों की शक्ति नहीं है । उन्होंने वैताढ्य पर्वत पर उसके पराक्रम देखे हैं, परन्तु

ईर्ष्या और क्रोध बहुत बुरे हैं । अतः प्रद्युम्नकुमार को मारने के लिए तैयार हुए । सर्वप्रथम उन्होंने पहले की तरह प्रद्युम्नकुमार के साथ मित्रता बांधी । एक दिन मौका देखकर उन्होंने प्रद्युम्नकुमार से कहा - "चलो, भाई ! आज हम जंगल में घूमने चलें ।" प्रद्युम्न और वे विद्याधरकुमार घूमते-घूमते गाढ़ जंगल में आए । वहाँ एक बहुत बड़ी और गहरी बावडी आई । अतः सभी कुमार बोले - "चलो हम इस बावडी में स्नान करें ।" इस बावडी के किनारे एक वृक्ष था । अतः वज्रमुख ने कहा - "हमें इस प्रकार से स्नान करना है कि इस वृक्ष पर चढ़कर बावडी में कूदना और फिर स्नान करके बाहर आना । बोलो, सबसे पहले कौन बावडी में कूदने को तैयार है ?" दूसरे कुमारों ने कहा - "अपने प्रद्युम्नकुमार भाई बहुत शूरवीर है । ये पहल करें ।" प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "कोई हर्ज नहीं, मैं तैयार हूँ ।" प्रद्युम्नकुमार वृक्ष पर चढ़कर बावडी में कूदने को तैयार हुआ । तभी उसके पास रही हुई विद्याओं ने कहा - "इन लोगों ने तुम्हें बावडी में डूबा डालने के लिए यह माया रची है, इसलिए तुम अपने असली रूप को छिपाकर दूसरा रूप बनाकर बावडी में कूदो ।" इसलिए प्रद्युम्नकुमार ने विद्या के बल से अपने जैसा (मन-चाहा) रूप बनाकर वृक्ष पर से बावडी में कूदा । फिर स्वयं बावडी में स्नान करके बाहर निकला, इस प्रकार से अपना असली रूप प्रकट किया और कहा - "भाइयो ! मैं स्नान करके आ गया हूँ । अब आप भी स्नान करने के लिए बावडी में कूद पड़ो ।" अतः कालसंवरराजा के वज्रमुख आदि पुत्र बावड़ी में कूद पड़े । तब प्रद्युम्नकुमार ने विद्या के बल से एक विद्याधरपुत्र को रखकर बाकी सबको बावड़ी में नीचे मस्तक और उपर पैर (शीर्षासन) कराकर स्तम्भित कर दिया । यह सब देखकर जो कुमार बाकी था, उसने घबराते हुए दौड़कर कालसंवरराजा को ये सब समाचार दिये ।

यह बात सुनकर राजा को बहुत गुस्सा आया । उसे (प्रद्युम्नकुमार को) मारने के लिए राजा स्वयं चतुरंगिनी सेना लेकर धमधमाता हुआ चला आया । यह देख प्रद्युम्नकुमार ने भी विद्या के बल से सेना बनाई (सेना की विक्रिया की) । इतनी सेना देखकर राजा ने सोचा - 'इसके पास सेना तो थी नहीं, एकदम इतनी सेना कहाँ से आई ?' हिम्मत करके राजा उसके साथ युद्ध करने लगा । थोड़ी देर में प्रद्युम्न ने राजा की सेना छिन्नभिन्न कर दी । चौथाई भाग की सेना भी राजा के पास नहीं रही । अतः राजा घबराया । राजा ने प्रधान से कहा - "अब अपना बल काम नहीं आएगा । अतः तुम अभी सेना को संभालो । मैं रानी के पास से दो विद्याएँ लेकर जल्दी वापस आता हूँ । विद्या के बल से उसे जीत सकेंगे ।" इसलिए राजा प्रधान को सैन्य सौंपकर विद्या लेने के लिए कनकमाला रानी के पास जाएगा । आगे क्या घटना घटित होती है, वह यथावसर कही जाएगी ।

आज आयम्बिल की ओली का दूसरा दिवस है । आज हमें सिद्ध भगवन्तों के गुणों का स्मरण करके सिद्धपद की प्राप्ति के लिए आराधना करनी है । आज जितना समय मिले उसमें सिद्ध भगवान् के गुणों का तथा उनके स्वरूप का चिन्तन-मनन करना है । समय हो गया है, विशेष भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ८५

आसो सुदी ९, शुक्रवार | ता. ६-१०-७८

विषय-कषायों से निवृत्ति है : शान्ति का राजमार्ग

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

रागद्वेष के विजेता, मोक्षमार्ग के प्रणेता और आगमों के आख्याता, सर्वज्ञ भगवन्तों ने विश्व के कोने-कोने में विचरण करके जगत् के अनेक भव्यजीवों को प्रेरणा का पीयूष-पान कराते हुए कहा - "भव्यजीवों ! अनादिकाल से अज्ञान-दशा में भटकते हुए जीव अशान्ति की आग में भस्म हो रहे हैं । प्रत्येक जीव शान्ति चाहता है ।" शान्ति सबको अच्छी लगती है । परन्तु आप किसी से पूछकर देख लो कि भाई ! तुम्हें शान्ति है ? तो आपको शायद ही कोई व्यक्ति मिलेगा, जो कहेगा कि मुझे शान्ति है । झोंपड़ी में रहनेवाले के यहाँ हवेली बन जाए और पैर घिसकर चलनेवाले को मोटर मिल जाए, परन्तु उसकी बाह्य वृत्ति घटती नहीं और अन्तर की दिशा सूझती नहीं । उसका कारण एक ही है - मानव-वृत्तियों का गुलाम बन गया है और भौतिक-सुख के नये-नये साधनों के बन्धन में जकड़ गया है । इतने-इतने साधन उसे मिले हैं, फिर भी नये-नये साधनों को प्राप्त करने की सनक में बाहर के असंख्य विचार उसके दिमाग में घूमते रहते हैं, इसलिए सच्ची शान्ति कहाँ है ? इसका विचार वह कर नहीं सकता ।

सच्ची शान्ति कहाँ से मिले ? ऐसा प्रश्न अगर मनुष्य के दिमाग में उठे तो उसका उपाय खोजा जाए और फिर उसके लिए उपाय हो तो अवश्य शान्ति मिल सकती है । आज का मानव शान्ति चाहता है । उसके लिए इलाज किये जाते हैं, परन्तु आज अधिकांश मनुष्य उल्टे उपाय करते हैं । जिससे शान्ति मृगमरीचिका के जल की तरह दूर से दूर भागती जाती है और मनुष्य अशान्ति के ताप में सिक जाते हैं । मानव मानता है कि मैं शान्ति के लिए प्रयत्न करता हूँ, फिर भी सुख और शान्ति मिलती नहीं । दुःख और अशान्ति बढ़ती जाती है । उसका कारण है उल्टा पुरुषार्थ । जहाँ दुःख है, अशान्ति आता है, वहाँ जीव सुख और शान्ति मान बैठा है । फिर सुख और शान्ति कैसे मिले ? जिस मार्ग से जाना है, उस मार्ग का ज्ञान न हो, मार्ग का जानकार पथ-प्रदर्शक (भोमिया) भी साथ में न लिया हो, तो सन्मार्ग के बदले उन्मार्ग पर चढ़ा जा सकता है, जिससे मनुष्य हैरान हो जाता है । आज का मानव शान्ति के सन्मार्ग को भूलकर अशान्ति के उन्मार्ग पर चढ़ गया है, ऐसा नहीं लगता ? लगता है, फिर भी अभी तक सन्मार्ग पर आने का जीव का मन नहीं होता । यह कैसा उल्टी प्रवृत्ति है ?

महर्षि पतंजलि ने एक बार कहा था - "भौतिक सम्पत्ति, साधन और पदार्थ ज्ञानी आत्मा के लिए अंगारों के समान है।" आशय यह है कि प्राणिमात्र पदार्थ के प्रति मोह के कारण विषय-कषाय की ज्वाला में जल रहा है। तुम एकान्त में बैठकर शान्त चित्त से विचार करोगे तो समझ में आएगा कि सारा संसार राग-द्वेष के दावानल में जल रहा है। वहाँ शान्ति कहाँ से मिले ? मान लो, एक करोड़पति सेठ है, किन्तु उसे सम्मान की, सत्ता की और तृष्णा की भूख लगी हो, तो करोड़ों की मिल्कियत क्या उसे शान्ति दे सकती है ? नहीं। जिस मनुष्य के पास पैसा, पत्नी, परिवार आदि सब होते हुए भी दूसरे का सुख देखकर ईर्ष्या की आग में जलता रहे, उसे तीन काल में भी शान्ति के सदन में ठाठ से विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

सामान्य मनुष्य यानी मोह में पड़े हुए मनुष्य भौतिक-सुख की सामग्री प्राप्त करने के उपाय खोजते हैं। जबकि जिसे आत्मतत्त्व की पहचान हो गई है, जड़-चेतन का भेद ज्ञान हो चुका है, वैसे आत्मा आत्म-संशोधन में लीन बनते हैं। सामान्य मनुष्य अन्तर के द्वार बंद करके चर्म-चक्षुओं से बाह्य जगत् का अवलोकन करते हैं। जबकि आध्यात्मिक महान आत्मा चर्म-चक्षुओं को बंद करके अन्तरदृष्टि से आत्मजगत् का अवलोकन करते हैं। अधिकांश मानव बाहर की दुनिया में ओतप्रोत बनकर आत्मा की दुनिया को भूल गये हैं। इस कारण से माया की छाया में काया को मुर्झा डालने पर वे जो मांगते हैं, वह मिलता नहीं; जो खोजते हैं, वह प्राप्त होता नहीं है, तब वे हताश, दुःखी और उद्विग्न हो जाते हैं। इसीलिए ज्ञानीपुरुष ललकार कर कहते हैं - "हे जीव ! तूने अनादिकाल से उल्टा प्रयत्न करके अशान्ति प्राप्त की,. अब सच्ची समझ के घर में आकर तू ऐसा महान प्रयत्न कर ले, ताकि तुझे शाश्वत शान्ति प्राप्त हो।"

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

शाश्वत शान्ति प्राप्त करने का सच्चा मार्ग जिसे मिल गया है, ऐसे अर्हन्नक श्रावक भले बाह्य सम्पत्ति पाने के लिए व्यापार करने हेतु निकले हैं। वे संसार में बैठे हैं, इसलिए संसार के कार्य करने पड़ते हैं, पर उनमें उनका मोह-माया या रागभाव नहीं है। संसार में रहने पर भी वह संसार से निराले रहे, यही कारण है कि मिथिला नगरी के कुम्भकराजा को अपने दिव्य कुण्डल-युगल भेंट दे दिये। उनके अतिरिक्त दूसरे अनेक बहुमूल्य रत्न भी उन्हें भेंट दिये थे। राजा को कुण्डल बहुत पसंद आए, इसलिए तुरंत उन्होंने अपनी लाडली पुत्री मल्लीकुमारी को सभा में बुलाकर सभी व्यापारियों के समक्ष अर्हन्नक श्रावक के द्वारा भेंट दिये हुए कुण्डल-युगल उसके कानों में पहनाए। सबके बीच मल्लीकुमारी को राजा ने बुलाई, उसमें भी एक कारण है कि जिन्होंने कुण्डल भेंट दिये हैं, उन्हें यह सन्तोष हो जाए कि हमारी वस्तु योग्यपात्र को मिली है। मल्लीकुमारी के कानों में वे कुण्डल शोभायमान हो गए। यद्यपि कुण्डल पहनाए तब वह गृहवास में थीं, परन्तु भविष्य में तीर्थंकर बननेवाली थीं। तीर्थंकर के देह की कान्ति, उनका रूप और तेज तो

कोई अलौकिक ही होता है। मल्लीकुमारी का रूप और तेज देखकर आनेवाले व्यापारी स्तब्ध हो गए। अहो ! ऐसा रूप तो कहीं देखा नहीं ! कुण्डल पहनाकर राजा ने तुरंत उसे भेज दी। दर्शकों को तो ऐसा लगा, मानो बिजली चमक कर विलीन हो गई हो।

मल्लीकुमारी के जाने के बाद कुम्भकराजा को आगन्तुक व्यापारियों ने जो भेंट दी थी, उसके बदले में उन्हें कुछ देना चाहते थे। पहले के राजाओं में कितनी अच्छी नीति थी ! व्यापारी वर्ग भेंट दे, उसे लेकर बैठ जाने की वृत्ति उनमें नहीं थी। जो व्यक्ति भेंट देता, उसके बदले में वे कुछ न कुछ बदला चुकाते थे। आज तो जहाँ जाओ, वहाँ लेने की वृत्ति बढ़ी है, किन्तु देने की वृत्ति नहीं है। जिसकी वृत्ति ऐसी है कि अपने से बने तो कुछ जरूर देना, परन्तु किसी का लेना नहीं, यह देववृत्ति है। परन्तु जिसका केवल लेने की वृत्ति है, किन्तु समय आने पर देने की वृत्ति नहीं है, वह आसुरीवृत्ति है। अर्हन्नक आदि व्यापारियों ने कुम्भकराजा को जो दिव्य कुण्डल तथा रत्न भेंट दिये, उन्हें लेकर राजा ने बदले में क्या दिया ?

"तएणं से कुंभए राया ते अरहन्नग-पामोक्खे नाव-वाणियगे विउलेणं असणपाण-खाइम-साइमेण वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं जाव उस्सुकं वियरइ।"

तदनन्तर कुम्भकराजा ने उन अर्हन्नक प्रमुख नौका-वणिकों का विपुल वस्त्रों, सुगन्धित पदार्थों, मालाओं और अलंकारों से उनका सत्कार-सम्मान किया, तत्पश्चात् उनकी विक्रेय वस्तुओं पर से कर (महसूल) माफ किया। अर्हन्नक आदि व्यापारियों से क्रय-विक्रय पर मेरे राजकर्मचारीगण कर न लें, ऐसा आज्ञापत्र (परवाना) राजा ने उन्हें लिखकर दिया।

देखिए, कुम्भकराजा कितने उदार और गम्भीर हैं ? उन्होंने वस्त्रों, सुगन्धित पदार्थों, मालाओं एवं आभूषणों से उन व्यापारियों का बहुमान किया। मधुर वचनों से उन्हें प्रेमपूर्वक पूछा - "आप कहाँ से आए हैं ?" तब उन्होंने कहा - "हम चम्पा नगरी से व्यापार करने के लिए यहाँ आए हैं।" इस पर कुम्भकराजा ने कहा - "आपलोग मेरी नगरी में खुशी से रहें और व्यापार करके प्रचुर धन कमाएँ। आप जो माल लेकर आए हैं, उसे बेचें और यहाँ से नया माल खरीदें।"

बन्धुओं ! आप यहाँ धर्मस्थानक में किसलिए आये हैं ? कुछ न कुछ खरीदने के लिए आये हैं न ? आपके अन्तर में जो राग-द्वेष और कषायों का कचरा भरा है, उसे बाहर निकाल कर वीतरागवाणी का श्रवण करके उसमें से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा, सरलता आदि का कीमती माल खरीदो। वीतराग के साधु-साध्वियों के पास जो माल भरा है, उसमें से तुम्हें जो माल पसंद हो, उसे खरीद लो (ले लो)। पहले के श्रावक भगवान् के समवसरण में भगवद्वाणी श्रवण करने के लिए जाते (आते) थे। कई श्रोता खास करके महाराजा, राजकुमार आदि प्रायः एक ही बार उनकी वाणी सुनकर विरक्त हो जाते और भगवान् के समक्ष अपनी इच्छा व्यक्त करते - 'प्रभो ! हम अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा लेना चाहते हैं।' तब भगवान् क्या कहते थे ? -

'जहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह !'' - हे देवानुप्रिये ! तुम्हें निर्ग्रन्थ - प्रवचन पर श्रद्धा हुई है और संयमपंथ प्रयाण करके स्व-पर कल्याण करने के लिए तुम्हें दीक्षा अंगीकार करने की इच्छा हुई है, तो तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो, किन्तु इस कार्य में विलम्ब मत करो ।'

अर्हन्नक श्रावक आदि व्यापारियों का कुम्भकराजा ने वस्त्राभूषणों आदि से सत्कार-सम्मान किया और उनके माल के क्रय-विक्रय पर कर माफ करके मिथिला नगरी में व्यापार करने का परवाना (आज्ञापत्र) लिखकर दिया । इतना करके ही उन्हें विदा नहीं किया, अपितु उनके आवासादि की क्या व्यवस्था की ?

''वियरित्ता रायमग्गमोगाढ य आवासे वियरइ, वियरित्ता पडिविसज्जेइ ।''

व्यापार के लिए कर माफ करने का आज्ञापत्र लिख देने के बाद राजा ने राजमार्ग पर स्थित अपना भव्य महल उन्हें ठहरने (रहने) के लिए दिया । इस प्रकार उनकी सारी व्यवस्था की । फिर राजा ने उन्हें वहाँ से विदा किया ।

बन्धुओं ! यह कुम्भकराजा कोई सामान्य व्यक्ति न थे, अपितु बड़े राजा थे, फिर भी उनमें कितनी उदारता थी ? परदेशी व्यापारियों का उन्होंने कितना स्वागत किया ? उनके साथ प्रेम से बातचीत की और रहने के लिए अपना भव्य महल दिया । उनकी ऐसी विशाल भावना थी, इसलिए सोचा - 'परदेशी व्यापारी मेरी नगरी में आए हैं तो मेरी नगरी के व्यापारियों के साथ शीघ्र इनकी पहचान हो जाय और इनका व्यापार जोर-शोर से चले और ये पर्याप्त धन कमाकर यहाँ से सन्तुष्ट होकर जाएँ ।'

कुम्भकराजा की उदारता और विशालता देखकर व्यापारियों को बहुत प्रसन्नता हुई । वे हर्षित होकर राजा के द्वारा दिये गए महल में आकर ठहरे, जो माल वे लाये थे, उसे बेचने लगे । उनका व्यापार जोर-शोर से चला । वे जिस भाव में जो माल लाए थे, उनसे सवाये दाम उसके मिलने लगे । माल बेचकर जो रकम मिली, उससे यहाँ से नया माल खरीदने लगे । मिथिला नगरी में वे बहुत दिनों तक रूके । उनका सब माल बिक गया । आशा से अधिक सवाया लाभ मिला । इस कारण सभी व्यापारी बहुत खुश हुए । व्यापार करने के लिए उन्होंने जो नया माल यहाँ से खरीदा था, वह सब माल-सामान गाड़ियों और गाड़ों में भरा और मिथिला नगरी से प्रस्थान करके वहाँ से निकलकर वे सब 'गंभीरक बंदरगाह पर आये, जहाँ उनके जलपोत लंगर डाले हुए पड़े थे । वहाँ पहुँचकर गाड़ी-गाड़ों से माल-सामान उतारकर जलयान में यथास्थान व्यवस्थित ढंग से रखा और जब दक्षिणानुकूल पवन बहने लगा, तब उन्होंने जलपोतों को चलाया । बहुत ही शान्तिपूर्वक उनके वाहन चम्पा नगरी पहुँचे । लंगर डालकर सभी वाहन खड़े रखे । फिर वाहन में से गणिम आदि चार प्रकार का माल तथा सामान वाहनों में से उतार कर रखा।

अपनी नगरी में पहुँचने के बाद नियमानुसार नगरी के राजा को भेंट देने के लिए जाने को तैयार हुए। चम्पानगरी में अंगदेशाधिपति चन्द्रच्छाय नामक राजा थे। इसलिए वे महार्थ-साधक बहु-मूल्यवान् रत्न और दिव्य कुण्डल की जोड़ी मूल्यवान् रत्न तथा अन्य नवीन वस्तुएँ लेकर चन्द्रच्छाय राजा को भेंट कीं। चन्द्रच्छाय राजा ने उन्हें अर्पण की हुई वस्तुएँ रत्न, आभूषण एवं कुण्डल-युगल आदि सहर्ष स्वीकार की।

स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने अर्हन्नक आदि पोतवणिकों से पूछा - "देवानुप्रियों! आप बहुत-से ग्राम जाकर, नगर, पट्टण आदि में भ्रमण करते रहते हो। तथैव लवण समुद्र को जलयान से बार-बार पार करते रहते हो," यों कहकर उनसे पूछा -

"तं अत्थियाइं भे केइ कहिंचि अच्छेरएदिट्ठपुव्वे ?"

"तो यह बताओ कि आपने इससे पहले कहीं कोई आश्चर्यजनक बात देखी है ?"

देवानुप्रियों! आप में से कोई पहले पहल परदेश जाकर आया हो यानी अनेक देश देखकर चिरकाल से अपने घर आया हो, तब उसके माता-पिता, पत्नी आदि पारिवारिक जन उसे पूछते हैं - 'तुम नये-नये देशों में घूम आए, वहाँ तुमने देखने लायक क्या-क्या देखा ? कोई आश्चर्यजनक बात देखी हो तो हमें कहो।' इस प्रकार सबलोग जानने के लिए आतुर होते हैं न ? उस परदेश से लौटे हुए व्यक्ति की बातें सुनकर उसके पारिवारिक जनों को ऐसा लगता है, मानो अमरिका और युरोप हमारे सामने साक्षात् उपस्थित हो। इसी प्रकार चन्द्रच्छाय राजा ने भी बहुत आतुरतापूर्वक व्यापारियों से पूछा - "आपलोग अनेक ग्रामों, नगरों और देशों आदि में घूमे, बहुत धन कमाकर आये हो, तो नये-नये देश-प्रदेश किसी राजा का भंडार, कोई दर्शनीय स्थल, किसी राजा का अन्तःपुर वगैरह देखा हो, उनमें कोई आश्चर्यकारी नवीन कुछ देखा है, जिसे आप लोगों ने अभी तक कभी न देखा हो ? ऐसा कुछ देखा हो तो मुझे कहो।" अंगदेश के अधिपति चन्द्रच्छाय-राजा की जिज्ञासा देखकर अर्हन्नक प्रमुख व्यापारियों ने उन्हें इस प्रकार कहा - *"एवं खलु सामी... जाव पडिविसज्जेइ।"* - "हे स्वामिन्! हम अर्हन्नक आदि बहुत-से सांयात्रिक नौका-वणिक इसी चम्पा नगरी के निवासी हैं। एक बार किसी समय हम गणिम, धरिम, मेय और परिछेद्य, इन चार प्रकार की विक्रेय वस्तुएँ जलपोतों में भरकर समुद्रीमार्ग से मिथिला नगरी में गये थे। वहाँ हमने जो कुछ देखा है, उसे आपके समक्ष अधिक बढ़ा-चढ़ाकर भी नहीं, तथा उससे कम भी नहीं, यानी जहाँ जिस प्रकार से, जिस रूप में जो हमने देखा है, उसे हम आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। हम यहाँ से बहुत-सा माल लेकर वाहन (जलपोत) में बैठकर मिथिला नगरी के बंदरगाह पर पहुँचे। वहाँ से हम कुम्भकराजा के दर्शन के लिए मिथिला-राजधानी में गए। वहाँ जाकर राजा के दर्शन किये, आगमन-प्रयोजन बताया। फिर उनके सम्मुख मूल्यवान् रत्न तथा कानों के कुण्डल की जोड़ी उन्हें भेंट की। हमारी भेंट सहर्ष स्वीकार कर कुम्भकराजा

ने तुरंत अपनी पुत्री विदेहराजवर-कन्या मल्लीकुमारी को सभा में बुलाई । बुलाकर वे दिव्य कुण्डल उसके कानों में पहनाए । फिर तुरंत उसे कन्या को अन्तःपुर में भेज दी ।

"तं एसणं सामी ! अम्हेहिं कुंभराय-भवणंसि मल्ली विदेहराय-वरकन्ना अच्छेरए दिट्ठे । तं नो खलु अन्ना कावि तारिसिया देवकन्ना वा जाव (असुरकन्ना वा, नागकन्ना वा, जक्खकन्ना वा, गंधव्वकन्ना वा रायकन्ना वा) जारिसिया णं मल्ली विदेहरायवरकन्ना ।"

तो हे स्वामिन् ! हमने कुम्भकराजा के भवन में सर्वगुण-सम्पन्न, विदेहराजा की श्रेष्ठ कन्या मल्ली आश्चर्यरूप में देखी है । हे महाराजा ! हम मल्लीकुमारी के रूप और सौन्दर्य की क्या बात करें ? उसके जैसा अलौकिक रूप और सौन्दर्य हमने आजतक कहीं नहीं देखा ! विदेहराजा की मल्लीकुमारी नामक यह कन्या जैसी सुन्दर है, (इसकी तुलना में) वैसी कोई देवकन्या, असुरकन्या, नागकन्या, यक्षकन्या, गन्धर्वकन्या अथवा राजकन्या नहीं है । अर्थात् - हमने विदेहराजवर-कन्या मल्लीकुमारी जैसी आश्चर्यजनक दूसरी कोई कन्या नहीं देखी ।"

इस प्रकार अर्हन्नक-प्रमुख सांयात्रिकों (पोतवणिकों) के मुख से मल्लीकुमारी के रूप का आश्चर्य सुनकर चन्द्रच्छायराजा ने अर्हन्नक-प्रमुख पोतवणिकों को वस्त्र, आभूषण, माला आदि देकर उनका सत्कार-सम्मान किया । तथा मधुर वचनों से उनकी खूब सराहना की । उसके बाद राजकीय कर माफ करके उन्हें बिदा करते वक्त ऐसा आज्ञापत्र लिखकर दिया - "मेरे तमाम राजकर्मचारियों को यह आदेश दिया जाता है कि वे अर्हन्नक प्रमुख व्यापारियों से क्रय - विक्रय के व्यवहार में किसी प्रकार का राजकीय कर न लें ।"

तदनन्तर अर्हन्नक-प्रमुख वणिकजनों के मुख से सुने हुए वचनों से मल्लीकुमारी पर चन्द्रच्छायराजा को प्रेम उत्पन्न हुआ । अतः उन्होंने शीघ्र ही दूत को बुलाकर आदेश दिया कि "हे देवानुप्रिये ! तुम मिथिलानगरी में जाकर वहाँ के राजा कुम्भक को सविनय निवेदन करो कि आपकी पुत्री मल्लीकुमारी को चन्द्रच्छायराजा चाहते हैं । अगर आपकी पुत्री इसके लिए मेरा सारा राज्य मांगेगी तो मैं अपना सारा राज्य उसे समर्पित करने को तैयार हूँ ।"

चन्द्रच्छायराजा को मल्लीकुमारी के साथ पूर्व का स्नेह है, इसलिए उसका नाम सुनते ही उसके प्रति अनुराग जगा । उसे नजर से प्रत्यक्ष देखी भी नहीं थी । व्यापारियों के मुख से उसके रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर उसके साथ विवाह करने की इच्छा हुई । मल्लीकुमारी से मिलने की चटपटी (आतुरता) लगी । चन्द्रच्छाय राजा को मल्लीकुमारी से मिलने में विलम्ब कष्टदायक लग रहा था । उनका सन्देश लेकर अब चन्द्रछाय-राजा का दूत मिथिला-राजधानी में जाएगा । वहाँ क्या बनाव बनेगा, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

अपनी नगरी में पहुँचने के बाद नियमानुसार नगरी के राजा को भेंट देने के लिए जाने को तैयार हुए। चम्पानगरी में अंगदेशाधिपति चन्द्रच्छाय नामक राजा थे। इसलिए वे महार्थ-साधक बहु-मूल्यवान् रत्न और दिव्य कुण्डल की जोड़ी मूल्यवान् रत्न तथा अन्य नवीन वस्तुएँ लेकर चन्द्रच्छाय राजा को भेंट कीं। चन्द्रच्छाय राजा ने उन्हें अर्पण की हुई वस्तुएँ रत्न, आभूषण एवं कुण्डल-युगल आदि सहर्ष स्वीकार की।

स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने अर्हन्नक आदि पोतवणिकों से पूछा - "देवानुप्रियों ! आप बहुत-से ग्राम जाकर, नगर, पट्टण आदि में भ्रमण करते रहते हो। तथैव लवण समुद्र को जलयान से बार-बार पार करते रहते हो," यों कहकर उनसे पूछा -

"तं अत्थियाइं भे केइ कहिंचि अच्छेरएदिट्ठपुव्वे ?"

"तो यह बताओ कि आपने इससे पहले कहीं कोई आश्चर्यजनक बात देखी है ?"

देवानुप्रियों ! आप में से कोई पहले पहल परदेश जाकर आया हो यानी अनेक देश देखकर चिरकाल से अपने घर आया हो, तब उसके माता-पिता, पत्नी आदि पारिवारिक जन उसे पूछते हैं - 'तुम नये-नये देशों में घूम आए, वहाँ तुमने देखने लायक क्या-क्या देखा ? कोई आश्चर्यजनक बात देखी हो तो हमें कहो।' इस प्रकार सबलोग जानने के लिए आतुर होते हैं न ? उस परदेश से लौटे हुए व्यक्ति की बातें सुनकर उसके पारिवारिक जनों को ऐसा लगता है, मानो अमरिका और युरोप हमारे सामने साक्षात् उपस्थित हो। इसी प्रकार चन्द्रच्छाय राजा ने भी बहुत आतुरतापूर्वक व्यापारियों से पूछा - "आपलोग अनेक ग्रामों, नगरों और देशों आदि में घूमे, बहुत धन कमाकर आये हो, तो नये-नये देश-प्रदेश किसी राजा का भंडार, कोई दर्शनीय स्थल, किसी राजा का अन्तःपुर वगैरह देखा हो, उनमें कोई आश्चर्यकारी नवीन कुछ देखा है, जिसे आप लोगों ने अभी तक कभी न देखा हो ? ऐसा कुछ देखा हो तो मुझे कहो।" अंगदेश के अधिपति चन्द्रच्छाय-राजा की जिज्ञासा देखकर अर्हन्नक प्रमुख व्यापारियों ने उन्हें इस प्रकार कहा - *"एवं खलु सामी... जाव पडिविसज्जेइ।"* - "हे स्वामिन् ! हम अर्हन्नक आदि बहुत-से सांयात्रिक नौका-वणिक इसी चम्पा नगरी के निवासी हैं। एक बार किसी समय हम गणिम, धरिम, मेय और परिछेद्य, इन चार प्रकार की विक्रेय वस्तुएँ जलपोतों में भरकर समुद्रीमार्ग से मिथिला नगरी में गये थे। वहाँ हमने जो कुछ देखा है, उसे आपके समक्ष अधिक बढ़ा-चढ़ाकर भी नहीं, तथा उससे कम भी नहीं, यानी जहाँ जिस प्रकार से, जिस रूप में जो हमने देखा है, उसे हम आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। हम यहाँ से बहुत-सा माल लेकर वाहन (जलपोत) में बैठकर मिथिला नगरी के बंदरगाह पर पहुँचे। वहाँ से हम कुम्भकराजा के दर्शन के लिए मिथिला-राजधानी में गए। वहाँ जाकर राजा के दर्शन किये, आगमन-प्रयोजन बताया। फिर उनके सम्मुख मूल्यवान् रत्न तथा कानों के कुण्डल की जोड़ी उन्हें भेंट की। हमारी भेंट सहर्ष स्वीकार कर कुम्भकराजा

ने तुरंत अपनी पुत्री विदेहराजवर-कन्या मल्लीकुमारी को सभा में बुलाई। बुलाकर वे दिव्य कुण्डल उसके कानों में पहनाए। फिर तुरंत उसे कन्या को अन्तःपुर में भेज दी।

"तं एसणं सामी! अम्हेहिं कुंभराय-भवणंसि मल्ली विदेहराय-वरकन्ना अच्छेरए दिट्ठे। तं नो खलु अन्ना कावि तारिसिया देवकन्ना वा जाव (असुरकन्ना वा, नागकन्ना वा, जक्खकन्ना वा, गंधव्वकन्ना वा रायकन्ना वा) जारिसिया णं मल्ली विदेहरायवरकन्ना।"

तो हे स्वामिन्! हमने कुम्भकराजा के भवन में सर्वगुण-सम्पन्न, विदेहराजा की श्रेष्ठ कन्या मल्ली आश्चर्यरूप में देखी है। हे महाराजा! हम मल्लीकुमारी के रूप और सौन्दर्य की क्या बात करें? उसके जैसा अलौकिक रूप और सौन्दर्य हमने आजतक कहीं नहीं देखा! विदेहराजा की मल्लीकुमारी नामक यह कन्या जैसी सुन्दर है, (इसकी तुलना में) वैसी कोई देवकन्या, असुरकन्या, नागकन्या, यक्षकन्या, गन्धर्वकन्या अथवा राजकन्या नहीं है। अर्थात् - हमने विदेहराजवर-कन्या मल्लीकुमारी जैसी आश्चर्यजनक दूसरी कोई कन्या नहीं देखी।"

इस प्रकार अर्हन्नक-प्रमुख सांयात्रिकों (पोतवणिकों) के मुख से मल्लीकुमारी के रूप का आश्चर्य सुनकर चन्द्रच्छायराजा ने अर्हन्नक-प्रमुख पोतवणिकों को वस्त्र, आभूषण, माला आदि देकर उनका सत्कार-सम्मान किया। तथा मधुर वचनों से उनकी खूब सराहना की। उसके बाद राजकीय कर माफ करके उन्हें विदा करते वक्त ऐसा आज्ञापत्र लिखकर दिया - "मेरे तमाम राजकर्मचारियों को यह आदेश दिया जाता है कि वे अर्हन्नक प्रमुख व्यापारियों से क्रय - विक्रय के व्यवहार में किसी प्रकार का राजकीय कर न लें।"

तदनन्तर अर्हन्नक-प्रमुख वणिकजनों के मुख से सुने हुए वचनों से मल्लीकुमारी पर चन्द्रच्छायराजा को प्रेम उत्पन्न हुआ। अतः उन्होंने शीघ्र ही दूत को बुलाकर आदेश दिया कि हे देवानुप्रिये! तुम मिथिलानगरी में जाकर वहाँ के राजा कुम्भक को सविनय निवेदन करो कि आपकी पुत्री मल्लीकुमारी को चन्द्रच्छायराजा चाहते हैं। अगर आपकी पुत्री इसके लिए मेरा सारा राज्य मांगेगी तो मैं अपना सारा राज्य उसे समर्पित करने को तैयार हूँ।"

चन्द्रच्छायराजा को मल्लीकुमारी के साथ पूर्व का स्नेह है, इसलिए उसका नाम सुनते ही उसके प्रति अनुराग जगा। उसे नजर से प्रत्यक्ष देखी भी नहीं थी। व्यापारियों के मुख से उसके रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर उसके साथ विवाह करने की इच्छा हुई। मल्लीकुमारी से मिलने की चटपटी (आतुरता) लगी। चन्द्रच्छय राजा को मल्लीकुमारी से मिलने में विलम्ब कष्टदायक लग रहा था। उनका सन्देश लेकर अब चन्द्रछाय-राजा का दूत मिथिला-राजधानी में जाएगा। वहाँ क्या बनाव बनेगा, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

• • • • • • • • • • • • • • • • •

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार के साथ युद्ध करते हुए कालसंवरराजा का सैन्य तितर-बितर हो गया, इसलिए उन्होंने विचार किया कि 'रानी के पास से रोहिणी और प्रज्ञप्ति नाम की दो विद्याएँ ले आऊँ।' ऐसा विचार करके प्रधान को सेना सौंपकर राजा कनकमाला रानी के पास आए। उससे कहा - "प्रद्युम्न के साथ युद्ध करने में मुझे विद्या की जरूरत पड़ी है। अतः शीघ्रातिशीघ्र मुझे दोनों विद्याएँ दे।" तब रानी ने बहुत ही धीमी आवाज में कहा - "मेरे पास ये विद्याएँ नहीं हैं। मुझे प्रद्युम्न अतिप्रिय था, इसलिए मैंने स्नेहवश उसकी रक्षा के लिए दोनों विद्याएँ उसे दे दी हैं। मुझे मालूम नहीं था कि यह ऐसा करेगा। नाथ! अब क्या करूँ?" यों कहकर वह रोने लगी। रानी की बात सुनकर राजा ने कहा - "तुझे प्रद्युम्नकुमार चाहे जितना प्रिय था, फिर भी तू उसे विद्या दे दे, ऐसी नहीं है। तूने उसे अगर विद्याएँ दे दी है तो इसमें अवश्य ही कोई रहस्य है। निश्चय ही तू बिगड़ी है। तूने उसे अपना बनाने के लिए, उसे ललचाने के लिए दोनों विद्याएँ दे दी होगी। तू ही कुलटा है। तूने ही यह सारा धांधल मचाया है।" यों रानी को उपालम्भ देकर निराश होकर राजा वापस युद्ध करने आए। राजा पुनः प्रद्युम्न के साथ लड़ने लगे। तभी प्रद्युम्नकुमार ने उन्हें नागपाश से बांध दिया।

नारद ऋषि का आगमन : पिता और पुत्र दोनों का परस्पर युद्ध चल रहा था, उस समय नारदजी वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने प्रद्युम्नकुमार से कहा - "प्रद्युम्न! तू किसके साथ युद्ध कर रहा है? यह तेरे उपकारी पिता हैं। उनके खिलाफ तुझे युद्ध नहीं करना चाहिए। यह तेरी बालबुद्धि छोड़ दे और तेरे पिता को तू नागपाश के बन्धन से मुक्त कर दे।" प्रद्युम्नकुमार यों तो बहुत समझदार था। उसे यों पिता के साथ युद्ध करके अच्छा नहीं लगता था। वह समझता था कि वृक्ष चाहे जितना ऊँचा हो, पर वह क्या आकाश को भेद सकता है? नहीं। मैं चाहे जितना बलवान और बुद्धिशाली होऊँ, कपाल से नाक नीचा होता है, वैसे मैं नीचा हूँ। पिताजी के पास मैं सदैव छोटा हूँ, वह बड़े हैं। किन्तु प्रसंग ऐसा बना इसलिए मुझे लड़ना पड़ा।

जैसे आम्रवृक्ष पर आम आते हैं, तब आम्रवृक्ष आम के भार से स्वयं नम जाता है। द्राक्ष, ईमली, संतरा आदि फल जब लगता है, तब वे-वे वृक्ष अपने फलों के भार से नीचे नम जाते हैं। कुलीन हाथी और घोड़ा भी अपने मालिक के चरणों में झुक जाता है, वैसे ही पराक्रमी, होशियार, विनयवान प्रद्युम्नकुमार कालसंवरराजा के चरण में नतमस्तक हो गया और तत्काल राजा को नागपाश के बन्धन से मुक्त किया। फिर राजा अपने पुत्र-परिवार और सैन्य के साथ अपने महल में चले गए।

प्रद्युम्नकुमार का पराक्रम, विनय, नम्रता, बुद्धि, इन सब गुणों को देखकर नारदजी की छाती हर्ष से गज-गज फूलने लगी। वह तुरंत प्रद्युम्न के पास आकर उसे छाती से लगा लिया और बोले - "बेटा! धन्य है तेरी जननी को!" तब प्रद्युम्नकुमार ने उनके

चरणों में गिरकर नमस्कार किया और गदगद् होकर कहने लगा - "हे मुनिवर ! आपने आकर युद्ध बंद करवाया । मेरे पिताजी तो चले गए । अब इस जगत् में मेरा कौन है ? जिन्हें मैंने अपना सर्वस्व माना था, वे मेरे माता-पिता तो मेरे शत्रु बन गए हैं । अब मैं कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ?" तब नारदजी ने कहा - "बेटा ! तू किसलिए घबराता है ? तेरे अपने तो बहुत हैं । तेरे जैसा तो जगत् में कोई भाग्यशाली नहीं है । किन्तु तूने जन्म लेने के बाद कालसंवरराजा को पिता और कनकमाला रानी को माता के रूप में देखा है, इसलिए तुझे लगता है कि मेरा कोई नहीं है । परन्तु मेरी बात सुन -

तुम-सा सौभागी नहीं जगत में, श्रीकृष्ण-सा तात ।
रुक्मणी-सी गुणवान माता, तुम यदुवंश विख्यात हो ।। श्रोता...

त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव तेरे पिता हैं और गुणवती रुक्मिणी तेरी माता है । ऐसे पवित्र यादववंश में तेरा जन्म हुआ है । मैं तुझे ले जाने के लिए आया हूँ । तेरे वियोग में तेरी माता और पिता चिन्ता से दुःखी हो रहे हैं । अतः अब तू जरा भी विलम्ब किये बिना मेरे साथ चल । जो मनुष्य खरे समय पर न आए तो उसकी कोई कीमत नहीं होती । वर्षा चौमासे में बरसे तो उसकी कीमत है, किन्तु अगर वह फाल्गुन या चैत्र मास में चाहे जितनी बरसे उसकी कोई कीमत नहीं है । जब रावण सीताजी को उठाकर ले गया, तब रामचन्द्रजी उलझन में पड़ गए । उस समय उनका सच्चा भक्त हनुमान दौड़कर आया और ऐसे दुःख के समय रामचन्द्रजी की सहायता की । सीताजी का पता लगाया, उनका संदेश रामचन्द्रजी को दिया । सीता को लेने जाते समय सुग्रीव ने रामचन्द्रजी को मदद की । तो उसका मूल्यांकन हुआ । इस प्रकार हे प्रद्युम्नकुमार ! इस समय तेरी माता तेरे लिए रात-दिन कल्पान्त कर रही हैं । श्रीकृष्णजी भी उदास हो रहे हैं । इस अवसर पर तू शीघ्र चलकर अपने माता-पिता को शान्ति प्राप्त करा । तू अब जल्दी से चल । तेरी खोज करने में तेरे माता-पिता ने कुछ भी बाकी नहीं रखा । सब जगह छान मारी है । दूसरे एक अन्य कारण के लिए भी तेरा जल्दी चलना अनिवार्य है । इसे सुन -

भामा-सुत के ब्याह बीच में, जावे मात-सिर-केश ।
जो जावे तो, वह नहीं जावे, तुम मन होवे क्लेश हो ।। श्रोता...

तेरे पिताजी के अनेक रानियाँ हैं । उनमें सत्यभामा नाम की तेरी सौतेली माता है । उसने तेरी माता के साथ शर्त की है कि मेरे (सत्यभामा के) पुत्र का विवाह पहले हो तो तेरा (रुक्मिणी का) मस्तक मुंडाकर तेरे बाल मेरे पग नीचे कुचले जाएँगे और तेरे पुत्र (रुक्मिणी के) पुत्र की पहले शादी हो तो मेरा (सत्यभामा) मस्तक मुंडवाकर मेरे (सत्यभामा के) बाल तेरे (रुक्मिणी के) पैर के नीचे कुचले जाएँगे । अगर तू सही समय द्वारिका नहीं आएगा तो उसके (सत्यभामा के) पुत्र का विवाह पहले हो जाएगा । फलतः तेरी माता को मस्तक मुडाना पड़ेगा और तेरी माता के बाल सत्यभामा अपने पैर के नीचे कुचलेगी । अगर इसमें (तेरी माता के) मस्तक के बाल उतारे जाएँगे तो वह जीवित नहीं रहेगी । वह चिन्ता से दुःखी होकर प्राण त्याग कर देगी । अतः जल्दी से चल ।"

नारदजी की बात सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने मन में सोचा – 'अगर मेरी माता की ऐसी दशा होती हो तो मुझे यहाँ से तुरंत चल पड़ना चाहिए। अब मुझे अपने जन्मदाता माता-पिता के दर्शन करने हैं।' बाद बोला – "किन्तु कालसंवरराजा और कनकमाला मेरे पालक पिता-माता हैं। इनका मुझ पर बहुत उपकार है। मैं उनके पास जाऊँ। उनको वन्दन करूँ और उनकी आज्ञा लेकर शीघ्र आता हूँ।" यों कहकर यह पालक माता-पिता के पास गया।

बिदाई लेने पालक माता-पिता के पास पहुँचा : प्रद्युम्नकुमार कालसंवरराजा के महल में आया। उस समय राजा-रानी दोनों गमगीन होकर बैठे थे। उसके पास जाकर विनयपूर्वक दोनों को प्रणाम करके नम्रतापूर्वक कहने लगा – "हे माता-पिता! मैंने अज्ञानवश आप दोनों के प्रति महान अन्याय किया है। आप दोनों को बहुत कष्ट दिया है, अतः आप मेरे अपराध के लिए क्षमा करें। तथा हे माता-पिता! मेरे पर आपका महान उपकार है। मैं तो अनाथ था। पहाड़ पर शिला के नीचे पड़ा था। वहाँ से उठाकर आप लाए और मेरा पालन-पोषण किया, मुझे बड़ा किया। आपने मेरे मन में जरा भी हीन भावना नहीं आने दी। परन्तु मैंने बालक बुद्धिवश आपको बहुत हैरान किया होगा। मेरी इन सब गलतियों और भूलों के लिए मैं आज आप से अन्तःकरण से क्षमा मांगता हूँ।

मैं बालक हूँ जननी थारो, जननी! मुझे भूलजे नांय।
बार-बार है कहना तुमको, राखजे हृदय मांय हो ॥ श्रोता...

हे माता! मैं सदा के लिए तेरा लाडला पुत्र हूँ। तु मुझे कदापि भूलाना मत। मुझे अधिक जगह नहीं चाहिए, एक रत्न जितना स्थान मेरे लिए तेरे दिल में रखना, मैं उसमें समा जाऊँगा। इतनी मेरी बिनती ध्यान में रखना। तुम्हारा उपकार और प्रेम मैं कदापि नहीं भूलूंगा। मैं अपनी भूल के लिए वारंवार आपसे क्षमा मांगता हूँ। मैंने अपने जन्मदाता माता-पिता को अभी तक देखे नहीं हैं। आजतक मैंने आप दोनों को ही माता-पिता के रूप में देखे हैं, इसलिए आप दोनों की आज्ञा हो तो मैं अपने जन्मदाता माता-पिता के दर्शन करूँ।"

बन्धुओं! पुत्र चाहे जितना अविनीत हो, तूफानी हो, पर माता-पिता तो उसे स्नेह की दृष्टि से देखते हैं। यहाँ प्रद्युम्न तो अत्यन्त विनीत था। उसने अपना दोष न होते हुए भी अपना दोष मानकर (पालक) माता-पिता से क्षमा मांगी। तब राजा-रानी दोनों लज्जित हो गए। राजा के मन में अत्यन्त दुःख हुआ। 'अहो! इस पुत्र से मेरी शोभा थी। मैंने रत्न सरीखे पुत्र की कद्र न की। रानी के मोह में पड़कर मैं इसे मारने पर उतारू हो गया। तब इसे अपने माता-पिता याद आए न?' रानी के मन से भी काम-वासना काफूर हो गई। उसे अपने पाप का पश्चात्ताप हुआ। 'अहो! मुझ पापिनी ने यह क्या किया? मैंने जिसे रमाया, खेलाया, पुत्र मानकर वात्सल्य बहाया, मातृप्रेम देकर छोटे से बड़ा किया। उसके सामने मैंने कुदृष्टि की और उस पर कलंक चढ़ाया। मेरा

क्या होगा ?' यों कहकर प्रद्युम्नकुमार को हाथों में लेकर उसका मस्तक चूमा, हाथ से संवारा। फिर रोती-रोती कहने लगी - "बेटा ! इस तेरी पापिनी माँ का क्या होगा ?" देखिए, पहले आया था, तब प्रद्युम्न के प्रति इसकी दृष्टि कैसी मलिन थी और अब वह पवित्र वात्सल्यमयी बन गई। प्रद्युम्नकुमार ने माता को समझाकर बहुत शान्त की। परन्तु उसे उनका महान दुःख हुआ कि मेरा तो पुत्र भी गया और विद्याएँ भी गई। चोर की माँ कोठी में मुँह डालकर रोती है, ऐसी दुःस्थिति रानी की हुई। खुद ने बहुत बड़ी भूल की है, इसलिए नीचा मुँह करके बैठ गई।

दोनों अब प्रद्युम्नकुमार के सामने देखने का साहस नहीं कर सकते तथा प्रद्युम्नकुमार को जाने की आज्ञा देने के लिए भी उनकी जीभ चलती नहीं। अब प्रद्युम्नकुमार को १६ वर्ष पूरे हो गए हैं। श्री सीमंधरस्वामी के वचन हैं कि '१६ वर्ष के बाद उसे उसका पुत्र मिलेगा।' वह समय आ पहुँचा है। इसलिए चाहे जो करें तो भी यह जानेवाला है। अब प्रद्युम्नकुमार द्वारिका जाने के लिए तैयार हुआ है। राजा-रानी की कैसी दशा होगी, क्या होगा, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

व्याख्यान - ८६

आसो सुदी १०, शनिवार | ता. २-१०-७६

धर्म-बीज बोकर प्रतिक्षण सावधान रहो

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी, अनेकान्तवाद के स्रष्टा, मिथ्यावाद के भंजक और सद्ज्ञान के उपदेशक वीतराग भगवान् भव्यजीवों को उपदेश देते हुए कहते हैं - "भव्यजीवों ! पूर्वभव के महान पुण्य से तुम्हें यह मानव-शरीररूपी खेत मिला है। उसमें तुमने ज्ञान, ध्यान, तप, त्याग, नियमरूपी बीज बो दिये हैं। किन्तु इन बीजों की उपज (फसल) का भलीभांति लाभ लेना हो तो बहुत सावधान रहना पड़ेगा।" जैसे खेत में बीज बोने के बाद किसान सजग रहता है कि पक्षी उसे खा न जाएँ। इसी तरह मानव-तनरूपी खेत में पूर्वोक्त ज्ञान-ध्यान-तप-त्यागादि के बीज बो देने के बाद इनसे होनेवाली उपज का खा जाने के लिए गाफिल बनी हुई पाँच इन्द्रियरूपी विशालकाय पक्षी ताककर बैठे हैं। इन पक्षियों की चोंच - क्रोध, मान, माया, लोभ और विकारों से भरी हुई बहुत लम्बी है। अतः अगर तुम (किसान) अगर असावधान रहोगे तो पंचेन्द्रियरूपी पक्षी अपनी बहुत लम्बी और तीक्ष्ण चोंच से तुम्हारी फसल (उपज-पाक) को खा जायेंगे और तुम हाथ मलते रह जाओगे।

मानव-शरीर को खेत की उपमा देकर महापुरुष जीव को चेतावनी देते हैं कि हे भव्यजीवों ! प्रमाद और निद्रा को त्यागकर शीघ्र जागृत बनो (रहो)। क्योंकि जन्म-जन्मान्तर के मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर कर सम्यक्त्वरूपी सूर्य की किरणों को प्रकाशित (प्रकट) करने का यह अमूल्य अवसर है। अतः अब झटपट जाग जाओ। जागृत होकर सद्गुणरूपी आत्मिक धन की सुरक्षा करो, सच्चे संत तुम्हें ऐसा सुन्दर मार्ग बतायेंगे, किन्तु इस मार्ग पर चलना तो तुम्हें ही पड़ेगा। इस समय आयुष्य का दीपक जल रहा है, उसमें ज्ञानरूपी सूर्य का विशिष्ट प्रकाश प्राप्त करके भवाटवी का लम्बा मार्ग जल्दी पार कर डालो। क्योंकि आयुष्य का दीपक बुझ जाएगा तो अन्धेरा हो जाएगा, फिर मार्ग कैसे पार कर सकोगे ? नीतिकार कहते हैं - *"निर्वाणदीपे किमु तैल दानम्, चोरेगते वा किमु सावधानम् ॥"*-भावार्थ यह है कि जबतक दीपक जल रहा है, तबतक उसमें नया तेल डाल दो। दीपक के बुझ जाने के बाद अन्धकार में तुम कहाँ तेल ढूंढने जाओगे और उसमें (दीपक में) कैसे तेल भरकर दीपक को जलाओगे। श्लोक के द्वितीय चरण में चोर का उदाहरण देकर ज्ञानीपुरुष समझाते हैं कि चोर तुम्हारा धन चुराकर चला जाय फिर तुम्हारे जागने से या सावधान रहने से क्या लाभ होगा ? इस दृष्टि से ज्ञानीपुरुष समझाते हैं कि जबतक तुम्हारा रत्नत्रय - ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी धन सुरक्षित है, तबतक तुम जागते रहो और उनसे लाभ उठा लो। अगर इन्द्रियों की सहायता से कामरूपी चोर इस धन को चुरा लेगा तो पीछे से पश्चात्ताप करना ही रहेगा। अर्थात् - बाद में पछताने के सिवाय और कुछ नहीं होगा।

बन्धुओं ! कितनी पुण्यराशि अर्जित होने पर यह मानवभव (नरजन्म) मिला है। उसका विचार तो करो ! यह मनुष्यभव अनायास ही नहीं मिल गया है। बहुत कठिनाइयों और कष्टों को समभाव से सहने के बाद मिला है। मानवभव में आने से पहले कितने-कितने दुःख सहे हैं, इसे जानते हो ? नहीं जानते। तो सुनो मेरी बात - ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "हे जीव ! तू सर्वप्रथम तो अनन्तकाल तक 'निगोद' में रहा। जहाँ एक श्वासोच्छ्वास में १७ बार जन्म और १७ बार मरण किया। फिर वहाँ का आयुष्य पूर्ण होने पर वहाँ से छूटे तो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय में सूक्ष्म और बादररूप से असंख्यात काल व्यतीत करना पड़ा। तत्पश्चात् पुण्योदय से त्रसकाय में आया। वहाँ विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) बनकर विविध प्रकार के कष्ट सहे। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों को प्राप्त करने से पहले तेरी कैसी करुणाजनक स्थिति थी ? उसका विचार कर। विकलेन्द्रिय से तू आगे बढ़ा, तो पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त कीं। पाँचों इन्द्रियाँ मिल गईं, इसलिए तू सुखी हो गया, ऐसा न मान लेना। पाँच इन्द्रियाँ तो मिलीं, किन्तु मन नहीं मिला, वहाँ तक तू असंज्ञी कहलाया। तुझमें कोई विचार, चिन्तन या मनन करने की शक्ति नहीं थी ! जैसे-तैसे करके आगे बढ़ा और मन भी मिल गया। तू संज्ञी तिर्यंच बना, परन्तु वहाँ तू निर्बल बना। इसलिए हिंसक बलवान् पशुओं

ने तुझे मार डाला। कदाचित् स्वयं क्रूर हिंसक पशु बनकर दूसरे निर्बल पशुओं को मार कर पाप-उपार्जन किया। उसका फल भोगने के लिए नरक में गया। वहाँ भयंकर कष्ट सहे। वहाँ से निकलकर पुनः पशुओं की योनि प्राप्त की। वहाँ वध, बंधन, भारवहन, भूख, प्यास, शर्दी, गर्मी वगैरह कष्ट मूक बनकर पराधीनरूप से सहन किये। उस भव में भी कौन जाने कितना समय बीत गया। इतना सब कष्ट सहने के बाद मानवभव मिला।

बन्धुओं! मानवभव मिल गया, इस कारण निहाल हो गए, ऐसा मत समझना। कई मानव असातावेदनीय कर्म के उदय से कई जीव जन्म से रोगी शरीर पाते हैं। कई मानव लूले, लंगड़े, बहरे, गूंगे और अन्ध बनकर दुःख पाते हैं। कदाचित् अंगोपांग अच्छे मिलने पर उनका आयुष्य बहुत ही कम होता है। मानव-शरीर पाकर भी कई लोग दुर्व्यसनों में फंसकर जीवन को बर्बाद कर डालते हैं। कई मंदबुद्धि होते हैं, कई अनार्य देश में जन्म लेकर अभाव-पीड़ित जीवन व्यतीत करते हैं। कई लोगों को स्वस्थ और दीर्घ आयुष्य मिलने पर भी तथा पुण्योदय से सम्यक्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने पर भी उनके लिए साधुव्रत या श्रावकव्रत (चारित्र) का पालन दुष्कर लगा। इस पर से समझा जा सकता है कि कितने ही कष्ट सहने पर आत्मकल्याण करने के लिए मानवभव पाने का अवसर मिला है। उसे विषय-वासनाओं तथा कषायों के गुलाम बनकर व्यर्थ नहीं खोयें।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

जिन्हें मानवभव की महत्ता समझ में आ गई है, ऐसे अर्हन्नक-प्रमुख पोतवणिकों ने मल्लीकुमारी के रूप की बहुत प्रशंसा की और कहा कि "रूप तो अनेकों का होता है, परन्तु इसका रूप तो अलौकिक है। उसके रूप का तेज बिजली की चमक की तरह हमारी दृष्टि के समक्ष अभी भी चमक रहा है। रूप तो बहुत-से लोगों को मिलता है, परन्तु उनमें नम्रता नहीं होती। रूप और नम्रता होते हुए भी कइयों में वैसे गुण नहीं होते। गुणरहित रूप फीका लगता है। किन्तु मल्लीकुमारी में रूप, नम्रता और गुण का त्रिवेणी संगम है। उसमें भी हमारे द्वारा राजा के अर्पण किये हुए कुण्डल उसके कान में ऐसे सुशोभित हो उठे कि न पूछिए बात!" इस प्रकार कहते हुए अर्हन्नक-प्रमुख व्यापारियों के मुख पर हर्ष समा नहीं रहा था।

चन्द्रच्छायराजा और मल्लीकुमारी का इस भव से पूर्व तीसरे भव का स्नेह है। महाबल-राजा के भव में सात मित्रों ने साथ-साथ आर्हती दीक्षा ली थी। सभी साथ-साथ तप, संयम आदि की साधना करते थे। वहाँ से कालधर्म प्राप्त कर सभी अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए थे। वहाँ से च्यवकर ये सातों ही अलग-अलग देश में जन्मे। अर्हन्नक आदि व्यापारियों के मुख मल्लीकुमारी के रूप, गुण आदि की प्रशंसा सुनकर चन्द्रच्छाय-राजा के दिल में झनझनाहट पैदा होने लगी कि 'अहो! मैं किसका नाम सुन रहा हूँ?

मानव-शरीर को खेत की उपमा देकर महापुरुष जीव को चेतावनी देते हैं कि हे भव्यजीवों ! प्रमाद और निद्रा को त्यागकर शीघ्र जागृत बनो (रहो) । क्योंकि जन्म-जन्मान्तर के मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर कर सम्यक्त्वरूपी सूर्य की किरणों को प्रकाशित (प्रकट) करने का यह अमूल्य अवसर है । अतः अब झटपट जाग जाओ । जागृत होकर सद्गुणरूपी आत्मिक धन की सुरक्षा करो, सच्चे संत तुम्हें ऐसा सुन्दर मार्ग बतायेंगे, किन्तु इस मार्ग पर चलना तो तुम्हें ही पड़ेगा । इस समय आयुष्य का दीपक जल रहा है, उसमें ज्ञानरूपी सूर्य का विशिष्ट प्रकाश प्राप्त करके भवाटवी का लम्बा मार्ग जल्दी पार कर डालो । क्योंकि आयुष्य का दीपक बुझ जाएगा तो अन्धेरा हो जाएगा, फिर मार्ग कैसे पार कर सकोगे ? नीतिकार कहते हैं - *"निर्वाणदीपे किमु तैल दानम्, चोरेगते वा किमु सावधानम् ।।"*-भावार्थ यह है कि जबतक दीपक जल रहा है, तबतक उसमें नया तेल डाल दो । दीपक के बुझ जाने के बाद अन्धकार में तुम कहाँ तेल ढूंढने जाओगे और उसमें (दीपक में) कैसे तेल भरकर दीपक को जलाओगे । श्लोक के द्वितीय चरण में चोर का उदाहरण देकर ज्ञानीपुरुष समझाते हैं कि चोर तुम्हारा धन चुराकर चला जाय फिर तुम्हारे जागने से या सावधान रहने से क्या लाभ होगा ? इस दृष्टि से ज्ञानीपुरुष समझाते हैं कि जबतक तुम्हारा रत्नत्रय - ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी धन सुरक्षित है, तबतक तुम जागते रहो और उनसे लाभ उठा लो । अगर इन्द्रियों की सहायता से कामरूपी चोर इस धन को चुरा लेगा तो पीछे से पश्चात्ताप करना ही रहेगा । अर्थात् - बाद में पछताने के सिवाय और कुछ नहीं होगा ।

बन्धुओं ! कितनी पुण्यराशि अर्जित होने पर यह मानवभव (नरजन्म) मिला है । उसका विचार तो करो ! यह मनुष्यभव अनायास ही नहीं मिल गया है । बहुत कठिनाइयों और कष्टों को समभाव से सहने के बाद मिला है । मानवभव में आने से पहले कितने-कितने दुःख सहे हैं, इसे जानते हो ? नहीं जानते । तो सुनो मेरी बात - ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "हे जीव ! तू सर्वप्रथम तो अनन्तकाल तक 'निगोद' में रहा । जहाँ एक श्वासोच्छ्वास में १७ बार जन्म और १७ बार मरण किया । फिर वहाँ का आयुष्य पूर्ण होने पर वहाँ से छूटे तो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय में सूक्ष्म और बादररूप से असंख्यात काल व्यतीत करना पड़ा । तत्पश्चात् पुण्योदय से त्रसकाय में आया । वहाँ विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) बनकर विविध प्रकार के कष्ट सहे । इस प्रकार पाँच इन्द्रियों को प्राप्त करने से पहले तेरी कैसी करुणाजनक स्थिति थी ? उसका विचार कर । विकलेन्द्रिय से तू आगे बढ़ा, तो पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त कीं । पाँचों इन्द्रियाँ मिल गईं, इसलिए तू सुखी हो गया, ऐसा न मान लेना । पाँच इन्द्रियाँ तो मिली, किन्तु मन नहीं मिला, वहाँ तक तू असंज्ञी कहलाया । तुझमें कोई विचार, चिन्तन या मनन करने की शक्ति नहीं थी ! जैसे-तैसे करके आगे बढ़ा और मन भी मिल गया । तू संज्ञी तिर्यंच बना, परन्तु वहाँ तू निर्बल बना । इसलिए हिंसक बलवान् पशुओं

ने तुझे मार डाला । कदाचित् स्वयं क्रूर हिंसक पशु बनकर दूसरे निर्बल पशुओं को मार कर पाप-उपार्जन किया । उसका फल भोगने के लिए नरक में गया । वहाँ भयंकर कष्ट सहे। वहाँ से निकलकर पुनः पशुओं की योनि प्राप्त की। वहाँ वध, बंधन, भारवहन, भूख, प्यास, शर्दी, गर्मी वगैरह कष्ट मूक बनकर पराधीनरूप से सहन किये। उस भव में भी कौन जाने कितना समय बीत गया । इतना सब कष्ट सहने के बाद मानवभव मिला ।

बन्धुओं ! मानवभव मिल गया, इस कारण निहाल हो गए, ऐसा मत समझना । कई मानव असातावेदनीय कर्म के उदय से कई जीव जन्म से रोगी शरीर पाते हैं । कई मानव लूले, लंगड़े, बहरे, गूंगे और अन्ध बनकर दुःख पाते हैं । कदाचित् अंगोपांग अच्छे मिलने पर उनका आयुष्य बहुत ही कम होता है। मानव-शरीर पाकर भी कई लोग दुर्व्यसनों में फंसकर जीवन को बर्बाद कर डालते हैं । कई मंदबुद्धि होते हैं, कई अनार्य देश में जन्म लेकर अभाव-पीड़ित जीवन व्यतीत करते हैं । कई लोगों को स्वस्थ और दीर्घ आयुष्य मिलने पर भी तथा पुण्योदय से सम्यक्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने पर भी उनके लिए साधुव्रत या श्रावकव्रत (चारित्र) का पालन दुष्कर लगा । इस पर से समझा जा सकता है कि कितने ही कष्ट सहने पर आत्मकल्याण करने के लिए मानवभव पाने का अवसर मिला है । उसे विषय-वासनाओं तथा कषायों के गुलाम बनकर व्यर्थ नहीं खोयें ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

जिन्हें मानवभव की महत्ता समझ में आ गई है, ऐसे अर्हन्नक-प्रमुख पोतवणिकों ने मल्लीकुमारी के रूप की बहुत प्रशंसा की और कहा कि "रूप तो अनेकों का होता है, परन्तु इसका रूप तो अलौकिक है । उसके रूप का तेज बिजली की चमक की तरह हमारी दृष्टि के समक्ष अभी भी चमक रहा है । रूप तो बहुत-से लोगों को मिलता है, परन्तु उनमें नम्रता नहीं होती । रूप और नम्रता होते हुए भी कइयों में वैसे गुण नहीं होते । गुणरहित रूप फीका लगता है । किन्तु मल्लीकुमारी में रूप, नम्रता और गुण का त्रिवेणी संगम है । उसमें भी हमारे द्वारा राजा के अर्पण किये हुए कुण्डल उसके कान में ऐसे सुशोभित हो उठे कि न पूछिए बात !" इस प्रकार कहते हुए अर्हन्नक-प्रमुख व्यापारियों के मुख पर हर्ष समा नहीं रहा था ।

चन्द्रच्छायराजा और मल्लीकुमारी का इस भव से पूर्व तीसरे भव का स्नेह है । महाबल-राजा के भव में सात मित्रों ने साथ-साथ आर्हती दीक्षा ली थी । सभी साथ-साथ तप, संयम आदि की साधना करते थे । वहाँ से कालधर्म प्राप्त कर सभी अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए थे । वहाँ से च्यवकर ये सातों ही अलग-अलग देश में जन्मे । अर्हन्नक आदि व्यापारियों के मुख मल्लीकुमारी के रूप, गुण आदि की प्रशंसा सुनकर चन्द्रच्छाय-राजा के दिल में झनझनाहट पैदा होने लगी कि 'अहो ! मैं किसका नाम सुन रहा हूँ ?

यह मल्लीकुमारी कौन और कैसी होगी ?' जैसे युद्ध की रणभेरी का नाद सुनकर हाथी अपना समग्र बल एकत्रित करके युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए सुसज्ज हो जाता है, इसी तरह मल्लीकुमारी का नाम सुनकर चन्द्रच्छायराजा के हृदय में उसके प्रति प्रेम उभर आया, पूर्व का स्नेह जागृत हुआ । इसलिए अपने खास दूत को बुलाकर कहा - "देवानुप्रिये ! तुम्हें धन, सैन्य आदि जिस वस्तु की जरूरत हो, उन सब वस्तुओं को लेकर मिथिला नगरी में जाओ । वहाँ जाकर कुम्भकराजा से यह मांग करो कि वह मेरे साथ मल्लीकुमारी की विवाह कर दें । यदि राजा कुम्भक यह कहें कि 'मेरी पुत्री के साथ विवाह करना हो तो अपना सारा राज्य मल्लीकुमारी को समर्पित करना पड़ेगा' तो उनसे कहना कि मल्लीकुमारी के लिए चन्द्रच्छायराजा यदि राज्य अर्पित करना पड़े तो उसके लिए भी तैयार हैं । फिर किसी भी मूल्य पर मल्लीकुमारी मुझे मिले, ऐसी पक्की बात करना ।" इस प्रकार की राजा की आज्ञा होने पर दूत हर्षित हुआ और उसने साथ में सैन्य लेकर स्वयं रथ में बैठकर वहाँ से मिथिला नगरी की ओर प्रस्थान किया । जैसे इस राजा को मल्लीकुमारी को पाने की लगन लगी है, वैसे ही मानव को मोक्ष-प्राप्ति की लगन लगे तो उसे भी कुछ संकल्प करना चाहिए कि मुक्ति-प्राप्ति के लिए जो कुछ करना और रत्नत्रय आदि का आचरण करना पड़े, कषाय, विषय और रागद्वेष पर विजय प्राप्त करने की साधना करनी पड़े, तो तैयार हूँ । मुझे शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष में जाना है, अब भवभ्रमण नहीं करना है । उसे संसार में रोकने की ताकत किसमें है ?

अब शास्त्रकार तीसरे मित्रराजा की बात करते हैं । दो मित्रों के तो मन में मल्लीकुमारी का नाम सुनते ही उसे पाने की ललक उठी । अब तीसरा मित्र मल्लीकुमारी का नाम सुनता है -

"तेणं कालेणं तेणं समएणं कुणाला नाम जणवए होत्था । तत्थ णं सावत्थी नामं नयरी होत्था ।" उस काल और उस समय में कुणाल नामक जनपद यानि देश था । यों तो देश बहुत हैं । उनमें आर्यदेश तो सिर्फ २५॥ (साढ़े पच्चीस) हैं । उन साढ़े पच्चीस आर्यदेशों में कुणाल देश आर्यदेश था । कुणालदेश में श्रावस्ती नाम की नगरी थी । *तत्थणं रुप्पी कुणालाहिवइ नाम राया होत्था ।* उस श्रावस्ती नगरी में कुणालदेश का अधिपति रुक्मी नाम के राजा था । रुक्मीराजा बहुत न्यायसम्पन्न और प्रजापालक था । उनकी कृपा से प्रजा सुखपूर्वक रहती थी । उनकी नगरी में एक भी प्रजाजन दुःखी नहीं था । मैं पहले कह चुकी हूँ कि नगर वह है जहाँ किसी प्रकार का कर न हो । यानि किसी से कर न लिया जाता हो, वह नगर है । आज तो छोटी-छोटी वस्तु पर टेक्स लिया जाता है । जनता इससे कितनी त्रास पा रही है ? उस जमाने में कतिपय नगरों में एक अलिखित नियम बना रखा था कि कोई भी व्यक्ति उस नगरी/नगर में बसने के लिए आता तो आगन्तुक व्यक्ति को प्रत्येक घर से मिट्टी की एक-एक ईंट और एक-एक स्वर्ण मोहर देना । अतः आगन्तुक व्यक्ति निर्धन या दुःखी नहीं रहता । वह सर्वप्रथम तो बिना कमाये सुखी हो जाता । ईंटों से उसका

मकान वन जाता और स्वर्ण मुद्राओं से वह सात्त्विक व्यापार-धंधा करके सुख
अपना गुजारा कर लेता था ।

बन्धुओं ! देखिए, उस समय के राजा भी प्रजा का दुःख मिटाने का कितना
रखते थे ? आज कैसी परिस्थिति आई है ? वर्तमान लोकतंत्रीय व्यवस्था में कई श
कर्ता भ्रष्ट होकर जनता का शोषण करते हैं । और तो और एक माता की कुक्षि में
हुए दो सगे भाइयों में एक भाई धनिक हो और दूसरा निर्धन हो तो सगा (सहोदर)
भाई अपने सगे निर्धन भाई का दुःख मिटाने या उसे मदद करने को तैयार नहीं
किन्तु जहाँ उसका नाम होगा, प्रसिद्धि होगी, वहाँ मुक्तमन से सहयोग देता है । ना
कितना मोह है ? मनुष्य मरणासन्न हो, फिर भी साधन की ओर उसकी दृष्टि रहत
उसका नाम लेकर बुलाओगे तो तुरंत आँखें खोलेगा । उस वक्त घर का या स्व का (
का) प्रायः कोई याद नहीं आता । परन्तु दूसरों के द्वारा दिये हुए (परदत्त) हैं, ऐसे
और नाम याद आएँगे । क्योंकि ये सब बाद में मिले हुए हैं न ? नाम भी मनुष्य
से नहीं लाया न ? वह अनामी था, इसलिए नाम रखा गया था, वह दूसरों के द्वारा
हुआ है । उधार ली हुई वस्तु पर इतना मोह क्यों ? वस्तुतः मनुष्य को बारदान की
रुचिकर लगती हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है । परन्तु माल
को प्रायः लोग नहीं पूछते कि मेरा मौलिक माल कौन-सा है ? नाम, पद, उपा
पारिवारादि शरीरादि तो (मूल) माल की रक्षा के लिए है ।

मैं तो तुमसे यह कहना चाहती हूँ कि तुम प्रेक्षक बनो । तुम्हारा अधिकार है – प्रे
बनने तक का, नट बनने का नहीं । बाह्य साधनों के प्रति प्रेक्षक जितना सुखी है,
संसार में और कोई सुखी नहीं है । प्रेक्षक नाट्यगृह में नाटक देखने आता है । वहाँ
है, देखता है और समय पूरा होने पर वहाँ से रवाना हो जाता है । उसे न तो पर्दा
करना होता है और न उसे व्यवस्थित करना होता है । उसे सामान उठाना या रखन
नहीं होता । वह तो तटस्थता से, समभाव से नाटक देखता है । इसी प्रकार जो अ
लक्षी साधक होता है, वह साधन को नहीं देखता, किन्तु साध्य को-परमात्मा को दे
है । उसे नाम से नहीं, राम (परमात्मा) से काम है । साधन चले जाएँ तो भी उसे
उद्वेग होता है और न ही खेद । नाम मिट जाने पर भी उसे दुःख नहीं होता, क्योंकि
तो जानता है कि मैं तो अनामी हूँ, अकेला हूँ । नाम किसी ने दिया (रखा) था,
मिटा डाला तो कोई बात नहीं । आत्मा को ऐसी समझ आ जाने पर वह (आत्मा)
साधन से वापस मुड़कर, स्व के सम्मुख होता है और आनन्द से संसार में जीता है ।
के हट जाने पर उसे क्लेश नहीं होता । (यहाँ से परलोक) विदा होते वक्त छोड़ने का
होता है, तब वह समझता है कि इनमें मेरा था ही क्या कि जिसे मुझे छोड़ना पड़े
मेरा है, वह तो मेरे साथ ही है । जिसकी दृष्टि आत्म-साम्राज्य की तरफ है, वह धू
विसर्जित होनेवाले शरीर की दुनिया में प्रसन्न हो सकता है क्या ? आप इतना तो वि
करें कि देह छोड़ने के बाद आत्मा अपने साथ क्या ले जाता है ? सारी जिंदगी में

हुआ या ऊवा हुआ व्यक्ति वैद्य को ढूंढता है, प्यास से आकुल-व्याकुल हुआ मानव पानी को खोजता है और भूख से पीड़ित मानव भोजन को तलाशता है, वैसे ही जन्म-जरा-मरण के दुःख से त्रस्त जिज्ञासु साधक या मानव दुःख को मिटानेवाले सद्गुरु को खोजता है। क्योंकि सद्गुरु वीतरागवाणी का मन्थन करके उसमें से तत्त्व का विश्लेषण करके चयन करते हैं और जिज्ञासु जीवों को ज्ञानामृत का पान कराते हैं। वे संसार की असारता का भान कराते हैं। उससे भव्यजीव बोध पाकर जन्म-मरण के दुःख दूर कर शाश्वत-सुख के स्वामी बनते हैं।

महान पुण्योदय से हमें जिनशासन मिला है और जिनेश्वर भगवान् की वाणी सुनने को मिली है। परन्तु जीव को अभी तक उसकी कीमत या महत्ता समझ में नहीं आई। इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि "कोई भी चीज किसी को देनी हो तो उसका मूल्य या महत्त्व समझा कर देनी चाहिए।" जबतक वस्तु की कीमत समझ में नहीं आती, तबतक उसका सदुपयोग नहीं होता। इस विषय में एक दृष्टान्त देकर समझाती हूँ -

एक करोड़पति पिता अपने तीन वर्ष के बच्चे को छोड़कर गुजर गया। अतः करोड़ रुपयों की मिल्कियत का मालिक तो उसका तीन वर्ष का बच्चा ही है न ? वह बच्चा करोड़ की मिल्कियत का मालिक होते हुए भी उसके संचालन की व्यवस्था उसे नहीं सौंपी जाती। क्योंकि बालक को उसकी कीमत की समझ नहीं है। इसलिए कोई उस बालक से कहे कि 'मैं तुझे बर्फी का पेकेट देता हूँ तू मुझे इतने आभूषण दे दे' तो वह देने को तैयार हो जाता है, क्योंकि उस बच्चे को मिल्कियत की कीमत समझ में नहीं आई, इसलिए वह बालक अपने पिता की मिल्कियत की मालिक जरूर है, किन्तु जबतक वह मिल्कियत की कीमत समझता नहीं, तबतक मालिक होने पर भी उसके प्रबन्ध या व्यवस्था का दायित्व उसे नहीं सौंपा जाता। अतः किसी को कोई भी चीज सौंपने से पहले उसके सदुपयोग-दुरुपयोग को समझने अथवा उसका लाभ (फायदा) और हानि (नुकसान) समझने की ताकत उसमें आई है या नहीं, इस सम्बन्ध में अवश्य विचार करना चाहिए। जबतक लड़का बड़ा न हो, तबतक उसके मिल्कियत के प्रबन्ध, व्यवस्था या संचालन का दायित्व उसके ट्रस्टीगण संभालते हैं, बड़ा होने पर उसमें हानि-लाभ, या सदुपयोग-दुरुपयोग को समझने की योग्यता होने पर सारे संचालन या प्रबन्ध का भार उसे सौंपा जाता है।

दूसरा एक दृष्टान्त देती हूँ - तुम्हारा एक इकलौता लड़का है। तुम्हारे पास करोड़ों की मिल्कियत है। तुम अपने पुत्र को अपनी मिल्कियत का हकदार मानते हो या नहीं ? तुम्हारा पुत्र भविष्य में तुम्हारी मिल्कियत का हकदार तो है न ? अरे ! बोलो तो सही "हाँ हकदार है।" तुम्हारा पुत्र तुम्हारी मिल्कियत [illegible] है, फिर भी क्या उसे पाँच रुपये के दस्तावेज पर [illegible] हक [illegible] ? नहीं। यह पुत्र बीमार हो जाए तो उसे निरोग करने के [illegible] तुम उसके लिए हजारों रुपयों का खर्च कर डालते हो, [illegible] पर हस्ताक्षर करने

का हक नहीं देते । इसका क्या कारण है ? इसका एक ही कारण है कि बालक में अभी तक समझ नहीं है, वहाँ तक उसे कोई भी ठगकर या झांसा देकर दस्तावेज पर सही करा लेगा तो कर देगा । किन्तु समझदार होने के बाद सही करने से पहले जांच-पड़ताल करेगा कि यह किस बात का दस्तावेज है । समझ (समझदारी) के बिना चाहे जहाँ, बिना विचारे सही कर सकता है, इससे बहुत बड़ा अहित होने का खतरा है । इसलिए मिल्कियत का हकदार होते हुए भी उसकी प्रबन्ध व्यवस्था करने की सत्ता समझ के बिना नहीं मिलती । इसी प्रकार वीतराग-प्रभु द्वारा प्ररूपित आगमों की अमूल्य पेटी मिली है, परन्तु उसकी कीमत जीव को समझ में नहीं आती, वहाँ तक उसका मालिक (अधिकृत अधिकारी) नहीं बन सकता । वीतराग-संत उसके ट्रस्टी बनकर उसकी प्रबन्ध-व्यवस्था (शासन-संचालन-व्यवस्था) वैसे भी संभालते हैं, और जिस आत्माको उसको (जिनोपदिष्ट शास्त्रों तथा शासन-व्यवस्था को) संभालने की शक्ति है, योग्यता या क्षमता दिखाई देती है, उसे वे अधिकार दे देते हैं । योग्यतावाला जीव उन (आगमों) का वाचन-मनन-करके तदनुसार आचरण कर जन्म-मरण की शृंखला को तोड़कर मोक्ष में चला जाता है । वीतरागवाणी में ऐसी शक्ति है ।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार चल रहा है । मल्लीकुमारी का रूप सौन्दर्य अलौकिक है । जिसका नाम सुनकर दो-दो राजा उसके साथ विवाह करने को तैयार हुए । उसकी मांग करने के लिए सबने अपने-अपने दूत भेजे । कुणालदेश में रुक्मि नाम का राजा राज्य करता था । *तस्स णं रुप्पिस्स धुया धारिणीए देवीए अत्तया सुबाहु नामं दारिया होत्था ।* उस रुक्मिराजा की पुत्री और धारिणीदेवी (रानी) की आत्मजा सुबाहुकुमारी नाम की दारिका (कुंवरी) थी । उस सुबाहुकुमारी के हाथ-पैर बहुत ही सुकोमल थे । वह रूप, आकृति, यौवन और लावण्य में उत्कृष्ट और उत्कृष्ट शरीरवाली थी । फिर वह सुन्दर अंगोंवाली तथा स्त्री सम्बन्धी समस्त गुणों से युक्त थी । अर्थात् - एक गुणवान नारी में जितने गुण होने चाहिए, वे सब सुबाहुकुमारी में थे ।

''तीसे णं सुबाहुए दारियाए अन्नया चाउम्मासिय-मग्गणए जाए यावि होत्था ।''

एक दिन सुबाहुकुमारी का चातुर्मासिक स्नान-महोत्सव का दिवस आया । यह सुबाहुकुमारी पढ़-लिखकर जवान हुई । तब चातुर्मास के दिवसों में एक पवित्र दिन को स्नान-महोत्सव मनाने का मन हुआ । प्रायः राजा की रानियों और उनकी कुंवारियों (महल से) बाहर नहीं निकलतीं । उन्हें तो पर्दे में ही रहना होता है, इसलिए चातुर्मासिक स्नान करने (जलक्रीड़ा) करने के बहाने बाहर निकलने का मन होता है ।

कौशलदेश की रानी करुणादेवी को एक बार नदी में स्नान और जलक्रीड़ा क[रने] जाने का मन हुआ, इसलिए उसने राजा के समक्ष अपना विचार प्रकट किया । राजा

रानी को इसके लिए आज्ञा दी । जलक्रीड़ा करने जाने का दिवस निश्चित हुआ । अतः महारानी साहिबा नदी में स्नान करने जानेवाली थी, उसके एक दिन पहले कौशलनरेश ने सारे नगर में घोसना कराई कि 'कल ११ बजे से ३ बजे तक कोई भी व्यक्ति नदी-किनारे घूमने न जाए तथा नदी-किनारे रहते झोंपड़ावासी भी ११ से ३ बजे तक अपने झोंपड़े बंद करके बाहर चले जाएँ ।' राजा की ओर से ऐसी जाहिरात होने से नदी-किनारे रहनेवाले झोंपड़ावासी लोग ११ बजे से पहले ही झोंपड़ा बंद करके चले गए तथा नदी-किनारे घूमने आनेवाले भी आने से रूक गए । अतः करुणारानी अपनी दासियों के साथ स्नान करने के लिए नदी-किनारे आई । नदी में स्नान करके जब वह बाहर निकलीं तो उन्हें ठंड लगी । ठंड मिटाने के लिए गरीबों के झोंपड़े में आग लगवाई । रानीपने की सत्ता से गरीबों के झोंपड़े जलवा डाले । उन्हें कहाँ भान था कि गरीबों की क्या दशा होगी ? रानी-साहिबा तो अपने बंगले चली गई । तीन बजे जब झोंपड़ेवाले गरीब आए और अपने झोंपड़े जले हुए देखकर सभी लोग कल्पांत करने लगे । 'अरेरे ! अब हम कहाँ जाएँ ? भगवन् ! दया करो हम पर !' बन्धुओ ! सत्ताधीशों को सत्ता के नशे में और धनाधीशों को धन के नशे में पता नहीं लगता कि गरीबों की क्या दशा होगी ? गरीब के लिए तो उसकी झोंपड़ी ही महल है । उन गरीबों के सामान-सहित झोंपड़े जल गए, इससे उन्हें कितना दुःख हुआ होगा ? झोंपड़ावासी लोगों ने रोते हुए लोगों से पूछा कि "हमारे झोंपड़े किसने जलाए ।" उस समय एक चतुर मनुष्य वहाँ आकर बोला - "भाई ! राजा की रानी को ठंडी लगी । उन्होंने अपनी ठंड मिटाने के लिए तुम्हारे झोंपड़े जला दिये हैं । यों रोने से क्या होगा ? अपने राजाजी न्यायप्रिय हैं, उनके पास जाकर पुकार करो तो कुछ उपाय हो सकता है ।"

सभी झोंपड़ावासी एकत्रित होकर करुणस्वर से रुदन करते हुए राजमहल के पास आए । उनका रुदन सुनकर राजा ने पूछा - "मेरी नगरी में कौन दुःखी है । इतने जोर से कौन रो रहा है ?" तभी एक बड़ा जनसमूह राजा के पास आया । अतः राजा ने पूछा - "मेरे प्रजाजनों ! मेरे राज्य में तुम पर क्या दुःख आ पड़ा, जो इतने रो रहे हो ?" तब गरीबों ने कहा - "बापू ! हमारे झोंपड़े जल गए और हम घरबार से रहित निराधार हो गए ।" राजा ने पूछा - "तुम्हारे झोंपड़े कैसे जल गए ?" तब गरीबों ने कहा - "आपकी रानी-साहिबा नदी पर स्नान करने गई थीं । उनको ठंड लगी । ठंड उड़ाने के लिए उन्होंने हमारी झोंपड़ियाँ जलाकर तापणी की । हम सब बेघर, बेहाल हो गए । अब हम कहाँ जाकर रहें ?" कौशलनरेश न्यायी, दयालु और प्रामाणिक थे । उनके राज्य में गरीब और धनिक सबको समान न्याय मिलता था । गरीबों की सारी करुण कहानी सुनकर राजा का हृदय द्रवित हो गया । उन्होंने तुरंत करुणादेवी को बुलाया और कहा - "तुम्हारा नाम करुणादेवी गलत है । तुमने गरीबों के झोंपड़े जलाकर अन्याय किया है । अतः सारे गहने और कीमती वस्त्र उतारकर महल से बाहर चली जाओ और मेहनत-मजदूरी करके

गरीबों के झोंपड़े बनवाओ, तब महल में आना।" राजा के द्वारा दिया गया कठोर न्याय सुनकर प्रजाजन रो पड़े। झोंपड़वासियों और प्रजाजनों ने मिलकर राजा से प्रार्थना की - "राजन् ! रानी-साहिबा को ऐसा कठोर दण्ड न दें। आप ऐसा न करें। आपने हमारा न्याय किया, उससे हमारे झोंपड़े बन गए, समझ लें।" राजा ने कहा - "न्याय न्याय ही है। इसमें कोई रियायत नहीं हो सकती।" प्रजाजनों ने कहा - "आप रानी-साहिबा को माफ कर दीजिए।" बार-बार आग्रह करने पर भी राजा नहीं माने तो नगरजन और झोंपड़ावासी-जन राजा के महल के सामने सत्याग्रह करके बैठ गए। उन्होंने राजाजी से कहा - "जबतक आप रानी-साहिबा को माफ नहीं कर देंगे, तबतक हम यहाँ से उठेंगे नहीं।" आखिरकार राजा ने करुणादेवी को बुलाकर कहा - "पुनः ऐसी भूल नहीं करूँ" ऐसा स्वीकार करने, माफी मांगने पर राजा ने उन्हें माफ कर दिया। रानीजी को भी गरीबों का ख्याल आया। उनका गर्व चूर-चूर हो गया। राजा ने गरीबों के झोंपड़ों के बदले अच्छे पक्के मकान बनवा दिये। संक्षेप में कौशलनरेश जैसी नीति अपनाए तो सर्वत्र रामराज्य हो जाए। अपनी रानी को भी सजा दी। यह देखकर नगरजनों ने कान पकड़ लिए कि अपने महाराजा दूध का दूध, पानी का पानी, इस प्रकार का न्याय देखकर लोग दांतों तले अंगुली दबाने लगे।

कुणालदेश का रुक्मिराजा भी न्याय-नीतिमान था। अपनी पुत्री सुबाहुकुमारी का चातुर्मासिक स्नान-महोत्सव मनाने का उनका मन हुआ। चातुर्मासिक स्नान का अर्थ है - चातुर्मास के पवित्र दिवसों में एक अच्छे दिन धूमधामपूर्वक स्नान कराना। ऐसा विचार होने पर रुक्मिराजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाए, बुलाकर उन्हें आदेश दिया - "देवानुप्रियों ! कल सुबह सुबाहुकुमारी का चातुर्मासिक स्नान होगा, तो तुम एक काम करो। कल सुबह राजमार्ग के निकटवर्ती मुख्य मण्डप में जल तथा स्थल के पाँच वर्ण के पुष्प लाओ तथा एक बड़ा श्रीदामकाण्ड यानी मोटी फूलों की माला भी लाओ। वह श्रीदामकाण्ड गुलाब, मोगरा वगैरह पुष्पों से गूंथा हुआ तथा नासिका तृप्त हो जाय, वैसी मघमघती सुगन्धवाला होना चाहिए। उसे मण्डप के ठीक बीच में ऊपर तानने में आये हुए चंदोबे में लटकाना।" इस प्रकार राजा की आज्ञा सुनकर राजपुरुषों (कौटुम्बिक पुरुषों) ने उनकी आज्ञानुसार काम पूरा किया और श्रीदामकाण्ड चंदोबे के ठीक बीच में लटकाया।

तदनन्तर पुनः कुणालदेश के अधिपति रुक्मिराजा ने स्वर्णकारों को बुलाकर कहा *- खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! रायमग्ग मोगाढंसि पुप्फमंडवंसि णाणाविह पंचवण्णे हिं तंदुले हिं णगरं आलिहह । तस्स बहु मज्झ-देसभाए पट्टयं रएह । रइत्ता जाव पच्चप्पिणंति ।* हे देवानुप्रियों ! तुम शीघ्र ही राजामार्ग के पास बनाए हुए पुष्प-मण्डप में अनेक रंग के चावलों से नगर का आलेखन-चित्रण करो। यानि नगर-चित्र बनाओ और उसके ठीक मध्यभाग में एक पट्टक

के साथ रहा हुआ हूँ, वहीं बड़ा हुआ हूँ, इसलिए मैंने तो वहाँ ऐसा कुछ नहीं देखा ! अतः आप कृपा करके मुझे कहें ।" नारदजी ने कहा – "जिसके लिए उतावल करके तुम्हें यहाँ लाया गया है, वह यह सेना है । इस सेना के स्वामी महाबलवान् दुर्योधन राजा है ।

नारदजी ने प्रद्युम्नकुमार को भूतकाल की कुछ बातें कहीं : गजपुर के दुर्योधन राजा के अत्यन्त सुन्दर उदधिकुमारी नाम की पुत्री है । उसका सौन्दर्य देखकर देवांगनाएँ भी लज्जित हो जाती हैं । जिसने अपने रूप से रम्भा को, मुख से पूर्णिमा के चाँद को, तथैव लावण्य से समुद्र को जीत लिया है, ऐसी यह दुर्योधन पुत्री है । अब इस बारे में रहस्य क्या है ? यह तुझे बताता हूँ, ध्यान से सुन ।

जब दुर्योधन की पत्नी गर्भवती थी और तेरी माता भी तब गर्भवती थी । जब तुम्हारा जन्म भी नहीं हुआ था, तब दुर्योधन ने तुम्हारे पिता कृष्णजी को वचन दिया था कि तुम्हारे यहाँ पुत्र जन्म होगा और मेरे यहाँ पुत्री जन्मेगी, तो मैं अपनी पुत्री का तुम्हारे पुत्र के साथ विवाह कर दूंगा । इसलिए वह (दुर्योधन) अपनी पुत्री तुम्हें दे चुके हैं । वचनबद्ध हो चुके हैं । किन्तु भवितव्यतावश तुम्हारे जन्म के छठे दिन ही देव तुम्हारा अपहरण करके तुम्हें ले गया । उसके बाद तुम्हारी अपर माता सत्यभामा ने भी पुत्र को जन्म दिया । उसका नाम भानुकुमार रखा गया है । तुम्हारा अपहरण होने के बाद तुम्हारी बहुत शोधखोज की गई, मगर कहीं भी तुम्हारा पता नहीं लगा । जब तुम कहीं नहीं मिले, तब तुम्हारी माता रुक्मिणी बहुत दुःखी हो गई और सत्यभामा हर्षित होने लगी ।

तू सोलह वर्ष बाद अपनी माता-पिता को मिलेगा, दुर्योधन को इस बात का कोई पता नहीं है । इसलिए सत्यभामा के पुत्र भानुकुमार के साथ उदधिकुमारी का विवाह करने के लिए, उदधिकुमारी को लेकर दुर्योधन आदि कौरव बड़ी भारी सेना के साथ जा रहे हैं । मैं तुझे इसीलिए उतावल करने का कहता हूँ कि अगर तू जल्दी समय पर नहीं पहुँचेगा और इस उदधिकुमारी का सत्यभामा के पुत्र भानुकुमार के साथ विवाह हो जाएगा तो सत्यभामा ने रुक्मिणी के साथ जो होड (शर्त) रखी थी कि अगर तुम्हारा पुत्र पहले विवाहित हो जाएगा तो मैं सिर मुंडाऊँगी और मेरा पुत्र पहले विवाहित हो जाएगा तो तू (रुक्मिणी) सिर मुंडाएगी ।" अतः यदि तू जल्दी नहीं पहुँचेगा तो इस उदधिकुमारी के साथ भानुकुमार का विवाह हो जाएगा, फिर शर्त के अनुसार तेरी माता (रुक्मिणी) को मस्तक मुंडाना पड़ेगा ।" इस पर प्रद्युम्नकुमार ने हंसकर कहा – "ऋषीश्वर ! इस भानुड़ा में क्या पानी (सामर्थ्य) है ? मैं उदधिकुमारी के साथ विवाह करूँगा और सत्यभामा का मस्तक मुंडाऊँगा, मेरी माता का मस्तक मुंडाने नहीं दूंगा । आप मुझे जाने की आज्ञा दें तो मैं उस उदाधिकुमारी को लेकर आऊँ । उसे आगे जाने ही नहीं दूंगा तो भानुड़ा कहाँ से शादी करेगा ? पानी आने से पहले ही पाल बांध दूं तो मेरी माता को मस्तक मुंडाने का प्रसंग ही नहीं आने पाएगा ।" नारदजी ने कहा – "छोकरा ! तू तो बड़ा चालाक है । किन्तु मैं तुझे

ाने नहीं दूंगा । द्वारिका पहुँचकर तेरे माता-पिता को मैं तुझे सौंप दूँ, फिर तुझे जैसे करना हो, वैसे करना ।'' तब प्रद्युम्नकुमार ने कहा – ''आप जैसे ऋषीश्वर के आशीर्वाद से मुझे कहीं भी अड़चन (आपत्ति या बाधा) नहीं आएगी । मैं जल्दी कन्या को लेकर आ जाऊँगा । आप विमान में बैठे रहना । आप मुझे जाने की आज्ञा दीजिए ।'' अन्त में नारदजी ने आज्ञा दे दी ।

उदधिकुमारी को पाने हेतु प्रद्युम्नकुमार ने बनाया भील का रूप : नारदजी की सम्मति मिलते ही प्रद्युम्नकुमार ने विमान में से उतरकर विद्या के बल से भील का रूप धारण किया और जहाँ दुर्योधन की सेना भोजन करने बैठी थी, वहाँ आया । उसका शरीर ताड़ की तरह ऊँचा था । हाथी की सूंड जैसे लम्बे और जाड़े उसके हाथ थे । वृक्ष की डाली जैसी उसकी जांघें थी, दांत गर्ध जैसे थे, नाक चपटा था । भयावनी लाल लाल उसकी आँखें थीं । गाल बैठ गए थे और शरीर काजल से भी काला था । पीले रंग की मोटी जटा जैसे मस्तक पर बाल बनाए थे । उस पर फेंटा बांधा और नीम की डाली की कलगी बनाई । कंधे पर तीर-कमान डाले ऐसा मालूम होता था, मानो भीलों का राजा हो । भीलराजा जैसा अभियान करता हुआ दुर्योधन की सेना के पास आकर मार्ग में खड़ा रहा । उसका भयावना रूप देखकर कितने ही सैनिक 'भूत आया' यों कहकर भागने लगे । कौरवों की सेना में भारी कोलाहल मच गया । दुर्योधन ने पूछा – ''इतना अधिक शोर क्यों हो रहा है ?'' तब सैनिकों ने कहा – ''कोई भूत-सा मनुष्य आकर मार्ग रोककर खड़ा है । वह किसी को आगे नहीं जाने देता ।'' इसलिए सेना को आगेकूच करने से रोक कर कौरव लोग आगे आए और उक्त भीलरूपधारी से पूछा –

क्यों रोका, बोले मारग वह बोला, सुनो बात सब भाई ।
दाण लगे मम बिना चुकाए, जाने दूंगा नांही हो ।। श्रोता...

दुर्योधन आदि कौरवों ने आगे आकर कहा – ''क्यों भाई ! तू हमारी सेना को क्यों हैरान कर रहा है ? हमारा मार्ग रोककर तू किसलिए खड़ा रहा है ?'' तब भील ने कड़ी आँख करके कहा – ''मैं तो अपने स्थान पर बैठा हूँ । उसमें तुम्हारे बाप का क्या जाता है ?'' तब कौरवों ने कहा – ''तू हमें आगे जाने दे न ?'' तब भील ने कहा – ''तुम्हें आगे जाना हो तो मैं मांगू वह कर देकर आगे बढ़ो । कर चुका बिना आगे नहीं जाने दूंगा ।'' कौरव बोले – ''अरे भीलड़ा । जरा, विचार करके बो । हम कोई जैसे-तैसे आदमी नहीं हैं, क्षत्रिय के बच्चे हैं । क्षत्रिय के बच्चे ऐसे न करते । हम ढीली दाल खानेवाले बनिये नहीं हैं कि तेरे से डर जाँय । तुझे मुँह मां टेक्स बनिया दे सकता है, वह डर जाता है कि हाय-हाय ! यह मुझे मार डालेग ऐसे डर के मारे वह (बनिया) पास में हो, उतनी रकम दे देता है । तू हमें कच्चे- मत समझ लेना ।'' इस प्रकार भील को कौरव कह रहे हैं । अब आगे क्या हो उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - ८८

आसो सुदी १२, सोमवार — ता. ४-१०-७६

सोये सो खोए, : जागे सो पाए

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

आत्मतत्त्व के वेत्ता, कर्मग्रन्थी के छत्ता और मोक्षमार्ग के नेता, आगमकार सर्वज्ञ भगवन्त भव्यजीवों के हित के लिए उपदेश देते हुए कहते हैं - "हे भव्यजीवों ! तुम जागृत बनो (रहो) । चिन्तामणि रत्नतुल्य यह मानव-जीवन मिला है, अतः उसका सदुपयोग कर लो । तुम प्रमाद में पड़कर इस अमूल्य लाभ को क्यों व्यर्थ छोड़ रहे (खो रहे) हो ? दुर्भाग्यवश बनकर अमूल्य चिन्तामणि रत्न को क्यों मिट्टी में मिला रहे हो ? जैसे चिन्तामणिरत्न के प्रभाव से मनुष्य अलभ्य से अलभ्य वस्तु को प्राप्त कर सकता है, वैसे ही मनुष्यभव द्वारा जीव महान पुरुपार्थ करके, महान पुरुषों ने जिसकी प्राप्ति की है, ऐसे मोक्षरत्न की प्राप्ति कर सकता है । इसीलिए महान पुरुष हमें प्रमाद का त्याग करके जागृत रहने की चेतावनी देते हैं । जो जागता है, वह आत्मा का जवाहर प्राप्त करता है, जो सोता है, वह खोता है । 'निशीथ भाष्य' में कहा गया है -

जागरह णरा ! णिच्चं, जागर माणस्स वड्ढते वुद्धी ।
जो सुवंति,न सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो ।।
सुवंति सुवंतस्स सुयं, संकियं खलियं भवे पमत्तस्स ।
जागरमाणस्स सुयं थिर - परिचित्तमप्पमंतस्स ।।

हे मनुष्यो ! सदा जागृत रहो । जागृत रहनेवाले की बुद्धि सदा वढ़ती रहती है । जो सोया रहता है, वह सुखी नहीं होता, जागृत रहनेवाला सदा सुखी रहता है । जो सोया रहता है, उसका श्रुतज्ञान (शास्त्रज्ञान) सुप्त (सोया हुआ) रहता है । अर्थात् प्रमाद करनेवाले का श्रुतज्ञान शंकास्पद (शंकित) और स्खलित हो जाता है, और जो अप्रमत्तभाव से जागृत रहता है, उसका श्रुतज्ञान सदा स्थिर रहता है, परिचित रहता है । उसकी प्रज्ञाबुद्धि सदा जागृत रहती है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

इसलिए ज्ञानीपुरुषों की आज्ञानुसार प्रत्येक मुमुक्षु जीवों को भावनिद्रा से जागृत और प्रबुद्ध रहना चाहिए । जागृत रहकर सद्गुरुओं के पास से वोध पाकर अपने सम्पर्क में आनेवाले जीवों को भी (आत्म-) धर्म समझाकर सत्यपथ पर मोड़ने का प्रयत्न करना

चाहिए । जिन्होंने शास्त्रवचनों पर श्रद्धा की, उनका पालन किया, उन जीवों का उद्धार हुआ है । जो भविष्य में पालन करेंगे, उनका भी उद्धार होगा । जिन्होंने पूर्वभव में जिन-वचनों पर श्रद्धा की, तदनुसार साधना-आराधना की, अतः तीर्थंकर-नामकर्म का अपार्जन किया, ऐसे तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार चल रहा है । एक ही मल्लीकुमारी के साथ विवाह करने की कितने राजा मांग कर रहे हैं ? उनमें से दो राजाओं की बात तो आ चुकी है । अब तीसरे कुणाल राजा की बात चल रही है । उसमें वर्णन यह है कि रुक्मिराजा की सुबाहुकुमारी नामक पुत्री जवान हो गई है । उसके चातुर्मासिक स्नान का उत्सव मनाया जा रहा है । कुंवरी कितनी पुण्यशालिनी है कि उसके मुख से निकले वचन को तत्काल झेला जाता है । इस जगत् में प्रत्येक मनुष्य के पुण्य में अन्तर होता है । एक माता के उदर से जन्मे दो सहोदर भाइयों की पुण्यवानी में अन्तर होता है, यह तो आप प्रत्यक्ष देखते हैं न ? दो सगे भाइयों में एक होशियार और बाहोश होता है, वह अपनी बाहोशी और पुण्यवानी के योग से करोड़ों रुपये कमा लेता है । उसे लोग खम्मा-खम्मा कहते हैं । पानी मांगने पर दूध हाजिर हो जाता है; जबकि दूसरे भाई को पीने के लिए कोई पानी नहीं देता । यह सब कर्म की करामात है । कर्म की समस्या बहुत ही उलझनभरी है । किन्हीं दो व्यापारियों में समस्या खड़ी हो जाती है । किसी के कुटुम्ब में समस्या खड़ी हो जाती है, अथवा भाई-भाई में बंटवारे या साझेदारी में भी समस्या खड़ी हो जाती है । जब भी कोई समस्या खड़ी हो जाती है, तब प्रायः लोग यों कहने लगते हैं कि इस समस्या का हल होना कठिन है । फिर भी मान लो कि ये सब संसार की समस्याएँ तो मेहनत से भी हल हो सकेंगी, परन्तु कर्म की समस्या को हल करना बहुत ही कठिन है ।

सुबाहुकुमारी बहुत पुण्यशालिनी थी । यही कारण है कि उसके स्नान-महोत्सव में उसके पिता रुक्मिराजा ने विविध पुष्पों का विशाल मण्डप बंधवाया । उसके बीच में सुगन्ध से मघमघाता एक श्रीदामकाण्ड लटकाया । तथैव विविध प्रकार की रचना करवा कर ठाठबाठ से वाद्यों और गीतों के साथ सुबाहुकुमारी को शोभायात्रा में सबसे आगे करके रुक्मिराजा हाथी पर बैठकर उक्त मण्डप में आए । जिस समय जिसकी महत्ता होती है, उसे आप आगे करते (रखते) हैं न ? विवाह में वरराजा की विशेषता होती है, वैसे यहाँ भी सुबाहुकुमारी का स्नान-महोत्सव मनाया जा रहा है, इस कारण उसे शोभा-यात्रा में सबसे आगे की गई है । पुत्री के चातुर्मासिक स्नान-महोत्सव में रुक्मि- राजा ने लाखों रुपयों का धुंआ उड़ाया । यह स्नान-महोत्सव है । दुनिया में अनेक प्रकार के महोत्सव मनाये जाते हैं । कई दफा पुत्र के जन्मदिवस की खुशी में पराये ५०० मनुष्य भोजन कर जाते हैं, और घर की माता भूखी रहती है । घर की माता का भाव नहीं पूछते और पराये व्यक्तियों को भोजन कराते हैं । (इस विषय में पू. महासतीजी ने एक बनी हुई सच्ची घटना सुनाई थी, जिसे सुनकर उपस्थित श्रोताओं में से एक भी श्रोता ऐसा नहीं था, जिसकी आँखों से अश्रु न छलक पड़े हों । उसका सारांश इस प्रकार है-)

देहरूपी कोड़ी की तो बहुत सार-संभाल की, किन्तु रत्न-तुल्य आत्मा को भूल गये । यह निश्चित है कि देह का रंग-ढंग तो देखते-देखते पलट जाएगा । ऐसे क्षणभंगुर नाशवान देह के लिए आत्मा (देही) को मत भूलो । मकान की सुरक्षा से भी बढ़कर उसके मालिक की सुरक्षा जरूरी है । अतः मकान की सेवा करते समय उसके मालिक को विस्मृत मत करो । देह की रखवाली करते समय देही की उपेक्षा मत करो । आत्मा की पहचान मनुष्यभव के सिवाय अन्यत्र कहीं प्रेक्टिकल रूप में नहीं होती । अतः इस अवसर को चूक गए तो फिर पछतावा होगा । अतः आप लोग शरीर की, जड़ पदार्थों की और इन्द्रिय-मन के विषयों के प्रति ममता और आसक्ति को छोड़ने का अभ्यास करो । पौद्गलिक पदार्थों के प्रति तथा राग, द्वेष, मोह और क्रोधादि कषाय-नोकषाय, ये सब कर्म-बन्ध के कारण हैं । कषायादि से मुक्ति और विषयों से विरक्ति सर्व कर्म-मुक्तिरूप मोक्ष के कारण हैं । चक्रवर्तियों ने छह खण्ड का राज्य तृणवत् समझकर छोड़ा और समता का सिंहासन प्राप्त कर लिया । ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय के पथ पर चलने का आनन्द ऐसा है कि ऐसे साधक आत्मा में शाश्वत आनन्द की लहरें आती हैं, मस्ती आती है । उस परम-आनन्द की मस्ती के आगे, संसार के सभी भौतिक या पौद्गलिक सुख फीके और तुच्छ प्रतीत होते हैं । मानव-जीवन में सहज त्याग, तप, संयम की अनुभूति होने लगती है । फिर चाहे जैसी सुन्दर और मनोहर वस्तु उसके सामने आए या देने लगे या मिलनेवाली हो, उसके मन में चलकर प्राप्त करने की इच्छा, ललक या आकांक्षा या लालसा नहीं होती । सच्चे त्यागी जिन वस्तुओं को चलकर छोड़ते हैं, उनसे कोई पूछे कि आपने बहुत कुछ छोड़ दिया । घरबार, कुटुम्ब-कबीला, धन-माल आदि छोड़ दिया तो सच्चे त्यागी यही कहते हैं कि हमने तुच्छ को छोड़ा और परम को प्राप्त किया है । वास्तव में सच्चा त्याग का निरतिचार चारित्र ही अक्षय, अव्याबाध और परम सुख का कारण है ।

बन्धुओं ! सम्यग्ज्ञान-दर्शन-युक्त चारित्र से आत्मा में विवेक, भेदविज्ञान या आंशिक मुक्ति का भान होता है । फिर वह यही समझता है कि मैं तो आत्मा हूँ । सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा हूँ । मैं देह [illegible] करता हूँ । देह [illegible] आता है, तो वह यही समझता है, यह दुःख देनेवाला [illegible] है । मेरे [illegible] द्वारा किये हुए कर्म ही दुःख देनेवाले हैं । अतः [illegible] :ख आने के [illegible] के आगमनों) को बंद करना [illegible] संवर [illegible] ओर पहले बांधे हुए कर्मों का क्षय, [illegible] है । जैसे [illegible] गड़ गया, वह चुभता है, वह कांटा [illegible] है, चैन नहीं पड़ता, उसी [illegible] या [illegible] नहीं ही आती, वेदना होती [illegible] में पूर्ण बनने के लिए जो [illegible] वह भाररूप नहीं प्रतीत [illegible] वह धायमाता [illegible]

अज्ञानी या त्यागरहित आत्मा के शरीर, पर-पदार्थों में ममता, मूर्च्छा आसक्ति है। ये तीनों जहाँ होते हैं, वहाँ भय होता है। चिन्ता, उद्विग्नता आदि होती है। यानि वह शरीर के प्रति मोहवश सोचता है, इस विपत्ति, दुःख, दर्द के समय वह घबरा जाता है, अब मेरा क्या होगा ? हाय मैं मर जाऊँगा, पीछे मेरे इन मकान, धन-सम्पत्ति आदि का क्या होगा ? मेरा सर्वस्व लूटा जाएगा। यों कल्पना या व्यर्थ के तर्क-वितर्कों से वह भय उत्पन्न करता है। परन्तु आत्मदशा का ज्ञान-भान होने के बाद कोई भय, चिन्ता या उद्विग्नता, व्याकुलता नहीं होती। आत्मस्वरूप का ज्ञान, भान करानेवाली वीतराग सर्वज्ञ भगवन्तों की वाणी।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार चल रहा है। रुक्मिराजा ने मल्लीकुमारी के रूप, लावण्य, यौवन, धर्मभावना आदि की प्रशंसा सुनकर दूत को आदेश दिया - "मिथिला-राजधानी में जाओ ! वहाँ कुम्भकराजा से निवेदन करो ! कुणालाधिपति रुक्मीराजा आपकी गुणवती कन्या मल्लीकुमारी को चाहते हैं।" अपने स्वामी की आज्ञा लेकर वर्षधर दूत ने मिथिला नगरी की ओर प्रस्थान किया। यों पूर्वोक्त तीन राजाओं के दूत मिथिला नगरी जाने के लिए रवाना हो चुके हैं। अब चौथे काशीनरेश शंखराजा की बात शास्त्रकार बताते हैं -

तेणं कालेणं तेणं समएणं कासी नाम जणवए होत्था, तत्थणं वाणारसी नामं णयरी होत्था। तत्थ णं संखनामं कासीराया होत्था।

उस काल और उस समय में काशी नाम का जनपद (देश) था। अर्थात् मल्लिनाथ भगवान् के समय में काशी नाम का देश था। उसमें वाराणसी नाम की नगरी थी। वहाँ उस काशीदेश के अधिपति शंख नामक राजा रहते थे। काशी पवित्र देश माना जाता है। अनेक मनुष्य विद्याभ्यास करने के लिए काशी जाते हैं। इस काशी देश के अधिपति शंखराजा थे। वे बहुत पवित्र और प्रामाणिक थे। साथ ही वह प्रजाप्रिय भी थे। अर्थात् वे सदैव यह विचार किया करते थे कि मेरी प्रजा का हित कैसे हो ? मेरी प्रजा कैसे सुखी बने ? इस प्रकार वह न्याय-नीतिपूर्वक राज्य चलाते थे, इसलिए प्रजा को राजा की तरफ से खूब सन्तोष था। अतएव राजा और प्रजा दोनों परस्पर सन्तुष्ट और सुखी थे। शंखराजा के राज्य में गरीब-अमीर आदि का भेदभाव या पक्षपात नहीं था। सबको समान न्याय मिलता था। इस पवित्र देश में राजा और प्रजा दोनों आनन्दपूर्वक रहते थे। उस समय में क्या प्रसंग बना ? इसे शास्त्रकार कहते हैं -

"तएणं तीसे मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए अन्नया कयाइं तस्स दिव्वस्स कुंडल-जुयलस्स संधी विसंघडिए यावि होत्था।"

तदनन्तर एक बार विदेहराजवर की श्रेष्ठ कन्या मल्लीकुमारी के दिव्य कुण्डलयुगल की जोड़ (सांध) टूट गई । जो कुण्डलयुगल अर्हन्नक श्रावक के देव ने दिये थे । उस कुण्डलयुगल को उसने (अर्हन्नक ने) कुम्भकराजा को भेंट दे दिये थे । कुम्भकराजा ने वह कुण्डलयुगल अपनी प्रियपुत्री मल्लीकुमारी को पहना दिये थे । मल्लीकुमारी का ऐसा अद्भुत रूप था कि उस रूप के कारण वे कुण्डल सुशोभित हो उठे थे । वे कुण्डल तो दिव्य थे ही । कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य आभूषण पहनने से शोभायमान हो जाता है, परन्तु कोई आभूषण ऐसा दिव्य होता है कि उस सुन्दर अलंकार को देखकर तुम ऐसे कह देते हो कि यह अलंकार कैसा सुन्दर घड़ा है कि इसको सांध (जोड) कहीं दिखाई नहीं देती । कोई स्वर्णकार घाट घड़ने में चतुर हो तो, ऐसा होना सम्भव है । परन्तु सांधा (जोड़) किये बिना प्राय: कोई आभूषण नहीं बनता । चाहे जिस जगह पर ही क्यों न हो, एक सांधा तो किसी भी आभूषण में होता है । हाँ तो मल्लीकुमारी के कुण्डल दिव्य थे, फिर भी उसकी सांध (जोड़) टूट गई थी ।

बन्धुओ ! तुम्हारे गहनों की संधि (जोड़) टूट जाए तो उसे सांधने (जोड़ने) वाला सुनार मिल जाता है, किन्तु आयुष्य की सांध टूट जाने पर उसे सांधने (जोड़ने) वाला कोई सुनार नहीं मिलता । तुम अमरिका, इंग्लैण्ड, जर्मन, जापान या लंदन चाहे जहाँ से डबल डिग्रीधारी सर्जन बने हुए डोक्टर को लाओ, लाखों रुपये खर्चकर दो, परन्तु आयुष्य की सन्धि टूट जाने पर उसे सांधने के लिए ऐसा कोई समर्थ नहीं है । ऐसी क्षणभंगुर जिंदगी जानकर जितनी हो सके धर्म की आराधना कर लो । तुम्हारे साथ में कोई आनेवाला नहीं है, फिर भी कितनी ममता है । 'आचारांग सूत्र' में भगवान् ने फरमाया है -

"जे ममाइय-मइं जहाइ, से चयइ ममाइयं । से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं ।"

"जो ममत्व-बुद्धि का त्याग कर सकता, वह ममत्व को छोड़ सकता है । जिसके (तन-मन-वचन में) ममत्व नहीं है, वह मोक्षपथ का ज्ञाता, द्रष्टा, सच्चा मुनि है ।" इस सूत्र में ममत्व का त्याग करने के लिए भगवान् ने कैसा सुन्दर मार्गदर्शन दिया है ? ममता का जन्म होता है - ममत्व-बुद्धि से । जबतक ममत्व-बुद्धि होती है, तबतक बाह्य रूप से पदार्थों का कितना ही त्याग किया हो, परन्तु उससे त्याग का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण नहीं होता । कारण यह है कि बहुत-सी बार ऐसा होता है कि पास में धन या साधन न हो, फिर भी अन्तर में उक्त पदार्थ या धन को पाने की ललक, ममता या लालसा होती है । उसे पाने के लिए मनुष्य तरसता रहता है । उस पदार्थ के अभाव में परिग्रह (ममता-मूर्च्छा) का दोष लगता है । बहुत-सी बार मनुष्य के पास बाह्य दृष्टि से चाहे जितना परिग्रह, सब तरह का ठाठबाठ हो, परन्तु उसके मन में उनके प्रति ममत्व नहीं होता, वह सामाजिक या धार्मिक कार्यों में उनका उपयोग करता है, तो वह अपरिग्रही - त्यागी कहलाता है । किन्तु एक भिखारी है, उसके पास घर नहीं है, धन नहीं है और

भोजन-पानी का भी साधन नहीं है, फिर भी उसे अपरिग्रही या त्यागी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके पास भले ही धनादि नहीं हैं, किन्तु उनके प्रति उसकी ममत्व-बुद्धि नष्ट नहीं हुई है। भौतिक पदार्थों के अभाव में भी उसके मन में तरंगे उठती हैं कि 'मुझे ऐसा बंगला, लाड़ी, वाड़ी, गाड़ी कब मिलेगी ? मुझे ये चीजें मिल जांय तो मैं भी ऐसा धनवान व सुखी बनूँ।' ऐसी ममत्व भावना के कारण उसे त्यागी नहीं माना/कहा जा सकता। उससे विपरीत दृष्टि से विचार करें तो भरत चक्रवर्ती के पास बाह्य दृष्टि से कितना परिग्रह था ? छह खण्ड का विशाल साम्राज्य था। वैभव-विलास भी अपार था, किन्तु वह इन सबसे निर्लिप्त रहते थे, इनके प्रति उनका ममत्व (मेरापन) नहीं था। अनासक्त और निर्लिप्त भाव से वह संसार में रहते थे। यही कारण है कि द्रव्यलिंग (साधुवेश) के अभाव में भी चारित्र आते ही शीशमहल में केवलज्ञान प्रकट हो गया था। आप भी संसार में रहते है, परन्तु भरत चक्रवर्ती की तरह अनासक्त भाव से रहें, ममत्व बुद्धि का त्याग करें। ममत्व बुद्धि का त्याग ममता के त्याग के लिए आवश्यक है। ममत्व मोक्षमार्ग पर चलने में बाधक है, अन्तरायरूप है और संसार-परिभ्रमण का कारण है। ऐसा समझकर जो ममत्व तथा ममत्व-बुद्धि का त्याग करता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। मल्लीकुमारी की दिव्य कुण्डल की सांध टूट गई। इस बात का पता कुम्भकराजा को लगा। मल्लीकुमारी राजा को प्राणों से भी अधिक प्रिय थी, इसलिए वह उसके लिए किसी बात की कमी नहीं आने देते थे। इसी कारण -

"तएणं से कुंभए राया सुवण्णगार - सेणिं सद्दावेइ।" उस समय तुरंत कुम्भकराजा ने अपनी नगरी में जो कुशल स्वर्णकार रहते थे, उन सबको अपने दरबार में बुलाया। स्वयं महाराजा ने चलकर इतने सब स्वर्णकारों को बुलाया। इस कारण उन सब सुनारों के मन में हर्ष हुआ कि हमें महाराजा साहब बुला रहे हैं, तो आज हमें वह कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपेंगे। अगर हम उस कार्य को सुचारुरूप से करेंगे तो राजा अपने पर प्रसन्न होंगे और अपनी जिंदगी का दारिद्र्य भी दूर हो जाएगा। क्योंकि एक कहावत प्रसिद्ध है - 'अगर गाँव का राजा रीझे (प्रसन्न हो) तो निहाल कर देता है, और खीजे (गुस्से हो) तो बेहाल भी कर देता है।' क्यों ठीक है न ? परन्तु तुम लोग रीझो तो क्या करोगे ? एक-दो बार ताली बजाकर खुशी प्रकट कर दोगे न ? (हँसाहँस)।

नगरी के सभी स्वर्णकार एकत्रित हुए। एकत्रित होकर निर्णय किया कि हम सब को एकत्रित होकर जाना है, क्योंकि गाँव में, राष्ट्र में, संघ में या कुटुम्ब में जहाँ देखो वहाँ संगठन होता है। सबके मत एक होते हैं तो वे सोचे हुए कार्य को भलीभांति कर सकते हैं। किन्तु यदि उनमें संप या संगठन अथवा एकमत नहीं होता है तो उनकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। वह कार्य भी शोभनीय नहीं होता। इसलिए स्वर्णकारों ने निर्णय किया कि अपने में से एक को नायक बना लो। सभी सुनारों ने संगठन करके एक को नायक बनाया और कुम्भकराजा के पास आए। फिर हाथ जोड़कर जय-विजय शब्दों से

राजा को वधाया । तदनन्तर नम्रतापूर्वक बोले - "स्वामिन् ! हमारे योग्य कोई सेवा हो तो फरमाइए ।" तव कुम्भकराजा ने कहा -

"तुब्भेणं देवाणुप्पिया ! इमस्स दिव्वस्स कुंडल-जुयलस्स संधिं संधाडेह !"

"हे देवानुप्रियों ! तुम इस दिव्य कुण्डल-युगल की संधि (जोड़) को सांध लाओ ।" यों कहकर राजा ने स्वर्णकारों के नायक के हाथ में उस दिव्य कुण्डल की जोड़ी दी । इसे लेकर सभी स्वर्णकारों ने कुण्डल की जोड़ी की संधि सांधने की राजा की आज्ञा को शिरोधार्य की और उन दिव्य-कुण्डलों को लेकर सभी स्वर्णकार अपने बैठने के स्थान पर आए । आकर सभी एकत्र होकर बैठे । गुजराती में कहावत है - 'झाझा हाथ रळियामणा' । अनेक हाथ लगने पर कार्य अच्छी तरह हो सकता है, और इन महाराजा का काम अच्छा हो जाय तो अपना बेड़ापार हो जाय, और बिगड़े तो देशपार (हँसाहँस) । इसलिए सभी स्वर्णकार मिलकर बहुत सावधानी से और होशियारी से मल्लीकुमारी के कुण्डलों को सांधने के लिए बहुत परिश्रम करने लगे । विविध प्रकार के औजारों, साधनों, उपायों तथा अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं से दोनों कुण्डलों के टूटे हुए भाग को सांधने में जुट गए । उन्होंने अपनी-अपनी बुद्धि से, साधनों से तथा कीमती वस्तुओं से दोनों कुण्डलों को सांधने का जीतोड़ प्रयत्न किया । सभी प्रयत्न करने के बावजूद भी वे किसी भी तरह से कुण्डलों को सांध नहीं सके । उनके सभी प्रयत्न निष्फल हुए । इसलिए उदास होकर वे कुम्भकराजा के पास आए । आकर दोनों हाथ जोड़कर महाराजा की जय हो, विजय हो, यों मधुर शब्द कहकर उन्हें आनन्दित किये । फिर कहने लगे - "स्वामिन् ! आपने हमें बुलाकर इस दिव्य-कुण्डल जोड़ी को सांध देने की आज्ञा की थी । हम ये कुण्डल-युगल लेकर अपने स्थान पर गए । वहाँ जाकर हमने अनेक उपायों और साधनों से दोनों कुण्डलों के टूटे हुए भाग को जोड़ने का बहुत प्रयत्न किया । हमने बहुत मेहनत की । हमारी जितनी शक्ति थी, उतनी खर्च डाली । कोई भी उपाय बाकी नहीं रखा । फिर भी इसे सांधने में हम सफल नहीं हुए । अतः हे स्वामिन् ! आपकी आज्ञा हो तो इन दिव्य-कुण्डलों जैसे दूसरे कुण्डल बना दें ।"

इस प्रकार स्वर्णकारों के मुख से बात सुनकर कुम्भकराजा उन पर गुस्से से लाल-पीले हो गए । फिर भौंहें चढ़ाकर कहने लगे - "तुम इन दो कुण्डलों के टूटे हुए भाग को जोड़ सकने में असमर्थ हो तो फिर तुम स्वर्णकार कैसे हो ? जो स्वर्णकार होता है, वे तो अपनी कलामात्र से सोने के ऐसे आभूषण बना देते हैं, जिससे राजाओं का मन प्रसन्न हो जाय । किन्तु तुम तो इन दो कुण्डलों का सांधा (टूटी हुई जोड़) भी सांध नहीं सकते, तो फिर ऐसे नये कुण्डल कहाँ से बना सकोगे ? तुम्हारे सुनारपन में धूल पड़ी !" इस तरह कुम्भकराजा क्रोध से आग बबूले होकर स्वर्णकारों को कहने

अपना जीव बचाने के लिए भाग गए और मैं अकेली इस भीलड़ा के हाथ में पड़ गई । अब मेरा क्या होगा ?" यों कहकर अपने माता-पिता, काका एवं भाइयों आदि सबका नाम लेकर रोने लगी । इसलिए नारदजी को उस पर बहुत दया आई । उन्होंने इसे समझा-बूझाकर शान्त की ।

उदधिकुमारी ने नारदजी से पूछा - "इस दुष्ट भील को ऐसा सुन्दर विमान कहाँ से मिला और गगनगामी विद्या इसे कहाँ से प्राप्त हुई ? क्या यह कोई देव है या विद्याधर है ? आपका इसके साथ मिलाप कहाँ से हुआ ? अथवा यह आपको भी मेरी तरह कहीं से उठा लाया है ? मुझे सच-सच कहिए । नहीं तो मैं मर जाऊँगी ।" कुंवरी के वचन सुनकर नारदजी ने हंसते-हंसते कहा - "बेटी ! अब तू क्यों खेद कर रही है ? तेरे पिता ने सर्वप्रथम दी थी, वह अत्यन्त प्रतापी रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्नकुमार है यह ! तेरे सद्भाग्य से तुझे इसका मिलन हुआ है ।" तब कुंवरी बोली - "आप पवित्र पुरुष होकर मुझे क्यों धोखे में डाल रहे हो ? वह तो राजकुमार है और यह तो काली श्याही जैसा भील है ।"

नारदजी ने कहा - "तुझे पता नहीं है कि सूर्य बादलों से ढका रहता है, तब क्या वह अपना तेज प्रकाश नहीं फैलाता ?" यों कहकर प्रद्युम्नकुमार से कहा - "अपना असली रूप प्रकट कर ।" प्रद्युम्नकुमार ने असली रूप प्रकट किया । तब वह बादलों से निकलते हुए चन्द्रमा की तरह उदधिकुमारी के सामने शोभायमान होने लगा । उदधिकुमारी चन्द्रमा के सम्मुख रोहिणी की तरह सुशोभित होने लगी । पहले उसने प्रद्युम्नकुमार का पराक्रम देखा और अब उसका रूप भी देखा । अतः वह मन ही मन विचारने लगी - 'ऐसा सुन्दर मेरा पति बने तो मर्त्यलोक में मैं सबसे अधिक भाग्यशालिनी हूँ । परन्तु कदाचित् यह कोई देवकुमार हो और मुझे छोड़कर चला जाए तो ?' यों वह विचार कर रही थी, वहाँ नारदजी ने पुनः उसे कहा - "बेटी ! तू चिन्ता मत करना । यह रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्नकुमार ही है । इसीसे तुझे इसके प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ है ।" अब उदधिकुमारी को साथ में लेकर विमान को आगे चलाया ।

अभूतपूर्व द्वारिका नगरी : मार्ग में अनेक प्रकार नवीनता देखते हुए वे द्वारिकापुरी में पहुँचे । पहले उसने द्वारिकापुरी का नाम सुना था, आज वह द्वारिका प्रत्यक्ष देख ली । किन्तु प्रद्युम्नकुमार को पता नहीं है कि यह कौन-सी नगरी है ? इसलिए उसने नारदजी से पूछा - "यह कौन-सी नगरी है मुनीश्वर ? कितनी देदीप्यमान दिख रही है; मानो अमरपुरी हो ! ऐसी मालूम होती है ।" तब नारदजी ने कहा -

ऋषि बोले - यह पुरी द्वारिका, देवकरी निर्माण ।
स्वर्णरत्न के कोट कांगरे , इन्द्रलोक-समान हो ॥ श्रोता...

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा वासुदेव के लिए निर्मित यह द्वारिका नगरी है । जिस के सोने का कोट और रत्नों के कंगूरे हैं । यहाँ के लोग दानी हैं, प्रिय बोलनेवाले हैं, ज्ञानी है, पर मानी नहीं हैं । बलवान हैं, क्षमाशील हैं । धनवान और दानवीर है । हजारों

जिह्वाओंवाला भी इस नगरी का वर्णन करने में समर्थ नहीं है, तो मैं एक जिह्वा से उसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ ? इस नगरी के जैसी दुनिया में कोई नगरी नहीं है ।"

नारदजी के मुख से द्वारिका नगरी का वर्णन सुनकर उसे देखने की इच्छा से प्रद्युम्न ने नारदजी से कहा - "आपकी आज्ञा हो तो मैं अकेला द्वारिका नगरी देखने जाऊँ ?" तब नारदजी ने कहा - "तू कहीं चुप नहीं रह सकता । जहाँ जाता है, वहाँ कुछ न कुछ चमत्कार करके आता है । यहाँ के यादव बहुत बलवान हैं । इसलिए कहीं वादविवाद करे, या कुछ कहे तो मेरी मेहनत पानी में जाय । इसलिए मैं तुझे तेरे माता-पिता को सौंप दूँ । फिर तू निश्चिंत होकर द्वारिका नगरी का निरीक्षण करना ।" तब प्रद्युम्न ने कहा - "मैं कुछ तूफान नहीं करूँगा । किसी को कुछ नहीं कहूँगा, परन्तु मुझे देखने के लिए जाने दो । आप विमान में बैठे रहना । मैं थोड़ी देर में ही आता हूँ ।"

अतः अन्त में नारदजी को उसे आज्ञा देनी पड़ी । अब प्रद्युम्नकुमार द्वारिका में जाएगा । वह वहाँ क्या-क्या धमाल मचाएगा, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - २०

आसो सुदी १४, बुधवार ता. ६-१०-७६

सर्वदुःखों से मुक्ति का मूल मंत्र : भेदविज्ञान

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी, विश्ववत्सल, करुणानिधि भगवान् ने जगत् के जीवों के उपकार के लिए शास्त्र-सिद्धान्त के प्रत्येक अध्ययन में आत्मा के पवित्र पथ का मार्ग निर्देश किया है । सिद्धान्त की प्रत्येक गाथा के अक्षर-अक्षर में आत्म-गौरव गूंथा हुआ है । जहाँ तक आत्मा-सिद्धान्त-सागर में डुबकी नहीं लगाता, तबतक वह मोक्ष के मोती नहीं मिल सकेंगे । इसके लिए ज्ञानीपुरुषों ने कहा है - "स्व और पर का भेदविज्ञान करो । जिसे स्व और-पर का भेदविज्ञान हो जाता है, ऐसा ज्ञानी 'स्व' और 'पर' दोनों को जानता है ।" मैं कौन ? मेरा स्वभाव क्या है ? मेरे निजगुण कौन-कौन से हैं ? जड़ का स्वभाव क्या और उसके गुण कौन-कौन-से हैं ? इस प्रकार जड़-चेतन का भेदज्ञान समझ सकता है । जबकि अज्ञानी आत्मधर्म (अपने धर्म) को समझ नहीं सकता । वह केवल जड़ के पीछे दौड़ता है । जैनदर्शन में ज्ञान का लक्षण इस प्रकार किया है - *"स्व-पर-व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ।"* स्व और पर दोनों का निश्चय करनेवाला ज्ञान-प्रमाण

है । इस सूत्र से ज्ञानी हमें स्व और पर का भेदविज्ञान करना सीखने की प्रेरणा देते हैं । बुझे हुए हजारों दीपकों की अपेक्षा जलता (प्रकाशकर्ता) एक ही दीपक अच्छा । बाहर के प्रकाशित हजारों दीपकों की अपेक्षा आत्म-दीपक के प्रकाश की एक किरण को प्रकाशित करना श्रेष्ठ है, जिस प्रकाश की किरण के द्वारा जीवन और मरण के बीच के भेद को समझ देह-बन्धन से मुक्त बन सकें । ज्ञानी और अज्ञानी में इतना ही अन्तर है, जितना अन्तर जलती और बुझी हुई मोमबती के बीच है । जलती हुई मोमबत्ती अपने आपको प्रकाशित करती है और अपने निकट में रहे हुए पदार्थों को भी प्रकाशित करती है । जबकि बुझी हुई मोमबती न तो अपने को प्रकाशित करती है और न ही अपने निकटवर्ती पदार्थो को प्रकाशित करती है । इसीलिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "आत्मा के दीपक को प्रकाशित करो ।"

जब आत्मा में ज्ञान-विवेक का दीपक प्रज्ज्वलित होता है, तब वह दुर्गुणों और दोषों को दूर करके सद्गुणों का संग्रह करने लगता है । उसके अन्तर में अहर्निश एक ही तमन्ना रहती है कि 'प्रभो ! भवसागर में भ्रमण करानेवाले मेरे कर्मों का क्षय करके मैं शीघ्रातिशीघ्र दुःखों से मुक्त होकर कब मोक्ष को प्राप्त करूँगा ?' जिसमें ऐसी तमन्ना होती है, उसकी संसार के किसी भी पदार्थ (सजीव-निर्जीव पदार्थ) के प्रति ममता, मूर्च्छा, आसक्ति या वृद्धि नहीं होती । उसे तो भगवान् के वचनों पर अटूट (सुदृढ़) श्रद्धा होती है । वीतराग आप्त भगवंतों के वचन पर श्रद्धा आत्मा को अजर-अमर बनानेवाली संजीवनी बूटी है । श्रद्धा से मनुष्य महान बन सकता है ।

माता और बालक का दृष्टांत : एक बार एक विधवा माता ने अपने प्रिय बालक को तक्षशिला पढ़ने के लिए भेजा । वह अपनी माँ का एकलौता पुत्र था, इसलिए घर से विदा करते समय उस (माँ) का हृदय भर आया । किन्तु पुत्र ज्ञानाभ्यास के लिए जा रहा था, इसलिए उसके मंगल-प्रस्थान के समय आँख से आंसू की बूंद नहीं गिरने दी । किन्तु कांपते हृदय से मन को मजबूत बनाकर बोली - "बेटा ! तुझे विदा देते समय मेरा हृदय हाथ में नहीं रहता । किन्तु माता अगर पुत्र के प्रति मोह रखकर उसे पढ़ावे नहीं तो नीतिकार की दृष्टि से वह माता बैरी या शत्रु हो जाती है । इस कारण मैं तेरे आत्मविकास के लिए जाने की आज्ञा देती हूँ । परन्तु बेटा ! तू मेरी एक बात मानेगा ?" पुत्र ने कहा - "हाँ माँ ! मैं जरूर मानूँगा ।" पुत्र का जवाब सुनकर माता ने खुश होकर कहा - "बेटा ! इस समय पढ़ने के लिए जा रहा है, इसके सिवाय अन्यत्र कहीं भी जाए, मेरी दो बातों का ध्यान रखना - 'पहली बात तो यह है कि तू सदा सत्य बोलना, असत्य कदापि मत बोलना ।' दूसरी बात है - 'पाप के सिवाय किसी से डरना नहीं ।" कोई तेरे पास आकर भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि की बातें करे, किन्तु तू अपना मन कदापि कमजोर मत बनाना । इस जगत् में मनुष्य की अपेक्षा कोई बड़ा नहीं है । मानव के आगे देव भी बौने हैं । मनुष्य के तप, त्याग, संयम

आगे इन्द्र के इन्द्रासन भी डोल उठते हैं, देव भी कांपते हैं। हे पुत्र ! ऐसे उग्र बाह्य र आभ्यन्तर तप की शक्ति मानव में पड़ी है। मानव अपनी शक्ति का सही विकास तो सारा जगत् उसके सामने झुक जाता है, उसके पराक्रम के आगे कांप उठते हैं। मानव-जीवन महान बनने के लिए मिला है। महान बनने की क्षमता और योग्यता त कर सकनेवाला मानव किसी से डरता नहीं है। अगर वह किसी से डरता फिरता तो वह महान नहीं बन सकता। बेटा ! तू भी एक मानव है, इसलिए इस दुनिया में प के सिवाय किसी से डरना मत और सदा सत्य बोलना।" माता के वचन हृदयरूपी हासन पर स्थापित करके पुत्र माता के चरणों में वन्दन करके चल पड़ा। उस समय टर, गाड़ी, ट्रेन, प्लेन वगैरह शीघ्र यात्रा के साधन नहीं थे। प्रायः पैदल प्रवास ला पड़ता था। यह लड़का भी अपनी आवश्यकता की सभी चीजें लेकर अकेला ी, नाले, पहाड़ तथा अनेक गाँवों को पार करता हुआ निर्भय होकर चला जा रहा । एक दिन जंगल में उसे ७ चोरों का टोला मिल गया। उन सात चोरों ने इस छोटे- बालक को घेर लिया और उसके पास जो भी सामान था, वह ले लिया। फिर पूछा "और भी कुछ है तेरे पास ?" विद्यार्थी ने कहा - "नहीं है।" इसलिए चोर लोग मिला, उसे लेकर चले गए।

बालक की सत्यता पर चोर प्रसन्न हुए : चोर थोड़ी-सी दूर गये, इतने में इस द्यार्थी को याद आया - 'अरे ! मैं आज असत्य बोला।' जब सात-सात चोरों ने इसे र लिया था, इसके पास जो भी सामान था, चोर ले गए, तब भी वह लड़का डरा नहीं, ने उस समय मन में ऐसी भी चिन्ता नहीं हुई कि मेरा सर्वस्व चोर ले गए हैं, तो अब क्या करूँगा ? परन्तु इसके द्वारा असत्य बोला गया, उसका डर लगा। वह जान- झकर असत्य नहीं बोला था। रास्ते में चोर लूट न लें, उसके लिए उसकी माता ने एक टी-सी पतली गुदड़ी में ४० सोना मोहरें डालकर उसे सी दी थी। उस गुदड़ी का यह ड़का तकिये के रूप में इस्तेमाल करता था। उसे जब यह याद आया तो मन में बहुत फसोस होने लगा कि अभी तक मुझे अपनी माता की याद भी भुलाई नहीं है, उस वित्र माता के स्नेह का स्रोत (झरना) सूखा नहीं है, किन्तु उसे दिये हुए वचन को भूल या ? माता की आज्ञा पर पैर रखकर उसे कुचल दिया ? मुझसे माता की आज्ञा का ल्लंघन कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं। वे चोर अभी तो नजदीक ही गये होंगे। मैं ल्दी से दौड़कर उनके पास जाऊँ और अपनी गलती के लिए उनसे माफी मांग लूं।'

वह विद्यार्थी चोरों के पीछे दौड़ा। जोर से चिल्लाकर बोला - "भाइयों ! खड़े हो।" यों जोर से चिल्लाकर बोलने से उसकी आवाज सुनकर चोर रुक गए। वे सोचने गे - 'इस जंगल में हमें भाई कहकर बुलाने वाला कौन निकला ?' जरा-सा पीछे ड़कर देखा तो मालूम पड़ा कि दूर से वही लड़का दौड़ता आ रहा है। चोरों के मन में ह भी विचार आया कि हमने उसका सब लूट लिया है, इसलिए बाद में उसका कोई

साथी मिल गया लगता है, अतः हमें पकड़ने – गिरफ्तार कराने के लिए यह युक्ति रची मालूम होती है ।' यह सोचकर चोर मुट्ठी बांधकर दौड़े । आगे चोर और पीछे विद्यार्थी बेचारे जोर से चिल्लाकर कहता जाता है – "भाइयों ! जरा खड़े रहो । मुझे तुम्हें कुछ देना है ।" यद्यपि ये (चोर) लोग बहुत दूर निकल गए थे, किन्तु चोरों ने जब वापस मुड़कर देखा तो उन्होंने अकेले ही बालक को देखा तो उन्हें तसल्ली हो गई । इसलिए वे खड़े रहे । चोरों ने उससे पूछा – "क्यों, भाई ! तू क्यों हमारे पीछे दौड़ कर आया ?" विद्यार्थी ने कहा – "आपने मुझसे पूछा था कि अब मेरे पास कुछ है, उस वक्त मैंने इन्कार कर दिया था, यह मेरी भूल हुई । मेरी माता ने मुझे मेरे खर्च के लिए इस छोटी-सी गुदड़ी में ४० सोना मोहरें मुझे सी कर दी है ।"

माता के वचन को पालने में बताई वफादारी : विद्यार्थी की बात सुनकर चोर आश्चर्यचकित हो गए । "अरे लड़के ! तू सामने से चलकर हमें ४० सोना मोहरें देने आया है ? तेरे जैसा सत्यवादी मनुष्य हमने अपनी जिंदगी में अभी तक नहीं देखा ।" तब उसने कहा – "मैं जब घर से पढ़ने जाने के लिए निकला, तब मेरी माता ने मुझसे कहा – "बेटा ! तू कदापि असत्य मत बोलना ।" तब आप सोचिए, मेरी माता के वचन के बजाय क्या ये सोना मोहरें विशेष हैं ? सोना मोहर देने पर भी अगर मेरी माता के वचन का पालन होता है तो मेरी दृष्टि में हजार सोना मोहर की अपेक्षा भी बड़ा लाभ है !" विद्यार्थी की बात सुनकर चोर विचार करने लगे – 'अहो ! जिस (धन) के लिए दुनिया तरसती है, जिसकी चमक-दमक देखकर मानव की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं, जिसे पाने के लिए अंधेरी रात्रि में भी जीवन का खतरा मोल लेकर (हम लोग) बाहर निकलते हैं और ऐसे निर्दोष मनुष्यों को लूटते हैं, ऐसी स्वर्णमुद्राओं को यह लड़का अपनी माता के वचन-पालन के लिए लुटा दे रहा है ।' पुनः उन चोरों ने उस विद्यार्थी से पूछा – "अरे लड़के ! तू इतना छोटा है और इस घने जंगल में हमने तुझे घेर लिया, उस समय तुझे हमसे डर नहीं लगा ? क्या तू हमसे भयभीत नहीं होता ?" तब उसने कहा – "मेरी माता ने मुझे दूसरी सीख यह दी थी कि 'बेटा ! पाप के सिवाय तू किसी से मत डरना ।' इसलिए मैं पाप के सिवाय दूसरे किसी से नहीं डरता । आप मनुष्य हैं, वैसे मैं भी मनुष्य हूँ । आपके हाथ-पैर हैं, वैसे मेरे भी हाथ-पैर हैं । आप मुझे ज्यादा से ज्यादा क्या करेंगे ? मेरी आत्मा तो अजर-अमर-अविनाशी है । कदाचित् आप मार डालेंगे तो आप मेरे शरीर को मार सकेंगे, किन्तु मेरी आत्मा को तो नहीं मार सकेंगे । अतः मेरी आत्मा का कुछ भी नुकसान होनेवाला नहीं है । किन्तु मेरी आत्मा में पाप प्रविष्ट हो जाए, तब तो बहुत बड़ा नुकसान हो सकता है ।"

बन्धुओ ! एक छोटे-से लड़के को अपनी माता के वचन पर कितना विश्वास है ? कितनी श्रद्धा, निष्ठा और वफादारी है ? क्या आपको परम पिता तथा परम माता परमात्मा के वचन पर है, इतनी श्रद्धा, विश्वास या वफादारी ? मान लो कदाचित्

तुम्हें चोर इस प्रकार घेर ले तो क्या करोगे ? (हँसाहँस) । विद्यार्थी की बात सुनकर चोरों का पाषाण-सा कठोर हृदय भी पिघल कर मोम जैसे हो गए ?

पवित्र बालक की प्रेरणा से चोरों का हृदय-परिवर्तन : 'अहो ! चारों ओर हमारी धाक पड़ती है, हमें देखकर लोग फड़फड़ा उठते हैं । जबकि यह छोटा-सा लड़का हम से जरा भी डरे बिना कितना मीठा बोलता है ? यह कैसा निर्भय है ? इसे तो सिर्फ पाप का डर लगता है, तो फिर हमें भी पाप क्यों करना चाहिए ?' अतः चोरों ने इस लड़के से कहा - "तेरी चालीस स्वर्णमुद्राएँ तू अपने पास रख, ये हमें नहीं चाहिए । पर तू हमें यह बता कि तू अभी कहाँ जा रहा है ?" विद्यार्थी ने कहा - "मैं तक्षशिला (विद्यापीठ) में पढ़ने के लिए जा रहा हूँ ।" तब चोरों ने कहा - "चल, हम तुझे वहाँ तक छोड़ने आते हैं ।" विद्यार्थी ने कहा - "मुझे कोई डर नहीं है । मैं अकेला चला जाऊँगा । आपको मुझे वहाँ छोड़कर आने की जरूरत नहीं है, क्यों ऐसी तकलीफ करते हैं ?" चोरों ने कहा - "हमें तेरे साथ आना है ।" चोर उस विद्यार्थी के साथ तक्षशिला पहुँचे । वहाँ सातों ही व्यक्तियों (चोरों) ने गुरुचरणों में वन्दन किया और आँख से अश्रुपात करते हुए बोले - "आपकी विद्यापीठ में पढ़ने के लिए आनेवाले इस विद्यार्थी ने हमारे दिल जीत लिये हैं । इसने हमारी आँखें खोल दी हैं । आपके विद्यार्थी ने हमे मानवता का पहला पाठ पढ़ाया है । आगे के पाठ आप हमें पढ़ाइए ।" चोर तक्षशिला में जाकर सच्चे मानव बन गए और अन्त में तक्षशिला के रक्षक (रखवाले) बन गए ।

बन्धुओं ! एक विद्यार्थी की दृढ़ता देखकर चोर जैसे कठोर लोगों की हृदय परिवर्तन हो गया और वे सच्चे मानव बन गए । उस विद्यार्थी की माता की आत्मा भी कितनी जागृत थी कि अपने पुत्र को ऐसा उच्च ज्ञान दिया । भौतिक ज्ञान जड़पदार्थों को अपना मानता है, जबकि आत्मिक ज्ञान जड़पदार्थों को पराया मानता है । भौतिक ज्ञान से प्राप्त हुए साधन आत्मा के लिए बन्धनरूप बन जाते हैं, जबकि आत्मज्ञान से प्राप्त हुए साधन आत्मा को बन्धन से मुक्त कराते हैं । ऐसा (आत्म) ज्ञान ही वस्तुतः सम्यग्ज्ञान है । यह ज्ञान मानव को निर्भय और निर्मल बनाता है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

कुम्भकराजा स्वर्णकारों पर बहुत गुस्से हो गए और *"ते सुवण्णगारे निव्विसए आणवेइ ।"* ऐसा कहकर उन सुवर्णकारों को देश-निर्वासन (देश से निकल जाने) की आज्ञा दी । अर्थात् - तुमलोग मेरे राज्य की हद छोड़कर चले जाओ । इस प्रकार राजा की आज्ञा होते ही वे खड़े हो गए और जहाँ अपना घर था, वहाँ आए । स्वर्णकार लोग जब राजा के पास गए थे, तब उनकी ऐसी कल्पना नहीं थी कि राजा ऐसा हुक्म करेंगे । वे सब विचार करने लगे कि इसमें हमारा क्या अपराध है ? कुण्डल की जोड़ी हम सांध न सके । उसके कारण हमने कोई बड़ा अपराध नहीं किया कि राजा हमें देश

निकाला है। परन्तु राजा की आज्ञा का कौन अनादर करे ? इन कुम्भकराजा को भी कोई समझा सके, ऐसा नहीं था। उन्होंने आवेश में आकर स्वर्णकारों को देश से निकल जाने का एकदम आदेश दे दिया। इससे स्वर्णकारों के हृदय में वहुत दुःख हुआ। जो लोग पीढ़ियों से मिथिला में वस रहे हों, उन्हें एकदम से मिथिला देश छोड़कर अपना सव वोरिया विस्तर वांधकर तथा सारा सामान लेकर देश छोड़कर परिवार-सहित जाना पड़े, यह कोई सामान्य वात नहीं है। राजा ने मिथिला नगरी छोड़कर जाने का कहा होता तो कोई हर्ज नहीं था, किन्तु यह तो देश छोड़कर जाने का सवाल था। सवके मन में यह चिन्ता हुई कि अव कहाँ जाएँ ? सब स्वर्णकार एकत्र होकर अपने-अपने घर आए। एक तो घर का सारा सामान वटोरकर ले जाना था, फिर किसी के घर में वृद्ध माता-पिता हों, अथवा कोई बीमार हो, अथवा अशक्त हो, उन सवको लेकर एकदम से कैसे जाना ? यह प्रश्न प्रायः सवके सामने था। किन्तु राजा का अध्यादेश था, इसके पालन करने में जरा भी विलम्ब नहीं किया जा सकता था। अतः सवने घर आकर सर्वप्रथम उन्होंने गाड़े तैयार कराए। गाड़े में अपने वर्तन-वासन तथा घर का समस्त माल-सामान भरा। फिर सभी अपने-अपने गाड़ों में वैठकर मिथिला-राजधानी के राजमार्ग के मध्य में होते हुए जहाँ काशीदेश और वाराणसी नगरी थी, वहाँ आए। वहाँ आकर उन्होंने अपने-अपने गाड़ी-गाड़े को वाराणसी नगर के वाहर उद्यान में छोड़े यानि वहाँ खड़े रखे। उनमें से जो मुख्य स्वर्णकार थे, वे महार्थ-साधक अर्थात् वहुत कीमती, तथा राजाओं के योग्य भेंट लेकर वाराणसी नगरी के वीचोवीच होते हुए जहाँ काशीराज शंखराजा रहते थे, वहाँ आए। वहाँ आकर उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजली रखकर राजा को वन्दन किया। जय-विजय शब्दों से राजा को वधाया और वहुमूल्य उपहार जो लाए थे, उसे राजा के सामने रखा।

प्राचीनकाल में यह रिवाज था कि जिस नगर में वसना हो, वहाँ के राजा को सर्वप्रथम कीमती नजराना (भेंट) देना चाहिए। वह भेंट राजा स्वीकार कर ले, फिर उनकी आज्ञा प्राप्त हो तो नगरी में प्रवेश कर सकता था। इसलिए स्वर्णकारों ने नगरी में वसने से पहले काशीराज शंखराजा को भेंट दी। स्वर्णकारो ने राजा के चरणों में वन्दन करके फिर भेंट दी। फिर उन्होंने महाराजा से इस प्रकार कहा –

"अम्हेणं सामी! मिहिलाओ नयरीओ कुम्भएणं रन्ना निव्विसया आणत्ता, समाणा, इहं हव्वमागया, तं इच्छामो सामी! तुब्भं वाहुच्छाया-परिग्गहिया निब्भया निरुव्विग्गा सुहं सुहेणं परिवसिउं।"

"स्वामिन्! राजा कुम्भक के द्वारा मिथिला नगरी से निर्वासित किये (देशनिकाला दिये) हुए हम सीधे यहाँ आए हैं। अतः हे स्वामिन्! आपकी वाहुच्छाया ग्रहण किये हुए (के आश्रय में रहे हुए) हम लोग निर्भय और निरुद्विग्न होकर सुख-शान्ति से रहने के लिए यहाँ आए हैं।"

जैसी रूपवती और गुणवती रानी न हो तो मेरी शोभा नहीं है ।' इस प्रकार मल्लीकुमारी के प्रति शंखराजा को प्रीति उत्पन्न हुई और उसके साथ विवाह करने की अभिलाषा जागी । अब शंखराजा मिथिला नगरी में दूत को भेजेगा । वहाँ क्या बनेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार द्वारिका नगरी में आया । अमरपुरी जैसी द्वारिका नगरी को देखने की इच्छा हुई । इसलिए नारदजी से कहा - "ऋषिवर ! आप विमान में बैठिए । मैं अपने पिताजी की नगरी देखकर अभी आता हूँ ।" तब नारदजी ने कहा - "अब तो तुझे द्वारिका नगरी में ही रहना है, इसलिए तू फिर निश्चिंतता से द्वारिका नगरी को ही देखना न ? अभी तो तेरी माता तेरे लिए कल्पान्त कर रही है । अतः उसे मिलकर आनन्दित कर, ताकि उसका मन शान्त हो जाए ।" तब प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "मैं अपने माता-पिता से मिलने के बाद तो उनके मोह में पड़ जाऊँगा, इसलिए अच्छी तरह से द्वारिका नगरी नहीं देख सकूँगा, अतः अभी तो मुझे द्वारिका नगरी देख लेने दीजिए । मेरी माता ने १६ साल तक वियोग सहन किया है, तो कुछ दिन और अधिक सह लेगी । फिर निश्चिंतता से माता से मिल लूंगा ।" यों कहकर नारदजी से आज्ञा प्राप्त कर प्रद्युम्नकुमार नारदजी और उदधिकुमारी को छोड़कर विमान में से उतरकर स्वयं द्वारिका नगरी देखने के लिए चल पड़ा ।

द्वारिका नगरी में प्रविष्ट होते ही भानुकुमार को अपनी शक्ति का परिचय दिया : प्रद्युम्नकुमार ने विमान में से उतरकर द्वारिका नगरी में प्रवेश किया । वहाँ सर्वप्रथम उसने क्या देखा ? सबसे पहले उसने खेलने के लिए जाते हुए भानुकुमार को देखा । भानुकुमार अत्यन्त तेजस्वी था । उसके मस्तक पर कुछ सेवकों ने छत्र धर रखा था तो कुछ सेवक उस पर चामर डुला रहे थे । ऐसे तेजस्वी राजकुमार को देखकर प्रद्युम्नकुमार विचार करता है - 'क्या यह कृष्णजी तो नहीं हैं ? या कोई दूसरा राजकुमार होगा ? यों प्रद्युम्नकुमार मन ही मन बोलता है, इसलिए उसकी विद्या ने कहा - "यह कृष्णजी नहीं हैं, किन्तु आपकी अपरमाता सत्यभामा का यह सूर्य सम तेजस्वी भानुकुमार नामक पुत्र है । इसे घोड़ों को खेलाने का बहुत शौक है । इसे आप अपना पराक्रम दिखाओ, जिसे सुनकर आपकी माता को आनन्द हो ।" प्रद्युम्नकुमार को विद्या की बात सुनकर जोश चढ़ा । उसने विद्या के बल से एक सुन्दर तेजतर्रार घोड़ा बनाया और स्वयं १०० वर्ष का वृद्ध-सा बन गया । थर-थर कांपते हुए शरीर से हाथ में घोड़े के बांधी हुई रस्सी पकड़कर प्रद्युम्नकुमार उसके सामने आ गया । भानुकुमार के साथ दूसरे अनेक कुमार थे, परन्तु भानुकुमार घोड़ों का खूब शौकीन था ।

अतः इस वृद्ध के पास रहे हुए घोड़े को देखकर सभी कुमार बहुत आश्चर्य में पड़ गए और बोले - "भाई ! देखिए तो सही, यह घोड़ा कितना अच्छा है ? यह घोड़ा तुम्हारे पास शोभा देता है।" तभी भानुकुमार ने पूछा - "ऐ बूढ़े ! यह घोड़ा किसका है ?" बूढ़े ने कहा - "यह घोड़ा मेरा है।" तब उसने पूछा - "तुम कहाँ से आ रहे हो ?" वृद्ध - "मैं परदेशी सौदागर हूँ। मैंने सुना है कि कृष्णपुत्र भानुकुमार घोड़े के बहुत शौकीन है, इसलिए आपके लिए शोभास्पद एक श्रेष्ठ अश्वरत्न लाया हूँ। इसका मूल्य एक करोड़ सोना मोहर है।" भानुकुमार ने कहा - "अरे बूढ़े ! जरा सोच-समझकर बोल। क्या एक घोड़े की कीमत एक करोड़ सोना मोहर दी जाती है ?" तब वृद्ध ने कहा - "आपको घोड़ा लेना हो तो दो, न लेना हो तो रहने दो। मैं तो यह चला। दूसरी-तीसरी बार चलने की गति से घोड़े ने सबका मन खुश कर दिया। भानुकुमार ने मन ही मन सोचा - 'घोड़ा तो बहुत पानीदार है।' वृद्ध ने कहा - "मैं जा रहा हूँ। ऐसा घोड़ा आपको दुनियाभर में नहीं मिलेगा। इस घोड़े की परीक्षा करनी हो तो कर सकते हो।" "बहुत बखान कर रहे हो तो मैं घोड़े की परीक्षा कर लूं, फिर खरीदूंगा।" वृद्ध ने कहा - "ठीक है, आप परीक्षा कर लो।"

भानुकुमार की घोड़े पर सवारी : भानुकुमार हाथ में चाबुक लेकर छलांग मार कर घोड़े पर बैठा। इसलिए घोड़े ने अपनी चाल शुरू की। पहली चाल में वह मापसर चला। दूसरी-तीसरी बार चलने की गति से उसने सबका मन खुश कर दिया। भानुकुमार ने मन में सोचा - 'घोड़ा तो खूब पानीदार है, तेजतर्रार है।' यों विचार करके चौथीबार घोड़े को दौड़ाया। घोड़ा तो ऐसा दौड़ा कि भानुकुमार कांपने लगा। उसके शरीर पर पहने हुए गहने नीचे गिरने लगे। पाँचवी बार घोड़े को दौड़ाया तो घोड़ा इतनी तेजी से दौड़ा कि भानुकुमार गिर पड़ा। अतः सभी राजकुमार मुँह में मुस्काने लगे और वृद्ध सौदागर तो ठहठहाकर हंसकर बोला - "एक तो बेचारा भानुकुमार गिर पड़ा। उसकी हड्डी पर चोट लगी है। तुम उसकी खबर भी नहीं पूछते, उलटे पड़े पर लात मारते हो। घाव पर नमक छिड़कते हो।" बाद इस प्रकार से वृद्ध बोला - "अरे ! कृष्णपुत्र भानुकुमार ! तुम इस शान्त घोड़े पर से गिर पड़े। इससे मालूम होता है कि तुम्हें घोड़ा खेलाने की कला नहीं आती। बोल ! मैं तुझे अश्वारोहण-विद्या सिखाऊँ ? तुझे घोड़े पर बैठना भी नहीं आता तो तू राज्य कैसे चलाएगा ? मैं तो यह समझता था कि कृष्ण का पाटवी पुत्र भानुकुमार कितना तेजस्वी होगा ! इस कारण तेरे लिए पानीदार-तेजतर्रार घोड़ा लेकर आया। पर तेरे में तो बुद्धि ही नहीं है। (हँसाहँस) मुझे तो चिन्ता होती है कि तू एक घोड़े को भी सुरक्षित नहीं रख सकता तो इतने बड़े राज्य को कैसे सही-सलामत और सुरक्षित रख सकेगा ?"
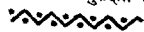
वृद्ध सौदागर के ऐसे अपमानजनक वचन सुनकर भानुकुमार ने क्रुद्ध होकर कहा - "अरे बूढ़े ! जरा सोच-समझकर बोल । क्या बकबक कर रहा है ? जो चढ़ता है, वह गिरता है । तेरे जैसे मूर्ख को तो चढ़ना भी नहीं है और गिरना भी नहीं है । फिर भी अगर तुझे अभिमान हो तो तू घोड़े पर चढ़कर मुझे अपनी कला बता ।" इस पर सौदागर ने कहा - "भाई ! अगर मुझ से घोड़े पर चढ़ा जाता तो मैं ऐसे पानीदार-तेजतर्रार घोड़े को बेचता ही क्यों ? फिर भी एक बात है, अगर कोई मुझे घोड़े पर चढ़ा दे तो मैं तुझे बता दूं कि तुझे घोड़ा खेलाना आता है या मुझे ?" तब भानुकुमार ने कहा - "इस बूढ़े को पाँच-सात जन उठाकर घोड़े पर चढ़ा दो ।"

भानु के कहने से पाँच-सात सुभटों ने वृद्ध को घोड़े पर चढ़ाने के लिए पकड़ कर उठाया, पर वह अधबिच में ही नीचे गिर पड़ा और रोने लगा - "अरेरे ! तुमने मुझे अच्छी तरह पकड़ा नहीं, इस कारण मैं गिर गया । किन्तु अब भी मुझे घोड़े पर बिठा दो तो मैं तुम्हें अपनी कला बताऊँ ।" इसलिए सबने मिलकर पुनः उसे पकड़कर उठाया तो फिर वह नीचे लुढक गया । इससे कई सुभटों को भी चोट लगी । इसे नहीं देखकर वृद्ध बोला - "अरे भानुकुमार ! ये तुम्हारे सुभट भी तुम जैसे ही हैं । तुमने इन्हें खिला-पिलाकर केवल तगड़े बनाए हैं । इतने सब इकट्ठे मिलकर भी मुझे उठा नहीं सकते तो ये युद्ध में क्या जौहर दिखायेंगे ? (हँसाहँस) अगर तुममें पानी हो तो अब भी मैं कहता हूँ कि मुझे घोड़े पर चढ़ा दो ।" तीसरी बार भी उसे सबने मिलकर उठाया तो भी वह जमीन पर गिर पड़ा । उसके साथ-साथ सभी सुभट भी गिर पड़े । किसी का सिर फूट गया, तो किसी के दांत टूट गए, किसी के हाथ-पैर पर गहरी चोट आई । तब भानुकुमार वहाँ खड़ा था । यह मौका देखकर वृद्ध उसे नीचे पटककर उसकी छाती पर पैर रखकर घोड़े पर चढ़ गया और थोड़ी ही देर में सबके देखते-देखते घोड़े को तीव्र गति से दौड़ाकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया । वृद्ध की घोड़ा चलाने की कला देखकर सभी राजकुमार खुश हो गए । 'ओ हो ! क्या इसकी कला है ? भानुकुमार तो (घोड़े पर से) गिर पड़ा था । सभी उस (वृद्ध) की प्रशंसा कर रहे थे । तभी सबके बीच में से विद्या के बल से अश्वसहित वह आकाश में उड़ गया और अदृश्य हो गया । सभी कहने लगे - "यह क्या ? क्या यह कोई देव, यक्ष या किन्नर है या कोई जबर्दस्त शक्तिशाली पुरुष होना चाहिए ।" यों वे अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करने लगे । अब प्रद्युम्नकुमार द्वारिका नगरी में आगे कहाँ जाएगा और क्या-क्या चमत्कार दिखायेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ९१

आसो सुदी १५, गुरुवार | ता. ७-१०-७६

मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए रत्नत्रयी को अपनाओ

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

अनेकान्तवाद के सर्जक, एकान्तवाद के भंजक, केवलज्ञान की ज्योति प्रकट करने-वाले वीतराग भगवन्तों ने जगत् के जीवों के उद्धार के लिए आगमों की प्ररूपणा की। आगम में भगवान् ने कहा - "हे जीव तुझे महान पुण्योदय से मानवभव की प्राप्ति हुई है। अतः तू तप, त्याग, संयम, व्रत, नियमों द्वारा आत्मा की साधना कर ले।"

आज शरदपूर्णिमा का दिवस है। इस पूर्णिमा को माणेकठारी पूर्णिमा भी कहा जाता है। समस्त पूर्णिमाओं की अपेक्षा इस पूर्णिमा की विशेषता है। शरदपूर्णिमा का चन्द्र सोलह कलाओं से खिलता है और इस अवनि पर प्रकाश फैलाता है। हमें महान पुण्योदय से शरदपूर्णिमा के समान मानवभव मिला है। अतः उसमें (मानवभव में) से आधि, व्याधि और उपाधि तथा कषायरूपी उष्णता दूर करके शीतलता और सौम्यता प्राप्त करो। मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्धकार दूर करके केवलज्ञान के प्रकाश द्वारा तीनों लोकों को प्रकाशित करें, ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए। तब अपना आत्मारूपी चन्द्र शरदपूर्णिमा के चन्द्र की तरह सोलह कलाओं से विकसित हो उठेगा। शरदपूर्णिमा का चन्द्र तो केवल इस लोक में प्रकाश करता है, किन्तु केवलज्ञान का चन्द्र तो तीनों लोकों में प्रकाश करता है और अलौकिक शीतलता और सौम्यता प्रदान करता है। किन्तु ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए इस मानवभव में जीव को भगीरथ पुरुषार्थ करना पड़ेगा। एक दृष्टांत द्वारा इस तथ्य को समझाती हूँ -

जंगल में से रावण सीताजी को उठा (अपहरण) करके ले गया। ऐसी स्थिति में रावण के पास से सीताजी को वापस लाने के लिए राम को कितना पुरुषार्थ करना पड़ा ? बड़ा समुद्र पार करके कितनी कठिनाइयाँ झेलकर लंका में जाना पड़ा। एक महासंग्राम करना पड़ा, वैसे ही मोहरूपी रावण अपनी आत्म लक्ष्मीरूपी सीता का हरण कर गया है (कर रहा है), तो उसके पास से आत्म-लक्ष्मीरूपी सीता वापस प्राप्त करने के लिए हमें पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है या नहीं ? आठ कर्मों में मोहनीय कर्म बलवान सेनापति है। अतः सर्वप्रथम उसे जीतना जरूरी है। 'दशाश्रुतस्कन्ध' में कहा गया है -

"सेणावइंमि निहते, जहा सेणा पणस्सइ ।
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयंगए ।।"

जैसे संग्राम में सेनापति के मर जाने पर सारी सेना भाग जाती है या तितर-बितर हो जाती है, वैसे ही मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर दूसरे कर्म (घातिकर्म) नष्ट हो जाते हैं । किन्तु एक वार मोह पर विजय पाने के लिए महान पराक्रम करना पड़ेगा । मोह को जीतने के लिए महीने में दो उपवास, तीन-चार आयम्बिल, मासखमण या एक वर्षीतप किया, क्या इतने से काम (विजय का कार्य) हो जाएगा ? मोहरूपी रावण को पराजित करके केवलज्ञान रूपी सीता-सुन्दरी को उसके कब्जे से छुड़ाकर प्राप्त करने के लिए आत्मा की अनन्तशक्ति तप, त्याग और संयम में पूर्णतया लगानी पड़ेगी । शक्ति-स्फोट करना पड़ेगा । इसके लिए मामूली पुरुषार्थ काम नहीं आएगा । अतः आत्मा को कर्म से मुक्त करने के लिए साधनों का सदुपयोग कर लो ।

संसार के मोह में फंसे हुए और धन की धमाल में पड़े हुए मनुष्यों को अमूल्य साधनों और अमूल्य समय की कीमत समझ में नहीं आई है । इसी कारण अपने स्वरूप और शक्ति का उसे ध्यान नहीं है । फलस्वरूप महंगे से महंगा मिला हुआ उसका मानव-जीवन विषय-भोग और मौज-शौक में व्यतीत हो जाता है । उसमें हानि तो आत्मा की ही है न ? मानवभव का अन्तिम ध्येय तो मोक्ष प्राप्त करना है । मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अत्यन्त आवश्यक है । जब-तक इस रत्नत्रयी की प्राप्ति नहीं होती, तबतक अन्य सबकुछ प्राप्त होने पर भी मानव अपूर्ण है । इस (रत्नत्रयी) के विना मानवभव का चक्कर अपूर्ण है । इसके विना मानवभव का चक्कर निष्फल है । जिसे प्राप्त करके यहीं छोड़ देना है, उसको प्राप्त करने पर भी न प्राप्त करने के समान है ।

महान पुरुष कहते हैं कि "तुम प्राप्त करो, पर किसे प्राप्त करो ? आत्म-धन जितना प्राप्त कर सको, प्राप्त करो । ऐसा मौका फिर नहीं मिलेगा । अच्छी चीज पानी होगी तो खराब चीज को छोड़नी पड़ेगी ।" इसी प्रकार यदि तुम्हें धर्मरूपी धन प्राप्त करना हो तो बाह्य धन का मोह छोड़ना पड़ेगा । परन्तु आज तो स्थिति ऐसी हो गई है कि अच्छा चाहिए, पर खराब छूटता नहीं । साधन अच्छे मिले हैं परन्तु उनका सदुपयोग नहीं होता ।

साबुन लेकर वस्त्र धोओ तो वस्त्र साफ (स्वच्छ) हो जाता है, परन्तु अंधेरे में कोयले को साबुन मानकर घंटों तक कपड़े पर घिसते रहो तो कपड़ा उजला होगा या काला ? कपड़ा कितना मसला है ? इसे कोई पूछनेवाला नहीं है, किन्तु साधन कौन-सा इस्तेमाल किया ?, यह पूछा जाता है । मेहनत कितनी की ? यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु साधन कैसा इस्तेमाल किया है ? यह महत्त्वपूर्ण बात है । साधन हल्का है, तो मेहनत बेकार गई । साधन मलिन है तो कार्य-शुद्धि नहीं होती । शुद्ध और सिद्धि का आधार साधनों पर है । साधन तो जगत् में बहुत हैं, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति के लिए तो पूर्वोक्त

तीन साधन उपयोगी हैं । मानव साधक है, मोक्ष मानव का साध्य है और सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीन साधन हैं । मोक्षरूप साध्य को साधने (पाने) के लिए ये तीन साधन अवश्य चाहिए । इन तीनों में से एक को भी छोड़ दिया जाए, तो मोक्ष मिलना दुर्लभ है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में काशीदेश के शंखराजा की बात चल रही है । उन्होंने भी मल्लीकुमारी की मांग करने के लिए दूत को बहुत सम्पत्ति देकर मिथिला नगरी में कुम्भकराजा के पास भेजा है । इस प्रकार चार (पूर्व) मित्रों की बात पूरी हो गई । अब पाँचवें (पूर्वमित्र) राजा की जात शुरू हो रही है ।

उस काल और उस समय में कुरु नाम का जनपद (देश) था । उसमें हस्तिनापुर नाम का नगर था । उसमें अदीनशत्रु नामक राजा थे, वह सुखपूर्वक राज्य करते थे । अदीनशत्रु-राजा को किस प्रकार मल्लीकुमारी की पहचान हुई, यह बात शास्त्रकार कहते हैं -

'तत्थ णं मिहिलाए कुंभगस्स पुत्ते पभावईए अत्तए मल्लीए अणुजाणए मल्लदिन्नए नाम कुमारे जाव जुवराया यावि होत्था ।''

उस मिथिला नगरी में कुम्भकराजा का पुत्र, प्रभावती महारानी का आत्मज और मल्लीकुमारी का अनुज मल्लिदिन्न नामक कुमार था, यानि प्रभावती रानी की कुक्षि से उत्पन्न तथा मल्लीकुमारी का छोटा भाई मल्लिदिन्नकुमार था । वह बड़ा होने पर पढ़-लिखकर पुरुषों की ७२ कलाओं में निष्णात हुआ तथा राजनीति में भी बहुत कुशल था । इसलिए राजा ने उसे युवराजपद पर स्थापित किया ।

एक बार मल्लिदिन्नकुमार को कुछ नवीन कार्य करने की इच्छा हुई । इसलिए उसने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाए और बुलाकर इस प्रकार आदेश दिया (कहा) -

"गच्छहणं देवाणुप्पिया ! तुब्भे मम पमद-वणंसि एगं महं चित्तसभं करेह, अणेग-खंभ-सयसण्णिविट्ठं ।"

"हे देवानुप्रियों ! तुम मेरे प्रमदवन में जाओ और उसमें एक बड़ी चित्रसभा तैयार करो, वह चित्रसभा सैकड़ों सोने के स्तम्भोंवाली बनाना । उन स्तम्भों में चमकती हुई बहुमूल्य मणियाँ जड़ना कि उन मणियों के प्रकाश से देखनेवाले की आँखें चुंधिया जाय तथा चित्त में आह्लाद उत्पन्न हो, ऐसी सभा बननी चाहिए । तथा उन मणियों द्वारा उसके खंभों में विभिन्न प्रकार के शिल्प की रचना करना, ताकि उसे देखने आनेवाले (दर्शक) भी दो घड़ी स्तब्ध हो जाएँ अथवा देखने के लिए दो घड़ी रूक जाएँ ।" ऐसी सुन्दर चित्रसभा बनाने की कौटुम्बिक पुरुषों को आज्ञा दी । देखा जाय तो ऐसे बड़े राजा-महाराजाओं के काम लोग उत्साह और रुचिपूर्वक करते हैं । मनुष्यों से काम करने की भी एक कला होती है । बड़े आदमी खुश हो जाय तो काम करनेवाले का काम हो

जाता है। अर्थात् - उसकी जिंदगीभर का दारिद्रय मिट जाता है। इसलिए आदमियों को बड़े आदमियों का काम करने की उमंग होती है। परन्तु अगर संकुचित हो तो कोई भी व्यक्ति काम नहीं करता। एक छोटे-से बालक को भी आप दश चक्कर खिलाने होंगे तो, वह उत्साह और रुचिपूर्वक खाएगा, बशर्ते कि आप हाथ पोला करेंगे तो। अगर हाथ पोला नहीं होगा, तो अपना अंगजात भी तुम्हारा काम नहीं करेगा। अगर मनुष्य उदारदिल का होगा तो उदार रास्ते चलेगा। व्यक्ति भी उत्सुकतापूर्वक आपका काम उत्साहपूर्वक करेगा। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को आशा होती है। किसी भी प्रकार की आशा या तृष्णा से रहित तो कोई विरले ही सज्जन पुरुष होते हैं, जो परमार्थ का कार्य करते हैं। किसी अभाव-पीड़ित, निर्धन या दुःखी का कार्य करने को प्रायः लोग तैयार नहीं होते। ऐसी निःस्वार्थ सेवा करनेवाले बहुत थोड़े लोग होते हैं।

एक बार कृष्ण वासुदेव अरिष्ट नेमिनाथ भगवान् के दर्शनार्थ जा रहे थे। उस समय रास्ते में एक जरा जर्जरित वृद्ध पुरुष ईंटों के ढेर में से एक-एक ईंट उठाकर घर के अंदर रख रहा था। उसको देखकर कृष्ण वासुदेव को अनुकम्पावश हाथी से नीचे उतर ईंटों के ढेर में से एक ईंट उठाई। यह देखते ही साथ में चलनेवाले सेवकों, राज-कर्मचारियों आदि ने टपोटप ईंटे उठाकर वृद्ध के घर में रख दी। अल्प समय में ही वृद्ध का काम हो गया। गुजराती में एक कहावत है - *'नमे आंबा ने आंबली'* आम के वृक्ष पर ज्यों-ज्यों फल आते जाते हैं, त्यों-त्यों वह झुकता (नमता) जाता है। वैसे ही गुणवान और सज्जन मनुष्य के पास ज्यों-ज्यों सम्पत्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वह नम्र बनता जाता है। इस संसार में जीव को दुःखी करनेवाला कोई हो तो वह है - अभिमान, गर्व या मद। मेरी बहनों में प्रायः मोह है, ममता है और माया है। ममता के कारण बहनें यों मानती हैं कि बहू आ जाने के बाद निश्चितता से धर्म-ध्यान करूँगी, परन्तु उनका यह स्वप्न साकार नहीं होता। एक विनोदप्रद दृष्टान्त याद आ गया।

एक सेठ-सेठानी के बहुत मिन्नत के बाद एक लाडला बेटा हुआ था। वह पढ़-लिखकर होशियार हुआ। अतः सेठानी कहने लगी - "अब तो मेरे बेटे की जल्दी ही शादी करनी है।" बहनों को बहू लाने का बहुत चाव होता है। इन सेठ-सेठानी ने भी बेटे की शादी निश्चित कर ली। बड़ी बरात लेकर बेटे का विवाह कराने के लिए गए। बहुत ही धूमधाम से पुत्र का विवाह हो गया। पुत्र विवाह करके घर आया। सेठानी के मन में आज अपार हर्ष था। विवाह के अवसर सगे-सम्बन्धी सभी आए थे। मधुर गीत और वाद्य के साथ वर-वधू की अगवानी हुई। पुत्र और पुत्रवधू विवाहित होकर मांगलिक गृह-प्रवेश करने को आए। सासुजी ने सहर्ष वधू-सहित वर (विवाहित पुत्र को) परछ्र (पोंखा)। परछ्ते-परछ्ते सासुजी (पुत्र की माँ) ने मारवाड़ी भाषा में एक गीत ललकारा -

"छेल-छबीली रंग-रंगीली, बहू जी भारी शाणी ।
रोटी करेगी, पाँव दाबेगी, भर लावेगी पाणी ।।"

भावार्थ यह है कि मेरी बहू तो बहुत ही सुन्दर और सयानी है । यह मेरे घर का सब भार उठा लेगी । यानि रसोई करेगी, इसलिए रसोई घर का सब काम संभाल लेगी । रात को मेरी पगचंपी करेगी । पनघट से पानी भरकर लाएगी । (हँसाहँस) सासुजी का गीत बहूजी ने भलीभांति सुना । बहू मन में सोचा - 'यह तो भारी हुई । मैं तो यह सोचती थी कि धनाढ्य के घर में विवाह करके जा रही हूँ, वहाँ तो रसोइया और नौकर (घर का काम करनेवाला घाटी) जरूर होगा । मुझे तो कुछ भी काम नहीं करना पड़ेगा । मैं तो हिंडोले पर बैठकर झूलूंगी । परन्तु यहाँ तो घर में पैर रखने के साथ ही सासुजी ने रसोइये का, पनिहारिन का और दासी का सब काम सौंप दिया । ठीक है, मैं भी पानी आने से पहले पाल बांध दूं, फिर कुछ नहीं होगा । अतः सासुजी का गीत पूरा हुआ कि बहूजी ने अपना गीत मारवाड़ी भाषा में ललकारा -

नाचो मती ने कूदो मती, मती खीलो सासुजी फूला ।
थोड़ा दिनां को धीरज राखो, कर दूंगी दो चूला ।।

अर्थात्-इस नवागन्तुक बहू ने सोचा - आग लगे तब कुँआ खोदने कब जाऊँगी, युद्ध शुरू हो, तब सेना तैयार करने जाऊँ, इसकी अपेक्षा पहले से ही तैयारी कर लूं । फिर सासुजी मुझे कुछ भी कह न सकेगी । अतः धीरे से गीत गाती हुई बहू ने सासुजी को लक्ष्य में लेकर कहा - "ओ मेरी पगली और भोली सासुजी ! इतने नाचो और कूदो मत और इतनी क्यों फूल रही हो ? मुझे देखकर हर्षावेश में आकर बहुत नाचकूदी करने लगी हो, मगर जरा धीरज रखो । मैं कुछ दिन आपके साथ रहकर फिर अलग हो जाऊँगी । मैं आपके साथ रहूँ, तबतक (सासुपन का) सुख भोग लो । फिर ये सब काम आप ही किया करना ।" बहू का गीत जब सासुजी ने सुना तो बेचारी सासु को बहू लाने की उमंग (उल्लास या जोश) कम हो गई । (हँसाहँस) अरेरे ! मैं तो यह मानती थी कि बहू आएगी तो तो मुझे सब कामों से छुट्टी मिल जाएगी । उसके बदले बहू रानी ने आते ही अलग होने की बात कह दी । आज अधिकांश परिवारों में ऐसा ही चल रहा है । क्यों बहनों ! ठीक है न ? (हँसाहँस) (जवाब - लगभग ऐसा ही है)

मेरी बहनों ! सासु बनने का चाव करती हो, पर देखो, (एकदम अपेक्षा मत रखो) उक्त बहू ने क्या कहा था कि मैं थोड़े ही दिनों में दो चूल्हें कर दूंगी । घर में, परिवार में अगर अच्छी बहू आती है तो वह दो चूल्हे हों तो एक करा देती है, दो दिल अलग-अलग हों तो एक दिल करा देती है, कुसंप (झगड़ा) हो तो संप (मेल) करा देती है । इसके विपरीत खराब बहू आती है तो आने के साथ ही अपने पति को लेकर अलग हो जाती है, एक चूल्हे के दो चूल्हे करा देती है । यह है तुम्हारा (गृहस्थ-) संसार, जिसमें (यों देखो तो) कोई सार नहीं है । फिर भी न मालूम क्या सुख मानकर बैठे हो ? जैसे बच्चा अंगूठा

चूसता हुआ, अपनी लार को ही माँ का दूध मान लेता है। वैसे ही इस संसार में अज्ञानी जीव निःसार होते हुए भी संसार को सारभूत मान लेता है, संसार में सुख न होते हुए भी भौतिक-सुख के भ्रम में पड़कर उसे सच्चा सुख मान लेता है। ऐसे अंधेरे में, भ्रम में कहाँ तक रहोगे ? इसे समझ-बूझकर सांसारिक ममता छोड़ोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा, सच्चा सुख मिलेगा।

मल्लदिन्नकुमार ने प्रमदवन में एक चित्रसभा बनाने को कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया। अतः उन्होंने उत्साह-पूर्वक मल्लदिन्नकुमार की आज्ञानुसार सुन्दर चित्रसभा तैयार की और कुंवर को वापस खबर दी कि "हमने आपकी आज्ञा के अनुसार प्रमदवन यानि गृहोद्यान (अन्तःपुर के उद्यान) में आपका मन प्रसन्न हो, इस प्रकार से हमने चित्रसभा तैयार कर दी है।" इस प्रकार कौटुम्बिक पुरुषों के कहने पर मल्लदिन्नकुमार ने कुशल चित्रकारों को बुलाकर इस प्रकार कहा -

"देवानुप्रियों ! तुम इस चित्रगृह को हावभाव, विलास और बिब्बोकवाले चित्रों से चित्रित करो और यह चित्रकार्य जब पूरा हो जाए, तब मुझे खबर (सूचना) देना। उसके पश्चात् चित्रकारों ने कुमार की बात को *'तहत्ति पडिसुणेइ'* तथाऽस्तु कहकर स्वीकार किया। तत्पश्चात् वे चित्रकार अपने-अपने घर गए। घर जाकर अपनी-अपनी तूलिकाएँ पाँच प्रकार के रंग तथा उन रंगों में डालने के दूसरे द्रव्य इत्यादि सब साधन-सामग्री लेकर जो चित्रसभा तैयार की गई थी, उस सभा में आए। सभा में प्रवेश करके चित्रकारों ने सर्वप्रथम यह निश्चित किया कि कहाँ कौन-सा चित्र कहाँ बनाना है ? किसको कहाँ (किस जमीन पर) कौन-सा भाव चित्रित करना है ? यों निश्चित करके अलग-अलग विभाग तय किये। जिस-जिसको जिस विभाग में चित्र बनाना था, उस-उस चित्रकार ने अपने विभाग की भूमितल घिसकर, धोकर स्वच्छ एवं समतल बनाया। इस प्रकार चित्र बनाने योग्य भूमि को समतल बनाकर हाव, भाव, विलास एवं बिब्बोक से युक्त सुन्दर चित्र बनाने में वे जुट गए। ये सब चित्रकार चित्रकला में कुशल थे। उनमें एक चित्रकार विशेष कुशल था। उसमें पहले से एक असाधारण चित्रलब्धि (चित्र बनाने की विशिष्ट शक्ति) थी। वह चित्रकला में अत्यन्त प्रवीण था। चित्रकला का विशिष्ट अभ्यासी था। वह चित्रकार किसी भी स्त्री, पुरुष वगैरह मनुष्य का, गाय-भैंस आदि चौपाय जानवरों का, अथवा सर्प, नेवला आदि अपद प्राणियों का, या फिर वृक्ष, बेल, पौधे आदि अपद वगैरह का कोई एक भाग देख लेता और तदनन्तर तदनुसार हूबहू चित्र बना लेता था।

---

* हावभाव आदि साधारणतया स्त्रियों की चेष्टाओं को कहते हैं। इनमें परस्पर अन्तर यह है - हाव यानि मुख का विकारभाव यानि चित्र का विकार और विलास यानि नेत्र का विकार। बिब्बोक का अर्थ है - इष्ट वस्तु की प्राप्ति के अन्तर उत्पन्न होनेवाले अभिमान का भाव। -सं.)

देखने के लिए तो दूर-दूर से लोग आते हैं । तू गरीब परदेशी इस वन से अपरिचित है । अतः तेरे हित के लिए कहता हूँ कि तू यहाँ से शीघ्र चला जा । नहीं तो, अभी भानुकुमार और उसके सुभट आयेंगे, वे तेरे घोड़े छीन लेंगे और तुझे मारेंगे ।" तब उसने वनपाल से कहा - "तेरी बात सही है । परन्तु तुम सबको एक सरीखे मत समझना । दूसरे घोड़ों में और मेरे घोड़ों में अन्तर है । मेरे घोड़े शिक्षित और तालीम पाये हुए हैं । वे तुम्हारे वन के फल-फूल नहीं खायेंगे, वे केवल घास ही चरेंगे ।" इतना कहने पर भी वनपाल वन में घुसने देने से आनाकानी करने लगा, तब प्रद्युम्नकुमार ने अपनी अंगुलियों में से एक अंगूठी निकाल कर उसे दे दी ।

'देखे पीळुं ने मन थाय शीळुं' इस कहावत के अनुसार वनपाल को अंगूठी मिली, इस कारण उसका मन ढीला हुआ । उसे लगा कि '(ये घोड़े) केवल घास खायेंगे, तो इसमें क्या नुकसान होनेवाला है ?' अतः वनपाल ने कहा - "देखना, भाई ! ये घोड़े घास के सिवाय और कुछ भी न खाएँ । अगर एक भी फल या फूल खायेंगे तो मेरा और तुम्हारा दोनों का आ बनेगा । दोनों पर आफत आ जाएगी ।" तब अश्वरक्षक ने कहा - "तुम्हारे वन का कुछ भी नुकसान नहीं होने दूंगा, तुम विश्वास रखो ।" यों कहकर उसने (प्रद्युम्न ने) घोड़ों को सत्यभामा के वन में प्रविष्ट करा दिया । ये कोई सामान्य अश्व नहीं थे । विद्या के बल से बनाये हुए थे । इसलिए वे घोड़े अंदर जाकर सत्यभामा के वन में से मीठे फल, फूल, वृक्ष-लताएँ और पत्ते आदि सब खा गए । उसका सारा वन उजाड़ डाला । फिर वे वहाँ के कुँए, तालाब और बावड़ी का सब पानी पी गए । इस कारण वन में जो कुँए, तालाब और बावड़ी आदि जलाशय थे, वे सब सूख गए । इस प्रकार नगर के बाहर के वन में क्रीड़ा करके प्रद्युम्नकुमार अपनी विद्या के द्वारा रचित माया को समेट कर नगरी में आया ।

नगरी में स्थित सत्यभामा के वन में प्रविष्ट वानर दल : मदन(प्रद्युम्न)कुमार ने द्वारिका नगरी के बाहर की शोभा देखते-देखते उसके अंदर की शोभा देखने के हेतु से नगरी में प्रवेश किया । वहाँ उसने अनेक प्रकार के वृक्षों से सुशोभित मनोहर वन को देखकर सोचा - 'अहो ! यहाँ देवलोक से नन्दनवन पृथ्वी पर उतरा है क्या ?' अतः उसने विद्या से पूछा - "ऐसा रमणीय मन को आह्लादित करनेवाला यह वन किसका है ?" तब उसने कहा - "आपकी माता रुक्मिणी की मुख्य सौत सत्यभामा का यह सुन्दर वन है ।" यह सुनकर प्रद्युम्न ने विद्या के प्रभाव से अपना रूप चाण्डाल जैसा बना लिया और एक बनाया-महाकाय वानर । उस वानर को लेकर वह वन के निकट पहुँचा । वहाँ जाकर वनपालक से कहा - "भाई ! मेरा यह वानर बहुत ही भूखा है, अतः उसे एक फल खाने को दो ।" वनपालक ने कहा - "तू जाति का चाण्डाल है और साथ में एक भयंकर बंदर को लेकर आया है । तेरा मुख भी बंदर जैसा भयावना मालूम हो रहा है और तेरी बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई लगती है । तुझे इतना भी पता नहीं है

कि यह वन तो कृष्ण महाराजा की अत्यन्त प्रिय पटरानी सत्यभामादेवी का है । इस वन में प्रवेश करना भी तेरे लिए दुर्लभ है । तब फिर उसका फल तुझे कहाँ से, कैसे मिल सकता है ?'' तब मदन(प्रद्युम्न)कुमार ने कहा - ''चाहे जो हो, तुम स्त्री के सेवक हो न, इसलिए तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई मालूम होती है । फिर भी पुनः तुमसे कहता हूँ कि तुम मेरी एक बात सुनो । मेरा यह बंदर सुन्दर खेल करता है, किन्तु इसे अभी भूख लगी है । अगर तुम इस वन में इसे फल खाने दोगे, तो वह उसे खाकर पुष्ट होगा और बाजार में इसके खेल दिखाकर धन कमाऊँगा तो उसमें से तुम्हें भी इनाम दूंगा ।'' किन्तु किसी ने फल नहीं दिया । इस पर प्रद्युम्न ने कहा - ''तुमलोग बहुत ही कठोर हृदय के हो । मेरे भूखे बंदर को एक फल भी देते नहीं । तो अब तुम भी देख लेना, यह वृक्ष पर चढ़कर बहुत-से फल खा लेगा ।'' यों कहकर उसने विद्या के बल से वैक्रियशक्ति से युक्त वानर छोड़ दिया । जैसे ही वानर वन में प्रविष्ट हुआ, वैसे ही वनरक्षक उसे मारने दौड़े । इतने में तो वहाँ विद्या के बल से हजारों बंदर इकट्ठे हो गए और सत्यभामा के वन को लंका में स्थित वन की तरह खेदान-मेदान कर डाला । उसके पश्चात् चाण्डाल का रूप त्याग कर वापस नगरी में घूमने लगा ।

भानुकुमार के विवाह में विघ्न : प्रद्युम्नकुमार ने अब द्वारिका नगरी में दूसरे दरवाजे से प्रवेश किया । वहाँ उसने एक सोने का रथ देखा । उस रथ में बैठकर नारियाँ मंगलगीत गा रही थीं । रथ पर ध्वजा फरक रही थी । कुछ महिलाएँ रत्नजटित मंगलकलश मस्तक पर लेकर रथ के साथ-साथ चल रही थीं । यह देखकर प्रद्युम्नकुमार ने अपनी विद्या से पूछा - ''विद्यादेवी यह रथ किसका जा रहा है ?'' इस पर विद्या ने कहा - ''सत्यभामा के पुत्र भानुकुमार का विवाह है । इसलिए ये महिलाएँ कुम्भार के यहाँ चाक-पूजन के लिए उत्साहपूर्वक जा रही हैं ।'' भानुकुमार के विवाह की बात सुनकर प्रद्युम्नकुमार का माथा ठनका । उसने मन में सोचा - 'ठीक, तब मैं इस विवाह में विघ्न पैदा करूँ, तो सत्यभामा का भी जरा आनन्द आएगा । चलूं, जरा मजाक करूँ ।' यों सोचकर प्रद्युम्नकुमार ने विद्या के बल से बेडोल रूप बनाया । फिर एक मायावी रथ बनाकर उसमें एक तरफ ऊँट और दूसरी तरफ गधे को जोतकर वह स्वयं रथ को हांकने लगा । यह विचित्र दृश्य देखकर लोग कहने लगे - ''देखो तो सही । यह किस प्रकार का रथ है ? और इसे हांकनेवाला भी कैसा बुद्धू है ?'' यों कहकर उसकी मजाक उड़ाने लगे । यह तो जो पूर्वोक्त विवाह का रथ आ रहा था, उसके सामने अपने बैडोल रथ को लेकर गया । तब लोग फिर कहने लगे - ''देखो तो सही, कहाँ यह स्वर्णरथ और कहाँ यह बेडौल टूटा-फूटा रथ ? क्या देखकर यह बेडौल रथ उस रथ के सामने जाता होगा ?'' यह उस रथ के सामने अपना बेडौल रथ लेकर गया, तब राजा के आदमी कहने लगे - ''अबे ! तेरे रथ को एक बाजू ले जा और इस सत्यभामा के रथ को जाने दे ।''

प्रद्युम्नकुमार ने मचाया तूफान : तब यह कहने लगा - "यह सत्यभामा फि कौन है ?" राज्यकर्मचारियों ने कहा - "यह कृष्ण महाराजा की पटरानी है ।" वह बोल - "तो मैं कृष्ण का पुत्र हूँ । मैं क्यों रथ न चलाऊँ ?" (हँसाहँस), तब सबलोग कह लगे - "हाँ, तूं ही कृष्ण का पुत्र है न ?" यों कहकर सभी उसे धमकाने लगे । इत में तो बहुत तेजी से रथ को उसके सामने ले जाकर उक्त स्वर्णरथ के साथ जोर टकराया । फलतः सारे कलश नीचे गिर गए, वे सब चूर-चूर हो गए । कुछ महिलाअ के दांत टूट गए । किसी के कंगन टूट गए तो किसी के कपड़े फट गए । किसी-किस की हड्डियों पर चोट आई । किसी महिला का नाक कुचला गया, किसी के होठ क गए, तो किसी के कान कट गए । यह दुर्दशा देखकर सभी महिलाएँ रोने लगीं । जह एक क्षण पहले मंगल गीत गाये जा रहे थे, वहाँ अब करुण रुदन होने लगा । घड़ भर में ऐसी तमाम धांधली मचाकर अन्त में सारी माया समेट ली । वहाँ खड़े हुए दर्शक के मन में विचार हुआ कि यह सब अब कहाँ गायब हो गया और क्या हो गया यह लोग कहने लगे कि 'अवश्य ही यह किसी देव, असुर एवं खेचर की माया है ।' अथव 'यह कोई इन्द्रजाल मालूम होता है । उसके बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है ।' यों लोग तरह-तरह के विकल्प करने लगे । अब प्रद्युम्नकुमार नगरी में आगे जाएगा और वह क्या बनाव बनेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - १२

आसो वदी ३, रविवार — ता. १०-१०-७६

धर्म का परिपूर्ण रूप : निर्दोष आचार में

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तकरुणा के सागर, त्रैलोक्य-प्रकाशक, वीतराग-भगवन्तों ने जगत् के जीवों के उद्धार के लिए आगमवाणी प्रतिपादित की । उन भगवन्तों ने पहले जीवन में स्वयं उन सतत्त्वों को आचरण में लाकर फिर वाणी के रूप में प्रकट की । क्योंकि भगवन्त ने मानव-जीवन में आचार को प्राथमिकता दी है - *"आचारः प्रथमो धर्मः"*-जीवन में पंचविध आचार को शुद्ध रखना, शुद्ध और सम्यक्रूप से पालन करना, सबसे बड़ा धर्म है । जिसका आचरण पवित्र, शुद्ध और निर्दोष होता है, वह व्यक्ति संसार में सम्माननीय, पूजनीय और प्रशंसनीय बनता है । संसार में कितने ही लोग धनसम्पन्न होते हैं, कई लोग सत्ता-सम्पन्न होते हैं, तो कई रूप-सम्पन्न होते हैं, किन्तु अगर ये आचारसम्पन्न

न हों तो इसका रूप, धन, सत्ता सब बेकार है। जैसे किसी व्यक्ति की तिजोरी बहुत मजबूत और सुन्दर हो, किन्तु अन्दर धन न हो, वह खाली हो, उसकी कोई कीमत नहीं होती। उसकी कीमत कब होती है? जब अन्दर धन या सोना, चांदी, हीरे, माणिक आदि जवाहरात हों, या बहुमूल्य गहनें हों। उसी प्रकार मानव-जीवन की कीमत कब? शुद्ध आचरण हो तो। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन पर संयम नहीं रखता उसकी कोई कीमत नहीं है। जैनदर्शन में तीन प्रकार का योग बताया गया है - मनोयोग, वचनयोग और काय-योग। मनोयोग का कार्य है - चिन्तन-मनन करना, विचार करना। फिर मनुष्य उत्तम विचार करे या अधम विचार करे। अथवा किस कार्य को कैसे, किस ढंग से करना, यह भी मन द्वारा किया जा सकता है। मन द्वारा किसी भी कार्य को करने का निश्चय या विचार किया, उस विचार को वाणी द्वारा प्रकट किया या बोला जा सकता है। अपनी बात दूसरे को बोलकर समझाई जा सकती है। अगर मन में कोई विचार, चिन्तन नहीं हो या न आए तो उसे वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता, बोला नहीं जा सकता, क्योंकि वाणी में विचार करने की शक्ति नहीं है। मन में विचार आया कि मुझे यह कार्य करना है, तत्पश्चात् उसे वचन द्वारा कहा या बोला जाता है, तदनन्तर वह कार्य किया जाता है। जबतक विचार आचरण में नहीं आता, तबतक तदनुसार वह कार्य नहीं होता। 'महाभारत' में भी आचार का महत्त्व समझाते हुए कहा गया है -

आचार-लक्षणो धर्मः, सन्तश्चारित्र लक्षणा।
साधूनां च यथावृत्त, मेतद् आचार-लक्षणम्॥

धर्म का असाधारण रूप आचार है। एक वाक्य में कहे तो धर्म का परिपूर्ण रूप आचार है। सदाचार से युक्त पुरुष संत है। साधुओं-संतों का जो तथानुरूप वृत = आचरण है, - सदाचार से युक्त जीवनक्रम है, वही आचार है। चूंकि सदाचार सोना है, असद् आचार या दुराचार कथीर है। सदाचार स्वर्ग का (और अन्त में मोक्ष का) द्वार है और दुराचार, असद् आचार या इसीका उत्कट रूप व्यभिचार दुर्गति का, दुर्गति का और उत्कट रूप हो तो नरक का द्वार है। दुःखों का दलदल है। सदाचार मानव-जीवन का श्रृंगार है, दुराचार या असदाचार, सदाचार को जला देनेवाला अंगार है। सदाचार सुख का खजाना है, जबकि दुराचार दुःखों का पहाड़ है। सदाचार सच्ची धनाढ्यता है, दुराचार दरिद्रता है। सदाचार सच्ची विद्वत्ता है, जबकि दूराचार मूढ़ता या कोरी मूर्खता है। सदाचार जीवन का सच्चा भूषण है, जबकि दुराचार महादूषण है। सदाचार सच्चा मित्र है, दुराचार कट्टर शत्रु है। सदाचाररहित जीवन विटामिन से रहित भोजन के समान है। इसीलिए भगवान् ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान से युक्त चारित्र को सद्-आचार बताया है, उसीको परम-गुणरूप बताकर मोक्षप्राप्ति का कारण बताया है। इसके विपरीत '*अगुणिस्सनत्थि मोक्खो*' चारित्र गुण से रहित को मोक्ष नहीं होता, यह प्रतिपादित किया है। इसीलिए शास्त्रों में यत्र-तत्र-आचार का महत्त्व बताया गया है।

जीवन में दान, व्रत, शील, तप, त्याग, प्रत्याख्यान, संयम, नियम आदि अनेकविध बाह्य आचार होने पर भी आन्तरिक शुद्धि, निर्दोषता, निरतिचारता न हो; यानी शुद्ध आचार न हो तो श्रेय नहीं हो सकता। एक रूपक द्वारा इस तथ्य को समझाती हूँ - मान लो, एक मनुष्य ने सुन्दर भव्य मकान बनाया, उसमें यथास्थान दरवाजे, खिड़कियाँ, रोशनदान, दीवार, अलमारियाँ आदि सब रखवाए। बड़ा कम्पाउन्ड बनवाया, मकान में कई प्रकार के फर्निचर, सोफासेट, फ्रिज आदि की भी व्यवस्था की, महान पुरुषों के, बुजुर्गों के फोटो (चित्र) भी लगवाएँ, किन्तु इन सब के बावजूद मकान पर छत न हो, या ऊपर छप्पर न हो तो सुरक्षा के जिस प्रयोजन से मकान बनवाया, वह प्रयोजन तो सिद्ध नहीं हो सकेगा। छत या छप्पर से रहित मकान क्या शर्दी, गर्मी, बरसात या आँधी, तूफान आदि से रक्षण कर सकता है? नहीं कर सकता। इसी प्रकार मन से शुभ या शुद्ध (संवर-निर्जरा का) विचार किया, वचन द्वारा उसे प्रगट किया, किन्तु जबतक उसका आचरण करके जीवन में उतारा नहीं, तबतक यथेष्ट कार्य हो सकता है, क्या ? इसी प्रकार आत्मकल्याण के लिए आचरण की अवश्य जरूरत है। किसी ने प्रश्न पूछा कि - "ग्यारह अंगों का सार क्या है ?" उत्तर में कहा गया - "अंगों (अंगशास्त्रों) का सार आचार (आचरण) है।" फिर पूछा गया - "आचार का सार क्या है ?" जवाब में कहा गया - *"अंगूहो गत्थो सारम्"* अर्थात् भगवन्तों ने फरमाया कि "जिस अंग (अंगशास्त्र) आदेश को पढ़ा, जिसका श्रवण किया तथा जिसे धर्मशास्त्रों से जाना, उस पर चिन्तन करना, फिर जिनेश्वर भगवान की आज्ञा आगे रखकर उसके पीछे चलना।" इस प्रकार जिनेश्वर-प्रभु की आज्ञा का पालन करना, यह आचार का सार है। तदनन्तर तीसरा प्रश्न किया - "उसका (आचार का) सार क्या है ?" उत्तर में कहा - "आचार का सार प्ररूपणा है।" अर्थात् -पर (दूसरे) को उपदेश देना। क्योंकि हम यदि भगवान की आज्ञानुसार चलें तो हमें लाभ होगा, पर दूसरों का क्या लाभ हुआ ? इसलिए भगवान की आज्ञा का स्वयं पालन करके तदनुसार चलकर दूसरों के हृदय में भगवान की वाणी को समझाकर उसके प्रति श्रद्धा कराना, कुमार्ग पर से सन्मार्ग पर चलाना, यही स्वयं के समझने की सार्थकता है। दूसरे मनुष्यों को वीतरागवाणी द्वारा (तत्त्व) समझाकर धर्म (आत्मधर्म) में स्थिर करना, यही है प्ररूपणा का सार। अब दूसरी गाथा में कहा गया है -

"सारं प्ररूपणा चरणं, तस्स विय होई निव्वाणं।
निव्वाणस्स उसारो, अव्वाबाहं जिणाहुत्ति ॥"

"प्ररूपणा का सार क्या है ?" उसके उत्तर में ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "चरण, यानि आचरण करना। अर्थात् चारित्र का पालन करना।" चारित्र का सार है - निर्वाण = सर्वकर्ममुक्त होकर परमशान्तिरूप मोक्ष पाना। और मोक्ष (निर्वाण) का सार है - अव्याबाध सुख। कारण यह है कि मोक्ष में जाने के बाद आत्मा को किसी प्रकार का

ख नहीं रहता (होता), किसी प्रकार की बाधा-पीड़ा नहीं रहती, क्योंकि शरीर ही बाधा-ड़ा का स्थान है। जहाँ (सिद्धों के) शरीर ही नहीं होता, वहाँ बाधा-पीड़ा कहाँ से होती ?

बन्धुओं ! तुम्हें अव्याबाध सुख (परम आनन्द) और परम शान्ति चाहिए तो चारित्र ा पालन करो। क्योंकि समस्त दुःखों का अन्त करके अक्षय-सुख और शान्ति देनेवाला गर कोई हो तो वह है - निरतिचार चारित्र। संत-सती भगवान् की आज्ञानुसार निर्मल ारित्र का पालन करके ग्रामानुग्राम विहार करके अनेक जीवों को प्रतिबोध प्राप्त राते हैं।

संत-समागम का दृष्टांत : एक सेठ संत-समागम करते थे, धर्मध्यान करते थे, ोगों में उसकी ऐसी छाप थी कि सेठ बहुत धर्मात्मा है। किन्तु सेठ के अन्तर में क गुप्त पाप घर करके बैठा था। उसका जहरीला कांटा उनके अन्तर में खटकता ता था। वह समझते थे कि मानव सबसे छूट सकता है, किन्तु मृत्यु और पाप से छूट हीं सकता। इस कारण उन्हें अपने पाप का दंश बहुत चुभता रहता था। उनके मन यह विश्वास था कि मेरी बात को कोई गुप्त रखें, ऐसे कोई संत मिल जाएँ, तो मैं पने पाप का प्रायश्चित्त कर लूँ।' यों विचार कर रहे थे कि संयोगवश कोई अच्छे द्वान और पवित्र संत पधारे। सेठ उनके परिचय में आने लगे और उनके समक्ष पनी धर्मिष्ठता और पवित्रता का डोल बताने लगे। सामनेवाले को ऐसा ही मालूम ता था कि सेठ बहुत पवित्रात्मा है।

एक दिन सेठ एकान्त में संत के पास पहुँचे। संत को वन्दना-नमस्कार करके हा - "गुरुदेव ! मुझे आपसे एक प्रायश्चित्त लेना है।" संत ने कहा - "भाई ! तुमने सा कौन-सा पाप किया है, जिसका तुम्हें प्रायश्चित्त लेना पड़े ?" "गुरुदेव ! प्रायश्चित्त सामान्य है, मुझे पाप का बहुत डर लगता है, और आप सागर के समान अत्यन्त म्भीर हैं। आप सरीखे गम्भीर आचार्य के पास प्रायश्चित्त ले लेने से मेरा अन्तरात्मा शुद्ध जाएगा।" संत ने कहा - "प्रायश्चित्त देना महान आचार्य का काम है। मैं अभी छोटा त हूँ।" सेठ बोले - "गुरुदेव ! मेरे लिए तो आप भगवान् हैं, आप ही मुझे प्रायश्चित्त दें।" सेठ का अत्याग्रह देखकर संत ने कहा - "अच्छा, कहो तुम्हारी दास्तान।" सेठ कहा - "गुरुदेव ! मेरा एक मित्र था, बहुत सरल, भद्रिक और सज्जन। एकाएक उसे क बीमारी लग गई। इलाज कराने पर भी वह ठीक नहीं हुई। तब उसे लगा कि मैं व अधिक जीवित नहीं रह सकूँगा। उसने मुझे २५ हजार रुपये दिये और कहा - 'देख त्र ! मेरा पुत्र अभी छोटा है। मैं अपनी पत्नी और बालक को तड़फते हुए छोड़कर इस निया को छोड़कर जा रहा हूँ। तुम मेरे जिगरी (दिलोजान) दोस्त हो। मुझे तुम पर पूरा श्वास है। अतः तुम ये रुपये संभालो और प्रतिमास इस रकम का व्याज इन माँ-बेटे ो गुजारे के लिए देते रहना। और जब मेरा पुत्र १८ वर्ष का हो जाए तब मूल पूंजी न्हें दे देना।' इतनी बात करके सेठमित्र इस नाशवान दुनिया को छोड़कर चल बसा। व गुरुदेव ! वे रुपये (२५ हजार) तो मेरे पास रहे। उस (मित्र) की पत्नी और बालक

विलाप करते रहे । दो-चार महीने तक तो घर में जो कुछ पड़ा था, वह खाया । अ
में, वे मेरे पास आए और कहने लगे - "आपके (मेरे) मित्र ने आपको देहान्त के समय
कुछ भी दिया हो तो हमें आजीविका के लिए दो ।" किन्तु 'देखे पीळुं ने मन थाय शीळुं'
इस कहावत के अनुसार मेरी नियत बिगड़ी, मैंने उनको (माँ-बेटे को) एक पैसा भी नहीं
दिया और न ही रकम का ब्याज दिया । मैं अपनी आँखों से देखता था कि वे माता-
पुत्र दोनों सख्त मजदूरी करके अपने पेट भरते थे । कई बार मैं ऐसे प्रसंग में भी देखता
था कि वे माँ-बेटा दोनों कभी-कभी दो-दो दिन तक भूखे रह जाते ।

यह दृश्य देखकर तो पाषाण-हृदय भी पिघल जाए, परन्तु मेरी बुद्धि सुधरी नहीं ।
अन्त में वह लड़का (मित्रपुत्र) जब १८ वर्ष का हुआ, तब वह किसी के यहाँ नौकरी
करने लग गया । वह बहीखाते लिखना सीखने लगा । फिर उसने अपने पिता की पुरानी
बहियाँ देखीं । उसके बही खातें में मुझे २५ हजार रु. देने की बात लिखी थी । इस
कारण वह लड़का अपनी पिता की बही लेकर मेरे पास आया । उसने मेरे नाम का
खाता बताया । मुझे उस रकम को देने के लिए बहुत आजीजी की, परन्तु मैंने उसे
टक्का-सा जवाब दे दिया और कहा - "कौन-सी रकम, कैसी रकम ? मेरे गले पड़ता है,
नालायक !" मैंने उस लड़के को मार-पीट करके भगा दिया । किन्तु अब मुझे मेरा वह
पाप कचोटता है कि मैंने यह काला पाप किया है, उसका फल मुझे अवश्यमेव
भोगना पड़ेगा । अतः आप मुझे इसका प्रायश्चित्त दें कि उसके दण्ड के रूप में मैं एक
हजार रुपये धर्मादा करूँगा और अपना यह पाप धो डालूँगा ।" यह सारी बात सुनकर
संत तो आश्चर्यचकित हो गए । अहो ! दुनिया में ऐसे धर्मढोंगी भी पड़े हैं ।

भक्त भगवान् के पास प्रार्थना करते हैं - "प्रभो ! जगत् तो मुझे बड़ा धर्मात्मा
मानता है, परन्तु मैं तो अन्तर में दम्भ करके बाहर से महान धर्मात्मा बनने का ढोंग कर
रहा हूँ । बेचारे गरीबों को लूटकर, अन्याय, अनीति, शोषण और ठगी तथा दगा-प्रपंच
करके उनका धन छीनकर, मैं धनवान बनकर सुख भोग रहा हूँ । मेरा अन्तर कितना
मलिन है, यह तो आप अन्तर्यामी परमात्मा के बिना कौन जान सकता है ।"

संत ने उससे कहा - "भाई ! ऐसा प्रायश्चित्त करके, लोगों से हजारों रुपये लूटकर
एक हजार रुपये का दान करके तुम्हें पाप को धोना है, यह कैसे हो सकता है ? सेठ !
तुम्हीं सोचो । याद रखना, और सब बातें छीपी रह सकती हैं, परन्तु पाप छिपा
हुआ नहीं रह सकता । जैसे - मिट्टी के घड़े में भरा हुआ नमक फूटकर निकल जाता
है, वैसे ही तुम्हारा यह पाप फूटकर निकल जाएगा । सेठ ! तुम ऐसा षड्यंत्र रचकर
प्रायश्चित्त लेने आए हो, उसमें भी मलिनता भरी हुई है ।" संक्षेप में, मुनि ने इस विषय
में आगन्तुक व्यक्ति को बहुत प्रतिबोध दिया, और सेठ का जीवन-परिवर्तन कराया ।
जीवन-परिवर्तन होने पर मित्रपत्नी को उसने ब्याजसहित पूरी रकम सौंप दी । इस प्रकार
शुद्ध हृदय से सेठ ने अपने पाप का प्रायश्चित्त किया । सच है, संत-समागम पापी को
भी पवित्र बना देता है । यह है - चारित्रवान् साधु के परिचय का परिणाम ।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

अब हम अपनी मूल बात पर आएँ। चित्रकर्मलब्धि प्राप्त चित्रकार कदाचित् राजमहल में किसी काम से गया होगा। तब उसने पर्दे के पीछे बैठी हुई मल्लीकुमारी के पैर का अंगूठा देख लिया था। इस कारण उसके मन में यह विचार स्फुरित हुआ कि सभी चित्रकारों ने अलग-अलग चित्र-विचित्र किये होंगे, अतः मैं हूबहू मल्लीकुमारी का चित्र आलिखित करूँ तो मेरी चित्रकला सफल हो। मल्लीकुमारी बहुत पवित्र है, दर्शनीय है, परन्तु राजकुमारी के प्रत्यक्ष दर्शन तो बहुत दुर्लभ हैं। अतः मैं उनका चित्र आलेखित करूँ तो वहाँ आनेवाले को पवित्र सती के दर्शन होंगे। ऐसा सुन्दर चित्र बनाने से राजा मुझ पर खुश होकर मुझे इनाम देंगे।' ऐसा विचार करके उसने मानो हूबहू जीती-जागती मल्लीकुमारी बैठी हुई हो ऐसा गुणयुक्त रूप चित्र अंकित किया। सभी चित्रकारों ने सुन्दर हावभाव-युक्त चित्र-विचित्र करके चित्रसभा तैयार की। जब कार्य पूर्ण हो गया तब सभी चित्रकार वहाँ आए, जहाँ मल्लदिन्नकुमार बैठे थे। वहाँ आकर उन्होंने निवेदन किया - "स्वामिन्! आपकी आज्ञानुसार हमने चित्रसभा तैयार की है।" इस प्रकार चित्रकारों के मुख से सुनकर मल्लदिन्नकुमार ने चित्रकार-श्रेणी (सभी चित्रकारों) का सत्कार किया। उनका सम्मान किया। सत्कार-सम्मान करके मल्लदिन्नकुमार ने उनकी आजीविका के योग्य पुष्कल-प्रमाण में बड़ा प्रीतिदान दिया। फिर सबको सम्मान के साथ बिदा किया।

बन्धुओं! प्राचीनकाल के राजा कितने उदार थे? मल्लदिन्नकुमार ने अभी तक चित्रसभा नहीं देखी कि वह कैसी बनी है? इस स्थान पर आपलोग हों तो क्या करेंगे? शायद यही कि चित्रकारों से यों कह दो कि "तुम अभी खड़े रहो। हम आँखों से देख लें कि तुम लोगों ने कैसा काम किया है? तुम्हारा जैसा काम होगा, तदनुरूप हम तुम्हें दाम देंगे।" किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं थी। कुमार ने उन चित्रकारों को पुष्कल धन दिया, ताकि उन्हें अपनी जिंदगी में कमाने (आजीविका) की चिन्ता न रहे, जिसे लेकर सभी चित्रकार हर्षित होकर अपने-अपने घर चले गए। चित्रकारों ने राजकुमार की आज्ञा का पालन किया, उससे उनका एक भव का दारिद्र्य मिट गया। इसी प्रकार यदि हम वीतराग-परमात्मा की आज्ञानुसार ठीक-ठीक चलें तो हमारा भी भव-भव का दुःख मिट जाय।

चित्रकारों को विदा करने के बाद एक दिन मल्लदिन्नकुमार ने विचार किया कि 'अब मैं चित्रसभा का निरीक्षण करने जाऊँ।' तत्पश्चात् किसी एक दिन मल्लदिन्नकुमार स्नान करके वस्त्राभूषण से विभूषित होकर अपने अन्तःपुर और परिवार को लेकर तथा अम्बाधात्री (धायमाता) के साथ जहाँ चित्रसभा थी, वहाँ आए। चित्रसभा में प्रवेश किया। प्रविष्ट होकर हाव-भाव-विलाससहित स्त्री, पशु, पक्षी आदि के चित्र लगा। चित्रकारों की चित्रकला देखकर उसे बहुत । 'अहो! **कैसे**

"तं माणं सामी ! तुब्भे तं चित्तगरं वज्झं आणवेह, तं तुब्भेणं सामी ! तस्स चित्तगरस्स अन्नं तयाणुरूवं दंडं निव्वतेह !"

"हे स्वामिन् ! आप इस चित्रकार को वध करने की आज्ञा को रद्द कर दें । आप इस चित्रकार को उसके अपराध के योग्य दूसरा कोई दण्ड दें ।"

सभी चित्रकारों ने कहा - "महाराजा ! सचमुख, ऐसी पवित्र सती मल्लीकुमारी का चित्र यहाँ अंकित नहीं किया जाना चाहिए था । ऐसी सतियों का चित्र ऐसी प्रदर्शनी में रखना उचित नहीं है । क्योंकि जो पवित्र सती कभी बाहर निकलती नहीं, किसी पुरुष का मुख नहीं देखती, उसका चित्र इस चित्रसभा में आनेवाले गंवार मजदूरवर्ग आदि सब देखें, यह उचित नहीं कहा जा सकता । यह हमारे चित्रकार की बहुत बड़ी भूल है । हमारा बड़ा अपराध है । हम अपराध स्वीकार करते हैं । आपसे माफी मांगते हैं । अतः आप इस चित्रकार को मौत की सजा तो मत दीजिए । दूसरी कोई सजा दें ।" इस प्रकार मल्लदिन्नकुमार का हृदय पसीज उठा । उसके वध करने की आज्ञा तो वापस खींच ली, परन्तु इसका अपराध है, इसलिए इसे सजा मिलनी ही चाहिए । इस प्रकार विचार करके दूसरी आज्ञा फरमाते हैं । तदनन्तर मल्लदिन्नकुमार ने मल्लीकुमारी का चित्र बनानेवाले चित्रकार के जांघें और जांघों के सांधे को कटवा डाला और उसे देशनिकाल की सजा की आज्ञा दी । तत्पश्चात् वह चित्रकार देश से बाहर जाने की आज्ञा सुनकर अपने घर आया और वहाँ बर्तन-भांडे आदि गृहोपकारी वस्तुएँ लेकर मिथिला नगरी से बाहर निकला । फिर विदेह जनपद के बीचोंबीच होकर *"जेणेव कुरुजणवए, जेणेव णाहत्थिणाउरेनयरे तेणेव उवागच्छइ !"* जहाँ कुरु जनपद था, और हस्तिनापुर नगर था, वहाँ गया । वहाँ जाकर उसने अपनी साधनसामग्री की सब वस्तुएँ उचित स्थान में रखी । फिर चित्रफलक (जिस पर चित्र बनाया जाता है उस पटिये) को स्वच्छ किया । उसके बाद रंग आदि का लेप किया । तत्पश्चात् चित्रकार के पैर के अंगूठे के अनुरूप विदेहराज-वरकन्या मल्लीकुमारी का हूबहू चित्र अंकित किया । उस चित्र को बगल में दबाकर बहुमूल्य भेंट साथ में ली । फिर हस्तिनापुर नगर के बीचोबीच होकर जहाँ अदीनशत्रुराजा थे, वहाँ गया । वहाँ दोनों हाथों की अंजलि मस्तक पर रखकर राजा को नमस्कार किया । तत्पश्चात् जय-विजय शब्दों से बधाकर उन्हें बहुमूल्य वस्तुओं की भेंट दी । फिर उसने राजा से इस प्रकार विनती की - "हे स्वामिन् ! मिथिला नगरी के राजा कुम्भक के पुत्र और प्रभावती रानी के आत्मज मल्लदिन्नकुमार ने मुझे देशनिकाला दिया है । इस कारण मैं यहाँ आपकी शरण में आया हूँ ।"

तं इच्छामिणं सामी तुब्भं बाहुच्छाया-परिग्गहिए जाव परिवसित्तए

"हे स्वामिन् ! मैं आपकी बाहुच्छाया के आश्रय में यहाँ बसना (रहना) चाहता हूँ।" यह बात सुनकर अदीनशत्रुराजा ने चित्रकार से पूछा - "देवानुप्रिये ! मल्लदिन्नकुमार ने तुम्हें किस कारण से देशनिष्कासन किया है ?" तब चित्रकार ने सरलता से जो बात जैसी बनी थी, वैसी अदीनशत्रुराजा को कह सुनाई । अब अदीनशत्रुराजा चित्रकार को क्या कहेंगे और क्या होगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

सत्यभामा की बावड़ी में स्नान करने के लिए सत्याग्रह : प्रद्युम्नकुमार नगरी में घूमने लगा । तब लोग बातें करने लगे कि 'वह मायावी मनुष्य कैसा विचित्र रथ लेकर आया था । आज तक हमने कभी ऐसा रथ नहीं देखा ।' लोगों की बातें सुनकर प्रद्युम्नकुमार खुश होकर नगर में घूमता-घूमता एक सोने की बनी हुई बावड़ी देखकर आश्चर्यचकित हो गया कि कैसी सुन्दर बावड़ी है ? उसने अपनी विद्या से पूछा - "यह बावड़ी किसकी है ?" विद्या ने कहा - "भानुकुमार की माता सत्यभामादेवी की यह बावड़ी है ।" तब प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "तब तो मैं कौतुक करूँ, भले ही सत्यभामा ऊँची-नीची हो ।" प्रद्युम्नकुमार ने सोने की बावड़ी में स्नान करने की इच्छा से जनोईधारी ब्राह्मण का रूप बनाया । हाथ में कमण्डल लिया । ललाट में बड़ा-सा तिलक किया और वेद का पाठ करता-करता ब्राह्मण बावड़ी के पास पहुँचा । फिर बावड़ी की रक्षा करनेवाली महिला के पास जाकर कहा - "बहन ! मैं तुम्हारे सामने दृष्टि भी नहीं करूँगा, पर तुम मुझे इस बावड़ी में स्नान करने दो तो मैं तुम्हारा बहुत बड़ा उपकार मानूंगा ।" तब बावड़ी की रक्षा करनेवाली महिलाओं ने कहा - "अरे बूढ़े ! तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है क्या ? तुझे पता नहीं है, यह बावड़ी कृष्ण की पटरानी सत्यभामा की है ।" तब ब्राह्मण ने मजाक करते हुए कहा - "यह सत्यभामा कौन है ? वह कोई देवी या भूतनी है ?" तब एक बाई ने कहा - "तू तो मानो कोई स्वर्ग से उतरकर आया लगता है । इस कारण तुझे पता नहीं है कि सत्यभामा कौन है ? सत्यभामा कृष्ण की पटरानी है, सुन ले कान खोलकर । यह बावड़ी सत्यभामा की है । मैं इसकी रक्षा करने के लिए तैनात हूँ । इस बावड़ी में कोई चाहे जितनी चाल चले, चाहे जो कुछ करे, किन्तु एक बूंद पानी भी ले नहीं सकता । इस बावड़ी में केवल श्रीकृष्णजी, सत्यभामा और भानुकुमार ही स्नान करते हैं, बाकी दूसरे तो इस बावड़ी के सामने दृष्टि भी नहीं कर सकते, तो फिर तुझे कैसे स्नान करने दूं ?" तब हंसकर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "मैं भी कृष्ण का पुत्र हूँ, तो मुझे स्नान करने दो ।" बाई बोली - "तेरे जैसा कृष्ण का पुत्र होता होगा ? तू किस रानी का जाया है ?" वह कहने लगा - "किस रानी का ? मैं रुक्मिणी का नन्द हूँ । (हँसाहँस) । भानुकुमार

से बड़ा हूँ। अतः इस बावड़ी में स्नान करने का पहला हक मेरा है। तुम्हें एक और मजे की बात सुननी हो तो कहूँ, सुनो!" तब महिलाओं ने आश्चर्यपूर्वक कहा - "क्या मजे की बात है, कहो न?"

प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "दुर्योधन ने भानुकुमार के साथ विवाह करने लिए अपनी पुत्री उदधिकुमारी को स्वयंवर के रूप में यहाँ भेजी थी। मार्ग में भीलों ने कौरवों के पास से छीनकर उस कन्या को अपने राजा को सौंप दी। इस कन्या को देखकर भील के राजा ने सोचा - 'यह तो किसी राजकुमार के साथ शोभे ऐसी है।' मैं किसी कारणवश वहाँ गया था, तब उस (भीलराजा) ने वह कन्या मुझे दे दी है। तुम तो मुझे इस बावड़ी में स्नान भी नहीं करने देती।" तब उन स्त्रियों ने कहा - "दुर्योधन की पुत्री से विवाह करने का तेरा दीदार तो देख! यह तो तीन काल में संभव नहीं है। दुर्योधन की पुत्री का भानुकुमार के साथ विवाह होगा।" तब प्रद्युम्नकुमार ने हंसकर कहा - "देख लेना, यह भानुड़ा उसके साथ शादी करता है या मैं करता हूँ?

अरी पागल दासियों! तुम इस बात का रहस्य क्या जानो? यह सब तो मैं जानता-समझता हूँ। और मैं तो ऐसा पवित्र हूँ कि जहाँ मेरे चरण की रज अड़े, वहाँ सबकुछ पावन बन जाता है।" यों कहकर खड़ा होकर बावड़ी में धीरे-धीरे उतरने लगा। तब बावड़ी की रक्षा करनेवाली दासियाँ भी उसके पीछे जाकर ब्राह्मण को पीटने लगी। ब्राह्मण का स्पर्श होने के साथ ही सब स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर और सुडौल बन गई। किसी के कटे हुए कान, किसी का चपटा नाक सब अच्छे हो गए। स्त्रियाँ अत्यन्त सौन्दर्यवान बन गई। अतः वे सब उक्त ब्राह्मण की प्रशंसा करने लगीं - "भाई! तुम तो कोई देव मालूम होते हो। हम तो काली और बेडौल थी, अब रूपवती और सुडौल बन गई। तुम्हारे सातों भव अच्छे हों।" यों कहकर दूसरी स्त्रियों को भी वे बुलाने लगी। जिन-जिन स्त्रियों को ब्राह्मण का स्पर्श हुआ, वे सुन्दर हो गई। इतने में ब्राह्मण ने बावड़ी का पानी कमण्डल में भर लिया। सारी बावड़ी खाली हो गई।

यह देखकर दासियों ने कहा - "भाई! यह सारा पानी तू कहाँ जे जा रहा है? अगर सत्यभामा रानी यह बात जानेगी तो हमारा तो आ बनेगा। अतः भाई! थोड़ा पानी तो बावड़ी में रहने दो?" परन्तु सुने ही कौन? वह तो कमण्डल लेकर कल्लोल करता हुआ सत्यभामा के बाजार में आ धमका। उसके बाजार की रौनक देखकर प्रद्युम्नकुमार को बहुत प्रसन्नता हुई और विद्या के बल से हीरा, पन्ना, माणिक, मोती वगैरह जवाहरात तथा सोने के आभूषण, एवं हाथी, घोड़े आदि जो कुछ सत्यभामा के थे, उन सबको हरण करके ले जाने लगा। बाजार में सर्वत्र हाहाकार मच गया। इतने में तो ४-५ दासियों ने आकर उसे पकड़ा और बोली - "दौड़ो - दौड़ो, यह चोर हमारी रानी सत्यभामा की बावड़ी का सारा पानी ले जा रहा है, इसे पकड़ो।" यों कह रही थी, तब प्रद्युम्नकुमार ने क्या किया? पानी का कमण्डल उल्टा

कर दिया, जिससे बाजार में पानी-पानी हो गया । नदी की तरह पानी बहने लगा । उस पानी में अच्छी-अच्छी चीजें डूब गई । लोग पानी पर तैरने लगे । इतना जलमय पानी देखकर लोग भयभीत होने लगे । वे दासियाँ तो वहाँ से भाग गई । इसका कोई भी उपाय नहीं हुआ तो नगरी डूब जाएगी, ऐसे भय से लोग त्रस्त हो उठे । अपना-अपना जीव बचाने के लिए लोग भागदौड़ करने लगे । यह सब प्रद्युम्न की विद्या का चमत्कार था । अपनी विद्या के प्रभाव से वह अनेक प्रकार के कुतूहल करता हुआ द्वारिका नगरी देखता हुआ आगे बढ़ा । इस माया को समेटकर उसने अपना रूप परिवर्तित कर ड़ाला । नौजवान तेजस्वी ब्राह्मण का रूप बनाया । गले में तुलसी की माला पहनी, ललाट में तिलक किया, और आगे चला । उसने एक जगह मालियों का समूह तथा सुगन्धित पुष्पों का ढेर देखा । उसे देखकर अपनी विद्या से पूछा - "इतनी जाति के उत्तम सुन्दर सुगन्धित पुष्प यहाँ किसलिए इकट्ठे किये गए हैं ?" तब विद्या ने कहा - "यह तो भानुकुमार के विवाह प्रसंग के निमित्त माली लोग हार, गजरा और मालाएँ वगैरह गूंथ रहे हैं ।" ब्राह्मण के रूप में प्रद्युम्नकुमार मालियों के पास आकर बोला - "भाई ! मुझे इनमें से तीन-चार फूल दो न ?" तब मालियों ने गुस्से होकर कहा - "अरे ! ये फूल तुम्हें देने के लिए नहीं लाए हैं । यह तो हमारे कृष्ण महाराजा के पुत्र भानुकुमार के विवाह के लिए हार, गजरा और वेणियाँ गूंथने के लिए लाये गये हैं । देखो न ! ये ही बनाये जा रहे हैं ।" मालियों ने फूल नहीं दिये, तब उसने ज्योंही हाथ से फूल का स्पर्श किया, त्योंही सब फूल आक के बन गए । अब तो विवाह में आक के फूलों के हार शोभा देते हैं क्या ? माली लोग तो उलझन में पड़ गए । यह भाईसाहब तो आगे चल पड़े । आए इत्रवाले बाजार में । वहाँ क्या चमत्कार किया ?

गाँधी से अत्तर मांगे पर, नटतां करी सुवास ।
भैंसा का गज, गज का भैंसा, हय खर बदले खास हो ॥ श्रोता...

इत्र के व्यापारी कीमती इत्र की शीशियाँ, सेंट की शीशियाँ तैयार कर रहे थे । वहाँ आकर प्रद्युम्न बोला - "एक-दो इत्र की शीशी तो दो, तुम्हारा भला होगा ।" इत्रवालों ने कहा - "मूर्ख ! इस इत्र का तुझे क्या करना है ? यह तो भानुकुमार के विवाह में इत्र चाहिए । उसके लिए खास कीमती इत्र तैयार करके राजदरबार में भेजना है । यह तुझे नहीं मिलेगा ।" इतने में तो हाथ लंबा करके ज्योंही प्रद्युम्नकुमार ने इत्र की शीशियाँ छुई, त्यों ही सारा इत्र माथा फट जाए ऐसा दुर्गन्धमय बन गया । सभी व्यापारियों ने नाक के आगे कपड़ा लगा लिया । (हँसाहँस) । इस प्रकार प्रद्युम्नकुमार जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ उसे जो व्यक्ति उस वस्तु को देने से इन्कार कर देता है, उस वस्तु को छूते ही विपरीत रूप में परिवर्तित करने लगा । अभी नगरी में प्रद्युम्नकुमार क्या-क्या उथलपुथल मचाएगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - १३

आसो वदी ५, मंगलवार — ता. १२-१०-७६

मोह-जनित चाह : दुःखों की राह

ा बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

परम करुणासिन्धु, परमपिता प्रभु की वाणी में अलौकिक शक्ति है। जिसका पान ने से आत्मा पर अनन्तकाल से चढ़े हुए भयंकर से भयंकर मोह के जहर उतर ते हैं। उस पर श्रद्धा करके आचरण करने से जन्म-मरण की श्रृंखला टूट जाती । ऐसी बेजोड़ शक्ति और सामर्थ्य हो तो वह भगवान् की वाणी में है। किन्तु तुम्हारे ों और पदवियों में यह ताकत नहीं है कि भव-भ्रमण का चक्कर मिट जाय। तु अभी तक भगवान् महावीर की संतानों को सिद्धान्त (शास्त्र) की वाणी के प्रति जगा नहीं है, रस जगा नहीं है। यदि एक बार भी सिद्धान्त की वाणी सुनने का रस ागा तो संसार का राग और रस छूट जाएगा।

अदीनशत्रुराजा ने चित्रकार से कहा - "तुम्हें मल्लदिन्नकुमार ने किसलिए देशनिकाला या ?" तब चित्रकार ने कहा - "मैंने मल्लीकुमारी का चित्र अंकित किया, इस कारण अपनी बहन का अपमान किया हो, ऐसा लगा। अतः उन्होंने मेरा वध करने का देश दिया। परन्तु सभी चित्रकारों की विनती से राजा ने वध का हुक्म तो वापस खींच या। इस तरह मेरी जांघों का सांधा काटकर मुझे देशनिकाला दे दिया। इस कारण आपकी छत्रछाया के नीचे रहने के लिए आपकी नगरी में आया हूँ।" इस प्रकार त्रकार की बात सुनकर अदीनशत्रुराजा ने चित्रकार को इस प्रकार कहा -

"से केरिसए णं देवाणुप्पिया ! तुमे मल्लीए तयाणुरुव त्वतिए ?"

"हे देवानुप्रिये ! तुमने मल्लीकुमारी का हूबहू कैसा चित्र बनाया था ?" इस प्रकार दीनशत्रुराजा से वचन सुनकर उस चित्रकार ने मल्लीकुमारी के चित्रवाला फलक टेया) अपनी कांख में से बाहर निकाला और अदीनशत्रुराजा के पास रखकर कहा - वामिन् ! विदेहराजवरकन्या मल्लीकुमारी का केवल अंगूठा देखकर उनकी आकृति र चेहरे की स्पष्ट जानकारी देनेवाला चित्र अंकित किया है। मैंने तो सिर्फ उनका अंगूठा ा था, बाकी के सब अंग अनुमान से चित्रित किये हैं। इसलिए उनका जो रूप है, के आगे यह कुछ भी नहीं है। विदेहराजवरकन्या का जो रूप है, उसका हूबहू चित्र

बनाने का सामर्थ्य किसी देव-देवी, दानव, गन्धर्व और यक्ष में भी नहीं है, तो मेरी ताकत कहाँ से हो सकती है ?"

इस प्रकार चित्रकार के मुख से बात सुनकर अदीनशत्रुराजा ने चित्रकार को अपने देश में रहने की आज्ञा दे दी, इसलिए वह सुखपूर्वक वहाँ रहने लगा । मल्लीकुमारी का अलौकिक रूप-सौन्दर्य देखकर अदीनशत्रुराजा के मन में मल्लीकुमारी के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ । 'अहो ! जिसका चित्र मेरे चित्त को आकर्षित करता है, तब वह साक्षात् कैसी होगी ? मेरे अन्तःपुर में यदि मल्लीकुमारी आ जाए तो करोड़ों तारों, ग्रहों और नक्षत्रों के बीच में जैसे शरदपूर्णिमा का चन्द्र सुशोभित हो उठता है, वैसे मेरा अन्तःपुर सुशोभित हो उठेगा ।' मन में ऐसा विचार आते ही राजा ने तुरंत दूत को बुलाया और उसे कहा - "तुम मिथिला नगरी जाओ, वहाँ कुम्भकराजा की पुत्री और प्रभावती रानी की आत्मजा मल्लीकुमारी की मांग मेरे लिए करने जाओ ।" अदीनशत्रुराजा की आज्ञा होने से दूत रथ में बैठकर मिथिला नगरी की ओर जाने के लिए हस्तिनापुर से रवाना हुआ । इस प्रकार पंचम मित्रराजा की बात पूरी हुई ।

अब छठा मित्रराजा कौन है ? इस विषय में शास्त्रकार कहते हैं -

"तेणं कालेणं तेणं समएणं पंचाले जणवए कंपिल्लपुरे नामं नयरे होत्था । तत्थणं जियसत्तू णामं राया होत्था पंचाला हिवह । तस्सणं जिय सत्तुस्स धारिणी-पामोक्खंदेवी-सहस्सं ओरोहे होत्था ।"

उस काल और उस समय में पंचाल नामक जनपद (देश) था । जो इस समय पंजाब नाम से प्रसिद्ध है । उस देश में काम्पिल्यपुर नामक नगर था । उसमें पंचालदेश का अधिपति जितशत्रु नामक राजा रहता था । उस जितशत्रुराजा के अन्तःपुर में धारिणी-प्रमुख एक हजार रानियाँ थीं ।

पहले के पाँच राजाओं ने किसी न किसी निमित्त को लेकर मल्लीकुमारी के रूप और गुण की प्रशंसा सुनी और उन्हें मल्लीकुमारी के प्रति आकर्षण हुआ । तुम जरा सोचो कि मल्लीकुमारी कैसी होगी ? जिसमें गुण होता है, उसके प्रति अनायास ही मनुष्य को आकर्षण होता है । गुणवान् मनुष्य को किसी को कहने जाना नहीं पड़ता कि तुम मेरे पास आओ । गुण एक प्रकार से दूत जैसे होते हैं । कहा भी है -

"गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं दूरेऽपि वसतां सताम् ।
केतकीगन्धमाधाय, स्वयं गच्छन्ति षट्पदाः ।।"

सज्जन पुरुष चाहे जितने दूर रहते हों, उनके गुण तो जीवननिर्माण में दूत का काम करते हैं । जैसे केतकी (केवड़े) के फूल की सुगन्ध से आकर्षित होकर भौंरे स्वयं उसके पास आ जाते हैं, वैसे ही सद्गुणी मनुष्यों के सद्गुणों की सुवास दूर-दूर तक फैलती है । उनके गुणों का श्रवण करके कितने ही मनुष्य अपने जीवन को

सुधारते हैं । ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि "गुण तो रत्न जैसे हैं । - *न रत्नमन्विष्यति मृगयते रत्न् ।"* रत्न किसी की शोध करने नहीं जाता, परन्तु सभी रत्न को ढूंढते हैं । रत्न या फूल किसी को आमंत्रण नहीं देते । इसका कारण यह है कि रत्न कीमती है, इसलिए सभी रत्न को ढूंढते हैं । न ही अपने पास आनेवाले का वह सत्कार करता है, फिर भी सामने से लोग उसके पास सब दौड़ते हुए आते हैं । परन्तु इस संसार में ऐसा देखने में आता है कि बहुत-सी बार मानव-मानव के पास नहीं जाता । फूल वनस्पति की जाति है, फिर भी उसमें तेजस्विता है, सुगन्ध है, सौन्दर्य भी है और वह मूल्यवान् है । उसके पीछे मानव आकर्षित होता है । जबकि मानव-मानव के पीछे आकर्षित नहीं होता । अतः विचार करो कि मानव से फूल और रत्न बढ़कर हैं या मानव विशेष है ?

अब हमें यह समझना है कि मानव-मानव में भी अन्तर है । अनेक मानव सद्गुणी और सज्जन आत्माएँ हैं, कि जिनके गुणों की सुवास से आकर्षित होकर लोग उनके पास आते हैं । बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जिनके जीवन में कोरा स्वार्थ भरा होता है । साथ ही क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों, नोकषायों का कचरा भरा है और भरी है दुर्गुणों की दुर्गन्ध । ऐसे मनुष्यों के प्रति किसी का आकर्षण नहीं होता । आज जहाँ देखो वहाँ स्वार्थ का प्रलोभन दिखाई देगा । जहाँ स्वार्थ सिद्ध होता है, वहाँ लोग दौड़े जाते हैं ।

मधपूडा, मांहे मध ज्यां लगी छे (२), माखीना फेरा नस त्यां लगी छे (२) ।
मध खूटे त्यां मधमाखीनी पूरी थाये प्रीत रे ॥ जुठा...

इस पद में कैसे सरस भाव भरे हुए हैं ? क्या कहा गया है ? झूठे जगत् की ममता और प्रीति झूठी है, क्योंकि मधपुड़े में जहाँ तक मधु भरा हुआ होता है, वहाँ तक सैकड़ों मक्खियाँ मधपूड़े के आसपास चक्कर लगाती हैं, परन्तु जब मधपूड़े में मधु खत्म हो जाता है, तब एक भी मक्खी उसके पास नहीं फटकती । याद रखना, तुम्हारे पास भी जबतक धनरूपी मधु है, तबतक मतलब की मक्खियों रूपी सगे-सम्बन्धी तुम्हारे पास आएँगे । अब समझ में आ गया न ? स्वार्थ का मायाजाल संसार में बिछा हुआ है ।

पिता और वकील का दृष्टांत : गरीब माता-पिता अपने पुत्र को बाहरगाम (कस्बे या शहर में) भेजकर पढ़ाते हैं । पुत्र वकील हो जाता है । अच्छी कमाई हो जाने पर सीधा (माता-पिता की सम्मति के बिना) विवाह कर लेता है । माता-पिता तो पुत्र की कमाई पर सुख पाने की आशा में दिन बिता रहे हैं । माता को तो बड़ी उमंग है, मेरी बहू आएगी । किन्तु पुत्र के कोई समाचार नहीं आते । ऐसी स्थिति में माता-पिता बहुत रोते हैं । लोगों ने कहा - "बापा ! तुम्हारा पुत्र वकील बन गया है और उसने विवाह भी कर लिया है । वह बहुत सुखी होकर मौज करता है । तुम किसलिए कल्पान्त कर रहे हो ?" "हैं ऐसा है ?" अन्त में लड़का जहाँ रहता है, उस गाँव में पिता जाता है । वहाँ जाकर पूछा तो पता लगा कि लड़का (वकील) कोर्ट में गया है । अतः पिता कोर्ट

में पहुँचता है। वहाँ बूढ़ा बाप कोर्ट के दरवाजे के पास जहाँ सब के बूट पड़े थे, वहाँ बैठ गया और पुत्र के सामने प्रेमभरी दृष्टि से एकटक देखने लगा। कोर्ट में तो बहुत-से वकील और मुवक्किल आने लगे। जब साहब भी आए। पुत्र कुर्सी पर बैठकर वकालात करता है। पुत्र को देखकर पिता का हृदय हर्षित होने लगा। वह इस आशा में बैठा था कि 'अभी मेरा लड़का बाहर जाएगा, घर आएगा, तब मुझे साथ में ले जाएगा।' वकील ने दरवाजे के पास पिता को बैठे हुए देखा। उसे मन में बहुत गुस्सा आया। परन्तु कोर्ट में कुछ बोला नहीं जाता, अतः मौन रहा। दो घंटे बाद कोर्ट में भीड़ कम हुई। जज साहब अपनी कुर्सी पर बैठे थे। उनकी दृष्टि जूतों के पास बैठे हुए गरीब वृद्ध की तरफ गई और वह गरीब मनुष्य समता भरी दृष्टि से एकटक उक्त वकील के सामने देख रहा था और उसके दिल में प्रेम का फव्वारा चल रहा था।

इस वृद्ध को देखकर जज ने वकील से पूछा - "यह वृद्ध आदमी कौन है ? इसका चेहरा तुम्हारे जैसा है और स्नेहभरी दृष्टि से तुम्हारे सामने देखा करता है। मालूम होता है, तुम्हारा पिता हो, ऐसा प्रेम उछल रहा है।" यह सुनकर वकील का चेहरा उदास हो गया। उसने कहा - "साहब ! यह मेरा पिता नहीं है, किन्तु मेरे गाँव का आदमी है।" अहा ! संसार कैसा है ? बाप को बाप मानने में हेठी लगती है। पुत्र के शब्द सुनकर वृद्ध पिता का रक्त उबल पड़ा। दिल में बहुत आघात लगा। पुत्र का डर रखे बिना निर्भयता से उसने जज से कहा - "साहब ! मैं उसके गाँव का आदमी हूँ, इतना ही नहीं, इसकी माता का आदमी हूँ।" (हँसाहँस) देखिए, पिता ने कैसी बुद्धिमत्ता दिखाई ? उसने ऐसे नहीं कहा कि मैं इसका बाप हूँ। अपितु यह कहा कि मैं इसकी माता का आदमी हूँ।

वकील के बाप की बात सुनकर जज साहब समझ गए कि यह इसका पिता ही है, किन्तु ऐसे गरीब को पिता कहने में उसे शर्म आती थी। जज साहब ने वकील से कहा - "जिन माता-पिता ने बहुत कष्ट सहकर तुमको पढ़ाया और वकील बनाया, उनका उपकार क्यों भूल गए ?

जज की चेतावनी से शान ठिकाने आई : अगर माता-पिता का भी उपकार भूल जाओगे, तो कोर्ट में दूसरों को सच्चा न्याय कैसे दे पाओगे ?" इस प्रकार जज साहब ने वकील को बहुत फटकारा। न्यायी जज साहब की चेतावनी से पुत्र का अहं मर गया। अपने पिता के चरणों में पड़कर अपनी गलती के लिए माफी मांगी। फिर अपनी माता को बुलाकर आनन्द से रहने लगे। संक्षेप में, हमें इस दृष्टान्त से यह प्रेरणा लेनी है कि यह संसार कैसा स्वार्थमय है। ऐसे दृष्टान्त आप लोगों ने बहुत सुने हैं, प्रत्यक्ष भी देखते हैं। अतः अब समझ कर वीतरागवाणी पर श्रद्धा रखो।

पांचालदेश में काम्पिल्यपुर नाम के नगर में जितशत्रु नामक राजा हैं। उनके धारणी- प्रमुख एक हजार रानियाँ हैं। वह राजा न्याय-नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करता है। यहाँ तक यह बात आकर रूक गई है।

इस राजा को मल्लीकुमारी की जानकारी कैसे होती है ? यह बात बाद में आएगी । इन्हें मल्लीकुमारी का परिचय देनेवाला कौन है ? यह वृत्तान्त चल रहा है ।

"तत्थ णं मिहिलाए चोक्खा नामं परिव्वाइयारिउव्वेय जाव परिणिट्ठिया यावि होत्था ।"

उस मिथिला नगरी में चोक्षा नाम की परिव्राजिका रहती थी, जो ऋग्वेद आदि चारों वेदों की, तथा स्मृतिग्रन्थों की एवं षष्ठितंत्र आदि शास्त्रों की ज्ञाता थी । अर्थात् - यह परिव्राजिका उसके धर्म के चार वेदों आदि प्रत्येक शास्त्रों के अर्थ करने में निपुण थी ।

यह चोक्षा परिव्राजिका मिथिला नगरी में अपने धर्म का बहुत प्रचार करती थी तथा अनेक राजेश्वर, तलवर, माण्डलिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी, सार्थवाह आदि के साथ दान-धर्म, शौचधर्म और तीर्थस्थान के विषय में धर्मचर्चा करती थी और उनको शौच आदि धर्मो के नियमों को शास्त्रोक्त विधि से अच्छी तरह विश्लेपण करके समझाती थी । साथ ही शौच आदि धर्मो के नियमों को स्वयं आचरित करके उनका प्रत्यक्ष रूप में दिखावा भी करती थी । (उसके अनुसार) शौच का अर्थ शुद्धि करना । जैसे कि ये लोग प्रत्येक शौचादि क्रिया करने के बाद स्नान करते, जहाँ बैठते वहाँ जमीन को पानी से साफ करके बैठते, किसी मनुष्य का स्पर्श हो जाय तो स्नान करके कपड़े धो डालते, ऐसा उनका शौचधर्म होता है । अपने (जैन) धर्म में ऐसी शुद्धि को बाह्य शुद्धि (बाह्य शौच) कही गई है । ऐसी बाह्य शुद्धि चाहे जितनी करो, किन्तु जबतक राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कपाय तथा हास्यादि नौ-नोकषाय, ईर्ष्या, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद आदि विकारों के कचरे को साफ करके आत्मशुद्धि नहीं की जाय, वहाँ तक आत्मा उज्ज्वल और पवित्र नहीं बन सकता । किन्तु यह चोक्षा परिव्राजिका बाह्य शौचधर्म का प्रचार पूरे जोर-शोर के साथ करती थी ।

इसी मिथिला नगरी में भविष्य में तीर्थकर भगवान् बननेवाली मल्लीकुमारी विराजमान हैं । परन्तु तीर्थकर भगवान् किसी के साथ सामने से चलकर वाद-विवाद करने नहीं जाते । अगर कोई उनसे पूछे तो सच्ची बात समझाते हैं । परन्तु इस चोक्षा परिव्राजिका को अपने धर्म का अभिमान था । इसे कोई बुलाए या न बुलाए, सामने से चलकर उसके यहाँ जाकर धर्मप्रचार करती थी । उसने सारी मिथिला नगरी में खूब प्रचार किया ।

एक दिन वह चोक्षा परिव्राजिका अपने त्रिदण्ड, कमंडल आदि तथा गेरु से रंगे हुए गेरुए वस्त्र ग्रहण करके परिव्राजिका के मठ से बाहर निकली और कतिपय परिव्राजि-काओं के साथ मिथिला नगरी के मध्य में से होकर जहाँ कुम्भकराजा का महल था, उसमें जहाँ कन्याओं का अन्तःपुर था, तथा *जेणेव मल्ली विदेहवररायकण्णा तेणेव उवागच्छइ ।* जहाँ मल्ली नाम की विदेहराजा की श्रेष्ठ कन्या थी, वहाँ (उसके पास) आई । वहाँ आकर भूमि पर पानी के छींटे डाले, दर्भ बिछाया और उस पर आसन रखकर बैठी । वहाँ बैठकर वह मल्लीकुमारी के पास दान, शील, शौच आदि धर्म का उपदेश देने लगी ।

यह चोक्षा परिव्राजिका अपने मन में समझती थी कि मिथिला नगरी में मेरे जितना कोई ज्ञानी नहीं है । परन्तु उसे पता नहीं था कि जिनको दान, शौच वगैरह धर्मों की उपदेश दे रही हूँ, वह कौन है ? मल्लीकुमारी तो माता के गर्भ में आई, तब से तीन ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान) लेकर आई थीं । फिर भी उनमें गम्भीरता कितनी है ? कहावत है - 'अधजल गगरी छलकत जाय, भरा घड़ा तो ना छलकाय ।' मल्लीकुमारी (परम) अवधि-ज्ञानी होती हुई भी चोक्षा परिव्राजिका के उपदेश के बीच में एक शब्द भी नहीं बोलती । गंभीरतापूर्वक उसकी बात सुनती है । परिव्राजिका मल्लीकुमारी को उपदेश दे रही है, उसकी बात पूरी होने के बाद मल्लीकुमारी चोक्षा परिव्राजिका को क्या-क्या प्रश्न पूछती है, और चोक्षा उनका क्या जवाब देती है, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार द्वारिका के बाजार में गया । वहाँ जाकर दुकानवाले से जो वस्तु मांगता है, उसे वह दुकानदार नहीं देता है, तब उस वस्तु का रूप विपरीत बनाने लगा । आगे जाते हुए उसने हाथी देखे । हाथीवाले से हाथी मांगने पर उसने नहीं दिया, तब हाथी को पाड़ा बना दिया और जहाँ पाड़े बांधे थे, वहाँ पाड़ों के बदले हाथी बन गए । ऊँट के बदले बकरे और बकरों के बदले ऊँट बन गए । (हँसाहँस) वहाँ से *आगे चला तो अनाज की दुकानें आई । उसने एक व्यापारी से पाँच सेर अनाज* मांगा, उसने नहीं दिया । अतः चावल को कोद्रव धान बना दिया, जहाँ कोद्रव धान था, उसके बदले चावल बना दिये । जहाँ चावल का ढेर था, वहाँ शक्कर का ढेर लग गया और शक्कर का ढेर था, वह नमक का ढेर बन गया । कस्तूरी की हींग बन गई और हींग की कस्तूरी बन गई । पीतल का सोना और सोने का पीतल बन गया, रत्नों के कंकर और कंकरों के रत्न बन गए । घी के डिब्बे थे, वे तेल के बन गए और तेल के डिब्बे घी के बन गए । फिर वह कपड़ों के बाजार में गया, वहाँ जो जरी के वस्त्र थे, वे भिखारी पहने ऐसे पुराने फटे-टूटे चिथड़े बन गए और भिखारी पहने वैसे चिथड़े जरी के कपड़े बन गए । इस प्रकार प्रद्युम्नकुमार ने द्वारिका नगरी में बहुत-सी उथल-पुथल मचा दी । जब किसी दुकानदार के यहाँ ग्राहक घी लेने आए और देने जाए तो तेल निकले । चावल देने जाए, वहाँ कोद्रव धान निकले और कोद्रव देने जाए वहाँ बोरे में से चावल निकले । शक्कर के बदले नमक मिले । यह सब उथल-पुथल होने से व्यापारी लोग बहुत घबरा गए । सोचने लगे - 'अब हम क्या करें ? सभी चीजों में *परिवर्तन हो गया है । अवश्य ही अपनी नगरी में कोई बड़ा जादूगर आया मालूम होता* है । अब तो कृष्ण महाराज के पास जाकर फरियाद (शिकायत) करो ।' कृष्णजी के कान *में जब जनता की यह पुकार आई, कि द्वारिका नगरी में बहुत ही धांधल (गड़गड़) मची*

हुई है। कृष्णजी सोचने लगे - 'ऐसा कौन मनुष्य आया है, जो मेरी नगरी में ऐसा तूफान कर रहा है ? मुझे उसकी तलाश करनी पड़ेगी ।' यह भाई (प्रद्युम्न) तो विद्या के बल से नये-नये कौतुक करता हुआ, किसी की परवाह किये बिना आगे से आगे बढ़ता जा रहा है । सभी बाजारों में तूफान मचाकर चलता-चलता वह राजमहल के आगे आया । वहाँ उसने सबसे पहले एक विशाल और सुन्दर महल देखा ।

वसुदेव दादा के महल में प्रद्युम्नकुमार : भव्य महल को देखकर प्रद्युम्न ने विद्या से पूछा - "यह गगनचुम्बी महल किसका है ?" उसने कहा - "यह तो आपके दादा, यानि कृष्णजी के पिताजी वसुदेव का महल है । देखो, आपके वह दादा झरोखे में खड़े हैं वह तो बहुत भाग्यशाली हैं । वह किसी ज्ञात या अज्ञात प्रदेश में जाते हैं, जहाँ भी जाएँ, वह बहुत आदर-सत्कार पाते हैं । आपके दादा ऐसे पुण्यवान् हैं ।" तब प्रद्युम्नकुमार ने पूछा - "मेरे दादाजी को सबसे अधिक शौक किस बात का है ?" विद्या ने कहा - "उनको मेष-युद्ध (मेंढ़ो के साथ लड़ने) का बहुत शौक है ।" अतः विद्या के बल से वैक्रिय शक्ति से एक सुन्दर मोटा तगड़ा मेंढ़ी (मेष) बनाया । स्वयं ने ब्राह्मण का रूप बनाया और द्वारपाल की इजाजत लेकर महल में गया । वहाँ सुन्दर आसन पर वसुदेव दादा को बैठे देखकर प्रद्युम्न ने अन्तर से उन्हें प्रणाम किया । वसुदेव ने सुन्दर मोटे तगड़े मेष (मेंढे) को देखकर उत्सुकतापूर्वक उससे पूछा - "यह मेष किस का है ?" ब्राह्मण ने कहा - "यह मेरे राजा का मेष है । आपको बताने के लिए मैं इसे आपके पास लाया हूँ । यह मेष बहुत बलवान है ।" वसुदेव ने कहा - "मेरे घुटने पर इसे प्रहार करने दो ताकि उससे इसके बल को मापा जा सके ।" तब ब्राह्मण ने कहा - "नहीं । अगर उससे हार जाएँ तो यादव लोग मेरे पर क्रुद्ध होकर मेरे मेष को तथा मुझे भी मार डालेंगे ।" वसुदेव ने कहा - "नहीं, नहीं, यह तो एक खेल है । इसमें जय-पराजय की बात उपस्थित नहीं होती । तुम इस विषय में शंका मत करो ।" यों कहकर वासुदेव ने अपना घुटना मेष के आगे कर दिया । मेष ने उनके (वसुदेव के) घुटने पर इतने जोर से प्रहार किया कि वह एकदम नीचे लुढक पड़े और जमीन पर लुढक पड़ते ही वसुदेव बेहोश हो गए । उनके लुढककर गिरने की आवाज सुनते ही यादव दौड़ कर आए और वसुदेव को बेहोश पड़े देखकर वे सब विचार में पड़ गए । 'अहो ! यह क्या हुआ ? इन हमारे दादा को आज तक कोई भी मनुष्य, राजा या विद्याधरराजा भी हरा नहीं सके, ऐसा इनका अगाध बल है । तब किसने इन्हें पछाड़ दिया ?' सबलोग आए, तबतक तो ब्राह्मण और मेष दोनों अदृश्य हो गए । जिन्हें अभी तक कोई जीत नहीं सका, उन्हें उनके पौत्र ने हरा दिया । अब प्रद्युम्नकुमार वहाँ से आगे चल पड़ा ।

सत्यभामा के महल में प्रद्युम्नकुमार : आगे जाते हुए प्रद्युम्नकुमार नगरी की शोभा निहारने लगा । मन ही मन सोचा - 'अहो ! कितनी सुन्दर यह द्वारिका नगरी है ?' यों हर्षित होता हुआ वह आगे चलता है, वहाँ उसने तोरण, पताकाओं और सुन्दर

मालाओं से सुशोभित एक गगनचुम्बी सुन्दर महल देखा । उसे देखकर विद्या से पूछा - "यह महल किसका है ?" विद्या ने कहा - "यह महल तुम्हारी सौतेली माता सत्यभामा का है । भानुकुमार का विवाह है, इसलिए यहाँ अनेकविध मांगलिक कार्य हो रहे हैं । अब तुम्हें जो भी तूफान-तायका करना हो, उन सब को यहाँ अच्छी तरह कर लेना । यह सत्यभामा तुम्हारी माता रुक्मिणी के प्रति बहुत ईर्ष्या करती है । अतः उसे अच्छा चमत्कार बता देना ।" यह सुनकर प्रद्युम्न ने एक छोटे-से ब्राह्मणपुत्र का रूप बनाया । अपने मस्तक के केश थोड़े लम्बे और पृथक्-पृथक् रखे । कपाल में तिलक किया और हाथ में माला लेकर सर्वप्रथम सत्यभामा के पास आकर कहा - "हे माता ! आपका कल्याण हो ।" यों कहकर उसे आशीर्वाद दिये । अतः सत्यभामा बहुत खुश होकर ब्राह्मण से कहने लगी - "विप्रवर ! तुम्हें क्या चाहिए ?" तब प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "माता ! मुझे बहुत भूख लगी है । मेरे चमड़े के झोंपड़े यानि पेट में आग लगी है । अतः आप भोजन करा कर आग बुझा दो ।" इस प्रकार वह बात कर रही है, इतने में तो सहसा भोजन के लिए आमंत्रित हजारों ब्राह्मण वहाँ भोजन करने के लिए आ गए । सत्यभामा, चाहे जो हो, तो भी कृष्ण की पटरानी है न ? इसलिए गर्व से ब्राह्मण को कहती है - "मैं कृष्ण की पटरानी हूँ, मेरे यहाँ भोजन की क्या कमी है ? भोजन का तो हिसाब ही क्या, हाथी, घोड़ा धन, सोना, जो कुछ तुम्हें चाहिए, वह ले जाओ । मेरे यहाँ किसी चीज की कमी नहीं है ।" तब ब्राह्मण ने कहा - "माता ! धन से किसी का पेट नहीं भरता । भूख मिटती नहीं । अन्नदान श्रेष्ठ है । पहले क्षुधा शान्त हो जाय, फिर अन्य सब चीजें अच्छी लगती हैं । अतः मुझे आप जल्दी भोजन कराओ । मुझे बहुत भूख लगी है । जब मुझे भोजन करा दिया तब यों समझ लेना कि सबको भोजन करा दिया है ।" तब सत्यभामा को उसकी दासियों ने कहा - "इस ब्राह्मण को बहुत भूख लगी हैं, अतः इसे पहले भोजन करा दो ।"

सत्यभामा ने उसे भोजन करा देने का कहा, तब प्रद्युम्न उसे देखकर विचार करने लगा - 'यह अभिमानी सत्यभामा मेरी सरल-हृदया माता का बाल उतरवा कर उसका अपमान करना चाहती है, तो मैं भी कम नहीं हूँ, उसे मजा चखा दूं' -

मात-शीश काटके, करना चाहे अपमान ।
सजा चखाऊँ इसको, दिल में लीनी ठान हो ।। श्रोता...

प्रद्युम्न ने मन में इस प्रकार का निश्चय किया । अब इसी वक्त दूसरे सब ब्राह्मण भोजन करने के लिए आ गए थे । इस कारण उनके साथ ही भोजन करने के लिए प्रद्युम्न को बिठाया । तब उसने कहा - "ये सब ब्राह्मण तो ब्राह्मण के आचार-विचार का भलीभांति पालन नहीं करते । ये सब क्रियाहीन हैं । जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह सच्चा ब्राह्मण कहलाता है । किन्तु ये तो विषय के कीड़े हैं । अतः मैं इनके साथ भोजन करने नहीं बैठूँगा, क्योंकि मैं तो सच्चा ब्राह्मण हूँ । मैं तो सदाचारी हूँ और चारों

हुई है । कृष्णजी सोचने लगे - 'ऐसा कौन मनुष्य आया है, जो मेरी नगरी में ऐसा तूफान कर रहा है ? मुझे उसकी तलाश करनी पड़ेगी ।' यह भाई (प्रद्युम्न) तो विद्या के बल से नये-नये कौतुक करता हुआ, किसी की परवाह किये बिना आगे से आगे बढ़ता जा रहा है । सभी बाजारों में तूफान मचाकर चलता-चलता वह राजमहल के आगे आया । वहाँ उसने सबसे पहले एक विशाल और सुन्दर महल देखा ।

वसुदेव दादा के महल में प्रद्युम्नकुमार : भव्य महल को देखकर प्रद्युम्न ने विद्या से पूछा - "यह गगनचुम्बी महल किसका है ?" उसने कहा - "यह तो आपके दादा, यानि कृष्णजी के पिताजी वसुदेव का महल है । देखो, आपके वह दादा झरोखे में खड़े हैं वह तो बहुत भाग्यशाली हैं । वह किसी ज्ञात या अज्ञात प्रदेश में जाते हैं, जहाँ भी जाएँ, वह बहुत आदर-सत्कार पाते हैं । आपके दादा ऐसे पुण्यवान् हैं ।" तब प्रद्युम्नकुमार ने पूछा - "मेरे दादाजी को सबसे अधिक शौक किस बात का है ?" विद्या ने कहा - "उनको मेष-युद्ध (मेंढ़ो के साथ लड़ने) का बहुत शौक है ।" अतः विद्या के बल से वैक्रिय शक्ति से एक सुन्दर मोटा तगड़ा मेंढ़ा (मेष) बनाया । स्वयं ने ब्राह्मण का रूप बनाया और द्वारपाल की इजाजत लेकर महल में गया । वहाँ सुन्दर आसन पर वसुदेव दादा को बैठे देखकर प्रद्युम्न ने अन्तर से उन्हें प्रणाम किया । वसुदेव ने सुन्दर मोटे तगड़े मेष (मेंढे) को देखकर उत्सुकतापूर्वक उससे पूछा - "यह मेष किस का है ?" ब्राह्मण ने कहा - "यह मेरे राजा का मेष है । आपको बताने के लिए मैं इसे आपके पास लाया हूँ । यह मेष बहुत बलवान है ।" वसुदेव ने कहा - "मेरे घुटने पर इसे प्रहार करने दो ताकि उससे इसके बल को मापा जा सके ।" तब ब्राह्मण ने कहा - "नहीं । अगर उससे हार जाएँ तो यादव लोग मेरे पर क्रुद्ध होकर मेरे मेष को तथा मुझे भी मार डालेंगे ।" वसुदेव ने कहा - "नहीं, नहीं, यह तो एक खेल है । इसमें जय-पराजय की बात उपस्थित नहीं होती । तुम इस विषय में शंका मत करो ।" यों कहकर वासुदेव ने अपना घुटना मेष के आगे कर दिया । मेष ने उनके (वसुदेव के) घुटने पर इतने जोर से प्रहार किया कि वह एकदम नीचे लुढक पड़े और जमीन पर लुढक पड़ते ही वसुदेव बेहोश हो गए । उनके लुढककर गिरने की आवाज सुनते ही यादव दौड़ कर आए और वसुदेव को बेहोश पड़े देखकर वे सब विचार में पड़ गए । 'अहो ! यह क्या हुआ ? इन हमारे दादा को आज तक कोई भी मनुष्य, राजा या विद्याधरराजा भी हरा नहीं सके, ऐसा इनका अगाध बल है । तब किसने इन्हें पछाड़ दिया ?' सबलोग आए, तबतक तो ब्राह्मण और मेष दोनों अदृश्य हो गए । जिन्हें अभी तक कोई जीत नहीं सका, उन्हें उनके पौत्र ने हरा दिया । अब प्रद्युम्नकुमार वहाँ से आगे चल पड़ा ।

सत्यभामा के महल में प्रद्युम्नकुमार : आगे जाते हुए प्रद्युम्नकुमार नगरी की शोभा निहारने लगा । मन ही मन सोचा - 'अहो ! कितनी सुन्दर यह द्वारिका नगरी है ?' यों हर्षित होता हुआ वह आगे चलता है, वहाँ उसने तोरण, पताकाओं और सुन्दर

मालाओं से सुशोभित एक गगनचुम्बी सुन्दर महल देखा । उसे देखकर विद्या से पूछा - "यह महल किसका है ?" विद्या ने कहा - "यह महल तुम्हारी सौतेली माता सत्यभामा का है । भानुकुमार का विवाह है, इसलिए यहाँ अनेकविध मांगलिक कार्य हो रहे हैं । अब तुम्हें जो भी तूफान-तायका करना हो, उन सब को यहाँ अच्छी तरह कर लेना । यह सत्यभामा तुम्हारी माता रुक्मिणी के प्रति बहुत ईर्ष्या करती है । अतः उसे अच्छा चमत्कार बता देना ।" यह सुनकर प्रद्युम्न ने एक छोटे-से ब्राह्मणपुत्र का रूप बनाया । अपने मस्तक के केश थोड़े लम्बे और पृथक्-पृथक् रखे । कपाल में तिलक किया और हाथ में माला लेकर सर्वप्रथम सत्यभामा के पास आकर कहा - "हे माता ! आपका कल्याण हो ।" यों कहकर उसे आशीर्वाद दिये । अतः सत्यभामा बहुत खुश होकर ब्राह्मण से कहने लगी - "विप्रवर ! तुम्हें क्या चाहिए ?" तब प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "माता ! मुझे बहुत भूख लगी है । मेरे चमड़े के झोंपड़े यानि पेट में आग लगी है । अतः आप भोजन करा कर आग बुझा दो ।" इस प्रकार वह बात कर रही है, इतने में तो सहसा भोजन के लिए आमंत्रित हजारों ब्राह्मण वहाँ भोजन करने के लिए आ गए । सत्यभामा, चाहे जो हो, तो भी कृष्ण की पटरानी है न ? इसलिए गर्व से ब्राह्मण को कहती है - "मैं कृष्ण की पटरानी हूँ, मेरे यहाँ भोजन की क्या कमी है ? भोजन का तो हिसाब ही क्या, हाथी, घोड़ा धन, सोना, जो कुछ तुम्हें चाहिए, वह ले जाओ । मेरे यहाँ किसी चीज की कमी नहीं है ।" तब ब्राह्मण ने कहा - "माता ! धन से किसी का पेट नहीं भरता । भूख मिटती नहीं । अन्नदान श्रेष्ठ है । पहले क्षुधा शान्त हो जाय, फिर अन्य सब चीजें अच्छी लगती हैं । अतः मुझे आप जल्दी भोजन कराओ । मुझे बहुत भूख लगी है । जब मुझे भोजन करा दिया तब यों समझ लेना कि सबको भोजन करा दिया है ।" तब सत्यभामा को उसकी दासियों ने कहा - "इस ब्राह्मण को बहुत भूख लगी है, अतः इसे पहले भोजन करा दो ।"

सत्यभामा ने उसे भोजन करा देने का कहा, तब प्रद्युम्न उसे देखकर विचार करने लगा - 'यह अभिमानी सत्यभामा मेरी सरल-हृदया माता का बाल उतरवा कर उसका अपमान करना चाहती है, तो मैं भी कम नहीं हूँ, उसे मजा चखा दूं' -

मात-शीश काटके, करना चाहे अपमान ।
सजा चखाऊँ इसको, दिल में लीनी ठान हो ॥ श्रोता...

प्रद्युम्न ने मन में इस प्रकार का निश्चय किया । अब इसी वक्त दूसरे सब ब्राह्मण भोजन करने के लिए आ गए थे । इस कारण उनके साथ ही भोजन करने के लिए प्रद्युम्न को बिठाया । तब उसने कहा - "ये सब ब्राह्मण तो ब्राह्मण के आचार-विचार का भलीभांति पालन नहीं करते । ये सब क्रियाहीन हैं । जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह सच्चा ब्राह्मण कहलाता है । किन्तु ये तो विषय के कीड़े हैं । अतः मैं इनके साथ भोजन करने नहीं बैठूँगा, क्योंकि मैं तो सच्चा ब्राह्मण हूँ । मैं तो सदाचारी हूँ और चारों

वेद पढ़ा हुआ हूँ। शुद्ध ब्रह्मचारी हूँ, इसलिए तीर्थ के समान पवित्र हूँ। आचार-
विहीन करोड़ों ब्राह्मणों को भोजन कराओगे, तो भी तुम्हें लाभ नहीं मि
किन्तु मेरे जैसा क्रियावान् एक ब्राह्मण को भोजन कराओगे तो तुम इन्द्रलोक और
दोनों लोकों में सुखी हो जाओगी।" इस ब्राह्मण ने सत्यभामा से ऐसा कहा, त
सब (भोजन के लिए आमंत्रित) ब्राह्मण ईर्ष्या की आग से जलने लगे कि 'यह भल
ब्राह्मण कौन आया है ? यह तो अपनी जड़ उखाड़ रहा है। ये सब ब्राह्मण भोज
बैठें उससे पहले ही यह सबसे पहले ऊँचे आसन पर भोजन करने बैठ गया।' इस
आमंत्रित ब्राह्मण तो रोष से आग बबूला हो गए और कहने लगे - "इस मूर्ख
किसी प्रकार का भान नहीं है। यह कहता है कि मैं चार वेद पढ़ा हुआ हूँ, किन
तो कुछ भी ज्ञान व विवेक दिखाई नहीं देता। यह तो अभिमान का पुतला है
छोटा-सा पर इसमें गर्व कितना अधिक है कि हम सबको छोड़कर ऊँचे आसन प
बैठ गया।" सभी ब्राह्मण इस (प्रद्युम्न) पर इतने अधिक गुस्से हो गए कि क
- "इस छोकरे को पीट-पीटकर सीधा कर दो।" तब प्रद्युम्न ने सत्यभामा से
"ये तेरे गाँव के ब्राह्मण मुझे मारपीटकर सीधा करने का कहते हैं। ये कैसे नीच

सत्यभामा ने कहा - "तू छोटा है ये सब बड़े हैं। तेरा जोर इनके पा
चलेगा। परन्तु तू इतना बक्कड़ है कि चुप नहीं रह सकता। तू किसलिए इनव
वादविवाद करता है ? वादविवाद में तू हार जाएगा।" तब ब्राह्मण ने अपनी वि
आदेश दिया, इसलिए विद्या के जोर से वे सभी ब्राह्मण परस्पर एक-दूसरे व
लड़ने लगे। कोई-कोई ब्राह्मण परस्पर एक-दूसरे के साथ धक्का-मुक्की करने
कई परस्पर मुक्के मारने लगे। कोई परस्पर पत्थर मारने लगे। कोई एक-द
लाठी मारने लगे तो कोई लातालाती करने लगे। सत्यभामा के घर में तो धांधल
गई। सत्यभामा उनसे कहती है - "सब शान्त हो जाइए। मेरे घर में आपलोगों
क्या तूफान मचाया है ?" राज्य के सभी मानदों ने उन्हें समझाया, परन्तु वे कि
मूल्य पर किसी की बात को नहीं सुने। नगरी के लोग तमाशा देखने के लिए इ
गए। इस लड़ाई में किसी के दांत टूट गए तो किसी के हाथ-पैरों में चोट आई,
की कमर टूट गई, तो कोई रोने लग गए।

सभी ब्राह्मण कहने लगे - "पहले भोजन करके हमने लड़ाई के लड्डू खूब
यह घटना तो हमें जिंदगीभर याद रह जाएगी।" सत्यभामा ने बीच विचाव करके
ब्राह्मणों को समझाकर शान्त किये। इसलिए सभी ब्राह्मणों ने लड़ना बंद किय

इसे देखकर सत्यभामा कहने लगी - "यह छोटा-सा ब्राह्मण बहुत चमत्कारी
होता है और सद्गुणों का भण्डार भी है। मुझे तो यह बहुत प्यारा लगता है
बहुत ही भूखा है, इसलिए मुझे इसे पहले भोजन कराना है।" तब प्रद्युम्नकुमार ने
- "माता ! तुझे मुझे भोजन कराना है तो पूरी तरह से कराना क्योंकि

; कि मुझे एक ही घर भोजन करना है। जिस घर में भोजन करने जाऊँ, वहाँ मिल जाय तो भोजन कर लेना, नहीं तो उपवास कर लेना, लेकिन फिर दूसरे घर भोजन करने नहीं जाना।" इस पर सत्यभामा ने कहा - "विप्रकुमार ! तू ऐसा क्यों बोलता है ? यह कोई सामान्य घर नहीं है। यहाँ तो बड़े-बड़े हाथियों के पेट भर जाते हैं, तब क्या एक मनुष्य का पेट नहीं भरा जा सकता ? तुम खा-खाकर कितना खा लोगे ? मेरे घर में तो पुष्कल रसोई बनी है। तुम निःसंकोच पेट भरकर भोजन करो।" तब ब्राह्मण ने कहा - "अब तुम मुझे परोसना शुरू करो और मैं भोजन करने लगूँ।" अब प्रद्युम्नकुमार भोजन करने बैठेगा, तब कैसा धांधल मचेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

व्याख्यान - १४

आसो वदी ६, बुधवार — ता. १३-१०-७६

पंचास्रव में रति, प्राप्त कराती दुर्गति

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग-प्रभु अनन्तकाल से मोहनिद्रा में पड़े हुए जीवों को जागृत करते हुए कहते हैं - हे भव्यजीवों ! अनन्तकाल से जीव को संसार में भटकानेवाले हों तो वे पाँच कारण हैं - (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। इन पाँच कारणों में सबसे पहला कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व हटे तो सम्यक्त्व आए। सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन आए तो देव (देवाधिदेव वीतराग-परमात्मा और उनकी वाणी) गुरु निर्ग्रन्थ धर्मगुरु और धर्म (चारित्ररूप, अथवा रत्नत्रयरूप धर्म) के प्रति सम्यक्श्रद्धा हो, रुचि हो। मिथ्यात्व जीव को सम्यक् वस्तु (सजीव-निर्जीव पदार्थो) का यथार्थ ज्ञान नहीं होने देता। सत्य-स्वरूप का भान होने पर जीव अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से निवृत्त होने के लिए प्रयत्न करता है। सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद भी अविरति (अव्रत) में से विरति (व्रत) में आए बिना नये आनेवाले कर्म रूकते नहीं। नये कर्मों का आगमन (आस्रव) करानेवाला अविरति (अव्रत) आश्रव है।

पाँचों इन्द्रियों में पड़े हुए प्राणी को आस्रव का घर अच्छा लगता है, यानि वह आस्रव में रचा-पचा रहता है। उसे पाँचों इन्द्रियों के विषयों को छोड़ना अच्छा नहीं लगता। अविरति (अव्रत) छूट जाए तो प्रमाद, कषाय और अशुभ योग भी अनायास ही उतने अंशों में छूटते जाते हैं। अतः विषय-सुख का स्वाद न छूटे तो आस्रव कैसे छूट सकता है ?

विषयों के सेवन के प्रति रागद्वेष न छूटे, वहाँ तक अविरति आदि चारों आस्रव बदस्तूर बने रहते हैं। पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों के प्रति राग और द्वेष - आसक्ति और घृणा न छूटे वहाँ तक समझा जाता है कि जीव पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों के वश में है। ज्ञानीपुरुषों का कथन है - जो प्राणी पाँचों इन्द्रियों के वशवर्ती होते हैं, उनकी क्या दशा होती है ? यह तो आप भी देखते हैं, जानते हैं और अनुभव भी करते होंगे। और तो और जो एक-एक इन्द्रिय के वशवर्ती होते हैं, वे भी उस-उस इन्दिय के वश में होकर अपने प्राण गंवा बैठते हैं। पाँचों इन्द्रियों में से एक-एक इन्दिय के वश में (यानि इन्द्रिय के आधीन) होनेवाले प्राणी की कैसी दशा होती है, यह बात सूत्रकार के शब्दों में देखिए -

"सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिण-मिगेवमुद्धे, सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चु ॥"

- उत्तरा. सू., अ.-३२ गा.-७

शब्दादि विषयों में जो तीव्र गृद्धि (आसक्ति) का सेवन करता है, वह अकाल में विनाश को प्राप्त होता है। शब्द (आदि) विषयों में अतृप्त रहनेवाला मनुष्य हिरण की तरह मुग्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। हिरणों को पकड़ने वाले मनुष्य जंगल में जाकर वीणा बजाता है। उसके मधुर नाद से आकर्षित होकर आता है और सुनने में तल्लीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में शिकारी उसे पकड़ लेता है। पतंगे को दीपक का प्रकाश अत्यन्त प्रिय होता है। इस कारण वह दीपक के चारों ओर चक्कर लगाता-लगाता उस पर टूट पड़ता है और जलकर भस्म हो जाता है। यानि दीपक या अन्य प्रकाश पर पड़कर मृत्यु को प्राप्त होता है। भ्रमर की घ्राणेन्द्रिय बहुत तेज होती है। इसलिए वह कमल-पुष्प की सुगन्ध से आकर्षित होकर उसकी सुगन्ध में मस्त और मग्न हो जाता है। एक कवि भ्रमर की दुर्दशा का वर्णन करता हुआ कहता है -

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वान् उदेष्यति, हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार ॥

घ्राणेन्द्रिय के वश में होकर कमल पुष्प में बंद होकर भौंरा विचार करता है - 'रात्रि बीत जाएगी, स्वर्णिम प्रभात हो जाएगा, तब सूर्योदय होते ही कमल खिलेगा, तब मैं आनन्द से उड़ जाऊँगा।' परन्तु अफसोस की बात है कि कमल के कोश में बन्द भौंरे को इस प्रकार सोचते-सोचते उसके सारे मनसूबे धरे रह गए। सूर्योदय होने से पहले ही हाथी वहाँ आकर सरोवर में रहे हुए उस कमल की डंडी को अपनी सूंड से उखाड़कर कमल-सहित खा गया। अतः सूर्योदय भी हुआ नहीं, कमल सहित भ्रमर भी बचा नहीं।

बन्धुओं ! भ्रमर अपनी शक्ति से लकड़ी को काट सकता है, उसमें छेद कर सकता है। किन्तु कमल की कोमल पंखुड़ियों को बींध नहीं सकता । उसका क्या कारण है ? भ्रमर की कमल के प्रति अत्यन्त आसक्ति होती है । इस कारण वह उसको छेदकर बाहर निकल नहीं सकता, इसी प्रकार अपनी आत्मा में अनन्त शक्ति है । वह उस शक्ति के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय कर सकता है और मुक्ति प्राप्त कर सकता है, मोक्ष में जा सकता है । परन्तु धन, वैभव और कुटुम्ब-परिवार के मोह में मस्त और ग्रस्त बना हुआ जीव धर्माराधना नहीं कर सकता और न ही कर्मो को क्षय कर पाता है । फलतः मोक्ष में जाने का उसका मनोरथ मन ही मन यों रह जाता है और एक दिन काल-कवलित होकर जीव दुर्गति में चला जाता है ।

पाँच इन्द्रियों के विषयों के वश में हुए जीवों की कैसी दशा होती है ? यह बात आप के सामने चल रही है । उसमें भ्रमर घ्राणेन्द्रिय के वश में होकर मरण-शरण हो जाता है। मछली रसेन्द्रिय के वश होकर मरण को प्राप्त होती है । पाँचवीं स्पर्शेन्द्रिय है । बड़ा विशालकाय हाथी उसके वश होकर मरण के मुख में चला जाता है । संक्षेप में, इन पाँचों इन्द्रियों के विषय का दृष्टान्त देकर मुझे आपलोगों को यह समझाना है कि जैसे हिरण, पतंगा, भ्रमर, मछली और हाथी आदि प्राणी एक-एक इन्द्रिय के वश में होकर, उनके विषयों में आसक्त हुए तो उन्हें अपने प्राण गंवाने का वक्त आया, तो जीवात्मा (मानव-आत्मा) भी अगर पाँचों इन्द्रियों के विषयों के आधीन होगा, तो उसका क्या होगा ? और उसे कितने जन्म-मरण करने पड़ेंगे ? अगर जन्म-मरण का चक्कर शीघ्र ही टालना हो, तो आस्त्रव को छोड़कर संवर में आओ । आस्त्रव को नदी की उपमा दी गई है । नदी जब पूरे जोश से बहती है, तब गाँव के गाँव खींचकर बहा ले जाती है । इसी प्रकार आस्त्रवरूपी नदी अनवरत जब पूरे जोर से बहता है तो वह उसमें अनन्त शक्तिमान परम-ज्योति-स्वरूप आत्मा के उत्तम गुणों को खींचकर बहा ले जाती है और आत्मा कर्मरूप कीचड़ में लिप्त रहता है । इस कारण उसे संवर और निर्जरा का सच्चा मार्ग नहीं दिखाई देता ।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

जिनकी आत्मा पवित्र है, ऐसी मल्लीकुमारी के पास चोक्षा नामक परिव्राजिका ने आकर दानधर्म, शौचधर्म आदि की व्याख्या की ।

तएणं सा मल्ली विदेहराय-वरकन्ना चोक्खं एवं वयासी-तुब्भेणं चोक्खे ! किं मूलए धम्मे पन्नत्ते ?

चोक्षा परिव्राजिका ने अपने धर्म की व्याख्या की, तब विदेहराजा की श्रेष्ठ कन्या मल्लीकुमारी ने चोक्षा परिव्राजिका से इस प्रकार पूछा - ''हे चोक्षे ! तुम्हारे धर्म का मूल क्या कहा गया है ?'' अर्थात् - 'तुम किसमें धर्म मानती हो ?' इस प्रकार मल्लीकुमारी

ने पूछा, तब चोक्षा परिव्राजिका ने इस प्रकार कहा - "देवानुप्रिये ! हमारा धर्म शौचमूलक कहा गया है । हमारी चाहे जो वस्तु जब अशुचि-अपवित्र हो जाती है, तब हम उसे पानी और मिट्टी के द्वारा पवित्र-शुद्ध करते हैं । इस प्रकार से हम पानी से स्नान करके पवित्र बनकर निर्विघ्नरूप से शीघ्र स्वर्ग में पहुँच जाते हैं ।"

बन्धुओं ! पाप करके कोई व्यक्ति यों माने कि गंगा में स्नान करने से पाप धुल जाते हैं, तो क्या यह बात आपके गले उतरती है ? इसे समझो । आत्मा को स्वच्छ-पवित्र बनाना हो तो, तप, त्याग, संयम और संवर के घर में आना पड़ेगा । किन्तु वर्तमानकाल के जीवों की श्रद्धा कच्ची है । श्रद्धापूर्वक जो धर्म का पालन करता है, वह कसौटी में से पार उतरता है । किसी कवि ने एक रूपक द्वारा इस तथ्य को समझाया है -

एक रूपक : एक बार कृष्ण वासुदेव ने विचार किया कि 'मुझे सब खम्मा-खम्मा करते हैं । मैं सबका प्रिय हूँ । ऐसा लोग कहते हैं तो मैं अपनी रानियों सहित सब की परीक्षा करूँ तो मुझे पता लगे कि मैं सबको कैसा और कितना प्रिय हूँ ।' यों सोचकर श्रीकृष्णजी मस्तक दबाकर पलंग पर सो गए । इस समय नारदजी घूमते-घूमते श्रीकृष्णजी के महल में पहुँच गए । श्रीकृष्णजी को गमगीन बनकर पलंग पर सोये हुए देखकर नारदजी ने पूछा - "आज क्यों शिथिल हो रहे हैं ?" तब कृष्णजी ने कहा - "ऋषिवर ! मेरा मस्तक दुःख रहा है ।" नारदजी ने कहा - "तुम्हारे लिए चाहे जितने चिकित्सक हैं ।" कृष्णजी ने कहा - "मैंने सबकुछ करके देख लिया, किन्तु यह सिरदर्द मिटने का नाम नहीं लेता । सिर्फ एक ही उपाय है कि कोई अपना चरणरज दे तो मेरी मस्तक-पीड़ा मिटे । किन्तु जो चरणरज देगा, वह नरक में जाएगा ।"

नारदजी कृष्ण के पास से उठकर रुक्मिणी के महल में आए । रुक्मिणी ने उनका आदर-सत्कार किया और हाथ जोड़कर खड़ी रही । तब नारदजी ने कहा - "रुक्मिणी ! कृष्णजी के मस्तक की सख्त वेदना उठी है । बहुत उपचार किये, पर यह पीड़ा मिटती ही नहीं है ।" यह सुनकर रुक्मिणी ने कहा - "क्या बात करते हैं आप ?" वह एकदम पस्त हिम्मत होकर शिथिल एवं उदास हो गई । उसकी आँख से अश्रुबिन्दु छलक पड़े । नारदजी ने कहा - "शिथिल या उदास होने की या रोने की जरूरत नहीं है । उनकी वेदना शान्त करते हेतु मैं एक चीज लेने आया हूँ ।" रुक्मिणी ने कहा - "आपको जो चाहिए, वह ले जाइए । पर मेरे स्वामीनाथ का दर्द जल्दी से जल्दी मिटे ऐसा करो ।" नारदजी ने कहा - "तुम्हारे चरण की रज दो, उसे कृष्णजी के मस्तक पर लगाने से उनके मस्तक की वेदना मिट जाएगी । किन्तु इसमें एक बात है - तुम्हारी चरणरज से उनकी मस्तक दुखना मिट जाएगा, किन्तु तुम्हें वो (चरणरज दाता को) नरक में जाना पड़ेगा ।" तब रुक्मिणी ने कहा - "ऋषिराज ! मुझे नरक में जाने की चिन्ता नहीं है, किन्तु भगवान तुल्य मेरे पति श्री हैं, मैं तो उनके पैर की जूती जैसी हूँ । हमारे पवित्र पति के मस्तक पर मेरी चरणरज कैसे चोपड़ी जायेगी, बल्कि उनकी चरणरज तो मेरे अंग

पर चुपड़नी चाहिए ।" इस प्रकार सब ने चरणरज देने से इन्कार किया । कोई भी तैयार नहीं हुआ । अन्त में नारदजी गोपियों के पास आए । उनकी चरणरज मांगी । तब शुद्ध भाव से कृष्ण की भक्ति करनेवाली एक गोपी ने कहा - "मेरी चरणरज से अगर भगवान् का मस्तक का दर्द मिटता हो तो खुशी से ले जाइए । उसके लिए नरक में जाना पड़े तो मैं तैयार हूँ ।" गोपी की चरणरज लेकर नारदजी कृष्णजी के पास आए और कहा - "आपकी रुक्मिणी से लेकर सारी द्वारिका नगरी में घूम गया, परन्तु किसी ने भी चरणरज नहीं दी । आपकी भक्ति में तल्लीन रहनेवाली एक गोपी ने कहा - 'मेरे भगवान् का दर्द मिटता हो तो मैं नरक में जाने को तैयार हूँ ।'"

बन्धुओं ! कृष्णजी का मस्तक नहीं दुःखता था और न ही किसी को नरक में जाने की बात थी । यह तो वह भक्तों की परीक्षा करना चाहते थे । उन्होंने हँसकर कहा - "इसका नाम है सच्ची भक्ति ।"

यहाँ आपके समक्ष बात चल रही थी - 'सच्चा धर्म कौन-सा है ?' चोक्षा परिव्राजिका ने मल्लीकुमारी से कहा - "हम अपवित्र बनते हैं, तब मिट्टी और पानी से पवित्र बनते हैं । ऐसे शौचमूलक धर्म का पालन करके हम स्वर्ग में जाते हैं ।" तब मल्लीकुमारी ने पूछा - "चोक्षे ! खून से सने (लिप्त) वस्त्रों को कोई व्यक्ति खून से धोए, तो क्या यह उनकी शुद्धि हुई कहला सकती है ? अर्थात् - क्या वे वस्त्र शुद्ध हुए कहलाएँगे ?"- *"नो इणट्ठे समट्ठे" - अर्थात् - यह बात शक्य नहीं है । तात्पर्य यह है कि रक्त से* गंदे (खराब) हुए वस्त्र रक्त से धोने से शुद्ध नहीं होते ।

मल्लीकुमारी ने कहा - "चोक्षा ! यह तो एक और एक दो जैसी स्पष्ट बात है कि मैले कपड़े को मैले पानी से धोने से स्वच्छ नहीं होते, बल्कि और अधिक मैले हो जाएँगे । इसी प्रकार हे चोक्षा ! तुम्हारे धर्म में प्राणातिपात (जीवहिंसा) से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह प्रकार के पापस्थानक सेवन करने पर प्रतिबन्ध नहीं है तथा पृथ्वीकाय, अप्काय वगैरह एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा करके उसमें धर्म मानकर तुमने शुद्धि की, ऐसा मानते हो और ऐसे धर्म का पालन करके हम स्वर्ग में जाते हैं, ऐसा जो तुम मानते हो तो क्या यह मान्यता सच्ची है ? पाप करने से आत्मा की शुद्धि हो सकती है क्या ?" इस प्रकार मल्लीकुमारी ने चोक्षा परिव्राजिका से प्रश्न किया ।

मल्लीकुमारी के साथ विवाद में चोक्षा की हुई हार : ऐसी स्थिति में चोक्षा परिव्राजिका अपने द्वारा मान्य धर्म में शंकाशील बनी, कांक्षा से युक्त बनी, विचिकित्सा यानि धर्मक्रिया के फल की प्राप्ति के विषय में संदेहयुक्त हो गई और भेद-समापन्ना अर्थात् अपनी मान्यता का खण्डन हो गया है, ऐसा मानकर शिथिल हो गई । उसके मन में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि 'मल्लीकुमारी ने मुझे जो कुछ कहा है, उसके जवाब में जो कोई तथ्य प्रस्तुत करूँगी, वह सच्चा होगा या नहीं ।' इस प्रकार की उलझन से चोक्षा का मन शंकाशील बना । अगर मेरा जवाब ठीक नहीं होगा तो मैं दूसरा कौन-

सा जवाब दूंगी ? इस प्रकार वह जवाब के विषय में वाञ्छायुक्त हो गई । मल्लीकुमारी को मैं जवाब दूंगी, तो उसे मेरे जवाब पर विश्वास बैठेगा या नहीं ? इस प्रकार वह विचिकित्सा युक्त हो गई । ऐसी परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए ? ऐसे विवेक की शक्ति भी प्रायः लुप्त हो गई । इस कारण वह आकुल-व्याकुल होकर 'भेद-सम्पन्न' बन गई थी । इस कारण वह मल्लीकुमारी को जवाब में कुछ न कह सकी और वह बिलकुल मूक होकर बैठी रही ।

बन्धुओं ! बहुत-सी बार मनुष्य समझता है कि मैंने जो नाड़ा पकड़ा है, वह मिथ्या है, किन्तु अभिमान के कारण वह छूटता नहीं । चोक्षा परिव्राजिका की भी ऐसी ही स्थिति हो गई । उसके मन में ऐसा विकल्प उठा कि यह कहती हैं, वह सच्चा है, या मैं कहती हूँ, वह सच्चा है ? शुद्धि का यह जो अर्थ करते हैं, वह सच्चा है, या मैं जो अर्थ करती हूँ, वह सच्चा है ? ऐसा विचार उसके मन में उठा । मल्लीकुमारी की कही हुई बात उसे सच्ची भी लगी होगी, किन्तु अभिमान छोड़ा नहीं जाता । इस कारण चोक्षा मौन हो गई । मल्लीकुमारी उसे सामने चलकर कुछ कहे, ऐसी नहीं हैं । वह तो भावी तीर्थंकर भगवती थी, इस कारण *'सागरवर-गम्भीरा'* सागर की तरह गम्भीर थीं । इसलिए वह तो मौन बैठी रहीं, किन्तु उनकी दासियों से नहीं रहा गया । उन्होंने चोक्षा की कटु आलोचना करनी शुरू कर दी -

'तए णं ते चोक्खं मल्लीए बहुया ओदास-चेडीओ निंदंति, खिंसंति गरिहंति ।'

चाहे जो हो, तो भी दासियाँ ओछे दर्जे की पात्र थीं । उनमें मल्लीकुमारी जितनी गम्भीरता कहाँ से होती ? अतः मल्लीकुमारी की वे दासियाँ उसकी (जाति आदि प्रकट करके) हीलना (अवहेलना) करने लगीं । कुछ दासियाँ मन से निन्दा करने लगीं । कुछ तो वचन से *'खिंसंति'* निन्दा करने लगीं, कुछ दासियाँ गर्हा (उसके सामने ही दोषकथन) करने लगीं । "हे चोक्षा परिव्राजिका ! तुम बड़ा धर्म का ध्वज फहराने हेतु निकली हो; संसार का त्यागकर परिव्राजिका बनकर बैठी हो, तो क्यों कुछ भी बोलती नहीं ? हमारी मल्लीकुमारी ने तुम्हें जो कुछ समझाया है, उसके जवाब के रूप में क्यों कुछ नहीं कहती ? तुम बाहर तो धर्म की बड़ी-बड़ी बातें करती हो, कुछ भोले-भाले धनिकों, सार्थवाहों और मन्दबुद्धि लोगों को, धर्म की बड़ी-बड़ी बातें करके तुमने भ्रम में डाल दिये हैं । अगर तुममें सच्चा ज्ञान हो और तुम्हारा धर्म सच्चा हो तो तुम तर्क क्यों नहीं करती ? सारी मिथिला नगरी के लोग भले ही तुम्हें ज्ञानी मानते हों, किन्तु हमने तो तुम्हारा ज्ञान देख लिया । हमारी मल्लीकुमारी के ज्ञान के आगे, तुम्हारा ज्ञान तो कुछ नहीं है । कहाँ गर्दभ और कहाँ हाथी ? कहाँ कंकर और कहाँ कोहीनूर हीरा ? कहाँ आक और कहाँ गुलाब ? कहाँ सोना और कहाँ पीतल ? कहाँ कौआ और कहाँ कोयल ? कहाँ सूर्य का तेज और कहाँ जुगनू का तेज ? तथैव कहाँ हमारी मल्लीकुमारी का ज्ञान और

कहाँ तुम्हारा ज्ञान ? यहाँ तक आई तो जरा सोच-समझकर आना था न ? देख लिया तुम्हारा ज्ञान । इतना ज्ञान था तो ठंडी क्यों पड़ गई ? तुममें शक्ति हो तो मल्लीकुमारी को जवाब दो ।'' ऐसे शब्द कहकर उसकी निन्दा करने लगी और सबके सामने उसका उपहास करने लगी और उसके अवर्णवाद बोलने लगी । इस प्रकार बोलकर दासियों ने उसे उत्तेजित और क्रोधित कर दी । उसे चिढ़ाने लगीं ।

''अप्पेगइयाओ मुह-मक्कडियाओ करेंति, अप्पेगइयाओ वग्धाडीओ करेंति, अप्पेगइयाओ तज्जेमाजीओ करेंति, अप्पेगइयाओ तालेमाणीओ करेंति, अप्पेगइयाओ निच्छुभंति ।''

कितनी ही दासियाँ उसके (चोक्षा के) सामने देखकर मुँह मचकोड़ने (मटकाने) लगी । कितनी ही दासियाँ उसकी मश्करी करने लगीं, कई दासियाँ अंगुलियों से उसकी तर्जना करने लगी और कोई कोई ताड़ना करने लगीं । किसी ने दुर्बचनों और दुर्व्यवहार से उसकी तिरस्कार किया और कहने लगी - ''हे चोक्षा ! हमारी मल्लीकुमारी के प्रश्नों के जवाब दे, नहीं तो तेरी खबर ले लेंगी ।'' इस प्रकार का डर बताकर उसे - अर्धचन्द्र देकर वहाँ से बाहर निकाल दी । इस प्रकार मल्लीकुमारी की दासियों द्वारा अपमानित, घृणित और निन्दित होने से चोक्षा परिव्राजिका क्रोध से आगबबूला हो गई । क्रोधाग्नि से प्रज्वलित होती हुई वह विदेहराजवरकन्या मल्लीकुमारी के प्रति बहुत ही ईर्ष्या, द्वेष करनेवाली हो गई ।

मल्लीकुमारी ने तो जो वस्तु जैसी थी, वैसी तथ्य-सत्य कह दी, परन्तु चोक्षा ने अपनी पकड़ी हुई गलत बात छोड़ी नहीं । जिस मनुष्य में सरलता होती है, वह सत्य को समझते ही पकड़ी हुई गलत बात को छोड़ देता है और सामनेवाले व्यक्ति को नम्रभाव से कह देता है - ''आपकी बात सच्ची है ।'' किन्तु अगर अन्तर में अभिमान (मान) बैठा हुआ हो तो सत्य कहनेवाले के प्रति क्रोध करता है, अपनी झूठी बात की पकड़ छोड़ता नहीं । चोक्षा ने मन में सोचा - 'मैं इतनी बड़ी परिव्राजिका, इतने लोगों को उपदेश देनेवाली की बोलती बंद कर दी, मल्लीकुमारी ने और इसकी दासियों ने मेरा घोर अपमान कर दिया ।' ऐसे विचार आने से क्रोध से धमधमाती हुई, वहाँ से खड़ी हुई और आसन उठाकर कन्यान्तःपुर से अर्थात् - मल्लीकुमारी के महल से बाहर निकल गई ।

उसके मन में यह विचार स्फुरित हुआ कि 'जिस गाँव में मेरा अपमान हुआ, उस गाँव में रहने में कोई सार नहीं । इस गाँव को छोड़ देना ही अच्छा है ।' ऐसा विचार करके मिथिला नगरी को छोड़कर वह अनेक परिव्राजिकाओं के साथ चल पड़ी । अनेक परिव्राजिकाओं के साथ चलती-चलती वह - *'जेणेव पंचाल जणवए, जेणेवकांपिल्लपुरे नयरे तेणेव उवागच्छइ ।'* जहाँ पंचालदेश (जनपद) था और उसमें भी जहाँ काम्पिल्यपुर नगर था, वहाँ आई । वहाँ आकर अपने (माने हुए) धर्म की - अपने दान-शौच धर्म वगैरह की प्ररूपणा अनेक राजाओं, इभ्य सेठों, तलवरों

आदि के पास रहने लगी । एक दिन जहाँ जितशत्रुराजा अपने अन्तःपुर की रानियों के साथ बैठे थे, वहाँ चोक्षा परिव्राजिका अपनी परिव्राजिकाओं के साथ जितशत्रुराजा के महल में आ पहुँची और जितशत्रुराजा को जय-विजय शब्दों से बधाई दी ।

इस चोक्षा परिव्राजिका को अनेक परिव्राजिकाओं के साथ आती देखकर जितशत्रु-राजा भी अपने सिंहासन से उठकर खड़े हो गए । प्राचीनकाल के राजा-महाराजा किसी भी धर्म के प्रचारक साधु या साध्वी हों, परिव्राजिका या संन्यासिनी हो, उनका सम्मान करते थे, उनका आदर-सत्कार करते थे । इसी प्रकार जितशत्रुराजा ने सिंहासन से उठकर चोक्षा परिव्राजिका का आदर-सत्कार किया । आदर-सत्कार करके उसे बैठने के लिए आसन दिया ।

मल्लीकुमारी के पूर्व के ६ मित्रों में से पाँच मित्रों को मल्लीकुमारी के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ । अब यह छट्ठा राजा है । चोक्षा परिव्राजिका वहाँ बैठेगी और अपने (मान्य) धर्म की बातें कहेंगी और आगे क्या होगा, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार जो बालब्राह्मण के रूप में सत्यभामा के घर पर आया है, वह वहाँ भोजन करने बैठा है । इसलिए उसकी थाली में भोजन परोसा जाने लगा । पहले बादाम, पिश्ता, चारोली, द्राक्ष आदि ऊँची जाति के मेवे परोसे गए । इसके बाद खाजा, लड्डू, घेवर, फीणी, लापसी, खीर, दूधपाक आदि अनेक प्रकार के पकवान तथा पकोड़े, भुजिया, कचौरी आदि फरसान, अनेक प्रकार के साग, चटनी, भाजी, दही-छाछ आदि अनेक प्रकार की वानगियाँ परोसी जाने के बाद, सत्यभामा ने कहा - "हे ब्राह्मणों ! अब आप भोजन करना शुरू करो ।" दूसरे सब तो धीरे-धीरे भोजन कर रहे हैं, किन्तु उक्त किशोर ब्राह्मण तो जैसे ही परोसा गया, थाली साफ कर दी । परोसनेवाले को परोसने में देर लगती, किन्तु इस किशोर ब्राह्मण को खाने में देर नहीं लगती । इधर परोसा, उधर सफाचट । जैसा सूखा घास आग में डालते ही तुरंत जल जाता है, वैसे ही उक्त बालब्राह्मण की थाली में नया-नया भोजन परोसा जाता कि तुरंत समाप्त हो जाता ।

लाओ, जल्दी लाओ, क्यों अब देर लगाई ?
लगी जोर की भूख, पुण्यात्मा ! झटपट देओ मुझाई ॥

लाओ, लाओ, जल्दी लाओ, तुम्हें भोजन परोसने में कितनी देर लगती है ? मुझे तो कड़ाके की भूख लगी है । उसे मिटाने के लिए जल्दी मिठाई लाओ । यहाँ तो जितना परोसा जाता है, उतना स्वाहा हो जाता है । सत्यभामा के यहाँ भानुकुमार के विवाह के लिए जो जो मिठाइयाँ, हलवा, सुखडी आदि बनाई गई थीं, वे सब समाप्त हो गए ।

एक कण भी नहीं रहा । फिर भी यह तो 'लाओ लाओ' की पुकार करने लगा । (हँसाहँस)
यह देखकर लोग आश्चर्य में पड़ गए कि यह क्या ? इतनी सारी रसोई और मिठाई
कहाँ गई ? फिर जोर से आवाज आई कि 'लाओ-लाओ ।' सत्यभामा तो उलझन में पड़
गई । अब सब समाप्त हो गया है । तब ब्राह्मण बोला - "तुम्हारे कोठार में कच्चा अनाज
तो है या नहीं ? पक्का अनाज न हो तो कच्चा ही लाओ ।" तब फिर मूंग, मोठ, गेहुँ,
चावल, चने, बाजरी आदि अनाज तथा तेल, घी, मिर्च, मसालें, गुड़, शक्कर आदि जो
भी था, वह सब लाकर ब्राह्मण की थाली में परोसा । वह भी थोड़ी देर में स्वाहा हो
गया । यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ । इसे देखने के लिए वहाँ कितने ही लोग
इकट्ठे हो गए । सभी मन में विचार करने लगे कि 'यह कोई विद्याधरी मनुष्य है । यह
स्वयं नहीं खाता, किन्तु विद्या के बल से लुप्त कर देता, मालूम होता है अथवा तो
यह कोई देव मालूम होता है । यह मनुष्य का काम नहीं है ।' सारा कच्चा अनाज समाप्त
हो गया, फिर भी इसका पेट भरा नहीं । यह तो जोर-जोर से चिल्लाने लगा - "मैं तो
भूखे मर गया ।" तब सत्यभामा आदि यादव पत्नियों ने कहा - "विप्रवर ! अब माफ
करो । जो भी कच्चा-पक्का था, सब समाप्त हो गया है ।" तब ब्राह्मण ठहाका मारकर
हंसने लगा । कहने लगा -

"सत्यभामा सुनो ! तू तो भानुकुमार की माता, कृष्ण की पटरानी और जारोम राजा
की पुत्री है । तू कृष्णजी की सबसे बड़ी रानी है । फिर भी तेरे जैसी कोई लोभण नहीं
देखी । बड़ी पटरानी होकर तू ऐसी कंजूसी करती है, यह तुझे शोभा नहीं देता । मैं तो
छोटा-सा ब्राह्मण कहलाता हूँ, किन्तु तू मेरा पेट भी न भर सकी तो भानुकुमार के
विवाह में सबको कैसे भोजन कराएगी । मैंने तुझे पहले से कहा था कि मुझे भोजन
कराना हो तो पूरी तरह (भरपेट) भोजन कराना, परन्तु तूने अपने वचन का पालन नहीं
किया । न तो मेरा पेट भरा और न तो उपचार हुआ । अब मेरे नियमानुसार मेरा
भोजन आज दूसरे घर नहीं होगा । तेरी ऐसी हैसियत नहीं थी, तो मुझे पहले ही इन्कार
कह देना था ।" तब सत्यभामा ने कहा - "महाराज ! घर में जो था, वह सब आपको
खिला दिया । अब मैं क्या करूँ ? आप तो महान ज्ञानी हैं, मुझे क्षमा करें । आप शान्त
हों ।" यों कहकर बड़ी मुश्किल से उसे शान्त किया । इतने में तो एक और बनाव
बना । थाली पर से ब्राह्मण खड़ा होकर सत्यभामा के महल में चक्कर लगाने लगा ।
उस समय सत्यभामा की बेडौलरूप वाली कुबड़ी दासी आई । अतः प्रद्युम्नकुमार ने उसे
स्पर्श किया कि वह कुबड़ी दासी अप्सरा जैसी रूपवती बन गई । अतएव वह दौड़ती
हुई सत्यभामा के पास गई । अप्सरा जैसी स्त्री को देखकर सत्यभामा ने पूछा - "ऐसी
सुन्दर स्त्री तू कौन है ?" तब दासी ने कहा - "मैं कुब्जा हूँ ।" तब सत्यभामा ने पूछा
- "तेरा कुब्जापन कहाँ गया ?" वह बोली - "वाह साहब ! यह छोटा-सा
है न ? इसने मुझे ऐसी रूपवती बना दी ।" यह देखकर सत्यभामा

तेरा मस्तक मुंडा डाल और मुँह पर काला रंग लगा ले और पुराने जीर्ण-शीर्ण फटे-टूटे कपड़े पहन ले । फिर इस एकान्तरूम में बैठकर एकाग्र चित्त होकर, मैं एक मंत्र बताता हूं, उसका तू अठारह हजार बार जाप कर । मंत्र-जाप करते समय तेरा मन जरा भी बाहर नहीं जाना चाहिए । अगर तेरा चित्त जरा-सा भी चंचल हो जाएगा तो सारा कार्य बिगड़ जाएगा । जाप्य मंत्र इस प्रकार है - **'ॐ ह्री रुंढ मुंढ स्वाहा ।'**

बन्धुओं ! ईर्ष्यालु मानव अपने आपको अच्छा बना (बता) कर दूसरे का खराब करने के लिए क्या नहीं करते ? सत्यभामा ने ब्राह्मण के वचन पर विश्वास रखकर मस्तक मुंडवा डाला । मुँह पर काला रंग पोत लिया । फटे-टूटे चिथड़े (जीर्ण वस्त्र) पहन लिये । सत्यभामा का यह करतब देखकर दासियाँ और अन्य यादव-नारियाँ कहती हैं - "महारानी साहिबा ! आप तो कितनी रूपवती थी, अभी यह क्या किया ?" गुपचुप रूप से दासियाँ सत्यभामा की मजाक उड़ाने लगीं । परन्तु इसे तो ब्राह्मण पर पक्की श्रद्धा थी । "वीरा ! मुझे जल्दी रूपवती बनाना ।" तब ब्राह्मण ने कहा - "इतने जाप तू एकाग्रचित्त से करेगी, तो तेरा अनुपम रूप खिल उठेगा । किन्तु यदि तेरा चित्त अन्यत्र कहीं चला जाएगा तो मेरी जिम्मेदारी नहीं है ।" (हँसाहँस) "अरे वीरा ! यह तूने क्या कहा ? तेरे भरोसे मैंने अपनी नौका समुद्र की छाती पर डाली है ।" तब वह बोला - "ना...ना.... तू जरा भी चिन्ता मत कर । यह तो मैं सब संभाल लूंगा । परन्तु अब तू इतने जाप कर, तबतक मैं यहाँ बैठकर क्या करूँगा ? मैं तो तेरे महल से ऊब जाता हूँ । मुझे एक घड़ी भी निकम्मा बैठा रहना अच्छा नहीं लगता । अतः तू मुझे एक तेजतर्रार घोड़ा दे, तो मैं जंगल में जाऊँ । मुझसे एक साधना अधूरी रह गई है, उसे पूरी करूँ । मैं उस साधना को पूर्ण करके तेरे जाप पूरे होंगे, तबतक आ जाऊँगा ।" सत्यभामा कहती है - "ना, मैं तुझे नहीं जाने दूंगी । फिर तू नहीं आए तो मैं तुझे कहाँ ढूंढूंगी । मुझे तो भानुकुमार का विवाह करना है और श्रीकृष्णजी मेरे महल में आ धमके और मस्तक मुंडाई हुई देख जांय तो मुझे क्या करना ?" "अरे माता ! कुछ नहीं होगा । क्या तुझे मेरे वचन पर श्रद्धा नहीं है ? मैं तो सत्यवादी ब्राह्मण हूँ । मेरा वचन वचन ही है । चाहे जिस तरह से मैं अपना वचन पालूँगा । किन्तु अभी मुझे जाने दे ।" यों आश्वासन-दायक वचन कहकर एक सुन्दर घोड़ा लेकर प्रद्युम्नकुमार तो रवाना हो गया । अब यह बेचारी सत्यभामा जाप करने लगी । जो मनुष्य दूसरों का बुरा करना चाहता है, उसका पहले ही बुरा हो जाता है । दूसरों को गिराने के लिए जो खड्डा खोदता है, वह खुद पहले खड्डे में गिरता है । इसी तरह अभिमानी सत्यभामा पवित्र हृदया रुक्मिणी को हल्की दिखाने-बदनाम करने के लिए ये सब प्रयत्न कर रही है । रुक्मिणी तो हल्की दिखती दीखेगी, उसका मस्तक मुंडाता मुंडेगा, किन्तु पहले खुद (सत्यभामा) का मस्तक तो मुंडवा डाला । मुँह पर श्याही लगाकर फटे-टूटे भिखारी जैसे कपड़े पहनकर 'ॐ ह्री रुंड-मुंड स्वाहा' मंत्र का जाप जप रही है । प्रद्युम्नकुमार तो घोड़े पर बैठकर नौ दो ग्यारह हो गया । अब बेचारी सत्यभामा का क्या हाल होगा, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - १५

आसो वदी ८, शुक्रवार | ता. १५-१०-७६

सद्गुणों की वृद्धि : आत्मा की अमूल्य निधि

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

शासन-नेता, राग-द्वेष-मोह-विजेता, भगवन्तों ने जगत् के जीवों के उद्धार के लिए मोक्ष का मार्ग बताया। उस मार्ग का अनुसरण करके मोक्ष तक पहुँचने के लिए सर्वप्रथम जीवन में सद्गुणों को अपनाने की जरूरत है। क्योंकि आत्मा से परमात्मा बनकर परमात्मपद की प्राप्ति के लिए जीवन में सद्गुणों का होना अनिवार्य है। सद्गुण-रहित जीवन सुगन्ध-रहित पुष्प के समान है। मानव-जीवन में सद्गुण होने पर उनकी सुवास चारों ओर फैलती हैं। सद्गुण मानव-जीवन का सच्चा श्रृंगार है। सद्गुण मनुष्य को इस लोक में प्रसिद्धि प्रदान करते हैं, परलोक में सुगति अथवा परमगति प्राप्त कराते हैं। सद्गुणों में दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने की, विश्वासपात्र बनने की महान शक्ति रही हुई है। पुष्प में सुगन्ध होती है, परन्तु जिस दिशा में पवन जाता है, उसी दिशा में वह फैलती है, जबकि मानव-जीवन में रहे हुए सद्गुणरूपी पुष्पों की सुगन्ध दसों दिशाओं में फैलती है। अतः जिस मनुष्य को उन्नति के पथ पर प्रयाण करना हो, उसे आत्मिक गुणों का संचय और संवर्धन करना चाहिए।

बन्धुओं ! ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "मोक्ष में जाने के लिए सद्गुणों का संचय और संवर्धन करो।" प्रश्न होता है - सद्गुणों का संचय किस प्रकार से करना चाहिए ? सद्गुण कोई ऐसे पदार्थ नहीं है कि वे धन देकर खरीदे जा सकें, अथवा उन्हें शारीरिक बल से किसी के पास से छीने जा सकें या उधार लिये जा सकें। सद्गुण क्या है ? वे आत्मा के आन्तरिक खजाने हैं। वे किसको प्राप्त हो सकते हैं ? नीतिकार कहते हैं - *'गुणी च गुणरागी च, विरलः सरलो जनः'* जो गुणवान् (गुणसंचयी) गुणानुरागी (गुणों के प्रति रुचि अनुराग) हो, ऐसा सरल मनुष्य विरला ही होता है। वस्तुतः गुणों के या गुणवानों के प्रति अनुराग रखनेवाला कोई विरला ही होता है, जो सरल हो, सदय हो। फिर सद्गुण प्राप्ति और संवृद्धि के लिए पुरुषार्थ बहुत जरूरी है। तुम्हें कोई मूल्यवान वस्तु प्राप्त करनी हो तो पुरुषार्थ करना पड़ता है, तभी इच्छित वस्तु प्राप्त होती है। विचार करो कि सद्गुण अमूल्य रत्नों का खजाना है, उसे प्राप्त करने के लिए भी पुरुषार्थ व धर्म और सहनशीलता प्राप्त करनी पड़े, इसमें दो राय नहीं है।

सद्‌गुणों का समूह आत्मा का खजाना है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, ईर्ष्या, परनिन्दा, दम्भ, कपट आदि दुर्गुण या रिपु आत्मिक गुणों (सद्‌गुणों) की प्राप्ति में विघ्न डालनेवाले हैं। अतः सबसे प्रबल शत्रु अभिमान है, जो आत्मा में सद्‌गुणों को प्रविष्ट नहीं होने देता। रावण के जीवन में बहुत-से गुण थे, साथ ही उसने कई भौतिक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर ली थीं। उसकी सेवा में कई देव भी उपस्थित होते थे। पुण्योदय के फलस्वरूप उसे उच्चजाति, उच्चकुल, अतुल ऐश्वर्य और अपार शक्ति प्राप्त हुई थी। परन्तु अहंकाररूपी विषधर सर्प उसके हृदय में फन फैलाए बैठा था। हम प्रतिदिन प्रतिक्रमण में आठ प्रकार के मद के नाम बोलते हैं। आठ मद में से एक भी मद का सेवन आत्मिक गुणों को नष्ट कर डालता है। जबकि रावण में तो ये आठों ही मद थे। इसी कारण उसकी कैसी दुर्दशा हुई ? कहते हैं कि रावण के पास ८० करोड़ हाथी थे। दश अरब घोड़े थे। पचास करोड़ योद्धा थे। १० करोड़ पैदल सेना थी। १६०० सामंत और १०१५ राजा उसके आधीन थे। ये सब उसकी सेवा में सदा उपस्थित रहते थे। इतनी सम्पत्ति, सत्ता और सेना का स्वामी रावण जब मरण-शरण हुआ, तब हाहाकार नहीं हुआ। उसका मूल कारण था - रावण का अभिमान।

वह सीता का अपहरण करके उसे उठा ले गया। राम-लक्ष्मण लंका में पहुँचे और रावण को कहलाया - "आप सीता को वापस दे दो, अन्यथा युद्ध करने को तैयार हो जाओ।" उस समय रावण के मन में ऐसा विचार तो अवश्य आया कि 'अगर मैं सीता को प्रेम से वापस दे दूंगा तो राम के साथ मेरा मैत्री-सम्बन्ध बंध जाएगा। वह पवित्र पुरुष हैं। मेरे साथ वैर-विरोध या द्वेष रखें, ऐसे नहीं हैं - राम। इसके अतिरिक्त सीताजी भी अपने पतिव्रतधर्म में ऐसी दृढ़ हैं कि वह तीन काल में भी मेरी होनेवाली नहीं हैं। ये सब बातें यथार्थ हैं।' रावण के छोटे भाई विभीषण ने भी उसे बहुत समझाया था किन्तु अंदर बैठे हुए अभिमानरूपी सर्प ने फुफकारते हुए कहा - 'खबरदार ! सीता को वापस दे दी तो। अगर सामने चलकर सीता को वापस देने जाएगा तो लोग यों कहेंगे कि रावण में युद्ध करने की शक्ति नहीं थी, इसलिए सीता को वापस सौंप दी। ऐसा करने से तेरी गणना कायरों में होगी।' इन और ऐसे अभिमान के कारण रावण ने राम को सीताजी वापस नहीं सौंपी। उसके परिणामस्वरूप राम और रावण के बीच भयंकर युद्ध हुआ। उस युद्ध में लाखों मनुष्य मारे गए। अन्त में, रावण का स्वयं का भी विनाश हुआ। उसका कुल भी विनष्ट हो गया। इसीलिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "अभिमान सद्‌गुणों का कट्टर शत्रु है। उसे हटाये बिना सरलता, पवित्रता, करुणा, विनय, नम्रता, सहिष्णुता आदि सद्‌गुणों की प्राप्ति नहीं होती।"

जैन शास्त्रों में विनय, मृदुता, क्षमा, सरलता, सहिष्णुता आदि गुणों का बहुत ही महत्त्व दिया गया है। विनय से परम्परा से मोक्षप्राप्ति कैसे होती है ? इसके लिए एक गाथा में कहा है - *"विणयाओ नाणं, नाणओ दंसणं, दंसणाओ चरणं, चरणाओ मोक्खो।"* - विनय से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से जीवादि तत्त्वों का

बोध होता है। तत्त्वज्ञान से दर्शन से (सम्यग्दृष्टि, सुश्रद्धा) सम्यक्त्व प्राप्त होता है और सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) से चारित्र (सम्यक्चारित्र) की प्राप्ति होती है और सम्यक्-चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है। इस पर से स्पष्ट समझा जा सकता है कि विनय सबसे महान सद्गुण है। जीवन में यह एक ही गुण समझपूर्वक हो तो उसके पीछे सैकड़ों गुण आ जाता है। कोई मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन कर ले या सैकड़ों गाथाएँ कण्ठस्थ कर ले, तप कर ले, शरीर को कृश कर ले, ज्ञान भी प्राप्त कर ले; किन्तु उसमें अभिमान (अहंकार, मद, गर्व, दर्प) रूपी महादुर्गुण हो, तो उसकी विद्वत्ता, क्रिया या तपस्या या तत्त्वज्ञता पर पानी फिर जाता है। उसे लाखों मनुष्य भले ही खम्मा-खम्मा करते हों, पर उसमें अभिमान हो तो महानता उससे लाखों कोस दूर भाग जाती है।

अभिमान पर मुझे एक रूपक याद आ रहा है -

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, ये पाँच महाभूत हैं। एक दफा इन पंच महाभूतों की मीटिंग हुई। उस समय ये पाँचों महाभूत परस्पर लड़ने लगे। सभी अपने आप को महान, प्रमुख, मुख्य या अग्रणी कहने लगे। सर्वप्रथम वायु (पवन) आगे बढ़कर अपनी महानता का बखान करने लगा - "तुम सबमें मैं श्रेष्ठ हूँ। मेरे बिना तुम्हारी कोई कीमत नहीं है, क्योंकि जबतक श्वास है, तबतक शरीर टिक सकता है। वायु के बिना श्वास लिया नहीं जा सकता। मनुष्य जब श्वास नहीं ले सकता, तब ओक्सिजन द्वारा उसे शुद्ध हवा दी जाती है। जबतक श्वास है, तबतक सबकी आश है। श्वास बंध होते ही उस शरीर का दहन या दफन किया जाता है। इसलिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "हे जीव ! तेरे शरीर में जबतक श्वास है, तबतक तू तप, त्याग, संयम, नियम वगैरह धर्माराधना हो सके उतनी कर ले। श्वासोच्छ्वास बंद हो जाने पर कुछ भी धर्मध्यान, तप, त्याग आदि नहीं कर सकेगा।" अतः मानव-जीवन का एक-एक श्वास महा-मूल्यवान है। प्रत्येक श्वास में मानव चाहे जितनी कर्म-निर्जरा कर सकता है। श्वास बंद हो जाने पर मनुष्य चाहे जितना प्रयत्न करे, किन्तु बंद हुआ श्वास चालू करने की शक्ति किसी में नहीं है।

एक दफा एक सेठ बीमार दुःसाध्यक रोग से ग्रस्त हो गए। सेठ का श्वास बंद होने की घड़ी आ पहुँची। अन्तिम समय आ गया। सेठ के पास बहुत धन था, इसलिए सेठानी उस समय के बड़े-बड़े वैद्यों, डोक्टरों और हकीमों को बुलाया। सबसे उसने यही कहा - "चाहे जिस तरह से करके, सेठ जी पाँच-दस मिनट बोल सकें, ऐसा कोई प्रयोग करो। अगर सेठजी बोलें तो मैं वील (वसीयतनामा) करा लूं। पाँच मिनट के लिए भी आपमें कोई भी चिकित्सक सेठ जी को बुलवा दो तो मैं एक लाख रुपये दूंगी।" परन्तु सेठ का श्वास बंद हो गया था। सभी चिकित्सकों ने अपने-अपने ढंग से प्रयोग किया, प्रयत्न किया, पर सभी प्रयत्न निष्फल हुए। सेठ परलोक प्रयाण कर गए। इस पर से वायु ने कहा - "देखो ! मेरे बिना कोई भी प्रयत्न काम आया ? इसलिए मैं शरीर के संचालन में श्रेष्ठ और अग्रणी हूँ।"

तब जल (पानी) ने कहा - "वायु की जितनी जरूरत है, उतनी ही मेरी जरूरत है, शरीर को टिकाने में । मेरे बिना भी किसी की जीवन या कार्य चल नहीं सकता । अगर शरीर में पानी न हो तो वह टिक नहीं सकता । मनुष्य के शरीर में जब पानी खत्म या अत्यन्त कम हो जाता है, तब ग्लूकोज चढ़ाना पड़ता है । पानी के अभाव में शरीर सूख जाता है । अतः वायु की तरह मेरे (जल के) बिना भी काम नहीं चलता ।" इतने में अग्नि उछल कर बोली - "तुम दोनों की अपेक्षा मेरा महत्त्व विशेष है । अग्नि के बिना रोटी, खिचड़ी, हलवा आदि कोई भी अन्न पकाया नहीं जा सकता । मानव के शरीर में भी मैं (अग्नि में जठराग्नि) न होऊँ तो खाया हुआ अन्न आदि पच नहीं सकता । शरीर में अग्नि (तापमान) बराबर न हो तो शरीर ठंडा पड़ जाता है । अतः अग्नि ने कहा - "मेरा भी कम महत्त्व नहीं है ।"

इन तीन तत्त्वों (महाभूतों) की बात सुनकर आकाश गर्जकर बोला - "तुम्हारी अपेक्षा मैं कुछ कम हूँ क्या ? मैं हूँ तो मनुष्य शब्द का उच्चारण कर सकता है । आकाश के बिना शब्द बोला नहीं जा सकता । न्यायशास्त्र में कहा है - *"शब्द गुणक आकाशम्"* - शब्द आकाश का गुण है । जो मनुष्य बोल सकता है, चल सकता है, उसकी कीमत है । मेरा दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है, सब जीवों को अवकाश देने (जगह देने) का । मैं अवकाश न दूं तो प्राणी परस्पर टकराकर, खत्म हो जाएँ । इसलिए मैं व्यापक हूँ, उदार भी हूँ । मेरे जितना कोई तत्त्व व्यापक नहीं है । मनुष्य का काम या व्यवहार मेरे बिना चल नहीं सकता ।"

अबतक पृथ्वी सबकी बातें सुनती हुई शान्त होकर बैठी थी । किन्तु अब बोल उठी - "तुम सब इतना अभिमान किसलिए करते हो ? यह शरीर तो मेरे (मिट्टी) से बना है । अगर यह शरीर न होता तो तुम सब क्या करनेवाले थे ? दूसरी बात है - मैं (पृथ्वी) सबको आधार देती हूँ । मेरा सहारा लिये बिना कोई भी जीव सुखपूर्वक जी नहीं सकता । अन्न, वस्त्र, मकान या विविध उपकरण जीवों को मिल नहीं सकते । शरीरधारी सब जीवों को आश्रय देनेवाली मैं ही हूँ ।" इस प्रकार पाँचों ही तत्त्वों - महाभूतों ने अपनी-अपनी महानता और महत्ता बताई ।

बन्धुओं ! मैं तुमसे पूछती हूँ कि इन पाँच महाभूतों ने अपनी-अपनी विशेषता, उपयोगिता और महत्ता बताई, इनमें कौन मुख्य है, कौन गौण है ? तुम कहोगे कि ये सब एक-दूसरे के सहायक हैं । एक-दूसरे के बिना काम नहीं चल सकता । इसलिए किसी को अभिमान करने की जरूरत नहीं है कि 'मैं बड़ा नेता हूँ, मैं बड़ा पण्डित हूँ । मैं महान हूँ अथवा मेरे बिना किसी का काम नहीं चलता ।' जबतक अभिमान नहीं निकलेगा, तबतक जीवन में सद्गुण की सुवास नहीं आएगी । मानव ! जरा सोच-विचार ! चार दिन की चाँदनी जैसा तेरा जीवन है । साथ में क्या ले जाना है ? तू चाहे जितना धन संचित करेगा, परन्तु तेरे साथ में आनेवाला नहीं है । इसलिए वैर-विरोध

ईर्ष्या, मात्सर्य, पर-परिवाद (परनिन्दा), राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि दुर्गुणों को, दुर्विचारों को, दुष्ट अध्यवसायों को छोड़कर सद्गुणों की सुवास से तू अपना जीवन भर ले, चन्दन जैसी शीतलता जीवन में अपना ले। चन्दन जलकर भी सुगन्ध देता है, वैसे कोई तेरा चाहे जितना अहित-अनिष्ट करे, किन्तु तू अपना स्वभाव मत छोड़ना। चन्दन जैसा शीतल बनना, कभी कटुवाणी मत बोलना। कोई जीव दुःख से आकुल-व्याकुल होकर तेरे पास आए तो उसे शान्ति देना। ऐसे सद्गुणों की सौरभ से जिसका जीवन महक उठेगा, उसकी ओर लोक आकर्षित होंगे।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

जिनका जीवन सद्गुण की सौरभ से महक रहा है, वैसे मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार चल रहा है। जितशत्रुराजा चोक्षा परिव्राजिका को आती देखकर सिंहासन से उठकर खड़े हो गए और उनका सत्कार करके बैठने के लिए आसन दिया। तब वह चोक्षा परिव्राजिका जमीन पर पानी छींटकर उस पर दर्भ बिछाकर अपने आसन पर बैठ गई। तत्पश्चात् -

"जियसत्तु-रायं रज्जेय जाव (रट्ठेय कोसेय कोट्ठागारे य बलेय वाहणे य पुरेय) अंतेउरे य कुस लोदंतं पुच्छइ।"

फिर उस (चोक्षा परिव्राजिका) ने जितशत्रुराजा से राज्य [राष्ट्र, कोश, कोठार, बल (सैन्य) वाहन और पुर] यावत् अन्तःपुर (रनिवास) के क्षेम-कुशल के समाचार पूछे। यानि राजा से उसने पूछा - "आपका राज्य यावत् अन्तःपुर के कुशल समाचार पूछे कि सर्वत्र क्षेमकुशाल है न? इस प्रकार क्षेम-कुशल का वृत्तान्त पूछकर फिर वह दान-धर्म, शौचधर्म वगैरह की प्ररूपणा करने लगी और राजा तथा उनकी रानियाँ सुनने लगी।

चोक्षा परिव्राजिका ने दान धर्म और शौचधर्म की जो सब बातें कहीं, उन्हें जितशत्रुराजा ने प्रेम से सुनी, किन्तु उस विषय में उन्होंने लम्बी चर्चा नहीं की, क्योंकि उस बारे में उन्हें अधिक दिलचस्पी नहीं थी। जिसको जिस विषय में रस होता है, उस विषय की बात आए तो उसे अच्छी लगती है। यह जितशत्रुराजा अपने अन्तःपुर की रानियों के रूप और सौन्दर्य में मुग्ध रहता था। उसके मन में ऐसा गर्व था कि मेरे जैसा अन्तःपुर किसी का नहीं है, हो भी नहीं सकता। इसलिए बहुत विस्मित होकर राजा ने चोक्षा परिव्राजिका से इस प्रकार पूछा -

तुमंणं देवाणुप्पिए! बहूणि गामागर जाव अडसि, बहूण य राईसर गिहाइं अणुपविससि, तं अत्थियाई ते कस्सविरण्णो वा जाव (ईसरस्स वा कहिंचि) एरिसए ओरोहे दिट्ठपुव्वे, जारिसएणं इमे मह उवरोहे?"

"हे देवानुप्रिये ! आप बहुत-से गाँवों, नगरों, आकरों (स्थानों), खेड़ों, कर्बटों वगैरह स्थानों में आवागमन करती रहती हो, तथा अनेक राजाओं, ईश्वरों, तलवरों आदि के घरों में बारबार प्रवेश करती हो, तो आपने किसी भी राजा आदि को मेरे जैसा अन्तःपुर पहले कभी देखा है ? मेरे अन्तःपुर में जैसी रूपवती सौन्दर्यशालिनी रानियाँ हैं, वैसी कहीं दूसरे राजाओं आदि के अन्तःपुर में हैं ?"

बन्धुओं ! जिसके पास जैसा माल होता है, वह उसे ही बाहर निकालता है (लोगों को बताता है) । चेक्षा परिव्राजिका के पास शौचधर्म का माल था, इसलिए उसने राजा के समक्ष उस धर्म की बात कही । जबकि राजा के पास मोह का (मोहवर्द्धक) माल था, इसलिए उसने चोक्षा से अन्तःपुर से सम्बन्धित पृच्छा की । हमारे पास कोई आए तो हम उसे तप, त्याग और संयम की बात कहते हैं । तुम सब मिलते हो, तब संसार (व्यवहार) की बातें करते हो । (हँसाहँस) चोक्षा परिव्राजिका से राजा ने पूछा, तब चोक्षा परिव्राजिका राजा की बात सुनकर जरा मुस्कराई, फिर इस प्रकार बोली -

"एवं च सरिसएणं तुमं देवाणुप्पिया ! तस्स अगड-दद्दुरस्स ।"

हे देवानुप्रिये ! इस प्रकार की बात कहते हुए तुम इस बारे में कुँए में मेंढक के समान हो ।" कोई आदमी किसी से कोई बात पूछे और सामनेवाला व्यक्ति जरा हंसकर उसकी बात का जवाब दे तो चतुर व्यक्ति तुरंत समझ जाता है कि यह मेरा मजाक उड़ाता है । यह तो बड़ा राजा था । उसके प्रश्न का जवाब देते समय हंसना कोई सामान्य बात नहीं है और राजा को कह देना कि तुम इस बारे में कुँए के मेंढक जैसे हो, क्या यह जैसी-तैसी बात है ? जो मुखमंगलिया होते हैं, वे इस प्रकार स्पष्ट बात नहीं कह सकते । किन्तु इस चोक्षा परिव्राजिका ने राजा के द्वारा किये गए प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट कह दिया कि 'राजन् ! तुम कुँए के मेंढक जैसे हो ।' फिर भी राजा ने प्रेम से पूछा -

"केस णं देवाणुप्पिए ! से अगड-दद्दुरे ?"- "हे देवानुप्रिये ! आपने मुझे कहा कि तुम कुँए के मेंढक जैसे हो तो वह कुँए का मेंढक कैसा होता है, यह बात मुझे साफतौर से समझाइए ।" अब चोक्षा परिव्राजिका जितशत्रुराजा को कुँए का मेंढक कैसा होता है, इस विषय में कैसे समझाएगी, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार सत्यभामा को **'ॐ ह्रीं रुंड मुंड स्वाहा'** इस मंत्र का जाप करने का कहकर अपनी अधूरी विद्या को सिद्ध करने का बहाना बनाकर सत्यभामा से घोड़ा लेकर वहाँ से भाग गया । सत्यभामा के मन में डर है कि 'वह मुझे कुरूपा बनाकर चला गया है । पता नहीं, वह अब वापस आएगा या नहीं ? भानुकुमार के विवाह की धूम मची हुई है, इसलिए शायद कृष्णजी यहाँ पधारें और मुझे ऐसी हालत में देखेंगे तो क्या

ईर्ष्या, मात्सर्य, पर-परिवाद (परनिन्दा), राग-द्वेष, कलह, अभ्यारण्य आदि दुर्गुणों को, दुर्विचारों को, दुष्ट अध्यवसायों को छोड़कर सद्गुणों की सुवास से तू अपना जीवन भर ले, चन्दन जैसी शीतलता जीवन में अपना ले । चन्दन जलकर भी सुगन्ध देता है, वैसे कोई तेरा चाहे जितना अहित-अनिष्ट करे, किन्तु तू अपना स्वभाव मत छोड़ना । चन्दन जैसा शीतल बनना, कभी कटुवाणी मत बोलना । कोई जीव दुःख से आकुल-व्याकुल होकर तेरे पास आए तो उसे शान्ति देना । ऐसे सद्गुणों की सौरभ से जिसका जीवन महक उठेगा, उसकी ओर लोक आकर्षित होंगे ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

जिनका जीवन सद्गुण की सौरभ से महक रहा है, वैसे मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार चल रहा है । जितशत्रुराजा चोक्षा परिव्राजिका को आती देखकर सिंहासन से उठकर खड़े हो गए और उनका सत्कार करके बैठने के लिए आसन दिया । तब वह चोक्षा परिव्राजिका जमीन पर पानी छींटकर उस पर दर्भ बिछाकर अपने आसन पर बैठ गई । तत्पश्चात् -

"जियसत्तु-रायं रज्जेय जाव (रट्ठेय कोसेय कोट्ठागारे य बलेय वाहणे य पुरेय) अंतेउरे य कुस लोदंतं पुच्छइ ।"

फिर उस (चोक्षा परिव्राजिका) ने जितशत्रुराजा से राज्य [राष्ट्र, कोश, कोठार, बल (सैन्य) वाहन और पुर] यावत् अन्तःपुर (रनिवास) के क्षेम-कुशल के समाचार पूछे । यानि राजा से उसने पूछा - "आपका राज्य यावत् अन्तःपुर के कुशल समाचार पूछे कि सर्वत्र क्षेमकुशाल है न ? इस प्रकार क्षेम-कुशल का वृत्तान्त पूछकर फिर वह दान-धर्म, शौचधर्म वगैरह की प्ररूपणा करने लगी और राजा तथा उनकी रानियाँ सुनने लगी ।

चोक्षा परिव्राजिका ने दान धर्म और शौचधर्म की जो सब बातें कहीं, उन्हें जितशत्रुराजा ने प्रेम से सुनी, किन्तु उस विषय में उन्होंने लम्बी चर्चा नहीं की, क्योंकि उस बारे में उन्हें अधिक दिलचस्पी नहीं थी । जिसको जिस विषय में रस होता है, उस विषय की बात आए तो उसे अच्छी लगती है । यह जितशत्रुराजा अपने अन्तःपुर की रानियों के रूप और सौन्दर्य में मुग्ध रहता था । उसके मन में ऐसा गर्व था कि मेरे जैसा अन्तःपुर किसी का नहीं है, हो भी नहीं सकता । इसलिए बहुत विस्मित होकर राजा ने चोक्षा परिव्राजिका से इस प्रकार पूछा -

तुमंणं देवाणुप्पिए ! बहूणि गामागर जाव अडसि, बहूण य राईसर गिहाइं अणुपविससि, तं अत्थियाई ते कस्सविरण्णो वा जाव (ईसरस्स वा कहिंचिं) एरिसए ओरोहे दिट्ठपुव्वे, जारिसएणं इमे मह उवरोहे ?"

"हे देवानुप्रिये ! आप बहुत-से गाँवों, नगरों, आकरों (स्थानों), खेड़ों, कर्बटों वगैरह स्थानों में आवागमन करती रहती हो, तथा अनेक राजाओं, ईश्वरों, तलवरों आदि के घरों में बारबार प्रवेश करती हो, तो आपने किसी भी राजा आदि को मेरे जैसा अन्तःपुर पहले कभी देखा है ? मेरे अन्तःपुर में जैसी रूपवती सौन्दर्यशालिनी रानियाँ हैं, वैसी कहीं दूसरे राजाओं आदि के अन्तःपुर में हैं ?"

बन्धुओं ! जिसके पास जैसा माल होता है, वह उसे ही बाहर निकालता है (लोगों को बताता है) । चेक्षा परिव्राजिका के पास शौचधर्म का माल था, इसलिए उसने राजा के समक्ष उस धर्म की बात कही । जबकि राजा के पास मोह का (मोहवर्द्धक) माल था, इसलिए उसने चोक्षा से अन्तःपुर से सम्बन्धित पृच्छा की । हमारे पास कोई आए तो हम उसे तप, त्याग और संयम की बात कहते हैं । तुम सब मिलते हो, तब संसार (व्यवहार) की बातें करते हो । (हँसाहँस) चोक्षा परिव्राजिका से राजा ने पूछा, तब चोक्षा परिव्राजिका राजा की बात सुनकर जरा मुस्कराई, फिर इस प्रकार बोली -

"एवं च सरिसएणं तुमं देवाणुप्पिया ! तस्स अगड-दद्दुरस्स !"

हे देवानुप्रिये ! इस प्रकार की बात कहते हुए तुम इस बारे में कुँए में मेंढक के समान हो ।" कोई आदमी किसी से कोई बात पूछे और सामनेवाला व्यक्ति जरा हंसकर उसकी बात का जवाब दे तो चतुर व्यक्ति तुरंत समझ जाता है कि यह मेरा मजाक उड़ाता है । यह तो बड़ा राजा था । उसके प्रश्न का जवाब देते समय हंसना कोई सामान्य बात नहीं है और राजा को कह देना कि तुम इस बारे में कुँए के मेंढक जैसे हो, क्या यह जैसी-तैसी बात है ? जो मुखमंगलिया होते हैं, वे इस प्रकार स्पष्ट बात नहीं कह सकते । किन्तु इस चोक्षा परिव्राजिका ने राजा के द्वारा किये गए प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट कह दिया कि 'राजन् ! तुम कुँए के मेंढक जैसे हो ।' फिर भी राजा ने प्रेम से पूछा -

"केस णं देवाणुप्पिए ! से अगड-दद्दुरे ?"- "हे देवानुप्रिये ! आपने मुझे कहा कि तुम कुँए के मेंढक जैसे हो तो वह कुँए का मेंढक कैसा होता है, यह बात मुझे साफतौर से समझाइए ।" अब चोक्षा परिव्राजिका जितशत्रुराजा को कुँए का मेंढक कैसा होता है, इस विषय में कैसे समझाएगी, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार सत्यभामा को **'ॐ ह्रीं रुंड मुंड स्वाहा'** इस मंत्र का जाप करने का कहकर अपनी अधूरी विद्या को सिद्ध करने का बहाना बनाकर सत्यभामा से घोड़ा लेकर वहाँ से भाग गया । सत्यभामा के मन में डर है कि 'वह मुझे कुरूपा बनाकर चला गया है । पता नहीं, वह अब वापस आएगा या नहीं ? भानुकुमार के विवाह की धूम मची हुई है, इसलिए शायद कृष्णजी यहाँ पधारें और मुझे ऐसी हालत में देखेंगे तो क्या

होगा ?" ऐसे अनेक विचार उसके मस्तक में घूम रहे हैं । यह बात अब यहीं स्थगित करती हूँ । अब आप लोगों का ध्यान रुक्मिणी की ओर खींचती हूँ ।

जब से प्रद्युम्नकुमार का अपहरण हुआ, तब से पुत्र के वियोग में रुक्मिणी तो शोकमग्न रहती थी, तीन-तीन खण्ड का राज्य-वैभव था, कृष्ण महाराज भी जिसे खम्मा-खम्मा कहते थे, उस रुक्मिणी को पुत्र के बिना सब सूखा-सूखा लगता था। किन्तु आज (पुत्रवियोग को) १६ वर्ष पूरे होने आए हैं, इसलिए रुक्मिणी के हृदय में आज अवर्णनीय आनन्द छाया हुआ है । इधर प्रद्युम्नकुमार के दिल में भी अपनी जननी माता के दर्शन करने की चटपटी लगी हुई है, इसलिए वह सत्यभामा को (ईर्ष्या करने के बदल में) सबक सिखाकर तुरंत वहाँ से चल पड़ा । और रुक्मिणी के मन में हर्ष समा नहीं रहा है । वह सोच रही है कि अभी मेरा पुत्र आएगा और मैं उसे हाथों में उठाकर छाती से लगा लूंगी । वह कहाँ से आएगा ? किधर से आकर कब मुझ से मिलेगा ? यों बहुत प्यार से पुत्र से मिलने के अनेक प्रकार के विचार करती हुई रुक्मिणी विविध विचारों रूपी पुष्पों की माला गूंथ रही है । इसके हृदय में अपार हर्ष है । हर्षावेश में गाती हुई वह कहती है -

"सुनें सहेली आज मेरा, प्यारा लाल आवेगा ।
यादवकुल सिणगार मदन लख, नयनानन्द छावेगा ।।" श्रोता...

"मेरी प्यारी सखियों ! हे मेरी दासियों ! तुम मेरी बात सुनो । आज मेरा प्रिय पुत्र जो सोलह-सोलह वर्षों से मुझे छोड़कर चला गया था, वह प्रद्युम्नकुमार, जो समस्त यादवकुल के भूषण जैसा श्रृंगाररूप है, वह भगवान् सीमन्धरस्वामी के कथनानुसार आज आ जाएगा । उसे देखकर मेरी आँखें ठंडी हो जाएँगी, मेरा हृदय तो हर्ष से नाच उठेगा । हे साखियों ! मैं क्या कहूँ तुमसे ? आज मेरे हृदय में जो आनन्द हो रहा है, वह अलौकिक है । इतने दिनों से खाती थी, पानी भी पीती थी, परन्तु मुझे (अन्न-जल) भाता नहीं था । किन्तु आज तो भोजन मुझे अमृत तुल्य मधुर लगा और आज तक मैंने जिस आनन्द का अनुभव नहीं किया, वैसा अनुभवात्मक आनन्द मुझे हो रहा है । अतः हे सखियों और दासियों ! तुम कृष्णजी के पास जाकर कहो कि सीमन्धर भगवान् के वचनानुसार आज अपना लाडला लाल प्रद्युम्नकुमार पधारनेवाला है । अतः आप सारी द्वारिका नगरी श्रृंगारित कराओ, मंगल वाद्य बजवाओ, तथैव हे सखियों ! कुमारी कन्याओं के मस्तक पर मंगलकलश रखाकर उन्हें कतारबद्ध खड़ी रखे, जगह-जगह सच्चे मोतियों के स्वस्तिक बनवाओ । हाथियों और घोड़ों को श्रृंगार कराकर खड़े रखो, ताकि मेरा लाडला पुत्र आ रहा है, इसलिए मैं ऐसे ठाठबाठ से उसका स्वागत कर सकूँ ।"

बन्धुओं ! पुत्र को निहारने के लिए रुक्मिणी के हृदय में अपार आनन्द है । इसका हृदय आनन्द के हिलोरे पर चढ़ा है । यहाँ तुम सब लोगों को समझना आवश्यक है कि सन्तानों के प्रति माता का कितना प्रेम होता है । किन्तु आज की सन्तान माता-पिता को

प्रायः भूल जाती है । जिसका हृदय आनन्द की लहरों पर उछल रहा है, ऐसी म
रुक्मिणी ने सिंह केसरिया मोदक बनवाए, ताकि मेरा प्यारा नन्दन आएगा और पि
पुत्र दोनों साथ बैठकर भोजन करेंगे । दूसरी ओर प्रद्युम्नकुमार सत्यभामा के पास
निकल कर रुक्मिणी के महल में आया ।

रुक्मिणी माता के महल में प्रद्युम्नकुमार के विविध पराक्रम : हृदय को चौं
दे ऐसा मनोहर रत्नजटित महल देखकर कुमार ने विद्या से पूछा - "यह महल किस
है ?" विद्या ने कहा - "कुमार ! तेरे वियोग में सोलह-सोलह वर्षो से कल्पान्त क
हुई, तुम्हें मिलने के लिए आतुर (अधीर) हो रही तुम्हारी माता, कृष्ण वासुदेव की
पटरानी, जैनधर्म के प्रति अत्यन्त अनुरागी, देव-गुरु-धर्म के लिए प्राणार्पण करनेवा
वात्सल्य-स्रोतस्विनी माता रुक्मिणी का यह महल है ।" यह सुनते ही प्रद्युम्नकुमार
मन में विचार स्फुरित हुआ - 'तब तो मैं जैनमुनि का वेष पहनूं ।' किन्तु अन्तर से दू
आवाज आई-'नहीं-नहीं । यह वेष धारण करने के बाद उतारा नहीं जाता, मुझे तो अ
विवाह करना है ।' (हँसाहँस) प्रद्युम्नकुमार की चिन्ता अनुसार विद्या ने उसे साधुवेश प
दिया । इसे देख प्रद्युम्न एकदम चौंका । विद्या ने कहा - "तू चिन्ता मत कर । तेरी म
के सिवाय तुझे कोई भी साधुवेश में नहीं देख सकेगा । अब जिसके बगल में रजोह
है, मुख पर मुखवस्त्रिका है, हाथ में गौचरी के पात्र रखी हुई झोली है, ऐसे बालमु
सहसा रुक्मिणी के महल में पधारे । रुक्मिणी के हर्ष का पार नहीं है । सात-आठ क
सामने जाकर उसने मुनि को वन्दन किया । मुनिराज ने कहा - "धर्मलाभ ।" (हँसाहँ
रुक्मिणी एकदम आनन्दित हो उठी । अहो ! आज मेरा लाडला पुत्र आनेवाला है । इ
इस बीच ऐसे पवित्र मुनिराज पधारे हैं । धन्य घड़ी, धन्य भाग्य ! आज मेरे मांगल्य
मुनिराज के पधारने से अधिक मंगल हुआ है । मुनि ने कहा - "माता ! मुझे भिक्षा दे
मैं बहुत दूर-सुदूर से विहार करके आया हूँ । मुझे बहुत भूख और थकान लगी है । अ
जल्दी से बहराओ ।" यों कहकर कृष्ण वासुदेव के सिंहासन पर जाकर
गए । यह देखकर रुक्मिणी को बहुत आश्चर्य हुआ । यह जैनधर्म और जैन-साधु-श्राव
के आचार-विचार की पूरी जानकार थी । अतः उसने मन में सोचा - 'जैनमुनि क
सिंहासन पर नहीं बैठते । यह बालमुनि हैं, कदाचित् बालक-बुद्धि से बैठ गए होंगे
यों विचार करके रुक्मिणी ने कहा - "महाराजजी ! यह सिंहासन देवाधिष्ठित है, इसलि
इस सिंहासन पर कृष्ण वासुदेव या उनके पुत्र बैठने के अधिकारी हैं, अन्य कोई इ
सिंहासन पर बैठ नहीं सकता । उसमें आप तो जैनमुनि हैं । इसलिए आपको तो इस सो
के सिंहासन पर बैठना उचित नहीं है, अतः आप दूसरे आसन पर बैठिए ।" इस प्रक
रुक्मिणी ने बहुत नम्रतापूर्वक कहा । तब बालमुनि ने कहा - "हे श्राविके ! तू मेरी चिन
मत कर कि इस देवाधिष्ठित सिंहासन पर मुनि बैठ गए हैं तो देव इस पर कोपायमा
हो जाएँगे, या इनका क्या होगा ? ऐसी मेरी चिन्ता बिलकुल नहीं करना । मैं कोई सामा
साधु नहीं हूँ । मेरी लब्धि के प्रभाव से देव भी मेरी सेवा करते हैं । ऐसे लब्धि-

धर्मगुरु की जो सच्चे दिल से सेवा करते हैं, वे मनोवांछित सुख पाते हैं ।" यह सुनकर रुक्मिणी ने कहा - "गुरुदेव ! मुझे मालूम नहीं था कि आप लब्धिधारी मुनिराज हैं, मैंने ऐसा कहकर आपकी आशातना की है, मेरे इस अपराध के लिए मुझे क्षमा करें ।"

रुक्मिणी ने मुनि से किये कई प्रश्न : मुनि से क्षमा मांगकर रुक्मिणी ने पूछा - "महाराजश्री ! आपने इतनी छोटी उम्र में दीक्षा क्यों ली ? आपके माता-पिता कौन हैं और आपके गुरुदेव कौन हैं ? अगर आपको कोई हर्ज (आपत्ति) न हो तो कृपा कर मुझे बताइए ।" इस प्रकार रुक्मिणी ने मुनि से प्रश्न पूछे । मुनि इन प्रश्नों का क्या उत्तर देंगे, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - ९६

आसो वदी ९, शनिवार | ता. १६-१०-७६

परभावों से दूर हटो : स्व-भाव में सतत जुटो

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

अनन्त करुणानिधि, सर्वज्ञ वीतराग-भगवन्त ने कहा है - "हे भव्यजीवों ! यदि तुम्हें शाश्वत और सच्चा सुख चाहिए तो परभव का त्याग करो और स्व-भव में आओ । स्व-भव की साधना के बिना स्वाधीन, शाश्वत और पूर्ण सुख की प्राप्ति नहीं होगी । विषय और कषाय, राग, द्वेष, मोह आदि सब पर-भाव हैं । विषयों के प्रति विरक्ति, कषाय-नोकषायों पर विजय तथा क्षमा आदि उत्तम धर्म में रमणता करना स्व-भाव में रमण है । विषय-कषायादि में रमण करनेवाला आत्मा तीन काल में सुखी नहीं हो सकता । इसके विपरीत विषयों के प्रति विरक्त और क्षमादि गुणों में रमणकर्ता आत्मा दुःखी नहीं हो सकता । स्व-भाव में रमण करें, तबतक सुख है, और स्व-भाव को छोड़कर पर-भाव में रमण करने लगे; तब दुःख चिपट गया समझो । अतः यदि सुखी होना हो तो स्व-भाव में स्थिर रहो । स्व-भाव में रमणता शिव-सुख का भोक्ता बनाएगी । परन्तु यह जीव तो (अनादिकालिक संस्कार के कारण) यों मान बैठा है कि क्रोध किये बिना कैसे चल सकता है ? हम तो संसारी जीव हैं । व्यापार में ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं कि सहज ही क्रोध अ जाता है । हमारे रुतबे (दर्जे) के अनुसार मान-सम्मान न मिले तो अभिमान आ जाए न ? और व्यवसाय में माया किये बिना तो चलता ही नहीं । और लोभ किये बिना मनोज्ञ लाभ नहीं मिलता । तथा विषयों के प्रति रागभाव (आसक्ति) रहित जीवन में क्या आनन्द ? इस जीव की कैसी अज्ञान दशा है ? ज्ञानीपुरुष कहते

है - **"खाखरानी** (ढाक के पत्र की) **खिसकोली (छंछुदर) साकर(शक्कर)ना स्वादने शुं समझे"** वैसे ही पर-भाव में पागल बने हुए प्रेमी को स्व-भाव के सुख के स्वाद का क्या पता लगे ?

बन्धुओं ! क्षमा, नम्रता, सरलता, सन्तोष और विषय के त्याग में सुख है, फिर भी मोहाधीन जीव को यह बात समझ में नहीं आती । इस कारण वह चाहे जितने उपदेश सुने, चाहे जितनी तपश्चर्या करे या व्रत-नियमों का पालन करे, तथापि अपनी मान्यता छोड़ने को तैयार नहीं होता । परन्तु मैं तो तुम्हें स्पष्ट कहती हूँ कि अगर जीव को शाश्वत सुख पाना होगा तो कषायों का त्यागो और विषयों के प्रति वैराग्य लाये बिना काम नहीं चलेगा ।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' में प्रचलित अधिकार है - जितशत्रुराजा का । उसने चोक्षा परिव्राजिका से कहा कि "आपने मेरे जैसा अन्तःपुर देखा है ?" इसके उत्तर में चोक्षा ने हंसकर कहा - "महाराजा ! आप इस बारे में कुँए के मेंढक जैसे लगते हैं ।" जितशत्रुराजा बहुत भद्रिक थे । उन्होंने मुस्कराकर पूछा - "कुँए का मेंढक कैसा होता है ? यह मुझे समझाओ ।" तब चोक्षा परिव्राजिका ने एक रूपक द्वारा समझाया - "राजन् ! कोई कुँए का मेंढक एक कुँए में उत्पन्न हुआ, कुँए में ही बड़ा हुआ (वृद्धि पाया), इस कारण उसने दूसरे कुँओं, तालाबों, द्रहों, झीलों अथवा समुद्रों तक को देखे नहीं थे, इसलिए वह यों मानता था कि तालाब कहो या छोटे-बड़े जलाशय कहो, यहाँ तक कि समुद्र कहो, ये सब मेरे कुँए में हैं । मेरे कुँए के अतिरिक्त या कुँए से बड़ा जलाशय नहीं है । परन्तु एक दिन क्या हुआ ? एक दिन उस कुँए में दूसरा कोई समुद्र में रहनेवाला मेंढक शीघ्रता से आ गया । उसे आये हुए देखकर कुँए के मेंढक ने समुद्र मेंढक से पूछा - "तुम कौन हो ? इस समय तुम उतावले-उतावले कहाँ से आ रहे हो ?" इसके जवाब में समुद्र मेंढक ने कूपमंडूक से इस प्रकार कहा - *'एवं खलु देवाणुप्पिया ! अहं सामुद्दए दद्दुरे'* - 'हे देवानुप्रिये ! मैं (तुम्हारा ही जातिभाई) समुद्र में रहनेवाला मेंढक हूँ ।' उसकी बात सुनकर कुँए के मेंढक ने समुद्री मेंढक से पूछा - "समुद्र कितना बड़ा है ?" समुद्री मेंढक बोला - "समुद्र तो (इससे कई गुना बड़ा) विशाल है ।" यह सुनकर कुँए के मेंढक ने अपने पैर से एक लकीर खींची और उससे कहा - "क्या समुद्र इतना विशाल है ?" समुद्री मेंढक बोला - "तूने जो लकीर खींची है, उसकी अपेक्षा समुद्र अनेक गुना विशाल है । तेरे द्वारा खींची हुई लकीर समुद्र का माप नहीं बता सकती ।" यह सुनकर कुँए का मेढक, जहाँ बैठा था, उस कुँए के एक किनारे पर से कूदकर कुँए के दूसरे किनारे तक कूद कर गया और वहाँ जाकर कहने लगा - "भाई ! तुम जिस समुद्र की बात करते हो, तो क्या समुद्र इतना बड़ा है " इस प्रकार कुँए के मेंढक की बात

सुनकर समुद्री मेंढक ने कहा – 'भाई ! क्या कहूँ । समुद्र को प्रत्यक्ष देखने से ही उसकी विशालता का ज्ञान हो सकता है । मुख से कहने से, या लकीर खींचकर बताने से समुद्र की विशालता का ज्ञान नहीं हो सकता ।"

कई मनुष्यों की दशा कुँए की मेंढक जैसी होती है । अपने पास कुछ भी होता नहीं, स्वयं कुछ भी देखा न हो, परन्तु वे फुग्गो की तरह फूलकर कुप्पा हो जाते हैं । ढींग हांकते रहते हैं कि मेरे पास ऐसी शक्ति है, मेरा पावर ऐसा है, मेरे सामने कोई टिक नहीं सकता । मैंने यह देखा है, और वह देखा है, परन्तु उसकी बात में कोई वजन नहीं होता । किन्तु गम्भीर मनुष्यों के पास चाहे जितना धन हो, चाहे जितना देखा हो, वे जरा-सा भी नहीं कहते । वे अभिमान से फूलते नहीं । गहन, गम्भीर वटवृक्ष जैसे होते हैं वे । कुँए के मेंढक का दृष्टान्त देकर चोक्षा ने कहा – "हे जितशत्रुराजा ! कूपमंडूक ने दूसरे कुँए, *तालाब, द्रह, या समुद्र वगैरह देखे नहीं थे, इस कारण वह मानता था कि* मेरा कुँआ ही तालाब है, सरोवर है, द्रह है या समुद्र आदि जलाशय है, इस (कुँए) से कोई भी जलाशय बड़ा नहीं है । इसी प्रकार हे राजन् ! आपने भी किसी दिन राजेश्वर, तलवर, सार्थवाह, इभ्यसेठ आदि की स्त्रियों को, बहनों को, पुत्रियों को या पुत्रवधूओं को *देखी नहीं है, इस कारण आप यों मानते हैं कि मेरे जैसा अन्तःपुर अन्यत्र कहीं नहीं* है । अर्थात् – मेरे जैसी रानियाँ दूसरे किसी राजा के अन्तःपुर में नहीं होगी । हे राजन् ! आपको अपने राज्य में बैठे-बैठे क्या पता लगे कि कैसी-कैसी सौन्दर्यवान् रूपवती रानियाँ, राजकुमारियाँ आदि दूसरे राजा के अन्तःपुर में हैं ?"

चोक्षा परिव्राजिका की बात सुनकर जितशत्रुराजा के मन में विचार हुआ कि 'यह परिव्राजिका मुझे यों कहती है तो कहीं दूसरी जगह मेरे अन्तःपुर की अपेक्षा भी विशेष अच्छा अन्तःपुर इसने देखा होगा, तभी तो इस प्रकार कहती है ।' तभी चोक्षा ने कहा – "तुम्हें ऐसा लगता है कि मेरा अन्तःपुर सुन्दर है । तो लो सुनो – मिथिला नगरी में प्रभावती रानी की आत्मजा और कुम्भकराजा की पुत्री मल्लीकुमारी अपने रूप और यौवन से इतनी अधिक उत्कृष्ट और उत्कृष्ट शरीरवाली सुन्दर है कि उसके सामने देवकन्या भी कुछ नहीं है । इन्द्र की अप्सरा का तेज भी उसके सामने फीका पड़ता है । हे राजन् ! अधिक तो क्या कहूँ ?

'विदेहराय-वरकण्णाए छिण्णस्स वि पायंगुट्ठगस्स इमे तवोरोहे सय-सहस्सतिमंपि कलं न अग्घइ त्तिकट्टु जामेवदिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ।'

विदेहराजा की उत्तम कन्या के पैर के कटे हुए अंगूठे के नख के लाखवें भाग के बराबर भी तुम्हारा यह अन्तःपुर नहीं है ।" संक्षेप में चोक्षा ने कहा – "मल्लिकुमारी का जैसा रूप है, उसके देह की जो तेजस्विता और कान्ति है, उसके आगे तुम्हारी रानियों का

रूप पानी भरता है। उसके नख जितना भी तुम्हारी रानियों का रूप नहीं है।" इस प्रकार कहकर चोक्षा जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा की तरफ वापस चली गई।

चोक्षा परिव्राजिका तो चली गई, किन्तु मल्लीकुमारी के रूप और सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर जितशत्रुराजा के मन में विचार आया कि 'यह मल्लिकुमारी कैसी होगी ? इसे अगर मैं अपनी रानी बनाऊँ तो मेरी जिन्दगी सफल हो जाए, मेरा अन्तःपुर सुशोभित हो उठे।' यों मल्लीकुमारी के प्रति जितशत्रुराजा को अनुराग उत्पन्न हुआ। जितशत्रुराजा ने दूतों को बुलाया और पहले के पाँच राजाओं की तरह कहा कि तुम मिथिला नगरी जाओ। वहाँ जाकर कुम्भकराजा से मेरे लिए मल्लीकुमारी की मांग करो।" राजा का आदेश होने से दूत मिथिला नगरी जाने के लिए रवाना हुआ।

मल्लीकुमारी के पूर्व के ६ मित्रों की बात चल रही थी। उन छहों राजाओं ने मल्लीकुमारी के रूप और गुण की प्रशंसा सुनी और उन्हें मल्लीकुमारी के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। फिर उन छहों राजाओं ने मल्लीकुमारी की मांग करने के लिए अपने-अपने दूतों को मिथिला रवाना किया। मल्लीकुमारी तो एक है, और उसके लिए छह राजाओं की ओर से मांग का सन्देश है। छहों दिशाओं में से ६ राजाओं के दूत मिथिला नगरी पहुँचे। वहाँ क्या होगा, उसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

रुक्मिणी ने बालमुनि से पूछा था कि "आपके माता-पिता और गुरु कौन हैं ? आपने इतनी छोटी उम्र में दीक्षा क्यों ली ?" तब मुनि ने चतुराई से कहा – "हे श्राविके ! तू जैनधर्म में प्रवीण है। तुझे ऐसी बात किसलिए करनी चाहिए ? यह सब सांसारिक बातें कहलाती हैं। अगर तुझे मुझसे कुछ पूछना हो तो ज्ञान-ध्यान की बात पूछ सकती हो। साधु के आचार-विचार के विषय में पूछना हो तो पूछ सकती हो। फिर भी अगर तुझे जानना हो तो सुन।"

इस पृथ्वी पर मेरा जन्म हुआ है। पृथ्वीपति मेरा पिता है और पृथ्वी मेरी माता है। और मुझे तो बचपन से सहजभाव से संसार असार लगता था। दीक्षा लेने के लिए गुरु की बहुत खोज की, किन्तु मेरे योग्य कोई गुरु नहीं मिला, तब मैंने स्वयं ही दीक्षा ली है। अतः मैं ही मेरा गुरु हूँ। मैंने स्वयं प्रतिबोध पाया है। अतः मैंने अरिहन्त-प्रभु की साक्षी से दीक्षा ली है। मैं बहुत दूर-दूर से अनेक ग्राम-नगरों में अनेक भव्यजीवों को प्रतिबोध प्राप्त कराता-कराता इस द्वारिका नगरी में आया हूँ। मैं सोलह-सोलह वर्षो का उपवासी हूँ। उग्र-तपश्चर्या का पारणा करने के लिए तेरे घर आया हूँ।" तब रुक्मिणी ने कहा – "महाराज ! भगवान् के वचन हैं कि इस काल में कोई एक वर्ष से अधिक तपश्चर्या नहीं कर सकता। किन्तु आप कहते हैं कि मेरे सोलह वर्ष से तपश्चर्या है, इसे मैं कैसे मानूं ?" तब मुनि ने कहा –

"आज तलक उपवास किया है, माता स्यान हराम ।
बातों से नहीं गड़ी होय तू, देने का कर काम ।।" श्रोता...

"हे श्राविका रुक्मिणी ! तू मेरी बात को सच नहीं मानती । किन्तु अगर मैंने जन्म लेकर माँ का दूध पीया हो या इस द्वारिका नगरी का पानी पीया हो तो तू कहे उसकी सोगन्ध खा लूं । पर तू तो बातों में ही शूरवीर है । तुझे ऐसा नहीं लगता है कि मुनि को शीघ्र आहार वहराऊँ । भाग्य के बिना भाग्यशाली नहीं बना जाता । भाग्य में हो तभी लाभ लिया जा सकता है न ? मैं तो सोलह वर्ष का उपवासी हूँ । पर जिसके पेट में रोटी कूदती हो, उसे कैसे इस बात का अनुभव हो सकता है ।" (हँसाहँस) यह बालमुनि ऐसे-ऐसे (तीखे) शब्द कहता है, फिर भी रुक्मिणी को उस पर जरा भी अभाव (दुर्भाव) नहीं होता । मुनि को देखकर उसका हृदय हर्षित होता है । मुनि भी अपनी जन्मदाता माता के दर्शन करके अन्तर से वन्दन करते हैं । परन्तु दोनों के बीच पड़ा हुआ पर्दा अभी तक हटा/हटता नहीं है ।

मुनि रुक्मिणी से कहते हैं - "मैंने तुम्हारी धर्मश्रद्धा के अनेक गुण सुने हैं । आप अत्यन्त धर्मश्रद्धालु हैं । किसी के दबाने से दबती नहीं हो । तथैव तुम्हारी नगरी में सदैव साधु-साध्वियों का योग मिलता है । तुम्हें दान दिये बिना भोजन करना पड़े तो आघात लगता है । तेरे और कृष्ण वासुदेव की ऐसी भक्ति है । तेरे गुणों की प्रशंसा सुनकर मैं दूर-सुदूर से आया हूँ, तपस्या करके तपस्वी के रूप में आया हूँ । फिर भी तुझे मुनि को आहार देने (वहराने) का मन नहीं होता । इसमें तेरा दोष नहीं है । मेरे ही कर्मों का दोष है । अन्तराय कर्म का उदय है ।" मुनि की बात सुनकर रुक्मिणी बोली - "हे ऋषीश्वर ! अभी मैं रात-दिन चिन्ता से बेचैन रहती हूँ । मुझे इस चिन्ता के मारे खाने-पीने का भी भान नहीं है । चिन्ता ही चिन्ता में रात-दिन गुजर रहे हैं ।"

ऐसी आरत तुम्हें कौन-सी ? भाषा सकल विचार ।
सो कहे सुत आन वेला, श्री जिन करी उच्चार हो ।। श्रोता...

मुनिराज कहते हैं - "तू तो कृष्ण की पटरानी कहलाती है । फिर तुझे इतनी चिन्ता किस बात की ?" तब रुक्मिणी ने कहा - "मेरे पुत्र का जन्म के ६ दिन बाद अपहरण हो गया । वह मेरा नन्द १६ वर्ष के बाद मुझे मिलेगा, ऐसा सर्वज्ञ प्रभु का वचन है । आज उसे १६ वर्ष पूरे हुए हैं और भगवान् के कथनानुसार उसके आने के सभी निशान प्रतीत हो रहे हैं । आज मेरी बांयी आँख और बांयी भुजा फरक रही है, मेरा बगीचा हराभरा हो गया है, मूक मानव बोलने लगे हैं, कुरूप मानव रूपवान् हो रहे हैं । अन्धे देखने लग गए और दुर्बुद्धिवाले सद्बुद्धिवाले बन गए । सूखे सरोवर पानी से छलक उठे हैं । सारी द्वारिकानगरी की जनता का मन आनन्द से नाच उठे हैं । महाराज ! यह सब हुआ,लेकिन मेरा पुत्र अभी तक नहीं आया । इस कारण मेरा दिल टूट रहा है । मेरा आनन्द नष्ट हो रहा है । अभी सत्यभामा के पुत्र का विवाह होगा और मेरा मस्तक मुंडा जाएगा । मेरा क्या होगा ?" मुनि ने कहा - "बहन ! इसमें क्या

हुआ ?" "महाराज ! आपको कुछ नहीं लगता है । पर जब मेरा मस्तक मुंडा जाएगा, और फिर ऐसे अपमान भरे जीवन जीने से क्या लाभ ? इसकी अपेक्षा तो मर जाना अच्छा ।" मुनि ने कहा - "बहन ! धीरज रख ।" तब रुक्मिणी कहने लगी - "महाराज ! आप ज्ञानी हैं । आप कहिए, मेरा पुत्र मुझसे कब मिलेगा ?"

रुक्मिणी को मुनि द्वारा दिया गया उत्तर : मुनिराज ने कहा - "साधु को कुछ भी बहराये बिना रूखे हाथ से प्रश्न नहीं पूछा जाता । और प्रश्न का उत्तर मिले तो वह फलदायी नहीं होता । अतः तेरे घर में जो भी सुज्झता आहार हो, मुझे पहले वह बहरा, फिर तेरे प्रश्न का उत्तर देता हूँ ।" तब रुक्मिणी ने कहा - "महाराज ! जब से मेरे पुत्र का अपहरण हुआ, तब से मैंने स्वाद लेकर या पेटभर कर नहीं खाया । इस कारण घर में कोई खास सुविधा (जोगवाई) नहीं है । परन्तु कृष्णजी के कलेवे के लिए केसरिया मोदक बनवाये हुए हैं । दूसरी कोई खाद्यवस्तु नहीं है ।" तब मुनि ने कहा - "मुझे वह लड्डू बहरा दो न !" रुक्मिणी ने कहा - "महाराज ! वे लड्डू आपको नहीं पचेंगे । वे तो कृष्ण वासुदेव को अथवा उनके पुत्र को पच सकते हैं ।" मुनि ने कहा- "मुझे इनको लेने (बहरने) में कोई हर्ज नहीं है ।" इस पर रुक्मिणी ने मुनि के पात्र में (डरते-डरते) एक केसरिया मोदक बहराया । इस पर मुनि बोले - "अरेरे ! तू कृष्ण की पटरानी कहलाती है और इतनी कंजूस है बहराने में, इसका तो मुझे आज ही पता लगा ।" (हँसाहँस) तब रुक्मिणी ने कहा - "महाराज ! मैं कंजूस या लोभी नहीं हूँ । परन्तु यह केसरिया मोदक कृष्णजी एक ही खा सकते हैं । इससे अधिक उन्हें भी पचता नहीं तो आपको इससे अधिक कहाँ से पचेगा ? आपके लिए पाव लड्डू बहुत हो जाता है । अगर आप इससे अधिक खायें तो आपके प्राण शरीर से जुदा हो जाए और मुझे ऋषिहत्या का पाप लगे ।"

रुक्मिणी को हुई शंका : "हे श्राविके ! तू क्यों डर रही है ? मैं बहुत तप करता हूँ । इससे मुझे लब्धि प्राप्त हो गई है । उसके बल से जो भी पेट में डालूँ, वह सब पचा सकता हूँ । अतः मुझे कुछ भी होनेवाला नहीं है । इसलिए उदारता से लड्डू बहरा ।" यों कहने पर उसने एक-एक करके सारे लड्डू बहर लिए और उदरस्थ कर लिये । परन्तु मुनि को कुछ भी नहीं हुआ, उक्त लड्डूओं को खाने के बाद कुछ भी तकलीफ नहीं हुई । यह देखकर रुक्मिणी तो आश्चर्यचकित हो गई और प्रद्युम्नकुमार को माता के हाथ का भोजन करने पर अत्यन्त आनन्द हुआ । रुक्मिणी के मन में एक विचार आया कि 'जैनमुनि गृहस्थ के घर में जितना भोजन हो, सबका सब नहीं बहरते । पर इस मुनि ने तो सभी लड्डू बहर लिए । यह तो ठीक, यह लड्डू श्रीकृष्णजी जैसे को एक से अधिक हजम नहीं होता और यह मुनि तो सारे मोदक खा गए, किन्तु कुछ भी नहीं हुआ । यह कौन होंगे ? इनको देखकर मेरा रक्त उछल रहा है ।' यों विचार करके रुक्मिणी साधु के सम्मुख देखने लगी । तो उसके स्तनों में से दूध टपकने लगा । तब उसके मन में हुआ - 'क्या यह मेरा पुत्र होगा ? अगर यह मेरा पुत्र मुनि के वेश में आया हो

बहुत लज्जाजनक है। इस साधु का रूप न तो मेरे जैसा है, और न उसके पिता जैसा है। यह तो बेडौल दिखता है। अगर मेरा पुत्र ऐसा होगा तो सत्यभामा मुझे चिढ़ाएगी। परन्तु मुझे यह मेरा पुत्र नहीं मालूम होता। अरेरे! मेरा पुत्र कब मिलेगा? अभी सत्यभामा मेरा मस्तक मुंड़वाएगी!' यों रुक्मिणी अनेक प्रकार की चिन्ताओं से घिर गई है। अभी तक मुनि उसके घर में ही है।

चमत्कारी योगी के न आने पर सत्यभामा चिन्ताग्रस्त : उधर सत्यभामा ने एकाग्र चित्त से अठारह हजार मंत्रजाप पूर्ण कर लिए। परन्तु उसका रूप या तेज कुछ भी बढ़ा नहीं। तब उसके दुःख का पार न रहा। 'अरर! मैंने तो अपना जो रूप था, वह भी गंवाया! मुझे ऐसी कुबड़ी बनाकर मेरा मस्तक मुंडवाकर वह दुष्ट कहाँ चला गया?' दूसरी ओर दासियों ने आकर सत्यभामा को खबर दी कि "सारी द्वारिका नगरी में उत्पात मच गया है। कोई मनुष्य आया, उसने आपके उद्यान को नष्टभ्रष्ट कर डाला है। आपकी बावड़ी का पानी सुखा दिया है। तीसरी बात – सीमन्धर-प्रभु के कथानुसार रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्नकुमार आज आनेवाला है। इस कारण द्वारिका के नगरजनों के हृदय हर्ष से हिलोरे ले रहे हैं। सारी नगरी सजाई-श्रृंगारी गई है।" यह सुनकर तो सत्यभामा का हृदय चीरा गया है। वह दासी से कहती है – "उस ब्राह्मण को ढूंढकर लाओ, जो यहाँ आया था। वह नहीं आएगा तो मेरा क्या होगा?" दासी बोली – "हमने उसकी बहुत तलाश की, किन्तु उसका कुछ भी पता नहीं लगा।" सत्यभामा तो छाती-माथा कूटने लगी। उसे अपनी भूल का बहुत पछतावा होने लगा। पर अब क्या हो?

सत्यभामा को रुक्मिणी का मस्तक मुंडवाने का उत्कृष्ट मनोभाव : उसने तो स्नान किया, श्रृंगार किये। पर मस्तक तो मुंडा हुआ था, वह छिपा थोड़े ही रहता। अपना पाप छिपाने के उसने अनेक उपाय किये, परन्तु रूप अच्छा नहीं हुआ। उसने दर्पण में अपना मुँह देखा तो रोने लगी। 'हाय! हाय! मैं कैसी खूबसूरत थी और अब कैसी बन गई? कदाचित् कृष्णजी आएँगे, तो मेरा मजाक उड़ाएँगे। दुनिया जानेगी तो यों कहेगी कि कृष्ण की पटरानी सत्यभामा सौन्दर्यवान् बनने की आशा में ठगा गई। स्वयं ने ठगाकर मस्तक मुंडाया, परन्तु मेरा भानुकुमार पहले विवाहित हो रहा है, इसलिए रुक्मिणी के साथ शर्त के अनुसार रुक्मिणी का मस्तक मुंडवाकर मैं अपने जैसी बनाऊँ।' ऐसा विचार करके सत्यभामा ने अपनी दासियों से कहा – "तुम रुक्मिणी का मस्तक मुंडकर उसके बाल मेरे पास ले आओ।" इसलिए सत्यभामा की दासियाँ सोने की रत्नजडित थाली लेकर ढोलनगारे बजाती और नाचती कूदती हुई रुक्मिणी के महल में आई। सत्यभामा की दासियों को देखकर रुक्मिणी के होश उड़ गए। वह मुनि अभी रुक्मिणी के यहाँ ही है। उसने पूछा – "माता! तुझे एकदम क्या हो गया? तेरा आनन्द कहाँ उड़ गया? तू क्यों रो रही है?"

अब रुक्मिणी मुनि को दुःख का कारण बताएगी और सत्यभामा की दासियाँ रुक्मिणी का मस्तक किस तरह मूंडेगी, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

व्याख्यान - २७

आसो वदी १०, रविवार | ता. १७-१०-७६

कषायों के कुचक्र से बचो

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

विश्व वन्दनीय, विरल विभूति, समता के सागर, सर्वज्ञ, वीतराग-भगवान् ने जगत् के सर्वजीवों को अपार दुःख से भरे हुए संसार-सागर के प्रवाह में डूबते-उतराते देखकर करुणा करके कहा - "हे भव्य-प्राणियों !! संसार-सुख का त्याग करो और त्याग के प्रति अनुराग रखो । सच्चा सुख त्याग में है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार चल रहा है । उसमें यह निरूपण चल रहा था कि मल्लीकुमारी के रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर सुख के रागी जीव, जो उनके पूर्व (तीन भव पूर्व) के मित्र थे, उन्हें उनके (मल्लीकुमारी के) प्रति अनुराग जगा । इस कारण उन छहों राजाओं ने मल्लीकुमारी की (अपने लिए) मांग करने के लिए अपने-अपने दूत भेजे और वे छहों दूत अपने-अपने राजा का आदेश होते मिथिला की ओर रवाना हुए तथा अनेक गाँवों को पार करके वे छहों राजाओं के दूत एक ही दिन मिथिला नगरी में पहुँचे और मुख्य उद्यान में आकर सब दूतों ने अपने-अपने पड़ाव डाले । पड़ाव डालकर मिथिला- राजधानी में जहाँ कुम्भकराजा थे, वहाँ पहुँचे । वहाँ जाकर सबने दोनों हाथ जोड़कर अंजली बनाकर मस्तक पर रखी और कुम्भकराजा को नमस्कार किया । तत्पश्चात् उन्होंने बारी-बारी से एक के बाद दूसरे, तीसरे, यों छहों दूतों ने अपने-अपने राजा का सन्देश कह सुनाया और यह भी कहा कि "हे महाराजा ! हमारे महाराजा ने आपकी पुत्री मल्लीकुमारी के रूप और गुण की प्रशंसा सुनी है । इस कारण मल्लीकुमारी की मगनी करने के लिए हमें भेजे हैं ।" यों कहते हुए उन छहों दूतों के मुख पर हर्ष था । सबके मन में यह था कि हमारे राजा का कथन (सन्देश) कुम्भकराजा स्वीकार करेंगे । किसका कथन स्वीकारेंगे, इसके जवाब के इंतजार में वे छहों दूत हाथ जोड़कर खड़े रहे । कुम्भकराजा ने बारी-बारी से छहों दूतों की बात सुनी ।

मैं तुमसे (श्रोताओं से) पूछती हूँ कि तुम्हारी पुत्री के लिए सामने से चलकर इतने कहन (सन्देश मगनी के लिए सन्देशा) आए तो तुम खुश हो जाओगे न कि मेरी पुत्री

कितनी भाग्यशालिनी है कि उसके लिए सामने से मगनी करने के लिए संदेश आ रहे हैं। परन्तु कुम्भकराजा को सुनकर हर्ष नहीं हुआ। परन्तु दूतों के मुख से छहों राजाओं ने मल्लीकुमारी की मांग की है, यह बात सुनकर *आसुरुत्ते जाव (रुट्ठे कुविए, पंडिक्किए मिस मिसे माणे) तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु एवं वयासी* - कुम्भकराजा अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। (रुष्ट और प्रचण्ड हो उठा, कुपित होकर दांत पीसते हुए) यावत् ललाट पर तीन सल डालकर (तीन रेखाएँ पड़े ऐसी) भृकुटि तन गई और आँखें क्रोध से लाल हो गई।

जब मनुष्य को क्रोध आता है, तब हिताहित का विवेक नहीं रहता कि मैं इस प्रकार क्रोध कर रहा हूँ, उसका परिणाम क्या आएगा ! क्रोध आत्मा का कट्टर शत्रु है। यह बिना अग्नि के ही अग्नि है। जैसे अग्नि की एक चिनगारी लाखों मण रूई की गलिचों (वंढेर) को तथा बड़े-बड़े जंगलों को जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही वर्षों तक की हुई (आत्म-) साधना को क्रोध की एक चिनगारी जलाकर खाक कर डालती है। आत्मा कषायाविष्ट हो, उस समय अगर आयुष्य का बंध पड़ जाय तो दुर्गति का बन्ध पड़ जाता है। अतः भगवान् कहते हैं - "कषायों पर विजय प्राप्त करो।" कहा भी है - *'संसारस्स उमूलं कम्मं, तस्स विहुंतिय कसाया ।'* संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय हैं। कर्मों के कारण ही जीव दुःख भोग रहे हैं। अशुभ कर्म का उदय हो, तब जीव को शान्ति नहीं मिलती।

सेठ का दृष्टांत : एक करोड़पति सेठ थे। परन्तु उनके ऐसे (अशुभ) कर्म का उदय था कि उनके घर में शान्ति नहीं थी। सेठ की माँ और पत्नी के बीच रोजाना ठन जाती थी। परस्पर मेल नहीं था। बात-बात में सास-बहू झगड़ पड़ती थीं। सेठ दुकान से थके-हारे घर पर भोजन करने आते, कि सासु-बहू का रेडियो शुरू हो जाता। सेठ धर्मतत्त्वज्ञ थे, इसलिए बहुत शान्ति रखते थे। वह दोनों को खूब समझाते, किन्तु पापकर्म के उदय के कारण वे दोनों समझती ही नहीं थीं। सेठ की स्थिति सरोते के बीच में सुपारी जैसी हो गई। वह बेचारे क्या कर सकते थे ? न तो वह पत्नी को कह सकते थे और न ही माता को।

एक बार सेठ दोनों को समझाकर घूमने ले गए। बाग, बाजार वगैरह बताते-बताते जहाँ बढ़ई (सुथार) का काम चल रहा था, वहाँ उन्हें ले गए। वहाँ दो सुथार लकड़ी को करवत से चीर रहे थे। सेठानी ने कभी इस तरह लकड़ी चीरते देखा नहीं था। इस कारण सेठानी ने सेठ से पूछा - "ये दोनों आमने-सामने क्या कर रहे हैं ?" तब सेठ ने कहा - "तुम सासु-बहू दोनों जैसे करती हो, वैसे ही ये दोनों कर रहे हैं। दोनों सुथारों में से एक इधर से लकड़ी पर करवत फिराता है, दूसरा उधर से लकड़ी पर फिराता है, इस तरह दोनों लकड़ी को जैसे चीर डालते हैं, वैसे ही तुम दोनों आमने-सामने झगड़ा करके कषायरूपी करवत से मेरे जीवन को चीर व्यथित - अशान्त कर रहे हो।

इसका परिणाम यह आएगा कि मैं चिता पर जलती हुई लकड़ी के साथ मिलकर समाप्त हो जाऊँगा ।'' (हँसाहँस) सेठ के ये उद्गार सुनकर सेठ की माता और पत्नी दोनों की आँखें खुल गईं । उन्हें भान हो गया कि कषायें कितनी भयंकर हैं ? 'दशवैकालिक सूत्र' (अ-२, गा.-४) में *चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ।''* ये चारों कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) पूर्णतया (बार-बार) पुनः पुनः जन्म-मरण रूप वृक्ष के मूल को सींचते हैं । अर्थात् - ये चारों कषाय जन्म-मरण की जड़ों को सींचकर पुष्ट और सुदृढ़ करते हैं । सासु-बहू दोनों को भान होने से दोनों ने क्रोध न करने की प्रतिज्ञा ली । अब घर में से क्लेश के बिदा होते ही, सेठ का घर स्वर्ग-सा बन गया । आप भी इस तथ्य को समझकर यथाशक्ति कषायों का त्याग करें ।

मैं अपनी पुत्री किसी को भी नहीं देता : मल्लीकुमारी के पिता कुम्भकराजा छह दूतों की बात सुनकर एकदम क्रोधाविष्ट हो गए । उनके ललाट पर तीन रेखाएँ चढ़ गईं । क्रोधावेश में आकर भौंहे तानते हुए कहा -

''न देमिणं अहं तुब्भं मल्लिं विदेहराय-वरकन्नं त्तिकट्टु ते छप्पिदूते असक्कारिय असंमाणिय अवद्दारेणं विच्छुभावेइ ।''

''हे दूतो ! अपनी पुत्री विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्लीकुमारी तुम्हारे (छह) राजाओं में से किसी को नहीं दूंगा ।'' इस प्रकार कहकर उन दूतों को किसी भी प्रकार से सत्कार किये बिना, महल के पिछले दरवाजे से बाहर निकाल दिया ।

कुम्भकराजा ने दूतों पर गुस्सा किया और उन्हें अपमानित करके निकाल दिये । इससे दूतों को बहुत दुःख हुआ । मनुष्यमात्र को अपना स्वाभिमान प्रिय होता है । उन्होंने सोचा - 'कुम्भकराजा को अपनी पुत्री मल्लीकुमारी हमारे राजा को नहीं देनी थी तो (सौम्य शब्दों में) इन्कार करना था कि 'तुम मेरी कुंवरी की मांग करने आए हो, यह खुशी की बात है, किन्तु तुम्हारे राजा के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने की मेरी इच्छा नहीं है ।' इस प्रकार शान्ति से कहना था । किन्तु क्रुद्ध होकर अपना अपमान करने की क्या जरूरत थी ? फिर हमें उन्होंने महल के पिछले दरवाजे से निकाल दिये, यह तो अपना घोर अपमान किया ।' इस प्रकार छही राजाओं के दूत अपमानित होकर दुःखित मन से मिथिला नगरी छोड़कर चल पड़े । यद्यपि वे छही राजाओं के दूत अपने-अपने राजा की उमंग पूरी करने हेतु आए थे, किन्तु उनकी उमंग पूरी नहीं हुई, इसलिए मुरझाए हुए मुँह से छही दूत मिथिला नगरी छोड़कर अपने-अपने देश में पहुँच गए ।

छही राजाओं की आशा निराशा में परिणत हुई : जितशत्रु आदि छही राजा विचार कर रहे थे कि 'हमारे दूत मल्लीकुमारी की मांग करने के लिए गये हैं, अतः वे इस कार्य में अवश्य सफल होकर आएँगे ।' क्योंकि सबकी आशा अमर होती है । सभी

ऐसी आशा लगाकर बैठे होते हैं, हमारे मनोरथ पूर्ण होंगे । परन्तु यहाँ तो एक की भी आशा पूरी नहीं हुई । सभी दूत अपने-अपने महाराजा के पास आकर सर्वप्रथम दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजली रखकर नमस्कार किया और इस प्रकार कहा -

"एवं खलु सामी ! अम्हे जियसत्तु-पामोक्खाणं छण्हं राईणं दूया जमग-समगं चेव जेणेव मिहिलाजाव अवद्दारेणं निच्छुभावेइ ।" - "हे स्वामिन् ! ऐसा हुआ कि हम जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं के दूत एक ही समय में जहाँ मिथिला नगरी थी, वहाँ पहुँचे, फिर कुम्भकराजा के दर्शन के लिए उनके महल में गए । वहाँ हमने विनयपूर्वक नमस्कार करके आपका सन्देश कह सुनाया । कुम्भकराजा उस सन्देश को सुनते ही क्रुद्ध हो गए और उत्तेजित होकर कहने लगे - "मैं अपनी पुत्री मल्लीकुमारी को किसी को नहीं दूंगा ।" यों कहकर उन्होंने हमें असत्कृत और असम्मानित करके, यानि हमारा सत्कार-सम्मान करना तो दूर रहा, अपितु हमारा अपमान करके महल के पिछाड़ीं, जो छोटा दरवाजा था, उससे हमें बाहर निकाल दिया । अतः हे स्वामी ! आप निश्चित समझ लें कि कुम्भकराजा अपनी पुत्री मल्लीकुमारी किसी को भी नहीं देगा ।"

दूतों की बात सुनकर सभी राजाओं का क्रोध उमड़ पड़ा : जितशत्रु-प्रमुख छहों राजा अपने-अपने दूत की बात सुनकर क्रोध से आगबबूला हो गए । बोले - "ओह ! कुम्भकराजा ने अपना पूरेपूरा अपमान किया है । अपने दूतों का भी घोर अपमान किया है, अतः हम छहों राजाओं को एकत्रित होकर उनके खिलाफ युद्ध करना चाहिए ।" ऐसा विचार करके उन्होंने अपने-अपने दूत को एक-दूसरे राजा के पास भेजे और उन दूतों के साथ यह सन्देश भेजा -

"एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हराइणं दूया जमग-समगं चेव जाव णिच्छूढा ।"

"हे देवानुप्रियों ! हम छहों राजाओं के दूत एक ही समय में मिथिला नगरी में कुम्भकराजा के पास मल्लीकुमारी की मांग करने के लिए गये थे । वहाँ उन्होंने अपने दूतों को सत्कार-सम्मान कुछ भी नहीं किया, उल्टे उन्हें अपमानित करके महल के पिछले छोटे दरवाजे से निकाल दिया । इस प्रकार का दुर्व्यवहार करके उन्होंने अपना जैसा-तैसा अपमान नहीं किया, बल्कि घोर अपमान ही किया है । हम भी राजा हैं । हमें ऐसा घोर अपमान सहन करके (चुपचाप) बैठे नहीं रहना है, अतः हम सबको उस अपमान का बदला लेने के लिए कुम्भकराजा के राज्य पर आक्रमण करके उन्हें पराजित करना चाहिए ।"

कुम्भकराजा के साथ युद्ध करने के लिए निकले छहों राजा : इस प्रकार छहों राजाओं ने परस्पर विचार किया और सबने एकमत होकर निर्णय किया । फिर जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने स्नान किया और युद्ध में जाने के लिए जरूरी शस्त्र, अस्त्र और

कवच (बखतर) आदि साधनों से सुसज्ज हुए । उनकी नगरी में युद्ध के बिगुल बजने लगे । सेनापति भी अपनी-अपनी सेना के साथ सन्नद्ध हुए । तत्पश्चात् सभी राजा अपने-अपने हाथी पर सवार हुए । साथ ही विशाल हाथी, घोड़े, रथ और बहादुर रणबांकुरे योद्धाओं की चतुरंगिणी सेना साथ में लेकर अपने-अपने नगर से बाहर निकले । उन राजाओं के मस्तक पर उनके छत्रधारी सेवकों ने कोरंटक-पुष्पों की माला से गूंथा हुआ छत्र धर रखा था । चामर डुलानेवाले सेवक ने उन पर श्वेत चामर डुला रहे थे । शूरवीर सैनिक अपने महाराजा विजय प्राप्त करे, ऐसे शुभ और शौर्य भरे शब्दों से सेना में शौर्य भरते थे । मंगलमय वाद्यों से विजय-सूचक ध्वनि होने लगी और शुभ-सूचक शकुन देखकर प्रत्येक राजा अपनी ऋद्धि-लब्धि के अनुसार सेना लेकर अपने-अपने नगर से बाहर निकले । उन सबने अपने निश्चित किये हुए स्थान पर इकट्ठे होकर मिथिला नगरी की ओर कूच किया ।

बन्धुओं ! सोचो जरा इस संसार में मनुष्यों को सम्मान-अपमान के कांटे कितने चुभते हैं ? कुम्भकराजा ने अपमान किया तो छह राजा उसका बदला लेने हेतु युद्ध के लिए उतारु हो गए । इस युद्ध से कितने जीवों की हिंसा होगी, कितनी जान-माल की हानि होगी, उसका विचार नहीं किया । अपमान होने के कारण ये राजा युद्ध करने के लिए मिथिला की ओर जा रहे हैं, उस बात की कुम्भकराजा को पता लगा । मैंने जिन ६ दूतों का अपमान करके उनके राजाओं को मल्लीकुमारी देने से इन्कार किया है, उस बैर का बदला लेने के लिए ६ राजा बड़ी भारी सेना लेकर मेरे साथ युद्ध करने के लिए आ रहे हैं । इसलिए कुम्भकराजा ने अपने सेनापति को बुलाया और इस प्रकार कहा -

कुम्भकराजा ने भी सामना करने की तैयारी की : *"खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! हय-गय-रह-पवर-जोह-कलियं सेण्णं सन्नाहेह....जाव पच्चपिण्णंति ।"*

"हे देवानुप्रियों ! तुम शीघ्र ही घोड़ा, हाथी, रथ और बहादुर योद्धाओंवाली चतुरंगिणी सेना तैयार करो और फिर मुझे खबर दो ।" कुम्भकराजा की आज्ञा होने के साथ ही सेनापति ने कहा - "जी हजूर ! ऐसा ही होगा ।" यों कहकर सेनापति सेना को सुसज्जित करने के लिए गया । जैसे चातक पक्षी बरसात का पानी (बिना ही ओ धार के) ऊपर ही ऊपर झेल लेता है, वैसे ही कुम्भकराजा के सेनापति ने उनके आज्ञा झेल ली । वे सेनापति और प्रधान ये सारे अपने राजा की आज्ञा के प्रति वफादार थे । अपने राजा को प्रसन्न रखने के लिए सेनापति और प्रधानों को राजा की एक ही आवाज होते ही प्रतिज्ञा का पालन करना पड़ता है, तब आत्म-कल्याण करने के लिए शिष्यों को गुरु की आज्ञा का पालन करने के लिए कितना तत्पर रहना चाहिए ?

व्यासजी का दृष्टांत : *विनयवान् और मुमुक्षु शिष्य गुरु की आज्ञा को तहति करके वधा लेते हैं* । एक दफा महर्षि व्यास अनेक शिष्य-परिवार के साथ घूमते-घामते जनक विदेही की मिथिला नगरी में आ पहुँचे । जो जगत् की जंजाल छोड़कर योगी बनता है, उसे जगत् की परवाह नहीं होती । व्यास ऋषि आत्मभावों की मस्ती में झूमनेवाले थे । व्यासजी मिथिला में पधारे, इससे जनकराजा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । उनको वन्दन करके सत्कार-सम्मान करके कहा - "आपके पुनीत चरण यहाँ पड़ने से आज मेरी नगरी पावन हुई । अब आपसे मेरी एक विनती है कि आप जबतक मेरी नगरी में रहें, तबतक मुझे और मेरे प्रजाजनों को उपदेश देना ।" व्यासजी ने राजा की बात को सहर्ष स्वीकार किया और प्रतिदिन उनके निवासस्थान पर सत्संग और उपदेश देने लगे । जनकराजा आत्मज्ञान के पिपासु थे । जहाँ उन्हें आत्मा की, तथा सत्संग की बातें सुनने को मिलतीं, वहाँ वे दौड़कर जाते थे । देह में रहते हुए भी विदेही दशा का अनुभव करते थे ।

महर्षि व्यास भी राजा (जनक) की जिज्ञासा देखकर जबतक राजा जनक नहीं आते थे, तबतक उपदेश शुरू नहीं करते थे । वह आ जाते, तभी शुरू करते थे । शुरूआत में तो शिष्य कुछ नहीं बोले । एक दिन ऐसा हुआ कि जनकराजा के आने में देर हो गई । व्यासजी ने भी उपेदश देना प्रारम्भ नहीं किया । तब शिष्य कहने लगे - "गुरुदेव ! इस जगत् में प्रत्येक जगह सत्ता और सम्पत्ति का बहुमान होता है । परन्तु आप जैसे पवित्र संत को सत्ता के प्रभाव में बहते देखकर हमें बहुत आश्चर्य होता है ।" यह सुनकर व्यासजी ने कहा - "तुम किस पर से या किसलिए ऐसा कहते हो ?" शिष्यों ने कहा - "साहब ! यह तो दीपक जैसी बात है कि जबतक जनक-राजा नहीं आते, तबतक आप उपदेश देना शुरू नहीं करते । वह आते हैं, उसके बाद ही आप उपदेश देना शुरू करते हैं । इस पर से निश्चित होता है कि आप जैसे महर्षि भी सत्ता और सम्पत्ति को महत्त्व देते हैं । यदि ऐसा न होता तो उपदेश की शुरूआत उनके आने से पहले हो गई होती ।

व्यासजी ने शिष्यों से कहा - "तुम शान्ति रखो । समय आने पर मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूंगा ।" यह बनाव बनने के कुछ दिनों बाद व्यासजी उपदेश दे रहे थे । श्रोताजन सुनने में तल्लीन थे, उस समय व्यासजी ने अपने योग बल से राजमहल में आग का दिखावा किया । चारों ओर हाहाकार मच गया । लोग जोर-जोर से चिल्लाने लगे । यह सुनकर श्रोताओं के मन चंचल हो गए, सभी सोचने लगे कि 'राजमहल में बड़ी भारी आग लगी है । अभी थोड़ी ही देर में आग सारी नगरी में फैल जाएगी ।' ऐसा विचार आते ही श्रोताजन उठ-उठकर घर की ओर रवाना हुए । व्यासजी के शिष्य भी विचार करने लगे कि अपनी झोली, कमण्डल, दण्ड और दो कपड़े, ये

सब जल जाएँगे, तब क्या करेंगे ?' यों विचार करके वे खड़े हुए और अपने द
कमण्डल, झोली वगैरह सब सामान समेटकर अपने पास लेकर बैठ गए ।

सभी उठे, किन्तु जनकराजा तो आग लगने से पहले जैसे शान्ति से बैठे थे,
ही बाद में बैठे रहे । उनके मुखमण्डल पर घबराहट का नाम-निशान भी नहीं थ
ऐसे प्रसन्नचित्र बैठे हुए जनकराजा से व्यासजी ने पूछा - "हे महाराज ! आपके म
में सबसे पहले आग लगी है, फिर भी आप शान्ति से कैसे बैठे हैं ? उठकर
तलाश तो करो ।" तब जनकराजा ने कहा - "गुरुदेव ! मैं तो अपने महल में ब
ही आनन्द से बैठा हूँ । जो मेरा है, वह सब मेरे पास ही है । मेरा कुछ
जलता । मिथिला नगरी या महल मेरे नहीं हैं, फिर मुझे किस बात की चिन्ता
जनकराजा की बात सुनकर व्यासजी के शिष्य एक-दूसरे के मुँह के सामने ताव
लगे । परन्तु उनकी (जनकराजा की) गूढ़ बात समझ नहीं सके । तब व्यासजी
कहा - "ओ मेरे शिष्यों ! सुनो, जनकराजा के महल में आग लगी, फिर भी उन
मन या चित्त में व्यग्रता या चंचलता नहीं आई, यह तो शान्त चित्त से आत्मि
आनन्द में मग्न रहे और तुमलोग साधु होने पर भी अपने दण्ड, कमण्डल अ
झोली आदि लेने के लिए उठकर दौड़े । तुम समझ लो कि जनकराजा इ
सम्पत्तिमान्, सत्ताधीश और महान सुख में रहते हुए भी अनासक्त भाव से रहते हैं
अब तुम्हें समझ में आया कि सच्चा त्याग उनका है ।"

अब कुम्भकराजा की आज्ञा हुई कि चतुरंगिणी सेना तैयार करो । अतः सेनाप
ने तुरंत सेना तैयार करके राजा को समाचार दिये कि आपकी आज्ञानुसार सेना तैय
है । चतुरंगिणी सेना तैयार होने के बाद कुम्भकराजा ने स्नान किया । तत्पश्चात् अस
शस्त्र, कवच, बख्तर वगैरह युद्ध के साधन शरीर पर धारण कर सुसज्ज हुए । फि
वे मुख्य हाथी पर बैठे । राजा को हाथी पर बैठे देखकर छत्रधारी सेवकों ने उनके मस्त
पर कोरंट पुष्पों की माला से सुशोभित छत्रचामर डुलानेवाले सेवक चामर डुल
लगे । इस प्रकार विशाल हाथी, घोड़े-रथ और शूरवीर योद्धाओं सहित चतुरंगिणी से
को साथ में लेकर युद्ध के लिए पूरी तैयारी के साथ मिथिला नगरी के बीचोबी
होते हुए नगरी से बाहर निकले और विदेह जनपद के बीच में जहाँ अपने देश की ह
थी, वहाँ पहुँचे और छावनी (पड़ाव) डाली । तत्पश्चात् जितशत्रु-प्रमुख छह राजाओं क
प्रतीक्षा करते हुए कमर कसकर युद्ध के लिए वहाँ डट गए ।

कुम्भकराजा अपने राज्य की सुरक्षा के लिए दुश्मन चढ़ाई करने आए उससे पह
ही अपने देश की सरहद पर पहुँच गए । अभी ६ राजा तो बहुत दूर थे, किन्तु कुम्भक
राजा को सूचना मिली कि छह राजा युद्ध के लिए आ रहे हैं, इसलिए युद्ध की प
तैयारी के साथ कुम्भकराजा सरहद पर पहुँच गए । क्योंकि अपना राज्य स्वयं को प्रि

होता है। प्रत्येक राजा अपने राज्य को आवाद रखता है। वह स्वतंत्रता चाहता है, किन्तु अपने देश की बर्बादी या परतंत्रता नहीं चाहता। इसी दृष्टि से ज्ञानी भगवन्त कहते हैं - "हे चेतन ! तू अपनी (आत्मा की) स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए कर्मराजा के साथ युद्ध करने के लिए पहले से तैयारी करनी पड़ेगी।" बंधे हुए कर्म उदय में आएँ, उससे पहले ही उसका सामना करने के लिए तप, त्याग, संयम, समता आदि के शस्त्रों से सुसज्ज होकर सावधान रहो। सामान्य पुरुषार्थ से कर्म-शत्रु नष्ट नहीं होंगे। द्रव्य-संग्राम के लिए राजाओं को इतनी तैयारी करनी पड़ती है तो कर्म-शत्रुओं के साथ संग्राम करके उस पर विजय पाने के लिए तो कितनी तैयारी करनी चाहिए ?

जितशत्रु आदि छह राजा भी जहाँ कुम्भकराजा राह देख रहे थे, वहाँ आ पहुँचे और उनके साथ युद्ध शुरू हुआ। कुम्भकराजा के पास सेना तो वहुत थी, लेकिन जहाँ सामने छह-छह राजाओं की सेना हो, वहाँ एक राजा की सेना की क्या सामर्थ्य थी ? फिर भी सभी आशावादी होते हैं। वहुत ही साहसपूर्वक शूरवीर होकर छह राजाओं से लड़ने लगे। चाहे जितनी हिंमत करे, किन्तु ६ राजाओं के सैन्य के आगे उनका सैन्य चपटी जितना दिखाई देने लगा। हाथीवाले हाथी पर, घोड़ेवाले घोड़े पर, रथवाले रथ में बैठकर युद्ध करने लगे। वहुत जंगी युद्ध हुआ। उसमें जितशत्रु-प्रमुख छह राजाओं ने कुम्भकराजा के कई शूरवीर योद्धाओं को जान से मार डाला। कइयों को खूब मारपीट कर अधमुए कर दिये। कई सैनिकों को भाले, तलवार आदि से घायल कर दिये और अन्त में उनके छत्र, ध्वज आदि जो राज्यचिह्न थे, उन्हें रथ पर से नीचे गिराकर काट डाले। इसलिए कुम्भकराजा के सैन्य में वहुत घबराहट फैल गई। वहुत संख्या में सैनिक मारे गए। अव जो वाकी रहे वे विचार करने लगे कि "अव चाहे जितना साहस करें तो भी इस वड़ी सेना के सामने टिक सकेंगे नहीं।' यों मानकर मृत्यु के भय से वाकी रही हुई सेना चारों दिशा में भाग गई।

सेना छिन्न-भिन्न हो जाने से हताश हुए कुम्भकराजा : राजा सेना के आधार से लड़ सकता है। अपनी सेना छिन्न-भिन्न हो जाने से कुम्भकराजा की हिम्मत टूट गई। पंखों के आधार पर पक्षी आकाश में उड़ सकता है। यदि वे पंख ही कट जाएँ तो क्या पक्षी उड़ सकेगा ? नहीं। वह जीवित होते हुए भी मृत जैसा वन जाता है न ? इसी प्रकार राजा स्वयं हारे नहीं, किन्तु हारे हुए जैसे निर्वल वन गए। उनके मन में यह हो गया कि मैं छह राजाओं द्वारा हत (मारा हुआ) गया। मेरे कतिपय योद्धा मारे गए। वाकी रहे हुए भाग गए। मेरे राज्य के छत्र, ध्वज वगैरह जो राज्यचिह्न थे उन्हें भी इन लोगों ने छेद डाले। ये वेचारे वहुत-से सैनिक घायल होकर पड़े हैं। ऐसी स्थिति में मैं शत्रु की सेना को जीत सकूं, ऐसा सम्भव नहीं। इस प्रकार अपने प्राण आफत में फंस गए हैं, यों समझकर आत्मवल और सैन्यवल से रहित हुए वह

बिलकुल निरुत्साही हो गए। इसलिए तेजी से वेगयुक्त चाल से वह मिथिला की ओर रवाना हुए। वहाँ आकर मिथिला नगरी में प्रवेश करके नगरी के सभी दरवाजें उन्होंने बंद करवा दिये क्योंकि दरवाजे खुले हों तो शत्रु नगरी में प्रवेश कर जांय। अतः शत्रुओं के डर से आने-जाने के मार्ग को रोककर अपनी नगरी की रक्षा करने के लिए तत्पर हुए। अब कुम्भकराजा की हिम्मत टूट गई। शत्रु नगरी पर चढ़ाई करेंगे, उस वक्त क्या उपाय करना ? उन पर कैसे विजय पाना ? राजा इन और इस प्रकार की चिन्ताओं में मग्न हुए हैं। अब छह राजाओं को पता लगेगा कि कुम्भकराजा चुपचाप यहाँ से छटक गए हैं। अतः अब वे क्या करेंगे, यहाँ दरवाजे बंद करने के बाद क्या होगा, कुम्भकराजा कैसे जीतेंगे, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

रुक्मिणी के दिल में लगा आघात : सत्यभामा की दासियाँ बजाती, गाती, हंसती, ढोल-नगाड़े बजाती हुई निकलीं। लोगों ने पूछा - "आज क्या है ?" तब उन्होंने कहा - "हम रुक्मिणी का मस्तक मूंडने के लिए जा रही हैं।" यह सुनकर लोग भी रो पड़े। 'अहो ! निर्दोष और पवित्र रुक्मिणी का मस्तक बिना प्रयोजन सत्यभामा मूंडेगी।' रुक्मिणी ने दूर से सत्यभामा की दासियों के टोले को आते हुए देखा तो उसकी आँखों से आंसू बरसने लगे। इस वक्त १६ वर्ष के तपस्वी मुनिराज केसरिया मोदक का आहार करके वहाँ खड़े थे। उन्होंने रुक्मिणी को रोती देखकर पूछा - "हे माता ! अभी तो तू कितनी आनन्द में थी, एक क्षण में तुझे क्या हो गया ? तू क्यों रो रही है ? अब तेरे रोने के दिवस गए। जो हो सो मुझे साफ-साफ कह।" रुक्मिणी ने दुःखित हृदय से सारी बात मुनि को कह सुनाई। बात पूरी होते ही उसके मुख से काली चीख निकल गई। "अरेरे, बेटा ! तू कहाँ छिप गया है ? तुझे अपनी माता की याद नहीं आती क्या ? आज तक तेरी आशा ही आशा में जीवित रही। तू आया नहीं और अब मेरे बाल उतारे जाएँगे। इसकी अपेक्षा तो मैं पहले मर गई होती तो अच्छा होता !

हे भगवान् ! मुझे नारदजी ने आपके वचनानुसार आश्वासन दिया था। वह नारदजी भी अभी तो दिखाई नहीं देते। भगवान् के वचन तो मिथ्या नहीं होते, किन्तु नारदजी ने मुझे जीवित रखने के लिए गलत तो नहीं कह दिया ? हे नारदजी ! आप कहाँ छिप गए ?" प्रद्युम्नकुमार तो सब जानता है, इसलिए मन ही मन हंसने लगा कि 'हे माता ! तुझे कहाँ पता है कि तेरी पुत्रवधूओं को लेकर (नारदजी) विमान में बैठे हैं। रुक्मिणी मुनि के साथ बात कर रही है, पर बाहर खड़ा हुआ टोला तो मन में आए ज्यों बेशर्म होकर बोल रहा है ! "हे रुक्मिणी ! जल्दी अपने बाल उतरवाने

के लिए तैयार हो जाओ ! देखो ! तुम सत्यभामा के सामने कैसे हार गई ?" दासियों का एक-एक वचन बाण के तरह रुक्मिणी की छाती में भोंकने लग रहा था । वह विलाप करती हुई कहती है - "अरेरे ! पुत्र ! तू नहीं आया, इस कारण मुझे ऐसे वचन सुनने पड़ रहे हैं न ? अगर तू समय पर आ गया होता तो यह सब तूफान नहीं होता । अब मेरे बाल उतर जाएँगे, फिर तू आए तो भी क्या और न आए तो भी क्या ? अब मैं जीनेवाली नहीं । तेरे से मिलने का मेरा मनोरथ मन ही मन में रह गया ।" इस प्रकार रुक्मिणी करुण विलाप करने लगी ।

प्रद्युम्नकुमार द्वारा की गई माया : तब साधु के रूप में रहे हुए प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "हे माता ! तू जरा भी रो मत ! तेरा पुत्र जो काम करता, वह मैं करूँगा। मैं तेरा पुत्र हूँ, ऐसा समझ ले न ? (हँसाहँस) तू शान्ति रख । पुत्र मिलेगा और बाल भी रहेंगे ।" मुनि ने रुक्मिणी को अन्दर के कमरे में बिठा दी और रूप बदल कर हूबहू रुक्मिणी बन गया और कहने लगा - "बहनों ! आओ । तुम्हारी रानी की आज्ञानुसार मेरे बाल उतारो । मैं दर्पण में देखूंगी ।" ऐसे वचन सुनकर सत्यभामा की दासियाँ आचार्य चकित हो गई । 'कितनी उदारता है रुक्मिणी में ? कितनी इसकी क्षमा है ? आज हम इसका मस्तक मूंडने के लिए आई हैं, फिर भी यह प्रसन्न चेहरे से स्वयं पटरानी होने पर भी हमें बुला रही है । ऐसी पवित्र और गम्भीर महारानी को हमने पहचानी नहीं । जबकि हमारी सत्यभामा तो क्रोध से धमधमाती है और पूर्ण अभिमानी है ।' रुक्मिणी की सरलता के आगे दासियों ने सिर नमा दिये और बोली - "महारानी साहब, हमें माफ करना । हमें यह कार्य अच्छा नहीं लगता, किन्तु हमारी स्वामिनी की आज्ञा होने से लाचारीवश ऐसा करती हैं ।" रुक्मिणी के रूप में रहे हुए प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "बहनों ! तुम पर मैं कदापि क्रोध नहीं करूँगी । तुम्हारी रानी राजी हो, वैसी करो ।" नाई की पत्नियाँ अब रुक्मिणी के बाल उतारती जाती है और थाल में लेती जाती हैं । जबकि दूसरी ओर - विद्या के बल से प्रद्युम्नकुमार ने उन दासियों के नाक, कान और बाल काट लिए और सबके मस्तक मुंडन भी कर दिया । इसका पता किसी को भी नहीं लगा । रुक्मिणी की सरलता और प्रेम में सब दासियाँ मुग्ध बन गई । वे रुक्मिणी की प्रशंसा करती हुई थाली में बाल लेकर हर्षित्त होती हुई जा रही हैं । रास्ते में लोग उनको देखकर मजाक उड़ायेंगे और सत्यभामा हृदय में कैसी जल उठेगी, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रीतमभाई का भाषण

अब प्रीतमभाई तथा कुसुमबहन आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर रहे हैं । उन्हें आलोचना तथा पच्चक्खाण विधि कराई जा रही है -

प्रीतमभाई बोले - "मैं आपके समक्ष दो शब्द बोलता हूँ। मेरे जीवन में परिवर्तन हुआ हो तो बा.ब्र. विदुषी शारदाबाई महासतीजी का प्रताप है। मैंने उनके वालकेश्वर के चार महीने के व्याख्यान सुने। इसके प्रताप से आत्म जागृति से आज मेरा जीवन बदल गया है। मेरी पत्नी स्वामिनारायण धर्म को मानती है, किन्तु पू. महासतीजी की जादूगरी वाणी ने घर के सभी मनुष्यों का जीवन-परिवर्तन कराया है। महासतीजी का मैं जितना आभार मानूँ इतना थोड़ा है। पू. महासतीजी के व्याख्यान की पुस्तक पढ़कर मेरे जैसे अनेक जीवों ने धर्म प्राप्त किया है। आज मैं हर्षानुभव करता हूँ। पू. महासतीजी के व्याख्यान की पुस्तक की १० हजार प्रतियाँ घाटकोपर से प्रकाशित करवाई है। सचमुच इससे अनेक जीव धर्म प्राप्त करेंगे। वालकेश्वर के दानवीर मणिभाई शामजी वीरानी के सहयोग से 'शारदा सागर' की ७ हजार प्रतियाँ छपी है फिर भी आज मिलती नहीं है। धन्य है, घाटकोपर संघ की भावना को कि वह १० हजार प्रतियाँ प्रकाशित करवाना चाहता है। मैंने आपका समय लिया इसके लिए क्षमा मांगता हूँ।

व्याख्यान - ९८

आसो वदी १३, बुधवार — ता. २०-१०-७६

भावकर्म से होता हैरान : वीतरागता से पाओ निर्वाण

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। ये जड़ होते हुए भी चेतन आत्मा को क्यों हैरान करते हैं ? उसका एक ही कारण है कि आत्मा मोह के वशीभूत होकर कर्म के साम्राज्य के नीचे दब गया है। इस कारण उसे (आत्मा को) अपनी शक्ति का ख्याल नहीं आता। आठ प्रकार के कर्म द्रव्यकर्म हैं। इन द्रव्यकर्मो की जड़ अगर कोई हो तो वह है - भावकर्म। भावकर्म का अर्थ है - राग और द्वेष। 'उत्तराध्ययन सूत्र' (अ-३२) में कहा गया है - *"रागो य दोसो वि य कम्मबीयं"* - राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं। छोटे-से बीज से विशाल वृक्ष हो जाता है न ? इसलिए जबतक राग और द्वेषरूपी भावकर्म नष्ट न हों, तबतक द्रव्यकर्म आत्मा को परेशान करेंगे। अत: यदि सच्चा सुख प्राप्त करना हो तो ऐसी लगन लगाओ कि मैं अपने पुराने कर्मो को शीघ्र क्षय करूँ और नये कर्म न बंधे, इसका सतत उपयोग रखूं। सुख तो प्रत्येक प्राणी को चाहिए; परन्तु कर्म बांधते समय जीव ध्यान नहीं रखता

कि मैं कर्म बांध रहा हूँ, इनका फल मुझे अकेले ही भोगना पड़ेगा। कर्म उदय में आएँगे, तब कोई भी (फल भोगने में) भागीदार बनने को तैयार नहीं होता। कर्म का कानून अटल है। अभी तक ऐसा नहीं हुआ, और नहीं होगा कि कर्म भोगने में किसी ने भागीदारी की हो। जो कर्म करता है, उसका फल उसीको भोगना पड़ता है।

शुभाशुभ कर्म के अनुसार जीव को शुभाशुभ गति मिलती है। नरक में जाता है, तब उसे कैसी कठोर सजा भोगनी पड़ती है। परमाधामी देव उसे ताड़न, मारन, छेदन-भेदन आदि करते हैं। जाज्वल्यमान आग में उसे झोंक देते हैं। उस समय नारकीय जीव कैसा करुण कल्पान्त करते हैं? उस समय उसके दुःख में हिस्सा बंटाने तो नहीं, किन्तु दुःख में आश्वासन देने भी कोई नहीं जाता। नरक के दुःख तो प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, किन्तु तिर्यंचों को तो प्रत्यक्ष दुःखित, पीड़ित होते हुए देखते हैं। बेचारे तिर्यंचों को पराधीनता में कितनी भूख-प्यास सहन करनी पड़ती है? कितना बोझ उठाना पडता है? कभी-कभी कसाई के हाथ से कटना पड़ता है। ऐसे दारुण दुःख भोगने पड़ते हैं। कदाचित तुम कहो कि देवलोक में तो सुख ही सुख है, किन्तु ये सुख एक तो भौतिक हैं, दूसरे, वहाँ भी देवों में भी परस्पर प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष आदि होते हैं, इसलिए जहाँ विषमता है, वहाँ सुख कहाँ? और देवलोक में भी जो सुख है, वह भौतिक है, आध्यात्मिक सुख नहीं है। मनुष्यों में सम्पूर्ण सुखी प्रायः नहीं है। अधिकांश लोग किसी न किसी वस्तु के अभाव में दुःखी हैं। किसी को धन का, किसी को सन्तान का दुःख है, किसी का शरीर नीरोगी नहीं है। पूर्ण सुखी तो सिद्ध भगवान् हैं। उनको दुःख का अंश भी नहीं है। उनको एकान्त और शाश्वत-सुख है। ऐसा सुख आने के बाद कभी जाता नहीं। ऐसे शाश्वत-सुख को जीव क्यों नहीं प्राप्त कर पाता? उसका एक ही कारण है - राग और द्वेष। इन दोनों के कारण जीव उस शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि राग और द्वेष के कारण जीव कर्म बांधता है। उन भिन्न-भिन्न कर्मों के कारण जीव पुण्यकर्मों से भौतिक-सुख प्राप्त करता है, पाप के कारण दुःख पाता है। विचार करो, सुख और दुःख क्या है? जीव को पदार्थों पाने की तीव्र उत्कंठा जागती है, यहीं से दुःख का प्रारम्भ हुआ। क्योंकि जहाँ इच्छा है, वहाँ दुःख है। जिसके मन से चाह गई चिन्ता मिटी, इच्छा नहीं जागी, वह सुखी है। अनादिकाल से जीव उद्यम करता आ रहा है। कोई भी जीव उद्यम-रहित नहीं है। जीवों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है, परन्तु समग्रतया (सामान्य रूप से अन्त में) सबका मत प्रायः एक ही होता है। जैसे बहीखाते में अनेक खाते होते हैं, किन्तु उनका सामान्यतया लक्ष्य एक ही होता है। जगत में जीव भिन्न-भिन्न प्रकार की रुचिवाले होते हैं, किन्तु उनमें सबका मत एक ही होता है। दुःख कैसे जाए, सुख कैसे प्राप्त हो। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी आकांक्षा होती है। वह स्वयं सुख के लिए प्रयत्न करता है, फिर भी सुख मिलता

नहीं है और दुःख टलता नहीं। अब आप लोगों के समझ में आ गया होगा कि सच्चा सुख आत्मा के घर में है।

एक बार एक शिष्य ने गुरु से पूछा – "गुरुदेव ! इस जगत् में अनेक मनुष्य शास्त्रों का वाचन करते हैं। उनका श्रवण-मनन भी करते हैं। तप, जप वगैरह क्रियाएँ भी करते हैं। फिर भी उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?" तब गुरु ने कहा – "शिष्य ! चील आकाश में बहुत ऊँची उड़ती है, परन्तु उसकी दृष्टि जमीन पर होती है कि कहाँ मांस का पिण्ड पड़ा है ? वह चाहे जितनी ऊँची उड़ान भरने पर भी मांस का पिण्ड ढूंढती है। वैसे ही मानव चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले, श्रवण-मनन कर ले, चिन्तन कर ले, तप-जप कर ले, किन्तु उसका लक्ष्यबिन्दु कंचन और कामिनी को पाने की ओर हो तो उसे आत्मिक ज्ञान कहाँ से मिल सकता है ? अज्ञान का तिमिर हटे तो आत्मिक ज्ञान का प्रकाश मिले। अज्ञान के अन्धकार से आत्मिक ज्ञान का प्रकाश आच्छादित हो गया है। विवेक विस्मृत हो गया है। इस कारण से जिसमें सुख नहीं है, उसमें जीव सुख मानकर उसकी सुरक्षा करने में लग गया है।

जो वस्तु साथ में नहीं आनेवाली है, उसे प्राप्त करने के लिए कितने कर्मबन्ध करता है ? परन्तु उसे पता नहीं है कि सच्चा सुख त्याग में है। संसार-सुख का स्वाद छूटे, तभी जीव त्याग के सुख का स्वाद ले सकता है या भोग सकता है। चींटी अपने मुँह में से नमक का कण निकाले नहीं, वहाँ तक शक्कर के पर्वत पर रहने पर भी शक्कर के स्वाद का आनन्द कैसे ले सकती है ? वैसे ही जिन जीवों ने संसार के सुख को सच्चा सुख मान लिया हो, और उसीमें रात-दिन रचा-पचा रहता हो, तब फिर उसे आत्मिक-सुख की अनुभूति कैसे हो सकती है ? अतः मेरी तो आप सबको यह हिदायत है कि आप जो भी साधना करें, आत्मा को लक्ष्य में रखकर करें। आप अपने घर का जितना ध्यान रखते हैं, उतना ही आत्मा का ध्यान रखें। जैसे माता घर का काम करती हुई, अपने नन्हे प्रिय पुत्र का ध्यान रखती है, वैसे तुम भी संसार की प्रवृत्ति करते हुए भी आत्मा का ध्यान रखो कि मेरी आत्मा विषय-कषायों से जुड़कर कर्मबन्धन तो नहीं करता ? मैं जो कुछ भी प्रवृत्ति कर रहा हूँ, वह मेरी आत्मा के हित के लिए करता हूँ या अहित के लिए ? अथवा मैं जो पापमय प्रवृत्ति कर रहा हूँ, वह पाप किस के लिए (किसलिए) कर रहा हूँ ? पाप करके मैं कहाँ जाऊँगा ? अगर ऐसा विचार आता हो तो किसी दिन आत्मा पाप करने से पीछे लौटेगा या हटेगा। अगर ऐसा विचार नहीं आता हो तो समझ लेना, उसे चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करना है।

बन्धुओं ! मन को शान्त करके एकाग्र चित्त से उपर्युक्त विचार किया जाए तो अवश्य ही अन्तर में प्रकाश की तेजस्वी किरण चमक उठेगी। आत्मरुचि जग जाने पर परम-सुख की तीव्र उत्कण्ठा होगी कि मेरा परम-सुख कहाँ (किसमें) है, और मैं

कहाँ खोज रहा हूँ ? इसका भान होगा । सुख भरा है, मेरे अन्तर में, और मैं ढूंढ रहा हूँ बाहर में, तब कहाँ से मिलेगा वह ? समझो, बाहर का संसार मन में अपरंपार भरा हुआ है । इसलिए वह उभर कर आया करता है । उसे रोके बिना चित्त में एकाग्रता आनी मुश्किल है । आत्मा की अनन्त शक्ति तुच्छ सांसारिक-सुखों में व्यर्थ खर्च (नष्ट) कर देना मूर्खता का काम है ।

आज का मानव अपनी अनन्त (आत्मिक) शक्ति को प्राय: इन्द्रिय-विषयों के पोषण में खर्च रहा है । आत्म-साधना करने में उसका चित्त नहीं लगता । बेचारा किसी दिन व्याख्यान में आकर बैठता है तो नींद के झोंके आने लगते हैं । और घर जाकर सोने का प्रयत्न करता है, तब उसका मन चिन्ता के (नीचे-उपर चक्कर खाने वाले) झूले में (चकडोले में) चढ़ जाता है । कर्म की गति कैसी गहन है कि जहाँ आकर उसे जागना है, वहाँ उसे नींद आती है, और निद्रा लेने के समय में चिन्ता के चक्र में भटकने लगता है । आज हजार में ९९९ मनुष्यों का मन ठिकाने नहीं है । सवेरे उठता है, तब से चिन्ता का ताज पहनकर बाहर निकलता है । वह रात को सोता है तब उसके मस्तक के बाल बिखर जाते हैं, परन्तु उसके दिमाग में से चिन्ता नहीं बिखरती । अन्त में, यह चिन्ता मानव को स्वप्न में भी सताती है । इस प्रकार मानव चिन्ता में रात-दिन गुजार कर अपनी अमूल्य जिंदगी पूरी करता है ।

जितना-जितना पुद्गलों के बिछौने बिछाते जाओगे, उतना-उतना मन उसमें रूका रहेगा । फिर धर्म-श्रवण में या प्रभु-स्मरण में मन कहाँ से (कैसे) जुड़ेगा ? पुद्गलों का मोह जीव को धर्म से अलग करता है । भले ही तुम यहाँ (धर्मस्थान में) आकर बैठे, परन्तु तुम्हारा मन पुद्गलों के बिछौने में रमता रहेगा । यह पुद्गल का राग जीव को धोखा देनेवाला है । पुद्गल की विचित्रता देखकर ज्ञानीपुरुषों ने विचार किया कि 'पुद्गल हमें चाहे जब और चाहे जहाँ चाहे जिस तरह से नचाता है । तो अब हमें उसके नचाये नहीं नाचना है । वास्तव में, पुद्गल की भागीदारी के कारण आत्मा दीन-हीन बन गया है । अत: इसका राग छोड़कर आत्म-साधना से जुड़कर कर्म के बन्धन से आत्मा को मुक्त करके शाश्वत सुख का स्वामी बनाने का पुरुषार्थ करो ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार चल रहा है । प्रसंगवश कुम्भकराजा का वर्णन है । कुम्भकराजा भाग गए । इस बात की जानकारी छहों राजाओं को मिली । इसलिए जितशत्रु आदि छहों राजा सरहद पर से मिथिला नगरी की ओर आए और मिथिला नगरी के चारों ओर घेरा डाला । इस कारण जो बाहर थे, वे बाहर रह गए और जो अंदर थे, वे अंदर रहे । कुम्भकराजा को पता लगा कि दुश्मनों ने नगरी को चारों ओर से घेर ली है । तब उनकी चिन्ता का कोई पार न रहा ।

'अहो ! छह-छह राजा मेरे पर टूट पड़े हैं और मैं अकेला हूँ । मेरी सेना तितरबितर हो गई । अब मैं क्या करूँगा ?' इस प्रकार चिन्तातुर होकर अपने मंत्रियों के साथ अपनी व्यक्तिगत गुप्त सभा में श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे और यह विचार करने लगे - 'इन राजाओं को कैसे जीतना ? इसके लिए किस प्रकार लड़ना ? साथ ही इष्टसिद्धि किये जानेवाले उपायों से शत्रुओं को कैसे हराना ?' इस बात पर विचारणा की । तथैव औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी, इन चार प्रकार की बुद्धियों से मंत्री के साथ बैठकर बारंबार इस समस्या पर मंत्रणा की । परन्तु वे ऐसी गम्भीर परिस्थिति में फंस गए थे कि उन्हें इष्टसिद्धि का कोई उपाय नहीं सूझता । तब दुःखी होकर आर्तध्यान करने लगे ।

कुम्भकराजा शून्यमनस्क होकर बैठे हैं । उनके मन में इतनी ही चिन्ता है कि एक राज्य जाएगा । साथ में यह भी चिन्ता है कि इन छह राजाओं ने मेरी पुत्री की मांग की थी । गुस्से होकर मैंने इन्कार कर दिया था । इस कारण ये मेरे साथ लड़ने आए हैं । अब ये मुझे जीत लेंगे और मेरी बेटी के लिए झगड़ा करेंगे । तो मैं अपनी पुत्री किसे दूँ ? क्या करना ? यों अनेक प्रकार की चिन्ता के चक्र पर उनका मन चढ़ा हुआ था । कहावत है कि जिसके सिर पर अनेक चिन्ताएँ आती हैं, तब उसकी चतुराई घट जाती है । उसका रक्त जल जाता है और उसका रूपतेज भी नष्ट हो जाता है । उसे कुछ भी नहीं सूझता । कुम्भकराजा की परिस्थिति भी ऐसी हो गई और वे मस्तक पर हाथ देकर बैठे थे ।

मल्लीकुमारी का पिता के पास आगमन : *इमं च णं मल्ली विदेह रायवरकन्ना ण्हाया जाव बहूहिं खुज्जाहिं परिवुडा जेणेव कुंभराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कुंभगस्स पायग्गहणं करेइ ।"* कुम्भकराजा चिन्ताग्रस्त थे, उस समय विदेहराजा की श्रेष्ठ कन्या मल्लीकुमारी स्नान करके अच्छे वस्त्राभूषण पहनकर अनेक कुब्जा (कुबड़ी) दासियों के साथ कुम्भकराजा के पास गई और अपने पिताजी कुम्भकराजा के चरण-ग्रहण किये-पैर छुए, नमन किया । परन्तु इस समय कुम्भकराजा इतने अधिक व्यग्रचित्तवाले थे कि अपनी प्रियपुत्री मल्लीकुमारी ने पिताजी कुम्भकराजा के चरण छुए, नमस्कार किया, तब उसका आदर-सत्कार नहीं किया । राजा को यह तो पता लग गया कि मल्लीकुमारी आई है, किन्तु अत्यन्त चिन्तातुर होने के कारण बिलकुल मौन बैठे रहे । पिता को चिन्तातुर देख मल्लीकुमारी ने पूछा - "पिताजी ! पहले मैं आपके पास आती थी, तब आप अत्यन्त हर्ष से मेरे आदर करते थे । मुझे देखकर आप अत्यन्त हर्षित हो जाते थे और मुझे प्रेम से उठाकर गोद में बिठाते थे, किन्तु आज आप उदास होकर आर्तध्यान में बैठे हैं, और अत्यन्त चिन्तातुर दिखाई देते हैं, इसका क्या कारण है ?"

पिता की चिन्ता दूर करने के लिए बताया गया उपाय : मल्लीकुमारी की बात सुनकर कुम्भकराजा ने कहा -

एवं खलु पुत्ता तवकज्जे जियसत्तू-प्पमुखेहिं छहिं राइहिं दूया संपेसिया, तेणं मए असक्कारिया जाव निच्छुढा । - "हे पुत्री ! जितशत्रु-प्रमुख छह राजाओं ने तुम्हारे साथ विवाह करने की मांग करने के लिए मेरे पास दूत भेजे थे, तब मैंने उनकी मांग का स्वीकार नहीं किया । उनके दूतों का अपमान किया । अपमान करके महल के पीछे के छोटे दरवाजे से उन्हें बाहर निकलवा दिया । अब दूतों के पास से यह (अपमान की) बात जानकर जितशत्रु-प्रमुख छही राजा अत्यन्त क्रुद्ध हुए और मेरे साथ युद्ध करने आये । युद्ध में यह हालत हुई । अब अपनी मिथिला नगरी को उन्होंने चारों तरफ से घेर ली है । इसके फलस्वरूप लोगों का आवागमन बंद हो गया है । लोग न तो नगरी के अंदर आ सकते हैं और न ही नगरी के बाहर जा सकते हैं । ऐसी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हुई है ।"

"तएणं अहं पुत्ता ! तेसिं जियसत्तू-पामोक्खाणं छण्हं राइणं अंतराणि अलभमाणे जाव झियामि । - हे पुत्री ! जितशत्रु-प्रमुख छही राजाओं को कैसे हराना ? इसके लिए मैं उनके छिद्रों - दोषों की मुझे जानकारी हो, इसके लिए मैं उसके लाग देख रहा हूँ, किन्तु अभी तक उनके एक भी छिद्र (दोष) की जानकारी नहीं मिली । अनेक उपायों से मैंने उन्हें हराने का विचार किये । औत्पातिकी वगैरह बुद्धियों से मंत्रियों के साथ विचारणा की, किन्तु उन्हें हराने के या स्वाधीन बनाने का मुझे एक भी उपाय नहीं मिला । इस कारण अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करता हुआ आर्तध्यान में तल्लीन बैठा हूँ ।"

मल्लीकुमारी ने पिता की बात बहुत शान्ति से सुनी । मल्लीकुमारी बहुत चतुर और विवेकी पुत्री है । वह भविष्य में तीर्थंकर बननेवाली हैं, इनमें क्या कमी हो सकती है ? उन्होंने अवधि-ज्ञान से जान लिया कि मेरे पूर्व के मित्र मेरे लिए क्या करेंगे ? इसलिए मल्लीकुमारी ने पहले से तैयारी कर ली है । यह तो पवित्र और ज्ञानी पुत्री है । ऐसे अनेक उदाहरण देखने-जानने को मिलते हैं कि पुत्री चतुर और विवेकी हो तो माता-पिता की चाहे जैसी चिन्ताएँ हों, उन्हें दूर करती हैं, दूर करने का उपाय बताती है । (इस विषय में पू. महासतीजी ने धनपाल पण्डित और उनकी पुत्री तिलक मंजरी का और भोजराजा का सुन्दर दृष्टान्त देकर बताया कि चतुर पुत्री ने पिता की चिन्ता कैसे दूर की ? इस विषय में बहुत विस्तारपूर्वक विश्लेषण करके समझाया था ।)

मल्लीकुमारी कुम्भकराजा की गुणवती, गम्भीर, विवेकी और चतुर पुत्री है । उसने पिता की बात सुनकर कहा - "पिताजी ! आप बिलकुल चिन्ता मत करना । मैं आप

की चिन्ता दूर करने का एक उपाय बताती हूँ । पिताजी ! आप जितशत्रु वगैरह छह राजाओं में से प्रत्येक राजा के पास एक-एक गुप्त दूत एकान्त में भेजो। साथ ही प्रत्येक को इस प्रकार कहना - "मैं तुमको अपनी श्रेष्ठ पुत्री मल्लीकुमारी देता हूँ ।' यह कहने के लिए प्रत्येक दूत को प्रत्येक राजा के पास गुप्त रूप से भेजो । साथ में यह भी कहलवाओ कि वे राजा सूर्यास्त होने के बाद सन्ध्याकाल के समय आएँ । क्योंकि उस समय मार्ग में नगरजनों का आवागमन (यातायात) कम होने लगता है । व्यापार-धंधे के लिए गए हुए व्यापारी, नौकरी पेशेवाले व्यक्ति वापस लौट कर अपने-अपने घर में विश्रान्ति लेने के लिए बैठे होते हैं । वातावरण शान्त होता है । उस समय छही राजाओं को मिथिला नगरी में बुलाओ और उन्हें गर्भगृह में जो अलग-अलग कमरे बनाये हैं, उनमें छही राजाओं को अलग अलग कमरे में अलग-अलग रखो । इन छही राजाओं के नगरी में प्रवेश कर (हो) जाने के बाद मिथिला नगरी के दरवाजे बंद करा देना और आप आत्मरक्षा - नगरी की रक्षा के लिए सावधान होकर रहो ।''

इस प्रकार मल्लीकुमारी की बात सुनकर कुम्भकराजा की चिन्ता कम हुई । जैसे कोई कर्जदार लिया हुआ कर्ज भर दे (चुकता कर दे) तो उसे आनन्द हो जाता है, इसी प्रकार राजा कुम्भक को आनन्द हुआ ।

अब कुम्भकराजा मल्लीकुमारी की सूचना के अनुसार काम करेंगे और उसका परिणाम क्या आएगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

दासियों ने की रुक्मिणी की प्रशंसा : रुक्मिणी के बाल लेकर दासियाँ जा रही हैं । इन सब दासियों को नाक, कान से रहित बूची और मस्तक मुंडाई हुई देखकर लोग हंसने लगे । 'अरे ! ये तो ढोल-नगाड़ा बजाती हुई रुक्मिणी का मस्तक मूंडने के लिए गई थीं, उसके बदले इनका खुद का मस्तक तो मुंडाया, साथ में ये सब अपने नाक, कान भी मुंडाकर आई दिखती हैं ।' यों कहकर लोग उन (दासियों) के सामने देखकर हंसने लगे । जबकि ये (दासियाँ) मानने (समझने) लगीं कि हम कितनी रूपवती लगती हैं ? अपना रूप, सौन्दर्य को देखकर लोग खुश होकर हंसते हैं । दूसरी बात - हम रुक्मिणी के बाल उतरवा कर सत्यभामा का गौरव बढ़ाकर आ गई हैं, इस कारण सब हर्षान्वित होकर हंस रहे हैं । यों सत्यभामा की दासियाँ और सखियाँ इतनी हर्षोन्मत्त बन गई कि वे एक-दूसरे के सामने भी नहीं देखती । वे एक-दूसरे के सामने देखें तो पता लगे कि हमारे नाक, कान और बाल कहाँ गए ? ये सब हंसती, कूदती और नाचती हुई सत्यभामा के पास आकर मुक्त कण्ठ

से रुक्मिणी के वखान करने लगी कि "हे महारानी ! गजव का है रुक्मिणी का प्रेम ! कितना है उसका मधुर स्वभाव ! वह वोलती है तो मानो फूल झरते हैं ! चलती है तो पैर में से कुंकुम झरता है ! ऐसी कोमल स्वभावी रुक्मिणी है ! हम उसका मस्तक मूंड़ने गई तो जरा-सा भी क्रोध नहीं । प्रेम से वाल उतराये । इतना भी नहीं वोली कि मेरी वड़ी वहन होकर सत्यभामा ने मेरा मस्तक मुंडवाया । ऐसी मेरे साथ शर्त की थी, ऐसा कुछ भी नहीं वोली । उसके गुणों का तो कोई पार नहीं है ।"

अपनी दासियाँ और सखियाँ रुक्मिणी का इतना वखान कर रही हैं, यह सुनकर सत्यभामा का क्रोध भड़क उठा । "हे दासियों ! तुम मेरी होकर मेरा वखान नहीं करतीं और इसका इतना वखान करती हो ? इसने तो मेरे सुख में आग लगाई है । यह जव से आई है, तव से कृष्णजी उसके प्रेम में अंधे वने हैं । फिर भी तुम्हें इसके गुण गाने का मन होता है ? चुप रहो ! मुझे कुछ भी नहीं सुनना है, इसके विषय में !

और वात तो पीछे करना, पहले दो दरसाई ।
वेणी, नाक, कान, अंगुलियाँ, कहाँ पर तुम रख आई हो ॥ श्रोता...

सखियों और दासियों ! पहले मुझे यह वताओ कि रुक्मिणी के वाल कहाँ हैं ?" दासियों ने थाली पर से कपड़ा उतारा तो थाली विलकुल खाली, वाल विलकुल नहीं हैं । दासियाँ कहने लगीं - "हमने अपनी नजर के समक्ष वाल उतारे हैं । वाल गये कहाँ ?" सत्यभामा आवेश में आकर कहती है - "तुम उसके वाल तो नहीं लाईं, वल्कि तुम अपने नाक, कान, वाल और अंगुलियाँ कटवा कर आई हो ।" ऐसे में सवने आश्चर्य से एक-दूसरे के सामने देखा । 'अरर... हमारे साथ ऐसा किसने किया ? अपने नाक, कान कटे, इसकी वेदना भी नहीं होती और यह क्या हो गया?' यों वोलती हुई वे दासियाँ और सखियाँ मुँह ढककर अंदर गईं और रोने लगीं ।

सत्यभामा ने सवको आश्वासन देकर शान्त किया और पूछा - "ऐसा करनेवाला कौन है ? मुझे तो मालूम होता है - रुक्मिणी कुछ जादू-मंत्र करती लगती है । उसके सिवाय ऐसा नहीं वनता ।" इस पर दासियों ने कहा - "वाई ! आप उस पवित्र सती का नाम मत लो । वह तो देवी है । उसके अवर्णवाद वोलेंगे तो नरक में जाना पड़ेगा । उसका तो जरा भी दोष नहीं है ! वल्कि हम उस सती के मस्तक का मुंडन करने गई, यह उनकी हमने आशातना की । इस कारण किसी देव ने कुपित होकर हमारी ऐसी दुर्दशा की होगी !"

दासियों ने तो रुक्मिणी की वहुत प्रशंसा की, लेकिन सत्यभामा के हृदय में ईर्ष्या की होली जलने लगी । वह वोलने लगी - "पापिनी ने वाल तो दिये नहीं और मेरी सखियों और दासियों के मस्तक मूंड डाले ।" सत्यभामा ने प्रधान को वुलाकर कहा

- "श्रीकृष्णजी तो हमारे दुःख-सुख के विषय में तो ध्यान नहीं देते । यह रुक्मिणी कितना तूफान मचाती है ? मेरी शर्त के अनुसार मैंने उसका मस्तक मुंडवाने के लिए दासियों को भेजी थी, तब उसने मस्तक तो मुंडवाया नहीं, ऊपर से हमारी दासियों के मस्तक मुंड डाले । 'उल्टी चोर कोतवाल को दंडे' वाली कहावत चरितार्थ की है उसने ।"

बन्धुओं ! ईर्ष्या कितनी भयंकर है । सत्यभामा ने रूपवती बनने के लिए अपना मस्तक स्वयं मुंडवाया है । ये बात कौन, किससे कहे ? इसलिए उसने अपने मस्तक मूंडने का इलजाम भी रुक्मिणी पर मढ़ दिया । प्रधान से कहा - "आप सभा में जाकर कृष्णजी से कहना ।" "आपकी इस रुक्मिणी ने तो उद्दण्ड बनकर हमारी कैसी दुर्दशा कर दी है ?" यह बात जब कृष्णजी को कही तो उनको हंसी आ गई । वह सत्यभामा के महल में कौतुक देखने गए । वहाँ सत्यभामा और दासियों की दशा देखकर तो वह बहुत हंसने लगे और तालियाँ पीटकर कहने लगे - "वाह ! सत्यभामा वाह ! तेरे भानुकुमार का तो अभी तक विवाह हुआ नहीं, उससे पहले तेरा मस्तक मुंडित हो गया ? तेरी मस्तक तो मुंडाया साथ में तेरी दासियों का भी मुंडा लिया ?" इस प्रकार कृष्णजी जब सत्यभामा की मजाक उड़ाने लगे, तब वह तो मन में जलने लगी । कृष्ण के पास आकर कहने लगी - "नाथ ! आप रुक्मिणी को तो कुछ कहो । हम सबके बाल उसने ले लिये । दासियाँ तो चिट्ठी की चाकर कहलाती हैं । मैंने शर्त की थी, उसके अनुसार उसके बाल उतारने के लिए दासियों को भेजी तो इनके बाल, कान, नाक आदि सब काट लिये । यह कम जुल्म किया है ? यह तो हमारे मस्तक पर चढ़ बैठी है । हमने शर्त की थी, तब आप और बड़े भैया दोनों इस शर्त के साथी रहे हैं। हमारे शर्त के अनुसार रुक्मिणी को अपने बाल देने चाहिए या नहीं ? उसने एक भी बाल नहीं दिया और इतना तूफान मचाया है, तो आप न्याय करिए । मेरे से यह अन्याय सहन नहीं होता ।" उसने तुरन्त बलभद्रजी को बुलाए और यह सब बातें कहीं ।

सत्यभामा की बात सुनकर बलभद्रजी को रुक्मिणी पर बहुत क्रोध आया । श्रीकृष्णजी से उन्होंने कहा - "ऐसे समय में हंसना नहीं चाहिए । तेरा तूफान छोड़ दे, रुक्मिणी इतना तूफान क्यों करती है ? सत्यभामा ने शर्त रखी तब रुक्मिणी ने कबूल की थी उस शर्त को, तो अब क्यों बदल गई ? स्वयं दिये हुए वचन से मुकरना या बदलना शोभास्पद नहीं है । सत्यभामा का तथा उसकी दासियों का मस्तक मुंडा, तथा दासियों का नाक, कान को काट लेना, क्या उसे शोभा देता है ?" यों कहकर बलभद्रजी बहुत क्रुद्ध हुए । इस क्रोध का क्या परिणाम आएगा, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - ९९

आसो वदी १४, गुरुवार — ता. २१-१०-७६

सच्चा सुख भीतर में तेरे, बाहर कहाँ ढूंढे रे !

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

शासन-सम्राट्, भवोदधि-तारक, आत्मिक-जीवन निर्माता, त्राता तीर्थकर-भगवान् के प्रत्येक वचन भगसागर तिरने के लिए प्रकाश - स्तम्भ के समान हैं। जहाँ जीव के लिए संसार में विषम-पथ आता है, वहाँ वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के वचन चेतावनी देते हैं - "हे आत्मन् ! तू सावधान रहकर तेरे मार्ग को पार कर । अगर तू सावधानीपूर्वक नहीं चलेगा तो तेरी नौका संसार-सागर में भटक जाएगी ।"

अनन्तकाल से अज्ञानदशा के कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल गया है। इस कारण वह नहीं खोजने को खोज रहा है, जिसे जानना नहीं है, उसे जानने के लिए अनवरत परिश्रम कर रहा है और जहाँ सुख नहीं है, वहाँ उसे सुख मानकर शान्ति से बैठा है। किन्तु विचार करो कि जहाँ सुख है ही नहीं, वहाँ तीन काल में सुख मिलेगा क्या ? जिसमें सुख का छींटा भी नहीं है, उसमें सुख की कल्पना करके जीव सुख को ढूंढ रहा है, किन्तु वहाँ सुख ढूंढने से उसे सुख मिलनेवाला नहीं है।

एक बार एक आदमी कमरे में गिर पड़ी चीज को बाहर ढूंढ रहा था। वहाँ से एक सज्जन मनुष्य जा रहा था। उसने पूछा - "भाई ! यह तू क्या कर रहा है ? क्या तेरा कुछ खो गया है ?" तब उसने कहा - "हाँ !" तब उस सज्जन मनुष्य ने पूछा - "भाई ! तेरा क्या खो गया है ?" इस पर उसने कहा - "भाई ! आज सुबह ओफिस जाने के टाइम में कमीज पहनते समय जेब में से कोई चीज गिर पड़ी। उसकी खनन खनन आवाज आई, परन्तु मेरा ओफिस जाने का टाइम हो गया था, इस कारण मैंने कुछ भी तलाश नहीं की। शाम को आया, तब घर में अंधेरा हो जाने से मैं उसे (गिरी हुई वस्तु को) लाइट के प्रकाश में ढूंढ रहा हूँ।" यह बात सुनकर उक्त सज्जन मनुष्य उसकी मूर्खता पर हंसता हुआ चला गया। वह मन में यह सोचता हुआ चला गया इस (मूर्ख) आदमी को क्या कहना ? इसे पता नहीं कि क्या (कौन-सी वस्तु) खो गया है और कहाँ खोया है ? इसकी मेहनत सफल होगी क्या ? और इसकी वस्तु मिलेगी क्या ? नहीं।

इस (सांसारिक) जीव की भी ऐसी दशा है। क्या खो गया ? कहाँ खो गया ? इसका उसे पता नहीं है और खोजता है उसे गलत जगह में। एक बार यदि यह समझ

में आ जाए कि मेरा परम-सुख खो गया है, परन्तु वह मुझे अन्तर के कमरे में मिलेगा, तो हम बाहर की दुनिया को भूलकर अन्तर की दुनिया में खोजने के लिए मेहनत करेंगे, तो परम-सुख को प्राप्त कर लेंगे। अपना आत्मा अनन्त-सुख का धाम है और अनन्तशक्ति का स्वामी है। आज वैज्ञानिक शोध-खोज में मनुष्य इतना अधिक प्रभावित हो गया है, कि उसमें पागल होकर कहता है कि देखो तो सही, वैज्ञानिकों ने कितने नये-नये साधनों की खोज की है ? वह राकेट द्वारा पृथ्वी पर चलते हुए मानव को चन्द्रलोक में ले जाता है। भाई ! आज के मनुष्यों को वैज्ञानिकों के द्वारा की गई शोध-खोज के प्रति इतना मान है। परन्तु यह शोध करनेवाला कौन है ? उसका कभी विचार किया ? वह शोध करनेवाला तो आत्मा है या और कोई है ? आत्मा है। उस (आत्मा) की अनन्तशक्ति का उसे अभी तक भान नहीं है।

महापुरुष बारबार बहुत कहते हैं - "हे चेतन ! तू अनन्तशक्ति का स्वामी है, तू एक अपने आप को जान ले। फिर दुनिया में तुझे दूसरा कुछ जानने को नहीं रहेगा।" परन्तु जीव की दौड़ उल्टी दिशा में है। स्वयं को अपनी परख करनी नहीं आती। एक बार एक मुमुक्षु ने अपने गुरु से प्रश्न किया - "गुरुदेव ! मैं यह सब साधना कर रहा हूँ, इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं ?" गुरु कहते हैं - "तू धैर्य रख। आम को बोते ही तुरन्त आम्रफल नहीं मिल जाता, अपितु समय होने पर मिलता है। वैसे ही तू अपनी साधना के विषय में समझ ले।" परम-पद की साधना बहुत ही कठिन (विकट) है। उसका फल भले ही तुम्हें प्रत्यक्ष (प्रकट में) न दिखाई दे, क्योंकि यह बहुत ही सूक्ष्म है। इसका गणित ही अलग है। किन्तु शुद्ध साधना का प्रत्येक क्षण आत्मिक-सुख की दिशा में प्रगति करता है। जैसे आन्तरिक-सुख की शोध सूक्ष्म है, वैसे ही उसमें आनेवाली रूकावट भी सूक्ष्म है। उसे हटाने के लिए उतनी ही सूक्ष्म तैयारी और सावधानी आवश्यक है। तथैव धैर्य की भी जरूरत है, उसके लिए तुम जो धर्माराधना करते हो, उसका फल भी समय आने पर अवश्य मिलता है। की गई धर्म-साधना कभी निष्फल नहीं जाती। किन्तु आज तो श्रद्धा का दिवाला निकल गया है।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अपना चालू अधिकार है - कुम्भकराजा का। कुम्भकराजा जब उलझन में पड़ गए और किंकर्तव्यविमूढ बन गए, तब मल्लीकुमारी ने (उस उलझन को झुलझाने का) रास्ता (उपाय) बताया। फिर कुम्भकराजा ने क्या किया ?

"तेएणं कुंभए राया एवं तं चेव जाव पवेसेइ, रोहसज्जे चिट्ठइ।" तत्पश्चात् कुम्भकराजा ने (मल्लीकुमारी ने बताया) उसी प्रकार किया।

व्याख्यान - ९९

आसो वदी १४, गुरुवार | ता. २१-१०-७६

सच्चा सुख भीतर में तेरे, बाहर कहाँ ढूंढे रे !

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

शासन-सम्राट्, भवोदधि-तारक, आत्मिक-जीवन निर्माता, त्राता तीर्थंकर-भगवान् के प्रत्येक वचन भगसागर तिरने के लिए प्रकाश - स्तम्भ के समान हैं । जहाँ जीव के लिए संसार में विषम-पथ आता है, वहाँ वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के वचन चेतावनी देते हैं - "हे आत्मन् ! तू सावधान रहकर तेरे मार्ग को पार कर । अगर तू सावधानीपूर्वक नहीं चलेगा तो तेरी नौका संसार-सागर में भटक जाएगी ।"

अनन्तकाल से अज्ञानदशा के कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल गया है। इस कारण वह नहीं खोजने को खोज रहा है, जिसे जानना नहीं है, उसे जानने के लिए अनवरत परिश्रम कर रहा है और जहाँ सुख नहीं है, वहाँ उसे सुख मानकर शान्ति से बैठा है । किन्तु विचार करो कि जहाँ सुख है ही नहीं, वहाँ तीन काल में सुख मिलेगा क्या ? जिसमें सुख का छींटा भी नहीं है, उसमें सुख की कल्पना करके जीव सुख को ढूंढ रहा है, किन्तु वहाँ सुख ढूंढने से उसे सुख मिलनेवाला नहीं है ।

एक बार एक आदमी कमरे में गिर पड़ी चीज को बाहर ढूंढ रहा था । वहाँ से एक सज्जन मनुष्य जा रहा था । उसने पूछा - "भाई ! यह तू क्या कर रहा है ? क्या तेरा कुछ खो गया है ?" तब उसने कहा - "हाँ !" तब उस सज्जन मनुष्य ने पूछा - "भाई ! तेरा क्या खो गया है ?" इस पर उसने कहा - "भाई ! आज सुबह ऑफिस जाने के टाइम में कमीज पहनते समय जेब में से कोई चीज गिर पड़ी । उसकी खनन खनन आवाज आई, परन्तु मेरा ऑफिस जाने का टाइम हो गया था, इस कारण मैंने कुछ भी तलाश नहीं की । शाम को आया, तब घर में अंधेरा हो जाने से मैं उस (गिरी हुई वस्तु को) लाइट के प्रकाश में ढूंढ रहा हूँ ।" यह बात सुनकर उक्त सज्जन मनुष्य उसकी मूर्खता पर हंसता हुआ चला गया । वह मन में यह सोचता हुआ चला गया इस (मूर्ख) आदमी को क्या कहना ? इसे पता नहीं कि क्या (कौन-सी वस्तु) खो गया है और कहाँ खोया है ? इसकी मेहनत सफल होगी क्या ? और इसकी वस्तु मिलेगी क्या ? नहीं ।

इस (सांसारिक) जीव की भी ऐसी दशा है । क्या खो गया ? कहाँ खो गया ? इसका उसे पता नहीं है और खोजता है उसे गलत जगह में । एक बार यदि यह समझ

में आ जाए कि मेरा परम-सुख खो गया है, परन्तु वह मुझे अन्तर के कमरे में मिलेगा, तो हम बाहर की दुनिया को भूलकर अन्तर की दुनिया में खोजने के लिए मेहनत करेंगे, तो परम-सुख को प्राप्त कर लेंगे। अपना आत्मा अनन्त-सुख का धाम है और अनन्तशक्ति का स्वामी है। आज वैज्ञानिक शोध-खोज में मनुष्य इतना अधिक प्रभावित हो गया है, कि उसमें पागल होकर कहता है कि देखो तो सही, वैज्ञानिकों ने कितने नये-नये साधनों की खोज की है ? वह राकेट द्वारा पृथ्वी पर चलते हुए मानव को चन्द्रलोक में ले जाता है। भाई ! आज के मनुष्यों को वैज्ञानिकों के द्वारा की गई शोध-खोज के प्रति इतना मान है। परन्तु यह शोध करनेवाला कौन है ? उसका कभी विचार किया ? वह शोध करनेवाला तो आत्मा है या और कोई है ? आत्मा है। उस (आत्मा) की अनन्तशक्ति का उसे अभी तक भान नहीं है।

महापुरुष बारबार बहुत कहते हैं - "हे चेतन ! तू अनन्तशक्ति का स्वामी है, तू एक अपने आप को जान ले। फिर दुनिया में तुझे दूसरा कुछ जानने को नहीं रहेगा।" परन्तु जीव की दौड़ उल्टी दिशा में है। स्वयं को अपनी परख करनी नहीं आती। एक बार एक मुमुक्षु ने अपने गुरु से प्रश्न किया - "गुरुदेव ! मैं यह सब साधना कर रहा हूँ, इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं ?" गुरु कहते हैं - "तू धैर्य रख। आम को बोते ही तुरन्त आम्रफल नहीं मिल जाता, अपितु समय होने पर मिलता है। वैसे ही तू अपनी साधना के विषय में समझ ले।" परम-पद की साधना बहुत ही कठिन (विकट) है। उसका फल भले ही तुम्हें प्रत्यक्ष (प्रकट में) न दिखाई दे, क्योंकि यह बहुत ही सूक्ष्म है। इसका गणित ही अलग है। किन्तु शुद्ध साधना का प्रत्येक क्षण आत्मिक-सुख की दिशा में प्रगति करता है। जैसे आन्तरिक-सुख की शोध सूक्ष्म है, वैसे ही उसमें आनेवाली रूकावट भी सूक्ष्म है। उसे हटाने के लिए उतनी ही सूक्ष्म तैयारी और सावधानी आवश्यक है। तथैव धैर्य की भी जरूरत है, उसके लिए तुम जो धर्माराधना करते हो, उसका फल भी समय आने पर अवश्य मिलता है। की गई धर्म-साधना कभी निष्फल नहीं जाती। किन्तु आज तो श्रद्धा का दिवाला निकल गया है।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अपना चालू अधिकार है - कुम्भकराजा का। कुम्भकराजा जब उलझन में पड़ गए और किंकर्तव्यविमूढ बन गए, तब मल्लीकुमारी ने (उस उलझन को झुलझाने का) रास्ता (उपाय) बताया। फिर कुम्भकराजा ने क्या किया ?

"तेणं कुंभए राया एवं तं चेव जाव पवेसेइ, रोहसज्जे चिट्ठइ।" तत्पश्चात् कुम्भकराजा ने (मल्लीकुमारी ने बताया) उसी प्रकार किया।

यावत् छहों राजाओं को अलग-अलग गुप्त-रूप से मिथिल नगरी में प्रवेश कराया और गर्भगृहों में उन्हें अलग-अलग कमरे में ठहराया । छहों राजाओं के मिथिला नगरी में प्रविष्ट हो जाने के बाद मिथिल नगरी के सभी दरवाजे बंद करवा दिये । कुम्भकराजा स्वयं नगरी के रोध में सन्न होकर (नगरी की रक्षा के लिए सावधान होकर) ठहरे ।

जितशत्रु-प्रमुख छही राजा रात में गर्भगृह में अलग-अलग कमरे में ठहरे । रात्रि व्यतीत होने पर प्रभात में सूर्योदय हुआ । (जिस-जिस सज्जन को जिस कमरे में ठहराया था, उसकी) जालियों में से स्वर्णमयी मस्तक पर छिद्रवाली तथा कमल के आकार के ढक्कन वाली (मल्लीकुमारी की) प्रतिमा को देखने लगे । देखकर विचार करने लगे - *'ओहो ! यह तो विदेहराज की सर्वश्रेष्ठ कन्या मल्लीकुमारी है ।'* यों समझ कर विदेहराज-वरकन्या मल्लिकुमार के रूप, यौवन और लावण्य के प्रभाव से प्रभावित होकर उसमें (मल्लीकुमारी में) मोहित, मुर्च्छित और लुब्ध हो गए । उनका चित्त उसमें चिपक गया । (वे सब अपने-अपने कमरे की जालियों में से) उसे अनिमेष (अपलक-एकटक) दृष्टि से उस प्रतिमा को देखने लगे । प्रतिमा के सामने देखते हुए वे विचार ने लगे - *'अहो ! मल्लीकुमारी कैसी सुन्दर दिखाई देती है ।* क्या यह देवकन्या है, नागकन्या है, या अप्सरा है ? ऐसा अनुपमरूप हमने कभी *देखा नहीं । अब अवश्य ही कुम्भकराजा शीघ्र ही हमारे साथ मल्लीकुमारी का* विवाह करायेंगे ।' ऐसा विचार करते हुए वे आनन्द में मग्न हो गए और मोहभरी अनिमेष दृष्टि से देखने लगे । मन ही मन सोचने लगे - *'अब हम इसके साथ विवाह करेंगे ।'* मोह में आसक्त हुए उन (प्रत्येक) *राजा को यह पता नहीं लगा कि यह* मल्लीकुमारी है या मल्लीकुमारी की स्वर्णमयी प्रतिमा है ?

ठीक इसी समय मल्लीकुमारी ने स्नान किया और उत्कृष्ट वस्त्रालंकारों से विभूपित होकर अनेक कुब्जा (कुबड़ी) दासियों के साथ वह उस जालगृह में आई और जालगृह में जहाँ स्वर्णमयी प्रतिमा थी, वहाँ आकर क्या किया ?

"तीसे कणग पडिमाए मत्थयाओ तं पउमं अवणेति ।"

उसने उस स्वर्णमयी प्रतिमा के मस्तक पर रहा हुआ कमल के आकार का सोने का ढक्कन था, उसे उघाड़ा (खोला) । ढक्कन खुलते ही उसमें से अत्यन्त दुर्गन्ध आने लगी । जैसे मरी हुई गाय, मृत सर्प अथवा मनुष्य की लाश गंधाती है, वैसी दुर्गन्ध आने लगी । मृत कलेवर सड़ जाने के बाद उसमें से जो दुर्गन्ध छूटे, उससे भी भयंकर दुर्गन्ध आने लगी । फलतः जितशत्रु-प्रमुख छही राजाओं ने अपने उत्तरीय वस्त्र के सिरे से अपनी-अपनी नाक ढक ली । फिर भी दुर्गन्ध बहुत ही असह्य थी । छही राजा उस दुर्गन्ध से त्रस्त हो उठे, घबराने लगे । उनकी ऐसी परिस्थिति व

मन:स्थिति देखकर मल्लीकुमारी ने कहा - "देवानुप्रियों ! आप अभी तक जिस प्रतिमा में मुग्ध होकर एकटक अपलक दृष्टि से उसके समक्ष देख रहे थे, तो अब किसलिए उत्तरीय वस्त्र के सिरे से नाक को दबाकर प्रतिमा की ओर से मुँह फिराकर आप बैठ गए हैं ?" मल्लीकुमारी की बात सुनकर जितशत्रु प्रमुख छही राजाओं ने उससे (मल्लीकुमारी से) कहा -

"एवं खलु देवाणुप्पिए ! अम्हे इमेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं जाव चिट्ठामो । -

हे देवानुप्रिये ! यह खराब गन्ध हमारे लिए असह्य हो गई है । हमसे यह दुर्गन्ध सहन नहीं होती । इस दुर्गन्ध के मारे हमारा मस्तक फटा जा रहा है । हमें चक्कर आ रहा है । हमारा जी घबरा रहा है । इस कारण हम अपने वस्त्र के सिरे से नाक को दबाकर इस तरफ मुँह फिराकर बैठ गए हैं । हमसे यह दुर्गन्ध सहन नहीं होती । अत: आप हमें इस बदबू से बचाइए ।" राजाओं की बात सुनकर मल्लीकुमारी ने जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं से इस प्रकार कहा -

"देवानुप्रियों ! आप ध्यान से मेरी बात सुनो ! आप जिसे साक्षात् यह मल्लीकुमारी है, ऐसा मानकर मुग्ध बने थे, वह असली मल्लीकुमारी नहीं है । यह तो मल्लीकुमारी की आकृति वाली स्वर्णमयी प्रतिमा है । इस प्रतिमा के मस्तक पर एक छिद्र रखवा कर मैं (मल्लीकुमारी) प्रतिदिन जो मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम, इन चार प्रकार का आहार करती थी, उसमें से सभी चीजों का मिश्रण (मिक्स) करके उसका एक कौर बनाकर रोजाना उस (प्रतिमा) में डालती थी । अत: आपलोग विचारिए कि मनोज्ञ (मन को अच्छा लगे ऐसा) उत्तम आहार का सिर्फ एक-एक कवल (कौर) उसमें डालने से (कुछ ही दिनों में) मनोविकृति जनक अशुभतर पुद्गल-परिणमनरूप दुर्गन्धवाला बन गया, तब आप सोचिए के सोने की पुतली में प्रतिदिन डाला हुआ आहार सड़ जाने से ऐसी दारुण दुर्गन्ध छूटी है, ऐसी भयंकर दुर्गन्ध फूट निकली है, तो आप जिस मल्लीकुमारी के शरीर पर मोहित होकर उसके साथ विवाह करने के लिए आतुर होकर इतनी बड़ी सेना लेकर आए हैं, उस (मल्लीकुमारी के) औदारिक शरीर का पुद्गल-परिणमन तो उसकी अपेक्षा भी अधिक दुर्गन्धवाला है । इस औदारिक शरीर का स्वभाव कैसा है ? शास्त्रकार कहते हैं -

इमस्सपुण ओरालिय-सरीरस्स खेलासवस्स, वंतासवस्स, पित्तासवस्स, सुक्क-सोणिय-पूयासवस्स दुरूव-ऊसास-नीसासस्स, दुरूव-मुत्र-पूतिय-पुरीस-पुण्णस सडण-पडण-छेयण-विद्धंसण-धम्मस्स केरिसए परिणामे भविस्सइ ?

एक विचारक ने भी इस तथ्य को कविता द्वारा व्यक्त किया है -

शुं रे भर्युं छे शरीरमां, विचार करो रे राजन् !
कस्तूरी के केसर नथी, नथी सुगन्धित मधुरजी !...
लोही मांस मज्जा ने नाड़ीओ, चरबी भरेलुं शरीर,
द्वारे-द्वारेथी दुर्गन्ध वही रही, शुं रे मोही गया ?

"हे राजन् ! इस औदारिक शरीर में केसर, कस्तूरी या सुगन्धित पदार्थ भरे हुए नहीं हैं और न ही इस शरीर में गुलाब, मोगरा, चंपा, चमेली के ईत्र भरे हैं, किन्तु इसमें तो रक्त, मांस, मज्जा, नाड़ियाँ, हड्डियाँ, चर्बी वगैरह दुर्गन्धित पदार्थ भरे हुए हैं। इसके अतिरिक्त इस शरीर में नौ द्वार सतत बहते रहते हैं। वस्तुतः शरीर में पित्त, कफ, रक्त वगैरह भरे हुए हैं। इनमें से भी बारबार वमन, पित्त, शुक्र (वीर्य), रज, खून, और पस (रस्सी) आदि बहते (निकलते) रहते हैं। इसका श्वासोच्छ्वास महादुरूप और अनिष्टतर है। यह शरीर दुरूप मूत्र और अनिष्ट दुर्गन्धवाले मल से सदैव लिपटा रहता है। तथैव यह शरीर शरन (सड़ना) पेतन और विध्वंसन धर्म (स्वभाव) वाला है। कोढ आदि रोग होने से शरीर की अंगुलियाँ आदि अवयव के झड़ जाने, सूखकर गिर जाने का नाम-शडन (सड़ना) है। बुढ़ापे के कारण शरीर में जो शिथिलता आती है, उसका नाम पतन (पडण) है। तथा नष्ट होने का नाम विध्वंसन (विद्धंसण) है। ऐसा है - औदारिक शरीर का स्वभाव समझो, जिस पुतली में प्रतिदिन एक-एक सुगन्धित कवल (कौर) डाला गया था, वह जब ऐसा तीव्र अनिष्टतर दुर्गन्धरूप में परिणत हो गया, तब यह औदारिक शरीर, जो श्लेष्म वगैरह अनेक मलों से भरा हुआ है, जिसका स्वाभाविक धर्म शरन-पत्तन-विध्वंसन रूप है। ऐसे (औदारिक) शरीर के पुद्गलों का परिणमन तो इसकी अपेक्षा भी अधिक अनिष्टमय दुर्गन्धवाला है।" अभी मल्लीकुमारी और भी समझाएगी, जिससे क्या घटित होगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

बलभद्रजी का रुक्मिणी पर कोपकाण्ड : कृष्णजी तो सत्यभामा की, तथा उसकी दासियों की दशा देखकर हंसने लगे। तब क्रोध से आँखें लाल-लाल करते हुए बलभद्रजी बोले - "कृष्ण ! तुझे कुछ भान है या नहीं ? तू क्या देखकर हंस रहा है ? इस रुक्मिणी को तो तूने इतनी अधिक क्यों माथे पर चढ़ा रखा है ?" कृष्णजी ने कहा - "बड़े भैया ! आप मेरे पर इतना अधिक गुस्सा कर रहे हैं, पर रुक्मिणी तो बेचारी अपने पुत्र के वियोग में शून्यमनस्क होकर अकेली-सी रहती है। जबकि सत्यभामा तो परिवार से घिरी हुई रहती है और फिर अकेली रुक्मिणी ने इतने सब जनों के मस्तक कैसे मूंड डाले ?"

बलभद्रजी द्वारा कृष्णजी को दी गई चेतावनी : ये (उपर्युक्त) शब्द सुनकर बलभद्रजी ने गुस्सा करके कहा - "रुक्मिणी अकेली नहीं है। तू इसका है न ? बेचारी सत्यभामा को तू सताता है । कहावत है - 'धणी की मानीती (औरत) बार गाऊ उज्जड़ करे', वैसे ही यह रुक्मिणी तेरी मानीती है । इसलिए यह इतना अधिक तूफान करती है। अगर तू इस पर नियंत्रण (काबू) नहीं रखेगा, इसके अपराध की इसे सजा नहीं देगा, तो यह सुधरेगी नहीं ।" फिर बलराम ने सत्यभामा की दासी से कहा - "जा सत्यभामा को कहना कि वह बहुत शान्ति रखे । मैं अभी रुक्मिणी के महल को लूट लेने का आदेश देता हूँ। साथ ही उसके बाल भी उतरा डालता हूँ।" दासियों ने जाकर सत्यभामा से यह बात कही, तब तो सत्यभामा बहुत खुश हो गई ।

सत्यभामा की दासियाँ रुक्मिणी के महल से चली गई, तब रुक्मिणी बाहर आई, तो देखा कि प्रद्युम्नकुमार रूप बदलकर साधु बन गया । इस पर से रुक्मिणी ने अनुमान लगाया कि 'निश्चय ही यह मेरा पुत्र प्रतीत होता है । क्योंकि भगवान् सीमन्धरस्वामी ने फरमाया था कि तेरा (रुक्मिणी का) पुत्र अनेक विद्याएँ सिद्ध करके आएगा। अतः मेरा पुत्र विद्या के बल से यह सब (रूप परिवर्तन आदि चमत्कार) करता है । अवश्य ही यह मेरा पुत्र है, तभी तो इतने केसरिया मोदक खा सका है और मुझे भी इसे देखकर इस पर वात्सल्य भाव उभर आया है ।'

गुप्त पर्दा खुल्ला होने से रुक्मिणी का हृदय हर्षित हुआ : ऐसा (उपर्युक्त अनुमान युक्त) विचार करके रुक्मिणी (प्रद्युम्नकुमार से) कहती है - "पुत्र ! तू सोलह -सोलह वर्ष तक विद्याधरों के संग में रहकर विद्याधर जैसा बन गया है । मेरा अन्तर कहता है कि साधु के वेष में मेरा लाडला पुत्र प्रद्युम्नकुमार ही है, दूसरा कोई नहीं है । अतः हे पुत्र ! अब यह माया का पर्दा हटाकर तू अपना असली रूप प्रकट कर और सोलह-सोलह वर्ष तक आशा के तन्तु के आधार पर जीवित रही हुई, अपनी (तेरी) माता के मनोरथ पूर्ण कर । माता के महल में आकर तू क्यों अपनी माता को तरसाता है ? तू जैसा है, वैसा शीघ्र प्रकट हो जा । जिससे मेरी आत्मा को शान्ति मिले ।" माता को अत्यन्त आकुल-व्याकुल देखकर प्रद्युम्नकुमार ने साधु का रूप अदृश्य कर दिया और गाढ़ बादलों में छिपा हुआ सूर्य जैसे बाहर निकलता है, वैसे ही प्रद्युम्नकुमार ने अपना असली रूप धारण किया। इसके मुख की कान्ति अलौकिक थी । इसका तेज, इसका रूप देखकर अच्छे-अच्छे लोग प्रभावित हो जाएँ, ऐसा इसका तेज था। इसके सुन्दर, सौम्य मुख को देखकर प्रतीत होता है कि यह लड़का पराक्रमी है। इसने अपने सुन्दर शरीर पर दिव्य वस्त्राभूषण पहने हुए हैं, मानो इसे दूसरे देवकुमार के रूप में देख लो । अलौकिक रूप और सद्गुणों से सूर्य-सम सुशोभित प्रद्युम्नकुमार माता के पास प्रकट हुआ और माता के चरणों में गिर पड़ा ।

रुक्मिणी ने उसे बाथ में लेकर उठा लिया और छाती से लगा लिया। उसकी आँखों में हर्षाश्रु उमड़ पड़े। वह गदगद् कण्ठ से बोली - "बेटा! आज मैंने १६ वर्ष बाद तेरा मुख देखा। तू छह दिवस का था, तभी मुझे छोड़कर चला गया। मैंने तुझे पाने के लिए सोलह वर्ष झूर-झूर (कलप-कलप) कर निकाले हैं। तुझे खोजने में तेरे पिताजी ने कुछ भी बाकी नहीं रखा। आज तुझे देखकर मेरी आँखें ठंडी हो गई हैं। सोलह वर्ष बाद मेरे महल में आज सोने का सूरज उगा है और मोती की वर्षा हुई है। तुझे देखकर मुझे अपूर्व आनन्द होता है। अधिक क्या कहूँ मेरे लाल! तुझे देखकर आज मेरी साढ़े तीन करोड़ रोमराजि खिल उठी है।" इतना बोलते-बोलते माँ की आँखों से अश्रुधारा बह चली। माता का वात्सल्य, प्रेम देखकर प्रद्युम्न की आँखों में हर्ष के आंसू छलक उठे। अहो! मैं ने (प्रद्युम्न ने) तो सोलह वर्ष सुख में बिताए, मुझे कहाँ पता था कि मेरी (जन्मदात्री) माता कौन है? परन्तु इस माता ने सोलह वर्ष (मेरे वियोग में) कैसे बिताये होंगे? अस्तु, जो होनेवाला था, वह हो गया। "माता! अब तू रोना मत। अब तेरा पुत्र कहीं जानेवाला नहीं है। वह सदा तेरी सेवा में सदैव खड़े पैर हाजिर रहेगा।" पुत्र के ऐसे मधुर बोल सुनकर रुक्मिणी को बहुत आनन्द हुआ। उसका आनन्द कैसा था? इसका वर्णन तो ज्ञानीपुरुष ही कर सकते हैं।

माता की आँखों में अभाव के आँसू उमड़ आए : हर्ष के साथ ही रुक्मिणी की आँखों में यकायक आंसू आ गए। यह देखकर प्रद्युम्न ने पूछा - "माँ! अब तू किसीलिए रो रही है? तू जिसके वियोग में सोलह-सोलह वर्षों से झूरती थी, अब वह तेरा लाडला लाल तुझे मिल गया, अब किसलिए रोती है?" तब रुक्मिणी ने कहा - "बेटा! मुझे अब किसी बात का दुःख नहीं है। तू आ गया, इसलिए मेरा सब दुःख चला गया। मुझे महान सुख है। किन्तु मुझे एक बात की कमी का स्मरण रह-रहकर आता है। बेटा! तेरे पिताजी का मेरे प्रति अपार प्रेम है। फिर तू मुझे मिल गया, अब मुझे सुख की कोई कमी नहीं है। बेटा! मैंने तुझे जन्म दिया। इतना ही किया। मैंने तुझे रमाया, जिमाया और खेलाया नहीं। यह सब न करके मैंने मातृत्व का सुखानुभव नहीं किया। मैंने तेरी बाल्यावस्था नहीं देखी। धन्य है कनकमाला को। उसने तुझे रमाया, जिमाया और खेलाया। मैंने तुझे जन्म देकर ऐसा मातृत्व सुख का लाभ नहीं लिया।"

माता के सुख के लिए प्रद्युम्न ने की बालक्रीडा : माता के उद्गार सुनकर प्रद्युम्न के मन में विचार स्फुरित हुआ कि 'मेरी माता के मन में मुझे शिशु-अवस्था में (नन्हें मुन्ने के रूप में) देखने और रमाने के कोड अधूरे रह गए हैं। अतः विद्या के बल से मैं अपनी माता के कोड पूरे करूँ। मैं ऐसा शक्तिशाली पुत्र हूँ तो अपनी माता को बालक के पालन-पोषण के सुख से जरा भी वंचित क्यों रखूं?' ऐसा विचार

करके माता की उमंग पूरी करने के लिए छह महीने के बालक जैसा रूप बना लिया और माता की गोद में सो गया । यह देखकर रुक्मिणी तो राजी-राजी हो गई । फिर वह माँ की गोद में सोता-सोता खिलखिला कर हंसने लगा । तब रुक्मिणी उसके सम्मुख देखकर बोली - "मेरा लाल बहुत सयाना है, चतुर है, बिलकुल रोता नहीं ।" तब वह रोने लगा । रुक्मिणी ने उसे थपथपाकर-पपोलकर चुप किया और मखमल की छोटी-सी गुदड़ी में सुला दिया । अब वह घड़ी भर में तो उल्टा पड़ जाता है, फिर घड़ी भर में सीधा हो जाता है । तब रुक्मिणी उसे गोद में लेकर दूध पिलाने लगी । दूध पिलाकर उसके शरीर पर तेल की मालिश की, फिर उसे नहलाया, फिर उसके शरीर पर सुगन्धित पदार्थो का विलेपन किया । आँख में काजल डाला । मेरे नन्हें मुन्ने को किसी की नजर न लग जाए, इसके लिए उसके गाल पर काजल के नुकते (विंदु) किये । फिर उसे खेलने के लिए अनेक प्रकार के खिलौने मंगाए । प्रद्युम्नकुमार माता के द्वारा प्रेम से मंगवाए हुए खिलौनों से खेलने लगा । फिर थोड़ी देर में बैठना सीख गया । फिर घुटनों के बल चलने लगा, फिर दौड़ने और किलकारियाँ करने लगा । यह सब बालक्रीड़ा देखकर रुक्मिणी हृष्ट-तुष्ट हो गई । प्रद्युम्नकुमार अभी और कैसी-कैसी बाल चेष्टाएँ करेगा और माता रुक्मिणी के और कोड पूरे करेगा, इसके भाव यथावसर कहे जायेंगे ।

व्याख्यान - १००

आसो वदी अमावस, शुक्रवार — ता. २२-१०-७६

दीपावली कैसे मनाएँ ?

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

परमकृपालु परमतत्त्व-प्रणेता, महावीरस्वामी ने अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ द्वारा घातीकर्मों के सघन मेघों को बिखेरकर केवलज्ञान-केवलदर्शन का प्रकाश प्राप्त करके जगत के जीवों को अपना (अन्तिम) दिव्य सन्देश प्रस्तुत किया ।

भगवान् महावीरस्वामी के चरम चातुर्मास की स्मृति रूप में आज का मंगल दिवस है । आज के दिवस को दीपावली, दीपोत्सव (वीर-निर्वाण दिवस) वगैरह अनेक नाम से लोग आनन्दपूर्वक मनाते हैं । भौतिक-सुखों में मस्त बने हुए जीव आज के दिवस का हार्द नहीं समझते । जिससे वे लौकिक दिवाली मनाते हैं, किन्तु आज

इस प्रकार हे मित्र ! मेरी माता अत्यन्त सन्तोषी (हर हाल में सन्तुष्ट ...) और खानदानी थी, जबकि हमारी पडोसिन सेठानी उतनी ही धन के मद ... हुई और अभिमानी थी। वे लोग मेरी माता को कभी प्रेम से बुलाते नहीं थे ...कि हम निर्धन थे, वे थे धनवान् ! परन्तु बालकों के दिल में ऐसा भेदभाव ... होता। इस कारण श्रेष्ठीपुत्र और मैं दोनों हिलमिलकर साथ-साथ रहते ... थे। उक्त सेठानी अपने बालक को अनेक प्रकार के मेवे और मिष्टान्न ... देती थी, साथ में यह कहती थी, 'वह तुम्हें अकेले को खाना है, कोई मांगे ... देना।'

श्रीमंताई का गर्व : इस धनवान् सेठानी को ... में ऐसा कुशिक्षण मेरे लिए ही बाधक बनेगा। सेठ के पु... खाते देखकर मैं रोता तो मेरी माता मेरे मस्तक पर वात्स... कहती - "बेटा ! मेरा वेतन आएगा, तब मैं तुझे सब ला... प्रेम के सिवाय कुछ भी देने में समर्थ नहीं थी। फिर भी ... देती थी। मुझ नासमझ-अबोध बच्चे को क्या पता कि ... भोग रही है ? एक दिन मैंने हठ पकड़ी - माँ ! मुझे पेड़े ... मेरी हठ देखकर माँ की आँखों में आंसू आ गए और उसका ...।

मेरी माता की नम्र विनती ठुकराई, मुझे मिली ... : मेरी माता सेठ की हवेली में गई और सेठानी को नम्र विनती... पुण्यवान् हैं। भगवान् आपको सुखी रखे। आप अपने बेटे ... पर वह (आपका पुत्र) घर में ही खा लिया करे, ऐसा करिए। उसे देखकर मेरे साथ हठपूर्वक झगड़ा करता है। अतः मेरी नम्र ... इतना-सा (मेरी शान्ति के लिए) करें।" ये शब्द सुनते ही से... बबूला होकर मेरी माँ की बात नहीं मानी, उलटे उसे डांट-फ... किया। इस कारण मेरी माता रोती-रोती घर आई। मैंने अपनी ... मेरा हठाग्रह देखकर माँ को क्रोध आ गया, उसने मुझे धक्का मारा ... मेरा मस्तक टकराया और फूट गया। मैं लहू लुहान हो गया। मेरे ... हो गया। परन्तु अन्त में तो माँ का हृदय था न ? दुनिया में ... किन्तु माँ का प्रेम मिलना बहुत कठिन है। कहावत है - 'मा ते मा, ... वगड़ाना वा।' (माँ माँ ही है, दूसरी सब जंगल की वायु हैं। जंग... कभी अति गर्म, कभी अत्यन्त ठंडी होती है, पर माँ सदैव शीतल ... से परिपूर्ण होती है।) मेरे मस्तक में से खून निकला, तुरंत मेरी माता ने मुझे ऊँचा उठा लिया और उसकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। मुझे इस घटना से प्रेरणा मिली। मुझ में शौर्य जगा कि मैं यथाशीघ्र होशियार बनूं। फिर पढ़-लिखकर यहाँ आया, मेरा भाग्य जगा। मैंने शून्य में से सर्जन किया। कपाल पर हुए घाव

श्री महावीराय नमः

ने मुझे दानव से मानव और नर से नारायण बनाया है। इसलिए मैं अब गरीबों की खूब सेवा करता हूँ।

देवानुप्रियों ! आप सुन चुके न ? संसार कैसा और कितना स्वार्थ से भरा है ? सभी धनिकों की प्रायः खुशामद करते हैं और गरीबों को दुत्कारते हैं, ठुकराते हैं। इसीका नाम संसार है। ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "अरे मोहान्ध बने हुआ मानव ! जरा सोच-समझ, संसार की मौज, बुलाती है कर्मों की फौज ! कर्मों की सेना जब तेरे पर हमला करेगी, तब तेरी कैसी स्थिति होगी ? इस सेना का सामना करने की तेरे में ताकत है ? नहीं। तो उस समय या कर्म उदय में आने से पहले क्या करोगे ? इसका एक सरल उपाय यह है कि धर्म की सेना को इकट्ठी करो तो वह कर्म की सेना को हटा (दूर धकेल) सकेगी। कर्म की फौज को हटाकर जिन्होंने धर्म की मौज मनाने हेतु प्रबल (जीतोड़) पुरुषार्थ किया, उन भगवान् महावीरस्वामी का आज निर्वाण दिवस है। आज भरतक्षेत्र में हमसे भगवान् का वियोग हुआ है, अतः आज जितना हो सके, त्याग-प्रत्याख्यान करो, तपस्या-साधना करो।

बहुत दिनों की मेहनत से आज अपने बहीखाते ठीक करके नफे-नुकसान का वार्षिक विवरण का (आंकड़ा चिट्ठा) तैयार किया होगा। वह तो व्यवसायिक-विवरण का चिट्ठा है, किन्तु मैं पूछती हूँ कि आपने अपने आत्मा के नफे-नुकसान (आय-व्यय) का लेखा-जोखा तैयार करके आत्मा का चिट्ठा तैयार किया है कि मैंने कितना सत्कार्य किया है ? कितने सद्‌गुणों को अपनाकर दुर्गुणों को दफनाया है ? मेरा आत्मा कितना पवित्र बना है ? पुराने बहीखाते ठीक करके आज बहुत-से भाई शारदा-पूजन भी करेंगे, किन्तु क्या वास्तव में आपने सच्चे माने में शारदा-पूजन किया है ? ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "अगर सही अर्थो में शारदा-पूजन करना है तो हृदयरूपी बहीखाते में जिनवाणीरूपी सरस्वती मैया का पूजन करो।" शारदा-पूजन करके तुम बहीखातें में लिखोगे - धन्ना-शालिभद्र की ऋद्धि मिले, परन्तु कभी ऐसा लिखा है कि मुझे धन्ना-शालिभद्र जैसा वैराग्य प्राप्त हो और अभयकुमार जैसा त्याग मेरे जीवन में आए। अस्तु, अब अपने चालू अधिकार पर सोचें।"

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लीकुमारी ने जितशत्रु-प्रमुख ६ राजाओं को कहा - "इस प्रतिमा में प्रतिदिन डाला जाता हुआ एक कवल आहार दुर्गन्धित हो उठा तो मेरा (मल्लीकुमारी का) शरीर तो औदारिक है। वह रक्त, मांस, चर्बी, पस (रस्सी-मवाद), मज्जा, नसों और हड्डियों से भरा हुआ है। इस शरीर के नौ-नौ द्वारों से अशुचि (गन्दगी) के पुद्‌गल बहते रहते हैं। शरीर का एक भाग भी ऐसा नहीं है कि जिसमें अशुचि और दुर्गन्ध न हो। कहावत है - इदं *शरीरं बहुरोग-मन्दिरम् तथा शरीरं व्याधिमन्दिरम्'*

यह शरीर बहुत-से रोगों का घर है । तथा शरीर-व्याधियों (बीमारियों) का गृह है । इस शरीर में कब कौन-सा रोग उत्पन्न हो जाएगा, यह कहा नहीं जा सकता । (शरीर की अनित्यता, रोग मन्दिर की सत्यता समझाने के लिए पू. महासतीजी ने सनतकुमार चक्रवर्ती का दृष्टान्त देकर सुन्दर ढंग से समझाया था ।) मल्लीकुमारी ने आगे उन छहों राजाओं को प्रतिबोध देते हुए कहा -

"तं माणं तुब्भे देवाणुप्पिया ! माणुस्सएसु कामभोगेसु सज्ज, रज्जह, गिज्जह, मुज्झह, अज्झोववज्जह !"

अतः हे देवानुप्रियों ! आप मनुष्य-सम्बन्धी काम-भोगों में आसक्त मत बनो, फंसो मत, रागभाव मत करो, उनमें गृद्ध मत बनो, तृष्णा और लालसा बढ़ाकर उन काम-भोगों में मुग्ध मत बनो, मोह मत करो, अतीव आसक्ति मत करो, क्योंकि काम-भोगों का मोह भयंकर है, जीव को अनन्तसंसार में परिभ्रमण करानेवाला है । अभी आगे मल्लीकुमारी क्या कहेगी ? यह बात यथावसर कही जाएगी ।

आज दीपावली के दिन भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त होकर सिद्धगति में पहुँचे । भगवान् की मौजूदगी में उनके सात सौ शिष्य और १४०० शिष्याएँ मोक्ष में पहुँची । ये जीव कैसे हलुकर्मी होंगे ? उन्होंने कैसी उग्र साधना की होगी ?

बन्धुओं ! मुक्ति के मेवे मुफ्त में नहीं मिलते । उसका मूल्य चुकाने के लिए तप, त्याग, स्वाध्याय, ध्यान, आलोचना-आत्मनिन्दना, गर्हणा प्रायश्चित्त, क्षमापना, भावना आदि द्वारा आत्मशुद्धि की उग्र साधना करनी पड़ेगी ।

(**लेखक की नोंध :** पू. महासतीजी ने भगवान् के निर्वाण के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करके समझाया था । भ. महावीर का कितना आध्या. परिवार था ? कितने जीव मोक्ष में और कितने देवलोक में गए ? कितने एक भावावतारी बने ? तथा उनके माता-पिता, पुत्री, दामाद वगैरह का सुन्दर भावपूर्ण वर्णन किया था और अन्त में उन्होंने कहा - "राग, द्वेष और कषायों का त्याग करें तो अपना आत्मा भी उनके जैसा शुद्ध और पवित्र बनकर मोक्ष के शाश्वत-सुख को प्राप्त कर सकता है । समय काफी हो गया है । किन्तु आपलोगों की मांग होने से चरित्र के विषय में थोड़ा-सा प्रतिपादन करूँगी ।"

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

बन्धुओं ! मनुष्य को मोह कैसा नचाता है, क्रीड़ा कराता है ? प्रद्युम्नकुमार तो १६ वर्ष का होकर आया है । परन्तु माता रुक्मिणी का कोड पूरा करने के लिए उसने बालक का रूप बनाया है । किन्तु माता को उस पर मोह है, इसलिए उसे लगता है, मेरा बच्चा अभी छोटा है । अतः छोटे बच्चे को जैसे माता रमाती है, वैसे

रुक्मिणी बड़े प्रेम से उसका लाड-कोड करती है। बालक प्रद्युम्न अब खड़ा होता है, चलने जाता है तो गिर जाता है। तब माता दौड़कर उसे लेती है और पूछती है - "बेटा ! तुझे कहीं चोट तो नहीं लगी ?" अन्त में प्रद्युम्न ने सारी बालचेष्टाएँ कीं - माँ भू पा। यह खाना है। फिर हठ करना इत्यादि। फिर रुक्मिणी अन्त में क्रुद्ध होकर कहती है - "बेटा ! बस, अब भरपाई। मैं तो हैरान हो गई।" तब बालक कहता है - "तेरी अपेक्षा तो कनकमाला माता अच्छी थी। वह कभी मेरे पर गुस्सा नहीं करती थी।" यह सुनकर रुक्मिणी उसे गोद में ले लेती है, नये कपड़े पहनाती, तब कुमार कहता - "यह तो छी... (हँसाहँस) यों करते हुए प्रद्युम्नकुमार ने माता की उमंग पूरी करके पुनः असल रूप धारण किया और माता के चरणों में शीश नमाकर खड़ा रहा। तब माता ने उसे आशीर्वाद दिया - "चिरंजीव !" (चिरकाल तक जीते रहो।) कहकर उसके मस्तक पर हाथ रखकर शुभाशीष दिया और हर्षोन्मत्त बनकर अपनी सखियों और दासियों से कहा - "अरी मेरी प्यारी सखियों और दासियों ! मेरा नंद आज १६ वर्ष बाद मेरे घर आया है। आज मैं सच्चे माने में पुत्रवती बनी हूँ। मेरे भाग्य खुल गए हैं।" जैसे मेघ-गर्जता है तो मोर नाचता है, वैसे ही रुक्मिणी अपने पुत्र को देखकर हर्ष से नाचने लगी। वह बोली - "चन्दन शीतल माना जाता है, चन्दन से भी चन्द्र शीतल होता है, परन्तु मेरा नंद तो चन्द्र की अपेक्षा भी शीतल है। समस्त रत्नों में चिन्तामणि रत्न श्रेष्ठ है, परन्तु मेरा पुत्र तो चिन्तामणि रत्न से भी अधिक श्रेष्ठ है। यादव कुल के सभी पुत्र भले रहे, किन्तु मेरे पुत्र की तुलना में कोई नहीं आता। यह तो यादव कुल का श्रृंगार है।" इस प्रकार रुक्मिणी आनन्दसागर में झूल रही थी। दासियों को भी बहुत आनन्द हुआ है।

रुक्मिणी और प्रद्युम्नकुमार प्रेम से बैठे थे। तभी बलभद्रजी के द्वारा भेजे हुए सुभटों का बड़ा टोला रुक्मिणी के महल के द्वार पर आकर खड़ा रहा। तब प्रद्युम्नकुमार ने रुक्मिणी से पूछा - "माँ ! ये सब अपने महल के दरवाजे पर क्यों आए हैं और इतना सब शोरगुल क्यों कर रहे हैं ?" तब रुक्मिणी ने कहा - "बेटा ! तूने जो बीज बोए हैं, उस वृक्ष के फल आए हैं।" प्रद्युम्नकुमार ने पूछा - "माता ! मैंने किसके बीज बोए और किस वृक्ष के फल आए हैं ?" तब रुक्मिणी ने कहा - "श्रीकृष्णजी और बलभद्रजी की साक्षी में जो शर्त सत्यभामा ने मेरे साथ की थी, उसे तू जानता है। उसकी पूर्वोक्त शर्त के अनुसार उसने (सत्यभामा ने) मेरे बाल उतारने के लिए दासियों को भेजी थी, तब तूने छोटे कमरे में छिपाकर पीछे से सत्यभामा की दासियों के नाक, कान काटकर, मस्तक मुंडाकर उन्हें भेजी। उन्होंने बलभद्रजी से जाकर शिकायत की। उन्होंने गुस्से होकर मेरा महल लूटने के लिए सुभटों को भेजे हैं।" इस प्रकार बात करती हुई रुक्मिणी कांप उठी। तब प्रद्युम्न ने कहा -

• • • • • • • • • • • • • • • •

चिन्ता मत कर माता जरा तू, बालक-करणी देख ।
विद्या से बन वृद्ध विप्र, ली लकड़ी हाथ विशेष हो ।। श्रोता...
मोटा पेट चाल ठंडी, चल दरवाजे पर आया ।
एक सुभट को छोड़ शेष को, स्थंभित निर्बल बनाया हो ।। श्रोता...

"अरी माँ ! तू बिलकुल चिन्ता मत करना । तुझे किसी से डरने की भी आवश्यकता नहीं है । अब यह तेरा पुत्र कैसा पराक्रम करता है, तू महल में बैठी-बैठी ठंडे कलेजे देखती रह ।" यों कहकर उसने विद्या के बल से एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाया । उसका शरीर थरथर कांप रहा है ! हाथ में लकड़ी रखकर बड़ी मुश्किल से डग भरता हुआ रुक्मिणी के महल के मुख्य दरवाजे के बीच में खड़ा हो गया । उसे देखनेवाले को ऐसा लगता था कि अभी यह गिर पड़ेगा । वृद्ध ब्राह्मण को देखकर बलभद्रजी के सुभट कहने लगे - "ऐ बूढ़े ! तू यहाँ से चला जा । हमें जाने दो ।" तब ब्राह्मण ने कहा - "तुम चले जाओ । मैं नहीं जाऊँगा ।" तब वे बोले - "दूर हट जा ।" "नहीं हटूंगा ।" तब सुभटों ने उसे मारने के लिए हाथ में लकड़ी ली ।

प्रद्युम्नकुमार ने किया स्तम्भन विद्या का प्रयोग : वे सुभट ज्यों ही वृद्ध ब्राह्मण को मारने को उतारू हुए, उसने स्तम्भन विद्या का प्रयोग किया, जिससे वे सुभट दरवाजे के पास जैसे खड़े थे, वैसे ही स्तम्भित हो गए, न तो वे आगे हिल सके, न चल सके । एक सुभट को छोड़कर सभी जहाँ के वहाँ चिपट गए । जो सुभट खुल्ला था । वह दौड़कर कृष्णजी की सभा में आकर बलभद्रजी से कहने लगा - "रुक्मिणी तो पक्की ठगारी निकली । यह तो मंत्र-तंत्र सभी जानती है । उसने मंत्र के बल से कृष्णजी को तो वश में कर लिये और मंत्र के बल से एक मुझे छोड़कर सभी सुभटों को जहाँ के तहाँ स्थिर कर लिये हैं ।" प्रद्युम्न ने एक सुभट को इसलिए बाकी रखा था, ताकि वह खुला रहेगा तो जाकर कह सकेगा और बलभद्रजी जानेंगे तो मजा आएगा ।

बलभद्रजी का रुक्मिणी पर कोप : सुभटों की बात सुनकर बलभद्रजी के क्रोध का पार न रहा । क्रोध से आँखें लाल करके बोलने लगे - "यह तो ऐसी मायावी निकली कि न पूछो बात ! इसने मेरे छोटेभाई कृष्ण को तो वश किया है, इसलिए कृष्ण इसे ही देखता है । बेचारी सत्यभामा के सामने भी देखता नहीं । अब पता लग गया कि सत्यभामा अच्छी है या रुक्मिणी ?" यह सब तूफान देखकर बलभद्रजी तो एकदम तमतमा उठे । तूफान करनेवाला प्रद्युम्न है, परन्तु सारे दोष का आरोपण मढा गया रुक्मिणी के मस्तक पर । कृष्णजी को पता नहीं था कि प्रद्युम्नकुमार आ गया है । इसलिए वह भी विचार में पड़ गए कि रुक्मिणी तो सरल और सीधी है । वह ऐसा बवंडर नहीं कर सकती, किन्तु यह सब क्या है ? कृष्णजी अपने बड़े भाई के सामने बोल नहीं सकते । वह इतनी मर्यादा रखते थे ।

बलभद्रजी रुक्मिणी के महल में : बलभद्रजी ने कहा - "रुक्मिणी के मंत्र तो बहुत पक्के हैं। इसने कृष्ण को तो वश में किया है, किन्तु मुझ पर क्या जादू चलाएगी ?" यों कहकर बलभद्रजी दूसरे सुभटों को साथ में लेकर रुक्मिणी के महल के निकट आए। तब प्रद्युम्न ने पूछा - "माताजी ! यह कौन आ रहा है ?" रुक्मिणी ने कहा - "बेटा ! यह तेरे पिताजी के बड़े भाई बलभद्रजी हैं। यह तेरे बड़े काका (बाबा) होते हैं। इस दुनिया में उनके जैसा बलवान योद्धा कोई नहीं है। सारी द्वारिका नगरी उनके आदेश के अनुसार चलती है। बेटा ! तू इनके खिलाफ मत जाना। यह बहुत बलवान हैं। तू बच जाएगा तो मेरे मन में सब कुछ है।" ये माता-पुत्र इस प्रकार बात कर रहे थे, इतने में तो बलभद्रजी वहाँ पहुँच गए। उन्होंने आते ही रुक्मिणी से कहा - "तुम विद्यासिद्ध बनी हो। योगिनी की सेवा करके उसके पास से बहुत-से मंत्र प्राप्त कर सिद्ध कर लिये हैं। उसके बल से तुमने कृष्ण को वश में कर लिया है। किन्तु अगर तुम्हारे मंत्र में बल हो तो आज तुम उन सुभटों की तरह मुझे भी स्तम्भित कर (चिपका) दो। तब मैं तुम्हें सच्ची विद्या सिद्ध समझूंगा।"

अब प्रद्युम्नकुमार वहाँ क्या पराक्रम करेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

व्याख्यान - १०१

कार्तिक सुदी ३, सोमवार | **ता. २५-१०-७६**

विभाव में मत फंसो, स्वभाव में बसो

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

परम-पथ-प्रदर्शक, प्रेरणामृत का पान करानेवाले, परम पितामह प्रभु के मुख से निर्झरित शाश्वत स्याद्वाद-मुद्रा से मुद्रित वाणी का नाम है - सिद्धान्त अथवा शास्त्र। जो देही से विदेही दशा प्राप्त करवाने का मार्ग बतानेवाली हो, वह वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की वाणी है। जहाँ देह है, वहाँ अनेक प्रकार की उपाधियाँ भी हैं। जबतक यह जीव काया की कैद से मुक्त न हो, तबतक अनेक प्रकार के दुःख जीवन में कर्मोदयवशात् रहनेवाले हैं। जबतक आपलोग शरीरादि आसक्ति का परित्याग कर शरीर का उपयोग तप, त्याग, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, ज्ञान-ध्यान,

आप छहों मित्र पुरुषरूप में जन्मे और मैं पूर्वकृत माया के कारण स्त्री हुई ।" अब मल्लीकुमारी ६ मित्रों को मुख्य मुद्दे की बात करती है - "हे देवानुप्रियों ! क्या आपलोग यह बात भूल गए लगते हैं कि जब हम जयंत नामक श्रेष्ठ अनुत्तर विमान में देवरूप में थे, उस वक्त आपने और मैंने (हमने) परस्पर ऐसा संकेत किया था कि 'हमें एक-दूसरे को बोध प्राप्त कराना है ।' अतः आपलोग देवसम्बन्धी जन्म को याद करिए ।" (श्रोताओं को यह बात भलीभांति समझाने के लिए पू. महासतीजी ने तेतली प्रधान और पोट्टिला का दृष्टान्त बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया था । - सं.)

जितशत्रु-प्रमुख छहों राजा विदेहवर-राजकन्या मल्लीकुमारी के मुख से पूर्वभव की सब बातें सुनकर मन ही मन विचार करने लगे, तब शुभ परिणाम से, प्रशस्त अध्यवसाय से, लेश्याओं की विशुद्धि से तथैव तदावरणीय (जातिस्मरण के आवरणीय) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा तथा गवेषणा करने से संज्ञीपन के अपने (पूर्व) भव देख सके, ऐसा जातिस्मरण (पूर्वजन्म या जन्मों की स्मृतिवाला) ज्ञान उत्पन्न हुआ । इस कारण मल्लीकुमारी द्वारा कहे हुए अर्थ (समस्त बातों) को उन्होंने सम्यक् प्रकार से अंगीकार किया । जातिस्मरण ज्ञान द्वारा उन्होंने प्रत्यक्ष (वत्) देखा कि (इस भव से पूर्व) तीसरे भव में वे सात बालमित्र थे । साथ में दीक्षा ली थी और चारित्र का सम्यक् प्रकार से सुन्दर ढंग से पालन (आराधना-साधना) करके वे (सब) जयंत विमान में उत्पन्न हुए थे । वहाँ परस्पर ऐसा संकेत (वचनबद्धता का) किया था - 'हम सातों में से जो कोई (शीघ्र) पहले धर्म को प्राप्त हो, उसे दूसरे (छह में से कोई) संसार के मोह में पड़ गये हों, उन्हें प्रतिबोध देकर धर्म के मार्ग पर मोड़ना (लाना) ।' ऐसा संकेत करके हम परस्पर वचनबद्ध हुए थे । यह सब उन्होंने (जाति-स्मरण ज्ञान के प्रकाश में) प्रत्यक्ष - (वत्) देखा । मल्लीकुमारी ने जाना कि इन राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान प्रकट हुआ है, इसलिए उन्होंने तुरंत गर्भगृह के द्वार खुलवाए ।

सम्मोहन घर में बीच के (मध्य) भाग में मल्लीकुमारी की प्रतिमा थी और उसके अगल-बगल एवं आगे-पीछे छह गर्भगृह बनाए हुए थे । मल्लीकुमारी उन छहों राजाओं को देख सकती थी । किन्तु वे छहों राजा अपने अपने रूम में थे । वे अपने रूम में से एक-दूसरे को देख नहीं पाते थे । किन्तु मल्लीकुमारी की प्रतिमा की रचना और स्थापना इस तरीके से की हुई थी, जिससे सभी यह सोच रहे थे कि मल्लीकुमारी (साक्षात्) हमें देख रही है । यानि मल्लीकुमारी की प्रतिमा को ही वे साक्षात् मल्लीकुमारी समझकर उसे देखते थे । इतनी देर गर्भगृह के द्वार, जो अभी तक बन्द थे, अब वे द्वार खुलवा दिये गए । अब वे छहों राजा मल्लीकुमारी को प्रत्यक्ष देख सकते थे, क्योंकि उन्हें अब जातिस्मरण ज्ञान हो चुका

था। अब मल्लीकुमारी ने मध्य में खड़ी रह उन्हें पहले जो सब बातें आ गई, वे उन राजाओं से कही। चूंकि अब तो छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान हो गया था, इसलिए गर्भगृह के द्वार खुलते ही, जैसे पींजरा खुलते ही पक्षी उसमें से उड़ जाता है, वैसे ही जितशत्रु और छहों राजा, जहाँ मल्लीकुमारी थी, वहाँ अपने स्थान से उठकर आ गए। ये सातों ही मित्र पूर्वभव के स्नेही जीव थे। वे जब सभी मित्र एक स्थान पर मिलकर बैठे, तब अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ। वे एक-दूसरे के सामने प्रेम से देखने लगते हैं। ये तो सब पूर्व में ही धर्म के रंग से रंगे हुए थे और जिनके राग-द्वेष मंद पड़ गए हैं, ऐसी मल्लिनाथ भगवान् जहाँ हो, वहाँ किस बात की कमी रह जाती है? (भावी) तीर्थंकर भगवान् जबतक दीक्षा ग्रहण नहीं करते, तबतक वे (गृहस्थ-) संसार में रहते हैं। वे (गृहस्थ-) संसार में रहते हैं, तो भी अनासक्त भाव से रहते हैं। भोगावली कर्म बाकी होते हैं, तबतक वे पंचेन्द्रिय विषयों का उपयोग करते हैं, किन्तु वे उनमें आसक्त नहीं होते। जैसे तुम्हारे सिर पर कोई बड़ी चिन्ता आ पड़ी हो उस समय तुम खाते भी हो, पीते भी हो, सभी कार्य करते हो, फिर भी उनमें आसक्त बनते हो, रस लेते हो? 'नहीं।' बहुत-सी बार मनुष्य ऐसी गाढ़ चिन्ता से घिरा हुआ रहता है कि कुछ भी पता नहीं होता कि मैंने क्या खाया? जो खाया उसका स्वाद कैसा था? इसी प्रकार जिसका चित्त आत्म-रमणता में होता है, जिसे कर्म-क्षय करने की सतत चिन्ता रहती है, वह कदाचित् (गृहस्थ) संसार में रहता है, संसार का प्रत्येक कार्य करता है, फिर भी उसमें उसका रस नहीं होता।

मल्लिनाथ भगवान् अभी तक (गृहस्थ) संसार में हैं, फिर भी उन्हें संसार में रस नहीं है। इसलिए वे जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं (आत्म-) धर्म की, त्याग, वैराग्य और तप-संयम की बातें करते हैं, धर्म और तत्त्व की चर्चा करते हैं। इस प्रकार बातचीत के सिलसिले में उन्होंने जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं को उद्देश्य करके इस प्रकार कहा -

"एवं खलु देवाणुप्पिया! संसार-भय-उव्विग्गा जाव पव्वयामि।"

मैं संसार के भय से उद्विग्न हूँ, अर्थात् - संसार में कहीं सुख नहीं है। संसार में ऐसा एक भी स्थान नहीं है, जहाँ जीव को भय या त्रास न हो। जहाँ देखो वहाँ भय, भय और भय है। संसार अनेक प्रकार की उपाधियों से भरा हुआ है। ऐसा समझकर मैं दीक्षा ग्रहण करनेवाली हूँ। *तं तुब्भे णं किं करेह? किं वसह? जाव किं भे हियसामत्थे?* अब आप सब क्या करेंगे? क्या उद्यम करेंगे? घर में रहेंगे, काम-सुख भोगेंगे? या संयम ग्रहण करेंगे? बताओ, आपके हृदय का सामर्थ्य कैसा है? अर्थात् - आपके भाव कैसे हैं?

देवानुप्रियों ! मल्लीकुमारी ने अपने ६ मित्रराजाओं से कहा - "हे मित्रों ! यह संसार आधि, व्याधि और उपाधि का धूरा है, चिन्ता का चबूतरा है; कुँए के रेंहट जैसा है, जैसे डोल पानी से भरता है, और वापस डाला जाता है, उसी प्रकार जीव एक गति में से दूसरी गति में, दूसरी से तीसरी में, यों चारों गतियों में कुँए के रेंहट की तरह अनन्तकाल से गमन-आगमन करता है। उसे रोककर शाश्वत-सुख और शान्ति का निर्भयस्थान मोक्ष है। उसकी प्राप्ति के लिए मैं भागवती दीक्षा ग्रहण करनेवाली हूँ। अतः अब आपका क्या विचार है ? यहाँ इतने भाई-बहन बैठे हैं, इनमें से अनेक भाइयों के मित्र होंगे, अनेक बहनों की सहेलियाँ होंगी, क्या कभी साथ में बैठकर एक-दूसरे से पूछते/पूछती हैं और त्याग के पथ पर जाने का विचार करते/ करती हैं ? (हँसाहँस)। जो जीव संसार-सुख के रसिक हैं, संसार में गले तक डूबे हुए हैं, उसे संयम के विचार कहाँ से आएगा ? मैं तो आपलोगों से कहती हूँ कि दीक्षा लेने जैसी है। फिर भी न ले सको तो धर्मस्थानक में आओ, तब तो संसारभाव छोड़कर आओ। और धर्मचर्चा में, अध्यात्मग्रन्थों के वांचन में मन जोड़कर आस्रव के द्वार बन्द करके, संवर के घर में बैठ जाओगे, कदाचित् आत्मा को संयम लेने की भावना जागेगी। परन्तु आज तो ऐसी दशा आ गई है कि जीव संवर के स्थान में बैठकर भी आस्रव की बातें छोड़ते नहीं। फिर आत्मस्वरूप में रमणता कहाँ से हो ? मल्लीकुमारी ने जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं से पूछा - "बोलो, आपको दीक्षा लेनी है ? तुम्हारा अब क्या विचार है ?" अब छहों राजा मल्लीकुमारी को क्या जवाब देंगे, इसके भाव यथावसर कहे जाएँगे।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

सुभट के कहने से बलभद्रजी क्रोध से तमतमाते हुए रुक्मिणी के महल में आए और रुक्मिणी से कहा - "अगर तुम्हारे मंत्र में शक्ति हो तो मुझे भी इन सब सुभटों की तरह स्तम्भित कर दो।" यों कहते हुए आगे बढ़े; वहाँ क्या हुआ ?

दरवाजे में आडा ब्राह्मण, सोया पाँव फैलाई।
हलधर बोले - उठ, खड़ा हो, रास्ता दे हम तांई ॥ श्रोता...

बलभद्रजी रुक्मिणी के महल में प्रवेश करने जाते हैं, वहाँ एक मोटा हांडाला और कुण्डाला अलमस्त शरीरवाला ब्राह्मण महल के दरवाजे के सामने पाँव पसार कर सो गया। उसने पेट तो ऐसे बड़ा बनाया था कि कोई उसे लांघकर जा नहीं सकता था। बलभद्रजी ने कहा - "अरे ब्राह्मण ! तुम रास्ता रोककर सो गए (लेट गए) हो तो जरा दूर खिसक जाओ न !" तब वह कहने लगा - "भाई ! तुम भारी

शरीरवाले को खिसकाते हो, इसकी अपेक्षा तो आप ही दूसरे दरवाजे से महल में जाएँगे तो कोई हर्ज नहीं होगा। अगर आपसे इतना सा न चला जाता हो तो मुझे लांघकर अंदर जा सकते हैं।" तब बलभद्रजी ने कहा - "ब्राह्मण के शरीर को लांघना उचित नहीं कहलाता। अतः समझकर मुझे रास्ता दे दो।" तब ब्राह्मण ने कहा - "मैं आपको रास्ता जरूर देता, परन्तु मेरी दशा कैसी हुई, उसे आप सुनिए - आज मैं सत्यभामा के यहाँ भोजन करने गया था। उसने मुझे आग्रह करके इतनी अधिक मिठाइयाँ खिला दीं, और ऊपर से नमकीन (फरसाण) भी खिला दिया। जिससे मेरा पेट फूलकर ढोल बन गया है। इसलिए उठा नहीं जा सकता। अतः छोटे-बड़े का भेदभाव छोड़कर आप दूसरे दरवाजे से चले जाइए।" अन्त में, जब ब्राह्मण उठा नहीं, इससे बलभद्रजी को बहुत गुस्सा आया। गुस्से में आकर बलभद्रजी ने कहा - "तू उठता है या नहीं ? अगर तू सीधी तरह से नहीं उठेगा तो तेरा पैर पकड़कर हटाऊँगा।" तब ब्राह्मण ने कहा - "आपको जो करना है, सो करो, किन्तु मुझ से उठा नहीं जा सकेगा।" अतः बलभद्रजी ने उसका पैर पकड़कर दूर खिसकाने का प्रयास किया। उसके हाथ और पैर खींचे। परन्तु ज्यों-ज्यों खींचे त्यों-त्यों लम्बे होते गए। बलभद्रजी विचार में पड़ गए कि यह क्या माजरा है ? अन्त में, बलभद्रजी ने ब्राह्मण को उठाकर फेंक दिया। पर ज्योंही पीछे मुड़कर देखा, तो वह वहीं का वहीं है। उन्होंने दो-तीन बार उठा-उठाकर फेंका, परन्तु अन्त में वह तो वहीं आ जाता। यह देख बलभद्रजी का गुस्सा और बढ़ गया। अहो ! यह किस प्रकार का मायाजाल फैलाया है ? मैं इतना बलवान होते हुए भी पहुँच नहीं सकता, तो दूसरे सुभटों की क्या औकात है ? भीमराजा की पुत्री रुक्मिणी तो पक्की धूर्ता और निर्लज्ज है। इसे किसी बात की लज्जा या शर्म नहीं है। इसने यंत्र, मंत्र, तंत्र और विद्याओं के बल से मेरे छोटे भाई कृष्ण को वश में कर लिया है। इसी कारण वह दूसरी रानियों की तरफ क्यों कर देखे ! इस तरह बलभद्रजी गुस्से में आकर बोले - "रुक्मिणी ! तूने बहुत-सी मैली विद्याएँ साध ली है। उनके बल पर तुम इतना इतरा रही हो। तुमने बुजुर्गों को भी छोड़ा नहीं। परन्तु अब मैं तुम्हें छोड़नेवाला नहीं हूँ। अभी तुम्हारी खबर ले लूंगा।" यों कहकर बलभद्रजी आगे बढ़े। इतने में तो प्रद्युम्नकुमार ने ब्राह्मण का रूप बदलकर जंगली सिंह का रूप धारण कर लिया। बड़े-बड़े लम्बे केशवाली जटाएँ, तीक्ष्ण दांत और पूंछ पटपटाता हुआ वह सिंह रुक्मिणी के महल से छलांग मारकर बाहर निकला। और जोर-जोर से गर्जना करने लगा। सिंह की गर्जना सुनकर लोग भयभीत होकर इधर से उधर भागने लगे। बलभद्रजी उस विचित्र सिंह को देखकर विचार में पड़ गये कि वह मोटा मुस्टंडा ब्राह्मण कहाँ गया और यह सिंह कहाँ से आया ? निश्चय ही यह रुक्मिणी

पक्का जादूगर है। सिंह और बलभद्र दोनों का आमने-सामने युद्ध हुआ। अन्त में, प्रद्युम्न ने अपनी माया समेट ली और माता के महल में चला गया। बलभद्रजी विचार में पड़ गए। रुक्मिणी ने अपने लाल का सारा पराक्रम देखा। फिर उसने प्रेम से पुत्र को हाथों में उठा लिया और कहने लगी - "बेटा ! तू उम्र में तो छोटा है, परन्तु पराक्रम में मोटा है।"

रुक्मिणी के द्वारा पूछे गए नारदजी के समाचार : "बेटा ! तू मुझे मिला और मेरा दुःख दूर हुआ, किन्तु तेरी क्षेमकुशलता के समाचार देनेवाले परम उपकारी नारदजी अभी क्यों नहीं दिखाई देते ? मुझे उनकी चिन्ता लग रही है।" कुमार बोला - "माता ! तू बिलकुल चिन्ता मत कर। वे नारदबापा तो विमान लेकर मुझे ले जाने के लिए आए थे। वे मेरे साथ ही आए हैं।" तब रुक्मिणी ने कहा - "तो तू उन्हें साथ में क्यों नहीं ले आया ?" इस पर पुत्र ने कहा - "माँ ! वह द्वारिका के बाहर तेरी पुत्रवधू उदधिकुमारी की रक्षा करने के लिए रूके हुए हैं।" रुक्मिणी बोली - "बेटा ! तू तो मेरी मजाक करने लगा। अभी तेरा विवाह ही नहीं हुआ, किन्तु पुत्रवधू उदधिकुमारी की बात कर रहा है। वह फिर कौन है ?" तब प्रद्युम्न ने कहा - "हे माता ! तू मुझे उद्धत्त मत समझना।" रुक्मिणी ने फिर पूछा - "तो यह उदधिकुमारी कौन है ? इसकी क्या बात है ? यह मुझे स्पष्ट बता।" तब प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "वैताढ्य पर्वत पर से आते हुए रास्ते में उदधिकुमारी का क्यों और कैसे अपहरण किया तथा दुर्योधन ने मेरे पिताजी के साथ शर्त की थी कि जिस रानी के पुत्र पहला होगा उसके साथ मैं अपनी पुत्री का विवाह करूँगा। तो मैं भानुकुमार (माता सत्यभामा के पुत्र) की अपेक्षा मैं पहले जन्मा हूँ। इसलिए मैं बड़ा हूँ। इस कारण मैं भील का रूप बनाकर दुर्योधन की पुत्री (उदधिकुमारी) का अपहरण किया है। उसे मैंने विमान में नारदजी की संरक्षता में बिठाकर द्वारिका नगरी में आया। यहाँ आकर मैंने (सत्यभामा का अभिमान उतारने के लिए) उसके वन, बावड़ी और सबको बर्बाद किये हैं। नगरी में तूफान मचाकर सत्यभामा का मस्तक मुंडवाकर तेरे महल में आया।" अपने पराक्रम की सारी बात खोलकर रुक्मिणी से कही। पुत्र के पराक्रम की बात सुनकर रुक्मिणी ने आश्चर्य से दांतों तले अंगुली दबा ली। अहो ! कितना पराक्रमी है, मेरा पुत्र !

फिर रुक्मिणी ने प्रद्युम्न से कहा - "बेटा ! तेरे पिता को पता ही नहीं है कि मेरा लाल (द्वारिका में) आ गया है। मैं जैसे तेरे वियोग में झूरती थी, वैसे तेरे पिताजी भी झूरते थे। वह इसी कारण राजसभा में भी जाते नहीं थे। नारदजी तेरे जीवित होने तथा द्वारिका में हमसे भविष्य में मिलने के समाचार लेकर आए, पीछे उनका मन शान्त हुआ और वे राजसभा (कचहरी) में जाने लगे। अतः

बेटा ! तू अपने पिता त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण महाराजा को प्रणाम करके उन्हें प्रसन्न कर । वह तो तुझे देखकर हर्ष से पागल हो उठेंगे । वह रात-दिन तेरे मुख को देखने के लिए तरसते रहे हैं । अतः तू अब बिलम्ब किये बिना जल्दी से जल्दी अपने पिता के पास जा ।"

प्रद्युम्न ने कहा - "हे माता ! तू मुझे कहती है, अपने पिता से मिलने के लिए जा । मैं अपने पिताजी से मिलने किस तरीके से जाऊँ ?" तब रुक्मिणी ने कहा - "इस समय बड़ी सभा में तेरे पिताजी अनेक यादवों के साथ बैठे हैं । वहाँ तू जाकर उनके चरणों में पड़ना । फिर वे तुम्हें पूछेंगे - 'तू कौन है ?' तब अपना परिचय देना ।" रुक्मिणी ने इस प्रकार कहा, इस पर प्रद्युम्नकुमार ने कहा - "माता ! तूने मेरा इतना पराक्रम देखा, फिर भी तू मुझे दीन-हीन-रंक की तरह अपने पिता से मिलने का कहती है ।" अब आगे प्रद्युम्नकुमार क्या करेगा और किस तरह से अपने पिता से मिलेगा, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

कार्तिक सुदी ५, बुधवार | ता. २७-१०-७६

ज्ञान-पंचमी

सम्यग्ज्ञान की आराधना क्या, क्यों और कैसे ?

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

स्याद्वाद के सर्जक, विसंवाद के विसर्जक और आगमवाणी के प्ररूपक वीतराग-परमात्मा ने अपूर्व साधना करके, चार घातिकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान और केवलदर्शन की ज्योति प्रकट की । हमें भी आत्मा के प्रदेशों पर लगे हुए अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करके ज्ञान-दीपक प्रकट करना (जलाना) है । ज्ञान-दीपक की उज्ज्वल ज्योति को प्रकट करने (जलाने) के लिए आज ज्ञान-पंचमी का पवित्र दिवस है । आज जितनी भी हो सके ज्ञान और ज्ञानी की भक्ति करके, उनका बहुमान करके ज्ञान की आराधना करनी है । सही और सच्ची समझ (सम्यग्दृष्टि) के बिना ज्ञान और आचरण (चारित्र) दोनों अशुद्ध (दोष-अतिचार से युक्त) बने रहते हैं । अतः शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आचरण के लिए सम्यग्दृष्टि) (सम्यग्दर्शन) का

होना आवश्यक है। सम्यक् आचरण (चारित्र) के विना जीवन संस्कारी नहीं वनता। सम्यग्ज्ञान से रहित जीवन अमावस्या की अंधेरी रात के समान है। अतः सम्यग्ज्ञान की आराधना करने हेतु ज्ञान और ज्ञानी की उपासना और भक्ति तथा ज्ञानाचार के ८ गुणों का पालन करना आवश्यक है। तभी हम ज्ञान-पंचमी के दिवस को सफल वना सकेंगे।

अतः जितना-जितना (सम्यक्) ज्ञान प्राप्त करेंगे, उतनी-उतनी आत्मा उज्ज्वल होती जाएगी। आत्मा का मूल स्वभाव है - ज्ञाता और द्रष्टा। ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व - ज्ञातापन और द्रष्टापन का अभ्यास यदि प्रखर हो जाए तो ज्ञानी कहते हैं - "तू अपूर्व समाधि प्राप्त कर सकेगा। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी तो दृष्टि भी सम्यक् हो जाएगी और दृष्टि (समझ) सम्यक् होगी तो ज्ञान सम्यक् हो ही जाएगा।" निष्कर्ष यह है कि (सम्यक्) ज्ञान का जीवन में होना नितांत आवश्यक है। ज्ञान-रहित जीवन वीरान वन के समान है। ज्ञान द्वारा ही मनुष्य जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर और हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक कर सकता है। ज्ञान आत्मा का निजी गुण है, यह आत्मा से अलग हो ही नहीं सकता। कोई मनुष्य यों कहे कि मुझे शक्कर में से मिठास अलग करना है, तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता है। क्योंकि शक्कर तो मिठास का पिण्ड है, इसी तरह मिठास का शक्कर से अभिन्न सम्बन्ध है। इसी तरह आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। उससे ज्ञान कभी अलग नहीं हो सकता। ज्ञान आत्मा में निहित है, रहा हुआ है, वह वाहर नहीं आता, किन्तु उस (ज्ञान) पर आवरण आ जाने से वह दव जाता है, कुंठित हो जाता है।

जीव छह प्रकार से ज्ञानावरणीय कर्म-बन्ध करता है। ज्ञान और ज्ञानी का अवर्णवाद या खराव वोलने से, ज्ञान और ज्ञानी का उपकार भूल जाने से, कृतघ्नता करने से, ज्ञान और ज्ञानी का आशातना करने से, किसी को ज्ञानाभ्यास करने में अन्तराय देने से, ज्ञान और ज्ञानी पर द्वेप-रोप करने से, ज्ञानी के साथ झगड़ा, झूठा विवाद करने या दोपारोपण करने से, इन ६ कारणों से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का वन्ध करता है। कोई व्यक्ति शास्त्र की वातों के विपय में यों कहे कि ये तो मनगढंत हैं, गप्पें हांकी गई हैं। ऐसा कहनेवाला सर्वज्ञ आप्त पुरुपों की तथा उनके वचनों की आशातना करता है और यों ज्ञानावरणीय कर्म वांध लेता है। अथवा ज्ञान प्राप्त करने के वाद अहंकार आ जाए, या मैं सव जानता हूँ, गुरु या अमुक ज्ञानी क्या जानते हैं ? मेरे सिवाय दूसरे किसी को यह नहीं आता। अथवा अपने ज्ञान द्वारा दूसरे को नीचा दिखाने या वदनाम करने से या मिथ्या तर्क-वितर्क करने से, ज्ञान और ज्ञानी का अपलाप करने से व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्मवांध लेता है। कोई मिथ्या वाद-विवाद करे, कुतर्क करे, अथवा अपने ज्ञान का उपयोग वाद-विवाद करके दूसरों का हलका वता, नीचा दिखाकर स्वयं को महाज्ञानी या

उत्कृष्ट सिद्ध करना ज्ञान का अजीर्ण है। इसीलिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "ज्ञानाभ्यास करो, तप करो, दान करो, शील पालो या व्यवहार चारित्र पालो, किन्तु उसका अभिमान न करो।" ज्ञानादि की साधना-आराधना अभिमान रहित होकर, नम्र और विनयी होकर करोगे तभी आत्मा का उद्धार, श्रेय या विकास होगा।

मानव-जीवन में ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। 'दशवैकालिक सूत्र' में भगवान् फरमाते हैं - *'पढमं नाणं, तओ दया'* पहले ज्ञान हो, फिर दया रूप क्रिया होनी चाहिए। दया, करुणा, अनुकम्पा, सेवा, विनय, सहानुभूति, क्षमा आदि प्रत्येक साधना में पहले उसका ज्ञान-समझ-बूझ, तत्त्वज्ञान आदि होना जरूरी है। आत्मा को जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बन्ध-मोक्ष आदि का, तथा उत्सर्ग-अपवाद का एवं हेय-ज्ञेय-उपादेय का ज्ञान होगा, तभी वह चारित्र की निश्चय व्यवहार दोनों प्रकार से आराधना-साधना कर सकेगा। जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होगा, तभी दया, अहिंसा, करुणा आदि सम्यक् प्रकार से विवेकपूर्वक पालन कर सकेगा। इसीलिए कहा गया है - सर्वप्रथम ज्ञानी की आराधना करो। शास्त्र में कहा गया है - *'णाणेण विणा न हुंति चरणगुणा'* - अर्थात् ज्ञान के विना चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं होता। ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक होता है। मनुष्य में सम्यक् ज्ञान होता है तो वह सुख-दुःख में, हानि-लाभ में, शत्रु-मित्र पर, संयोग-वियोग में, निन्दा-प्रशंसा में, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण में, मान-अपमान में समभाव, समत्व का सन्तुलन रख सकता है। जिसमें सम्यग्ज्ञान नहीं होता, वह बीमारी, व्याधि, उद्विग्नता, चिन्ता, विपत्ति या विषाद आदि के प्रसंग पर समत्व को खो देता है, अपने उपादान को न देखकर निमित्तों को भला-बुरा कहने लगता है, दोषारोपण करने लगता है, अपनी कमजोरी को न देखकर देश, काल, भगवान्, गुरु आदि का बहाना बना लेता है। सम्यक् ज्ञान होता है तो मनुष्य पापकर्म करने, कर्मबन्ध करने, आस्रवों का स्वागत करने से रूक जाता है। ज्ञान आत्मा का निजी गुण है, आत्मा से अभिन्न है। ज्ञान द्वारा विश्व के समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों का सम्यक् स्वरूप जान सकता है। अतः ज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जो ज्ञानाभ्यास नहीं कर सकता, अथवा किसी कारण से ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण स्मरण-शक्ति या बुद्धि की मन्दता हो, उसे ज्ञानी की अथवा ज्ञानाभ्यास करनेवाले की निःस्पृह भाव से सेवा वैयावच्च करनी चाहिए और जो ज्ञानी हो, उसे दूसरे जीवों को अपने ज्ञान का लाभ देना चाहिए। ज्ञान देकर जीवों को धर्म के मार्ग पर मोड़ने, धर्मपथ पर चढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु श्रुतपद या ज्ञान का अहंकार नहीं करना चाहिए। ज्ञान की या ज्ञान-प्राप्ति के साधनों की उपेक्षा, अवज्ञा या आशातना नहीं करनी चाहिए। ज्ञान की, ज्ञान के साधनों की या ज्ञानीपुरुषों की मन-वचन-काया से आशातना नहीं करनी

चाहिए । इस विपय में बहुत ही सतर्क रहना चाहिए । ज्ञानी को मारने-पीटने, सताने, कुतर्क से हराने या उनका घात करने या घात करने का सोचने से घोर ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध कर लेता है । एक दृष्टान्त द्वारा मैं इस तथ्य को समझाती हूँ -

राजा का दृष्टांत : एक राजा के यहाँ बहुत वर्षो बाद पुत्र का पालना बंधा, यानि पुत्रजन्म हुआ । इस कारण राजा और प्रजा को अपार आनन्द हुआ । सारे गाँव में पुत्रजन्म का उत्सव मनाया गया । उस उपलक्ष में राजा ने दान-पुण्य किया । पुत्रजन्म का उत्सव सात दिन तक मनाया । कुंवर धीरे-धीरे बड़ा होने लगा, परन्तु अभी तक बोलता नहीं, मूक रहता है, इस कारण राजा-रानी को बहुत चिन्ता होती है, वे इसके लिए झूरते रहते हैं ।

इसी दौरान एक बार नगर में एक अवधि-ज्ञानी मुनि पधारे । सारा गाँव बरसाती नदी की तरह संत के दर्शन करने तथा उनका प्रवचन सुनने के लिए उमड़ पड़ा । राजा, रानी, कुंवर आदि सारा राज-परिवार मुनिवर का व्याख्यान एकाग्रचित होकर सुन रहा है । मुनि ने कहा - "देवानुप्रियों ! सोचो, समझो, विवेक करो, तुम्हें मनुष्य होने के नाते पाँचों इन्द्रियाँ मिली हैं । मन, बुद्धि, चित्त, हृदय और तन, वचन मिले हैं । पाँचों इन्द्रियों में किसी को चार इन्द्रियाँ मिलें, वहाँ तक पाँचवीं कर्मेन्द्रिय - श्रोतेन्द्रिय नहीं मिलती यानि कान नहीं मिलते । पाँचों इन्द्रियाँ पूरी मिले, तब कान मिलता है । कान द्वारा किसी की निन्दा, चुगली, अश्लील वचन या गंदे शब्द नहीं सुनने चाहिए । अपितु वीतरातवाणी सुननी चाहिए, वह भी भावपूर्वक, रसपूर्वक, तन्मय होकर । किसी की निन्दा, बुराई, अवर्णवाद आदि सुनने से अथवा करने से जीव कर्म बांधता है । किन्तु वीतरागवाणी श्रवण करने से जीव को क्या-क्या लाभ होते हैं, इस सम्बन्ध में 'भगवती सूत्र' में कहा गया है -

'सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हए, तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ।।'

धर्मशास्त्र की या देव-गुरु-धर्म की वाणी सुनने से तत्त्वज्ञान होता है । तत्त्वज्ञान से विज्ञान (प्रेक्टिकल ज्ञान क्रियान्वित करने का ज्ञान) अथवा विज्ञान यानि विशेष तत्त्वबोध होता है । विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनास्रव-संवर, यानि संवर द्वारा नये आते हुए कर्मों को रोकना, संवर (अनास्रव) से तप (बाह्य-आभ्यन्तर १२ प्रकार का तपश्चरण) तप से व्यवदान यानि पुराने बंधे हुए पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय (निर्जरा) और पूर्वबद्ध कर्मों के नष्ट होने से निष्कर्मता-अक्रिया की स्थिति और अक्रिया से क्रियारहित स्थिति से सिद्धि यानि सर्वकर्म मुक्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है । अतः धर्मशास्त्र-श्रवण से या देव-गुरु-धर्म

की वाणी-श्रवण से जीव को परम्परा से सिद्धगति, मोक्ष या मुक्ति प्राप्त होती है। इतना सब अलभ्यलाभ प्राप्त होता है - श्रवण से।

राजा, रानी और कुंवर ने एकाग्रचित्त से गुरुदेव की व्याख्यान सुना। शास्त्रवाणी का श्रवण किया। व्याख्यान पूर्ण होने पर राजा-रानी ने पूछा - "गुरुदेव ! यह हमारा इकलौता पुत्र है, यह बहुत ही रूपवान् और होशियार है, सौन्दर्यशाली है। परन्तु मूक है - गूंगा है, बोल नहीं सकता है। तो आप कृपा करके बताइए कि किस कर्म के उदय से इसको मूकत्व या गूंगापन प्राप्त हुआ है ? इसे फरमाने की कृपा करें।"

अवधि-ज्ञानी मुनिवर ने उपयोग लगाकर देखा और कहा - "इस कुंवर ने इस भव से पूर्व तीसरे भव में छोटी उम्र में दीक्षा ली थी। दीक्षा लेकर ११ वर्ष तक तो काष्ठ मौन का पालन किया। आज तो कोई व्यक्ति महीने भर या १५ दिन तक मौन रखता है तो दैनिक या साप्ताहिक पेपर में जाहिरात छापने देता है। जबकि इस कुंवर ने ११ वर्ष तक निःस्पृह भाव से मौन-आराधना की। मौनव्रत खोलने के बाद भी तप चालू रखा। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से इनके ज्ञान का बहुत उघाड़ हुआ। उन्होंने बहुत ही शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। अपने गुरु का शिष्य-परिवार बहुत विशाल था। उनके भी कई शिष्य हुए। ये सब छोटे-छोटे संत इन ज्ञानी मुनिवर के पास शास्त्र की वाचना लेते थे, वाचना लेने के बाद किसी को कोई भी शंका होती तो उसका समाधान भी करते थे। सभी छोटे संतों को वह बहुत ही प्रेम से शास्त्रों का अध्ययन कराते थे।

एक दिन ऐसा हुआ कि ये शास्त्रज्ञ मुनिवर बहुत ही थक गए थे। रात को शिष्य स्वाध्याय-करने बैठे थे। स्वाध्याय करते हुए कहीं-कहीं भूल जाते तो इनके पास वे बार-बार पूछने आते। इस कारण इन शास्त्रज्ञ गुरु की नींद उचट गई। तब सहसा मन में क्लिष्टभाव आए। 'अहो ! मैंने ज्ञान, ध्यान और तप में, तथा शास्त्राध्ययन कराने तथा शंका-समाधान करने में अपने शरीर की तरफ नहीं देखा। शरीर को बर्बाद कर डाला। इतने लोगों को ज्ञान दिया। अब मेरा शरीर चलता नहीं, अशक्त और अस्फूर्तिमान हो गया। फिर रात को भी मुझे शान्ति नहीं। शिष्य मेरा दिमाग चाट जाते हैं। इतना सब पढ़ा तो यह उपाधि हुई न ? जो कुछ भी पढ़े नहीं, उन्हें कोई उपाधि नहीं है। वे खा-पीकर आराम से निश्चिंत होकर सोते हैं। बस, अब मुझे किसी को ज्ञान देना नहीं है।' उन्हें अपने ज्ञान पर ऐसा गुस्सा आया कि शास्त्रों के पन्ने और पुस्तकें फाड़ डालीं। शिष्यों ने गुरुदेव की आशातना न हो, इसलिए चरणों में पड़कर माफी मांगी और सविनय निवेदन किया - "गुरुदेव ! आप हमारे तारक हैं। आपने हमें महान ज्ञान-दान दिया है।

आप इन शास्त्रों के पन्ने फाड़ डालेंगे और हमें ज्ञान नहीं देंगे (वाचना नहीं देंगे) तो हमारा क्या होगा ?" शिष्यों ने भी उन्हें बहुत समझाया, परन्तु गुरु का क्रोध शान्त नहीं हुआ । उन्होंने ज्ञान की इस प्रकार की हुई आशातना को कोई आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना व भावना करके प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं किया । वहाँ से काल-धर्म पाकर वह देवलोक में गए और वहाँ से आयुष्य पूर्ण होने पर च्यवकर तुम्हारे यहाँ कुंवर के रूप में जन्मे हैं । यह अपने पूर्वबद्ध अशुभकर्म के उदय से मूक बने हैं ।"

तत्पश्चात् राजा ने पूछा - "गुरुदेव ! इन कर्मों का क्षय कैसे हो ? इसका कोई ठोस उपाय बताइए ।" इसके उत्तर में ज्ञानीपुरुष ने ज्ञान-पंचमी की महिमा समझाई तथा सुदी पंचमी को उपवास करके क्रियासहित ज्ञान की आराधना करना ।" कुँवर ने गुरुदेव के पास आलोचना करके पाप के लिए बहुत पश्चात्ताप किया । इससे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से मूकपन दूर हो गया, वाचा छूटी । अतः उसने गुरु के चरणों में पड़कर सविनय निवेदन किया - "गुरुदेव ! अब मुझे (गृहस्थ) संसार में नहीं रहना है । अनन्तकाल से चतुर्गति में परिभ्रमण किया है । मैंने आपके मुखारविन्द से पूर्वभव का वृत्तान्त सुना । ऐसे तो मैंने कितने ही घोर पाप कर्म किये होंगे, इनसे कब छुटकारा होगा ? और कब सिद्धगति,का अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त होगी ? अब तो कर्म के कारागार से मुक्त बनकर शीघ्र मोक्ष में जाना है ।" कुंवर ने पश्चात्तापपूर्वक पाप की आलोचना करके दीक्षा अंगीकार की और कर्मक्षय करके कल्याण किया । अगर तुम्हें कल्याण करना हो और चार गतियों का चक्कर मिटाना हो, तो हो सके उतनी ज्ञान-दर्शन सहित चारित्र और तप की आराधना करो ।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

शास्त्रीय अधिकार चल रहा है - मल्लीकुमारी का । मल्लीकुमारी ने जितशत्रु-प्रमुख ६ राजाओं को पूछा - "बोलो, आपका क्या विचार है ? दीक्षा लेनी है क्या ?" मल्लीकुमारी के वैराग्य-भरे वचनों को सुनकर जैसे पर्वत पर से पानी का तीव्रगति से गिरता हुआ प्रवाह बड़े-बड़े पत्थरों को तोड़ डालता है, वैसे ही ये छहों राजा के पाषाण जैसे हृदय पिघल गए और मल्लि अरिहन्त के वचन सुनकर जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं ने मल्लि अरिहन्त को इस प्रकार कहा - "देवानुप्रिये ! संसार-भय से व्याकुल होकर आप दीक्षा अंगीकार करना चाहती हैं, तो देवानुप्रिये ! आपके बिना हमारा सहायक दूसरा कौन होगा ? गलत काम करते हुए हमें रोकनेवाला कौन होगा ? हम जैसे संसार में पड़े हुए लोगों को

सन्मार्ग की ओर मोड़नेवाले, (आत्म) धर्म के उपदेष्टा कौन होंगे ? किसी मनुष्य को समुद्र तरना (पार करना) हो तो वाहन, नौका, स्टीमर अथवा दो भुजाओं का सहारा लेना जरूरी होता है । सहारे के बिना समुद्र तरा (पार किया) नहीं जा सकता । किसी को ऊपर जाना हो तो सीढ़ी (जीने) का सहारा आवश्यक है । सहारे के बिना ऊँचा नहीं चढ़ा जा सकता । आप हमारे सच्चे सहायक हैं । इस भव से पूर्व तीसरे भव में आपने हम पर बड़ा उपकार किया है । आप उस वक्त हमारे प्रत्येक कार्य में मेढीभूत-आधारभूत थे, जैसे मकान नींव के आधार पर टिकता है, पक्की छत सेंथीर के आधार पर टिकती है । आज तो छोटी-मोटी इमारतें खंभों के आधार पर टिक सकती हैं । इसी प्रकार छह राजा मल्लिनाथ भगवान् से कहते हैं कि "आप इस भव से पूर्व तीसरे भव में हमारे लिए (प्रत्येक कार्य में) आधारभूत थे, सम-विषम मार्ग के बतानेवाले होने से हमारे लिए चक्षुभूत थे । हमें धर्म के मार्ग की ओर मोड़ा था, इस कारण धर्म की धुरारूप थे । देवलोक में भी हम साथ-साथ रहे और एक-दूसरे को धर्मप्राप्ति को संकेत किया था, इस कारण इस भव में भी आपने हम सबको जगाया ।

हम तो कैसे भान भूले हुए थे कि आपके रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर आपके साथ विवाह करने के लिए तैयार हुए । संसार के भोग-विलासी सुख की इच्छा से आपके पवित्र पिताजी कुम्भकराजा को हराकर आपके साथ विवाह करने के लिए बड़ा भारी युद्ध करने को उतारू हुए, युद्ध किया, जिसमें अनेक सुभट मारे गए । रक्त की नदियाँ बहाई । हमने ऐसी भयंकर हिंसा की । हमारा क्या होगा ? हम जैसे पापी आत्माओं को आपने पाप करने से रोके ।

केवो झळझळ दीवो, आपे भीतरमां प्रगटाव्यो,
अंतरने अजवाळीने अमने, मार्ग बताव्यो ।
मारी मनीषा तो ए छे, जेणे ओगाळ्यो आ गाढ भूमिनो अंधकार,
ते उपकारी जगदीपकना, मने मळे संस्कार... मारा हैयाना हार ।।

प्रभो ! हमने आपको नहीं पहचाने । आपने हमारे अज्ञानान्धकार से भरे हुए अन्तर में ज्ञान का दीपक प्रगटाया (जलाया) । आपने हमें सच्चे मार्ग पर मोड़ा, पाप करने से रोका, ऐसे हमारे महान उपकारी भगवन् ! आपको अगर संसार दुःखरूप लगा है और आप संयमपथ पर पदार्पण कर रहे हैं, तब फिर हमारा आधार कौन ? आपके बिना हमें अच्छा नहीं लगता । इसलिए -

अम्हे वियणं देवाणुप्पिया ! संसार-भउव्विग्गा जाव भीया जम्म-मरणाणं, देवाणुप्पियाणं सद्धिं मुंडा भवित्ता जाव पव्वयामो ।

हे देवानुप्रिये ! हम भी संसार के भय से उद्विग्न तथा जन्म-मरण के भय से भयभीत, एवं त्रस्त हैं । इस कारण हम भी आपके साथ मुण्डित होकर जिन दीक्षा अंगीकार करेंगे ।

भगवन् ! इस भव से पूर्व तीसरे भव में भी आपकी प्रेरणा से दीक्षा ली थी । आप ही हमारे तारक थे । इस भव में भी आप ही हमारे छहों के तारक बनिए । हम आपके साथ ही दीक्षा ग्रहण करेंगे ।" ये छह राजा आए थे युद्ध करके मल्लीकुमारी के साथ विवाह करने, परन्तु मल्लीकुमारी के उपदेश से ये रूक (थम) गए और द्रव्य-युद्ध करना छोड़कर कर्म-राजा के साथ भाव-युद्ध करने के लिए तैयार हुए । आप लोगों में से किसी की इतनी तैयारी है ? उन छह राजाओं ने दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की, तब मल्लि अरिहन्त ने जितशत्रु-प्रमुख छह राजाओं से इस प्रकार कहा - "यदि आप सबको संसार का भय लगा है । संसार भय से व्याकुल होकर मेरे साथ भागवती दीक्षा अंगीकार करना चाहते हैं तो हे देवानुप्रियों ! आप सब अविलम्ब तैयार हो जाओ ।" छह मित्र-राजाओं को मल्लि भगवन्त ने जब इस प्रकार कहा तो उनके आनन्द का पार न रहा । अहो ! कैसे उच्च कोटि के वे जीव होंगे ? पूर्व में वे साधना करके आये हुए थे । इसलिए मल्लिनाथ भगवन्त की एक चेतावनी से वीतराग-प्रभु के पथ पर प्रयाण करके वीतराग-वाटिका में विचरण करने के लिए तैयार हो गए ।

देवानुप्रियों ! ये छहों राजा बन-ठनकर छैल-छबीले वरराजा के रूप में मल्लीकुमारी के साथ विवाह करने के लिए आए थे, परन्तु जरा-सा निमित्त मिलते ही उनके अंदर का उपादान जाग उठा और वरराजा वर वैरागी बन गए । सती प्रभंजना विवाह के समय माया के लग्न-मण्डप में बैठने की तैयारी में थी । लग्न-मण्डप में बैठने से पहले वह साध्वीजी से मंगलपाठ (मांगलिक) सुनने के लिए गई । वहाँ साध्वीजी के द्वारा की गई जरा-सी चेतावनी होते ही वररानी से वरवैरागी बन गई । और वरवैरागी प्रभंजना केवलज्ञान पाकर वीतरागी बनकर मोक्ष के मण्डप में बैठ गई । नेमिकुमार राजीमती के साथ शादी करने के लिए तोरण तक पहुँचे, किन्तु पशुओं की पुकार सुनकर वापस लौटे और दीक्षा ली । इसी प्रकार छहों राजाओं ने मल्लि अरिहंत के वचनामृत सुनकर वरराजा से वरवैरागी बन गए ।

छहों राजाओं को वैराग्य रंग में रंगे हुए देखकर मल्लि अरिहन्त ने कहा - "अगर आपको दीक्षा लेनी हो तो आप अपने-अपने राज्य में जाकर अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर, राज्य का सारा कार्यभार उसे सौंपकर एक हजार मनुष्य उठा सकें, ऐसी शिविका (पालखी) में बैठकर मेरे पास आओ ।" राजाओं ने मल्ली भगवती की बात हृदय में धारण कर ली । बन्धुओं ! वे कैसे हलुकर्मी

जीव होंगे कि तुरंत जाग गये । तुम तो सभी साहूकार के बेटे हो न ? हमारे भगवान् की वाणी को एक शब्द भी हृदय में नहीं रखते । हमे सौंपकर चले जाते हो । (हँसाहँस) छह राजाओं ने मल्लि-अरिहन्त की बात को स्वीकार किया ।

उसके पश्चात् मल्लि अरिहन्त जितशत्रु-प्रमुख छही राजाओं को अपने साथ में लेकर, जहाँ कुम्भकराजा थे, वहाँ गए । वहाँ जाकर कुम्भकराजा के चरणों में वन्दन कराया । मल्लिनाथ भगवान् कुछ समय बाद ही अरिहन्त बननेवाले हैं । फिर भी पिताजी का विनय-व्यवहार कितना रखते हैं ? छही राजाओं ने कुम्भकराजा के चरणों में पड़कर कहा - "पिताजी ! हमें पता नहीं था कि आपके यहाँ परम-तारक भावी तीर्थकर-प्रभु बिराजते हैं और हम इनके साथ शादी करने के लिए अपने-अपने दूत के साथ सन्देश भिजवाया । आपने जब सबको स्पष्ट इन्कार कर दिया और क्रोधाविष्ट हो प्रत्येक दूत को अपमानित करके निकाल दिया, तब हम सभी अपनी बात मनवाने के लिए आपके साथ युद्ध करने के लिए आया । हमने ऐसा करके आपकी और अरिहन्त-प्रभु की घोर आशातना की है । हमें अपने इस दुर्व्यवहार के लिए तथा आपके कोमल हृदय को आघात पहुँचाने के लिए क्षमा करें ।" यों कहकर क्षमा मांगी । कुम्भकराजा ने भी उन्हें उठाकर क्षमा प्रदान की और गले लगकर मिले । तत्पश्चात् विपुल अशन-पान-खाद्य-स्वाद, यों चारों प्रकार का उत्तम आहार तैयार करवा कर साथ में बैठकर उन्हें प्रेम से भोजन कराया । फिर कीमती सोने और रत्नों के आभूषण तथा बहुमूल्य वस्त्र उन्हें भेंट दिये तथा उनका बहुत आदर-सत्कार करके उन्हें बिदा किये । अब छह राजा अपने-अपने राज्य में जाकर अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर विशाल शिबिका में बैठकर दीक्षास्थल पर आएँगे, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

रुक्मिणी ने प्रद्युम्न को कहा कि "तू अब अपने पिता को वन्दन करने जा और वहाँ जाकर अपना परिचय दे ।" प्रद्युम्न ने कहा - "माँ ! मैं ऐसा कदापि नहीं करूँगा कि पिताश्री ! अब मैं आया । किन्तु मैं तो अपने बाहुबल से उन्हें अपना परिचय दूंगा और बाद में मैं अपने पिताजी के चरणों में वन्दन करूँगा ।" रुक्मिणी बोली - "बेटा ! तू ऐसा मत कर" "ना, माता ! तू थोड़ी धीरज रख । परन्तु तुझे मुझे थोड़ी-सी सहायता करनी पड़ेगी । अगर तुझे मेरे पिताजी से जल्दी मिलन कराना हो तो ।" रुक्मिणी ने पूछा - "बेटा ! मुझे क्या सहायता करनी पड़ेगी तुझे ?" तब प्रद्युम्न ने कहा - "माँ ! जहाँ नारदजी आपकी पुत्रवधू की रक्षा कर रहे हैं, वहाँ तू मेरे साथ चल ।" यह सुनकर रुक्मिणी घबराई, बोली - "मैं पतिव्रता स्त्री हूँ । मैंने अपने पति

की आज्ञा के विना कभी एक कदम भी उठाया नहीं है । तो आज मैं कैसे जा सकती हूँ ?" माता को उलझन में पड़ी देख प्रद्युम्न ने कहा - "तू क्यों घवराती है ? यदि तुझे अपने पुत्र पर प्रेम है तो तुझे मेरे साथ आना चाहिए । अन्यथा, मैं वैताढ्य पर्वत पर वापस चला जाऊँगा ।"

सोलह-सोलह वर्षों से झूर रही माता (रुक्मिणी) पुत्र के वचन सुनकर घवरा गई और अन्त में, उसने पुत्र के आधीन होने का विचार किया । कुमार ने विद्या के वल से एक उड़नेवाला रथ वनाया । उसमें रुक्मिणी को विठाकर भारंड पक्षी की तरह रथ को आकाश में उड़ाया और जहाँ कृष्णजी की सभा थी, वहाँ आते ही शंख वजाकर कहा - "हे यादवो ! जागो - जागो । मैं कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी का अपहरण करके ले जा रहा हूँ । आप चंदेरीराजा के शिशुपाल के साथ युद्ध करके रुक्मिणी को उठा लाए थे, तो आज आपके पास से मैं रुक्मिणी को उठाकर ले जा रहा हूँ । अव आपमें स्वाभिमान हो तो मेरे साथ युद्ध करके रुक्मिणी को ले जाना । परन्तु यह ध्यान रहे कि मैं कोई लम्पट, नटखट, देव, गन्धर्व, व्यन्तर या असुर नहीं हूँ, किन्तु मैं मनुष्य हूँ । तथा मैं रुक्मिणी के शील पर हाथ लगाऊँ, ऐसा भी नहीं हूँ । मैं उसे कोई चोरी से, गुप्त रूप से, या और किसी वदनीयत से नहीं ले जा रहा हूँ । मैं इसे आपके समक्ष घोषणा करके दिन-दहाड़े डंके की चोट ले जा रहा हूँ । ताकत हो तो मेरे सामने आओ ।" ऐसे अभिमानयुक्त शब्द सुनकर कृष्ण, वलभद्र आदि यादवों ने सभा में धमाल मचा दी और युद्ध की जोरशोर से तैयारी करने लगे । सारी द्वारिका नगरी में खलवली मच गई । ये अपहरण के समाचार वायुवेग से सर्वत्र पहुँच गए । कभी ऐसा अनुभव नहीं किया और अकस्मात् ऐसा हृदय विदारक समाचार सुनकर वलभद्रजी वेहोश हो गए । शीतल जल के छींटे देने से वह होश में आए । कृष्णजी को तो इतना आघात लगा कि मैं त्रिखण्डाधिपति वासुदेव, धरती को कंपा देनेवाला, फिर भी मेरे जीते जी मेरी पटरानी का अपहरण करनेवाला कौन पका है ? पाण्डव भी वहाँ आ पहुँचे । उग्रसेनराजा, दश दशार्ह वगैरह सभी एक स्वर से कहने लगे - "रुक्मिणी का अपहरण करे, ऐसा कौन दुष्ट है ?" देखते ही देखते कृष्ण के आदेश से सेना सुसज्जित होकर आ गई । उसमें हाथी, घोड़े, रथ और पैदल यों चतुरंगिणी सेना भी आ गई । सैनिकों के हाथ में तलवारें चमकने लगी । सारा सैन्यदल द्वारिका नगरी के वाहर जा रहा है । इस प्रसंग पर कुछ लोग यों कहने लगे - "एक स्त्री के लिए इतना वड़ा युद्ध ? कितना जीव-संहार होगा ?" तव कुछ कहते हैं - "पत्नी का अपहरण हो और क्या पति चुपचाप वैठा रहे ? लड़ाई तो करनी ही चाहिए न ?" सेना का अधिकांश भाग द्वारिका नगरी के वाहर पहुँच गया है और प्रद्युम्नकुमार माता रुक्मिणी को वहाँ छोड़ आया, जहाँ उदधिकुमारी और नारदजी थे, अव आगे क्या होगा, उसके भाव यथावसर कहे जायेंगे ।

व्याख्यान - १०३

कार्तिक सुदी ६, गुरुवार ता. २८-१०-७६

प्रीति किससे : भगवान से या भोगों से ?

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

अनन्त करुणानिधि, परमकृपालु परमात्मा के मुख से निःसृत शाश्वती वाणी का नाम है सिद्धान्त (शास्त्र) । वीतराग-प्रभु की वाणी पर श्रद्धा हो और फिर शुद्धभाव से आचरण हो तो बेड़ापार हो जाय । किन्तु विषय-भोगों के प्रति राग जीव को जिनेश्वर-प्रभु के वचन पर भाव नहीं आने देता । विषय-भोग के प्रति राग कम हो जाय तो भगवान् के वचन पर भाव बढ़े, भवनिर्वेद आए और भोगों की भयंकरता का भान हो । भोग कितने भयंकर हैं और भगवान् और भगवान् के वचन कितने भद्रकर हैं, कल्याणकारी हैं, हितकारी हैं, उसका ध्यान बहुत कम जीवों को है । इस कारण उन्हें संत बार-बार भोगों की भयंकरता का भान कराकर भाव से मुक्त बनने के लिए ललकार कर कहते हैं - "हे भव्यजीवों ! तुम जागो और संसार-भाव को कम करो और भगवान् के प्रति प्रीति जोड़ो ।"

बन्धुओं ! अनादिकाल से जगत् की उल्टी रीति है कि भगवान् के साथ प्रीति करने में देर लगती है, किन्तु भोगों के प्रति प्रीति अनायास ही हो जाती है । क्योंकि अनादिकाल से जीव भोगों को भोगता आया है । इस कारण भोगों के प्रति प्रीति झटपट हो जाती है । किन्तु भगवान् का भजन नहीं किया, इसलिए उनके प्रति शीघ्र प्रीति नहीं होती । इस कारण भगवान् ने भोगों का त्याग करने का उपदेश दिया है । जीव को जितना भाव संसार के प्रति है, उतना भाव भगवान् और भगवान् के वचनों के प्रति आ जाय तो भव-वन को पार कर जाए । भगवान् का भक्त भोगों का भिखारी नहीं होता, वह त्याग का पूजारी होता है । भगवान् का मार्ग त्याग का है । भगवान् कहते हैं - "भोगों के प्रति भाव घटाये बिना भव का भागाकार होना कठिन है, भव-सागर को पार करना कठिन है । अतः शीघ्र आत्म-साधना करनी हो तो भगवान् के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा करो । जिसके अन्तर में समझ की झरना फूटा हो, उसके अन्तर के उद्गार भी अलौकिक होते हैं । ऐसे जीव खाते-पीते, उठते-बैठते, बोलते-चलते प्रत्येक कार्य में उपयोग-विवेक रखते हैं । अज्ञानी जीव भी ये सब क्रियाएँ करते हैं और ज्ञानी भी करते हैं । इन दोनों के

करने में जमीन-आसमान के जितना अन्तर होता है । ज्ञानी प्रत्येक क्रिया करने में उपयोग रखता है । ज्ञानी का चलना-फिरना, खड़ा रहना, बैठना, सोना-जागना, सब कुछ यत्नपूर्वक करता है । इस कारण वह पापकर्म अल्प बांधता है और तप द्वारा पुराने कर्म क्षय कर डालते हैं । इस प्रकार से यत्नपूर्वक जीवन जीनेवाला आत्मा पापकर्म से लिप्त नहीं होता । अतः प्रत्येक क्रिया में यतना रखो । हमें यह अमूल्य मानव-जीवन कर्मो के बन्धन से मुक्त होने के लिए मिला है । संसार के बन्धन में बंधने के लिए नहीं ।

लाखों जन्म पूरा करी, आपणे सहु आव्या अहीं ।
जो आ भवे जाग्या नहीं, तो फरीशुं फरी चक्कर महीं ॥

चार गति, चौवीस दण्डक और चौरासी लाख जीवयोनियों में अनन्तकाल से परिभ्रमण करते हुए महान पुण्योदय से जीव को यह उत्तम मानवभव मिला है । क्या यह विषयों में रचे-पचे रहकर विलास करने के लिए मिला है ? आत्मा को कर्म के कीचड़ में गंदा करने के लिए मिला है ? नहीं । वह मिला है - आत्मज्ञान में मस्त बनकर आत्मा के स्वरूप की पहचान करने के लिए है । संसार-भाव जीवन में नहीं होना चाहिए । पुद्गलों की जूठन चाटनेवाली बातें नहीं चाहिए, किन्तु आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए आन्तर निरीक्षण चाहिए । जैसा कि -

हुं कोण छुं, क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे, मारुं खरुं ।
कोना सम्बंधे वलगणा छे, राखुं के ए परिहरुं ? ॥

हे आत्मन् ! तू कौन है ? कहाँ से आया है और कहाँ जानेवाला है ? तेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? और क्या कर रहा है ? किसके साथ सम्बन्ध में तेरा लगाव है ?

इस प्रकार आन्तर-निरीक्षण किया जाए तो अवश्य ही आत्मज्ञान प्रकट हो सकता है ? ऐसा आत्म-निरीक्षण आत्मज्ञान प्राप्त करने की चाबी है । एक बार ऐसा आत्मज्ञान का स्व-संवेदन होगा तो तुम्हें यह संसार क्षारभूमि जैसा, अंधेर कुँए जैसा तथा स्मशानभूमि जैसा भयंकर प्रतीत होगा । अगर आत्मज्ञान पा जाए तो पाप करते हुए रुकेगा । जो पाप करते हुए अटकेगा, उसे संसार खटकेगा । जिसे संसार खटकेगा, वह भव-भव में नहीं भटकेगा ।

ज्ञानी कहते हैं - "अटके बिना अमरता नहीं है और (आचरण-धर्माचरण) किये बिना ठिकाना (मुक्ति) नहीं है ।" अटकना किससे है और करने का किसमें है ? क्या इसे जानते हो ? आस्रव से अटकना (रूकना) है । आस्रव में बैठा हुआ जीव कर्मो के प्रवाह में खींचा चला जाता है और कर्म बांधता है । इस कारण भव-

भव में भटकता है। अत: आस्रव से अटक (रूक) कर संवर के घर में आकर जीव को समझ (सम्यग्दृष्टि) में स्थिर होकर स्वरूप में स्थित हो जाना है। पानी में कोई चीज पड़ गई हो, तो पानी जहाँ तक हिलता-डुलता रहता है, वहाँ तक पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती। पानी जब स्थिर व शान्त हो जाता है, सारा कचरा स्थिर हो जाता है, तब अंदर में पड़ी हुई चीज स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वैसे ही जबतक हमारे मन में संकल्प-विकल्पों की तरंगें उछलती रहती हैं, तबतक आत्म-स्वरूप की पहचान नहीं होती। जब संकल्प- विकल्पों की तरंगें शान्त हो जाएँगी, तब आत्म-स्वरूप की अनुभूति होगी। उसमें जो आनन्द आएगा, वह ऐसा अलौकिक और अपूर्व होगा कि जिसकी कोई सीमा नहीं रहेगी। इस आनन्द के मिलने पर संसार का आनन्द तुच्छ प्रतीत होगा।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लि अरिहन्त के वचनामृतों से जिन्हें आत्म-स्वरूप की पहचान हो गई है, वे जितशत्रु आदि छह राजा कुम्भकराजा के यहाँ से निकले। मिथिला नगरी को छोड़कर आनन्द-विभोर होते हुए अपने-अपने देश में आए। ये छह राजा अलग-अलग देश के मालिक थे और छही महर्द्धिक राजा थे। जब वे आए, तब क्रोध से तमतमाए हुए थे, किन्तु जब वापस लौटे, तब सारा क्रोध शान्त हो गया और अपने आत्मा को शीतलीभूत बनाकर आनन्दित होकर चले। मन में विचार करने लगे कि 'हम अपनी राजधानी में जाकर अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर, उनको सारी प्रबन्ध-व्यवस्था सौंपकर भगवान् मल्लिनाथ दीक्षा ग्रहण करें, तब हमें दीक्षा लेनी है और अप्रमत्त बनकर आत्म-साधना के झूले में झूलकर बाह्य भाव (परभाव-विभाव) को भूलकर कर्मो का क्षय करके परमपद की प्राप्ति करनी है।' छही राजा अलग-अलग देश और अलग-अलग दिशा से आए थे। सब अलग-अलग निकलकर अपने-अपने देश में जहाँ अपनी राजधानी थी और जहाँ अपने महल थे, वहाँ पहुँच गए। वहाँ जाकर सब अपने-अपने राजकाज में प्रवृत्त हो गए।

बन्धुओं! ये छह राजा पहले राज्य का कार्य करते थे, तब रसपूर्वक करते थे, अब वे अनासक्त भाव से रहने लगे। उन्हें अब मल्लिनाथ भगवान् का संगम हो गया था। मनुष्य जैसा (जिसका) संग करता है, वैसा उसको रंग लग जाता है। संसार का संग तो जीव ने बहुत किया, परन्तु जिसका संगम (संग) होने से जीव रागी मिटकर वैरागी बने, आत्मकल्याण करने को तैयार हो जाय, उनका नाम है, सच्चा संगम (सुसंग)। तुम्हें ऐसा संगम हुआ है या नहीं ? कितने वर्षों

को आदेश देते हैं। तदनुसार उन शक्रेन्द्र देवराज देवेन्द्र ने वैश्रमण देव कुबेर को बुलाया। बुलाकर उन्हें इस प्रकार से कहा - "हे देवानुप्रिये ! "*जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जाव असीतिं च सय सहस्साइं दलइत्तए।* - इस जम्बूद्वीप में भारतवर्ष क्षेत्र में मिथिला नाम की नगरी के कुम्भक नामक राजा के महल में मल्लि नामक तीर्थंकर-प्रभु हैं, वह दीक्षा लेने का पक्का विचार कर रहे हैं। इसलिए इन्द्रों का इस प्रकार का परम्परागत आचार (नियम) है कि तीर्थंकर-प्रभु के निष्क्रमण महोत्सव के समय तीन अरब, अट्ठासी करोड़, अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राएँ वार्षिक दान के लिए (तदनुरूप इतना द्रव्य) उनके घर पहुँचाए। इसके लिए हे देवानुप्रिय ! तुम जाओ और जम्बूद्वीप में भारतवर्ष में मिथिला नगरी में कुम्भक-राजा के महल में उनके भण्डार में पहले कहे अनुसार धन पहुँचाओ और इस प्रकार कार्य करके मेरी आज्ञा मुझे सुपुर्द करो।"

शक्रदेवराज की आज्ञा का सहर्ष स्वीकार कर वैश्रमणदेव तुरंत खड़ा हुआ और दोनों हाथों की अंजलि बनाकर उसे मस्तक पर नमस्कार किया। "मैं आपकी आज्ञानुसार शीघ्र यह कार्य करूँगा।" यों कहकर आज्ञा का स्वीकार किया। उत्तम आत्माओं को अच्छा कार्य करना बहुत पसंद होता है। शक्रदेवराज की बात सुनकर वैश्रमणदेव की साढ़े तीन करोड़ रोमराजी उल्लासित हो गई। उनका हृदय आनन्द से छलक उठा। अहो ! आज मेरे महान सद्‌भाग्य हैं कि मल्लि तीर्थंकर-भगवान् दीक्षित होनेवाले हैं, वे संसार के राग-रंग, भोग-विलास और समस्त सांसारिक कार्यों को ठोकर मारकर अब दीक्षा लेनेवाले हैं। उन मल्लि अरिहन्त के भण्डार में हम धन भर देंगे, ताकि मल्लि अरिहन्त एक वर्ष तक उस धन से वह वर्षीदान करेंगे और उनका दीक्षा-महोत्सव मनाया जाएगा। ऐसा उत्तम सत्कार्य करने का आज हमें लाभ मिला। हम कितने भाग्यशाली हैं। एक अन्धी माता का इकलौता लड़का परदेश गया हो। उसके ५-७ वर्षों से कोई समाचार न हों और एक दिन अचानक आकर माता से मिले और उस माता को जो आनन्द आता है, वह अवर्णनीय है। इसी प्रकार अन्ध मनुष्य को आँखें मिलने से जो आनन्द होता है, वह भी अवाच्य है। लोटरी में तुम्हारा नंबर लग जाए और पाँच-सात लाख मिल जाय, इससे जो आनन्द होता है, उससे भी अधिक आनन्द वैश्रमणदेव को यह काम मिलने से मिला। जो विनीत आत्मा है उसे तो ऐसा कुछ भी कार्य करने को मिले तो मानता है कि आज मैं महान भाग्यशाली हूँ कि आज मुझे ऐसा पुण्य लाभ का कार्य मिला। इस प्रकार वैश्रमणदेव ने बहुत ही आनन्दपूर्वक हाथ जोड़कर शक्रेन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य की। देवों में भी एक-दूसरे के प्रति कितना विनय भाव है ? विनय में ऐसा महानगुण रहा हुआ है कि यह गुण जिसमें होता है, वह सभी जीवों का प्रिय-लोकप्रिय बन जाता है। विनय के अभाव में जीव ज्ञान के प्रकाश से वंचित रह जाता है।

एक बार एक अगरबत्ती जलकर अपनी सुमधुर सौरभ से वातावरण को महका रही थी और दूसरी ओर एक मोमबत्ती जलकर प्रकाश दे रही थी। एक दिन अगरबत्ती को मोमबत्ती ने कहा - "बहन ! तेरा शरीर कालाकलूट कोयले-सा है। तेरा शरीर इतना अधिक दुर्बल है, मानो तूने छह महीने से कुछ खाया ही न हो। तेरे रूप को देखने को भी कोई इच्छा नहीं करता। तू जरा मेरा रूप तो देख मैं कितनी सुन्दर हूँ ? मेरी काया चांदी की तरह सफेद और चमकीली है। मेरे निर्मल प्रकाश से सारा कमरा-जगमगा रहा है। मेरी चमकदमक के आगे तुम्हारी कुछ भी चमक नहीं है।" मोमबत्ती अभिमान में छककर यह बात कर रही थी, इतने में तो हवा का एक झोंका आया और मोमबत्ती बुझ गई। परन्तु अगरबत्ती की सुवास पहले से ही चारों तरफ फैल गई थी। यह तो एक रूपक है। इसमें से हमें क्या समझना चाहिए ? जो अभिमान करता है उसकी स्थिति मोमबत्ती जैसी हो जाती है, इसके विपरीत जो विनय से नम्र व्यवहार करता है, उसका जीवन अगरबत्ती के समान गुणरूपी सौरभ से महक उठता है।

वैश्रमणदेव ने शक्रेन्द्र की आज्ञा को विनयपूर्वक शिरोधार्य करके जृम्भक देवों को बुलाया। उनके आने पर उनसे इस प्रकार कहा - "देवानुप्रियों ! तुम जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष नामक क्षेत्र में मिथिला नाम की राजधानी में जाओ और वहाँ जाकर कुम्भकराजा के महल में, उनके भण्डार में, ३ अरब, ८८ करोड़, ८० लाख सोना मोहरें भर आओ। भण्डार में इतना द्रव्य पहुँचाने के बाद मेरी आज्ञानुसार सारा काम पूरा हो गया है, ऐसी खबर मुझे दो। मल्लि अरिहन्त का दीक्षा-महोत्सव मनाना है, उसके लिए जल्दी से जल्दी इस काम को करना है। इस कार्य को यथाशीघ्र करके मुझे वापस खबर दो कि आपकी (मेरी) आज्ञानुसार हमने कार्य पूरा कर दिया है।"

जृम्भक देवों ने वैश्रमण (कुबेर) देव की आज्ञा बहुत ही सन्तुष्ट और हर्षित होकर स्वीकारी थी। तत्पश्चात् वे ईशान कोण में गए। वहाँ जाकर उन्होंने उत्तर वैक्रिय रूप की विकुर्वणा की। देव मूल (असली) रूप में यहाँ नहीं आते। भगवान् महावीर के समवसरण में एक बार चन्द्र और सूर्य मूल रूप में आए थे, यह एक अच्छे (आश्चर्यजनक घटना) था। जृम्भक देवों ने विकुर्वणा की, तत्पश्चात् देवगति - सम्बन्धित उत्कृष्ट तीव्रतम गति से चलकर जहाँ जंम्बूद्वीप नामक द्वीप था, भारतवर्ष नामक क्षेत्र था और मिथिला नाम की राजधानी में जहाँ कुम्भकराजा का महल था, वहाँ जाकर उन्होंने जहाँ राजा का भण्डार था, उसमें ३८८ करोड़ ८० लाख स्वर्ण-मुद्राएँ भर दीं। इस प्रकार जृम्भक देवों ने सब कार्य वैश्रमणदेव की आज्ञानुसार पूर्ण किया और फिर वे देव जहाँ वैश्रमणदेव था, वहाँ पहुँचे और वहाँ उन्होंने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक उनसे कहा - "देवानुप्रिये ! हमने आपकी आज्ञानुसार कुम्भकराजा के महल में स्थित भण्डार में ३८८ करोड़ ८० लाख की अर्थ-सम्पदा पहुँचा दी है।"

वैश्रमणदेव को यह जानकर बहुत खुशी हुई । तत्पश्चात् वैश्रमणदेव ने देवराज शक्रेन्द्र को सारी बात विनयपूर्वक कह सुनाई । शक्रेन्द्र देवराज को बहुत आनन्द हुआ । वे इस कार्य से बहुत सन्तुष्ट हुए । अब मल्लि अरिहन्त किस प्रकार वर्षीदान देंगे और क्या करेंगे, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

रुक्मिणी ने विमान में आते हुए नारदजी को देखा । इसलिए तुरंत उनके चरणों में पड़ी और बोली - "महर्षिप्रवर ! आपके प्रताप से आज मेरे वात्सल्यपात्र प्रिय पुत्र का मिलन हुआ ।" नारदजी ने पुत्रवधू से कहा - "बेटी ! यह तुम्हारी सासुजी हैं ।" तुरन्त गुणी और विवेकी पुत्रवधू ने सासुजी के चरणों में पड़कर नमस्कार किया । इससे रुक्मिणी का हृदय हर्ष के हिलोरों पर थिरकने लगी । कुमार कहने लगा - "माँ ! अब तुम सासु-बहु शान्ति से रहना । मैं अपने पिताजी को अपने बाहुबल की पर्चा बताकर आता हूँ ।" इस पर रुक्मिणी बोली - "बेटा ! मुझे यह बात पसंद नहीं है । पहले तो तुम दोनों बलवान-बलवान लड़ोगे । इसमें कितने जीवों का कचूमर निकल जाएगा ? अतः हे पुत्र ! यह सब छोड़कर तू सीधे ही अपने पिताजी के चरणों में पड़ जा । क्योंकि उनका (कृष्णजी का) सैन्यदल बहुत बड़ा है । तू अकेला है । अकेला तू क्या कर लेगा ?" इस समय प्रद्युम्नकुमार ने विद्या के बल से जबर्दस्त सैन्यदल खड़ा कर दिया । साथ ही कृष्णजी की सेना में बलराम, पाँच पाण्डव वगैरह अनेक युद्ध-विशारद राजा को प्रद्युम्न ने अपने सैन्यदल में हूबहू वैसे की वैसी आकृति वाले बलराम, पाँच पाण्डव आदि विद्याबल से बना लिये । उनके हाथी, घोड़े, रथ तथा छत्र, चामर आदि चिह्न भी वैसे के वैसे विद्याबल से बना लिये । इस कारण दोनों सैन्यदलों में लड़नेवाले सैनिकों में भ्रान्ति पैदा हो गई कि अपना सैन्यदल कौन-सा, प्रद्युम्न का सैन्यदल कौन-सा ? इस प्रकार असमंजस में पड़े देख कृष्णजी ने अपने सैन्यदल पर एक विशेष निशान लगा दिया ।

पिता और पुत्र के बीच ठना भयंकर युद्ध : प्रलयकाल में उछलते हुए समुद्र के समान दोनों दलों की सेना में जलतरंगों की तरह योद्धाओं की तलवारों की झड़ी बरस रही थी । बाणों की वर्षा बरसने लगी । अहो ! इस संसार की कैसी विचित्रता है कि अकारण ही पिता और पुत्र दोनों युद्ध का खेल खेल रहे हैं । तीक्ष्ण तलवारों से कटते हुए मानवों के शरीर से रक्त की नदियाँ बहने लगीं । थोड़ी देर में मुर्दों का ढेर लग गया । कहते हैं - 'राम-रावण युद्ध इस (पिता-पुत्र युद्ध के आगे तुच्छ प्रतीत होता था । एक घड़ी पहले होती थी - कृष्णजी की जय और प्रद्युम्न की पराजय, दूसरी घड़ी में दिखाई देने लगी - प्रद्युम्न की जय और कृष्णजी की पराजय ।' प्रद्युम्न ने विद्या के बल से ऐसा चमत्कार बताया कि पाण्डव आदि बहुत-से यादव

मारे गए हैं । इसके कारण दुःखित कृष्णजी स्वयं युद्ध के मैदान में उतरे और ज्यों ही हथियार उठाने जाते हैं, त्यों ही उनकी बाई आँख फरकने लगी । इससे कृष्णजी विचार में पड़ गए – 'इस पापी ने रुक्मिणी का अपहरण किया, पाण्डवों आदि मेरे भाइयों को बदहाल दशा में फेंक दिये । लाखों सैनिक मारे गए हैं । ऐसे दुश्मन के होते हुए मुझे क्या लाभ होनेवाला है, इस बाई आँख के फरकने से ? फिर क्या कारण है कि मुझे उस (तथाकथित शत्रु) पर हृदय में स्नेह, वात्सल्य उमड़ रहा है ?' कृष्णजी यों विचार करते हैं, तभी प्रद्युम्नकुमार कहता है – ''क्यों थक गए क्या ?'' ये शब्द सुनकर कृष्णजी को उस पर गुस्सा आ जाता है । अब वे क्या करेंगे, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - १०४

कार्तिक सुदी ८, शनिवार — ता. ३०-१०-७६

शरीर की अपेक्षा आत्मा का करो : अंजन, मंजन और रंजन

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

अनन्त करुणानिधि, त्रैलोक्य-प्रकाशक शासनपति, सर्वज्ञ भगवान् ने जगत् के जीवों के उद्धार के लिए शास्त्रों की प्ररूपणा की । शास्त्र की वाणी में अजब-गजब के भाव भरे हुए हैं । तुम चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ लो, अथवा बड़ी से बड़ी चाहे जितनी डिग्रियाँ प्राप्त कर लो, किन्तु जबतक शास्त्र का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लोगे, तबतक आत्म-शान्ति प्राप्त नहीं होगी । संस्कृत के एक श्लोक की पंक्ति में भी कहा गया है -

"श्लोको वरं परमतत्त्व-पथ-प्रकाशी, न ग्रन्थ कोटि पठनं जन रंजनाय ।"

मोक्षमार्ग के तत्त्व का पथ-प्रदर्शक एक श्लोक भी आए तो वह श्रेष्ठ है, परन्तु जनरंजन करने के लिए करोड़ों ग्रन्थ पढ़ना व्यर्थ है ।

बन्धुओं ! ऐसा कहने क्या कारण है ? तुम लोग समझे ? इस श्लोक के पद द्वारा जो कहा गया है कि आज स्कूलों और कोलेजों में जो ज्ञान दिया जाता है, वह भौतिक-सुख की प्राप्ति में सहायक बनता है । उसके द्वारा अच्छी सर्विस प्राप्त करके अधिक धन कमाकर सांसारिक-सुख की मौज उड़ाते हैं, परन्तु उससे आत्मा को क्या

लाभ ? बोलो ! उससे आत्मा को कोई लाभ होता है ? कुछ नहीं । तुम चाहे जितनी सत्ता और सम्पत्ति प्राप्त कर लो और मन में फूलो कि मैं बड़ा सम्पत्तिमान हूँ, सत्ताधीश हूँ, परन्तु अन्त में तो ये सब यहीं रह जानेवाले हैं । परन्तु उसके लिए अन्याय, अनीति, ठगी, दगा-प्रपंच करके किया गया पापकर्म तो आत्मा के साथ अगले भव या भावों में जाता है और वह पाप भवोभव तक आत्मा को कष्ट पहुँचाता है । उसके बजाय तो मनुष्य शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करे तो उसके द्वारा जन्म-जरा-मरण के दुःखों से छुटकारा पाने के उपायों को जान सकता है, और उन उपायों द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध और पवित्र बनाकर मृत्यु को जीत सकता है । इसी कारण उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है, जन-मनोरंजन करने के लिए करोड़ों ग्रन्थ पढ़ने से जो लाभ नहीं होता, उससे अधिक लाभ मोक्षमार्ग की पहचान करानेवाले एक श्लोक को कण्ठस्थ करके उसे जीवन में उतारकर तदनुसार आचरण करने से होता है ।

शास्त्रीय ज्ञान मानव-जीवन में रहे हुए सद्‌गुणों को जागृत करता है । वह एकान्त प्रवृत्ति के मार्ग से निवृत्ति के मार्ग की ओर ले जाता है और सांसारिक-सुख की आसक्ति छुड़ाकर विरक्ति भाव प्राप्त कराता है । कहा भी है - *अध्यात्म शास्त्र गुताल, मोहजाल-वनानल ।* अध्यात्मशास्त्र भयंकर मोह-जाल रूपी वन को जलानेवाली आग है । इसीलिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि-"शास्त्र का ज्ञान मनुष्य के लिए अनिवार्य है । इसलिए शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । क्योंकि आध्यात्मिक ज्ञान के बिना मनुष्य स्वयं को प्राप्त दुर्लभ मानव-जीवन के महत्त्व को जान नहीं सकता । फिर शास्त्रज्ञान हो तो मनुष्य उसके द्वारा मुक्ति के पथ पर प्रयाण करके अव्याबाध सुख की प्राप्ति कर सकता है ।

आज मनुष्य में बाह्यज्ञान प्राप्त करने की जितनी लगन है, उतनी आत्मज्ञान पाने की नहीं है । वर्तमान युग का मानव तीन वस्तुओं में मुख्यतया रमण कर रहा है - (१) अंजन, (२) मंजन और (३) रंजन । बालकों को नहलाकर उनकी माताएँ उन (बच्चों) की आँखों का तेज बढ़े इसके लिए अंजन आंजती हैं । तुमलोग प्रायः प्रतिदिन सुबह दन्तमंजन किसलिए करते हो ? इसलिए कि दांत में सड़ान न हो, पायरिया रोग न हो, दांत स्वच्छ और मजबूत रहे, इसलिए प्रभात के समय एक घंटा लगाकर भी दंतमंजन करते हो । और तीसरा है - रंजन । रंजन का अर्थ है - मनोरंजन । मनोरंजन के लिए मनुष्य नये-नये प्रोग्राम बनाता है । कल रविवार का दिन है । इसलिए आज से ही कोई न कोई प्रोग्राम (कल के लिए) फिक्स कर लेता है, या कर रखा होगा । कल किस पिक्चर या नाटक को देखने जाना है ? अथवा चोपाटी या बगीचे में घूमने या सैर-सपाटा करने जाना है ? अथवा किसी पार्टी या

किन्हीं पार्टियों वगैरह के प्रोग्राम का आयोजन किया जाता है । ये और इस तरह के अनेक कार्यक्रम मनोरंजन के कार्यक्रम हैं ।

जरा गहराई से सोचिए - ये (उपर्युक्त) अंजन, मंजन और रंजन तो शरीर के लिए है । आत्मा के लिए अंजन, मंजन और रंजन कौन-कौन-से हैं । ज्ञान आत्मा का अंजन है । ज्ञानीरूपी 'अंजन' आंजने से अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है, या उसका ह्रास हो जाता है और सम्यक् ज्ञान से बढ़ता है - आत्मा का प्रकाश । जैसे किसी मनुष्य की आँखों में मोतियाबिंद हो तो वह देख नहीं सकता या धुंधला देखता है । मोतियाबिंद उतार दे तो या (ओपरेशन आदि के जरिए से) निकाल देने पर आँख से भलीभांति देख सकता है । वैसे ही मिथ्यात्व का मोतियाबिंद निकाल देने या उतार देने पर सम्यग्ज्ञान का अंजन अंजे तो दृष्टि खुल जाती है । शास्त्र का ज्ञान जितना अधिक होगा और फिर उस पर चिन्तन-मनन-उहापोह करेंगे, उतना ही अज्ञान दूर होगा और ज्ञान का प्रकाश होने से आत्मा तेजस्वी बनेगी । आत्मा को प्रकाश तो आँख में अंजन आंजने से नहीं मिलेगा, शास्त्रज्ञान से ही आत्मा को प्रकाश मिलेगा । मंजन से तात्पर्य है - दर्शन । दर्शन आत्मा का मंजन है । दर्शन का अर्थ है - सम्यक्त्व सही दृष्टि या श्रद्धा। दंतमंजन करने से तो दातों की शुद्धि होती है । आत्मा का दंजमंजन है - सम्यक्त्व या श्रद्धा अथवा दर्शन का मज्जन । सम्यक्त्व का मज्जन करने से उसमें जो शंका, कांक्षा या विचिकित्सा, भ्रान्ति, संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय आदि दोष दूर हो जाते हैं । सामायिक में अविवेक, यशःकीर्ति, लाभार्थी, गर्व, भय, निदानार्थी, संशय, रोष, अबहुमान, ये दशविध मन के दोष भी दूर हो जाते हैं तथा सम्यक्त्व का मंजन (अथवा मज्जन-शुद्धिकरणः करने से सम्यक्त्व के शंका, कांक्षादि ८ दोष दूर होकर सम्यक्त्व के ८ गुण (निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्स, अमूढदृष्टि उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना) प्रकट हो जाते हैं । वीतराग-प्रभु के वचनों पर श्रद्धा दृढ़ हो जाती है । मनुष्य चाहे जितनी धर्म-क्रियाएँ करे, जबतक श्रद्धा नहीं है, सही समझ या दृष्टि नहीं है, तबतक आत्मा को जो लाभ होना चाहिए, वह नहीं होता । इसलिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "दर्शनरूपी मंजन लेकर सर्वप्रथम मिथ्यात्वरूपी सड़ान नाबूद करो ।" सम्यग्दर्शन मुक्ति-मंजिल की नींव है । किसी भी इमारत को सुदृढ़ बनानी हो, तो सर्वप्रथम उसकी नींव मजबूत बनानी होगी । नींव मजबूत नहीं होगी तो जरा-भी आंधी, तूफान या झंझावात के आते ही वह हिल जाएगा, धराशायी हो जाएगा, बम आदि के प्रहार से टूटकर गिर पड़ेगा । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन की नींव जितनी मजबूत होगी, उतना ही अधिक लाभ आत्मा होगा । अतः सर्वज्ञ आप्त पुरुषों के वचन पर दृढ़ दर्शन को बनाओ । इस मंजन जैसा दूसरा कोई मंजन नहीं है ।

`.ꟷ.ꟷ.ꟷ.`

आत्मा का रंजन चारित्र है । चारित्र आत्मा के निज गुणों में रमणता कराकर आत्मानन्द का अनुभव कराता है । तुम मनोरंजन के लिए चाहे जितने कार्यक्रमों (प्रोग्रामों) का आयोजन करो, ये प्रोग्राम घड़ी-दो घड़ी तक के होते हैं । तुम नाटक-सिनेमा देखने जाते हो, वहाँ कितने स्थिर और एकाग्र हो जाते हो ? तीन घंटों का शो पूरा न हो, वहाँ तक तुम्हारी कमर नहीं दुखती । मन कहीं अन्यत्र नहीं दौड़ता, आँख का खिंचाव नहीं होता । बहुत ही रसपूर्वक तुम पर्दे के सामने देखते हो । आँखें थकती नहीं, माथा दुखता नहीं, बेचैनी नहीं होती । किन्तु इससे भी अधिक रुचिकर, मनोरम्य नाटक देवलोक में जहाँ तुम गये होओगे, वहाँ देखे होंगे । यहाँ के नाटक देवलोक के नाटक के आगे कुछ भी नहीं है । फिर भी जीव को कितना रस है ? कितनी दिलचस्पी है, यहाँ के नीरस, आत्मा के लिए अहितकर, वासनावर्धक दृश्यों को देखने और घटिया मनोरंजन करने में ? कभी सोचा है, ऐसे अश्लील दृश्यों को तथा विकार एवं वासनावर्धक चेष्टाओं को देखकर कामोत्तेजक गाने तथा शब्द सुनकर मनोरंजन करते हुए आत्मा ने कितनी भव (जन्म-मरण) की परम्परा बढ़ाई है ? इस जीव ने अनादिकाल से पाँच इन्द्रियों और मन का रंजन करने में अपनी शक्ति और साधनों का सदुपयोग करने के बदले दुरुपयोग ही अधिक किया है । वस्तुतः आत्मा का रंजन करने के लिए इनका उपयोग बहुत ही कम या नहींवत् किया है । आत्मा को कर्म से मुक्त करने के पुरुषार्थ को छोड़कर संसार-सुख की प्राप्ति के लिए जो पुरुषार्थ होता है, वह सब मिथ्या पुरुषार्थ है । उससे आत्मा राजी नहीं होता । आत्मा को तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की रमणता में आनन्द आता है ।

जैसे अग्नि में तीन गुण रहे हुए हैं - प्रकाशत्व, दाहकत्व और पाचकत्व । अग्नि में प्रकाश है, जलाने की और अन्न को पकाने-पचाने की शक्ति है, इसी प्रकार आत्मा के तीन गुण हैं - ज्ञान, दर्शन, चारित्र । ज्ञान-गुणरूपी प्रकाशकत्व है आत्मा में । इस गुण से अज्ञानरूपी अन्धकार दूर होने पर ज्ञान गुण से आत्मा प्रकाशित होता है । दर्शनगुण में दाहकत्व है । उससे संशयरूपी दोष जल जाते हैं । आत्मा शुद्ध होती है । तीसरा चारित्रगुण पाचकत्व है । इससे जीव शास्त्रवचनों को पचाता है, तत्त्वों के ज्ञान को हजम करता है और कितनी ही विपरीत परिस्थिति आए, विपत्ति या व्याधिआए, वह सिद्धान्तों को जीवन में पचा-रमा लेता है । जिसके जीवन में ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी अंजन, मंजन और रंजन ये तीनों गुण विकसित हो चुके हैं, ऐसे श्री मल्लिनाथ अरिहन्त भगवान् ने दीक्षा अंगीकार करने का निर्णय किया है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

वैश्रमणदेव ने शक्रेन्द्र महाराज से कहा - "आपकी आज्ञानुसार सब कार्य व्यवस्थित-रूप से हो गया है ।" यह जानकर शक्रेन्द्र महाराज को बहुत प्रसन्नता हुई । देवों द्वारा

अर्थ-सम्पदा भण्डार में रख दिये जाने के बाद मल्लिनाथ भगवान् किस त
हैं ? इससे सम्बद्ध शास्त्रपाठ का भावार्थ इस प्रकार है -

तत्पश्चात् मल्लिनाथ अरिहन्त भगवान् प्रतिदिन प्रातःकाल से प्रारम्भ क
दोपहर तक बहुत-से सनाथ यानि नाथ-सहित लोगों को, अनाथ-रंक,
जिसका कोई न हो, नगरी के ऐसे निराधार लोगों को, पांथिक-निरन्त
चलनेवाले पथिकों को, मार्ग में चलनेवालों को किसी न किसी प्रयोज
हुए मनुष्यों को, करोटिक-कपाल-सकोरा हाथ में लेकर भिक्षा मांगने
भार उठाकर अमुक पैसा मजदूरी का ठहराकर मजदूरी करनेवालों को क
कंथा, कोपीन या भगवा वस्त्र धारण करनेवालों को, कायटिक-कपट
मांगनेवालों को, अथवा एक प्रकार के कापड़ी भिक्षुओं आदि को प्रतिदिन
८ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान देने लगे ।

इस सम्बन्ध में दो मत हैं । दूसरी किसी प्रति में ऐसा वर्णन है कि तीर्थं
मनुष्य को प्रतिदिन एक-एक मुट्ठी भरकर स्वर्ण-मुद्राएँ देते हैं । किन्तु जि
में जितना होता है, उतना उसे मिलता है । भगवान् को तो किसी के प्रति राग
के प्रति द्वेष नहीं था । इसलिए वे तो सबको एक सरीखा मुट्ठी भरकर देते
किसी के भाग्य में कम हो और अधिक जाए तो देव उस द्रव्य को (चुप
कर देते थे । अथवा किसी के भाग्य में अधिक हो, किन्तु कम जाए तो
शक्ति से उसे बढ़ा देते थे । ये जो स्वर्ण-मुद्राएँ तीर्थंकर दान में देते थे, वह
प्रदत्त द्रव्य होता है और वे प्रतिदिन १ करोड़ ८ लाख स्वर्ण-मुद्राएँ दान मे
पूरी द्रव्यराशि एक वर्ष में दान में देते-देते पूरी हो जाए, इतनी थी । इस
अपने पिता के भण्डार में रहे हुए द्रव्य का भी दान देते थे ।

जिसके घर में ऐसे तीर्थंकर-प्रभु जन्मे हों, उनके माता-पिता को कित
आनन्द होता है ! अपनी पुत्री के लिए देव जब इतना द्रव्य दान के लिए
स्वयं भी अपने भण्डार में से मुक्तहस्त से दान देते हैं । मल्लि अरिहन्त-प्रभु
हस्त से याचकों को स्वर्ण-मुद्राएँ दान देते हैं । उनके पिताजी ने क्या कहा -
*से कुंभएराया मिहिलाए रायहाणीए तत्थ तथ्य तहिं तहिं दे
बहुओ महाणस सालाओ करेंति ।"* तदनन्तर कुम्भकराजा ने
राजधानी में दूसरे उपनगरों में तथा अन्य मोहल्लों आदि विभागों में, बड़े-
में, दूसरे अनेक स्थानों में तथा त्रिक (तिराहों) में, चतुष्क (चौराहों) में, अथव
के आकार के रास्ते इकट्ठे होते हों वहाँ ऐसे विभागों में, स्थान-स्थान पर
शालाएँ स्थापित कराई, तथा उनमें भोजन बनानेवाले रसोइये रखे गए ।
अशन, पान, खादिम और स्वादिम यों चारों प्रकार का आहार विपुल

बनाते थे। उसके बदले में उनको तथा उनके सहकर्मी मनुष्यों को भोजनशाला में से भोजन मिलता था और रसोई करनेवाले रसोइयों को वेतन भी मिलता था।

चारों प्रकार का आहार तैयार करके वहाँ जो याचक आते थे, उन सबको वे रसोइए अच्छी तरह भोजन कराते थे। इस बात का पता लगते ही मार्ग में चलनेवाले भूखे पथिक, खप्परधारी भिक्षुक, पाखंडी धर्म का आचरण करनेवाले पाखंडिक, गरीब, भगवां वस्त्रधारी भिक्षुक, कंथाधारी, मजदूरी करके पेट भरनेवाले मजदूर लोग तथा भिक्षु या गृहस्थ, फिर वे चाहे जिस पंथ के हों, भोजनशालाओं में आने लगे। उन सबको सुखासन पर बिठाकर, थोड़ी देर विश्राम देकर पुष्कल मात्रा में बनाया हुआ आहार वितरित किया जाता था। तथा वहाँ किसी प्रकार का भेदभाव या पक्षपात के बिना रसोइए उन्हें अच्छी तरह भोजन प्रोसकर प्रेम से भोजन कराते थे। जिन्हें भोजन घर ले जाना हो, वे ले जाते, जिन्हें वहीं जीमना हो, वे वहीं जीम लेते। सब प्रकार की छूट रखी गई थी।

देवानुप्रियों ! यह समय कैसा और कितना मंगलकारी प्रतीत होता होगा ? मल्लिनाथ-प्रभु स्वर्ण-मुद्राओं का दान देते हैं और मिथिला नगरी में स्थान-स्थान पर भोजनशालाएँ खोली गई हैं। हजारों लोग दान लेने आते हैं, भोजन करने आते हैं। इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। गरीब लोग तो सुखी हो गए। तीर्थकर-प्रभु के हाथ से दान लेने के लिए धनवान, निर्धन सभी आते हैं। जैसे-जैसे लोगों को इस बात की जानकारी मिली, वैसे-वैसे लोग मिथिला नगरी में आने लगे। चार गलियों के चौक में जगह-जगह नगर-जनों के टोले के टोले इकट्ठे होकर आश्चर्य-पूर्वक एक-दूसरे को समझाने लगे, तथा दृष्टान्त देकर वर्णन करने लगे कि 'अहो ! देवानुप्रियों ! कुम्भकराजा के महल में सर्वेन्द्रिय-सुखकारक अशन, पान, खाद्य और स्वाद्यरूप चारों प्रकार का आहार अनेक श्रमणों, ब्राह्मणों (माहनों), समागतों, अभ्यागतों सनाथों, अनाथों और पथिकों को इच्छानुसार दिया जाता है। सारी नगरी में दान की बात के सिवाय और कोई बात सुनने में नहीं आती। लोग मल्लिनाथ भगवान् के तथा उनके पिता कुम्भकराजा के मुक्त-कण्ड से बखान करने लगे -

"वरवरिया वो रिज्जंति किमिच्छियं दिज्जए बहुविहीयं।
सुर-असुर-देव-दाणव-नरिंद-महियाण निक्खमणे ॥"

सुर = वैमानिक देव, असुर-भवनपति देव, ज्योतिषी देव, दानव, व्यन्तर देव और नरेन्द्र यानी चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि राजाओं में पूजनीय तीर्थकर भगवन्तों की दीक्षा के अवसर पर - 'वरदान मांगो, वरदान मांगो,' इस प्रकार की घोषणा की जाती है। उसे वरवरिका कहा जाता है। तथा अनेक प्रकार का किमिच्छक = तुम्हारी क्या इच्छा है ?, यों पूछकर उसकी इच्छानुसार दान दिया जाता है। इसे किमिच्छित दान कहा जाता है।

कुम्भकराजा सबको भोजन कराते हैं, उसमें कितनी अधिक सुविधा है कि जिसे वहीं जीमना हो, वह वहाँ जीम ले और जिसे ले जाना हो, वह ले जाए। सब तरह की छूट है। इससे सारी नगरी में आनन्द-आनन्द हो रहा है। इस समय मल्लिनाथ भगवान् ने एक वर्ष में कुल ३ अरब, ८८ करोड़ और ८० लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान, यानि इतनी अर्थ-सम्पदा का दान देकर मैं दीक्षा ग्रहण करूँगा, इस प्रकार मन में स्पष्ट रूप से विचार किया। अब दूसरे देव अपने आचार के अनुसार क्या करेंगे, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

कृष्णजी का रक्त उबल उठा : प्रद्युम्नकुमार ने जब श्रीकृष्णजी से कहा - "क्यों थक गए क्या ?" इन वचनों को सुनकर कृष्णजी को 'नख से लेकर शिख' तक ज्वाला जैसी लग गयी। 'क्या यह पापी मुझे कायर समझता है ?' अतः क्रोध के आवेश में आकर बाण पर बाण बरसाने लगे। प्रद्युम्नकुमार अर्धचन्द्र बाण से उनके बाण को अधबीच में से काट डालने लगा। यह देखकर कृष्णजी क्रोध से झल्ला उठे और रथ से नीचे उतरे और मल्लयुद्ध करने के लिए तैयार हुए।

पिता-पुत्र के बीच रहस्य का पर्दा उठ जाने से हर्षाश्रु उमड़े : यह सब दृश्य देखकर रुक्मिणी का हृदय कांप उठा। "नारदजी ! आप जल्दी जाइए और पिता-पुत्र के बीच हो रहे युद्ध को बंद कराइए।" नारदजी तुरन्त कृष्णजी के पास आए और बोले - "त्रिखण्डाधिपति ! आप किसके साथ लड़ रहे हैं ? आपको पता नहीं है कि यह कौन है ?" कृष्ण बोले - "पता है, यह मेरा दुश्मन है।" "अरे, अरे कृष्णजी ! यह आपका दुश्मन नहीं है, किन्तु अनेक विद्याओं को सिद्ध करके पिता के चरणों में नमस्कार करने हेतु आया हुआ यह आपका वात्सल्यपात्र, सोलह वर्षों बाद आया हुआ पुत्र प्रद्युम्नकुमार है !" यह शब्द सुनते ही कृष्णजी हर्ष से नाचने लगे। बोले - "हैं क्या मेरा पुत्र ऐसा बलवान है ? इतना समर्थ शक्तिमान है ?" यों कहकर तुरंत सारे हथियार भूमि पर रख दिये। यह दृश्य देखते ही प्रद्युम्नकुमार दौड़कर पिता (श्रीकृष्ण) के चरणों में गिर पड़ा। पिता ने पुत्र को हाथों में उठा लिया और हर्षाश्रुओं से उसे भिगो दिया। इस समय नारदजी ने कृष्णजी से कहा - "अब आप वात्सल्यपात्र प्रिय पुत्र को लेकर नगर में प्रवेश करिए।" इसे सुनकर कृष्णजी की आँख से टप-टप आंसू गिर पड़े। उन्होंने कहा - "नारदजी ! पुत्र को मिलने का जितना आनन्द है, साथ ही मुझे अपने भाइयों और परिवार के लोगों की मृत्यु से दिल में लगा उतना आघात भी है। अतः अब मैं किस मुख से गाँव में प्रवेश करूँ ?"

बनाते थे । उसके बदले में उनको तथा उनके सहकर्मी मनुष्यों को भोजनशाला में से भोजन मिलता था और रसोई करनेवाले रसोइयों को वेतन भी मिलता था ।

चारों प्रकार का आहार तैयार करके वहाँ जो याचक आते थे, उन सबको वे रसोइए अच्छी तरह भोजन कराते थे । इस बात का पता लगते ही मार्ग में चलनेवाले भूखे पथिक, खप्परधारी भिक्षुक, पाषंडी धर्म का आचरण करनेवाले पाषंडिक, गरीब, भगवां वस्त्रधारी भिक्षुक, कंथाधारी, मजदूरी करके पेट भरनेवाले मजदूर लोग तथा भिक्षु या गृहस्थ, फिर वे चाहे जिस पंथ के हों, भोजनशालाओं में आने लगे । उन सबको सुखासन पर बिठाकर, थोड़ी देर विश्राम देकर पुष्कल मात्रा में बनाया हुआ आहार वितरित किया जाता था । तथा वहाँ किसी प्रकार का भेदभाव या पक्षपात के बिना रसोइए उन्हें अच्छी तरह भोजन परोसकर प्रेम से भोजन कराते थे । जिन्हें भोजन घर ले जाना हो, वे ले जाते, जिन्हें वहीं जीमना हो, वे वहीं जीम लेते । सब प्रकार की छूट रखी गई थी ।

देवानुप्रियों ! यह समय कैसा और कितना मंगलकारी प्रतीत होता होगा ? मल्लिनाथ-प्रभु स्वर्ण-मुद्राओं का दान देते हैं और मिथिला नगरी में स्थान-स्थान पर भोजनशालाएँ खोली गई हैं । हजारों लोग दान लेने आते हैं, भोजन करने आते हैं । इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई । गरीब लोग तो सुखी हो गए । तीर्थंकर-प्रभु के हाथ से दान लेने के लिए धनवान, निर्धन सभी आते हैं । जैसे-जैसे लोगों को इस बात की जानकारी मिली, वैसे-वैसे लोग मिथिला नगरी में आने लगे । चार गलियों के चौक में जगह-जगह नगर-जनों के टोले के टोले इकट्ठे होकर आश्चर्य-पूर्वक एक-दूसरे को समझाने लगे, तथा दृष्टान्त देकर वर्णन करने लगे कि 'अहो ! देवानुप्रियों ! कुम्भकराजा के महल में सर्वेन्द्रिय-सुखकारक अशन, पान, खाद्य और स्वाद्यरूप चारों प्रकार का आहार अनेक श्रमणों, ब्राह्मणों (माहनों), समागतों, अभ्यागतों सनाथों, अनाथों और पथिकों को इच्छानुसार दिया जाता है । सारी नगरी में दान की बात के सिवाय और कोई बात सुनने में नहीं आती । लोग मल्लिनाथ भगवान् के तथा उनके पिता कुम्भकराजा के मुक्त-कण्ठ से बखान करने लगे -

"वरवरिया घो सिज्जंति किमिच्छियं दिज्जए बहुविहीयं ।
सुर-असुर-देव-दाणव-नरिंद-महियाण निक्खमणे ॥"

सुर = वैमानिक देव, असुर-भवनपति देव, ज्योतिषी देव, दानव, व्यन्तर देव और नरेन्द्र यानी चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि राजाओं में पूजनीय तीर्थंकर भगवन्तों की दीक्षा के अवसर पर - 'वरदान मांगो, वरदान मांगो,' इस प्रकार की घोषणा की जाती है । उसे वरवरिका कहा जाता है । तथा अनेक प्रकार का किमिच्छिक = तुम्हारी क्या इच्छा है ?, यों पूछकर उसकी इच्छानुसार दान दिया जाता है । इसे किमिच्छित दान कहा जाता है ।

कुम्भकराजा सबको भोजन कराते हैं, उसमें कितनी अधिक सुविधा है कि जिसे वहीं जीमना हो, वह वहाँ जीम ले और जिसे ले जाना हो, वह ले जाए । सब तरह की छूट है । इससे सारी नगरी में आनन्द-आनन्द हो रहा है । इस समय मल्लिनाथ भगवान् ने एक वर्ष में कुल ३ अरब, ८८ करोड़ और ८० लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान, यानि इतनी अर्थ-सम्पदा का दान देकर मैं दीक्षा ग्रहण करूँगा, इस प्रकार मन में स्पष्ट रूप से विचार किया । अब दूसरे देव अपने आचार के अनुसार क्या करेंगे, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

कृष्णजी का रक्त उबल उठा : प्रद्युम्नकुमार ने जब श्रीकृष्णजी से कहा - "क्यों थक गए क्या ?" इन वचनों को सुनकर कृष्णजी को 'नख से लेकर शिख' तक ज्वाला जैसी लग गयी । 'क्या यह पापी मुझे कायर समझता है ?' अतः क्रोध के आवेश में आकर बाण पर बाण बरसाने लगे । प्रद्युम्नकुमार अर्धचन्द्र बाण से उनके बाण को अधबीच में से काट डालने लगा । यह देखकर कृष्णजी क्रोध से झल्ला उठे और रथ से नीचे उतरे और मल्लयुद्ध करने के लिए तैयार हुए ।

पिता-पुत्र के बीच रहस्य का पर्दा उठ जाने से हर्षाश्रु उमड़े : यह सब दृश्य देखकर रुक्मिणी का हृदय कांप उठा । "नारदजी ! आप जल्दी जाइए और पिता-पुत्र के बीच हो रहे युद्ध को बंद कराइए ।" नारदजी तुरन्त कृष्णजी के पास आए और बोले - "त्रिखण्डाधिपति ! आप किसके साथ लड़ रहे हैं ? आपको पता नहीं है कि यह कौन है ?" कृष्ण बोले - "पता है, यह मेरा दुश्मन है ।" "अरे, अरे कृष्णजी ! यह आपका दुश्मन नहीं है, किन्तु अनेक विद्याओं को सिद्ध करके पिता के चरणों में नमस्कार करने हेतु आया हुआ यह आपका वात्सल्यपात्र, सोलह वर्षो बाद आया हुआ पुत्र प्रद्युम्नकुमार है !" यह शब्द सुनते ही कृष्णजी हर्ष से नाचने लगे । बोले - "हैं क्या मेरा पुत्र ऐसा बलवान है ? इतना समर्थ शक्तिमान है ?" यों कहकर तुरंत सारे हथियार भूमि पर रख दिये । यह दृश्य देखते ही प्रद्युम्नकुमार दौड़कर पिता (श्रीकृष्ण) के चरणों में गिर पड़ा । पिता ने पुत्र को हाथों में उठा लिया और हर्षाश्रुओं से उसे भिगो दिया । इस समय नारदजी ने कृष्णजी से कहा - "अब आप वात्सल्यपात्र प्रिय पुत्र को लेकर नगर में प्रवेश करिए ।" इसे सुनकर कृष्णजी की आँख से टप-टप आंसू गिर पड़े । उन्होंने कहा - "नारदजी ! पुत्र को मिलने का जितना आनन्द है, साथ ही मुझे अपने भाइयों और परिवार के लोगों की मृत्यु से दिल में लगा उतना आघात भी है । अतः अब मैं किस मुख से गाँव में प्रवेश करूँ ?"

चलता । इसी प्रकार इस (मानव) जीवन के भी भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र के सिक्के भी अलग-अलग हैं । भोग-विलास, सौन्दर्य, साज-सज्जा और मनोरंजन आदि ये सब भौतिक क्षेत्र के सिक्के हैं । उनका मूल्य भौतिक क्षेत्र में होता है । आध्यात्मिक क्षेत्र में इन सिक्कों की कोई कीमत नहीं होती । भौतिक क्षेत्र के सिक्के मन को क्षणिक सुख देते हैं, पर उस सुख के पीछे दुःख की छाया घिरी हुई है । आध्यामिक क्षेत्र के सिक्के हैं - त्याग, वैराग्य, संयम, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, समता, निःस्पृहता, अनासक्ति, अहिंसा-सत्यादि व्रत और आत्म-संयम आदि । आध्यात्मिक क्षेत्र के इन सिक्कों का मूल्य भौतिक क्षेत्र के सिक्कों की अपेक्षा कई गुणा अधिक है । क्योंकि इन (आध्या.) सिक्कों के द्वारा मानव ऐसा अनुपम सुख प्राप्त कर सकता है, जो सुख कभी दुःख में परिणत नहीं होता । अतः जिसे आध्यात्मिक जगत् की यात्रा करनी हो और उससे आत्मा का अपूर्व आनन्द पाना हो, उसे इन (उपर्युक्त) सिक्कों को लेकर यात्रा करनी पड़ेगी । ये सिक्के बाजार में बिकते हुए नहीं मिलते । ये सिक्के तो आत्मा में ही निहित (रहे हुए) हैं । सम्यग्ज्ञान द्वारा इन सिक्कों को पहचानने और इनका मूल्यांकन करने की जरूरत है ।

एक भिखारी रत्नों के खजाने पर बैठा-बैठा भीख मांग रहा था । रास्ते पर आने-जानेवाले राहगिरों (पथिकों) के सामने हाथ जोड़कर गदगद् स्वर से कहता था - "ओ माई-बाप ! इस गरीब को ज्यादा नहीं तो कम से कम दो पैसे तो दो ।" वहाँ से होकर एक विद्या-सिद्ध पुरुष जा रहा था । उसने देखा कि यह भिखारी स्वयं रत्नों की निधि (खजाने) पर बैठा है - परन्तु उसे इसकी पहचान नहीं है, इस कारण वह (दूसरों से) भीख मांग रहा है । अतः उस सिद्धपुरुष ने भिखारी को हाथ पकड़कर उठाया और नीचे (वह बैठा था, वहाँ से) से खजाना खोलकर बताया और कहा - "अरे मूर्ख ! तू इतने बड़े खजाने का स्वामी (मालिक) है, फिर भी सब लोगों से भीख मांग रहा है ?"

बस, लगभग ऐसी ही दशा अपने आत्मा की हो रही है । आत्मा अनन्त सुख, शान्ति और आनन्द के खजाने का स्वामी होता हुआ भी सुख-सुख की पुकार करता है और भौतिक और आत्म बाह्य सुखों की भीख मांग रहा है । इस भौतिक एवं पौद्गलिक सुख के लिए वह चारों ओर भटकता है, मारा-मारा फिरता है । अरिहन्त भगवन्त तथा उनके उत्तराधिकारी निर्ग्रन्थ साधु-साध्वीगण, जिन्होंने तप-संयम द्वारा आत्मा को भावित कर लिया है, आत्मगुणों को हस्तगत कर लिया है, ऐसे सिद्ध साधक पुरुष उसे सावधान और जागृत करते हुए उससे कहते हैं - "ओ अज्ञानी मानव ! सुख, शान्ति और आनन्द का स्रष्टा तू स्वयं है, तेरी आत्मा में सुख-शान्ति-आनन्द का खजाना छिपा है, निहित है । तू सम्यक् पराक्रम करके उन्हें पा सकता है, तेरे पास सुख का खजाना होते हुए भी तू बाहर में सुख-सुख की पुकार करता

हुआ, सुख की भीख मांग रहा है। ऐसी स्थिति में तुझे सच्चा सुख कहाँ से मिल सकता है ? ज्ञानीपुरुष कहते हैं - "ऐ सुख-पिपासु जीव ! क्या तुझे सुख-सागर की यात्रा करनी है ? तो तू ऐसा कर, आधि, व्याधि और उपाधि, इन त्रिविध तापों (सन्तापों) से मुक्त बनने का प्रयत्न कर। आधि को शान्त करने के लिए मन को विशुद्ध, निर्मल और व्यथामुक्त बना, तथा व्याधि को शान्त करने के लिए तन और उससे सम्बद्ध मन, बुद्धि, चित्त, हृदय एवं वचन आदि को निर्मल, स्वस्थ एवं स्वच्छ रख। और उपाधि को शान्त करने के लिए व्यवहार शुद्ध रख। संसार के समस्त जीवों के साथ मैत्री, करुणा, प्रमोद और मध्यस्थ भावना से युक्त यथायोग्य व्यवहार करना, ताकि अशान्ति और दुःख पैदा न हों। यों त्रिविध तापरूपी उत्पात टल जाएगा तो तुम सुख-सागर की यात्रा आसानी से सफल कर सकोगे। यह यात्रा कैसी है ? यह यात्रा सुख, शान्ति और आनन्द देनेवाली है। इस यात्रा में दुःख, अशान्ति और मानसिक व्यथा का नाम-निशान नहीं है। इस यात्रा को सफल करना हो तो एक शर्त कबूल करनी होगी। वह शर्त यह है कि इस यात्रा में आधि, व्याधि और उपाधि की परछाई बिलकुल नहीं होनी चाहिए। इसमें चाहिए - मन की स्थिरता, वचन की निर्मलता और काया की पवित्रता तथा इस यात्रा में राग-द्वेष, कषाय, नोकषाय, ईर्ष्या, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, माया-मृषा, (दम्भ), मिथ्यात्व आदि विघ्नकारक, विकारोत्पादक आत्म-विकास-बाधक रिपुओं को साथ में नहीं लेना चाहिए। इसमें लेना चाहिए - क्षमा, दया, शील, सन्तोष, मैत्री आदि चारों भावना, विश्व के सर्व प्राणियों के प्रति वात्सल्य, शुद्ध प्रेम, निष्काम सेवा, बाह्याभ्यन्तर सम्यक् तप, ज्ञानादि रत्नत्रय, धैर्य, गाम्भीर्य आदि मित्रों को। ये और इस प्रकार के आत्महितैषी मित्र साथ में होंगे तो सुख-सागर की यात्रा सुख-शान्ति-आनन्दपूर्वक हो सकेगी। फिर संसार-रूपी धर्मशाला का सदा के लिए त्याग करके मोक्ष की मंजिल प्राप्त कर सकोगे। एक कवि के शब्दों में -

> यह जगत् धर्मशाला है, जन-कुटिया न्यारी-न्यारी है।
> हिल-मिल धर्म कमाओ तुम, जाना सबको अनिवार्य है॥

आप जानते-देखते हैं कि प्रत्येक धर्मशाला या मुसाफिरखाने में छोटे और बड़े अनेक कमरे होते हैं। कम पैसेवाले छोटे कमरे में और अधिक पैसेवाले धनवान बड़े कमरों में ठहरते हैं। यह संसार भी एक प्रकार से बड़ी धर्मशाला है, सराय है। जिसके पास पुण्य की पूंजी कम होती है, उसे कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि का अमनस्क क्षुद्र शरीर, अथवा दुःखमय, परवशता-युक्त एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का तिर्यंच योनि का शरीर मिलता है। इसके विपरीत जिसके पास पुण्य की पूंजी अधिक या पर्याप्त होती है, वह सुखमय मानव-शरीर को प्राप्त करता है। जैसे धर्मशाला, सराय या मुसाफिरखाने का नियम होता है कि उसमें ठहरनेवाला गरीब हो या अमीर सभी

थोड़े समय तक रहकर अपने-अपने घर या स्थान को चले जाते हैं। धर्मशाला या सराय, चाहे जितनी सुन्दर, सुखद व हवा-प्रकाशवाली हो, या समस्त सुविधावाली हो, फिर भी यात्री या मुसाफिर वहाँ हमेशा के लिए नहीं रहता, नहीं रह सकता है। इसी प्रकार यह आत्मारूपी यात्री या मुसाफिर भी, इस संसाररूपी धर्मशाला में जिस जीव का जितना-जितना आयुष्य होता है, उतने काल तक ठहरता है, आयुष्य पूर्ण होने के बाद नहीं ठहरता है, नहीं ठहर सकता है। आशय यह है कि इस संसाररूपी धर्मशाला में, आत्मारूपी यात्री का, चाहे कीड़े-मकोड़े का छोटा शरीर हो, अथवा तिर्यच पंचेन्द्रिय या मनुष्य का बड़ा शरीर हो, सभी प्राणी अपने-अपने आयुष्य के अनुसार अपने-अपने शरीर में रहते हैं। आयुष्य पूर्ण होने पर नहीं रहते, नहीं रह सकते हैं। फिर यहाँ से जिस शरीर में जाना हो, चले जाते हैं। किसी भी प्राणी का निवास इस संसाररूपी धर्मशाला में स्थायी नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि कीड़े-मकोड़े, पतंगे अथवा पशु-पक्षियों को तो यहाँ से जाना पड़े और पंचेन्द्रिय-विषय-सुख का उपभोग करनेवाले या आनन्द से रहनेवाले मानव को यहाँ से नहीं जाना पड़े, यहाँ हमेशा के लिए वह रहे या रह सके, ऐसा कदापि नहीं होता। सबको अपना आयुष्य पूरा होते ही यहाँ से आगे कूच करना होता है। कोई भी प्राणी इस संसाररूपी धर्मशाला में सदा के लिए टिककर नहीं रहता, नहीं रह सकता है।

प्रत्येक धर्मशाला या सराय में तीन-चार दिन या अमुक समय तक यात्री को रहने दिया जाता है। उसके नियमानुसार समय पूरा होने पर भी यात्री रूम खाली न करे, वहाँ से जाए नहीं तो उसका बिस्तर, पोटला, गठड़ी आदि उठाकर बाहर फेंक दिये जाते हैं। यही स्थिति संसाररूपी धर्मशाला में शरीररूपी रूम में रहे हुए आत्मा की है। जीव जितना आयुष्य लेकर आया है, उतना समय पूरा हो जाता है, तब कालरूपी चौकीदार उसे शरीररूपी रूम से बाहर निकाल देता है। धर्मशाला में जैसे सभी पथिकों के लिए एक-सरीखा नियम होता है, वैसे ही संसाररूपी धर्मशाला के जीवरूपी यात्रियों के लिए भी समान नियम होता है। अथवा जितने दिन के लिए जिस जीव को यह शरीररूपी रूम मिली है, उतने दिवस पूरे होने पर वह रूम छोड़नी पड़ती है। कालरूपी चौकीदार इतना जबर्दस्त है, कि उसके आगे नहीं चलती राजाओं की राजसत्ता, नहीं चलता बड़ी सेना का सैन्यबल, नहीं चलती वैद्यों और चिकित्सकों की वैद्यक विद्या। वे औषधबल नहीं चलती, डोक्टरों की दवा नहीं चलती, हकीमों की हकीमी नहीं काम आती, माथेरान के बंगले की हवा, नहीं चलता है ज्योतिषियों का ज्योतिष, नहीं चलता मंत्रविदों-तंत्रविदों का मंत्र-तंत्र बल, नहीं चलता भुवाओं का रोष, नहीं चलता अमलदारों का रौब, दबाव, नहीं चलता वकीलों और बैरीस्टरों का घड़ाघड़ाया जवाब, नहीं चलती गवैयों की गायनकला, नहीं चलती कवियों की काव्यकला, नहीं चलती गणितज्ञों की गणनकला, नहीं चलती साहित्याचार्यों की

ाहित्य सम्पादनकला, नहीं चलती बादशाहों की बादशाही, या अमीरों की अमीरी, ी बात की एक बात है, कालरूपी चौकीदार के आगे किसी की सिफारिश, रिश्वत । चापलूसी आदि कुछ भी नहीं चलती, उसके सामने जोर-जबर्दस्ती करके भी कोई ़ नहीं सकता ।

अपनी बात चल रही है धर्मशाला के यात्री की । धर्मशाला में जो यात्री ठहरते , वे स्वयं धर्मशाला को छोड़कर अपने घर चले जाने के लिए तैयार होते हैं । न्तु इस संसाररूपी धर्मशाला में शरीररूपी रूम में जो यात्री आकर रहते हैं और यहाँ सार-सुख में रचेपचे रहते हैं, वे अपने मूल घर मोक्षनगर को याद नहीं करते, न ही हाँ जाने का प्रयत्न करते हैं । अन्त में, नतीजा यह होता है कि आयुष्य पूरा होते ही ालरूपी चौकीदार द्वारा उसे इस शरीररूपी रूम में से बाहर निकलना ही पड़ता । तत्पश्चात् मोक्षरूपी घर का मार्ग नहीं जानने से, अथवा मोक्षतत्त्व का स्वरूप ानने पर भी तदनुरूप साधना नहीं करने से, प्रमाद में पड़े रहने से उसे फिर चार तियों में परिभ्रमण करना पड़ता है । अधिक क्या कहूँ ? यह जीवरूपी यात्री जितना ितना पुण्यरूपी धन पूर्व भव से लेकर आया था, उसे प्रमाद मौज-शौक में खर्च र डालता है और फिर जब यहाँ से जाना पड़ता है, तब धर्मरूपी धन की कमाई नहीं रने के कारण वह धर्मधन के अभाव में बिलकुल कंगाल बन जाता है । उसके लिए क्षनगर बहुत दूर होने के कारण तथा गाड़ी भाड़े का पैसा (धर्मरूपी धन) नहीं होने कारण वह विविध योनियों में भटकता है ! जिसके पास द्रव्य-धन नहीं होता, ऐसे ीब आदमी को बस या रेल्वे में बैठने की जगह नहीं मिलती । कदाचित् बिना टिकट ये वह चोरी-छिपे बैठ भी जाए तो उसे किसी भी स्टेशन पर उतार दिया जाता । पैसे के अभाव से एक छोटी-सी मुसाफिरी भी नहीं हो सकती, तो फिर धर्मरूपी न के अभाव में आत्मा की मोक्ष तक की लम्बी यात्रा कैसे हो सकेगी ? इसीलिए नी- पुरुष कहते हैं - "तुम धर्मरूपी धन की कमाई कर लो । क्योंकि यहाँ से जाना जरूर पड़ेगा । अगर धर्मरूपी धन साथ में नहीं होगा तो अपने (आत्मा के) मोक्षरूपी र में कैसे पहुँचा जा सकेगा ? धर्माचरण करने से जीव मोक्षनगर की यात्रा की कट प्राप्त कर सकता है ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

जिन्हें मोक्षनगर की तमन्ना है, ऐसे अरिहन्त मल्लिनाथ भगवान् को दान देते हुए क वर्ष पूरा होने आया है । अब मल्लिनाथ भगवान् दीक्षा लेने की तैयारी कर है । लोकान्तिक देव अपनी परम्परानुसार मल्लिनाथ भगवान् को सम्बोधित करने ाते हैं । वे लोकान्तिक देव कौन हैं, कैसे हैं, कहाँ रहते हैं, कैसे आते हैं ? कितने कार के हैं ? इत्यादि वर्णन शास्त्रानुसार सुनिए -

ये लोकान्तिक देव पंचम कल्योपपन्न देवलोक में रहते हैं ।
स्थित अरिष्टनामक विमान के पाथड़े में अपने-अपने विमानों में बने
में, पृथक्-पृथक् चार हजार सामानिक देवों के साथ, तीन-तीन परि
सात-सात अनीकों (सैन्यों) के साथ, सात-सात अनीकाधिपतियों
सोलह हजार आत्मरक्षक देवों के साथ, तथा दूसरे भी लोकान्तिक
महयाहय-नट्ट-गीय-वाइय जाव रवेणं भुंजमाणा विहे
बहुत जोर से बजाये जाते हुए तंत्री, तल, ताल, त्रुटिक, धन, मृदं
नृत्य तथा गीतों की अप्रतिहत ध्वनि सुनते हुए दिव्य भोगों का उप
हैं । उन लोकांतिक देवों के नव भेद इस प्रकार हैं --

सारस्सय माइच्चा वण्ही वरुणा य गद्दतोया
तुसिया अव्वाबाहा अग्गिच्चा चेवरिट्ठा

(१) सारस्वत, (२) आदित्य, (३) वह्नि, (४) वरुण (अरुण), (५
तुषित (७) अव्याबाध, (८) आग्नेय और (९) अरिष्ट (रिष्ट) ।

तत्पश्चात् उन लोकान्तिक देवों में से प्रत्येक के आसन चलायम
उन्होंने अवधि-ज्ञान का उपयोग लगाकर देखा तो मालूम हुआ कि म
भगवान् दीक्षा लेना चाहते हैं । जब उन्होंने मल्लिनाथ अरिहन्त के
संकल्प को जाना तो विचार किया - दीक्षा लेने की इच्छा करनेवाले
सम्बोधन करना हमारी आचार-प्रणाली है । अतः हम जाएँ और अरि
को सम्बोधन करें । ऐसा लोकान्तिक देवों ने विचार किया । अर्थात्
प्रकार से सम्बोधन करना है - 'हे भगवान् ! आपके दीक्षा लेने का
है ।' इत्यादि । अतः हम भी वहाँ जाकर मल्लिनाथ अरिहन्त को सम्बो

बन्धुओं ! आज मनुष्य को देवी-देव को प्रसन्न करने के लिए कि
भक्ति व साधना करनी पड़ती है ? कई लोग श्मशानभूमि में जाकर देव
आराधना करते हैं । तब बड़ी मुश्किल से वे देव प्रसन्न होते हैं । ज
मल्लिनाथ को तो कुछ करना नहीं पड़ता है । देव स्वयं चलकर उनके
आएँगे । अतः विचार करिए, भगवान् के पुण्य कितने प्रबल होंगे ?

नव लोकान्तिक देव मल्लिनाथ भगवान् को सम्बोधित करने के
में आने के लिए तैयार हुए । वे सब लोकान्तिक देव उत्तर और पूर्व

* तीर्थंकर के संकल्प के कारण देवों का आसन चलायमान होना अ
घटना नहीं रही । परामनोविज्ञान के अनुसार आज वैज्ञानिक विकास के युग
सुसम्भव है । इससे तीर्थंकर के अतीव सुदृढ़ और तीव्रतर संकल्प का अनु

में ईशान कोण (विदिशा) में गए । वहाँ जाकर उन्होंने वैक्रिय समुद्घात से उत्तर वैक्रिय रूप की विकुर्वणा की । देव मर्त्यलोक में आते हैं, तब वैक्रिय रूप में आते हैं, मूल (असली) रूप में नहीं आते । ये देव (लोकान्तिक देव) उत्तर-वैक्रिय रूप करके त्वरित गति से जृम्भक देवों की तरह जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में जहाँ मिथिला-राजधानी थी, तथा जहाँ कुम्भकराजा का महल था, जहाँ मल्लिनाथ अरिहन्त भगवान् विराजमान थे, वहाँ आकाश में अध्धर खड़े रहे । इस समय देवों ने पाँच वर्णो के श्रेष्ठ जरी के वस्त्र पहने हुए थे । उन वस्त्रों में छोटी-छोटी घूघरियाँ टांकी हुई थीं । उन्होंने दिव्य आभूषण पहने हुए थे । ऐसे वस्त्राभूषणों से सुशोभित और घूघरियों के चमक से रूमझुम करते हुए देवों ने आकाश में अध्धर खड़े रहकर दोनों हाथों की अंजली बनाकर मस्तक पर रखकर वहीं से ही तीर्थकर मल्लिनाथ भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया । तत्पश्चात् उन्होंने सम्बोधन किया -❑

"ताहिं इट्ठाहिजाव वग्गूहिं एवं वयासी - बुज्झाहिं भयवं लोग नाहा ! पवत्तेहिं धम्मतित्थं, जीवाणं हिय-सुय-निस्सेयकरं भविस्सइ ।"

उन इष्ट यावत् कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, अतिमनोहर एवं मधुर वचनों से (उनके परम्परागत आचार के कारण) लोकान्तिक देव इस प्रकार बोले - "हे लोक के नाथ ! हे भगवन् ! बोध पाओ ! (भव्यजीवों को बोध दो) चतुर्विध संघरूप धर्मतीर्थ प्रवृत्त (स्थापित) करो । वह धर्मतीर्थ भव्यजीवों के लिए हितकारक, सुखकारक और निःश्रेयसकारक (मोक्षकारक) (कल्याणकारक) होगा । धर्मतीर्थ की स्थापना होने पर अनेक भव्य जीवबोध (ज्ञान) पाकर नरक और निगोद के दुःखों से मुक्त होकर कल्याण करेंगे । वह धर्मतीर्थ लोगों को स्वर्ग और मोक्ष का आनन्द देनेवाला होने से सुखकर होगा । तथा मोक्ष प्राप्त करने का कारण होने से वह धर्मतीर्थ भव्यजीवों के लिए कल्याणकारी होगा ।" इस प्रकार कहकर उन देवों ने दूसरी बार और तीसरी बार भी इस प्रकार कहा (विनती की) । इस प्रकार सम्बोधन करके उन्होंने अरिहन्त मल्लिनाथ भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया । वन्दन-नमस्कार करके वे जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में अपने स्थान पर वापस लौट गए ।

इसके पश्चात् अरिहन्त मल्लिनाथ जहाँ अपने माता-पिता थे, वहाँ आए । वहाँ आकर उन्होंने सर्वप्रथम अपने माता-पिता के चरणों में नमस्कार करके कहा -

---

❑ यद्यपि तीर्थकर स्वयंबुद्ध होते हैं, उन्हें किसी अन्य से बोध प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, तथापि लोकान्तिक देव अपना परम्परागत आचार समझकर आते हैं । उनका प्रतिबोध या सम्बोध करना वस्तुतः तीर्थकर भगवान् के वैराग्य की प्रशंसा करना होता है । यही कारण है कि तीर्थकर का दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प पहले होता है, लोकान्ति... बाद में आते हैं .- सं.

"इच्छामिणं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाह मुंडं भवित्ता जाव पव्वइत्तए"

"हे माता-पिता ! मैं आपसे आज्ञा प्राप्त करके मुण्डित होकर आगार धर्म से अनगार धर्म में (यानि गृहत्याग करके अनगार धर्म की) दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ ।" मल्लि अरिहन्त के मुख से यह बात सुनकर उनके माता-पिता ने उनसे कहा -

"जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह !"

"हे देवानुप्रिये ! तुम्हें जैसा सुख हो, (जिस सत्कार्य से तुम्हें सुख प्राप्त हो) वैसा करो । किन्तु इस कार्य में विलम्ब (देर) न करो ।"

बन्धुओं ! ये माता-पिता कितने पुण्यवान् हैं कि अपनी संतति दीक्षा लेने की आज्ञा मांग रही है, तब आज्ञा देते हुए कहते हैं - "तुम सत्कार्य में विलम्ब मत करो ।" बोलो ! आप (श्रोताओं) की तैयारी है ? अन्त में, इतना तो करो कि हमारी सन्तान को अगर दीक्षा लेने का भाव आए तो किसी को हमें रोकना नहीं है ।

मल्लिनाथ भगवान् के माता-पिता ने उन्हें दीक्षा लेने की आज्ञा दी । तत्पश्चात् कुम्भकराजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया । बुलाकर उन्हें इस प्रकार कहा -

"खिप्पामेव अट्ठसहस्सं सोवण्णियाणं जाव अट्ठ-सहस्सं भोमेज्जाणं कलसाणंति, अण्णं च महत्थंजाव (महग्घं महरिहं विउलं) तित्थयराभिसेयं उवट्ठवेह !"

"शीघ्र ही एक हजार आठ स्वर्णकलश यावत् (एक हजार आठ रजत कलश, इतने ही स्वर्ण-रजतमय कलश, मणिमय कलश, स्वर्णमणिमय कलश, रजत-*मणिमय कलश, स्वर्ण-रजत-मणिमय कलश) और एक हजार आठ मिट्टी के कलश* लाओ । इसके अतिरिक्त महान अर्थवाली, यावत् (महामूल्यवाली, महान जनों के *योग्य और विपुल) तीर्थंकर-प्रभु के अभिषेक की सर्वसामग्री उपस्थित करो ।"*

कुम्भकराजा कौटुम्बिक पुरुषों को जैसी आज्ञा दी थी, तदनुसार उन्होंने आठ *जाति के और प्रत्येक जाति के एक हजार आठ कलश तथा दीक्षा की महा मूल्यवान* सामग्री, जैसे कि रजोहरण, पात्र वगैरह सारी सामग्री तथा जो तीर्थंकर-प्रभु के *अभिषेक के योग्य थी वह सामग्री लाकर-उपस्थित की ।* इसके बाद क्या होगा, उसका भाव यथावसर कहा जाएगा ।

प्रद्युम्नकुमार का चरित्र

प्रद्युम्नकुमार के नगर-प्रवेश के पश्चात् पूर्वोक्त सभी बातें ज्ञात होने पर दुर्योधन को पता लगा कि भील के रूप में जो मनुष्य मेरी पुत्री को ले गया था, वह कृष्णजी का पुत्र प्रद्युम्नकुमार ही है । इस कारण वह हर्षित होकर कृष्णजी के पास आकर बोला - ''हे महाराजा ! मैं अपनी पुत्री (उदधिकुमारी) और आपकी पुत्रवधू से मिलने के लिए आया हूँ ।'' यह उद्गार सुनते ही कृष्णजी चिन्ता में पड़ गए । पिता को चिन्तातुर देखकर प्रद्युम्नकुमार ने विद्या के बल से गुप्त रखी हुई उदधिकुमारी को वहाँ हाजिर की । कृष्णजी ने अधीर होकर पूछा - ''बेटा ! यह क्या और कैसे हुआ ?'' तब प्रद्युम्नकुमार ने सारी बात खोलकर कही ।

अब राजा दुर्योधन हृदय के हर्ष से कहते हैं - "मेरी पुत्री का आपके साथ शर्त के अनुसार आपके पुत्र प्रद्युम्नकुमार के साथ विवाह करना है । यह तो प्रद्युम्नकुमार का अपहरण हो गया था और कहीं भी उसका पता नहीं लगा था, इस कारण मैंने अपनी पुत्री उदधिकुमारी का (सत्यभामा के पुत्र) भानुकुमार के साथ विवाह करने का निश्चित किया था ।" कृष्णजी और दुर्योधन दोनों की बातें प्रद्युम्नकुमार ने सुनी और फिर नम्रतापूर्वक पिताजी को विनती की - ''अब आप उदधिकुमारी का भानुकुमार के साथ ही विवाह करो । जिसके नाम से विवाह के गीत गाये गए हैं और दोनों के विवाह का विधि-विधान हो चुका है । अतः अब उसके साथ ही दुर्योधन पुत्री का विवाह करिए । अब वह (उदधिकुमारी) मेरी बहन है ।'' कृष्णजी और दुर्योधन दोनों ने प्रद्युम्नकुमार को बहुत समझाया, फिर भी उसने साफ इन्कार कर दिया और कहा - ''पिताजी ! मैंने जो कुछ तूफान किये हैं, वे मुझे करने नहीं चाहिए थे, किन्तु सिर्फ मेरी माता सत्यभामा का अभिमान उतारने के लिए ही किये थे । अतः मैं उनसे भी बारबार क्षमा मांगता हूँ, वे मुझे क्षमा करें ।''

अब प्रद्युम्नकुमार जिन-जिन दूसरी कन्याओं को साथ में लाया है, उनके साथ तथा बाकी की अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह की बात हुई, तब कुमार ने एक ही मांग की कि ६ दिन से लेकर १६ वर्ष तक जिन्होंने मेरा पालन-पोषण किया था, उन मेरे पालक माता-पिता कालसंवरराजा और कनकमाला रानी को यहाँ बुलाइए । उनकी उपस्थिति के बिना मैं हर्गिज विवाह नहीं करूँगा ।'' कृष्ण वासुदेव ने उन्हें सम्मानपूर्वक बुला लाने के लिए एक दूत को भेजा । कनकमाला को अपनी भूल का पश्चात्ताप हो रहा था, इस कारण उसका आने का मन नहीं था,

परन्तु कालसंवरराजा ने उसे बहुत समझाया कि "प्रद्युम्नकुमार हलुकर्मी और मोक्षगामी जीव है, वह बीती हुई बात को कदापि याद करनेवाला नहीं है। अतः तुम चलो। हम अपने लाडले लाल को विवाहित करने जाएँ।" कालसंवरराजा और रानी कनकमाला अपने साथ अप्सरा जैसी देदीप्यमान और रति जैसी सुन्दर विद्याधर की पुत्रियों को लेकर आए। श्रीकृष्णजी ने धूमधामपूर्वक उनका नगर में प्रवेश कराया और उनका भव्य स्वागत किया। फिर बहुत ही ठाठ-बाठ से रतिसुन्दरी आदि विद्याधरपुत्रियों के साथ प्रद्युम्नकुमार का विवाह हुआ। विवाह के बाद प्रद्युम्नकुमार ने अपने जन्मदाता माता-पिता और पालक माता-पिता आदि बुजुर्गों को वन्दन किया और फिर महल में प्रवेश किया। रुक्मिणी और कृष्णजी ने कालसंवरराजा और कनकमाला रानी का बहुत-बहुत आभार माना और यह कहा कि "आप दोनों ने हमारे पुत्र को अपना पुत्र मानकर १६-१६ वर्ष तक वात्सल्य-भाव से पाल-पोसकर बड़ा किया, हम आपका उपकार कदापि नहीं भूल सकते।" कुछ दिनों तक सभी साथ में रहे। तत्पश्चात् कालसंवरराजा ने जाने की इजाजत मांगी। तब कृष्ण वासुदेव ने उनका बहुमान करके कीमती से कीमती रत्न, आभूषण और हाथी, घोड़े आदि भेंट दिये और दुःखित हृदय से उन्हें विदा देते हुए बोले - "पुनः पुनः हमारे यहाँ पधारना।"

प्रद्युम्नकुमार तो उनके गले लगकर बहुत ही फफक-फफककर रोने लगा। पालक माता-पिता ने उसे ममत्व-भाव से बहुत समझाकर कहा - "बेटा! आनन्द से रहना।" अन्त में, अश्रुपात करते हुए सभी अलग हुए। ऐसा प्रद्युम्नकुमार सुख और वैभव का उपभोग करता हुआ परिवार के साथ कुछ वर्षों तक रहा। अन्त में, अपार सुख, सम्पत्ति और समृद्धि होते हुए भी इन सबसे विरक्त होकर, सभी सुख-वैभव का त्याग करके भागवती दीक्षा ग्रहण कर स्व-पर कल्याण करके सर्वकर्मो से मुक्त होकर मोक्ष पहुँचा।

(पू. महासतीजी ने प्रद्युम्नकुमार के विवाह के बाद के जीवन तथा भानुकुमार और सत्यभामा के विषय में अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया था। तथा प्रद्युम्नकुमार कैसे-कैसे विरक्त होकर (गृहस्थ) संसार का त्याग करता है और संयम की कैसी सुन्दर साधना-आराधना करता है ? अन्त में, किस प्रकार सर्व कर्मो का क्षय करके कैसे मोक्ष प्राप्त करता है ? इत्यादि वर्णन बहुत ही विश्लेषणपूर्वक किया था। वह अधिकार आपने कार्तिक सुदी १५ तक चलाया था, किन्तु पुस्तक के पृष्ठ बढ़ जाने की दृष्टि से यहाँ से चरित्र सम्बन्धी विस्तृत वर्णन को संक्षिप्त करके पूर्ण करते हैं। सं.)

व्याख्यान - १०६

कार्तिक सुदी ११, मंगलवार | ता. २-११-७६

पैसों का पूजारी : आत्म-गुणों का शिकारी

सुज्ञ वन्धुओं ! सुशील माताओं और वहनों !

अनन्त करुणानिधि, दिव्यवाणी-देशना-दाता, वीतराग-प्रभु अशान्ति में भटकते हुए अज्ञानी जीवों को सच्ची शान्ति प्राप्त करने का मार्ग वताते हुए कहते हैं कि "शान्ति का निर्मल नीर तेरे अन्तर-घट में भरा हुआ है, तू उसे बाहर खोजने के लिए प्रयत्नशील है, तब कहाँ से मिलेगा ? शान्ति के पीयूष का पान करना हो तो तृष्णा-तरुणी को दूर करके बाहर की दुनिया को भूलकर अन्दर की दुनिया में आओ । अगर सच्ची शान्ति चाहिए तो भगवत्गीता में कहा है - *"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्"* त्याग से तुरंत वाद ही शान्ति मिलती है । किन्तु आज के मानव को त्याग करना अच्छा नहीं लगता । इसे वीतरागवाणी में रस, रुचि या श्रद्धा नहीं है । यही कारण है कि वीतराग-वचनों को भूलकर मौज-शौक, राग-रंग, आमोद-प्रमोद के खेल में पड़ गया है । साथ ही वह पैसे का पूजारी बनकर आत्मगुणों का शिकारी वन गया है । ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिस्पर्धा का कीचड़ उछालकर जीवन-बाग को वीरान जंगल जैसा बना रहा है । यह सच है कि विलासी साधनों के पीछे त्याग और सन्तोष का मूल्यांकन घटता गया । भौतिक-सुख के पीछे अन्धी दौड़ लगाकर आत्मा का दीवाला निकाल दिया है । वैज्ञानिकों ने इन नवीन युग में नई-नई शोधों के अन्त में खोजे हुए कृत्रिम साधनों द्वारा भौतिक-सुख की सुविधाओं का आविष्कार करके चेपीरोग फैलाया है । उस चेपीरोग के विकृत जन्तु आत्मा की शान्ति को नष्ट कर डालते हैं । वाह्य शान्ति के वहाने के नीचे, विलासिता का चेप गले से चिपकता जा रहा है । जिसके भूत की तरह चिपक जाने के कारण त्याग के स्थान पर भोग की, सन्तोष की जगह तृष्णा की, विकास के बदले विनाश की प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही है । इस विलासी वातावरण का प्रवाह मानव को खींचकर कहाँ ले जाएगा ? इस पर जरा विचार करो ।

वन्धुओं ! आज के मौज-शौक और विलासी वातावरण में कहीं शान्ति का छींटा दिखाई नहीं देता । सच्ची शान्ति त्याग, प्रत्याख्यान, सन्तोष और सहिष्णुता में है । अतः तुम्हें सुख और शान्ति चाहिए तो त्याग आदि के मार्ग पर आओ ।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

अपने चालू शास्त्रीय अधिकार में त्याग की बात चल रही है। इस प्रकरण की नायिका है - मल्लिनाथ भगवान्, जो शाश्वत शान्ति प्राप्त करने के लिए त्याग के पथ पर प्रयाण करने को तत्पर हुए हैं। मल्लिनाथ-प्रभु राजकुमारी थी। उनके यहाँ भौतिक-सुख की कोई कमी नहीं थी। मल्लीकुमारी कुम्भकराजा की पुत्री थी, वह पिता को अत्यन्त प्रिय थी। इनके मुख से निकले वचन को लोग शिरोधार्य और आदर करते थे। सुख-सम्पत्ति अपार थी। ऐसा विलासी वातावरण छोड़कर वह त्याग के पथ पर चलने को उद्यत हुई हैं। जबकि आज विलासी वातावरण की ऐसी जबर्दस्त हवा फूंकी जा रही है कि संयम का गढ़ और सन्तोष का सुकान टूट गए हैं - और जीवन-नैया विनाश की आंधी में उथलपुथल होकर डगमगा रही है। इस विनाश के पथ से वापस मोड़ने (लौटाने) के लिए इस विलासी वातावरण और कृत्रिम साधनों का मोह छोड़ना (उतारना) पड़ेगा और दृष्टि करनी पड़ेगी आत्मा के सम्मुख आत्महित की तरफ।

कमल जैसे कीचड़ में पैदा होने पर भी कीचड़ और जल से अलिप्त होकर उपर उठकर रहता है, वैसे ही मोह को छोड़कर आत्मा को उससे अलिप्त बनाओ (रखो।) क्योंकि आत्मशान्ति की सच्ची साधना राग के त्याग में तथा त्याग के अनुराग में समाई हुई है। शान्ति के इच्छुक को आत्मा पर जमे हुए विलास के पटल को तोड़कर, भौतिक-सुख के चेपीरोग को सन्तोष की दवा से मिटाकर तप, त्याग और संयम की सुवास से जीवन को महकता बनाना होगा। तुम जितना जितना भौतिक-सुख को पाने के लिए उसके पीछे दौड़ोगे, उतना-उतना वह तुमसे दूर भागता जाएगा। एक रूपक के द्वारा इस तथ्य को समझाती हूँ - प्रभात में सूर्य की ओर पीठ रखकर चलोगे तो तुम्हारी छाया तुम्हारे आगे आगे चलेगी। किन्तु अगर तुम सूर्य के सम्मुख मुख रखकर चलोगे तो तुम्हारी छाया तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ती आएगी। एक पुरानी कहावत है - 'त्यागे तेने आगे ने मांगे तेने भागे।'

(भावी) मल्लिनाथ भगवान् प्राप्त ऋद्धि और सुख-सम्पदा को छोड़कर त्याग के पथ पर जा रही हैं। उन्होंने दीक्षा लेने का विचार किया, तो देवों ने कितनी समृद्धि उनके भण्डार में भर दी और उन सम्पत्ति को दान देकर वह दीक्षा लेने को तैयार हुई। तब कुम्भकराजा मल्लिनाथ भगवान् का दीक्षा-महोत्सव मनाते हैं। उनकी आज्ञानुसार कौटुम्बिक-पुरुष दीक्षा के प्रत्येक साधन और उपकरण ले आए। फिर वे मल्लिनाथ-प्रभु के दीक्षाभिषेक की तैयारी करने लगे।

उस काल और उस समय में चमरेन्द्र से लेकर बारह देवलोकों तक के कुल ६४ इन्द्रों ने अवधि-ज्ञान से जाना की मिथिला-राजधानी में मल्लिनाथ भगवान का दीक्षा-महोत्सव मनाया जा रहा है। इसलिए वे सब हर्षित होकर मिथिला-राजधानी में

आए। तत्पश्चात् सौधर्मेन्द्र और शक्रेन्द्र ने अपने आभियौगिक देवों को बुलाकर कहा – "देवानुप्रियों ! तुम जल्दी जाओ और सोना, चांदी, मणि, रत्न वगैरह आठ जाति में से प्रत्येक जाति के १००८ कलश लेकर आओ।" इन्द्रों की आज्ञा होने से देव कुम्भ वगैरह सभी चीजें लेकर आए। जहाँ कुम्भकराजा ने सभी कलश व्यवस्थित रूप से रखवाये थे, वहाँ देवों ने भी अपने द्वारा लाये हुए कलश व्यवस्थित रूप से रख दिये। मनुष्यों के लाए हुए कलशों की अपेक्षा देवों के द्वारा लाये हुए कलश दिव्य और तेजस्वी होते हैं। तीर्थंकर-प्रभु के पिताजी के कुम्भ (कलश) धुंधले दिखें, ऐसा देवगण नहीं करते, किन्तु दिव्य कुम्भों को मनुष्य के कुम्भों के साथ इस प्रकार जमा दिये कि देवशक्ति से कुम्भकराजा के कुम्भ दिव्य कुम्भों में समाविष्ट हो गए। ऐसा करने से कुम्भकराजा के कुम्भों की शोभा बढ़ गई और वे सब कुम्भ रोशनी की तरह जगमगा उठे। जैसे मिट्टी का दीपक जलता हो, वहाँ कोई इलैक्ट्रिक ट्युबलाइट लगा दे तो मिट्टी के दीपक का तेज उसमें समा जाता है न ? क्या उसका तेज अलग दिखाई देता है ? नहीं। वैसे ही कुम्भकराजा के कुम्भों में देवों के लाये हुए कुम्भ समा गए।

तएणं से सक्के देविंदे देवराया कुंभराया य मल्लिं अरहं सीहासणंसि पुरत्थाभिमुहे निवेसेइ, अट्ठसहस्सेणं सोवण्णियाणं जाव अभिसिंचइ।

तत्पश्चात् देवेन्द्र देवराज शक्र और कुम्भकराजा ने मल्लि अरिहन्त को पूर्वदिशा की ओर मुख कर सिंहासन पर बिठाया। फिर सुवर्ण आदि के १००८ पूर्वोक्त कलशों से उनका अभिषेक करने लगे।

तीर्थंकर-प्रभु के अभिषेक की विधि शुरू होने से पहले ६४ इन्द्र तो आ गए थे। परन्तु जिस वक्त अभिषेक की विधि शुरू हुई तब दूसरे अनेक देव भगवान् के दीक्षा-महोत्सव में भाग लेने के लिए उल्लासपूर्वक देवलोक में से नीचे उतरे। सबके हृदय में ऐसी उमंग थी कि मैं लाभ लूं। हम भी प्रभु का अभिषेक करें। तीर्थंकर की दीक्षा के समय देवों का उल्लास अलौकिक होता है। उस समय आकाश देवों से छा गया। कितने ही देव मिथिला नगरी के अन्दर और कितने ही बाहर तथा कितने ही आकाश में रहकर समस्त दिशा-विदिशाओं में हर्ष से इधर-उधर दौड़ादौड़ करने लगे और हर्ष से नाचने-कूदने लगे। देवों और मनुष्यों में चारों तरफ आनन्द का वातावरण छा गया।

जब अभिषेक की विधि पूरी हुई, तब कुम्भकराजा ने दूसरी बार मल्लिनाथ-प्रभु को उत्तर दिशा की तरफ मुख रखकर बिठाये और उन्हें उत्तम प्रकार के वस्त्र और आभूषण पहनाकर श्रृंगारित (सुसज्जित) किया। तदनन्तर फिर कौटुम्बिक पुरुषों

को बुलाकर आदेश दिया - *"खिप्पामेव मणोहरं सीयं उवट्ठवेह ।"* - "देवानुप्रियों ! तुम शीघ्र ही अनेक स्थम्भोवाली मनोरमा नाम की शिबिका (पालखी) तैयार करके लाओ ।" कौटुम्बिक पुरुष वैसी शिविका तैयार करके लाए । तत्पश्चात् शक्रेन्द्र देवराज ने भी आभियोगिक देवों को बुलाकर आदेश दिया कि "तुमलोग शीघ्र ही अनेक स्तम्भोवाली मनोरम नाम की शिबिका बनाकर लाओ ।" इन्द्रों के दिल में भी कितना हर्ष है कि तीर्थंकर-प्रभु के पिताजी शिबिका तैयार करा रहे हैं तो हम भी ऐसी शिबिका बनवावें, ताकि भगवान उसमें बैठकर दीक्षा लेने के लिए अभिनिष्क्रमण करें ।

शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा होते ही आभियोगिक देव यथाशीघ्र शिबिका तैयार करके लाए और इन्द्र महाराज की शिविका उनके दिव्य प्रभा से कुम्भकराजा के द्वारा बनवाई हुई शिबिका में समा गई । इस कारण उसका तेज और शोभा अलौकिक हो गई । यद्यपि देवों द्वारा बनवाई हुई शिबिका के आगे मनुष्यकृत शिबिका काच जैसी लगती है । किन्तु देव अपनी शिबिका आगे नहीं रखते । उन्हें तो तीर्थंकर-प्रभु का तथा उनके माता-पिता का बहुमान करना है, उनकी महिमा बढ़ाना है, इसलिए यह सब कार्य वे करते हैं । अब शिबिका तैयार हो गई है । देव-देवियों और नर-नारियों के हर्ष का पार नहीं है । मिथिला नगरी में चारों तरफ देवदेवियों का पदार्पण हो रहा है और सर्वत्र बहुत ही आनन्द-आनन्द छा गया है । कुम्भकराजा अपनी लाडली पुत्री मल्लीकुमारी का दीक्षा-महोत्सव मना रहे हैं । देवों को भी भगवान् का दीक्षा-महोत्सव मनाने की उमंग है कि हम इनके दीक्षा-महोत्सव में हाजिर रहकर उनकी सेवा का लाभ लें, और ऐसे महोत्सव में भाग लेकर अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाएँ । क्या तुम्हें दीक्षा लेने की उमंग आती है ? समझो जरा । चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से तुम *(गृहस्थ) संसार में रहे हो । किन्तु आत्मा को प्रतिक्षण जागृत* बनाओ (जगाओ) कि हे चेतन ! तेरे कर्मोदय के कारण मैं (गृहस्थ-) संसार में रहा हूँ, परन्तु इसमें रहने जैसा नहीं है । इस प्रकार जिसका आत्मा जागृत होगा, वह किसी दिन (संसार से) छूट सकेगा । जिसके घर का स्वामी जागृत होता है, उसे कभी आंच नहीं आती । चोरों और लुटेरों का उसे कोई भय नहीं ।

एक अत्यन्त सुखी और धनवान सेठ के मकान में रात को चोर आ गए । सेठ तो गाढ़ निद्रा में सो रहे थे । मकान की दीवार में चोर ने सेंध लगाई, सूराख किया । सेठानी जाग गई । उसने देखा कि चोर दीवार में सूराख कर रहा है । सेठानी सेठ को जगाने के लिए कहा - "स्वामीनाथ, उठो, जागो, घर में चोर घुस गए हैं ।" किन्तु सेठ तो जागते ही नहीं । सेठानी सेठ को झकझोर कर जगाती है । "नाथ ! जल्दी जागो, क्या नींद ले रहे हो ।" यहाँ सेठानी सेठ को जगाती है, वैसे ही सद्गुरुदेव तुम्हें झकझोर कर मोहनिद्रा से जगाते हैं -

आतम ! जागोने हवे शान्ति नहि रे मळे,
आ तो मायाना मिनारा, ए तो तूटी रे जवाना ।
गुरुजी जगाडे जागो संसारना रागी,
प्रमादनी पथारी, दीओ दूर रे त्यागी ।
नहीं तो जशे ना अज्ञान, ज्योति जागो ना दिलमांय ।। शान्ति...

सद्‌गुरु कहते हैं - "ओ प्रमाद के बिछौने में सोये हुए मानवों ! तुम जागो । कब तक सोते रहोगे ? अब प्रमाद का बिस्तर छोड़कर जाग जाओ । मोहनिद्रा का त्याग नहीं करोगे तो अज्ञानान्धकार हटेगा नहीं, और आत्मज्योति जगमगायेगी नहीं । इस संसार में तुम जिन्हें अपने मानते हो, वे तुम्हारे नहीं हैं । माया और ममता के मिनारे कब टूट जाएँगे और राग की रंगोली कब मिट जाएगी ? इसका पता नहीं है । अतः जल्दी जागो और आत्मस्वरूप को पहचान कर उसमें स्थिर हो जाओ ।"

हाँ तो, सेठानी अपने पति को बार-बार कहती है - "नाथ ! जल्दी जागो । चोर घर में घुस गए हैं ।" तब सेठ ने कहा - "भले ही घुस गए । चिन्ता मत करो ।" तब सेठानी गुस्से होकर कहती है - "क्या चिन्ता न करो, कहते हो । जरा उठकर देखो तो सही, चोर तिजोरीवाले कमरे में घुस गए हैं और तिजोरी खोलने का प्रयास कर रहे हैं ।" तब सेठ ने हंसकर कहा - "सेठानी ! चिन्ता न करो । घबराने की जरूरत नहीं है । भले ही वे तिजोरीवाले कमरे में घुस गए हों । किन्तु मैंने तिजोरी ऐसी मजबूत बना रखी है कि वह किसी से भी खुल नहीं सकेगी । क्योंकि यह तिजोरी वाटरप्रूफ है, फायरप्रूफ है, एयरप्रूफ भी है और थीफप्रूफ तो है ही । अर्थात् - उसे पानी से कोई भिगो सके, ऐसी नहीं है, आग से उसे कोई जला सके, ऐसी नहीं है, हवा उसमें जा (प्रवेश) नहीं (कर) सकती तथा चोर उसे खोल सकें, ऐसी भी नहीं है । अतः तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो । तुम अब शान्त से सो जाओ ।" जिसकी तिजोरी मजबूत है, उसे किसी बात की चिन्ता नहीं है । बन्धुओं ! यह तो सामान्य न्याय है । हमें इसे अपने पर घटित करना है । हमारी अन्तरात्मारूपी तिजोरी में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपरूपी अमूल्य रत्न भरे हुए हैं । जो मनुष्य जड़-चेतन का भेदविज्ञान कर लेता है, और जो आत्म-स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उसकी अन्तरात्मारूपी तिजोरी इतनी सुदृढ होती है कि उसे क्रोध-मान-माया-लोभरूपी अग्नि जला नहीं सकती । कषायरूपी अग्नि इतनी भयंकर है कि वर्षों की की हुई साधना को क्षणभर में जलाकर भस्म कर देती है । अतः जिसकी अन्तरात्मा फायरप्रूफ तिजोरी जैसी बन जाती है, उसके ज्ञानादि गुणों को कषायरूपी अग्नि जला नहीं सकती । और जिसकी अन्तरात्मारूपी तिजोरी वाटरप्रूफ बन जाती है, उसे विषय-वासनारूपी अथवा राग-द्वेषरूपी पानी भिगो नहीं सकता । अर्थात् - वह चाहे जैसे विलासी वातावरण में रहें, कोई चाहे

जितना प्रभोलन दे, किन्तु पवित्र मनुष्य की अन्तरात्मा में विषय-विकाररूपी या वासना-संज्ञारूपी पानी उसे न तो गला सकता है; और न भिगो सकता है। जिसकी अन्तरात्मारूपी तिजोरी एयरप्रूफ है, उसमें लोभ की हवा प्रविष्ट नहीं हो सकती। उसकी अन्तरात्मा यों समझती है कि मैं चाहे जितना धन संचित करूँ, अन्त में तो यहीं छोड़कर जाना है। जीवननिर्वाह जितना मिल जाता है, अतः शान्ति से खा-पीकर धर्मध्यान कर लूं। नश्वर सम्पत्ति यहीं रह जाएगी, किन्तु धर्मरूपी धन मेरे साथ आएगा। संक्षेप में, जिसने अपनी अन्तरात्मारूपी या हृदयरूपी तिजोरी को एयरप्रूफ बना ली है, उसके अन्तर में लोभ की हवा प्रविष्ट नहीं हो सकती, न ही स्पर्श कर सकती है। और जिसने अपनी अन्तरात्मारूपी तिजोरी को थीफप्रूफ बना ली है, उसे दुर्गुणरूपी चोर कदापि खोल नहीं सकते और उस तिजोरी में रखे हुए सद्‌गुणरूपी सिक्के को भी वे चुरा नहीं सकते।

जिसकी अन्तरात्मा सदैव जागृत रहती है, उन मल्लिनाथ भगवान् का दीक्षा-महोत्सव मनाया जा रहा है। उसमें देव और इन्द्र भी सम्मिलित हुए हैं। समस्त देव हर्षावेश में आकर इधर से उधर दौड़-धूप कर रहे हैं। और कुम्भकराजा भगवान् की दीक्षा के लिए जो-जो चीज लाते या मंगवाते हैं, वे सब चीजें इन्द्र भी लाए हैं। वे देव या इन्द्र कुम्भकराजा द्वारा लाई हुई चीजों में अपनी लाई हुई चीजें मिला देते हैं, इस कारण दिव्य वस्तुओं के मिल जाने से कुम्भकराजा द्वारा लाये वस्तुओं का तेज अनेक गुणा बढ़ जाता है। शिविका तैयार हो जाने के पश्चात् मल्लिनाथ-प्रभु सिंहासन पर से खड़े होंगे, फिर क्या करेंगे, इसका भाव यथावसर कहा जाएगा।

व्याख्यान - १०७

कार्तिक सुदी १३, गुरुवार — ता. ४-११-७६

वासना को छोड़ो, उपासना से जुड़ो

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं और बहनों !

अनन्तज्ञानी, त्रिलोकीनाथ, सर्वज्ञ प्रभु जगत् के जीवों को उद्‌बोधन करते हुए कहते हैं - "हे सुखपिपासु आत्मन् ! अनादिकाल से तू संसार के सुख भोगता (अनुभव करता) आया है, परन्तु क्या ये सुख तुझे संतोष देनेवाले सिद्ध हुए हैं ? कहाँ से ये संतोषप्रद साबित होते ? क्योंकि ये सुख नहीं, सुखाभास हैं ! इनके पीछे अनन्त समय गंवाया, तो भी तेरी इच्छाएँ तो बढ़ती ही बढ़ती रहीं, वे शान्त या तृप्त नहीं

हुई । दुःख के पर्वतों के नीचे दब गये, तो भी वासनाओं का अन्त नहीं आया । वासना जीव को भव-भव में भ्रमण कराती हैं । अतः वासना का महल छोड़कर उपासना के द्वार पर चढ़ोगे, तभी सच्चा सुख प्राप्त कर सकोगे ।

बन्धुओं ! अगर तुम्हें वीतराग-प्रभु की उपासना करनी हो तो सर्वप्रथम जीवन में सत्संग करो, धर्म-श्रवण करो । सत्संग की महिमा अपार है । सत्संग का मूल्य मूल्यों से परे अमूल्य है । सत्संग से मिलनेवाला सुख अनन्त और शान्ति पारावार है । सत्संग करने के बाद जो शान्ति मिलती है, वह त्रिविध ताप को शान्त करती है । त्रिविध ताप हैं - आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक । इन तीनों क्षेत्रों में होनेवाले ताप-संताप को पर्युपासना या परम-सत्संग शान्त कर देते हैं । अतएव ज्ञानी कहते हैं - "तू सत्संग का अनुरागी बनना । सत्संग का अनुराग तुझे विराग (वैराग्य) के पथ पर ले जाएगा, वीतराग बनने के लिए प्रेरणा के पीयूष का पान करायेगा और अन्त में शाश्वत-सुख का भंडार दिलायेगा ।" सत्संग का अर्थ है संत-पुरुषों का संग, उनकी वाणी का संग । इस संग का रंग कर्म के काजल को साफ करके आत्मा को उज्ज्वल - समुज्ज्वल बनाएगा । इससे मानव-जीवन महामूल्यवान् बन जाएगा और कर्मराजा के साथ जंग खेलने की शक्ति प्रकट होगी । ऐसा सत्संग करने का अमूल्य अवसर तुम्हें बारबार नहीं मिलेगा । अतः जो समय मिला है, उसका सदुपयोग कर लो ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

अपना चालू अधिकार है मल्लिनाथ भगवान् का शिविका तैयार होने के बाद मल्लिनाथ भगवान् सिंहासन पर से उठे, खड़े हो गए । फिर -

अब्भुट्ठित्ता जेणेव मणोरमा सीया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता मणोरमं सीयं अणुपयाहिणी करेमाणा मणोरमं सीयं दुरुहइ । दुरुहित्ता सीहासण - वरगए पुरत्थाभिमुह सन्निसन्ने ।

खड़े होकर जहाँ मनोरमा नामक शिविका (पालखी) थी, वहाँ आई । वहाँ पहुँच-कर आत्मश्रेय की इच्छा से मनोरमा शिविका के चारों ओर प्रदक्षिणा करके वे उस शिविका पर आरूढ़ हुए । फिर पूर्व दिशा की ओर मुख रखकर वे शिविका में रखे हुए सिंहासन पर बैठ गई । तत्पश्चात् कुम्भकराजा ने अठारह श्रेणी-प्रश्रेणीजनों को, अर्थात् - पालखी उठानेवाले अठारह प्रकार के अवान्तर जाति के पुरुषों को बुलाए । बुलाकर उन्हें आदेश दिया कि "देवानुप्रियों ! पहले तुम स्नान करके शुद्ध हो जाओ ।"

देवानुप्रियों ! तीर्थंकर अरिहन्त-प्रभु की पालखी उठानी है । उसके लिए भी कितनी शुद्धि करनी चाहिए ? प्रथम देहशुद्धि, तत्पश्चात् आत्मशुद्धि करनी चाहिए । इसी

कारण कुम्भकराजा ने पालखी उठानेवाले मनुष्यों को कहा कि तुमलोग पहले स्नान कर लो । तत्पश्चात् अच्छे वस्त्राभूषण पहनो । अर्थात् द्रव्य और भाव से शुद्ध होकर तुम सब मल्लिनाथ अरिहन्त-प्रभु की पालखी उठाओ । इस प्रकार की राजाज्ञा होने पर पालखी उठानेवाले मनुष्यों का हृदय अत्यन्त हर्ष और उल्लास से नाच उठा । 'अहो ! धन्य घड़ी, धन्य भाग्य है कि हमें तीर्थंकर-प्रभु की पालखी उठाने का अलभ्य लाभ मिला है । संसार का भार तो हमने बहुत उठाया, उससे अपनी आत्मा का कल्याण नहीं हुआ, किन्तु भगवन्त की शिबिका उठाने में अपने अशुभ कर्मों को दूर करने में अनायास ही हमें सफलता मिलेगी ।' यों हर्षित होकर सबने स्नान किया, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हुए, फिर कुम्भकराजा की आज्ञानुसार उन्होंने अपने-अपने कन्धे पर पालखी उठा ली ।

तत्पश्चात् शक्रेन्द्र महाराज मनोरमा पालखी के दक्षिण की ओर के दण्डे (बांहा) को पकड़ा और ईशानेन्द्र ने उत्तर दिशा की तरफ के दण्डे (बांहा) को पकड़ा । फिर चमरेन्द्र ने दक्षिण दिशा की ओर के नीचे के दण्ड (बांहा) को ग्रहण किया और बलीन्द्र ने उत्तर दिशा के नीचे के दण्ड (बांहा) ग्रहण किया । इनके सिवाय बाकी के भवनपति, वाण-व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों ने अपनी-अपनी योग्यतानुसार पालखी के दण्डों को पकड़ा । फिर सबने इकट्ठे होकर शिविका को अपने कंधे पर उठाई । पुलकित और हर्षित हुए मानवों ने सबसे पहले पालखी को अपने कंधे पर उठाई तत्पश्चात् असुरेन्द्रों, सुरेन्द्रों और नागेन्द्रों ने (पालखी) उठाई । भगवन्त की पालखी का दण्ड उठाते हुए इन्द्रों, देवों और मनुष्यों के दिलों में हर्ष नहीं समाता । उनके साढ़े तीन करोड़ रोमराजी खिल उठे । इस समय देवों ने अपनी शक्ति से विकुर्वित आभूषण और मूल्यवान वस्त्र पहनकर भगवान् की शिबिका उठाई थी । उस समय देवों के कान में पहने हुए कुण्डल इधर से उधर हिलते थे । उनके मस्तक पर पहनी हुई मणियाँ और रत्न जगामगा रहे थे । एक तो वे देव और मनुष्यों द्वारा निर्मित दिव्य शिबिका और उसमें साक्षात् तेजोमूर्ति तीर्थंकर भगवन्त बैठे हों और देव उनकी शिबिका उठाकर चलते हों, उस समय की शोभा कितनी बढ़ जाती है ? उस समय का देखाव अलौकिक था । उनके तेज के सामने मानो सूर्य-चन्द्र के तेज फीके पड़े हों, ऐसे थे ।

मनोरमा शिबिका में बैठी हुई मल्लि अरिहन्त-प्रभु के सामने सर्वप्रथम आठ-आठ मंगल द्रव्य रखे गए । वे आठ मंगल कौन-कौन-से हैं - (१) स्वस्तिक, (२) श्रीवत्स, (३) नन्दिका वर्त, (४) वर्धमान, (५) भद्रासन, (६) कलश, (७) मत्स्य - युगल और (८) दर्पण । ये आठ मंगल वस्तुएँ हैं । मल्लिनाथ भगवान् शिबिका पर आरूढ हुए, तब उनके आगे ये आठ मंगल रखे गए थे । तत्पश्चात् - "*एवं निगमो जहा*

जमालिस्स'' जैसे 'भगवती सूत्र' में कथित जमालि के निर्गम की तरह यहाँ भी मल्लि अरिहन्त का निर्गमन कहना, यानि समझ लेना ।

अब मल्लि अरिहन्त का वरघोड़ा सहस्राम्रवन नामक उद्यान में, जहाँ अशोक वृक्ष था, वहाँ पहुँचा । वहाँ पहुँचने पर वे पालखी से नीचे उतरीं । नीचे उतरकर अपने शरीर पर पहने हुए आभरण और गहने अपने आप उतारने लगी । तब उनकी माता प्रभावती ने वे आभूषण अपनी साड़ी के पल्ले में झेल लिये । एक के वाद एक सभी आभूषण प्रभु ने उतार दिये । तत्पश्चात् मल्लिनाथ अरिहन्त ने स्वयं पंचमुष्टि लोच लिया । अरिहन्त स्वयं बोध प्राप्त किये हुए होते हैं और स्वयं दीक्षा लेते हैं । मल्लिनाथ भगवन्त ने **'सिद्धों को मेरा नमस्कार हो'** यों कहकर सामायिक चारित्र अंगीकार किया । भगवान् ने जब चारित्र अंगीकार किया, तब देवों के दिव्य वाद्य वज रहे थे । मनुष्यों के भी मंगल वाद्य बज रहे थे । उस समय शक्रेन्द्र महाराज ने आज्ञा की कि वाद्य बजाने बंद करो और शान्त हो जाओ ।'' शक्रेन्द्र की आज्ञा होने के साथ ही वाद्य बजने बंद हो गए । मनुष्य और देव मुख से भगवान् का जय-जयकार बुला रहे थे । वह सब आवाज भी बंद हो गई ।

जिस समय मल्लि अरिहन्त-प्रभु ने सामायिक चारित्र अंगीकार किया था, उस समय - *माणुस्स धम्माओ उत्तरिए मणपज्जवनाणे समुप्पन्ने ।* उनको मनुष्य क्षेत्र सम्बन्धी, अर्थात् - मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जाननेवाला उत्तम मन:पर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ । मनुष्य क्षेत्र कितना है, यह जानते हो न ? वोलो भाइयों ! तुम जवाब नहीं दोगे, हमारी बहनें जवाव देंगी । ढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र है । ढाई द्वीप में रहनेवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भाव मन:पर्यवज्ञानी जान सकते हैं । मल्लिनाथ-प्रभु ने मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान तो जन्म से साथ ही लाये हुए थे और आज चौथा मन:पर्यवज्ञान उन्होंने प्राप्त किया । ढाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्रों में मनुष्य चाहे जहाँ हो, उसके मन में क्या भाव हैं, यह वात मन:पर्यवज्ञानी जान सकता है । तुम्हें भी यहाँ वैठे-वैठे ढाई द्वीप के मनुष्यों के मन के भाव जाने जा सकें, ऐसा मन:पर्यायज्ञान हो जाय तो पसंद है न ? ज्ञान तो चाहिए, परन्तु घर छोड़ना नहीं है तो कहाँ से मिल सकता है ? यह कोई आसान नहीं पड़ा है । **'लड्डू भी खाना और मोक्ष भी जाना ।'** ऐसा हो तो कहना, नहीं तो मत बोलना । ठीक है न ? (हँसाहँस)

बन्धुओं ! आप वर्षो से व्याख्यान सुनते आ रहे हैं, परन्तु अभी तक आपका मोह घटता नहीं, घटा नहीं, कषाय पतले नहीं पड़ते, तृष्णा कम नहीं होती, क्योंकि जीव मोहराजा की कैद में फँसा हुआ है । मोह के बन्धन तोड़ने कठिन हैं । मोह में पड़ा हुआ मानव कितना भान भूल जाता है ? मैंने अभी एक मासिक पत्रिका में **एक**

आओ ।" उस दवा से दोनों भान में आ जाएँगे ।" सुन्दरी ने कहा - "भाई ! तुम जाओ तो अच्छा होगा ।" किन्तु भाई ने कहा - "नहीं, मैं इन दोनों को संभालूंगा, तुम जाओ ।" सुन्दरी ने कहा - "भाई ! मैं तुम्हें सौंपकर जाती हूँ । तुम बराबर इनका ध्यान रखना । मुझे ये छोड़कर कहीं चले न जायें ।" मोह कितना भयंकर है । मृत्यु हुए को तीन दिन हो गए हैं । अब तो मुर्दे में दुर्गन्ध आ रही है। परन्तु इसे दुर्गन्ध भी नहीं आती । सुन्दरी गाँव में गई, उसे वह दवा नहीं मिली । अन्त में, वह निराश होकर वापस लौटी । मायाकुमार उसे रास्ते में सामने मिला । "अरे भाई ! तुम कैसे आए ?" अरे बहन ! तुम्हारे जाने के बाद दोनों बातें करने लगे हैं । इसलिए मैं तुम्हें बुलाने आया हूँ । उनकी बातें मैं समझ नहीं पाता । तुम झटपट चलो ।" दोनों जब वहाँ आए तो कोई नहीं था । सुन्दरी तो बावरी बनकर चारों तरफ देखने लगी । कहाँ गये दोनों ? बहुत ढूंढा । किन्तु कहीं भी पति न मिले । तब रोने लगी । उस समय मायाकुमार ने कहा - "मैं तुम्हें नहीं कहता था कि वे दोनों छिपे-छिपे बातें करते हैं ? अवश्य ही वे दोनों हमें ठगकर चले गए ।" मायाकुमार ने कहा - "मायादेवी ! तेरे लिए महल छोड़कर वन-जंगल में रहा और भूखा-प्यासा मर गया । तब तू मुझे छोड़कर दूसरे के साथ भाग गई, यह संसार कितना दगाबाज है ?" तब सुन्दरी भी बोली - "नाथ ! तुम्हारे लिए तो मैंने तुम्हारी सेवा की, तुम्हें न छोड़ने का व्रत लिया । बंगला छोड़कर अकेली जंगल में आ गई । फिर भी तुमने दूसरी स्त्री के साथ प्रेम किया, उसके साथ चले गए । मेरे साथ विश्वासघात किया ? मुझे अकेली छोड़कर चले गए ?" यों कहकर सुन्दरी खूब रोई और कल्पान्त करने लगी ।

उचित समय देखकर मायाकुमार ने कहा - "बहन ! अब चाहे जितनी रोओ और कल्पान्त करो, वे दोनों हमें ठगकर चले गए । अब उनके पीछे रोने से क्या लाभ ? क्या करना है रोकर ? वे अपने को छोड़कर चले गए, हमें भी यह सब छोड़कर एक दिन मरण-शरण होना है । कोई किसी का नहीं ।" तब सुन्दरी ने कहा - "भाई ! मृत्यु तो मेरे पति को भी एक दिन आएगी न ?' "हाँ, बहन ! मृत्यु को किसी को नहीं छोड़ती, जिसका जन्म हुआ है, उसकी एक दिन मृत्यु अवश्य है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । मोह में पागल होकर तू जो तेरे पति के देह को लेकर फिरती थी, वह कभी का मृत्यु को प्राप्त हो चुका था । तेरा मोह उतारने के लिए मैंने यह सब नाटक किया था ।" सुन्दरी कहती है - "भाई ! क्या कहते हो ? यह मर गए ?" "हाँ, बहन ! इस संसार में संयोग और वियोग का चक्र चला करता है । यह सारा संसार बाहर से लुभावना और सुहावना है, परन्तु अंदर से तो भयानक है ।" इस प्रकार समझाकर अन्त में उसे मृत कलेवर बताया और उसका अग्निसंस्कार किया और फिर राजकुमार ने 'सुन्दरी' को बहुत बोध दिया । अन्त में उसे संसार की असारता

का भान हुआ । इस कारण उसे संसार से विरक्ति हो गई और घर जाकर दीक्षा ली ।' मोह की विडम्बना में से बाहर निकलकर मोक्ष का मार्ग लिया ।

मल्लिनाथ भगवान् की दीक्षा कब, कैसे ? किन किन के साथ ?

मल्लीणं अरहा जेसे हेमंताणं दोच्चे मासे चउत्थे पक्खे पोस सुद्धे तस्सणं पोससुद्धस्स एक्कारसी-पक्खेणं पुव्वण्ह-काल-समयंसि अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं आस्सिणीहिं नक्खमेणं जोग मुवागएणं... मुंडे भवित्ता पव्वइए ।''

मल्लिनाथ भगवान् ने जब दीक्षा ली, तब हेमन्त ऋतु का दूसरा मास और चौथा पद था । पोष मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी थी । (यानि पोष सुदी ग्यारस थी ।) पूर्वाण्हकाल का समय था । उन्होंने निर्मल अष्टम भक्त तप (तेला) किया था । अश्विनी नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था । उन्होंने आभ्यन्तर परिषद् की तीन सौ स्त्रियों के साथ और बाह्य परिषद् के तीन सौ पुरुषों के साथ मुंडित होकर दीक्षा अंगीकार की । मल्लि अरिहन्त के साथ नंद, नन्दीमित्र, सुमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, अमरपति, अमरसेन और महासेन, इन आठ ज्ञात कुमारों ने भी दीक्षा अंगीकार की । तीर्थंकर-प्रभु की दीक्षा देखकर इतने जीव विरक्त हुए और दीक्षा लीं । भवनपति आदि चारों जाति के देवों ने मल्लिनाथ भगवान् के दीक्षा-महोत्सव की खूब महिमा गाई और भगवान् को वन्दन करके वे आठवें नन्दीश्वर द्वीप में गए । वहाँ पहुँच कर उन्होंने - अष्टाह्निक - महोत्सव मनाया । वह महोत्सव सतत आठ दिन तक मनाया जाता है । आष्टाह्निक - महोत्सव पूरा हो जाने के बाद वे देव जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा की ओर चले गए । अब आगे का भाव यथावसर कहा जाएगा ।

व्याख्यान - १०८

कार्तिक सुदी १४, शुक्रवार — ता. ५-११-७६

मानवशरीर का दुरुपयोग और अनुपयोग नहीं, सदुपयोग करो

सुज्ञ बन्धुओं, सुशील माताओं एवं बहनों !

अनन्त करुणा-सागर, परमतत्त्व के प्रणेता, वीतराग परमात्मा ने भव्यजीवों के भव का अन्त कैसे आए और वे मोक्ष का सुख कैसे प्राप्त करें ? इसके लिए सिद्धान्तों (शास्त्रों) की प्ररूपणा की । सिद्धान्त (शास्त्र) में भगवान् कहते हैं - "इस संसार के समस्त सुख अन्त वाले हैं, कोई भी भौतिक-सुख अन्तरहित नहीं है ।"

उसे पसंद कर लो । आपको किस चीज के मिलने से आनन्द होता है ? बोलो तो सही ? (हँसाहँस) ।

अनन्तकाल से आत्मा भवाटवी में परिभ्रमण कर रहा है, किन्तु अभी तक उसकी आत्मा का उद्धार नहीं हुआ, उसका तुम्हारे दिल में अधिक दुःख है अथवा इतनी मेहनत करने पर भी अभी तक बंगला, मोटर और फ्रिज नहीं मिले, इसका अधिक दुःख है ? जितना सांसारिक-सुख के साधन प्राप्त करने का पुरुषार्थ है क्या उतना या उसके अंशभाग का पुरुषार्थ भी आत्म-सुख के साधनरूप ज्ञान, दर्शन, चारित्र-तप के लिए है ? नहीं । तुम इसे ऐसे समझो कि मानव-जन्म (नरभव) रत्नद्वीप है । इस रत्नद्वीप में आकर ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी रत्न बटोर लेने हैं । ये हीरे, माणिक, मोती, पन्ना, नीलम वगैरह रत्न तो तुम्हारे इस लोक में काम आते हैं, परन्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी रत्न तो दोनों लोकों (इहलोक-परलोक) में आत्मा को सुखी करनेवाले हैं, और वे ही आत्मा के सच्चे धन हैं । देवों को भी दुर्लभ, ऐसी आत्म-साधना करने का अमूल्य अवसर-समय तुम्हें मिला है, इसे भलीभांति समझ लो । अवसर चूकना मत ।

भ. मल्लिनाथ का अधिकार

मल्लिनाथ भगवान् का दीक्षा-महोत्सव अत्यन्त आनन्दपूर्वक मनाया गया । भगवान् का दीक्षा-महोत्सव मनाकर देव अपने-अपने स्थान में चले गए । तदन्तर क्या हुआ ? उसे इस शास्त्रपाठ द्वारा समझें -

"तए णं मल्लि अरहा जं चेव दिवसं पव्वइए तस्सेव दिवसस्स पच्चावरण्हकाल-समयंसि असोग-वर-पायवस्स अहे पुढवि-सिला--पट्टयंसि सुहासणवर-गयस्स सुहेणं परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं, पसत्थाहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तयावरण-कम्म-रय-विकरणकरं अपुव्वकरणं अणुपविट्ठस्स अणंते जाव (अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे) केवल-णाण-दंसणे समुप्पन्ने ।"

बन्धुओं ! तेवीस तीर्थंकरों को दिवस के पूर्वभाग में केवलज्ञान हुआ, जबकि मल्लिनाथ भगवान् को दिवस के पिछले पहर में हुआ । ग्यारस के दिन भगवान् मल्लिनाथ को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ । उस समय अश्विनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग था । केवलज्ञानी सर्वद्रव्य और सर्व-पर्यायों को जानता-

देखता है। भूतकाल में क्या हुआ ? भविष्य में क्या होगा ? और वर्तमान में क्या हो रहा है ? यह सब जानते हैं । मल्लिनाथ-प्रभु दीक्षा लेकर अनेक जीवों को तारनेवाले बने। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ । उसका प्रतिघोष में पड़ा । इस कारण *-सव्वदेवाणं आसणाइं चलंति । समोसढा, धम्मं सुणेंति,...केवल-महिमं करेंति ।* सब देवों के, शक्रेन्द्र का तथा अन्य सब देवेन्द्रों का आसन चलायमान हुए । तब समस्त देवों तथा देवेन्द्रों को यह विचार हुआ कि हमारे आसन क्यों डोल रहे हैं ? इसे जानने के लिए उपयोग लगाकर अवधि-ज्ञान से जाना-देखा कि मल्लिनाथ अर्हन्त भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ हैं । इस कारण सभी देव-देवेन्द्र जहाँ मल्लिनाथ-प्रभु विराजमान थे, वहाँ आए । वहाँ आकर उन्होंने भगवान् का केवलज्ञान-महोत्सव मनाया, समवसरण की रचना की । तदनन्तर भगवान् ने सर्व जीव-हितकर, कर्मबन्धन को काटनेवाली पवित्र देशना दी । उस धर्म-देशना को सुनकर सभी देव-नन्दीश्वरद्वीप में गए, वहाँ अष्टाह्निक-महोत्सव मनाया । फिर सब देव जिस जिस दिशा से आए थे, उस-उस दिशा में अपने-अपने स्थानों में चले गए । तत्पश्चात् - *'कुंभएवि निग्गए'* कुम्भकराजा भी बड़े जनसमूह को साथ लेकर मिथिला नगरी से मल्लिनाथ भगवान् के दर्शन-वन्दन-श्रवण के लिए निकले । कुम्भकराजा बड़े जन-समुदाय के साथ भगवान् मल्लिनाथ के दर्शनार्थ आते हैं । सबके हृदय में अपार हर्ष है । यह हर्ष किस बात का है ? आत्मा का, आत्मा से परमात्मा बनने का । तुम्हारा पुत्र परदेश या विदेश से बारह वर्ष बाद आ रहा है, तब तुम्हें कितना हर्ष होता है ? परन्तु याद रखो, सांसारिक हर्ष (राग भावयुक्त होने से) जीव को कर्म-बन्धनकारक हो जाता है, जबकि त्याग का, तप का, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति का हर्ष-आनन्द सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु के दर्शन-वन्दन-श्रवण का उल्लास कर्म की चट्टानों को तोड़ डालता है । केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त सर्वज्ञ अरिहन्त मल्लिनाथ भगवान् के दर्शन करके तथा उनकी देशना (धर्मोपदेश) सुनकर सबके हृदय आनन्द मग्न हो गए । (उनके गृहस्थ पक्षीय) माता-पिता के आनन्द का पार नहीं रहा । अहा हा ! हमारी पुत्री मल्ली भगवती बनी ।

बन्धुओं ! आज तो पुत्रजन्म होता है, तब तुम लोग पेड़ा बांटते हो, तथा थाली बजाते हो, और पुत्री का जन्म हो तब प्रायः लोग कहते हैं - 'पत्थर आया ।' भगवान् के सिद्धान्त में पुत्र-पुत्री का भेदभाव या पक्षपात धर्मविरुद्ध बताया है । प्रत्यक्ष देखिए-मल्लीकुमारी ने पुत्री के रूप में जन्म लेकर अपना और अपने माता-पिता का नाम दीपाया न ? शास्त्र में ऐसे तो अनेक उदाहरण हैं ।

सती राजीमती ने अपनी सखियों सहित दीक्षा ली और गिरनार पर्वत पर विराजमान भगवान् नेमिनाथ के दर्शन करने के लिए उत्साहपूर्वक विहार करके जा रही थीं । उस समय सहसा आंधी, तूफान के साथ वर्षा हो जाने से सभी साध्वियाँ बिखर गईं । जिसे जहाँ जगह मिली, वहाँ खड़ी हो गईं । राजीमती सती भी एक गुफा में प्रविष्ट हो गईं । राजीमती के शरीर का तेज अलौकिक था । उनके शरीर के तेज से गुफा जगमगा उठी । उसी गुफा में साधु रथनेमि ध्यान धरकर खड़े थे । राजीमती के तेजस्वी शरीर को देखकर उनका मन संयम से चलायमान हो गया । उन्होंने राजीमती से कहा - "भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ । आओ, हम सांसारिक-सुख भोग लें, बाद में दीक्षा लेंगे ।" उस समय, जिसके रोम-रोम में संयम का तेज झलकता था, रक्त के अणु-अणु में संयम ओतप्रोत था, उन सती शिरोमणि राजीमती ने रथनेमि को जोशीले शब्दों में सम्बोधित करते हुए कहा -

"धिरत्थुतेऽजसोकामी, जो तं जीविय-कारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।।"

- दश सू.,-अ.-२ गा.-७

"हे अपयश के कामी ! तेरे असंयमी जीवन को धिक्कार है । जिस असंयमी गृही जीवन का तूने वमन कर दिया था, उस वमन (त्याग) किये हुए असंयमी जीवन को पुनः ग्रहण करना चाहता है ? इसकी अपेक्षा तो तेरा मरण श्रेयस्कर है !" ऐसे जोशीले शब्दों में रथनेमि को फटकारा और पतन के पथ पर जाते हुए रथनेमि पुनः संयम में स्थिर हो गए । ऐसे कठोर शब्द कौन कह सकता है ? जिसमें खमीर हो, वही ऐसी सिंहगर्जना कर सकता है । राजीमती ने सच्ची सिंहनी बनकर गर्जना की तो रथनेमि आत्मभाव में स्थिर हो गए । बोलो, रथनेमि को स्थिर करनेवाली सती राजीमती भी एक स्त्री है न !

मल्लिनाथ भगवान् के पूर्व के मित्र जितशत्रु-प्रमुख छहों राजा मल्लिनाथ-प्रभु से प्रतिबोध पाकर सांसारिक कामभोगों से विरक्त हो गए । फिर अपनी-अपनी राजधानी में गए और वहाँ जाकर छहों राजा अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर हजार पुरुष उठाएँ ऐसी पालखी (शिबिका) में बैठकर अपनी समस्त सिद्धि के साथ मंगल गीत और वाद्य के साथ जहाँ भगवती मल्ली अरिहन्त विराजमान थीं, वहाँ आए । वहाँ आकर उन्होंने अरिहन्त-प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और उनकी सम्यक् प्रकार से पर्युपासना की । तदनन्तर मल्लिनाथ-प्रभु ने विशाल जनसमुदाय, कुम्भकराजा, तथैव जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं के समक्ष चारित्र-धर्म का सांगोपांग उपदेश दिया ।

तीर्थंकर-प्रभु की वाणी पत्थर जैसे कठोर दिल के मानव को भी पिघला देती है। मोह से लबालब भरे हुए मानव का भी मोह उतार डालती है और गर्विष्ठों का गर्व भी गला देती है । प्रभु की वाणी में ऐसी शक्ति है । कतिपय जीवों को भगवान् की वाणी सुनकर संसार पलात् (चावल के छिलके) के समान तुच्छ लगा, वे संसारत्यागी संयमी बनने के लिए कटिबद्ध हुए । जो सकल चरित्री पूर्ण संयमी बनने के लिए शक्तिमान थे, वे श्रावक के १२ व्रत या ५ अणुव्रत आदि अंगीकार करने को तत्पर हुए । तत्पश्चात् जनसमुदाय जिस दिशा से आया था, उसी दिशा की ओर वापस चला गया । कुम्भकराजा श्रमणोपासक बने और प्रभावतीदेवी श्रमणोपासिका बनी ।

तत्पश्चात् मल्लिनाथ-प्रभु के उपदेश से प्रतिबोध पाये हुए जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं ने इस प्रकार कहा - *"अलित्तेणं भंतेलोए, पलित्तेणं भंतेलोए"* "भगवन् ! यह चतुर्गतिक रूप संसार चारों ओर से प्रज्वलित हो रहा है, यह लोक कषाय नोकषायाग्नि से अत्यन्त प्रज्वलित हो रहा है । अग्नि की तीव्र ज्वालाओं की तरह इस लोक को जन्म-जरा और मरणरूपी दुःख जला रहे हैं । हे भगवन् ! जैसे किसी मनुष्य के घर में आग लगती है, तब वह सोये हुए को जगा देती है, और मानो यह कहती है, कि आग लगी है, बाहर निकलो । इसी प्रकार प्रज्वलित इस संसार में मोहनिद्रा के आधीन हुए हम जैसों को आपने बोध देकर जगा दिया, और कल्याणकारी मार्ग बताया । अतः अब आपके पास हमारे भाव भगवती मुनि दीक्षा लेने के हैं । अतएव आप हमें दीक्षा प्रदान करिए और हमें स्वीकार करिए ।

मोक्षकामी विनयवान शिष्यों का कर्तव्य है कि उन्हें गुरुदेव दीक्षा प्रदान करने की स्वीकृति दें, और उन्हें दीक्षा दें, उन महान गुरुओं का महान उपकार विनयी शिष्य मानें और गुरुचरणों में पड़कर कहे - "गुरुदेव ! आपने हमें स्वीकार करके हम पर महान उपकार किया है । आपने हमारा हाथ पकड़ा यह हमारा महान भाग्य है । आपने हमारा हाथ न पकड़ा होता, तथा हमें चारित्ररत्न न दिया होता तो हमारा क्या होता ?" सुपात्र शिष्य इस प्रकार गुरु का उपकार मानता है, किन्तु कुपात्र शिष्य इससे विपरीत व्यवहार करता है । यहाँ जितशत्रु-प्रमुख छहों राजा मल्लिनाथ भगवान् से विनती करते हैं - "ओ हमारे नाथ ! हमारे परम तारक ! जीवन के आधार ! आप हमारे आधार हैं, शरणरूप हैं, अतः अब आप कृपा करके दीक्षा की भिक्षा प्रदान करें ।" अब मल्लिनाथ भगवान् जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं को दीक्षा प्रदान करेंगे, उसके भाव यथावसर कहे जाएँगे ।

व्याख्यान - १०९

कार्तिक सुदी १५, (पूनम) शनिवार — ता. ६-११-७६

चातुर्मास की पूर्णाहुति में दो : क्षमा की आहुति

सुज्ञ बन्धुओं ! सुशील माताओं और बहनों !

अनन्त उपकारी, वात्सल्य-प्रवाहमयी करुणा दृष्टि से जगत् के जीवों के समक्ष दृष्टि करनेवाले, शासनपति प्रभु के मुखकमल से झरी हुई वाणी का नाम सिद्धान्त (शास्त्र) है। भगवन्त की वाणी अतीव निपुण और प्रामाणिक है। सर्वज्ञ भगवन्त की वाणी अद्भुत और सौ टंची सोने जैसी सत्य है। उसके द्वारा हम जड़ और चेतन पदार्थों को वास्तविक रूप से जान सकते हैं। जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा-बन्ध और मोक्ष आदि तत्त्वों के प्रतिपादक परमात्मा और उनके वचन हैं। इस काल में अगर हमें जिनवाणी का आधार न मिला होता तो हम कैसे आत्म-कल्याण कर पाते ? मोहान्धकार से परिपूर्ण संसार में वीतराग आप्त पुरुष प्रभु की वाणी सहस्त्र रश्मि (सूर्य) का काम करती है। वीर-प्रभु की वाणी मानव के लिए जहाज के समान है। भवाटवी में मार्ग भूले हुए मानवों के लिए पथ-प्रदर्शक (गाइड) के समान है। भवसागर में गोते खाते हुए मानव के लिए आधारभूत है। विषयों के विष को उतारने के लिए परम मंत्र के समान है। आधि, व्याधि और उपाधिरूप त्रिविध ताप से संतप्त प्राणियों के विश्राम के लिए घटादार वटवृक्ष है। अशरण के लिए शरणरूप और निराधार के लिए आधाररूप है। तृष्णारूपी तृषा से तृषित (प्यासे, जीवों के लिए गंगा के शीतल नीर के समान शान्तिप्रद है। आज चातुर्मास की पूर्णाहुति का दिवस है। आज के दिन साधु-साध्वी, या श्रावक-श्राविका समस्त जीवों से क्षमापना (क्षमा मांगना और क्षमा देना) करते हैं। ज्ञानी कहते हैं कि "जो जीव क्षमारूपी कल्पवृक्ष की छाया में बैठते हैं, वे मनोवांछित फल को प्राप्त करते हैं और जो जीव क्रोध-कषायादि विषवृक्ष के नीचे जाकर बैठते हैं, वे उसके जहर के प्रभाव से भव-परम्परा बढ़ाकर जन्मोजन्म तक दुःख भोगते हैं। इसीलिए प्रभु ने उपदेश दिया है कि मोक्ष के "इच्छुक जीवों को, चाहे जैसे संयोगों में भी क्षमारूपी कल्पवृक्ष का आश्रय नहीं छोड़ना चाहिए।" क्षमाधर्म महान् है। जो चाहे जैसे (विपरीत) संयोगों में भी क्षमा को नहीं छोड़ते, उनके चरणों देवगण नमन करते हैं। प्राचीनकाल में क्षमावान् साधुओं और श्रावकों की क्षमा की परीक्षा के लिए देव आते थे, वे उसे अनेक प्रकार के कष्ट देकर डिगाने का प्रयत्न करते थे, परन्तु वे महान साधक क्षमा धर्म से विचलित

नहीं होते थे । कहा भी है - *"क्षमा-खड्गं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति ?"* जिसके हाथ में क्षेमारूपी तलवार है, उसका दुर्जन या शत्रु क्या बिगाड़ सकेगा ? कुछ भी नहीं । सारांश यह है कि क्षमावान के सामने बड़े-से बड़े प्रबल शत्रु-विरोधी अथवा दुर्जन व्यक्ति भी झुक जाते हैं । मुमुक्षु या साधक आत्मा जब आत्म-साधना करने में प्रवृत्त होते हैं, तब उनके मार्ग में आक्रमण करनेवाले कषायरूपी शत्रुओं को जीतने के लिए सर्वप्रथम क्षमारूपी खड्ग हाथ में रखते हैं । जिसके पास क्षमारूपी शस्त्र है, उसके सामने कोई टिक नहीं सकता । क्षमा का अर्थ कायरता, लाचारी या चापलूसी नहीं है, अपितु क्षमा का वास्तविक स्वरूप है -

"सत्यपि सामर्थ्ये अपकार-सहनं क्षमा ।" अपना या अपनों का अपकार करनेवाले को दण्ड देने या उसका प्रतीकार करने की शक्ति (सामर्थ्य) होते हुए भी अपकार को सह लेना क्षमा है । क्षमा में धैर्य, गाम्भीर्य, अहिंसादि गुण, सेवा, कष्ट, सहन, विनय, नम्रता आदि अनेक गुण निहित हैं । अहिंसा-सत्यादि गुणों की पालन करने में, सेवा, त्याग, तप, प्रत्याख्यान, परिसह-उपसर्ग आदि को सहन करने में जो तुष्ट सहिष्णुता, सहनशीलता, धैर्य, समभाव आदि रखा जाता है, भी क्षमा में समाविष्ट हैं ।

देवानुप्रियों ! क्षमा में महान शक्ति अदृश्यरूप से पड़ी रहती है, क्षमा साधक-जीवन का सर्वोत्तम और प्राथमिक गुण है । साधु-साध्वीवर्ग के दशविध श्रमण-धर्मो में क्षमा को सबसे पहला धर्म बताया है । यही कारण है कि साधक-साधिकाओं से कोई छोटा-सा भी अपराध हो जाता है तो वे तुरंत क्षमायाचना करते हैं । अपराध की क्षमा मांग लेने से हृदय एकदम हल्का फूल हो जाता है । आत्मा में अह्लाद उत्पन्न होता है । सर्व जीवों के प्रति मैत्रीभाव सक्रिय हो जाने से एक-दूसरों के प्रति विश्वास पैदा हो जाता है । इसलिए जीवन के प्रत्येक व्यवहार में क्षमाभाव की आवश्यकता है ।

हमें प्रकृति से भी क्षमा (सहिष्णुता) की प्रेरणा मिलती है । आम, अमरूद आदि वृक्ष सर्दी, गर्मी आदि तथा पत्थर आदि की चोट सहकर दूसरे को फल-फूल देते हैं, वैसे हमें भी कष्ट सहकर दूसरों को सुख देना चाहिए । उदाहरणार्थ - मोमबत्ती स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देती है, अगरबत्ती स्वयं जलकर दूसरों को सुगन्ध देती है । किन्तु मानव कष्ट सहकर दूसरों को क्या देता है ? फिर भी *'बहुरत्ना वसुन्धरा'* ऐसे नररत्न भी इस पृथ्वी पर बसे हुए हैं, जो अपने समग्र सुखों की उपेक्षा करके दूसरों का दुःख मिटाते हैं । आप जानते हैं कि आज सुख के महलों में मौज उड़ानेवाले धनवान कल निर्धन व रंक बन जाते हैं और कल का रंक आज राजा बन कर महलों में मौज करता है । ये सब कर्मराजा के खेल हैं । यों समझकर मनुष्य को सुख में मदोन्मत्त नहीं बनना और दुःख में घबराना नहीं चाहिए और उपकारी का उपकार कभी नहीं भूलना चाहिए । मानवता का पाठ यह सिखाता है कि तेरा बुरा
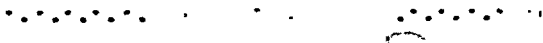
करनेवाले का भी तू भला करना । इस सम्वन्ध में मुझे एक सच्ची घटना याद आ रही है ।

एक बड़े करोड़पति गर्भश्रीमान् सेठ थे । उनके एक बड़ी सर्राफे की दुकान थी, जिसमें प्रतिदिन लाखों रुपयों की टर्नओवर होती थी । उस समय उनके भाग्य का भानु खूब चमकता था । वह जो भी व्यवसाय करता, उसमें सवाया लाभ होता था । अर्थात् - लक्ष्मी तो पानी की बाढ़ की तरह उसके यहाँ आती थी । इस सेठ की फर्म में एक गरीब मनुष्य मुनीम की नौकरी के लिए आया । सेठ ने उसकी परीक्षा लेने के इरादे से उससे कुछ वाक्य लिखकर देखा तो उसके अक्षर मोती के दाने जैसे सुन्दर थे । फिर सेठ ने उसकी बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए पूछा - "तुम्हें लिखना तो अच्छा आता है, किन्तु लिखे हुए को मिटाना भी आता है ?" उसने कहा - "हाँ ।" सेठ ने कहा - "मिटा दो, देखें ।" तब उसने कहा - "सेठजी ! यों नहीं मिटाया जाता ।" "तो कैसे मिटाया जाता है ?" उसने कहा - "साहब ! कोई गरीब मनुष्य हो, अपना कर्जदार हो, किन्तु कर्ज की रकम भरने में समर्थ न हो, तब उससे थोड़ा-बहुत वसूल करके फारगती की जाए, उसे मिटाना कहलाता है ।" सेठ ने उस मनुष्य की बौद्धिक प्रखरता देखकर उसे नौकरी में रख लिया । उसका नैतिकतायुक्त जीवन देखकर सेठ ने उसे 'हेडमुनीम' बना दिया । फिर भी उसमें अनीति और अहंकार तो लेशमात्र भी नहीं पाया गया । वह सदा नीति और नम्रता से कार्य करता था । उसकी शुद्ध नियत, नम्रता और कार्य-कुशलता देखकर सेठ ने फर्म का सारा संचालन-प्रबन्ध उक्त मुनीम के हाथ में सौंप दिया । घर के नौकर, मुनीम आदि सब दिल के अच्छे और ईमानदार सद्भाग्य से मिलते हैं । एक बार सेठ और वह मुनीम दोनों कार में बैठकर घूमने जा रहे थे । रास्ते पर एक ककड़ी बेचनेवाली बाई को देखकर सेठ ने भाव पूछा तो उसने एक ककड़ी के दो पैसे दाम बताए । सेठ उसे एक पैसा देने लगे । तब उस बाई ने कहा - "इसकी अपेक्षा तो आप मुक्त में ले जाइए ।" सेठ ने मुफ्त में ले ली । यह देखकर मुनीम के मन में विचार आया - 'अब सेठ की पुण्यवानी घट गई है ।"

सेठ की वृत्ति देखकर मुनीम ने नौकरी से छुट्टी मांगी : मुनीमजी अत्यन्त गम्भीर और चतुर थे । सेठ का ऐसा व्यवहार देखकर वह समझ गये कि मेरे सेठ की अब पतन की दशा आएगी । क्योंकि पहले तो ऐसे करोड़पति सेठ मामूली ककड़ी जैसा फल स्वयं खरीदने नहीं जाते । वह खरीदे तो भी ऐसे गरीब आदमी को दो पैसे के बदले पाँच पैसे देकर खुश करता है, किन्तु उसे निराश नहीं करता । मगर सेठ ने तो गरीब बाई की ककड़ी दो पैसे भी न देकर मुफ्त में ले ली । यह इनके पतन की निशानी है ? अतः अब मुझे इस फर्म में रहना उचित नहीं है, क्योंकि मैं अपने सेठ को दुःखी नहीं देख सकता ।' यों सोचकर मुनीम ने सेठजी से कहा -

"सेठजी ! आपके पुण्य प्रताप से मैं सुखी हूँ । मैं अपनी पत्नी को काफी समय से देश में रखकर आया हूँ । अत: अब मुझे नौकरी से छुट्टी दीजिए ।" सेठ ने कहा - "तुम तो मेरी फर्म के स्तम्भ हो । मैं तुम्हें नौकरी से छुट्टी नहीं दे सकता ।" परन्तु मुनीम का नौकरी छोड़ने का अति-आग्रह देखकर सेठ ने उसे आँखों में अश्रु लाते हुए छुट्टी दी और उसके बहुमान में उसे २५ हजार रुपये दिये । मुनीम वहाँ से विदा होकर अपने गाँव में आ गया ।

मुनीम की भाग्यदशा जागी, सेठ का भाग्य रूठा : मुनीम ने अपने गाँव में आकर व्यवसाय प्रारम्भ किया । उसका भाग्य जगा, व्यापार में खूब तरक्की हुई । वह लखपति हो गया । दूसरी ओर सेठ के व्यापार में बहुत घाटा लगा । धंधा चौपट हो गया । अन्त में उसकी पूर्ति करने में सेठ की फर्म, घरबार आदि सब बिक गये । खाने के लाले पड़ गए । सेठ-सेठानी दोनों चौधार अश्रुपात करने लगे, कोई उन्हें आश्वासन देकर शान्त रखनेवाला नहीं । हजारों को पालनेवाले आज रोटी के लिए मोहताज हो गए । आखिर सेठजी ने गाँव छोड़ा और पति-पत्नी दोनों फिरते-फिरते मुनीम के गाँव में आए । गाँव के बाहर एक बगीचा था, उसमें सेठानी को बिठाकर सेठ गाँव में आए । वह मुनीम का घर और दुकान पूछते-पूछते, अन्त में मुनीम की दुकान पर आए । देखा तो मुनीम बड़ा सेठ बनकर बैठा है । कितने ही छोटे व्यापारी इसके पास धंधे के लिए बैठे हैं । उस समय निर्धन बने हुए सेठ दुकान के सामनेवाले एक ओटे पर बैठकर देखने लगे - 'मुनीम का कितना आदर-सम्मान है ? इसका कितना वैभव है ? इसके वैभव के आगे मैं तो भिखारी जैसा मालूम होता हूँ । क्या इतना बड़ा आदमी बना हुआ मुनीम क्या मेरे सामने देखेगा ? यह मुझे पहचानेगा ? मेरी गरीबी देखकर इसे दया आएगी ? क्योंकि इस संसार में तो देखा गया है जहाँ मधु होता है, वहाँ मधुमक्खियाँ आती हैं । इस समय मेरे पास पैसे या मधु नहीं हैं तो यह मुझे बुलायेगा क्या ? अगर इसकी दृष्टि मेरे पर पड़ जाय और मुझे यह बुलाये तो मैं तुरंत इसके पास जाऊँ । किन्तु बिना बुलाये ऐसे धनवान के पास कैसे जाया जाए ?' यों विचार करते हुए सेठ खड़े हैं । तभी मुनीम की दृष्टि सेठ पर पड़ी । अपने सेठ को देखकर मुनीम तुरंत गद्दी पर से उठकर सेठ के पास आया और सेठ के चरणों में पड़ा । सेठ की स्थिति देखकर वह रो पड़ा । फिर सारी हकीकत पूछी । सेठ ने सारी आपबीती सुनाई । सुनकर मुनीम ने कहा - "यह सब आपका है । मैं आपका पुत्र हूँ । आप बिलकुल मत घबराइए ।"

देवानुप्रियों ! मुनीम की कितनी कृतज्ञता है ? और सेठ द्वारा किये हुए उपकार के बदले में प्रत्युपकार करने की कैसी पवित्र भावना है ? तुम पर भी किसी ने उपकार किया हो तो उसे जरा भी भूलना मत । इस मुनीम के समान कृतज्ञ बनना । मुनीम ने सेठ को गद्दी पर बिठाकर पूछा - "मेरी माताजी के समान सेठानी कहाँ हैं ? आप

अकेले पधारे हैं या वे भी साथ में आई हैं ?" सेठ ने कहा - "वह भी मेरे साथ ही आई है। वह गाँव के बाहर बगीचे में विश्राम लेने के लिए बैठी है।" मुनीम ने कहा - "आप अब उसकी चिन्ता न करें। मैं गाड़ी भेजकर अभी तुरंत उन्हें बुला लेता हूँ।" यों कहकर मुनीम घर गया। इस तरफ क्या बनाव बना ? सेठानी बगीचे में एक पेड़ के नीचे बैठी थी। उस समय इस मुनीम के बच्चे को बगीचे में रमाने के लिए लेकर आया। मुनीम के यहाँ बहुत वर्षों बाद यह बच्चा हुआ था। सात खोट का बच्चा था, इसलिए उसे बहुत-से गहने पहनाए हुए थे। नौकर बच्चे को रमाना छोड़कर सामने फूल लेने गया। उस समय गहने देखकर सेठानी की नियत बिगड़ी कि 'अब भूखे रहा नहीं जाता। सेठ रखेंगे या नहीं रखेंगे। अतः इस बच्चे को मार कर इसके सब गहने ले लूंगा।' '*बुभुक्षितः किं न करोति पापम्*' इस कहावत के अनुसार दुःख के मारे इतना भी विचार नहीं किया कि हम अशुभ कर्मोदय के कारण पहले से ही दुःखी हो रहे हैं और अभी यह पाप और करेंगे तो हमारा क्या होगा ? गहने के लिए फूल-से नन्हे बालक का गला दबाकर मार डाला और सभी गहने ले लिये। किन्तु मृत-बालक को रखना कहाँ ? कोई देख लेगा तो ? सोचते-सोचते एक टोकरे में मृत बालक को और गहनों को रखकर ऊपर से कपड़ा ढक दिया।

बन्धुओं ! कर्म को किसी की शर्म नहीं होती। कर्म की दशा क्या-क्या कराती है ? हजारों को पालन करनेवाले दयालु के दिल में भी निर्दयता का प्रवेश कराकर बालक के प्राण लेने का हिंसक कृत्य कराया। कर्म के उदय के समय मानव विचारशून्य बन जाता है। उसे कृत्य-अकृत्य का भान नहीं रहता। सेठानी बच्चे की लाश को टोकरे में ढककर वहाँ बैठी थी, तभी फूल लेने गया हुआ नौकर आया। किन्तु वहाँ बच्चे को न देखकर उसके पेट में धड़क पड़ी - 'बच्चा कहाँ गया ?' यों व्याकुल होकर वह बच्चे को चारों ओर ढूंढने लगा। परन्तु बच्चा कहीं भी दिखाई नहीं दिया। तब उसने सेठानी से पूछा - "बहन ! तुमने बच्चे को कहीं देखा है ?" तब सेठानी ने कहा - "बच्चा कौन-सा और कहाँ ? कोई बात ही नहीं है।" परन्तु नौकर बहुत होशियार था। उसने पूछा - "बाई ! तेरे इस टोकरे में क्या है ? मुझे देखने दे।" बाई इसे देखने नहीं देती। परन्तु नौकर ने उस टोकरे को देखा तो अंदर बच्चे की लाश और गहने मिले। यह देखकर नौकर रो पड़ा। "अरे ! मैं सेठ को क्या मुँह बताऊँगा ? अरी पापिनी ! तूने तो गजब कर डाला ! मेरे सेठ के एकलौते लाडले लाल को मार डाला। निर्दय ! तुझे जरा भी दया नहीं आई ? धिक्कार है तुझे !" यों फफक-फफककर जोरजोर से रोने लगा। सेठानी भी पकड़े जाने के डर से थर-थर कांपने लगी। उसके पश्चात्ताप का पार न रहा। भगवान् फरमाते हैं - "हे जीव ! तू एकान्त अंधेरे कोने में छिपकर पाप करेगा तो भी वह प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा।"

सेठानी का पाप तुरंत फूट गया । जिसके घर में आश्रय लेने की आशा से आये थे, उसके घर के कोमल फूल को मसल डाला ! कर्मराजा ने कैसी दशा कर दी ? यह सेठानी कहीं भाग न जाय, इसके लिए चपराशी को सौंपकर रोता-रोता नौकर हाँफता-हाँफता सेठ के पास आकर पछाड़ खाकर गिर पड़ा । सेठ ने पूछा - "भाई ! क्या बात है ? तू इतना रो क्यों रहा है ?" "अपने प्यारे बच्चे की हत्या हो गई ?" सेठ ने पूछा - "क्या हुआ ? कैसे हुआ ?" नौकर ने दुःखित हृदय से सारी बात कह दी । अतः मुनीम समझ गया कि 'निश्चय ही दूसरा कोई नहीं, यह मेरी सेठानी होनी चाहिए । यों तो वह ऐसा अघटित (अयोग्य) काम नहीं करती, परन्तु दुःख के मारे ऐसा किया मालूम होता है ।'

मुनीम ने नौकर से कहा - "मैं सब संभाल लूंगा । तू रो मत ।" फिर मुनीम अपनी पत्नी के पास गया और उससे कहा - "मेरे परम उपकारी सेठ और सेठानी आए हैं । उनका मेरे पर बहुत उपकार है ।" मुनीम की पत्नी ने कहा - "वे तो आपके माँ-बाप कहलाते हैं । उन्हें अपने घर ले आओ ।" मुनीम ने कहा - "तेरी बात सत्य है । परन्तु उनसे अपना एक बड़ा नुकसान हो गया है ।" "क्या नुकसान हुआ है ?" मुनीम ने पहले तो आड़ी-टेढी, हिम्मत आए, ऐसी बातें कहीं । फिर संसार की असारता, मानव कर्मोदयवश कहाँ, कैसे भूल जाता है ? ऐसी बहुत-सी बातें करने के बाद, अपने बच्चे का क्या हुआ ? किसने किया ? इत्यादि सत्य हकीकत कह दी । यह सुनते ही मुनीम की पत्नी पछाड़ खाकर धड़ाम से गिर पड़ी । बेहोश हो गई । मुनीम ने बहुत ढाढस बंधाया । उपचार करने पर मुनीम-पत्नी होश में आई । "अरर मेरा बहुत ही मिन्नतों के बाद मिला इकलौता पुत्र चला गया । अचानक यह क्या हो गया ? यह तो कुल का दीपक बुझ गया ।" एक ही पुत्र के चले जाने पर किसको दुःख नहीं होता ? मुनीम के दिल में भी दुःख तो था । फिर भी वज्र-सा हृदय बनाकर कहा - "सेठानी ! एक क्षण पहले दिया हुआ वचन तू भूल गई ! शान्त हो जाओ । जो बनने का था, वह बन गया । अपना उसके साथ ऋणानुबन्ध पूर्ण हुआ । अब हिम्मत रखे बिना कोई चारा नहीं है ।" यों बोधभरे वचन सुनाकर सेठानी को शान्त किया और कहा कि "तुम अच्छे वस्त्र पहनकर वहाँ बगीचे में जाकर सेठानी को अच्छे वस्त्र पहनाकर ससम्मान घर ले आओ । अपने मुख पर जरा-भी शोक की रेखा मालूम न होने देना । आज अपने घर मांगलिक दिवस है, ऐसा मानना ।" सेठानी ने सेठ की बात कबूल की और बगीचे में बैठी हुई सेठानी को घर ले आई और खूब प्रेम से स्वयं ने भोजन किया और उन्हें कराया ।

तत्पश्चात् सेठ-सेठानी जब एकान्त में मिले, तब सेठानी ने अपने द्वारा किये हुए पाप की बात सेठ के आगे प्रकट की और वह पछाड़ खाकर गिर पड़े । दूसरी ओर मुनीम ने गुप्तरूप से चुपचाप बालक की अन्तिम क्रिया की । सेठ-सेठानी को नौकरों

द्वारा पता लगा कि जिस बालक को सेठानी ने मार डाला था, वह इस मुनीम का था। इस बात का पता लगने पर दोनों ढेर होकर धड़ाम से गिर पड़े और बोले- "अहो ! मुनीम की कितनी कृतज्ञता है कि उसके इकलौते पुत्र की इस प्रकार से हत्या होने पर भी वह अपना उपकार भूलता नहीं है, कितनी गजब की क्षमा है ?" अपनी अक्षम्य भूल की सेठ-सेठानी ने मुनीम से क्षमा मांगी, तब मुनीम ने नम्रतापूर्वक कहा - "पिताजी ! आप क्यों अफसोस करते हैं ? इस संसार में जन्म-मरण का चक्र तो चलता रहता है। यह बालक मेरे घर रमने (खेलने) के लिए आया था, किन्तु उसकी पुण्यवानी पूरी होने पर चला गया। मेरी माताजी (सेठानी) तो निमित्त-मात्र हैं। सबको एक दिन तो मरना है ही।" मुनीम की और उसकी पत्नी की इस प्रकार की क्षमा देखकर सेठ-सेठानी बहुत रो पड़े और अन्तर से दुआ देते हुए कहने लगे - "भगवान् ! तुम्हें सुखी रखें। अब हम पापी यहाँ नहीं रहेंगे।" किन्तु मुनीम ने और उसकी पत्नी ने उन्हें जबरन रखे। इतना ही नहीं, उन्हें अपने माँ-बाप की तरह रखे और माँ-बाप समझकर तदनुरूप उनका पालन-रक्षण किया, उनकी सेवा की। धन्य है - मुनीम को और उसकी पत्नी की क्षमा और उदारता को। अन्त में मुनीम के पुण्योदय से सभी अच्छे संयोग उपस्थित हुए और मुनीमजी के पुण्योदय से पुत्ररत्न का जन्म हुआ। प्रिय बन्धुओं और बहनों ! इनकी क्षमा को सुनकर आप भी क्षमावान् बनें।

अ. मल्लिनाथ का अधिकार

जितशत्रु-प्रमुख छहों राजाओं ने मल्लिनाथ-प्रभु को विनती की "आप हमारे महान उपकारी हैं। आपने हमें कल्याण का मार्ग बताया है। यह संसार जाज्वल्यमान दावानल जैसा है। अतः उसमें से हमारी रक्षण करने के लिए अब दीक्षा प्रदान कीजिए।" भगवान् ने उनकी विनती का स्वीकार किया। फिर जितशत्रु मुख्य छहों राजाओं ने मल्लिनाथ भगवान् के पास दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा लेकर वे निरतिचार-रूप से चारित्र का पालन करने लगे। साथ में ज्ञानाभ्यास करते हुए चौदह पूर्वों का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। अन्त में, चार घातीकर्मों का क्षय करके छहों अनगारों ने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया और सर्वकर्म मुक्तिरूप मोक्ष के अधिकारी बन गये। मल्लिनाथ तीर्थंकर दीक्षा लेकर उसी दिन केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। फिर सहस्राम्रवन से निकलकर तीर्थंकर-प्रभु की परम्परानुसार बाहर के जनपदों में विहार करके अनेक जीवों को प्रतिबोध देकर तारे। मल्लिनाथ-प्रभु के भिषग् प्रमुख २८ गणधर थे। उनके संघ में ४० हजार श्रमण थे और बन्धुमती-प्रमुख ५५ हजार साध्वीजी थीं। एक लाख चौरासी हजार श्रावक थे, तीन लाख पैंसठ हजार श्राविकाएँ थीं। ६१४ चतुर्दशपूर्वधर मुनिगण थे। दो हजार अवधिज्ञानी संत थे। तीन हजार दो

सौ केवलज्ञानी थे । तीन हजार वैक्रियलब्धिधारी थे, आठ सौ मनःपर्यवज्ञानी थे । चौदह सौ वादी थे । दो हजार सर्वार्थ-सिद्ध विमान में जानेवाले एकावतारी थे । मल्लिनाथ भगवान् से लेकर उनके शिष्य-प्रशिष्य आदि बीसवीं पाट तक साधु गण मोक्ष में गए हैं ।

मल्लिनाथ भगवान् का देहमान २५ धनुष्य का था । उनके शरीर का वर्ण प्रियंगु-समान नील था । उनका संस्थान (संगण) समचतुरस्र था, तथा संहनन (संघयण) वज्र ऋषम-नाराच था । ऐसे वे मल्लिनाथ भगवान् मध्य-देश में सुखपूर्वक विचरण करके एक बार समेत नामक पर्वत पर पधारे, वहाँ पधारकर समेतशिखरपर्वत पर उन्होंने पादपोपगमन नामक अनशन ग्रहण किया । मल्लिनाथ अरिहन्त भगवान् १०० वर्ष तक गृहवास में रहे, फिर १०० वर्ष कम ५५००० तक केवली-पर्याय पालकर कुल ५५००० वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके चैत्र सुदी ४ के दिन भरणी नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था, तब अर्धरात्रि के समय आभ्यन्तर पर्षदा की ५०० साध्वियों और बाह्य पर्षदा के ५०० साधुओं के साथ एक मास के चौविहार (निर्जल) अनशन द्वारा दोनों हाथ लम्बे करके वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार अघातीकर्मों का सर्वथा (पूर्णरूप से) क्षय करके वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर मोक्ष पहुँची ।

बन्धुओं ! भगवान् मल्लिनाथ का अधिकार और प्रद्युम्न चरित्र लगातार चार मास तक आपने सुना । इनमें से हमें बहुत-बहुत जानने को मिला है । आपका आत्मा इनमें थोड़ा-सा भी ग्रहण करेगा तो आपका व्याख्यान-श्रवण सार्थक और सफल होगा ।

मल्लिनाथ भगवान् को निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् उनके शरीर की अन्तिम क्रिया करने के लिए स्वयं शक्रेन्द्र आते हैं, इत्यादि काफी वर्णन है । परन्तु चातुर्मास की पूर्णाहुति हो जाने के कारण इस विषय में विस्तार में न जाकर इसे यहीं स्थगित कर देती हूँ । आज भी काफी समय हो गया है । आपको इन व्याख्यानों से मुख्य प्रेरणा यही लेनी है कि अपने आत्मारूपी बाग को मघमघायमान और शोभायमान बनाने के लिए सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूपी जल का सिंचन करके इसे सुसज्ज और मंगलमय बनाना है । इन चारों मोक्षमार्ग के साधनों द्वारा आत्मविकास की परिपूर्णता तक पहुँचना है । आत्मधर्म के ये ही चारों अंग हैं । इन चारों धर्मों की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसी आशा के साथ मैं विराम लेती हूँ ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(अन्त में, पूज्या महासतीजी ने चतुर्विध संघ से क्षमापना की, तब श्रोताजनों की आँखें आंसुओं से छलछला उठीं ।)

वजुभाई का प्रवचन

संघ प्रमुख श्री वजुभाई क्षमापना करते हुए बोले - "जिनकी वाणी में अपूर्व ओज है, जो वीतराग शासन को नव-पल्लवित करनेवाली, महाविदुषी बा.ब्र. पूज्य शारदाबाई महासतीजी तथा अन्य साध्वीगण ! महासतीजी ने हमारे अहोभाग्य से घाटकोपर चातुर्मास करके हम पर महान उपकार किया है । पू. महासतीजी के प्रभावशाली प्रवचनों से अपने यहाँ तपश्चर्या की झड़ियाँ लग गई । चौदह मासखमण तथा दूसरी तपश्चर्याएँ ५०० से ऊपर गई । तदुपरान्त दान और शीलव्रत की आराधना भी विपुल प्रमाण में हुई है । निष्कर्ष यह है कि समग्र चातुर्मास धर्माराधना से गर्जता और गूंजता रहा है । यह चातुर्मास अपने क्षेत्र के इतिहास में अजोड़ और अभूतपूर्व हुआ है, जो स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा । मेरी आपसे नम्र विनती है कि हमारे संघ को पुनः-पुनः ऐसा अलभ्य लाभ प्रदान करें ।

पू. महासतीजी ने हमसे क्षमापना मांगी, यह उनकी सरलता और उदारता है । महासतीजी को हमसे क्षमा मांगनी नहीं होती, क्षमा तो आपसे नम्रतापूर्वक हमें मांगनी चाहिए । अतः यहाँ चातुर्मास में विराजित तेरह महासतियों में से हमसे (संघ से) किन्हीं भी महासतीजी की अविनय-आशातना हुई हो, उनका दिल दुखाया हो, उनकी सेवा-भक्ति न हुई हो, तो उनसे पुनः पुनः मन-वचन-काया से मेरी तरफ से तथा संघ की तरफ से क्षमा मांगता हूँ । वे हमें क्षमा प्रदान करें ।"

वचुभाई दोशी का प्रवचन

"शासनरत्ना, महाविदुषी वैराग्यपूर्ण वाणी को जोशीले शब्दों में बहानेवाली साक्षात् सरस्वती के अवतार-तुल्या बा.ब्र. पूज्या महासतीजी तथा वीतराग-वाटिका की विकसित पुष्पकलिका समा अन्य महासतीजी, भाइयों और बहनों !

आज मुझे यह कहते हुए हर्ष हो रहा है कि मेरी तथा संघ की दस-दस वर्ष से की जाती हुई भावना को मान देकर पू. महासतीजी अपने क्षेत्र में चातुर्मास के लिए पधारी । इस चातुर्मास में तपस्या की तो बाढ़ आ गई । पू. महासतीजी की जब से घाटकोपर में चातुर्मासार्थ पुनीत पदार्पण हुए, तब से लेकर अबतक समग्र चातुर्मास तथा अपना धर्मस्थान धर्म के वातावरण से धमधमकता रहा है । मेरी भावना पूर्ण होने से आज मेरा हृदय हर्ष से नाच उठा है । साथ ही पू. महासतीजी वीतराग-वचनामृत का पान अधूरा कराकर विहार कर रही हैं, उससे मेरे अन्तर में दुःख महसूस हो रहा है ।

मेरे भाइयों और बहनों ! अधिक तो क्या कहूँ । पूज्य महासतीजी की वाणी का ऐसा अद्‌भुत प्रभाव है कि सुननेवाले के द्रव्यरोग और भावरोग दोनों मिट जाते

हैं । मैं अपने अनुभव की बात कहता हूँ कि मेरे तन-मन में असह्य दर्द हो रहा हो, उस समय पू. महासतीजी की वाणी सुनते ही मैं अपने दर्द को भूल जाता हूँ। पू. महासतीजी वि. संवत् २०२७ शेपकाल में जामनगर पधारी-थीं, तब मैं वहाँ गया था, तो मैंने देखा कि पू. महासतीजी की वाणी सुनने के लिए मानवमेदिनी दूर-दूर से उमड़ती थी । तब से मेरे मन की एक ही भावना है कि पू. महासतीजी जामनगर को चातुर्मास का लाभ दें । घाटकोपर चातुर्मास कराने की मेरी भावना पूर्ण हुई । अब जामनगर चातुर्मास कराने की मेरी भावना अधूरी रही है, जिसे वे जामनगर पधार कर पूर्ण करें । अन्त में, मेरी और संघ की यही भावना है कि पू. महासतीजी को विहार में खूब शाता रहे और वे वीतराग-शासन को अधिकाधिक उन्नत बनावें, यही मेरी अंतर की अभिलाषा है ।"

पं. शोभाचन्दजी भारिल्ल का प्रवचन

"परम पूज्य वन्दनीय, शासन की शान बढ़ानेवाली पू. महासतीजी, अन्य सतीवृन्द भाइयों और बहनों !

मैंने कल और आज पू. महासतीजी का व्याख्यान सुना । मुझे यह कहते हुए आनन्द होता है कि पूज्य महासतीजी की वाणी का प्रवाह अस्खलित रूप से बहता है। इनकी वाणी हृदयस्पर्शी और सरल है। इस कारण प्रत्येक आत्मा सरलता से समझ सकता है। जैसे पहाड़ पर से गिरता पानी का प्रवाह बड़े-बड़े पत्थरों को भी तोड़ डालता है । वैसे ही पू. महासतीजी के बोध का प्रवाह कठोर से कठोर हृदय के मानव को भी पिघाल डालता है । ऐसी शक्ति किसी प्रभावशाली आत्मा में होती है । पू. महासतीजी की वाणी का एक-एक शब्द हृदय में उतरे तो भौतिक वासना का जहर उतर जाता है । पू. महासतीजी की एक ही भावना है कि चतुर्विध संघ की उन्नति हो, जैन-शासन का जय हो और वह विशेष उन्नत हो । इसके लिए वे अपनी शक्ति का सदुपयोग कर रही हैं । मैं अधिक कहना नहीं चाहता । अन्त में, पू. महासतीजी चतुर्विध संघ की विशेष उन्नति करें, उसके लिए उन्हें परमकृपालु वीतराग-प्रभु उन्हें विशिष्ट शक्ति प्रदान करें और भव्यजीव उनसे लाभ उठावें, इतना कहकर में विराम लेता हूँ ।"

शरदभाई का प्रवचन

"सात्त्विक रस का पान करतीं और करातीं, शुद्ध भावना का भोजन करतीं और करातीं, शान्त, दान्त, गुणगम्भीर वन्दनीय पू. महासतीजी तथा अन्य साध्वीजी आदि गण १३ घाटकोपर चातुर्मासार्थ पधारकर इस क्षेत्र को पावन किया है । आपका

हैं। मैं अपने अनुभव की बात कहता हूँ कि मेरे तन-मन में असह्य दर्द हो रहा हो, उस समय पू. महासतीजी की वाणी सुनते ही मैं अपने दर्द को भूल जाता हूँ। पू. महासतीजी वि. संवत् २०२७ शेषकाल में जामनगर पधारी थीं, तब मैं वहाँ गया था, तो मैंने देखा कि पू. महासतीजी की वाणी सुनने के लिए मानवमेदिनी दूर-दूर से उमड़ती थी। तब से मेरे मन की एक ही भावना है कि पू. महासतीजी जामनगर को चातुर्मास का लाभ दें। घाटकोपर चातुर्मास कराने की मेरी भावना पूर्ण हुई। अब जामनगर चातुर्मास कराने की मेरी भावना अधूरी रही है, जिसे वे जामनगर पधार कर पूर्ण करें। अन्त में, मेरी और संघ की यही भावना है कि पू. महासतीजी को विहार में खूब शाता रहे और वे वीतराग-शासन को अधिकाधिक उन्नत बनावें, यही मेरी अंतर की अभिलाषा है।"

पं. शोभाचन्दजी भारिल्ल का प्रवचन

"परम पूज्य वन्दनीय, शासन की शान बढ़ानेवाली पू. महासतीजी, अन्य सतीवृन्द भाइयों और बहनों !

मैंने कल और आज पू. महासतीजी का व्याख्यान सुना। मुझे यह कहते हुए आनन्द होता है कि पूज्य महासतीजी की वाणी का प्रवाह अस्खलित रूप से बहता है। इनकी वाणी हृदयस्पर्शी और सरल है। इस कारण प्रत्येक आत्मा सरलता से समझ सकता है। जैसे पहाड़ पर से गिरता पानी का प्रवाह बड़े-बड़े पत्थरों को भी तोड़ डालता है। वैसे ही पू. महासतीजी के बोध का प्रवाह कठोर से कठोर हृदय के मानव को भी पिघाल डालता है। ऐसी शक्ति किसी प्रभावशाली आत्मा में होती है। पू. महासतीजी की वाणी का एक-एक शब्द हृदय में उतरे तो भौतिक वासना का जहर उतर जाता है। पू. महासतीजी की एक ही भावना है कि चतुर्विध संघ की उन्नति हो, जैन-शासन का जय हो और वह विशेष उन्नत हो। इसके लिए वे अपनी शक्ति का सदुपयोग कर रही हैं। मैं अधिक कहना नहीं चाहता। अन्त में, पू. महासतीजी चतुर्विध संघ की विशेष उन्नति करें, उसके लिए उन्हें परमकृपालु वीतराग-प्रभु उन्हें विशिष्ट शक्ति प्रदान करें और भव्यजीव उनसे लाभ उठावें, इतना कहकर मैं विराम लेता हूँ।"

शरदभाई का प्रवचन

"सात्त्विक रस का पान करतीं और करातीं, शुद्ध भावना का भोजन करतीं और करातीं, शान्त, दान्त, गुणगम्भीर वन्दनीय पू. महासतीजी तथा अन्य साध्वीजी आदि गण १३ घाटकोपर चातुर्मासार्थ पधारकर इस क्षेत्र को पावन किया है। ...

गुणगान करते हुए मेरे तथा अन्य श्रोताजनों का हृदय हर्षित हो रहा है। चातुर्मास के चार-चार महीने तो मानो पलभर में पार हो गए। यह चातुर्मास बेजोड़, अद्भुत और श्रेष्ठ हुआ है, जो बृहद् मुंबई के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा। अपने चातुर्मासकाल में प्रायः एक दिन भी व्याख्यान बंद रखे बिना वीरवाणी की अस्खलित प्रवाह बहाया है।

छठे अंगशास्त्र 'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' के आधार पर आठवें अध्ययन में प्ररूपित 'मल्लिनाथ भगवान् का अधिकार' तथा 'प्रद्युम्नकुमार का चरित्र' पूज्य महासतीजी ने युक्ति, आगमसूक्ति, श्रुति और अनुभूति के आधार पर दृष्टान्त, रूपक, तर्क, प्रमाण, धारणा एवं व्यवहार, निश्चय और शास्त्रोक्त न्याय के आधार पर सुन्दर ढंग से समझाया है, ताकि प्रत्येक जीव आसानी से समझ सके और भौतिकवाद के भंवरजाल में पड़े हुए मानव आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति कर सके। इस चातुर्मास की विशेषता तो यह रही कि भावी पीढ़ी के उत्तराधिकारी (वारसदार) युवावर्ग भी पू. महासतीजी की वाणी से प्रभावित और आकर्षित हुआ है। वृद्ध और प्रौढ़ तो नित्य, निरन्तर लाभ लेते ही रहे हैं, परन्तु इस चातुर्मास में अधिकांश युवक-युवतियाँ पू. महासतीजी के आध्यात्मिक सम्पर्क में रहे हैं। तप, त्याग वगैरह का भी इस चातुर्मास में रिकार्ड तोड़ डाला है, श्रावक वर्ग ने सुकुमार बालिकाओं ने भी मासखमण किया है। दानपेटी भी छलक उठी है। यह सारा यश पू. महासतीजी के हिस्से में जाता है। पू. महासतीजी ने आज से १० वर्ष पहले चातुर्मास किया था, तब प्रार्थना का मंगल-प्रारम्भ किया था, तब से अबतक प्रार्थना चालू है। कुल मिलाकर इस चातुर्मास में महासतीजी ने ऐसा सुन्दर (आत्म) धर्म का सिंचन किया है कि उसके प्रभाव से लगभग ३०० भाई-बहन और बाल-वृद्ध लाभ ले रहे हैं। इसे नजर-समक्ष (प्रत्यक्ष) देख रहे हैं।

अन्त में, आपको विदा देते हुए हमारी आँखें अश्रु-प्रवाह से छलक उठती हैं और हृदय भर आता है।

आपसे पुनःपुनः नम्र विनती है कि आप घाटकोपर को भूले नहीं, जल्दी-जल्दी पधारकर इस क्षेत्र को पावन करें।"

शारदा-शिखर भाग-२ सम्पूर्ण